महर्षि विद्यानंदविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः

(हिंदी-टीकासमन्वितः)

श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर.

(४१)
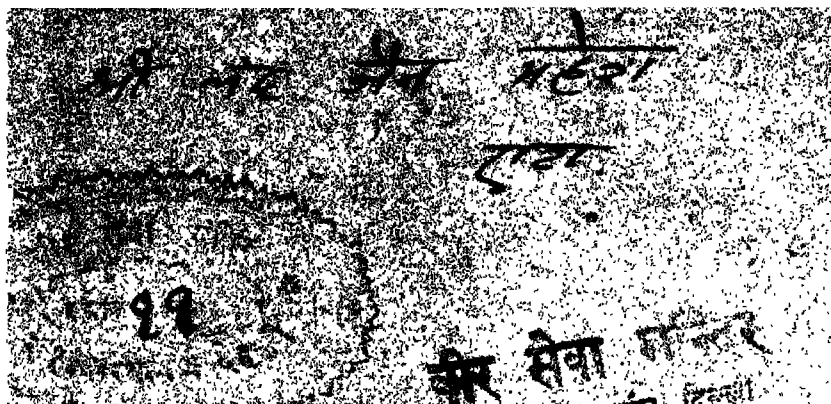
श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला पुष्प ४१.

श्रीविद्यानंद-स्वामिविरचित

तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिकालंकार

(भाषाटीकासमन्वित)

[प्रथम खंड.]

—= टीकाकार =—

श्रीतर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि

श्री पं. माणिकचंदजी कौंदेय न्यायाचार्य.

—× संपादक व प्रकाशक ×—

पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावाचस्पति–न्यायकाव्यतीर्थ)

ऑ. मंत्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर.

—+ मुद्रक +—

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

कल्याण पॉवर प्रिंटिंग प्रेस, कल्याणभवन, सोलापुर.

वीर सं. २४७६] सन् १९४९ दिसंबर [मूल्य १२ रुपये.

* समर्पण *

श्रीपूज्य आचार्य कुंथुसागर महाराजके परमगुरु.

श्रीपरमपूज्य चारित्रचक्रवर्ति आचार्यशिरोमणि.

श्री १०८ शांतिसागर महाराजके

पुनीत-करकमलोंमें

सविनय समर्पित.

—भागचंद सोनी.

श्रीपरमपूज्य चारित्रचक्रवर्ति
आचार्य शांतिसागरजी महाराज.

श्रीपरमपूज्य तपोनिधि
आचार्य कुंथुसागरजी महाराज.

इस ग्रंथके प्रकाशनमें प्रमुखसहायक व मूलप्रेरक
श्रीधर्मवीर राज्यरत्न, रा.ब.केप्टन
सर सेठ भागचंदजी सोनी O.B.E.

इस ग्रंथके टीकाकार

श्रीतर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि, स्याद्वादवारिधि,

दार्शनिकशिरोमणि, न्यायदिवाकर,

पं. माणिकचंदजी साहब न्यायाचार्य

फिरोजाबाद [आगरा]

संपादकीय वक्तव्य.

आज स्वाध्यायप्रेमियोंके करकमलोंमें आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाकी ओरसे यह ग्रंथराज श्लोकवार्तिकालंकार अर्पित करनेका सुअवसर प्राप्त होता है, इसका हमें परमहर्ष है।

जैनसंसारमें उमास्वामिविरचित तत्वार्थसूत्र आबालगोपाल प्रसिद्ध है। जैनदर्शनको समझनेके लिए सूत्रबद्ध, सुसंबद्ध व मूलग्रंथके रूपमें तत्वार्थसूत्रकी महिमा है। यह ग्रंथ सर्व प्रमेयोंको समझनेके लिए परम सहायक है। जैनदर्शनकी यह कुंजी है। श्रीपरमपूज्य उमास्वामी महाराजने जैनदर्शनके प्रथित सर्व तत्वोंको इसमें सर्वदृष्टिसे ग्रथित किया है। इस ग्रंथका निर्माण कर आचार्यश्रीने असंख्य जिज्ञासुवोंको तत्वोंके परिज्ञानके लिए परम उपकार किया है। भगवदुमास्वामी श्वेतांबर, दिगंबर संप्रदायमें समानरूपसे मान्य हैं। आपके ग्रंथका सर्वत्र समादर है। इस ग्रंथकी महत्ता इसीसे स्पष्ट है कि उमास्वामीके अनंतर होनेवाले महर्षि समंतभद्रस्वामीने ९६ हजार श्लोक परिमित गंधहस्ति महाभाष्य नामक महान् ग्रंथकी रचना इस ग्रंथकी टीकाके रूपमें की है। यद्यपि यह भाष्य दुर्भाग्यसे उपलब्ध नहीं है। तथापि इस ग्रंथकी रचना हुई है यह अनेक उल्लेखोंसे स्पष्ट है। भगवान् समंतभद्र साधारण क्रिस्त शकके दूसरे शतमानमें बहुत बडे विद्वान् आचार्य हुए हैं। उन्होने अपनी प्रतिभाशाली विद्वत्ताके द्वारा सिद्धांत, दर्शन, न्याय, आचार विचारके तत्वानुशासन, स्वयंभूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, जिनस्तुतिशतक, जीवसिद्धि, कर्मप्राभृतटीका, रत्नकरंडश्रावकाचार जैसे ग्रंथरत्नोंकी सृष्टि की है। इस तत्वार्थसूत्रके ऊपर स्वामि समंतभद्रने गंधहस्ति नामक महाभाष्यकी रचना की है, यह भी प्रमाणोंसे प्रसिद्ध है।

तदनंतर इस धरातलको अपने सुललित चारित्रके द्वारा समलंकृत करनेवाले श्रीपूज्यपाद स्वामीने इसके ऊपर सर्वार्थसिद्धी नाम टीका ग्रंथकी रचना की है। सर्वार्थसिद्धि भी अपने ढंगका अपूर्व ग्रंथ है। जैनदर्शनके सर्वांग परिज्ञानके लिए एवं तत्वार्थसूत्रके गूढ रहस्योंकी गुत्थियोंको सुलझानेके लिए इस ग्रंथसे बडी सहायता मिलती है। पूज्यपाद स्वामीने भी सिद्धांत, न्याय, व्याकरणके प्रसिद्ध अनेक ग्रंथोंकी रचना की है।

तदनंतर उद्भट विद्वत्तासे परवादियोंको चकित करनेवाले निष्कलंक ज्ञानधारी तार्किक चूडामणि आचार्य अकलंक स्वामीने राजवार्तिक नामक टीका ग्रंथकी रचना इसी तत्वार्थसूत्रपर की है। अकलंक स्वामीकी राजवार्तिक जैसे अन्य अनेक कृतियोंकी उपलब्धिसे उनकी सर्वतोपरि विद्वत्ता प्रसिद्ध है। आपने इस ग्रंथपर राजवार्तिककी रचना की है।

इस प्रकार जैनाचार्य परंपरामें रत्नत्रय कहलानेवाले समंतभद्र, पूज्यपाद, और अकलंक देवने इस ग्रंथको विस्तृत कर, इसकी रहस्यमय गुत्थियोंको सुलझानेमें सहायता की है। एवं इस मूल ग्रंथको ही उनकी विद्वत्ताके विस्तारके लिए मूलभूत बनाया है। इसीसे इस ग्रंथकी महत्ता स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त इस तत्वार्थसूत्र ग्रंथपर विभिन्न आचार्योंके द्वारा लिखित निम्नलिखित

ग्रंथ भी उपलब्ध होते हैं। (१) भास्करनंद्याचार्य विरचित तत्वार्थवृत्ति (२) श्रुतसागरवृत्ति (३) द्वितीयश्रुतसागरविरचित तत्वार्थसुखबोधिनी, टीका (४) विबुधसेनाचार्य विरचित तत्वार्थ टीका (५) योगींद्रदेव विरचित तत्वप्रकाशिका (६) योगदेव विरचित तत्वार्थवृत्ति (७) लक्ष्मीदेव विरचित तत्वार्थटीका, (८) श्री अभयनंदि विरचित तत्वार्थवृत्ति।

इस प्रकार जैनाम्नायपरंपरामें इस ग्रंथके विस्तारमें अनेक ग्रंथकारोंने अपने जीवनको सफल किया है। इसीसे इसका अस्तित्व स्पष्ट है।

प्रकृत ग्रंथ श्रीतत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारकी रचना श्रीमहर्षि विद्यानंदस्वामीने की है। अनेक ग्रंथकारोंके समान जैनदर्शनके विस्तारके लिए विद्यानंद स्वामीने भी इसी ग्रंथको आधार बनाया है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। उपर्युक्त आचार्य रत्नत्रयोंके अनंतर इस तत्वार्थसूत्रपर यदि महत्वपूर्ण भाष्यकी रचना हुई है तो श्री आचार्य विद्यानंद स्वामीकी यही कृति गौरवपूर्ण उल्लेखके द्वारा कहने योग्य है। श्रीमहर्षि विद्यानंद स्वामीने इस ग्रंथमें प्रशस्त तर्क–वितर्क-युक्ति प्रयुक्ति व विचारणाके द्वारा सिद्धांतसमन्वित तत्वोंका प्रतिष्ठापन किया है। परवादियोंको विविध विचार परिप्लुत न्यायपूर्ण युक्तियोंसे निरुत्तर करनेके कारण अनेकांतमतकी व्यवस्था होती है। अनेकांत मतकी शरण गये विना लोकमें तत्वव्यवस्था नहीं हो सकती है। तत्वव्यवस्थाके विना मोक्ष पुरुषार्थकी साधना नहीं बन सकती है, इस बातको आचार्य महाराजने बहुत अच्छी तरह सिद्ध किया है। इस ग्रंथका प्रमेय सिद्धांत होनेपर भी आचार्यश्रीने न्यायशास्त्रकी कसौटीसे कसकर सिद्धांतको समुज्वलरूपसे उपस्थित किया है। सुवर्ण अपने स्वभावसे स्वच्छ रहनेपर भी दहन, ताडन, भेदन, घर्षण आदि कसौटोंमें उतरनेपर ही लोकादरके लिए पात्र होता है। इसी तरह स्याद्वाद सिद्धांत लोककल्याणके लिए अनवद्य सिद्धांत है, इस सिद्धांतको प्रकृत ग्रंथमें आचार्य महाराजने सुलभ बनाकर तत्वजिज्ञासु भव्योंके लिए महान् उपकार किया है।

महर्षि विद्यानंद स्वामीका विशेष परिचय, कालविचार, समकालीन ग्रंथकर्ता, एवं उनकी अन्य रचनायें आदिके संबंधमें एवं तत्वार्थ सूत्रपर भाष्यकी रचना करनेवाले स्वामि समंतभद्र, पूज्यपाद व अकलंक सदृश रत्नत्रय महर्षियोंके संबंधमें विस्तृत विवेचनपूर्वक एक बडी प्रस्तावना लिखनेका विचार था। परंतु पाठकोंमें प्रथम भागके प्रकाशनकी आतुरता होनेसे, कुछ अवधिमें उक्त विषयोंपर अधिक प्रकाश पडनेकी संभावना होनेसे, तथा अभी न लिखनेकी कुछ विद्वन्मित्रोंकी सलाह होनेसे, इस भागमें वह प्रस्तावना हम जोड नहीं सके। इस ग्रंथको हमने पांच खंडोंमें समाप्त करनेका विचार किया है। अंतिम पांचवें खंडमें इस ग्रंथके संबंधमें उपर्युक्त सभी विवेचनोंसे परिपूर्ण गवेषणात्मक विस्तृत प्रस्तावना जोडनेका संकल्प हमने किया है। पाठकोंको हम आज इतना ही आश्वासन देते हैं। अग्रिम खंड शीघ्र प्रकाशित होते रहेंगे। इस ग्रंथके परिपूर्ण दर्शनकी बडी आतुरता स्वाध्याय प्रेमियोंमें हैं। यह हमारे ध्यानमें है। अतएव आगामी खंडोंको बहुत ही शीघ्रतासे प्रकाशन करनेकी व्यवस्था की गई है।

टीकाकारके प्रति कृतज्ञता

अभीतक इस वज्रोमय कठिन ग्रंथकी भाषा टीका व टिप्पणी नहीं की गयी थी। अतएव स्वाध्यायप्रेमियोंको इसके रहस्यमय चमत्कारी कठिन प्रमेयोंके परिज्ञानकी उत्सुकता सैकडों वर्षोंसे बनी आरही थी। किंतु अब पूज्य पण्डित माणिकचंदजीके शुभ्र पुरुषार्थसे हिंदी टीका पूर्णरीत्या निष्पन्न हो चुकी है। इसमेंसे केवल एक ही सूत्रकी व्याख्या प्रथम खण्डमें आपके सन्मुख प्रस्तुत की जारही है। वीरमुखोत्पन्न गणधरग्रंथित जिनवाणीमाताके अश्रुतपूर्व अनुपम वाङ्मयको सप्रसाद निरखिये।

अभी तो इस मुद्रित प्रथम खण्डमें पहिले अध्यायके अकेले आदि सूत्रकी ही व्याख्या है, अन्य सूत्रों और अध्यायोंकी श्लोकवार्त्तिक टीकामें अनन्त अपनुम तत्त्वज्ञान भरा हुआ है, जो कि क्रमशः मुद्रित होता रहेगा। पूरे ग्रंथमें पांच हजार पृष्ठ हैं। प्रति पृष्ठमें पचीस या अट्ठाईस श्लोक प्रमाण लेख है। इतना विशाल दर्शन ग्रंथ अन्यत्र अप्राप्य है। इस अठारह हजार श्लोक प्रमाण पूरे संस्कृत ग्रंथकी हिंदी–भाषाटीका सवालक्षोंसे भी अधिक श्लोक प्रमाण पांच वर्ष पूर्व परिपूर्ण कर दी गयी है। जिसकी प्रेस कापी श्रीमान् धर्मवीर रा. ब. सरसेठ भागचंदजी महोदयके अजमेरके ग्रंथ भण्डारमें टीकाकार द्वारा विराजमान हो चुकी है। पण्डितजीकी यह हस्तलिखित कापी अतीव शुद्ध है। सुंदर लिखी गयी है।

जैनदर्शन अगाध है एवं गंभीर है। उसके अथाह अंतरतलमें पहुंचकर अभ्यास करनेवाले विद्वान् भी विरले हैं तो सामान्यजनोंकी बात ही क्या है ? उसमें भी यदि न्यायशास्त्र तर्कवितर्कणावोंका भंडार हो तो उसे सामान्य जनता समझ भी नहीं पाती और उससे उपेक्षित होजाती है। ऐसी अवस्थामें ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंको सरल रूपसे समझनेके लिए यदि विस्तृत भाषा टीका हो तो तत्वजिज्ञासुवोंको बडी अनुकूलता होसकती है। इसलिए आज इस महान् श्लोकवार्तिकालंकार ग्रंथकी राष्ट्रभाषात्मकटीका प्रकाशित होरही है, यह अत्यंत संतोषका विषय है।

श्लोकवार्तिकालंकार सदृश महान् ग्रंथकी सरल सुबोधिनी टीका लिखना कोई खेल नहीं है। विद्यानंद स्वामीकी अंतस्तलस्पर्शिनी विचारधारावोंको समझकर, दूसरोंको समझानेवाला विद्वान् भी असाधारण ही होना चाहिये। क्योंकि श्रीविद्यानन्द स्वामीकी पङ्क्तियां अतीव कठिन, गम्भीर और तीक्ष्ण होती हैं। जैनसंसार श्रीमान् तर्करत्न पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य महोदयसे अच्छीतरह परिचित है। न्यायाचार्यजी महोदयका परिचय लिखना अनावश्यक है। आज करीब ५० वर्षोंसे जैन समाजमें आप विद्वानोंकी सृष्टिमें अपने ज्ञानका उपयोग कर रहे हैं। स्वर्गीय पं. गुरु गोपालदासजी बरैयाने जिन विद्वानोंका निर्माणकर जैन समाजका उपकार किया है, आज समाजके विविधक्षेत्रमें कार्यकरनेवाले जो सैकडों प्रौढ विद्वान् प्रतीत होरहे हैं, उन सब विद्वानोंकी उत्पत्तिका प्रधानश्रेय श्री. पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य महोदयको है। श्रीगोपाल दि. जैन सिद्धांत विद्यालयमें करीब १६ वर्ष प्रधान अध्यापकके स्थानपर रहकर आपने न्याय व सिद्धांत शास्त्रका अध्यापन कार्य किया

है। पं. गोपालदासजी बरैयाने भी न्यायशास्त्रका कभी कभी परिशीलन आपसे किया था। इतने कहने मात्रसे आपकी अगाध विद्वत्ताके संबंधमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। जंबू विद्यालय सहारनपुरमें प्रधान अध्यापकके स्थानपर रहकर आपने सेकडों विद्वानोंको तैयार किया। आपकी अगाध विद्वत्तासे जैन समाजका बालगोपाल परिचित है; आपने इस श्लोकवार्तिकालंकार सदृश ग्रंथकी भाषाटीका लिखकर स्वाध्यायप्रेमियोंके प्रति अनंत उपकार किया है। श्रीन्यायाचार्यजीने छोटी मोटी अनेक पुस्तकें लिखी हैं, परंतु इस महान् ग्रंथकी टीका लिखकर अपनी लेखनीको सफल बनाया है। क्योंकि यह हजारों वर्ष अव्याहत प्रवाहित होकर रहनेवाली एवं असंख्य तत्वजिज्ञासुवोंको तृप्त करनेवाली यह ज्ञानधारा है। इस अमृतधाराको सिंचितकर भव्योंको तृप्त करनेके श्रेयको प्राप्त करनेके लिए न्यायाचार्यजीने कई वर्ष तपश्चर्या की है। उनकी कठिन तपश्चर्याका ही यह मधुरफल है कि आज यह ग्रंथ विद्वत्संसारको आस्वादनके लिए मिल रहा है।

षट्दर्शनोंके अतिरिक्त पण्डितजी व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त तथा अन्य गणित, भूविज्ञान आदिमें भी गम्भीर प्रतिभायुक्त हैं। पण्डितजीने प्रत्येक सूत्रके आदि अन्तमें तथा अध्यायोंके पहिले पीछे भी सारगर्भित पाण्डित्यपूर्ण स्वरचित संस्कृतपद्योंकी रचना भी करदी है।

अन्य काव्य ग्रंथों या कथासाहित्यकी भाषाटीका जितनी हृद्य नरम होती है, दर्शन शास्त्रोंकी भाषाटीकायें उतनी सरल नहीं होती हैं। फिर भी पण्डितजीने कठिन पंक्तियोंकी सुबोध्य टीका बनानेमें कोई कसर नहीं छोडी है। स्वाध्याय करनेवाले निरालस होकर उपयोग लगावें। यदि परीक्षामुख और न्यायदीपिकाका अध्ययन करलें तो पर्याप्त अधिकारिता प्राप्त होजावेगी। इस महाग्रंथमें प्रवेश करनेके लिये पण्डितजी "दर्शनदिग्दर्शन" पुस्तकको लिख रहे हैं। आधी लिख चुके हैं।

श्रीमाननीय पंडितजीने अपनी अगाध विद्वत्ताको पुंजीकृत कर इस ग्रंथमें ओत प्रोत करदिया है। उनके अनुभवका लाभ आज इस रूपमें विद्वत्संसारको न होता तो बडा पश्चात्ताप करना पडता। उनका अनुभव, ज्ञान, विचारधारा, तर्कणाशक्ति, आदि सभी उनके व्याख्यानोंमें ही बिखरकर पडे रहते। शब्दवर्गणायें अनित्य हैं, उनको कुछ समयके लिए क्यों न हो नित्य बनानेके लिए यही प्रक्रिया उपादेय है। अतः न्यायाचार्यजीने वर्षोंतक घोर परिश्रमकर इस ग्रंथकी टीका लिखी है, उनके प्रति कृतज्ञताके सिवाय हम क्या व्यक्त कर सकते हैं। हमारे समान ही विद्वत्संसार, तत्वाभ्यासी, एवं भविष्यमें होनेवाले सर्व मुमुक्षुजीव आपके प्रति कृतज्ञता व्यक्त किये विना न रहेंगे।

प्रकाशनका इतिहास

इस महान् ग्रंथके प्रकाशनका सर्व श्रेय श्रीमान् धर्मवीर रा. ब. रा. भू. केप्टन सर सेठ भागचंदजी सोनी O. B. E. जो आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाके अध्यक्ष हैं, को ही हैं। क्योंकि सर सेठ साहबकी ही प्रबलप्रेरणा व साहित्यप्रेमसे यह ग्रंथ प्रकाशनमें आ रहा है। सर सेठ साहबकी भावना थी कि श्रीसिद्धांतमहोदधि पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य जैसे महान् विद्वानोंकी

कृतिका एवं ज्ञानका लाभ दुनियाको हो। श्री न्यायाचार्यजीने जिस कठिन ग्रंथकी भाषा बनानेके लिए बीसों वर्ष परिश्रम किया है, यदि वह अप्रकाशित रह जाय तो क्या प्रयोजन रहा ? इसलिए श्रीमाननीय पंडितजीसे उन्होंने इस ग्रंथको प्रकाशित करनेकी अनुमति ली। श्री पंडितजीने भी बहुत आनंदके साथ अपने परिश्रमके सुमधुर फलको तत्वजिज्ञासु भव्योंको समर्पण करनेकी अनुमति प्रदान की। श्री सर सेठ साहबको परमहर्ष हुआ। आपके हृदयमें पंडितजीकी विद्वत्ता एवं महत्ताके प्रति परमआदर है। वैसे तो आपके घरानेसे सदा ही विद्वानोंका सन्मान होता आ रहा है, जैन समाजमें सोनी घरानेकी प्रतिष्ठासे अपरिचित एक भी व्यक्ति नहीं निकल सकता है। आपके पूर्वज स्वनामधन्य सेठ मूलचंदजी, रा. ब. सेठ नेमीचंदजी, एवं रा. ब. धर्मवीर सेठ टीकमचंदजी, सा. ने समाज व धर्मकी रक्षार्थ लाखों रुपयोंके व्ययसे जो कार्य किये हैं, वे इतिहासके पृष्ठोंमें अमिट रहेंगे। श्रीधर्मवीर सर सेठ भागचंदजी साहब भी अपने पूर्वजोंके समान ही परमधार्मिक, विचारशील, गुरुभक्त, साहित्यप्रेमी एवं समाजके कर्णधार हैं। आज आपकी कार्यकुशलता एवं धर्मप्रेमका ही कारण आज कई वर्षोंसे भारतवर्षीय दिगंबर जैन महासभाने आपके नेतृत्वको धारण करनेमें अपना सौभाग्य समझा है। आपका प्रभाव समस्त समाजपर ही नहीं भारतवर्षीय सर्व क्षेत्रोंमें हैं। कई वर्ष आप केंद्रीय धारासभाके मेंबर रहचुके हैं। आपकी दूरदर्शिता एवं कार्यकुशलताके ही कारण ब्रिटिश सरकारने आपको, रा. ब. केप्टन, सर नाईट, O. B. E. जैसे महत्वपूर्ण उपाधियोंसे सन्मानित किया है। आप केवल श्रीमंत नहीं हैं। धीमंत भी हैं। स्वाध्यायादिके द्वारा सदा तत्वचर्चा करते रहते हैं। जैनसिद्धांतकी तात्विक अकाट्य तर्कणाओंमें आपको परमश्रद्धा है। इसीलिए आपने श्री माननीय पंडितजीके अगाध पांडित्य और बीस वर्षके परिश्रमके प्रति परमआदर व्यक्त करते हुए उनको समुचित पुरस्कार देकर अपनी गुणग्राहकता, विद्वत्प्रेम, वात्सल्य और धनाधिपोचित उदारताके अनुसार सन्मानित किया है। एवं इस महान् ग्रंथको श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाको प्रकाशित करनेके लिए अर्पण किया है।

श्रीपरमपूज्य स्व. आचार्य कुंथुसागर महाराजके प्रति भी सरसेठ साहबकी विशिष्ट भक्ति थी। आपके प्रति आचार्यश्रीकी प्रसादपूर्ण दृष्टि थी। यही कारण है कि आज वर्षोंसे ग्रंथमालाके अध्यक्ष स्थानपर रहकर आप इस संस्थाका सफल संचालन कर रहे हैं। आपके नेतृत्वमें ग्रंथमालासे ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथका प्रकाशन होरहा है, यह समाजके लिए प्रसन्नताकी बात है।

श्रीपरमपूज्य प्रातःस्मरणीय, विश्ववंद्य आचार्य कुंथुसागर महाराजने अपनी प्रखर विद्वत्ताके द्वारा आजीवन लोक कल्याणके कार्य किये। उनके पुण्यविहारसे गुजरात और बागडप्रांत पुनीत हुआ। लाखों लोगोंका उद्धार हुआ। उनका एकमात्र ध्येय था कि जैनधर्मको विश्वधर्मके रूपमें जनता जब देखेगी, तब उसका हित होगा। प्राणिमात्रका उद्धार करनेका सामर्थ्य जिस वीतराग धर्ममें विद्यमान है, यदि उसका परिज्ञान जनसाधारणको नहीं होता है तो इससे उसका बड़ा ही अहित होगा। संसारके पतनगर्तमें वह पडेगी। इस अंतर्वेदनासे उनकी आत्मा त्रस्त थी। स्वार्थ, ईर्ष्या व द्वेषकी धधकती हुई अग्निमें भस्मसात् होनेवाली अनंतजीवोंकी दयनीय दशाको

न देख सकनेके कारण ही वह आत्मा बहुत जल्दी इस पापमय संसारको छोडकर चली गई। विश्ववंद्य आचार्यश्रीके हृदयमें प्रबल भावना थी कि इस विश्वकल्याणकारी धर्मका देश विदेशमें प्रचार हो। आपने अपने दिव्य उपदेशसे असंख्य जनताका उपकार किया है। लाखों जैनेतर आत्म-हितैषी जन, यहांतक प्रमुख अधिकारी गण, राजा महाराजा, आपके चरणोंके दास बन गये हैं, एवं अहिंसाधर्मके भक्त बने हैं। उनकी अगाधविद्वत्तासे सर्वजन मंत्रमुग्धवत् हो गये थे। आचार्यश्रीके ज्ञान एवं लोकहितैषणाका लाभ सर्वदेशीय, सर्वप्रांतीय सर्व संप्रदायके लोगोंको हो, इस उद्देश्यसे ग्रंथमालाके द्वारा उनकी सरल व सुललित कृतियोंका प्रकाशन हो गया है। करीब ४० ग्रंथ आजपर्यंत ग्रंथमालाके द्वारा प्रकाशित हुए हैं, जिनसे हजारों स्वाध्यायप्रेमियोंने लाभ उठाया है। श्री वंदनीय आचार्यश्रीकी भावनावोंके अनुसार ही आज इस महान् ग्रंथका प्रकाशन संस्थाके द्वारा हो रहा है। इस प्रसंगमें इतना ही लिखना पर्याप्त होगा।

स्वकीय निवेदन.

इस ग्रंथके प्रकाशनका निश्चय होनेपर श्रीधर्मवीर सर सेठ भागचंदजी साहबने यह आदेश दिया कि यह ग्रंथ हमारे ही तत्वावधानमें ग्रंथमालाके द्वारा संपादित व प्रकाशित होजाना चाहिये। श्रीपूज्य पं. [illegible]चंदजी न्यायाचार्य महोदयने भी विश्वासपूर्वक आदेश दिया किया कि इस कार्यको तुम ही करो। हमने अपनी अयोग्यताकी उपेक्षाकर केवल गुरुजनोंकी आज्ञाको शिरोधार्य करनेकी भावनासे इस गुरुतरभारको अपने ऊपर लिया। क्योंकि परमपूज्य आचार्य कुंथुसागर महाराजका इस सेवकपर परमविश्वास था। श्री पं. माणिकचंदजीसे इस पंक्तिके लेखकको अध्ययन करनेका भी भाग्य मिला था। सरसेठ साहबका इसके प्रति परम अनुग्रह है। ऐसी हालतमें इस कार्यकी महत्ताको लक्ष्यमें रखकर भी गुरुजनोंकी भक्तिसे इस कार्यमें साहस किया। फिर करना भी क्या था!। जो कुछ भी सिद्धांतमहोदधि महोदयने लिपिबद्ध किया था, उसे क्रमबद्ध व्यवस्थामें पाठकोंकी सेवामें उपस्थित करना था। उसमें हम कहांतक सफल हुए कह नहीं सकते। परंतु इस प्रसंगमें इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि—

दृष्टं किमपि लोकेस्मिन्न निर्दोषं न निर्गुणम् ।
आवृणुध्वमतो दोषान्विवृणुध्वं गुणान्बुधाः ॥

अंतमें निवेदन है कि हमने बहुत सावधान पूर्वक यह प्रकाशन कार्य किया है। इसमें जो गुणके परमाणु हैं, वे सब श्रीआचार्य कुंथुसागर महाराज सरीखे तपोनिधि एवं पं. माणिकचंदजी सदृश विद्वानोंकी आत्मावोंकी शुभभावनावोंसे निर्मित हैं। अतः उसका श्रेय उन्हीको मिलना चाहिये। यदि कोई दोषका अंश है तो वह मेरी अयोग्यताके कारण उत्पन्न है। उसके प्रति मुझे क्षमा करें। किसी भी तरह इस ज्ञानधाराका उपयोग कर स्वाध्यायप्रेमी अपने ज्ञानतरुको हरा-भरा करेंगे तो सबका श्रम सार्थक होगा। इति.

विनीत

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री.

ऑ. मंत्री—आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला, सोलापूर

२१, दरियागंज, दिल्ली

श्रीविद्यानंदस्वामिविरचितम्

श्रीतत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिकम्

तर्करत्न पं. माणिकचंद्रन्यायाचार्यमहोदयैर्विरचिता

तत्त्वार्थचिन्तामणिः

श्रीमन्नाभिसुतं सिद्धं विघ्नौघध्वान्तभास्करम् ।
सुरासुरनरेन्द्रेड्यं, प्रणमामि त्रियोगतः ॥ १ ॥
अजिताद्यावर्धमानमर्हतः सिद्धचक्रकम् ।
सूर्युपाध्यायसाधूंश्च स्तौम्यहं परमेष्ठिनः ॥ २ ॥
प्रमाणनयसत्तर्कैर्न्यक्कृत्यैकान्तिनां गतिम् ।
हंसी स्याद्वादगीः सिद्धा, पुनीतान्मम मानसम् ॥ ३ ॥
कलिसर्वज्ञोपाह्वक–आम्नायविधिज्ञकुन्दकुन्दगुरुः ।
आर्हतदर्शनकर्ता निवसेन्मे हृदि सदा ह्युमास्वामी ॥ ४ ॥
समन्ताद्भद्रमेत्यस्मादकलङ्को भवेत्सुधीः ।
विद्यानन्दी प्रभानेमीन्द्वन्वर्थगुरुकीर्तनात् ॥ ५ ॥
एकैकं न्यायसिद्धान्तशास्त्रे धत्तो गभीरताम् ।
सिद्धान्तन्यायपूर्णे मे का गतिः श्लोकवार्तिके ॥ ६ ॥
तथापि सार्वविश्वज्ञगुर्वाशीर्नावमाश्रितः ।
ग्रन्थाब्धौ प्रविशामीह जिनमूर्तीर्हृदि स्मरन् ॥ ७ ॥
गुरून् शरण्यानास्थायानूद्यते देशभाषया ।
हिन्दीनापिकयाऽयन्ते स्युर्भे सूक्ष्मार्थबोधकाः ॥ ८ ॥
प्रयोजकाः सद्गुरवो नियोज्योऽहं लघुर्जनः ।
पारनेत्री भवित्री मे ऋद्धिचुञ्चुगुरुस्मृतिः ॥ ९ ॥
श्रुतवारिधिमुन्मथ्य न्यायशास्त्रामृतं स नः ।
समन्तभद्र उद्दध्रे भावितीर्थकरो श्रियात् ॥ १० ॥

इस अनाद्यनन्त संसारमें अनन्तानन्त जीव तत्त्वबोधके विना अनेक दुःखोंसे पीडित हो रहे हैं, उनमें असंख्य प्राणी गृहीतमिथ्यात्वके वशीभूत होकर युक्त्यनुभवसे शून्य कोरे वाग्जालमें फंसकर सदागम सूर्यप्रकाशके रहते हुए भी दुःखान्धगर्तमें गिरते चले जा रहे हैं। सम्पूर्ण जीवोंको संसार व्याधिसे छुडाकर उत्तम सुखमें धारण करानेका लक्ष्य कर ही सनातन जैनधर्मके तत्त्वोंका ज्ञान श्री अर्हन्तदेवकी द्वादशाङ्गमय वाणीसे जागरूक हो रहा है। यह धर्मजागृति किसी विशेष युगमें ही नहीं, किन्तु अनादिकालसे मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले अनेक तीर्थङ्कर महाराजोंद्वारा अद्यावधि धाराप्रवाहरूपसे चली आ रही है और इसी क्रमसे अनन्तकाल तक सुसंघटित रूपसे चलती रहेगी। इसके द्वारा ही जीवोंके अन्तस्तलमें छिपा हुआ वस्तुका स्वाभाविक स्वरूप समय समय पर प्रगट होता रहता है। अनन्त पुरुषार्थी भव्य जीवोंने श्रीतीर्थङ्कर भगवान्के उपदेशद्वारा कैवल्य और निःश्रेयस प्राप्त किया है। वर्तमान अवसर्पिणी काल सम्बन्धी चौवीसवें तीर्थङ्कर श्रीवर्धमान स्वामीने पूर्व जन्ममें उपार्जित तत्त्वज्ञान और तीर्थङ्करत्वके प्रभावसे वैराग्य प्राप्त कर जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की तथा विविध तपस्याओंको करके पौद्गलिक दुष्कर्मोंका क्षय करते हुए सर्वज्ञता प्राप्त कर अनेक भव्यजीवोंको सम्पूर्ण पदार्थोंके प्रतिभास करानेवाले द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानका उपदेश दिया। जो कि सिद्धान्त, न्याय व्याकरण, साहित्य, स्याद्वाद, ज्योतिष, निमित्तशास्त्र, कला, विज्ञान आदिसे परिपूर्ण था। उस उपदेशको अविकल रूपसे धारण करनेवाले श्री गौतमस्वामीने आचाराङ्ग आदि बारह अंगरूप गूंथा। तदनन्तर गुरुपरिपाटी और आम्नायके अनुसार वही सर्वज्ञोक्त श्रुतज्ञानका उपदेश अङ्ग अङ्गांश रूपसे अद्यावधि चला आ रहा है। सम्पूर्ण ज्ञानका प्रतिपादन शब्दोंके द्वारा असम्भव है। केवलश्रुतज्ञानके कतिपय अंशोंका ही समझाना और लिखना हो सकता है। अतः सर्वज्ञदेवसे भाषित अर्थ स्वांशमें परिपूर्ण होता हुआ अविकलरूपसे भविष्यमें भी प्रवाहित रहे, इस परोपकार बुद्धिसे प्रेरित होकर प्रकाण्ड, प्रतिभाशाली, पूज्यपाद, आचार्यवर्योंने सिद्धान्त, न्याय आदि मोक्षमार्गोपयोगी ग्रन्थोंकी रचना की। जीव आदि वस्तुओंके अन्तस्तलपर पहुंचाकर अनुभव करानेवाले आगमोंको समुदायरूपसे न्याय, सिद्धान्त, शास्त्र कहते हैं। प्रत्येकका लक्षण इस प्रकार है—प्रमाण तथा नयोंके द्वारा वस्तु और वस्तुके धर्मोंकी परीक्षाको न्याय कहते हैं, तथा सर्वज्ञकी ज्ञानधाराके अनुसार प्रमाण सिद्ध पदार्थोंके निर्णयको सिद्धान्त कहते हैं। सिद्धान्त ग्रन्थ यदि अक्षय भण्डार हैं तो न्यायशास्त्र उनकी रक्षा करनेवाले दुर्ग (किले) हैं तथा युक्तिप्रधान हेतुवादके कतिपय वचन अनुभवी सम्यग्दृष्टि विद्वानोंको आगमद्वारा भी परिरक्षणीय होते हैं। अतः श्रीकुन्दकुन्द, धरसेन, नेमिचन्द्र आदि आचार्योंने सिद्धान्तप्रधान और युक्तिवादगौण ऐसे अनेक सिद्धान्तप्राभृत ग्रन्थ निर्माण किये हैं तथा श्री समन्तभद्र अकलंक, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, प्रभृति प्रतिवादिभयंकर ऋषियोंने प्रमाण, नय और युक्तियोंके द्वारा तत्त्वोंके अधिगम करानेवाले न्याय शास्त्र रचे हैं। न्याय और सिद्धान्तके

विषयोंको मिलाकर संक्षेपसे प्रतिपादन करनेवाले मूलग्रन्थको दर्शन कहते हैं। त्रियोग द्वारा किये गये, कहे या विचारे गये प्रत्येक कर्तव्यके समय उस दर्शन ग्रन्थका अपनी आत्मामें बुद्धिचक्षुसे दर्शन करते रहनेवाले दार्शनिक विद्वान् कहलाते हैं।

श्री महावीरस्वामीके मोक्ष-गमनके पश्चात् कतिपय शताब्दियोंके बीत जानेपर विदेहक्षेत्रमें जाकर श्री सीमन्धर स्वामीका प्रत्यक्ष दर्शन करनेवाले उपज्ञज्ञानधारी श्रीउमास्वामी आचार्यने तत्त्वज्ञान ग्रन्थोंके सारभूत जैनदर्शन तत्त्वार्थ-मोक्षशास्त्रकी रचना की। अल्प सूत्रोंमें त्रिलोक त्रिकालकी तत्त्वमालाको अक्षुण्ण निरूपण करनेवाला यह मूलग्रन्थ अतीव गम्भीर है। अति विस्तर उदार अर्थको इङ्गित मात्रसे अत्यल्प शब्दोंके द्वारा व्यक्त करनेवाले पद समुदायको सूत्र कहते हैं। इस जैनदर्शनके गूढार्थ प्रकाशनके लिये स्वामी समन्तभद्राचार्य-उदयाचलसे ८४००० चौरासी हजार श्लोकोंमें गन्धहस्तिमहाभाष्य-ग्रन्थ-सूर्य प्रगट हुआ। स्वामी समन्तभद्रकी सिंह-गर्जनासे अनेक प्रतिवादियोंके बुद्धि कुयुक्तिगर्भगत अर्थ स्खलित होजाते हैं तथा उन्हीं समन्त-भद्राचार्यसे विस्तारित जैनधर्म ध्वजाकी शीतल छायामें आश्रय पाकर आसन्न भव्य जीव इष्ट तत्त्वार्थको प्राप्तकर चारों ओरसे कल्याण पात्र बन जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्रको त्रैविद्यविद्य श्री भट्टाकलङ्क देवने श्रुतज्ञानाब्धिका मथन कर उद्धार किये गये तत्त्वार्थराजवार्तिक अमृतसे सिञ्चित किया। सूत्र वार्तिक और भाष्यका यह योग रत्नत्रयके समान संसिद्धिमें आवश्यक है। उक्त दोनों ग्रन्थ जैन शास्त्रोंमें आकर (खानि) ग्रन्थ माने जाते हैं। श्री समन्तभद्राचार्य रचित गन्धहस्ति-महाभाष्यके मङ्गलाचरणस्वरूप देवागमस्तोत्रका श्रवणकर श्रीविद्यानन्द आचार्य प्रबुद्ध हुए और तत्क्षण सम्यग्दर्शन तथा अखण्ड सम्यग्ज्ञान और त्रयोदशविध चारित्रको स्वीकार कर विद्यानन्द स्वामीजीने शास्त्रार्थ और शास्त्र-लेखन द्वारा अक्षुण्ण जैनधर्मकी प्रभावना की। उस समय भारतवर्षकी चारों दिशाओंमें जैनधर्मका पटहनिनाद व्याप्त था। न्याय विद्याके अग्रगुरु श्री समन्तभद्राचार्य भगवान्के भावोंको विद्यानन्दस्वामी गुरु रूपसे मानते थे। अतएव अष्टसहस्री ग्रन्थके मंगलाचरण श्लोकमें स्वामीजीने समन्तभद्राचार्यकी वन्दना की है। अन्य मतावलम्बियोंके पोच और युक्तिरहित आपातरम्य कुतर्कोंसे जिनागम रहस्यको बाल बालाग्र रूपसे भी अखण्डित होनेके उद्देशसे अथवा प्रत्युत महावीर स्वामीके निकट शास्त्रार्थ करनेके लिये गये गौतमगणीके अनुसार या अहिक्षेत्रमें पार्श्वनाथके मन्दिरमें जैनोंको पराजित करनेके अभिप्रायसे गये हुए स्वयंके (अपने) समान, शास्त्रार्थ करनेके लिये आये हुए परवादियोंको जैनधर्ममें दीक्षित करनेके अभि-प्रायसे विद्यानंद आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थकी रचना की। पूर्वोक्तभाव, उनकी लेखनशैली और खंडनमंडनव्यवस्थासे विचारशीलोंको सहजमें प्रगट हो सकता है। पूज्यपाद विद्यानन्द स्वामीजीने इस ग्रंथमें अत्यंत कठिन जैनसिद्धांतके मर्मोंको सुयुक्तियोंसे सिद्ध कर दिया है। प्रत्येक स्थलपर परवादियोंको स्वपक्ष समर्थन करनेकेलिये पर्याप्त

स्थान देनेका भी औदार्य दिखलाया है। गाढ अन्धकारके प्रचारसे ही सूर्यके प्रताप, प्रकाश, आदि गुणों तथा विपुलप्रतिपक्ष निराकरण शक्तियोंका ज्ञापन होता है। न्यायशास्त्र और सिद्धान्त शास्त्रकी दृष्टिसे यह ग्रंथ अतीव उच्चकोटि–का है। वर्तमानकालमें इस ग्रंथका अध्ययन अध्यापन ही कष्टसाध्य होरहा है। तिसपर इस महान् ग्रंथकी टीका करना तो अंधकवर्तिकीय (अन्धेके हाथ बटेर) ही कहना चाहिये। कहां यह अनेक प्रमेयोंसे भरा हुआ गम्भीर ग्रन्थ समुद्र और कहां मेरी छोटीसी टूटी फूटी बुद्धिरूपी नौका? इस विषमसमस्याकी घटनासंयोजनामें पञ्च-परम गुरुचरण शरणके अतिरिक्त और क्या प्रयोजक हो सकता है? इस जगत्रूप नाट्य भूमिमें अनेक प्रकारके पात्र हैं। किन्तु जलौका नीतिको हेय समझकर "हंसक्षीर न्याय" से उपगूहनाङ्ग का पालन ही सम्यग्दृष्टिको अनिवार्य होता है। अतः निन्दा, प्रशंसा, वादके निर्णयको साधु सज्जनोंकी विवेचना बुद्धिपर उन्मुक्त कर, स्वाभाविक पदवीका अवलम्ब करता हुआ गुरुचरण-रजसे अपने मस्तकको पवित्र बनाकर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थके देशभाषारूपी कार्यमें प्रवृत्त होता हूं। रत्नत्रयधारी धर्मात्मा सज्जन शुभभावोंसे मेरी आत्माको प्रबल बनावें, ऐसी पवित्र भावना है। " ॐ नमोऽर्हत्परमेष्ठिने "।

श्रीविद्यानन्दस्वामी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थके आदिमें निर्विघ्नरूपसे शास्त्रकी परिसमाप्त्यर्थ और शिष्टोंके आचारके परिपालनका लक्ष्य रख तथा नास्तिकता परिहारके लिये एवं उपकार स्मरणके द्योतनार्थ अपने इष्टदेव श्री १००८ वर्धमान स्वामीका ध्यान करते हुए प्रतिज्ञा श्लोकको कहते हैं।

श्रीवर्धमानमाध्याय घातिसंघातघातनम्।
विद्यास्पदं प्रवक्ष्यामि, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकम्॥ १॥

प्रत्येक ग्रन्थनिर्माताको अपने प्रारम्भित ग्रन्थमें सम्बन्धाभिधेय, शक्यानुष्ठान और इष्ट प्रयोजन इन तीनों गुणोंका समावेश करना आवश्यक है। तभी वह ग्रन्थ विचारशील विद्वानोंमें आदरणीय होता है।

अपने वक्तव्य प्रमेयका ग्रन्थके शब्दोंसे वाचन होनेको सम्बन्धाभिधेय कहते हैं। अतएव उन्मत्तोंका बकवाद श्रद्धेय नहीं है। वाच्य अर्थोंमें परस्पर सम्बन्ध घटना होती रहनी चाहिये।

जिस कार्यको धीमान् जन कर सकते हैं, उसको शक्यानुष्ठान कहते हैं। इस गुणके न होनेसे किसी व्यक्तिका शिरसे चलनेका, औषधिपति चन्द्रमाको घरमें लानेका तथा सर्वज्वरहारी तक्षक सर्पके शिरमें लगी हुयी मणिके ग्रहण करनेका उपदेश ग्राह्य नहीं होता है।

प्रकृतमें स्वहितकारी, प्रयोजनसाधक वाक्योंमें इष्टप्रयोजन गुण है। तभी तो विष-भक्षण, हिंसा, परधन ग्रहणको पुष्ट करनेवाले वाक्योंमें प्रामाण्य नहीं माना है। इस ग्रन्थमें भी वे तीनों गुण विद्यमान हैं।

मुमुक्षुजनोंके उपयोगी तत्त्वार्थसूत्रके प्रमेयका और श्लोकवार्तिकग्रन्थका वाच्यवाचकभाव-सम्बन्ध है। इस प्रकरण ग्रन्थके द्वारा प्रतिभासित मोक्षके कारण संवर, निर्जरा तत्त्वोंका और संसारके कारण आस्रव, बन्ध तत्त्वोंका उपादान और हान करना संसारी जीवोंको शक्यानुष्ठानं भी है तथा वक्ता एवं श्रोताको अज्ञानकी निवृत्ति और कैवल्यविद्याकी प्राप्ति होना साक्षात् और परम्परया इष्टप्रयोजन है। इन सम्पूर्ण विषयोंको आद्यश्लोकमें ही स्वामीजीने ध्वनित कर दिया है।

श्लोकका अर्थ—प्रवक्ष्यामि ऐसी भविष्यकालवाचक लृट् लकारके उत्तम पुरुषकी क्रिया होनेसे "अहं" पदका आक्षेप (अध्याहार) हो जाता है। अहं शद्ब अभिमानप्रयुक्त अपने औद्धत्यको भी प्रगट करता है। अतः शिष्टसम्प्रदायमें कण्ठोक्तरूपसे अहं अर्थात् मैं शब्दका कचित् उच्चारण नहीं भी किया जाता है। थोडे शब्दोंमें अधिक अर्थ लिखनेवाले विद्वानोंको क्रियासे ही कर्तृवाच्यमें प्रत्यय होनेके कारण कर्ता अर्थ स्पष्ट है। उसको पुनः लिखनेमें पुनरुक्त दोषकी गन्ध भी प्रतीत होती है। अतः मनीषी आचार्य प्रवक्ष्यामि क्रियासे ही प्रतिज्ञा करते हैं। अर्थात् प्रकर्षेण युक्तिपूर्वक परपक्षनिराकरणेन परिभाषयिष्यामि, मैं विद्यानन्द आचार्य युक्तिपूर्वक प्रतिवादियोंके पक्षका निराकरण करता हुआ भाष्यसंकलनायुक्त स्पष्टरूपसे कहूंगा। कं (किसको) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् "नामैकदेशो नाम्नि प्रवर्तते" पूरे नामका एकदेश भी बोल दिया जाता है। जैसे सत्यभामा नामकी लडकीको सत्या या भामा कह देना। इस नियमके अनुसार उमास्वामी आचार्यसे रचे हुए तत्त्वार्थ मोक्षशास्त्रको भी तत्त्वार्थ कहदेते हैं। अत्यन्त प्रिय विषय में प्रायः आधे नामका उच्चारण होता है। विद्यानन्द आचार्यकी तत्त्वार्थसूत्र और उसका " मोक्षमार्गस्य नेतारं " इत्यादि मंगलाचरणश्लोक एवं तत्त्वार्थसूत्रके उपर रचे गये गन्धहस्तिमहाभाष्य और उसके " देवागमनभोयान " आदि-मंगलाचरणके श्लोकोंपर अत्यन्त श्रद्धा थी। अतः ग्रन्थकार श्रद्धेय विषयोंके आद्य कारण तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर श्लोकोंमें यानी अनुष्टुप् छंदोंमें वार्तिकोंको रचनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। श्लोकबद्धं वार्त्तिकं। मूलग्रंथकारसे कथित तथा उनके हृदयगत गूढअर्थोंकी एवं मूल ग्रन्थकर्तासे नहीं कहे गये अतिरिक्त भी अर्थोंकी अथवा दो वार कहेगये प्रमेयकी चिन्तनाको वार्तिक कहते हैं। ऐसे अर्थको धारण करनेवाले तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक नामकवृत्तिरूपसे किये गये ग्रन्थको कहूंगा। किं कृत्वा (क्या करके) श्री वर्धमानमाध्याय (अनन्त चतुष्टयरूप अन्तरङ्गलक्ष्मी और समवसरण आदि बाह्यलक्ष्मीसे सहित होरहे इष्टदेव श्रीवर्धमानस्वामी चौवीसवें तीर्थङ्करको मन, वचन, कायसे ध्यान करके) कथम्भूतं श्रीवर्धमानं (कैसे हैं श्री वर्धमान भगवान्) घातिसंघातघातनं (जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिकर्मोंकी सैंतालीस प्रकृतिओं तथा इनकी उत्तरोत्तर अनेक प्रकृतियोंका क्षायिक रत्नत्रयसे समूल-चूल क्षय कर दिया है)। पुनः कथम्भूतं श्रीवर्धमानं (फिर कैसे हैं वर्धमानस्वामी) विद्यास्पदं (मुझ विद्यानन्दी आचार्यके अवलम्ब हैं। यहां स्वामीजीने गुरुजनोंसे प्रिय शिष्ट सम्बोधनमें एकांश(आधे) बोले गये विद्या शद्बका

अपनेलिये प्रयोग किया है। श्री विद्यानन्द स्वामीको अपने इष्टदेव श्रीवर्धमान स्वामीका ही सहारा है। अथवा इस श्लोक द्वारा द्वितीय अर्थ भी अभिधेय होजाता है— अहं घातिसंघातघातनं आध्याय प्रवक्ष्यामि " मैं घातियोंके समुदायको ध्वंस करनेवाले श्रीअर्हन्तदेवका ध्यान करके श्लोकवार्तिक ग्रन्थको " प्रवक्ष्यामि " आगमगम्य पदार्थोंको हेतुवाद और दृष्टान्तपूर्वक दार्शनिकोंके सन्मुख सिद्ध करूंगा। " कथंभूतं अर्हन्तं " कैसे हैं श्री अर्हन्त देव " श्री वर्धमानं " " अवाप्योरुपसर्गयोः " इस करके अव उपसर्गके अकारका लोप होजाता है। अव समन्तात् ऋद्धं प्रदीप्तं मानं केवलज्ञानं यस्य, चारों ओरसे अनन्तानन्त पदार्थोंके प्रकाश करनेकी शोभासे देदीप्यमान है केवलज्ञान जिनका " पुनः कथम्भूतं " फिर कैसे श्रीअर्हन्तदेव " विद्यास्पदं " " सम्पूर्णवाङ्मय द्वादशांगवाणीके आस्पद अर्थात् उत्पत्तिस्थान या अधिष्ठान हैं। " पुनः कथम्भूतं श्री अर्हन्तं " फिर कैसे हैं श्री अर्हन्तदेव ", तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकं, बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मप्रकृष्टत्वान्यतरावच्छिन्नस्तत्पदवाच्यार्थः " तत् अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुओंमें प्रधानशुद्धात्मा " त्व " उसका भाव हुआ, स्वाभाविकपरिणाम " अर्थ " सो है प्रयोजन जिसका ऐसा जो श्लोक अर्थात् तीर्थङ्कर प्रकृतिके उदय कालमें होनेवाले पुण्यगुण ख्यापन रूप यश इसके लिये है, वृत्तिकानां (आचरणानां) समुदायो वार्तिकं, चारित्रका समुदाय जिनका। भावार्थ—अर्हन्तदेव यथाख्यात चारित्रकी उत्तरोत्तर शुद्ध परिणतियोंके द्वारा तेरहवें गुणस्थानमें तीर्थङ्करत्वके कर्तव्योंसे उत्तम यशको प्राप्त करते हुए प्रसिद्ध परम शुद्धात्मा पदवीको प्राप्त करेंगे। स्वामीजीको तृतीय अर्थ भी अभिप्रेत है—

" कं आध्याय प्रवक्ष्यामि " मैं कं अर्थात् परमात्मास्वरूप सिद्धपरमेष्ठीका ध्यान करके " स्पष्टवक्ता न वञ्चकः " की नीतिके अनुसार सिंहवृत्तिसे सर्व सन्मुख (सरे बाजार) प्रतिवादियोंको शास्त्रार्थ करनेका दुंदुभिवादन करता हुआ सप्तभंगीवाणीका निरूपण करूंगा " कथम्भूतं कं " कैसे हैं सिद्धपरमेष्ठी " श्रीवर्धमानं " श्रिया वातीति श्रीवं श्री, व, ऋद्ध, मान अनन्तानन्त संख्यानेन ऋद्धं प्रवृद्धं मानं परिमाणं यस्य–आत्मलब्धिको सुरभित करनेवाला प्रकृष्ट है परिमाण जिनका। भावार्थ—अनेक भव्य जीवोंकी स्वाभाविक परिणतिरूप स्वसम्पत्तिको स्वकीयशुद्धिकी सत्तामात्रसे सुवासित करनेवाले अनंतानंत सिद्ध भगवान् सिद्धक्षेत्रमें शोभायमान हैं। पुनः कथम्भूतं " कं " घातिसंघातघातनम् फिर कैसे हैं सिद्ध भगवान् ?

मोहो खाइयसम्मं केवलणाणं च केवलालोयं।
हणदि हु आवरणदुगं अणंतविरियं हणेइ विग्घन्तु ॥ १ ॥
सुहमं च णाणकम्मं हणेइ आऊ हणेइ अवगहणं।
अगुरुलहुगं च गोदं अव्वाबाहं हणेइ वेयणियं ॥ २ ॥

इन प्रमाण वाक्योंके अनुसार सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंके घात करनेवाले आठ कर्मोंको बतलाया है। अघाति कर्मोंमें भी नञ्का अर्थ ईषत् यानी "थोडा" माना है। अतः घाति संघात-घातनं अर्थात् ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंका संक्षय करनेवाले सिद्ध भगवान् हैं। "पुनः कथम्भूतं कं" फिर कैसे हैं सिद्ध परमात्मा "विद्यास्पदं" केवलज्ञान जिनमें प्रतिष्ठित होरहा है अर्थात् केवलज्ञानके सार्वभौम अधिपति हैं या शरीरादिसे रहित होकर शुद्धचैतन्य मात्रमें है सतत अव-स्थान जिनका। "कथं प्रवक्ष्यामि" कैसा है निरूपण करना, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्ति यथा स्यात् तथा। यह क्रियाविशेषण है। तत्त्वार्थश्लोक अर्थात् आत्मतत्त्वके हितकीर्तनमें अवार्त्ति, अव+आर्त्ति अवका अर्थ अवक्षेपण है। यानी दूर करदी हैं संसार संबंधी यातनायें (पीडायें) जिस कथनमें, यहां भी अव उपसर्गके अकारका लोप हो जाता है, यहां अपसमानार्थक अव उपसर्ग है, जैसे कि अवचिनोति अपचिनोति। इस श्लोकका चतुर्थ अर्थ इस प्रकार है:—

(अहं विद्यास्पदं आध्याय प्रवक्ष्यामि) मुझको विद्या यानी आद्यतत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके आधारभूत समंतभद्र स्वामीके वाक्य ही हैं। अतः अन्वर्थनामा मुझ विद्या (विद्यानन्द) के श्रद्धा-स्पद आराध्य गुरु महाराज समंतभद्रस्वामी हैं। अतः मैं अपने गुरु समंतभद्र स्वामीका ध्यान करके (प्रवक्ष्यामि) मानूं स्वर्गस्थित गुरु महाराजके सन्मुख तत्त्वार्थशास्त्रकी परीक्षा देनेकी सदिच्छासे स्वभ्यस्त प्रमेयका भलेप्रकार निरूपण करूंगा। (कथम्भूतं विद्यास्पदं) कैसे हैं समन्तभद्रस्वामी, "श्री वर्धमानं" अर्थात् काञ्ची, वाराणसी आदि नगरियोंमें अनेक विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करके विजयलक्ष्मीको प्राप्तकर शिवकोटी राजाके सन्मुख स्वकीय नमस्कार झेलनेके योग्य जगदानंदन चंद्रप्रभ भगवान्की प्रतिमाप्रभावनाका चमत्कार दिखलाकर अखिल भारतवर्षमें जैनधर्मकी ध्वजा फहरानेवाली विजयलक्ष्मीको अहोरात्रि चतुर्गुणित वृद्धिको प्राप्त कर रहा है मान यानी आत्मगौरव जिनका, श्रियं वर्द्धयतीति श्रीवर्द्धः। (पुनः कथम्भूतं समंतभद्रं) फिर कैसे हैं श्री समंतभद्र "घातिसंघातघातनम्" सम्यग्दर्शनकी रोमरोमाग्र रूपसे रक्षा करते हुए शरीर-स्वस्थताके घाती भस्मक आदि अनेक रोग समुदायको जिनवाक्य पीयूषधारासे घात करनेवाले अथवा स्याद्वादसिद्धान्तके प्रचार प्रभावनारूप शुभभावना विचारोंकी वासनासे अग्रिम जन्ममें त्रैलोक्यानंद विधायिनी, तीर्थङ्कर प्रकृतिको बांधकर आगामी उत्सर्पिणी कालमें तीर्थङ्कर होते हुए ज्ञानावरण आदि समुदायको अनंतानंत कालतकके लिये घात करनेवाले। घातिसंघातं घातयिष्यति, (पुनः कथम्भूतं) फिर कैसे हैं श्री समंतभद्र स्वामी (तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिकं) वर्त्तिकानां समूहो वार्त्तिकम्—तत्त्व करके निर्णीत अर्थ समूहको प्रकाशनार्थ या प्रवर्धनार्थ परवादिमदोन्माथिनी वाणी-रूप वर्त्तिकाओंके (दीप कलिकाओंके) समुदाय रूप हैं। "शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम्" करके यहां मध्यमपदलोपी समास है अर्थात् श्रीसमंतभद्र स्वामीकी वाग्धारारूपी प्रदीपकलि-

कार्ओंसे यावत् तत्त्वोंका प्रकाश हो जाता है। यहां वर्तिकाओंके समुदायसे प्रदीप लक्ष्यार्थ है। स्वामीजीको पञ्चम अर्थ भी अभीष्ट है—

"अहं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमाध्याय प्रवक्ष्यामि" चारविनयोंमें ज्ञानविनय प्रधान है शुद्धांतःकरणसे स्वात्मोपलब्धिके उपयोगी स्वकीय ज्ञानको बढाना और उसकी बहुत मान्यता करना ज्ञान विनय है। अतः अपनी शुद्धात्मामें निरवद्य स्वकीय–ज्ञानकी प्रतिष्ठा करना आवश्यक गुण है। सम्पूर्ण परद्रव्योंसे चित्त–वृत्तिको हटाकर अपनी आत्माके स्वाभाविक गुणोंका ध्यान करना ही सिद्धिका साक्षात् कारण है। अतः श्रीविद्यानंद स्वामी अपनी आत्मामें पूर्ण रूपसे विराजमान ज्ञानस्वरूप श्लोकावार्तिक ग्रंथका स्वयं ध्यान करके पद वाक्य रूपसे आनुपूर्व्य ग्रंथन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। (कथम्भूतं श्लोकवार्तिकं) कैसा है श्लोकवार्तिक ग्रंथ, (श्रीवर्धमानं) ऊहापोह-शालिनी, प्रतिवादिमत्तेभसिंहनादिनी, नवनवोन्मेषधारिणी, स्याद्वादसिद्धांतप्रचारिणी, विद्वच्चेत-श्चमत्कारिणी, अध्येतृबोधवैशद्यकारिणी, ऐसी तर्कणा लक्ष्मीसे उत्तरोत्तरवृद्धिको प्राप्त हो रहा है। (पुनः कथम्भूतं श्लोकवार्तिकं) फिर कैसा है श्लोकवार्तिक ग्रंथ "आध्यायघातिसंघातघातनम्" आङ्, धी, इण् घञ् चारों ओरसे बुद्धिके समागम द्वारा मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मके सर्वघातिपटलोंका उदयाभावरूपक्षय करदेनेवाला है। यहां आध्याय पदकी आवृत्ति कर दो वार अन्वय किया है अथवा घातिसंघातघातनम्" कुयुक्तियों या अपसिद्धान्तोंके समुदायका विनाश कर देनेवाला है। (पुनः कथम्भूतं श्लोकवार्तिकं) फिर कैसा है श्लोकवार्तिक ग्रंथ (विद्यास्पदं) प्रतिवादियोंके द्वारा विचारमें लाये गये पूर्वपक्षोंमें न्याय, मीमांसा, वेदांत, बौद्ध, आदिकोंकी तत्त्व-विद्याओंका तथा उत्तरपक्षमें सिद्धांतित आर्हत सिद्धांत और न्यायविद्याका स्थान (घर) है। ऐसे तत्त्वार्थसूत्रके श्लोकका यानी यशःकीर्तनका वार्तिक अर्थात् वार्ताओंका समुदाय यह ग्रंथ अन्वर्थनामा है। वृत्तिरूपेण कृतो ग्रन्थो वार्तिकं। तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर श्लोकोंमें रचागया वार्तिक है।

श्री विद्यानंद स्वामी मंगलाचरण श्लोकके विषयमें कार्यकारण भावसंगतिको दिखलाते हैं। क्योंकि विना संगतिके बोले हुए वाक्य अप्रमाण होते हैं जैसे कि—

जरद्गवः कम्बलपाणिपादो, द्वारि स्थितो गायति मंगलानि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा, राजन् सितायां लशुनस्य कोऽर्थः॥

इसका अर्थः—एक बुड्ढा बैल है। हाथ पैरोंमें कम्बल है। (बैलोंके गलेमें लटकनेवाला चमडा) द्वार पर बैठा हुआ मंगल गा रहा है। उसको पुत्रकी इच्छा रखती हुयी ब्राह्मणी पूंछती है कि हे राजन्! मिश्रीमें लहसुन डालनेका क्या फल है। ऐसे अण्ट सण्ट वाक्योंकी पूर्वापर अर्थोंमें संगति नहीं है। इस कारण अप्रमाण होते हैं। अतः प्रामाणिक पुरुषोंको संगतियुक्त वाक्य ही बोलने चाहिये संगति छह प्रकारकी है—

सप्रसंग उपोद्घातो, हेतुताऽवसरस्तथा ।
निर्वाहकैककार्यत्वं षोढा संगतिरिष्यते ॥ २ ॥

यहां हेतुतासङ्गति है, श्लोकवार्तिक ग्रंथका और गुरुओंके ध्यानका अव्यभिचारी कार्यकारण भाव सम्बन्ध है । इसी बातको ग्रंथकार आद्य वाक्य द्वारा प्रगट करते हैं—

श्रेयस्तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकप्रवचनात्पूर्वं परापरगुरुप्रवाहस्याऽऽध्यानं तत्सिद्धिनिबन्धनत्वात् ।

इस अनुमानवाक्यमें ' तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकप्रवचनात्पूर्वं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानं ' यह पक्ष है, श्रेयस्त्व साध्य है और ' तत्सिद्धिनिबन्धनत्व ' हेतु है । तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक महाग्रन्थके आदिमें पर गुरु सर्वोत्कृष्ट–तीर्थङ्करोंका और अपर गुरु गणधरसे लेकर आम्नायके अनुसार निरंतर प्रवर्तनेवाली गुरुपरम्पराका पूर्णरूपसे चिन्तन करना अत्यंत श्रेष्ठ है, क्योंकि श्लोकवार्त्तिकग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्तिका कारण गुरुजनोंका चिन्तन ही है ।

न्यायवेत्ता विद्वान् प्रत्यक्षित और आगमसिद्ध पदार्थोंको भी अनुमानसे सिद्ध करनेकी अभिलाषा रखते हैं । अनुमानसे प्रमेयसिद्धिमें दृढता आ जाती है । चमत्कार भी प्रतीत होता है । एक ही अग्निको आगम प्रमाण, अनुमान और प्रत्यक्षसे सिद्ध करनेमें विशिष्ट प्रमिति हो जाती है । ऐसे प्रमाण-संप्लवको जैनाचार्य भी इष्ट करते हैं । एक अर्थमें विशेष–विशेषांशरूपसे जाननेवाले अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्तिको प्रमाणसम्प्लव कहते हैं ।

सिद्धांत विषयोंको अनुमान प्रमाणसे सिद्ध करने, करानेमें दूसरा यह भी प्रयोजन है कि लक्ष्यलक्षणभावकी अपेक्षा हेतुहेतुमद्भाव बना देनेमें गुणों और दोषोंका अधिक आदान प्रदान हो जाता है । लक्षणके अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव ये तीन दोष हैं । लक्षणमें इनके होनेसे दूषण और न होनेसे भूषण है, किन्तु हेतुके दोष उक्त तीन दोषोंसे कहीं अधिक है । अव्याप्ति दोष भागासिद्ध हेत्वाभासमें गर्भित हो जाता है, और अतिव्याप्ति व्यभिचारमें गतार्थ है तथा असम्भव असिद्ध हेत्वाभासमें प्रविष्ट हो जाता है । फिर भी हेतुके कतिपय सत्प्रतिपक्ष, बाध, अकिञ्चित्कर, विरुद्ध आदि दोष लक्ष्यलक्षणभावसे प्राप्त लक्षणाभासमें देनेसे शेष रह जाते हैं । अतः लक्ष्यको साध्य बनाकर और लक्षणको हेतु बनाकर अनुमान द्वारा पदार्थोंकी सिद्धि कर देनेसे वादीको व्याप्ति, दृष्टांत द्वारा सर्व दोषोंको हटाकर स्पष्टरूपसे कथन करनेका अवसर मिल जाता है, और प्रतिवादीको दोषोत्थापन करनेका पूरा क्षेत्र (मैदान) प्राप्त हो जाता है । जैनाचार्योंका यह औदार्य प्रशंसनीय है । " वादे वादे जायते तत्त्वबोधः " प्रमाण और तर्कणाओंसे स्वपक्षकी सिद्धि और अन्यपक्षमें दूषण बताते हुए तत्त्व-निर्णय या जीतनेकी इच्छासे भी कदाग्रहरहित वादियोंके परस्परमें प्रवर्ते हुए संवादको वाद कहते हैं । ऐसे वाद संवादके होते रहते वस्तुभूत तत्त्वोंकी झलक हो जाने पर हेय–उपादेय–तत्त्वोंका निर्बाध बोध हो जाता है । यह सिद्धान्त भी दोष और गुण

के विवेचनार्थ पूरा स्थान मिलनेपर ही संघटित होता है। इसलिये कचित् ' शृंगसास्नावान् गौः ' ऐसे लक्षणवाक्यको भी हेतुपरक वाक्योंसे लिखते हैं। "अयं गौः शृंगसास्नादिमत्त्वात्" यह गौ है, क्योंकि इसमें सींग और सास्ना (गलेमें लम्बा लटकता हुआ चर्म) है। सींग सास्नावाली गौ होती है। इस लक्षण वाक्यसे सींग और सास्ना होनेके कारण यह गौ है, ऐसा परीक्षकोंका हेतुवादरूप वाक्य बोधकर प्रतीत होता है। अतः उद्भट न्यायशास्त्री श्रीविद्यानन्दस्वामी प्रकृत अर्थको सद्धेतुओंसे सिद्ध करते हैं।

तत्र परमो गुरुस्तीर्थकरत्वश्रियोपलक्षितो वर्धमानो भगवान् घातिसंघातघातनत्वाद्यस्तु न परमो गुरुः स न घातिसंघातघातनो यथास्मदादिः।

यहां ' तीर्थंकरत्वश्रियोपलक्षितो वर्धमानो भगवान् ' पक्ष है। परमगुरुत्व साध्य है। घातिसंघातघातनत्व हेतु है। अस्मदादि व्यतिरेक–दृष्टांत है। उन गुरुओंमें अनन्त, अनुपम प्रभाव और अचिन्त्य विभूतिका कारण तथा तीनों लोकको विजय करनेवाली ऐसी तीर्थंकरत्वलक्ष्मीसे सम्बद्ध होकर शोभायमान हो रहे वर्धमान भगवान् तो उत्कृष्ट गुरु हैं यानी अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाले हैं। क्योंकि आत्माके स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्रको विभावित करनेवाले चार घातियाकर्मोंके क्षयकारक होनेसे, (हेतु)। गुरुपनेके लिये उक्त गुणोंका पाया जाना आवश्यक है। जो परमगुरु नहीं हैं, वे घातियाकर्मोंका नाश करनेवाले भी नहीं हैं। जैसे हम आदि अल्पज्ञानी। यहां वर्धमान भगवान्‌को उपलक्षण करके सर्व ही अर्हंत देवोंको पक्षकोटिमें ले रखा है, अतः ऋषभदेव भगवान् आदिको भी परमगुरुपना साध्य है, वे अन्वय दृष्टांत नहीं हो सकते हैं, और पार्श्वनाथ आदिका दृष्टांत देनेपर प्रतिवादीकी ओरसे आगमाश्रित दोष उठा देनेकी भी सम्भावना है। अतः अन्वय दृष्टांत न देकर व्यतिरेक व्याप्तिको दिखलाते हुए व्यतिरेक दृष्टांत दिया है। विपक्षमें हेतुका न रहना ही व्याप्तिका प्राण है। यह बात भी ध्वनित हो जाती है।

आद्य श्लोकमें यद्यपि हेतुको द्योतन करनेवाले पञ्चमी विभक्त्यन्त–पदका प्रयोग नहीं है। घातिसंघातघातनम् ऐसा मुख्यतः प्रथमान्त किन्तु वर्धमानं का विशेषण होनेसे द्वितीया विभक्त्यन्त वाक्य है। फिर भी "**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं**" इस वाक्यके सदृश प्रथमान्त भी हेतुवाक्य बना लिये जाते हैं। जैसे "**गुरवो राजमाषा न भक्षणीयाः**" यहां राजमाषा न भक्षणीया गुरुत्वात्, यह हेतुवाक्य है। रमास नहीं खाने चाहिये, क्योंकि प्रकृतिसे भारी होते हैं। वायु दोषको पैदा करते हैं।

अब वर्धमान भगवान्‌में परमगुरुत्व सिद्ध करनेके लिये दिया गया घातिसंघातघातनत्व हेतु असिद्ध है यानी पक्षमें नहीं रहता है, ऐसी प्रतिवादीकी शंकाको दूर करते हैं:—

घातिसंघातघातनोऽसौ विद्यास्पदत्वात्।

यहां असौ यह पक्ष है, घातिसंघातघातनत्व साध्य है। विद्यास्पदत्व हेतु है। वे श्री वर्धमान तीर्थंकर घातिसमुदायका ध्वंस करनेवाले हैं। क्योंकि पूर्ण सम्यग्ज्ञानके आश्रय हैं। यहांपर इस द्वितीय हेतुमें प्रतिवादी व्यभिचार उठाता है; किसी स्थलमें हेतुके रहते हुए साध्यके न रहनेको व्यभिचार कहते हैं।

विद्यैकदेशास्पदेनास्मदादिनाऽनैकान्तिकः, इति चेन्न।

कतिपय पदार्थविषयक सम्यग्ज्ञानके आश्रय तो सम्यग्दृष्टि हम लोग भी हैं। किन्तु हमारे घातियाकर्मोंका क्षय नहीं हुआ है। अतः व्यभिचार दोष हुआ।

आचार्य कहते हैं कि यह आपका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकिः—

सकलविद्यास्पदत्वस्य हेतुत्वाव्द्यभिचारानुपपत्तेः।

परमगुरुपना सिद्ध करनेवाले हेतुमें विद्याका अर्थ सकलविद्या है। अतः पूर्णज्ञान माने गये केवलज्ञानके आश्रयपनेको हेतु करनेसे व्यभिचार दोष नहीं बन सकता है। हम सदृश सामान्य जीवोंमें पूर्णज्ञान नहीं हैं।

प्रसिद्धं च सकलविद्यास्पदत्वं भगवतः सर्वज्ञत्वसाधनात्।

भगवान्को त्रिकाल–त्रिलोकसम्बन्धी पदार्थोंका प्रत्यक्षज्ञान साधदिया है। इस कारणसे सकल विद्याका आधारपना भी सिद्ध हो चुका।

अतो नान्यः परमगुरुरेकान्ततत्त्वप्रकाशनात्। दृष्टेष्टविरुद्धवचनत्वादविद्यास्पदत्वादक्षीणकल्मषसमूहत्वाच्चेति न तस्याऽऽध्यानं युक्तम्।

अतः केवलज्ञानी जिनेन्द्र देवसे अतिरिक्त दूसरा कोई कपिल, सुगत आदि परमगुरु नहीं हैं। क्योंकि दूसरे लोगोंने एकान्ततत्त्वका प्रकाशन किया है और उनके ग्रंथरूपी वचनोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे विरोध आता है। तथा वे पूर्ण ज्ञान न होनेसे अविद्याके भी स्थान हैं और कर्मसमुदाय भी उनका नष्ट नहीं हुआ है। भावार्थ—वर्धमान स्वामीने अनेकान्त तत्त्वका प्रकाशन किया है। इस हेतुसे उनके वचन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे और पूर्वापरमें विरुद्ध नहीं हैं। अविरुद्ध वचन होनेसे ही वर्धमान स्वामी विद्याके आस्पद जाने जाते हैं। केवलज्ञानरूपी विद्याके आश्रय होनेसे ही वे पापके क्षय करनेवाले सिद्ध होते हैं और पापका क्षय करनेके कारण परमगुरुपना वर्धमानस्वामीमें आजाता है। इन चार ज्ञापक हेतुओंसे श्री वर्धमान स्वामीमें तो गुरुता सिद्ध होगया, किन्तु कपिल, सुगत आदिकोंमें गुरुपनका निषेध करनेवाला

व्यतिरेक बन गया। अर्थात् कपिल आदिकोंने पाप समुदायका क्षय नहीं किया है। अतः वे अविद्याके स्थान हैं। अविद्याके आश्रय होनेसे कपिल आदिकोंके वचन पूर्वापर तथा प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरोधी हो जाते हैं। कपिल आदिकोके वचन पूर्वापर विरोधी हैं। तभी तो उनके द्वारा क्षणिकत्व, नित्यत्व आदि एकान्ततत्त्वोंका प्रकाशन किया गया ज्ञात होता है और एकान्ततत्त्वके प्रकाशक होनेसे वे परमगुरु नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार चार हेतुओंकी मालाके व्यतिरेकदृष्टांत कपिल, सुगत, जैमिनि आदिक हैं। ये परमगुरु नहीं हैं।

एतेनापरगुरुर्गणधरादिः सूत्रकारपर्यन्तो व्याख्यातस्तस्यैकदेशविद्यास्पदत्वेन देशतो घातिसंघातघातनत्वसिद्धेस्सामर्थ्यादपरगुरुत्वोपपत्तेः।

इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा हेतुओंका समर्थन करनेसे गणधरको आदि लेकर श्री उमास्वामी सूत्रकारतकके आचार्यगण अपरगुरु अच्छी तरह व्याख्यापूर्वक सिद्ध हो गये। क्योंकि पूर्वोक्त चारों सद्धेतुओंमें एकदेश लगादेने से अपरगुरुपना साध्यतककी व्याप्ति बन जाती है। अर्थात् श्रीगणधर कुंदकुंद आदिक आचार्योंने अनेक अनेकांततत्त्वोंका प्रकाशन किया है। इससे उनके वाक्य किसी प्रमाणसे विरुद्ध नहीं हैं। ऐसा होनेसे ही वे एकदेश विद्याके आस्पद बन जाते हैं। तथा एकदेश–विद्याके आस्पद होनेसे एकदेश ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मोंके नाश करनेवाले ज्ञात होते हैं और कुछ अंशोंमें घातिया कर्मोंके नाशक होनेसे अपरगुरु माने जाते हैं। यों विशेषणसहित हेतुकी सामर्थ्यसे उन गणधर आदिकें अपर गुरुपन सिद्ध होजाता है।

भावार्थः— हेतु दो प्रकारके होते ह। एक कारकहेतु। दूसरे ज्ञापकहेतु। अनुमान प्रकरणके हेतुओंको ज्ञापकहेतु कहा जाता है। जैसे अग्निको सिद्ध करनेमें धूम और मुहूर्तके पहिले भरणिनक्षत्रका उदय सिद्ध करनेमें कृत्तिका–नक्षत्रका उदय। तथा कार्य करनेवाले साधनोंको कारकहेतु कहते हैं। जैसे धूमका कारकहेतु अग्नि है और घटका कुलाल, मिट्टी, दण्ड, चक्र आदि। कहीं कहीं कारकहेतु साध्य हो जाता है उस कारकहेतुका कार्य ज्ञापक हेतु बन जाता है। 'जैसे पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ कारकहेतु वह्निको साध्य बनाया है और वह्निके कार्य धूमको ज्ञापकहेतु बनाया है। अतः न्यायशास्त्रोंमें ज्ञापक और कारक हेतुके विवेक करनेका सर्वदा ध्यान रखना चाहिये। प्रकरणमें पूर्वोक्त हेतु ज्ञापकहेतु हैं। यदि कारक हेतु होते तो यह व्यवस्था होती कि वर्धमान स्वामीने परमगुरुपनेसे ही घातिया कर्मोंका नाश किया। घातियाकर्मोंके क्षयके निमित्तसे भगवान्को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। केवलज्ञानके कारण ही भगवान्के वचन प्रत्यक्ष और परोक्षसे अविरुद्ध पैदा हुए और उन वचनोंको कारण मानकर अनेकान्ततत्त्वका प्रकाशन हुआ। इस प्रकारका कार्यकारणभाव उलटा करनेसे

यानी कारणोंको साध्य और कार्योंको हेतु बनानेसे अनुमान द्वारा ज्ञाप्यज्ञापक भाव बन जाता है। साध्य और हेतुके समानदेशमें रहने रूप समव्याप्ति होनेपर हेतुको भी साध्य बना सकते हैं। व्यभिचार दोष नहीं होता है। किंतु विषमव्याप्ति होनेपर तो व्यापकको ही साध्य और व्याप्यको ही हेतु बनाना पडेगा। अन्यथा अनैकान्तिक हेत्वाभास हो जावेगा। यहां प्रश्न है।

नन्वेवं प्रसिद्धोऽपि परापरगुरुप्रवाहः कथं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकप्रवचनस्य सिद्धिनिबन्धनं यतस्तस्य ततः पूर्वमाध्यानं साधीय इति कश्चित्।

आप जैनोंने परमगुरुओंकी और अपर गुरुओंकी आम्नायको सिद्ध किया सो ठीक है। किन्तु वह गुरुओंकी परिपाटी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थकी सिद्धिका कारण कैसे हो सकती है? जिससे कि उन गुरुओंका ग्रन्थके आदिमें ध्यान करना अत्युत्तम माना जावे ऐसा कोई कह रहा है। इस प्रश्नका उत्तर बीचमें नैयायिक यों देते हैं कि --

तदाध्यानाद्धर्मविशेषोत्पत्तेरधर्मध्वंसात्तद्धेतुकविघ्नोपशमनादभिमतशास्त्रपरिसमाप्तितः स तत्सिद्धिनिबन्धनमित्येके।

उन गुरुओंके चोखे ध्यानसे विलक्षण पुण्य पैदा होता है। उस पुण्यसे पापका नाश हो जाता है। अतः पापको कारण मान करके शास्त्रकी परिसमाप्तिमें आनेवाले विघ्नोंका उपशम हो जानेसे अभीष्ट शास्त्रकी निर्विघ्न समाप्ति हो जाती है। इस परम्परा—कार्यकारणभावसे गुरुओंका त्रियोगपूर्वक ध्यान करना शास्त्रकी सिद्धिका कारण है। इस प्रकार कोई एक कह रहे हैं।

तान् प्रति समादधते।

ग्रन्थकार कहते हैं कि पुण्यविशेषके साथ शास्त्रपरिसमाप्तिका अन्वयव्यतिरेकरूपसे कार्यकारणभाव व्यभिचरित है। अतः नैयायिकोंका यह उत्तर हमको अनुचित प्रतीत होता है। इस प्रकार नैयायिकोंके उत्तरका प्रत्युत्तर रूपसे समाधान करते हैं कि—

तेषां पात्रदानादिकमपि शास्त्रारम्भात् प्रथममाचरणीयं परापरगुरुप्रवाहाध्यानवत्तस्यापि धर्मविशेषोत्पत्तिहेतुत्वाविशेषाद्यथोक्तक्रमेण शास्त्रसिद्धिनिबन्धनत्वोपपत्तेः।

उन नैयायिकोंको शास्त्रके आरम्भसे पहिले पात्रोंको दान देना, इष्टदेवकी पूजा, सत्य बोलना, ईर्यासमिति, चारित्र पालना आदि पुण्यकर्म करना भी इष्ट करना चाहिये। क्योंकि पर अपर गुरुओंके प्रवाहके ध्यानसमान उन पात्रदान आदिको भी पुण्यविशेष की उत्पत्ति करनेमें समान रूपसे कारणता है। ध्यान ही में कोई विशेषता नहीं है, तब तो पात्रदान आदि द्वारा उनके कहे हुए क्रमके अनुसार अधर्मका नाश और पापहेतुक विघ्नोंका विलय हो जानेसे शास्त्रकी सिद्धिरूपी कार्य होना बन जावेगा। भावार्थ— नैयायिकोंके मतानुसार नियमसे गुरुओंके ध्यानको

ही शास्त्रकी कारणता नहीं आ सकेगी। इष्टदेव पूजा आदि भी कारण हो सकते हैं। अब पूर्वोक्त शङ्काका अन्यवादी इस प्रकार निराकरण करते हैं कि—

परममङ्गलत्वादाप्तानुध्यानं शास्त्रसिद्धिनिबन्धनमित्यन्ये।

सर्वोत्कृष्ट मंगलकार्य होनेसे यथार्थवक्ता गुरुओंका ध्यान करना शास्त्रकी सिद्धिका कारण है। अतः ग्रन्थकर्त्ताको उन गुरुओंका ध्यान करना आवश्यक है। ऐसा अन्य कह रहे हैं।

तदपि तादृगेव। सत्पात्रदानादेरपि मंगलत्वोपपत्तेः न हि जिनेन्द्रगुणस्तोत्रमेव मंगलमिति नियमोऽस्ति स्वाध्यायादेर्मङ्गलत्वाभावप्रसंगात्।

इस पर आचार्य कहते हैं कि नैयायिकोंके सदृश अन्य प्रतिवादियोंका वह कार्यकारणभाव भी अन्वयव्यतिरेक न घटनेसे वैसा ही व्यभिचारी है।

क्योंकि श्रेष्ठ पात्रोंके लिये दान देना आदिको भी तो मंगलपना सिद्ध है। केवल जिनेंद्रके गुणोंका स्तवन करना ही मंगल है, ऐसा कोई एकांतरूपसे नियम नहीं है। यदि नियम मानोगे तो स्वाध्याय कायोत्सर्ग, आदिको मंगलपनेके अभावका प्रसंग होगा, जो कि हम और तुम दोनोंको इष्ट नहीं है। यहां पूर्वोक्त शंकाका समाधान अपरजन तीसरे प्रकारसे करते हैं, उसको सुनिये।

परमाप्तानुध्यानाद्ग्रन्थकारस्य नास्तिकतापरिहारसिद्धिस्तद्वचनस्यास्तिकैरादरणीयत्वेन सर्वत्र ख्यात्युपपत्तेस्तदाध्यानं तत्सिद्धिनिबन्धनमित्यपरे।

उत्कृष्ट यथार्थ वक्ता गुरुओंका शिष्टसंप्रदायके अनुसार भले प्रकार ध्यान करनेसे ग्रंथको बनानेवाले विद्वान्के नास्तिकतादोषका निराकरण होजाता है। अतः स्वर्ग, नरक, मोक्ष, पुण्य पाप, प्रेत्यभाव केवलज्ञानी, सिद्ध, आचार्योंकी आम्नाय, आत्मा और उसके अतीन्द्रियगुण आदि तत्त्वोंको ग्रंथकार मानते हैं। ऐसा जानकर पूर्वोक्त तत्त्वोंके माननेवाले करोडों आस्तिक लोगोंद्वारा उन ग्रंथकारके वचनोंका आदर हो जानेसे सभी स्थानोंपर उनकी ख्याति, पूजा, प्रतिष्ठा होना बन जावेगा। यों उन गुरुओंका ध्यान ग्रंथके सिद्धि (प्रसिद्धि) में कारण है।

भावार्थ—ग्रन्थ अपने लिये तो लिखा नहीं जाता है। दूसरे लोग ही लाभ उठावें और प्रगाढविद्वत्तासे लिखा हुआ ग्रन्थ समाजमें प्रतिष्ठित बने इस बुद्धिसे प्रेरित होकर ग्रन्थ लिखनेका यत्न किया जाता है। यदि लाखों आस्तिक लोग ग्रन्थकी प्रतिष्ठा न करेंगे तो कोई उस ग्रन्थसे लाभ भी न उठा सकेगा। तथा च ग्रन्थ लिखना व्यर्थ पडेगा। अतः उक्त कारणमालासे गुरुका ध्यान करना ग्रन्थकी निष्पत्तिका कारण है। इस प्रकार तीसरे सज्जनोंका समाधान है।

तदप्यसारम्।

आचार्य कहते हैं कि ग्रन्थकारके नास्तिकता दोषके दूर करनेका और प्रशंसा प्राप्त करनेका वह उपाय भी प्रशस्त नहीं है। अतः वह तीसरोंका उत्तर भी निस्सार है। जब कि—

श्रेयोमार्गसमर्थनादेव वक्तुर्नास्तिकतापरिहारघटनात् तदभावे सत्यपि शास्त्रारम्भे परमात्मानुध्यानवचने तदनुपपत्ते।

वक्ता ग्रन्थकारने आदि सूत्रमें ही कहे गये मोक्षमार्गका वार्तिक और भाष्य द्वारा समर्थन किया है। इसीसे उनका नास्तिकपन दोष दूर हुआ घटित हो जाता है। उस यदि मोक्षमार्गका व्याप्ति द्वारा, हेतु दृष्टान्तोंसे समर्थन न करते और शास्त्रके आदिमें परमात्माके बढिया ध्यान करनेका वचन कह भी देते तो भी वह नास्तिकताका परिहार नहीं हो सकता था। क्योंकि कई मनुष्य "विषकुम्भं पयोमुखं" के न्यायानुसार लोक रिझानेके लिये कतिपय दिखाऊ काम कर देते हैं। पश्चात् उनकी कलई खुल जाती है। अब चौथे कोई महाशय उक्त शंकाका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि—

"शिष्टाचारपरिपालनसाधनत्वात्तदनुध्यानवचनं तत्सिद्धिनिबन्धनमिति केचित्"।

"गुरुजनमनुसरन्ति शिष्याः" इस न्यायसे गुरुपरिपाटीके अनुसार अनिन्दित चरित्रवाले शिष्ट–सज्जनोंको अपने गुरुओंका पुनः पुनः ध्यान करना और उसका ग्रन्थकी आदिमें उल्लेख कर कथन करना अपने कर्त्तव्यका परिपालन है। इस कारण गुरुओंका ध्यान उस शास्त्रकी सिद्धिका कारण है। गुरुओंका पीछे ध्यान करनेसे ही शिष्टोंके आचारका परिपालन हो सकता है। ऐसा कोई कहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि—

तदपि तादृशमेव। स्वाध्यायादेरेव सकलशिष्टाचारपरिपालनसाधनत्वनिर्णयात्।

वह कहना भी वैसा ही है अर्थात् यह भी कार्यकारणभाव पूर्वोक्तवादियोंके समान अन्वय-व्यतिरेकको लिये हुए नहीं है। क्योंकि स्वाध्याय, देवपूजा, सामायिक आदि ही सम्पूर्ण सुशिक्षा प्राप्त सज्जनोंके आचारका पूर्ण रीतिसे पालन करानेवाले साधन निर्णीत किये गये हैं। केवल गुरुओंके ध्यानसे तो शिष्टाचार प्रगट नहीं होता है। क्योंकि अनेक चोर, मायाचारी (दगाबाज), वेश्या, शिकारी लोग भी सम्मानार्थ अपने गुरुओं (उस्तादों) का ध्यान किया करते हैं।

अब पूर्वोक्त शंकाके चारों उत्तरों में अस्वरस (असंतोष) बतलाकर स्वामीजी महाराज स्वयं उक्त शंकाका सिद्धान्तरूपसे समाधान करते हैं।

ततः शास्त्रस्योत्पत्तिहेतुत्वात्तदर्थनिर्णयसाधनत्वाच्च परापरगुरुप्रवाहस्तत्सिद्धिनिबन्धनमिति धीमद्भूतिकरम्.

"शास्त्रसिद्धिनिबन्धनम्" यहाँ सिद्धिका अर्थ शास्त्रकी उत्पत्ति और ग्रन्थकारके शास्त्र रूपी वचनोंकी कारण हो रही उन प्रतिपादक ग्रन्थकारकी प्रतिपाद्य पदार्थोंके निर्णय करानेवाली ज्ञप्ति है। इन दोनों कार्योंका नियमरूपसे कारण परगुरुओं और अपरगुरुओंका प्रवाह ही है। उक्त शंकाका यही साक्षात् कार्यकारण भावरूपसे समाधान बुद्धिमानोंको सन्तोषपूर्वक धैर्य उत्पन्न करनेवाला है। भावार्थ— गुरुओंके ध्यानसे ही यह शास्त्र बना है और इसमें लिखे हुए प्रमेयका निर्णय भी हमें गुरुओंके प्रसादसे ही प्राप्त हुआ है। स्वामीजीका यह उत्तर गुरुपरिपाटीसे आम्नायके ज्ञातापनेको सिद्ध करता है। और यह ग्रन्थ स्वरुचिसे विरचित है, इस दोषका भी परिहार हो जाता है।

अब ग्रंथकारके समाधानपर किसीकी शंका है;—

सम्यग्बोध एव वक्तुः शास्त्रोत्पत्तिज्ञप्तिनिमित्तम् ।

"**प्रतिभाकारणं तस्य**" इस नियमसे शास्त्रकी उत्पत्ति और शास्त्र है वाचक जिसका ऐसे प्रतिपादकके अर्थनिर्णयका कारण तो ग्रन्थकारका अच्छा प्रबोध (व्युत्पन्नता) ही है। गुरुओंका ध्यान इन दोनोंमें कारण नहीं है।

इति चेन्न । तस्य गुरूपदेशायत्तत्वात् ।

आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अनेक ग्रन्थसंस्कारोंसे भावना किया गया व्युत्पत्तिलाभ तो गुरुओंके उपदेशके ही अधीन है। अतः गुरुओंका ध्यान ही निदान हुआ।

पुनः शंकाकार अपनी शंकाको दृढ करता है:—

श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाद्गुरूपदेशस्यापायेऽपि श्रुतज्ञानस्योत्पत्तेर्न तत्तदायत्तम् ।

गुरुओंके उपदेशके न होनेपर भी श्रुतज्ञानके आवरण हो रहे कर्मोंका क्षयोपशम हो जानेसे श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि शास्त्रकी उत्पत्ति और उसका ज्ञान गुरूपदेशके अधीन नहीं हैं। क्योंकि व्यतिरेक व्यभिचार दोष है।

इति चेन्न । द्रव्यभावश्रुतस्याप्तोपदेशविरहे कस्यचिदभावात् ।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा तो नहीं हो सकता है।

क्योंकि यथार्थ वक्ताके उपदेशके विना शब्दरूपी द्रव्यशास्त्र और ज्ञानरूपी भावशास्त्र किसीको भी प्राप्त नहीं होते हैं। "गुरुविन ज्ञान नहीं" ऐसी लोकप्रसिद्धि भी है।

द्रव्यश्रुतं हि द्वादशाङ्गं वचनात्मकमाप्तोपदेशरूपमेव तदर्थज्ञानं तु भावश्रुतं, तदुभयमपि गणधरदेवानां भगवदर्हत्सर्वज्ञवचनातिशयप्रसादात्स्वमतिश्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशयाच्चोत्पद्यमानं कथमाप्तायत्तं न भवेत् ।

आचाराङ्ग आदि बारह अंग पौद्गलिकशब्दस्वरूप द्रव्यश्रुत है। वह तो परमगुरुका उपदेश स्वरूप है ही और उस द्वादशांगका जो अर्थज्ञान है, वह भावश्रुतज्ञान है। ये दोनों भी शास्त्र और शास्त्रज्ञान गणधरदेवोंको भगवान् अर्हत्परमेष्ठी सर्वज्ञके सर्वजीवोंको समझानेकी शक्ति रखनेवाले सातिशय वचनोंके प्रसादसे तथा अपने अपने मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंके विशिष्ट अतिशयशाली क्षयोपशमसे पैदा हो जाते हैं, तो शास्त्र और शास्त्रका ज्ञान गुरुओंके उपदेशके अधीन क्यों नहीं होगा? अर्थात् होगा ही।

यच्चक्षुरादिमतिपूर्वकं श्रुतं तन्नेह प्रस्तुतं, श्रोत्रमतिपूर्वकस्य भावश्रुतस्य प्रस्तुतत्वात्तस्य चाप्तोपदेशायत्तताप्रतिष्ठानात्परापराप्तप्रवाहनिबन्धन एव परापरशास्त्रप्रवाहस्तन्निबन्धनश्च सम्यगवबोधः स्वयमभिमतशास्त्रकरणलक्षणफलसिद्धेरभ्युपाय इति तत्कामैराप्तस्सकलोप्याध्यातव्य एव।

सम्भवतः यों कोई दृष्टिकोण रखे कि आंखोसे घट, पटको देखकर उनके बनानेवाले आदि का और जिव्हासे रसको चखकर नीबू, अंगूर आदिका भी अर्थसे अर्थान्तर का ज्ञान होना रूप श्रुतज्ञान हो जाता है तथा आहार, भय, आदि संज्ञाओंका बिना सिखाये संचेतन हो जाता है। अतः गुरुके बिना भी तो श्रुतज्ञान हो गया। आचार्य कहते हैं कि– ऐसी आशंका न करना, क्योंकि यहां प्रकरणमें चाक्षुष, रासन आदि मतिज्ञानोंसे होनेवाले श्रुतज्ञानका कार्यकारण भाव विचारणीय नहीं है, किन्तु श्रवणेंद्रियजन्य मतिज्ञानके पश्चात् होनेवाले वाच्यज्ञान रूप भाव श्रुतज्ञानका कारण प्रस्तावमें विचार प्राप्त है। ग्रन्थ लिखनेमें वही श्रुतज्ञान उपयोगी हो सकता है। और वह श्रुतज्ञान आप्तके उपदेशके ही अधीन प्रतिष्ठित है। इस कारणसे सत्यवक्ता परगुरु और अपर गुरुओंके प्रवाहको कारण मानकर ही धारारूपसे उन व्यक्तियोंके द्वारा पर–अपर शास्त्रोंका प्रवाह चला आ रहा है। और तिस कारण शास्त्रोंकी चली आयी हुयी परिपाटीसे हम लोगोंको अच्छी व्युत्पत्ति प्राप्त है तथा वह व्युत्पत्ति अपने अभीष्ट शास्त्रोंको बनाने स्वरूप फलकी सिद्धिका बढिया उपाय है। इस कारण उस शास्त्र बनानेकी इच्छा रखनेवाले विद्वानोंको सर्वज्ञ देवसे लेकर अबतकके चले आये हुए यथार्थ वक्ता सभी श्री गुरुओंका ध्यान करना ही चाहिये।

तदुक्तम्। उसीको अन्यत्र भी कहा है कि—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः, प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।

प्रत्येक अभीष्टफल की सिद्धिका अच्छा उपाय सम्यग्ज्ञान है। वह सच्चा ज्ञान तो शास्त्रसे पैदा होता है और उस शास्त्रकी उत्पत्ति जिनेंद्र देव तथा गणधर देव आदि यथार्थ वक्ता गुरुओंसे है।

इससे सिद्ध होता है कि गुरुओंकी प्रसन्नतासे व्युत्पत्तिलाभ करनेवाले विद्वानोंको वे गुरु ही पूज्य हैं क्योंकि दूसरोंसे किये हुए उपकारको साधु सज्जन भूलते नहीं हैं। फिर यहां शंका उत्पन्न होती है।

ननु यथा गुरूपदेशः शास्त्रसिद्धेर्निबन्धनं तथाप्तानुध्यानकृतनास्तिकतापरिहार-शिष्टाचारपरिपालनमंगलधर्मविशेषाश्च तत्सहकारित्वाविशेषादिति चेत् ।

कि जिस तरहसे गुरुओंका उपदेश शास्त्रकी सिद्धिका कारण है, उसी प्रकार आप्तके ध्यानसे किये गये नास्तिकतादोषका निराकरण, शिष्टोंके आचाररूप गुणका पालन, सुख करनेवाला मंगल और प्रतिभाका उपयोगी पुण्यविशेष भी तो तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके बनानेमें कारण हो सकते हैं। क्योंकि जैसा सहकारी कारण गुरुका उपदेश है, वैसेही उक्त चारों भी सहकारी कारण हैं। उपादान कारणको सहायता पहुंचाकर या साथ कार्य करनेरूप सहकारीपनकी अपेक्षासे इन पांचोंमें कोई अंतर नहीं हैं। यदि ऐसा कहोगे तो—

सत्यम् । केवलमाप्तानुध्यानकृता एव ते तस्य सहकारिण इति नियमो निषिध्यते, साधनान्तरकृतानामपि तेषां तत्सहकारितोपपत्तेः कदाचित्तदभावेऽपि पूर्वोपात्तधर्मविशेषेभ्यस्तन्निष्पत्तेश्च, परापरगुरूपदेशस्तु नैवमनियतः, शास्त्रकरणे तस्यावश्यमपेक्षणीयत्वादन्यथा तदघटनात् ।

आचार्य कहते हैं कि ठीक है। आधा अंगीकार करना, या जबतक मैं उत्तर नहीं देता हूं, तबतक ठीक है, यह " सत्यं " अव्ययका अर्थ लिया गया है।

सुनिये ! गुरूपदेशके समान नास्तिकता परिहार आदि भी उस शास्त्रके सहकारी अवश्य हैं। किंतु वे चारों सहकारी कारण आप्तके ध्यानसे ही किये जाते हैं। जैसाकि पहिले तुमने कहा था इस नियमका निषेध है। आप्त के ध्यान और नास्तिकतापरिहार आदिके कार्यकारण भावमें अन्वयव्यतिरेक नहीं घटते हैं। देवपूजन, स्वाध्याय, तपस्या आदि अन्य कारणोंसे भी उत्पन्न होकर वे चारों उस ग्रंथके सहायक बन सकते हैं और कभी कभी उस आप्तके ध्यान विना भी पूर्वजन्म में उपार्जित विलक्षण पुण्योंसे भी वे चारों गुण पैदा हो जाते हैं। किंतु पर–अपर गुरुओंका उपदेश तो ऐसा नियमके विना नहीं है। अर्थात् इस पूर्वोक्त प्रकार अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोषवाला नहीं है। तभी तो शास्त्रके बनानेमें उस गुरुओंके उपदेशकी अवश्य अपेक्षा है। उसके विना दूसरे प्रकारसे वे शास्त्र बन नहीं सकते हैं।

ततः सूक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकप्रवचनात्पूर्वं श्रेयस्तत्सिद्धिनिबन्धत्वादिति प्रधानप्रयोजनापेक्षया नान्यथा, मंगलकरणादेरप्यनिवारणात् । पात्रदानादिवत् ।

तिस कारण हमने पहिले बहुत अच्छा कहा कि तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकशास्त्रके आदिमें प्रथम पर–अपर गुरुओंके प्रवाहका ध्यान करना ही कल्याणकारी है। क्योंकि वही उस शास्त्रकी सिद्धिका कारण है। इस प्रकार प्रधान प्रयोजनकी अपेक्षासे गुरुओंके ध्यानको ग्रंथ बनानेमें कारण माना है दूसरे प्रकार गौणफलकी अपेक्षासे नहीं। यदि ग्रन्थ बनानेमें प्रधानकारणके अतिरिक्त सामान्य कारणोंका विचार किया जावे तो पात्रदान, जिनपूजन आदिके समान मंगल करना, कायोत्सर्ग करना आदिका भी निराकरण हम नहीं करते हैं। निष्कर्षार्थ यह निकला कि गुरुओंका ध्यान ग्रंथ करनेमें आवश्यक कारण है और पात्रदान आदि अनियमरूपसे कारण हैं। फिर यहां दूसरी शंका उपस्थित होती है कि:–

कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं तस्य श्लोकवार्त्तिकं वा, तद्व्याख्यानं वा येन तदारम्भे परमेष्ठिनामाध्यानं विधीयत इति चेत्। तल्लक्षणयोगित्वात्।

तत्त्वार्थसूत्रको और उसके ऊपर अनुष्टुभ् छन्दों में बनायी गयीं स्वामीजीकी वार्तिकोंको तथा उनका भी विवरण भाष्यरूप व्याख्यानको शास्त्रपना कैसे है? जिससे कि उसके प्रारम्भमें परमेष्ठिओंका त्रियोगसे ध्यान किया जारहा है अर्थात् यदि इन तीनों को शास्त्रपना सिद्ध हो जावे, तब तो उन ग्रन्थोंके आदिमें परमेष्ठियोंका ध्यान किया जावे। जबतक इनमें शास्त्रपना ही सिद्ध नहीं है, फिर व्यर्थ ही शास्त्रोंके कारण मिलानेकी क्या आवश्यकता है? (उत्तर) यदि ऐसा कहोगे तो हम कहते हैं कि– उस शास्त्रका लक्षण सूत्र, व्याख्यान और भाष्यमें घटित होजाता है। अतः उक्त तीनों भी शास्त्रके लक्षणको धारनेसे शास्त्र हैं।

वर्णात्मकं हि पदं, पदसमुदायविशेषः सूत्रं, सूत्रसमूहः प्रकरणं, प्रकरणसमितिराह्निकं, आह्निकसंघातोऽध्यायः, अध्यायसमुदायः शास्त्रमिति शास्त्रलक्षणम्। तच्च तत्त्वार्थस्य दशाध्यायीरूपस्यास्तीति शास्त्रं तत्त्वार्थः।

वर्णोंकी सुबन्त, तिङन्तस्वरूप एकताको पद कहते हैं। परस्परमें आकांक्षा रखते हुए गंभीरार्थ प्रतिपादक पदोंके निरपेक्ष समुदायको सूत्र कहते हैं। एक विषयको निरूपण करनेवाले कतिपय सूत्रोंके समूहको प्रकरण कहते हैं। कतिपय विषयोंके निरूपण करनेवाले प्रकरणोंके समुदायको आह्निक कहते हैं। यहां " अह्निभं आह्निकं " एक दिनमें होनेवाला कार्य आह्निक है। ऐसा यौगिक अर्थ अभीष्ट नहीं है। किंतु पूर्वोक्त पारिभाषिकअर्थ ही उपादेय है। यौगिकसे रूढि अर्थ बलवान् होता है। अनेक प्रकरणोंके कथन करनेवाले आह्निकोंके सम्मेलनको अध्याय कहते हैं। और अध्यायोंका समुदाय शास्त्र कहलाता है। इस प्रकार शास्त्रका लक्षण है। वह लक्षण दशअध्यायोंके समाहाररूप तत्त्वार्थग्रन्थमें घट जाता है। इस लक्षणसे तत्त्वार्थसूत्र शास्त्र सिद्ध हुआ।

शास्त्राभासत्वशंकाप्यत्र न कार्योऽन्वर्थसंज्ञाकरणात् । तत्त्वार्थविषयत्वाद्धि तत्त्वार्थो ग्रन्थः प्रसिद्धो न च शास्त्राभासस्य तत्त्वार्थविषयताविरोधात् । सर्वथैकान्तसम्भवात् ।

शास्त्र न होकर शास्त्रसरीखे दीखनेवाले झूंठे, किस्से, कहानी या हिंसा, मिथ्यात्वपोषक आदिकी पुस्तकोंको शास्त्राभास कहते हैं । यों इस ग्रंथमें शास्त्राभासपनेकी शंका भी न करना । क्योंकि इस ग्रंथकी संज्ञा " जैसा नाम वैसे अर्थ " को लिये हुए है । तत्त्वकरके निर्णीत किये गये जीव आदि अर्थोंको विषय करनेवाला होनेसे निश्चय कर यह ग्रंथ तत्त्वार्थके नामसे प्रसिद्ध है । हाँ, जो कपिल, सुगत, आदिकोंके सांख्यदर्शन, न्यायविन्दु आदि शास्त्राभास हैं, उनमें तत्त्वार्थका प्रतिपादन नहीं है । क्योंकि सर्वथा एकांतका सम्भव होनेसे परमार्थ तत्त्वार्थकी विषयता न होनेके कारण उनको शास्त्रपनेका विरोध है ।

प्रसिद्धे च तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वे तद्वार्त्तिकस्य शास्त्रत्वं सिद्धमेव तदर्थत्वात् । वार्त्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धं, तत्कथमन्यार्थं भवेत् ।

जब कि उक्त प्रकार तत्त्वार्थसूत्रको शास्त्रपना अच्छी तरह सिद्ध हो चुका है, पुनः उसकी टीकारूप वार्त्तिकोंको शास्त्रपना सिद्ध हो ही गया । क्योंकि वे सूत्रोंका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये बनायी गयीं हैं । सूत्रोंके नहीं अवतार होने देनेकी तथा सूत्रोंके अर्थको न सिद्ध होने देनेकी ऊहापोह तर्कणा करना और उसका परिहार करना तथा ग्रंथकारके हृदयगत अर्थसे भी अधिक अर्थको प्रतिपादन करना, ऐसे वाक्यको वार्त्तिक कहते हैं । यह वार्त्तिकका प्रसिद्ध लक्षण सर्ववादियोंको मान्य हैं । यों भला वह वार्त्तिक सूत्रके सिवाय अन्य पदार्थको कहनेके लिये कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं ।

तदनेन तद्व्याख्यानस्य शास्त्रत्वं निवेदितम् ।

तिस कारण इस उपर्युक्त कथन करनेसे वार्त्तिकोंके व्याख्यानरूप ग्रंथके भाष्यको भी शास्त्रपनेका निवेदन कर दिया गया है । यहां शंका है कि—

ततोऽन्यत्र कुतः शास्त्रव्यवहार इति चेत् । तदेकदेशे शास्त्रत्वोपचारात् ।

उन सूत्र, वार्त्तिक और व्याख्यानके सिवाय अनेक ग्रंथ हैं । उनमें शास्त्रपनेका व्यवहार कैसे होगा ? यों कहनेपर तो इसका उत्तर यह है कि—वर्तमानमें उपलब्ध जितने प्रामाणिक शास्त्र हैं, वे सब तत्त्वार्थशास्त्रके या उसके अर्थ ग्रंथके एकदेश हैं । अतः उनमें भी शास्त्रपनेका व्यवहार है । अवयवीसे अवयव भिन्न नहीं हैं ।

यत्पुनर्द्वादशाङ्गं श्रुतं तदेवंविधानेकशास्त्रसमूहरूपत्वान्महाशास्त्रमनेकस्कन्धाधारसमूहमहास्कन्धाधारवत् ।

हाँ, फिर जो आचाराङ्ग आदि बारह श्रुतज्ञानके प्रतिपादक शास्त्र हैं, वे ऐसे तत्त्वार्थसूत्र सरीखे अनेक शास्त्रोंके समुदायरूप होनेसे महाशास्त्र हैं। जैसे अनेक छोटे छोटे स्कन्धवाले समूहोंका आधार एक महास्कन्ध होता है। एक अक्षौहिणीमें घोडे, हाथी, आदिके अनेक समूह हैं। एक बनमें अनेक जातिके वृक्षोंका समुदाय है। बहुतसे पुद्गलपिण्डोंका मिलकर एक महापिण्ड बन जाता है।

येषां तु शिष्यन्ते शिष्याः येन तच्छास्त्रमिति शास्त्रलक्षणं, तेषामेकमपि वाक्यं शास्त्रव्यवहारमाग्भवेदन्यथाऽभिप्रेतमपि माभूदिति यथोक्तलक्षणमेव शास्त्रमेतदवबोद्धव्यम्।

जिनके मतमें शास्त्र शब्दकी निरुक्ति करके ' शिष्यजन जिसके द्वारा सिखाये जावें " ऐसा शास्त्र शब्दका अर्थ निकाला जाता है, उनके अनुसार तो एक भी " उपयोगो लक्षणम् " ऐसा वाक्य शास्त्रव्यवहारको धारण करनेवाला हो जावेगा, क्योंकि एक वाक्यसे भी तो शिष्योंको शिक्षा मिलती है। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकार कहोगे तो विवक्षित ग्रंथ भी शास्त्र न होओ, इसलिये शास्त्र शब्दका यौगिक अर्थ अच्छा नहीं, किंतु जैसा पूर्वमें कहा गया है, अध्यायोंका समुदाय, यही शास्त्रका लक्षण अच्छा समझना चाहिये।

ततस्तदारम्भे युक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानम् ।

तिस कारणसे उस शास्त्रके आरम्भमें परापर गुरुप्रवाहका प्रकृष्ट ध्यान करना युक्त ही है।

अबतक विवादास्पद विशेषणरूप साध्यका कारकहेतु मानकर घातिसमुदाय घातनको सिद्ध करते हुए वर्धमान स्वामी में परमगुरुपना सिद्ध किया था। किंतु इस समय विवादास्पदको श्लोकवार्तिक ग्रंथका विशेषण करते हुए दूसरा प्रयोजन बतलाते हैं।

अथवा। यद्यपूर्वार्थमिदं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकं न तदा वक्तव्यम्, सतामनादेयत्वप्रसंगात्, स्वरुचिविरचितस्य प्रेक्षावतामनादरणीयत्वात्। पूर्वप्रसिद्धार्थं तु सुतरामेतन्न वाच्यम्। पिष्टपेषणवद्वैयर्थ्यात्।

यहां तर्क है कि यदि यह तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रंथ नवीन अपूर्व अर्थोंको विषय करनेवाला है, तब तो विद्यानन्द स्वामीको यह ग्रन्थ नहीं कहना चाहिये। क्योंकि प्राचीन आम्नायके अनुसार न कहा हुआ होनेसे सज्जन लोगोंको उपादेय नहीं हो सकेगा। चाहे किसी भी मनुष्यके द्वारा केवल अपनी रुचिसे रचे हुए नवीन कार्यका हिताहित विचार करनेवाले पुरुष आदर नहीं करते हैं। और यदि यह ग्रन्थ पूर्वके प्रसिद्ध अर्थोंको ही विषय करता है, तब तो सरलतासे प्राप्त हुआ कि सर्वथा ही यह नहीं कहना चाहिये। क्योंकि जाने हुए पदार्थोंको पुनः पुनः जानना पिसे हुए को पीसनेके समान व्यर्थ है।

इति ब्रुवाणं प्रत्येतदुच्यते ।

ऐसी तर्कणाको बोलनेवाले प्रतिवादीके प्रति यह कहा जाता है ।

विद्यास्पदं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकं प्रवक्ष्यामीति, विद्या पूर्वाचार्याशास्त्राणि सम्यग्ज्ञानलक्षणविद्यापूर्वकत्वात्ता एवास्पदमस्येति विद्यास्पदम् । न पूर्वशास्त्रानाश्रयं, यतः स्वरुचिविरचितत्वादनादेयं प्रेक्षावतां भवेदिति यावत् ।

जिस श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थको मैं कहूंगा, वह विद्यास्पद है । गुरुपरिपाटीसे चले आये हुए पूर्व आचार्योंके शास्त्र ही विद्या कहलाते हैं । क्योंकि सम्यग्ज्ञानरूपी पूर्ववर्तिनी विद्यासे वे पैदा हुए हैं । यहां कारणधर्मका कार्यमें उपचार है । वे विद्यास्वरूप शास्त्र ही इस श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थके आधार हैं । अतः पूर्व शास्त्रोंको नहीं अवलम्ब करके यह ग्रन्थ अवतीर्ण नहीं हुआ है, जिससे कि योंही अपनी रुचिसे बनाये जानेके कारण विचारशीलोंके पठन पाठन करने में ग्रहण योग्य न होता। इस ग्रन्थका प्रमेय नया नहीं है, केवल. शब्द और युक्तियोंकी योजना हमारी सम्पत्ति है, यह फलितार्थ हुआ ।

पिष्टपेषणवद्व्यर्थं स्यात्, इत्यप्यचोद्यम् ।

कोई आक्षेप कर रहा है कि यदि पूर्वाचार्योंसे कहे हुए प्रमेयका ही इस ग्रन्थ में प्रतिपादन है, तो फिर भी पिसे हुए को पीसनेके समान व्यर्थ पडा । निष्फल ग्रन्थ तो नहीं बनाना चाहिये ।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह पूर्व में किया गया दूसरा कटाक्ष भी अनुचित है ।

आध्यायघातिसंघातघातनमिति विशेषणेन साफल्यप्रतिपादनात् । धियः समागमो हि ध्यायः, आसमन्ताद्ध्यायोऽस्मादित्याध्यायं तच्च तद्घातिसंघातघातनं चेत्याध्यायघातिसंघातघातनम्, यस्माच्च प्रेक्षावतां समन्ततः प्रज्ञासमागमो यच्च मुमुक्षून् स्वयं घातिसंघातं घ्नतः प्रयोजयति तन्निमित्तकारणत्वात् । तत्कथमफलमावेदयितुं शक्यं, प्रज्ञातिशयसकलकल्मषक्षयकरणलक्षणेन फलेन फलवत्त्वात् ।

क्योंकि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का दूसरा विशेषण " आध्यायघातिसंघातघातनम् " है, इससे ग्रन्थकी सफलता बतलायी जाती है । पहिले आध्याय शब्द " क्त्वा " प्रत्ययान्त अव्यय था. क्त्वा को ल्य हो जाता है. अब इण् धातुसे घञ् प्रत्यय करके आय कृदन्त शब्द बनाया है. इस के पूर्व में धी उपपद और आङ् उपसर्ग लगा दिया है. इस कारण ध्याय का अर्थ है बुद्धि का आगमन अर्थात् चारों तरफसे बुद्धिका आगमन हो जिसमे उसको आध्याय कहते हैं. बुद्धिके समागम का कारण होकर और जो वह घातियोंके समुदायका नाश करने वाला होवे ।वैसा यह ग्रन्थ

आध्यायघातिसंघातघातन है। क्योंकि जिस कारण इस ग्रन्थ से विचारवान् पुरुषोंको सर्व बाजुओं से विशिष्ट ज्ञानका समागम होता है और यह जो स्वतन्त्र कर्तारूप से घातिसमुदायको नाश करते हुए मुक्ति के अभिलाषी जीवोंको उसका प्रयोजक निमित्तकारण होनेसे यह ग्रन्थ घातिकर्मों के नाश करनेमें प्रेरक भी है तो भला इस ग्रन्थ को फिर कैसे निष्फल कहा जा सकता है ! भावार्थ– नहीं, इस ग्रन्थका साक्षात् फल चमत्कारक तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति है और परम्परासे सम्पूर्ण पापोंका क्षय करना फल है। इन दो स्वरूप फलों करके यह ग्रन्थ फलवान् है।

कुतस्तदाध्यायघातिसंघातघातनं सिद्धम् ? विद्यास्पदत्वात्। यत्पुनर्न तथाविधं न तद्विद्यास्पदं यथा पापानुष्ठानमिति समर्थयिष्यते.

यदि यहां पर कोई प्रश्न करें कि उक्त दोनों फल यानी ज्ञानका समागम और कर्मोंके क्षयका प्रेरकपना ये ग्रन्थमें कैसे सिद्ध हुए ? बताओ, आचार्य उत्तर कहते हैं कि इसका हेतु यह है कि यह ग्रन्थ पूर्वाचार्योंके ज्ञान को आश्रय मानकर लिखा गया है। इस अनुमान में व्यतिरेक दृष्टान्त दिखाते हैं। जो कोई वाक्य फिर तत्त्वबोध और कर्मोंकी हानी का कारण नहीं है, वह पूर्वाचार्योंके ज्ञान के अधीन भी नहीं है। जैसे जुआ खेलना, चोरी करना आदि पाप कर्म में नियुक्त करनेवाले वाक्य हैं। उक्त हेतुका प्रकृत साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। इसका आगे समर्थन कर देवेंगे। समर्थन कर देनेसे ही हेतु पुष्ट होता है।

विद्यास्पदं कुतस्तत् ?

शङ्काकार कहता है कि ग्रन्थ के दो फल सिद्ध करनेमें पूर्वाचार्योंके ज्ञानका अवलम्ब लेकर लिखा जाना हेतु दिया था वह हेतु पक्ष में कैसे सिद्ध होता है ? अर्थात् किस कारण वह ग्रन्थ विद्याका आस्पद मान लिया जाय ? न्यायशास्त्रमें राजाकी आज्ञा नहीं चलती है।

इति चेत्। श्रीवर्धमानत्वात् प्रतिस्थानमविसंवादलक्षणया हि श्रिया वर्धमानं कथमविद्यास्पदं नामातिप्रसंगात्।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसी असिद्ध हेत्वाभास उठानेकी सम्भावना है तब तो उस का उत्तर यह है कि—

श्री से बढ रहा होनेके कारण यह ग्रन्थ पूर्वज्ञानियोंके अवलम्बसे लिखा गया सिद्ध होता है। जिससे जानी जावे चांदी और पकडी जावे सीप ऐसे झूंठे ज्ञानको विसंवादी कहते हैं तथा स्नान, पान गोता लगाना इस अर्थ क्रियाओंको करनेवाले जल आदिके समीचीन ज्ञान को अविसंवादि ज्ञान कहते हैं। ज्ञान की शोभा तो जिसको जाना जावे, उसीमें प्रवृत्ति की जावे और

वही प्राप्त होवे ऐसे अविसंवाद से है। उस अविसंवाद रूप लक्ष्मीसे यह ग्रन्थ प्रत्येक स्थलपर वृद्धि (पुष्टि) को प्राप्त हो रहा है तो फिर पूर्वाचार्योंके ज्ञानको अवलम्ब करनेवाला भला कैसे नहीं माना जावे ? यदि पूर्वोक्त लक्ष्मीसे पुष्ट श्लोकवार्त्तिक सदृश ग्रन्थ भी गुरुपरिपाटीके द्वारा आये हुए नहीं माने जावेंगे तो गन्धहस्तिमहाभाष्य, तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, समयपाहुड आदि ग्रन्थ भी गुरुआम्नायपूर्वक न सिद्ध हो सकेंगे। यह अतिप्रसंग दोष आजावेगा।

तदेवं सप्रयोजनत्वप्रतिपादनपरमादिश्लोकवाक्यं प्रयुक्तमवगम्यते।

उस कारण यों साभिप्राय प्रयोग किये गये आदिके मंगलाचरण–श्लोकरूप वाक्यकी दूसरे अर्थ में भी इस प्रकार तत्परता होने से इस ग्रन्थ के दोनों फलोंका प्रतिपादन कर दिया गया है। श्लोकवार्तिकके विशेषणोंको हेतु बनाकर प्रयोजनवालापना जान लिया जाता है। भावार्थ– श्री वर्धमानपनेसे विद्यास्पदपना और विद्यास्पदपने से बुद्धि समागमपूर्वक कर्मक्षय में प्रेरकपना तथा बुद्धि समागमसहित घातिसंघातघातन से सफलपना इस ग्रन्थ में सिद्ध हो जाता है।

ननु किमर्थमिदं प्रयुज्यते श्रोतृजनानां प्रवर्तनार्थमिति चेत्, ते यदि श्रद्धानुसारिणस्तदा व्यर्थस्तत्प्रयोगस्तमन्तरेणापि यथा कथञ्चित्तेषां शास्त्रश्रवणे प्रवर्तयितुं शक्यत्वात्। यदि प्रेक्षावन्तस्ते तदाकथमप्रमाणकाद्वाक्यात्प्रवर्तन्ते प्रेक्षावत्त्वविरोधादिति केचित्।

यहां शंका है कि फल बतलाने वाले " श्री वर्धमानमाध्याय " इत्यादि प्रथम श्लोकके लिखनेका क्या प्रयोजन है ? श्रोताओंको श्लोकवार्तिक ग्रन्थ सुननेकी प्रवृत्तिके लिये पूर्वमें श्लोक लिखा है। उक्त शंकाका यह उत्तर ठीक नहीं हो सकता है। क्योंकि यदि वे भव्यजीव श्रद्धाके अनुसार चलनेवाले हैं तो उनके लिये प्रयोजन बतलानेवाले आदि श्लोकका बोलना निरर्थक है। कारण कि शास्त्र सुननेमें भक्ति रखनेवाले सज्जन तो विना फल बतलाये भी शास्त्र सुनने में चाहे जैसे किसी प्रकारसे प्रवृत्ति कर सकते हैं और यदि वे हिताहितको विचार कर परीक्षा करके ग्रन्थ को सुननेवाले हैं तो नहीं प्रमाण रखनेवाले आदिके कोरे फल दिखानेवाले आज्ञावाक्यसे भला कैसे प्रवृत्ति करेंगे ? विना परीक्षा किये चाहे किसी भी वाक्यको सुनकर तदनुसार काम करनेवाले जीवको प्रेक्षावान्पनेका विरोध है। सम्यग्ज्ञान द्वारा हेयोपादेय के विचारको प्रेक्षा कहते हैं। इस प्रकार फल बतलानेवाले आदि श्लोकका उच्चारण आज्ञाप्रधानी और परीक्षाप्रधानी श्रोताओंके प्रति व्यर्थ ही है, ऐसी कोई शंका करते हैं।

तदसारम्, प्रयोजनवाक्यस्य सप्रमाणकत्वनिश्चयात्।

आचार्य कहते हैं कि किसी की इस प्रकारकी शंका में कोई भी सार नहीं है।

क्योंकि प्रयोजन (फल) बतलानेवाले आदिके वाक्यरूप श्लोकमें प्रमाणसहितपनेका निश्चय है।

प्रवचनानुमानमूलं हि शास्त्रकारास्तत्प्रथमं प्रयुंजते नान्यथा, अनादेयवचनत्वप्रसंगात् तथाविधाच्च, ततः श्रद्धानुसारिणां प्रेक्षावतां च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते।

अच्छे शास्त्रको बनाने वाले विद्वान् जिस आदिवाक्यका पहले प्रयोग करते हैं, वह वाक्य आगमप्रमाण और अनुमानप्रमाण दोनोंको मूल मानकर सिद्ध होना चाहिये, अन्यथा अग्राह्यपनेका प्रसंङ्ग आवेगा। यहां भी आदि का फल बतानेवाला वाक्य आगम और अनुमानके आधारके विना नहीं है कारण कि प्रमाणोंको मूल न मानकर कहे हुए वाक्योंको कोई जीव ग्रहण नहीं करता है। जब कि आचार्य महाराजका पहला वाक्य आगमप्रमाणके अनुसार है तो उस प्रकारके उस वाक्यसे श्रद्धाके अनुसार चलनेवाले आज्ञाप्रधानियोंकी प्रवृत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं है। और पहले वाक्यका प्रयोजन बतलाना रूप प्रमेय जब अनुमानकी भित्तिपर सिद्ध हो चुका है तो हिताहित विचारनेवाले परीक्षाप्रधानियोंकी शास्त्र सुननेमें प्रवृत्ति भी बिना विरोधके हो जावेगी। कोई रोक नहीं है।

श्रद्धानुसारिणोऽपि ह्यागमादेव प्रवर्तयितुं शक्या, न यथा कथंचित् प्रवचनोपदिष्टतत्त्वे श्रद्धामनुसरतां श्रद्धानुसारित्वादन्यादृशामतिमूढमनस्कत्वात् तेषां तदनुरूपोपदेशयोग्यत्वात् सिद्धमातृकोपदेशयोग्यदारकवत्।

शंकाकारने पूर्वमें कहा था कि शास्त्रोंमें श्रद्धा, भक्ति, रखनेवाले भद्रप्रकृतिके मनुष्य तो विना फलके कहे हुए भी शास्त्र सुननेमें प्रवृत्ति कर लेंगे। इसके उत्तरमें यह विशेष समझना आवश्यक है कि श्रद्धाके अनुसार चलनेवाले आज्ञाप्रधानी श्रोताओंको भी सच्चे आगमसे निश्चित किये हुए पदार्थोंमें ही प्रवृत्ति करनी चाहिये। केवल भोलेपन से चाहे जिस किसी भी शास्त्रके वाक्योंमें विश्वास करना ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ से कहे हुए शास्त्रोंके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंमें ही श्रद्धा करनेवालोंको आज्ञाप्रधानी माना है। इनसे भिन्न—शास्त्र और अशास्त्र का विवेक न कर कोरी भोलेपनकी श्रद्धा करनेवालोंको मन में अत्यन्त मूर्खताके विचारोंसे युक्त ही कहना पडता है। "गंगा गये गंगादास, यमुना गये यमुनादास" के सदृश विना विचारे कोरे भोंदूपनेकी श्रद्धा रखनेवाले उसी प्रकार तत्वार्थशास्त्रों के सुननेमें अधिकारी नहीं हैं। जैसे कि विपरीत मिथ्यात्वके वशीभूत होकर हिंसामें धर्म मानने वाले मीमांसक और जीव, पुण्य, पाप, मोक्षको नहीं मानने वाले चार्वाक या अत्यन्त विपरीतबुद्धिवाले चोर, व्यभिचारी आदि। अर्थात् विपरीत (उल्टी) समझ रखनेवाले और यों ही कोरी श्रद्धा रखने

वाले इन दोनोंका समान रूपसे तत्त्वार्थशास्त्र आदि उच्च कोटिके ग्रन्थोंको सुननेमें अधिकार नहीं है। क्योंकि कहींकहीं पूर्वपक्षमें जैनोंकेसे सिद्धान्त ज्ञात होंगे और क्वचित् उत्तरपक्षमें जैनोंको अजैनोंकासा तत्त्व प्रतीत होगा। इस प्रकार अनेक स्थानोंपर विना विचारे भोले जीव शास्त्रके हृदयको न जान सकेंगे या विपरीत समझ लेंगे। अतः उन मन्दबुद्धिवालोंको श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों को न सुनकर द्रव्यसंग्रह, पुरुषार्थ-सिध्युपाय आदि शास्त्र ही सुनने चाहिये। जो जिसके योग्य है, उस को वैसाही उपदेश हितकर होगा। जैसे कि छोटे बालकको सर्व द्रव्यशास्त्रोंकी जननी होकर सिद्ध (पुरानी) चली आरही अ, आ, इ, ई आदि वर्णमालाका ही उपदेश लाभकर है। थोडी बुद्धिवाला बच्चा उच्च कक्षाकी पुस्तकोंके पढनेका अधिकारी नहीं है।

प्रेक्षावन्तः पुनरागमादनुमानाच्च प्रवर्तमानास्तत्त्वं लभन्ते, न केवलादनुमानात्प्रत्यक्षादितस्तेषामप्रवृत्तिप्रसंगात्, नापि केवलादागमादेव विरुद्धार्थमतेभ्योऽपि प्रवर्तमानानां प्रेक्षावत्त्वप्रसक्तेः।

शंकाकारनेपूर्वमें कहा था कि विना तर्कसे सिद्ध किये गये आदिके प्रयोजनवाक्यसे परीक्षाप्रधानी विद्वान् किसी भी प्रकार शास्त्र सुननेमें प्रवृत्ति नहीं करेंगे। इसपर यह समाधान है कि– आगम और अनुमान दोनों प्रमाणोंसे ही विचार करनेवाले सज्जन, परीक्षक विद्वान् कहलाते हैं और तभी वे तत्त्वज्ञानको भी प्राप्त कर सकते हैं।

यों समीचीन विचारशाली पण्डित तो फिर श्रेष्ठ आगम और सच्चे अनुमान प्रमाणसे प्रवृत्ति करते हुए तत्त्वलाभ कर लेते हैं। ' युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्टवापि न श्रद्धधे ' जो युक्तिसे सिद्ध नहीं होता, उसको मैं प्रत्यक्ष देखता हुआ भी नहीं मानूंगा, ऐसी कोरी हेतुवादकी डींग मारने वाले वितण्डावादी परीक्षक नहीं कहे जाते। यदि केवल अनुमानसे ही पदार्थकी सिद्धि मानी जाय तो प्रत्यक्ष, आप्तवाक्यजन्य आगम और स्मरणसे उन जनोंकी प्रवृत्ति न हो सकेगी, किन्तु उनसे भी समीचीन प्रवृत्ति होती है। अतः केवल हेतुवादीको परीक्षक नहीं माना गया है। इसी प्रकार केवल आगमसे ही वस्तुका ज्ञान करने वाले भी परीक्षक नहीं कहे जा सकते। क्योंकि अनेक विरुद्ध पदार्थोंके प्रदिपादक बौद्ध, चार्वाक, वैशेषिक आदि मतोंके पोषक ऐसे शास्त्रों (शास्त्रभासों) से प्रवृत्ति करनेवालोंको भी प्रेक्षावान्पनेका प्रसंग आवेगा। (हित अहितको विचारनेवाली बुद्धि प्रेक्षा है)

" तदुक्तं " उसी बातको समन्तभद्राचार्यनें यों कहा है–

" सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः।
सिध्दं चेदागमात्सर्वं विरुध्दार्थमतान्यपि " ॥ इति,

यदि हेतुसे ही सर्व पदार्थों की सिद्धि मानी जावे तो प्रत्यक्ष, स्मरण आदिकसे जो घट पटादिकका यथार्थ ज्ञान होता है, वह न हो सकेगा, तथा यदि आगमसे ही सम्पूर्ण तत्त्वोंका सद्भाव सिद्ध किया जाय तो एक दूसरे के विरूद्ध अर्थोंके प्रतिपादक चार्वाक, बौद्ध, अद्वैतवादी आदि मत भी सिद्ध हो जावेंगे। क्योंकि सम्पूर्ण मतवालों ने अपने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ रच लिये है।

तस्मादाप्ते वक्तरि संप्रदायाव्यवच्छेदेन निश्चिते तद्वाक्यात्प्रवर्त्तनमागमादेव, वक्तर्यनाप्ते तु यत्तद्वाक्यात्प्रवर्तनं तदनुमानादिति विभागः साधीयान्, तदप्युक्तं "वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितं आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात्साध्यमागमसाधितं"

तिस कारण हेतुवाद और आगमवाद के एकान्तों का निर्णय (फैसला) इस प्रकार है कि विना विच्छेद के गुरु आम्नाय से आये हुये तत्त्वज्ञान के अनुकूल यथार्थ वक्ताका निश्चय होने पर उस सत्यवक्ता के वाक्य द्वारा जो शिष्यों की प्रवृत्ति होगी, वह आगम से ही हुयी प्रवृत्ति कही जावेगी. और बोलनेवालेके सत्यवक्तापनेका निश्चय न होजाने पर उसके वाच्यार्थमें हेतुवाद लगाकर अनुमान से सिद्ध हुये पदार्थमें श्रोताओं की उस प्रवृत्ति करने को अनुमानसे प्रवृत्ति होना कहते हैं, इस प्रकार अनुमान और आगम से जाने गये प्रमेयका भेद करना बहुत अच्छा है। उस बातको भी स्वामी समन्तभद्राचार्यने देवागमस्तोत्र में ऐसा ही कहा है कि अयथार्थ बोलनेवाले वक्ताके ज्ञान होजाने पर हेतु से जो साध्य सिद्ध किया जाता है, वह हेतु साधित तत्त्व है और सत्यबोलने वाले वक्ताके निश्चय हो जाने पर उसके वाक्यसे जो साध्य जाना जाता है, वह आगमसे सिद्ध हुआ पदार्थ है ॥

न चैवं प्रमाणसंप्लववादविरोधः, क्वचिदुभाभ्यामागमानुमानाभ्यां प्रवर्त्तनस्येष्टत्वात् प्रवचनस्याहेतुहेतुमदात्मकत्वात्, स्वसमयप्रज्ञापकत्वस्य तत्परिज्ञाननिबन्धनत्वादपरिज्ञात-हेतुवादागमस्य सिद्धांतविरोधकत्वात्.

एक प्रमेय में विशेष, विशेषांशोंको जाननेवाले अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्ति को प्रमाणसंप्लव कहते हैं. जैसे-आप्त के वचन से वह्निको आगम द्वारा जानने में तथा धूम हेतु से अग्निको अनुमान द्वारा जानने में एवं आग को बहिरिन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष द्वारा जानने में प्रतिभासका तारतम्य है, इस प्रकार विशेषांशोंको जाननेवाला प्रमाणसंप्लव सर्वप्रवादियोंने इष्ट किया है।

यदि यहाँ कोई शंका करे कि — स्याद्वादी लोक आप्तवाक्यसे आगमज्ञानकी प्रवृत्ति का ही अवधारण करेंगे और अनाप्त दशामें हेतु से अनुमान ज्ञानका नियम करेंगे तो एक विषय में कदाचित् भी अनुमान और आगम दोनों प्रवृत्त न हो सकेंगे, ऐसा माननेपर आपको प्रमाणसं-

प्लववादका विरोध आवेगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार शंका ठीक नहीं है, क्यों कि प्रमाणसंप्लव सब जगह नहीं होता है। घट, पटादिकोंको प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा दृढरूपसे जान कर व्यर्थ ही दूसरा प्रमाण उनके जानने के लिये नहीं उठाया जाता है, हाँ ! कहीं कहीं आगम और अनुमान दोनों प्रमाणों से भी प्रवृत्ति होना हम इष्ट करते हैं। शास्त्रों में सभी बातें आगम ज्ञान के आश्रित होकर ही नहीं लिखी जाती है। सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वोंके निरूपण करने वाले सच्चे शास्त्र हेतुवाद और अहेतुवादसे तद्रूप होकर भरे हुये हैं। विशेषकर यह श्लोकवार्तिक शास्त्र तो प्रत्यक्ष ज्ञान, आगमज्ञान और अनुमानज्ञान से परिपूर्ण है.

अपने अतीन्द्रिय और इन्द्रियग्राह्य तत्त्वोंसे परिपूर्ण सिद्धान्त विषयोंकी प्रतिवादियोंके प्रति समझाने में सद्युक्तियों से उन तत्त्वों का परिज्ञान कर लेना ही कारण है। हेतुवाद से तत्त्वों का निर्णय न करके कोरी श्रद्धा से लिखा हुआ शास्त्र तो सिद्धान्तका विरोधी हो जाता है। तभी तो वेदादिक इतर रचनायें केवल विश्वाससे विचारशीलोमें प्रतिष्ठा नहीं पाते है।

तथा चाभ्यधायि —

और इसी बातको पूर्व के आचार्यो ने भी तिस प्रकार कहा है कि —

"जो हेदुवादपरकम्मि हेदुओ आगमम्मि आगमओ, सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविरोहओ अण्णोत्ति."

हेतु के परिवार मानेगये पक्ष, दृष्टान्त, व्याप्ति और समर्थनयुक्त हेतुवादसे जो सिद्ध किया गया है, वह आगमोंमें श्रेष्ठ आगम है। और वही सिद्धान्त के अनेक गूढ रहस्योंका समझाने वाला है। इसके अतिरिक्त शास्त्रतो सिद्धान्तके पोषक नहीं, उलटे विरोधी हैं। ऐसे भयंकर शस्त्र के समान शास्त्रों से श्रोताओं को दूर रहना चाहिये। अन्धश्रद्धाके अनुसार आँख मींच कर चाहे जिस ऐरे गैरे शास्त्रमें शास्त्रपने की श्रद्धा रखने वाले वादियों के निरासार्थ शास्त्रमें हेतुवाद की प्रधानता मानी गयी है। एवञ्च तत्त्वार्थसूत्र और श्लोकवार्तिक आदि ही सच्चे शास्त्र हैं।

अब "श्री वर्धमानमाध्याय" इस आदिवाक्यकी पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार आगम और अनुमान प्रमाण की नींव पर स्थिति को सिद्ध करते हैं।

तत्रागममूलमिदमादिवाक्यं परापरगुरुप्रवाहमाध्यायप्रवचनस्य प्रवर्त्तकं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकं प्रवक्ष्यामीति वचनस्यागमपूर्वकागमार्थत्वात्। प्रामाण्यं पुनरस्याभ्यस्तप्रवक्तृगुणान् प्रतिपाद्यान् प्रति स्वत एवाभ्यस्तकारणगुणान् प्रति प्रत्यक्षादिवत्। स्वयमनभ्यस्तवक्तृगुणांस्तु विनेयान् प्रति सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वादनुमानात्स्वयं प्रतिपन्नाप्तांतरवच-

नाद्वा निश्चितप्रामाण्यात्, न चैवमनवस्था, परस्पराश्रयदोषो वा, अभ्यस्तविषये प्रमाणस्य स्वतः प्रामाण्यनिश्चयादनवस्थाया निवृत्तेः, पूर्वस्यानभ्यस्तविषयस्य परस्मादभ्यस्तविषया-त्प्रमाणत्वप्रतिपत्तेः ।

उन दोनों मूल कारणों में प्रथम आगम को आदिवाक्य का मूलकारणपना तर्कसे सिद्ध करते हैं। प्रारम्भ करके शास्त्र की प्रवृत्ति करने वाला सबसे पहिला यह "श्री वर्द्धमानं" इत्यादि वाक्य है, उसके मूल कारण पूर्वाचार्योंके आगम ही हैं। क्यों कि पर और अपर गुरुओंका ध्यान कर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकको कहूँगा, ऐसे वचन आगमगम्य पदार्थों का आगम प्रमाण से निर्णय करने पर ही कहे जाते हैं। गुरुओं के प्रसादसे जाने हुए पदार्थों के मनन करनेमें ही गुरुओं के ध्यान की आवश्यकता होती है। अपने प्रत्यक्ष और अनुमानसे जाने हुए पदार्थोंके कहनेमें भक्त मनुष्य भी गुरुओंके स्मरण को कारण नहीं मानता है।

जिन गुरुओंके आगम को अवलम्ब लेकर यह ग्रन्थ बनाया है, उन आगमों का प्रमाणपना अभ्यासदशामें तो स्वतः है अर्थात् जैसे प्रत्यक्ष के कारण इन्द्रियों में निर्मलत्वादि गुणोंका और मन में निश्चलता रूपगुणके जाननेका जिनको अभ्यास है, वे पुरुष प्रत्यक्षमें स्वतः ही अर्थात् उन ज्ञानके कारणोंसे ही प्रामाण्य जान लेते हैं। तथा हेतु में साध्य के अविनाभाव जानने का जिनको अभ्यास है, वे अनुमान में स्वतः ही प्रामाण्य जान लेते हैं। इसी प्रकार सच्चे वक्ता संबन्धी गुणोंको जाननेका जिन श्रोताओं को अभ्यास हो चुका है, ऐसे श्रोताओंके प्रति उस वक्तासे कहे हुए आगम में प्रमाणपना अपने आप सिद्ध हो जाता है। तभी तो व्यवहार में हुंडी लिखने का, लेने, देने, का कार्य चल रहा है। और जिनको वक्ताके गुण जानने का स्वयं अभ्यास नहीं है, उन शिष्यों के लिये तो इस अनुमान से सत् आगम में प्रामाण्य सिद्ध करा दिया जाता है, कि यह ग्रन्थ प्रमाण है [प्रतिज्ञा] क्योंकि इसमें बाधक प्रमाण के नहीं उत्पन्न होने का अच्छा निश्चय है। अथवा प्रकृतआगम में स्वयं निश्चित कर लिया है प्रामाण्य जिसमें ऐसे दूसरे आप्तोंके वचन से भी प्रमाणता आजाती है। लोक में भी एक आदमी का दूसरे आदमी से कहने और दूसरे का तीसरेके कथन करनेसे विश्वास कर लिया करते हैं। उसी प्रकार शास्त्रों के प्रमाणपने का दूसरे दूसरे प्रामाणिक शास्त्रों से निर्णय कर लेते हैं। यहां कोई कहे कि —

ऐसा करने से अनवस्था दोष आवेगा क्यों कि प्रकृत शास्त्र को दूसरे से, दूसरे को तीसरे से और तीसरेको चौथे शास्त्र से प्रमाणपना मानने से मूलको क्षय करनेवाली अनवस्था होगी, तथा यदि विवक्षित आगमको दूसरे शास्त्र से प्रमाणीकपना माना जाय और दूसरे आगम को विवक्षित आगम से, यानी श्लोकवार्तिकका प्रमाणीकपना गोम्मटसारसे और गोम्मटसार का

श्लोकवार्तिकसे प्रमाणपना माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष भी आवेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ये दोनों दोष स्याद्वादियोंको नहीं लगते हैं, हमने अपने ग्राम संबन्धी तालाबके जलज्ञान या अन्धेरेमें अपने घरके टेड़े नीचे, ऊंचे, सोपान (जीना) के समान परिचित विषयों के ज्ञानमें प्रामाण्यका निश्चय स्वतः माना है। इस कारण अनवस्थादोष निवृत्त हो जाता है। तथा ग्रामान्तरमें जलज्ञानके प्रामाण्य का संशय होने पर स्नान, पान, अवगाहन रूप अर्थक्रियाके ज्ञान से निर्णय होना माना है। अतः अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं रहता है। पूर्वके अनभ्यस्त विषयको जाननेवाले ज्ञान का अभ्यस्त विषय को जाननेवाले ज्ञानान्तर से प्रमाणपना प्रतीत किया जाता है। अर्थक्रियाके ज्ञान में भी प्रामाण्यका संशय होने पर तीसरे ज्ञान से निर्णय कर लिया जाता है। अत्यन्त विवादस्थल में भी तीन, चार ज्ञानोंसे अधिक की आवश्यकता नहीं होती है। अन्तका ज्ञान स्वतः प्रमाणात्मक है, अतः आकांक्षा शान्त होजाती है।

तथानुमानमूलमेतद्वाक्यं, स्वयं स्वार्थानुमानेन निश्चितस्यार्थस्य परार्थानुमानरूपेण प्रयुक्तत्वात्.

जिस प्रकार आदि वाक्यको आगममूलक सिद्ध किया जा चुका है, वैसे ही विद्यानन्द स्वामी का प्रयोजन बताने वाले इस आदिवाक्य का प्रमेय अनुमान प्रमाण के भी आश्रित है। क्योंकि विद्यानन्द स्वामीने स्वयं व्याप्ति ग्रहण कर किये गये स्वार्थानुमानसे निश्चित अर्थको परार्थानुमानरूप बना कर प्रयोग कर दिया है। स्वयं व्याप्तिको ग्रहण कर अपने लिये किये गये अनुमानको स्वार्थानुमान कहते हैं और स्वयं अनुमान से साध्यका निश्चय कर दूसरे को समझाने के लिये जो वचन बोला जाता है, उसको परार्थानुमान कहते हैं। यहाँ गुरु के ज्ञान का कार्य होने से और शिष्य के ज्ञान का कारण होने से वचन को भी उपचार से प्रमाण मान लिया गया है। वस्तुतः शिष्य का ज्ञान परार्थानुमान है. ।

समर्थनापेक्षसाधनत्वान्न प्रयोजनवाक्यं परार्थानुमानरूपम्, इति चेन्न ।

यहाँ किसी का पूर्व पक्ष है कि—"विद्यास्पदत्व" हेतु अपने समर्थन कराने की अपेक्षा रखता है। अतः फल बताने वाला वाक्य परार्थानुमानरूप नहीं हो सकता. जो अनुमान समर्थन की अपेक्षा नहीं रखता है, वही परार्थानुमान है। जैसे कि स्वयं वह्नि के साथ धूमकी व्याप्ति जाननेवालेको धूम दिखा कर विना समर्थन किये ही अग्नि का ज्ञान करा दिया जाता है, वह परार्थानुमान कहा जाता है। हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति दिखलाकर हेतु के पक्षमें रहने को समर्थन कहते हैं, ऐसा समर्थन जहाँ होता है, वहाँ परार्थानुमान नहीं माना जाता है।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि:—

स्वेष्टानुमानेन व्यभिचारात्, न हि तत्समर्थनापेक्षसाधनं न भवति प्रतिवादिविप्रतिपत्तौ तद्विनिवृत्तये साधनसमर्थनस्यावश्यंभावित्वात्, केषांचिदसमर्थितसाधनवचने असाधनांगवचनस्येष्टेः।

जो समर्थन की अपेक्षा करता है, यदि वह परार्थानुमान न माना जाय तो हर एक वादी को अपने अभिप्रेत अनुमान से व्यभिचार हो जावेगा। क्योंकि प्रत्येक वादी अपने अभीष्ट साधन को सिद्ध करने के लिये प्रतिवादीके प्रति व्याप्ति को दिखलाते हुए ही साधनका प्रयोग करता है। क्वचित् स्पष्ट रूप से यदि समर्थन नहीं करता तो उसका अभिप्राय यह नहीं है कि वहाँ समर्थन है ही नहीं। तभी तो हेतुके साथ साध्यकी व्याप्ति को दिखला कर पक्षमें हेतु के रहने रूप समर्थन यदि प्रतिवादीको विवादास्पद [संशयग्रस्त] हो जाय तो उस संशयके परिहार के लिये हेतु का समर्थन करना वादीको अत्यावश्यक हो जावेगा। समर्थन कर देनेसे वह वादी का दिया हुआ अनुमान परमार्थानुमान नहीं है यह नहीं समझना। जो कोई वादी विना समर्थन किये हुए केवल पंचमी विभक्त्यन्त साधन वचन कह देते हैं, उनके ऊपर "असाधनांगवचन" नाम का निग्रहस्थान दोष देना हम इष्ट करते हैं। वादी को उचित है कि अपने साध्य को सिद्ध करने के लिये व्याप्ति, समर्थन और दृष्टान्तमें रहना, इन सभी गुणो को हेतु में दिखलावे। उक्त गुणों को न कह कर केवल साधनका कहना वादीके लिये असाधनांग वचन नाम का दोष है.।

प्रकृतानुमानहेतोरशक्यसमर्थनत्वमपि नाशंकनीयं, तदुत्तरग्रन्थेन तद्धेतोसमर्थननिश्चयात्. सकलशास्त्रव्याख्यानात्तद्धेतुसमर्थनप्रवणात्तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकस्य प्रयोजनवत्त्वसिद्धेः।

बुद्धिका समागम और कर्मोंका नाश इन दोनो प्रयोजनोंको अनुमान से सिद्ध करने वाले प्रकरणप्राप्त विवादास्पदत्व हेतुका समर्थन हो ही नहीं सकता यह शंका भी न करना चाहिये। क्योंकि स्वामीजीने आगे के श्लोकवार्तिक ग्रन्थके द्वारा उस विवादास्पदत्व हेतुका निश्चित रूपसे साध्यके साथ समर्थन किया है। प्रसिद्ध होरहे तत्त्वार्थसूत्रका व्याख्यान करने वाला सम्पूर्ण श्लोकवार्तिक ग्रन्थ इस विवादास्पद हेतुके समर्थन करने में ही तत्पर है। इस कारण तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थको प्रयोजनसहितपना सिद्ध हुआ। अबतक ग्रन्थको फलसहित बताने वाले प्रकरणका उपसंहार कर दिया गया है।

प्रागेवापार्थकं प्रयोजनवचनमिति चेत्, तर्हि स्वेष्टानुमाने हेत्वर्थसमर्थनप्रपंचाभिधानादेव साध्यार्थसिद्धेस्ततः पूर्वं हेतुपन्यासोपार्थकः किन्न भवेत्।

बौद्ध शङ्काकार कहता है कि ग्रन्थका फलवानूपना तो हम मान चुके, किन्तु ग्रन्थका पहलेसे ही प्रयोजन कह देना व्यर्थ है। क्योंकि इसमें छोटापन प्रतीत होता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसी शंका करोगे तो आपके अभिप्रेत सत्त्व हेतुसे क्षणिकत्त्व को सिद्ध करने वाले अनुमानमें हेतुके लिये [के अर्थ] समर्थन की सामग्री के कहने से ही साध्यरूप प्रयोजन की सिद्धि हो जावेगी तो आपका भी उसके पहलेसे ही हेतु का कथन करना व्यर्थ क्यों न होगा ?। बताओ।

साधनस्यानभिधाने समर्थनमनाश्रयमेवेति चेत्, प्रयोजनवत्त्वस्यावचने तत्समर्थनं कथमनाश्रयं न स्यात् ।

साधनके न कहने पर समर्थन करना आश्रयरहित हो जावेगा, अतः समर्थन के अवलम्ब के लिये साधनका प्रयोग करना आवश्यक है यदि शंकाकार ऐसा कहेंगे तो हम भी कहते हैं कि ग्रन्थकी आदि में यदि फल–बतानेवाला वाक्य न कहा जावेगा तो उत्तर ग्रन्थ से प्रजोजन का समर्थन करना विना अवलम्बका क्यों न हो जावेगा ?। भावार्थ — आदिमें प्रयोजनका सूत्र वाक्य करने पर ही भविष्य के श्लोकवार्तिक ग्रन्थ से फल का स्पष्ट करना ठीक समझा जावेगा। विना फल बताए लम्बा, चौडा विवरण करना असंगत होगा। फलका उद्देश न करके मतिमन्द भी प्रवृत्त नहीं होता है, फिर विचारशील तो कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? अतः प्रयोजन बताने में तुच्छता नहीं, प्रत्युत प्रवृत्ति करानेमें दृढता आजाती है।

ये तु प्रतिज्ञामनभिधाय तत्साधनाय हेतूपन्यासं कुर्वाणाः साधनमभिहितमेव समर्थयन्ते ते कथं स्वस्थाः।

जो पण्डित पक्षमें साध्यके रहने रूप प्रतिज्ञा को न कह कर उस प्रतिज्ञाको सिद्ध करने के लिये केवल हेतुका वचन करते हुए कहे हुए साधन का ही समर्थन करते हैं, वे बुद्धमतानुयायी तो किसी भी प्रकार निराकुल नहीं हैं। क्योंकि पक्ष के बिना कहे समर्थन कहाँ किया जावेगा ?। कहिये,

पक्षस्य गम्यमानस्य साधनाददोष इति चेत्प्रयोजनवत्त्वसाधनस्य गम्यमानस्य समर्थने को दोषः संभाव्यते ?

अनुक्त पक्ष भी प्रकरण और अभिप्रायसे समझ लिया जाता है, उस पक्षमें हेतुका समर्थन कर दिया जावेगा यदि इस प्रकार शंकाकार पुनः कहेगा तो उसी प्रकार हमको भी आदि वाक्यके कथन मात्रसे विना कहे हुए प्रकरणसे ही जाने गये प्रयोजनवानूपनको बताने वाले विवादास्पद हेतुके समर्थन करने में कौन दोष संभावित है ?। अर्थात् कोई क्षति नहीं पड़ती है।

सर्वत्र गम्यमानस्यैव तस्य समर्थनसिद्धेः प्रयोगो न युक्त इति चेत्संक्षिप्तशास्त्रप्रवृत्तौ सविस्तरशास्त्रप्रवृत्तौ वा? प्रथमपक्षे न किंचिदनिष्टं सूत्रकारेण तस्याप्रयोगात्। सामर्थ्याद्गम्यमानस्यैव सूत्रसंदर्भेण समर्थनात् । द्वितीयपक्षे तु तस्याप्रयोगे प्रतिज्ञोपनयनिगमनप्रयोगविरोधः ।

पुनरपि शंकाकार यों कहता है कि प्रयोजन बतानेवाले साधनक कहनेकी आवश्यकता नहीं, विना कहे हुए भी अर्थापत्तिसे जाने हुए प्रयोजनवाक्यका समर्थन होना सिद्ध है, इस कथनपर आचार्य दो पक्ष उठाते हैं कि शंकाकारका यह उक्तकथन संक्षेपसे शास्त्र कहनेवालोंकी प्रवृत्तिमें घटता है अथवा विस्तारसहित शास्त्र लिखनेवालोंकी प्रवृत्तिमें भी?, यदि पहिला पक्ष मानोगे तो हमको कोई बाधा नहीं है, क्योंकि सूत्रकार उमास्वामी महाराजने प्रयोजनवाक्य का कण्ठोक्त प्रयोग नहीं किया है किन्तु भविष्यके सूत्रोंकी रचना करके प्रकरणकी सामर्थ्यसे जाने हुए प्रयोजनका ही समर्थन किया है। और यदि तुम दूसरा पक्ष ग्रहण करोगे अर्थात् विस्तृतशास्त्रोंमें भी प्रयोजनवाक्यका प्रयोग न करना स्वीकार करोगे तब तो पक्षमें साध्यको कहनारूप प्रतिज्ञा तथा व्याप्तिको दिखलाये हुए हेतुका पक्षमें उपसंहार करनेस्वरूप उपनय और साध्यका निर्णय कर पक्षमें कथन करनेरूप निगमन इन तीनोंका भी प्रयोग करना विरुद्ध पडेगा।

प्रतिज्ञानिगमनयोरप्रयोग एवेति चेत्, तद्वत्पक्षधर्मोपसंहारस्यापि प्रयोगो मा भूत्। यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमित्युक्ते शब्दादौ सत्त्वस्य सामर्थ्याद्गम्यमानत्वात्।

पुनः भी बुद्धमतानुयायी शंकाकारका कहना है कि प्रतिज्ञा और निगमनका कण्ठसे प्रयोग करना तो हम सर्वथा नहीं मानते हैं यों अवधारण करनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तुम्हारे यहाँ प्रतिज्ञा और निगमनके समान पक्षमें व्याप्तियुक्त हेतुके रखनेका उपसंहाररूप उपनयका भी प्रयोग नहीं होना चाहिये, आप बौद्धोंने जो जो सत् हैं, वे वे सम्पूर्ण पदार्थ द्वितीयक्षणमें नष्ट हो जाते हैं ऐसी व्याप्तिका कथन कर चुकनेपर सत्त्वहेतुका शब्द, बिजली आदिमें उपसंहार किया है, यह उपनय भी बिना कहे हुए अनुमानके प्रकरणसे जाना जा सकता था, फिर आपने क्यों व्यर्थ ही कहा? बताओ।

तस्यापि क्वचिदप्रयोगोऽभीष्ट एव " विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवल " इति वचनात्, तर्हि सविस्तरवचने गम्यमानस्यापि सिद्धः प्रयोगः संक्षिप्तप्रवृत्तावेव तस्याप्रयोगात्।

यदि शंकाकार पुनरपि ऐसा कहेगा कि कहीं कहीं उस उपनयका प्रयोग न करना भी हमको अच्छा—इष्ट है, क्योंकि हमारे बौद्धग्रन्थों में लिखा हुआ है कि "विद्वानोंके प्रति केवल हेतु

ही कहना चाहिये "। इस पर आचार्य कहते हैं कि तब तो विस्तृत टीकाग्रन्थोंमें मूलकारसे न कहे हुए प्रयोजनवाक्यका भी प्रकरणसे जान कर हमको भी प्रयोग करना तुम्हारे कहनेसे ही सिद्ध हुआ। हाँ! संक्षेपसे शास्त्र लिखनेकी प्रवृत्तिमें उसका प्रयोग न करना ठीक है। यही आपका भी अभिप्राय है।

ततः क्वचिद्गम्यमानं सप्रयोजनत्वसाधनमप्रयुक्तमपि सकलशास्त्रव्याख्यानेन समर्थ्यते, क्वचित्प्रयुज्यमानमिति नैकान्तः स्याद्वादिनामविरोधात्।

उस कारण अब तक यह सिद्ध हुआ कि संक्षिप्त ग्रन्थोंमें बिना कहे हुए अर्थात् प्रकरणसे ही जाने गये प्रयोजनसहितपनेको बतानेवाले साधनवाक्यका और कहे हुए वाक्यका भी अग्रिम सम्पूर्ण शास्त्रके व्याख्यानद्वारा समर्थन किया जाता है, तथा विस्तृतग्रन्थों में कण्ठोक्त प्रयोजनवाक्यका ही पूरे ग्रन्थसे समर्थन (पोषण) किया जाता है, इस प्रकार अनेकान्तपक्षको स्वीकार करनेपर स्याद्वादियोंके मतमें कोई विरोध नहीं है, पूर्वमें कहा हुआ आप बौद्धोंका एकान्त ठीक नहीं है, उसमें विरोध आता है।

सर्वथैकान्तवादिनां तु न प्रयोजनवाक्योपन्यासो युक्तस्तस्याप्रमाणत्वाद्।

सर्वथा एकान्तपक्षका आग्रह करनेवाले बौद्ध, मीमांसक, नैयायिकोंके शास्त्रोंमें तो प्रयोजनवाक्यका कथन करना युक्त ही नहीं है. क्योंकि प्रयोजनवाक्यको ये लोग प्रमाण नहीं मानते हैं।

तदागमः प्रमाणमिति चेत् सोऽपौरुषेयः पौरुषेयो वा? न तावदाद्यपक्षकक्षीकरणं, "अथातो धर्मजिज्ञासेति प्रयोजनवाक्यस्यापौरुषेयत्वासिद्धेः। स्वरूपेर्थे तस्य प्रामाण्यानिष्टेश्चान्यथातिप्रसंगात्पौरुषेय एवागमः प्रयोजनवाक्यमिति चेत्। कुतोऽस्य प्रामाण्यनिश्चयः? स्वत एवेति चेत् न, स्वतः प्रामाण्यैकान्तस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। परत एवागमस्य प्रामाण्यमित्यन्ये, तेषामपि नेदं प्रमाणं सिद्ध्यति, परतः प्रामाण्यस्यानवस्थादिदोषदूषितत्वेन प्रतिक्षेप्स्यमानत्वात्प्रतीतिविरोधात्।

कोई पण्डित कह रहा है कि प्रयोजन कहनेवाले वचनको हम लोग आगमप्रमाणरूप मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम तुम्हारे ऊपर दो पक्ष उठाते हैं कि आपका वह आगम किसी पुरुषका न बनाया होकर अनादि है या किसी पुरुषविशेषका बनाया हुआ सादि है? बताओ, उन दोनोंमेंसे पहला पक्ष स्वीकार करना मीमांसकोंको उचित नहीं है क्योंकि मीमांसादर्शनमें धर्मका ज्ञान हो जानारूप प्रयोजनको बतलानेवाला पहला सूत्र है "अथातो धर्मजिज्ञासा" जिसका कि अर्थ इसके अनन्तर यहाँसे धर्मके जाननेकी इच्छा है, ऐसा होता है। अनादिवस्तुमें अथ शब्द नहीं बोला जाता है। ऐसे प्रयोजन कहनेवाले वाक्यको

अपौरुषेयता सिद्ध नहीं है। मीमांसकोंने भी इस सूत्रको बनानेवाले जैमिनि ऋषि माने हैं. मीमांसक लोग ज्योतिष्टोमयज्ञादि कर्मकाण्डके प्रतिपादक वेदवाक्योंको ही प्रमाण मानते हैं। अद्वैतस्वरूप अर्थमें निमग्न हो रहे विधिको कहनेवाले या प्रयोजनको कहनेवाले वाक्योंकी प्रमाणता उनको इष्ट नहीं है। अन्यथा यानी यदि मीमांसक लोग कर्मके कहनेवाले वाक्योंके अतिरिक्त वाक्योंको भी प्रमाण मानेंगे तो अद्वैतवादके प्रतिपादक "एकमेवाद्वयं ब्रह्म नो नाना" अथवा सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाले " यः सर्वज्ञः स सर्ववित् " इत्यादि अर्थवादवाक्य भी प्रमाण मानने पड़ेंगे। अतिप्रसंग हो जावेगा।

यदि प्रयोजनवाक्यको नैयायिकोंके मतानुसार विशिष्ट पुरुषके द्वारा बनाये हुए पौरुषेय आगमस्वरूप ही मानोगे तो उस नैयायिकके माने हुए आगमको प्रमाणपनेका निश्चय कैसे किया जावेगा? अपने आपहीसे आगममें प्रमाणपनेका निश्चय कर लिया जाता है यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञानसामान्यके जाननेवाले ही कारणोंसे प्रामाण्यका भी निश्चय स्वतः कर लिया जाता है, इस प्रकार मीमांसकोंके एकान्तका भविष्यमें खण्डन कर दिया जावेगा और आप नैयायिक लोग तो ज्ञानमें स्वतःही प्रमाणपनेका निश्चय होना मानते भी नहीं हैं. अन्यथा अपसिद्धान्त हो जायगा।

पदोंका ज्ञान, संकेतग्रहण, शब्दका प्रत्यक्ष आदि आगमके सामान्यकारणोंके अतिरिक्त आसत्ति, आकांक्षा, योग्यता और तात्पर्यरूप कारणसे परतः ही आगममें प्रामाण्यका निर्णय होता है, इस प्रकार अन्य नैयायिक मान बैठे हैं, उन नैयायिकोंके मतमें भी प्रयोजनवाक्य आगमप्रमाणरूप सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि प्रकृत जलके ज्ञानको दूसरे ठंडी वायु आदि के ज्ञानसे प्रमाणपना आवेगा। और ठंडी वायु आदिके ज्ञानको तीसरे ज्ञानसे प्रामाण्य माना जावेगा, जबतक उत्तरज्ञानोंसे पूर्व ज्ञानोंको प्रमाणपना न आवेगा तब तक आकांक्षा शांत न होनेसे उत्तरोत्तर ज्ञानोंकी धारा चलेगी, क्योंकि जो दूसरेका ज्ञापक है, वह किसी न किसी ज्ञानसे ज्ञात होना चाहिये। इस तरह अनवस्थादोष आता है। द्वितीय ज्ञानको प्रथम ज्ञानसे प्रामाण्य मानोगे और प्रथम ज्ञानको द्वितीय ज्ञान से प्रमाणपना लावोगे तो अन्योन्याश्रयदोष भी आवेगा। एवं संवाद, प्रवृत्ति और प्रमाणपना इन तीनोंसे प्रमाणपनेका निश्चय माना जाय तो चक्रकदोष भी आता है।

इत्यादि दोषोंसे दूषित हो जानेके कारण नैयायिकोंके परतः प्रामाण्यका भविष्यमें विस्तारसे खण्डन करेंगे। तथा परतः प्रामाण्यवादमें लोकप्रसिद्ध प्रतीतिसे भी विरोध आता है। सभी लोग अभ्यासदशामें ज्ञान होनेके समयही उसके प्रामाण्यको भी जान लेते हैं।

परार्थानुमानमादौ प्रयोजनवचनमित्यपरे तेऽपि न युक्तिवादिनः, साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रतिपत्तौ तर्कस्य प्रमाणस्याऽनभ्युपगमात्प्रत्यक्षस्यानुमानस्य वा तत्रासमर्थत्वेन साध-

यिष्यमाणत्वात्। ये त्वप्रमाणकादेव विकल्पज्ञानात्तयोर्व्याप्तिप्रतिपत्तिमाहुस्तेषां प्रत्यक्षानुमान-प्रमाणत्वसमर्थनमनर्थकमेवाऽप्रमाणादेव प्रत्यक्षानुमेयार्थप्रतिपत्तिप्रसंगात् ।

ग्रन्थकारको उस ग्रन्थके प्रमेयोंके ज्ञानसे स्वयं तो कुछ प्रयोजन सिद्ध करना ही नहीं है क्योंकि ग्रन्थकर्ताको तो ग्रन्थरचनाके पूर्वमें ही भावग्रन्थसे प्रबोध और कर्महानिरूप फल प्राप्त हो चुका है। भविष्यमें शिष्योंके लिये उस फलकी प्राप्ति हो इस परोपकारबुद्धिसे प्रेरित होकर ग्रन्थके आदिमें शास्त्रकारका फल बतलाना उपयोगी है। अतः स्वयं अपनी आत्मारूप दृष्टान्तमें निश्चित किये हुए अविनाभाव रखनेवाले विवादपद हेतुसे सज्ज्ञानकी प्राप्ति और कर्मोंका नाश रूप साध्यका ज्ञान करानारूप प्रयोजनका प्रतिपादक वाक्य परार्थानुमानस्वरूप है, ऐसा कोई न्यारे वृद्धवैशेषिक कहते हैं, और साथमें अपने ग्रन्थोंके प्रारम्भमें "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष-समवायाभावानां सप्तानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः" इत्यादि प्रयोजन वाक्योंको भी परार्थानुमान रूपही सिद्ध हुआ मानते हैं! आचार्य कहते हैं कि उन वैशेषिकोंका कथनभी युक्तिवादसे रहित है क्योंकि साध्य और साधनकी व्याप्तिका ग्रहण तर्कज्ञानसे ही हो सकता है। सब देश और कालमें उपसंहार करके साध्य और साधनके संबन्धको जाननेवाले तर्करूप ज्ञानको वैशेषिक प्रमाण नहीं मानते हैं। तर्क मिथ्याज्ञानका भेद माना है, उनके यहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने गये हैं, उक्त दोनों प्रमाण उस सर्व देशकालोपसंहारवाली व्याप्तिको ग्रहण करने में असमर्थ हैं इसको भविष्य में सिद्ध करेंगे।

जो बौद्ध लोग साध्य और साधनके संबन्ध (वस्तुतः संबन्ध नहीं है) की कल्पना करने-वाले प्रमाणरूप सविकल्पक व्याप्तिज्ञानसे उन ही हेतु और साध्यके अविनाभावसंबन्धका विकल्पज्ञान होजाना कहते हैं, उन बौद्धोंको अपने माने गये प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञानको भी प्रमाणपनेकी समर्थनपूर्वक सिद्धि करना व्यर्थ पडेगा। क्योंकि अप्रमाणरूप तर्कज्ञानसे जैसे अविनाभावका ज्ञान हो जाता है उसी प्रत्यक्ष और अनुमानसे जानने योग्य पदार्थोंका अप्रमाण-रूप प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी ज्ञान हो जानेका प्रसंग आ जावेगा, व्यर्थ ही प्रमाणत्वका बोझ क्यों लादा जावे?।

ततो न प्रयोजनवाक्यं स्याद्वादविद्विषां किंचित्प्रमाणं, प्रमाणादिव्यवस्थाना-संभवाच्च, न तेषां तत्प्रमाणमिति शास्त्रप्रणयनमेवासंभवि विभाव्यतां किं पुनः प्रयोजनवाक्योपन्यसनम्।

उस कारण अबतक सिद्ध हुआ कि स्याद्वादसिद्धान्तसे द्वेष करनेवाले मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक, और बौद्धोंके शास्त्रोंकी आदिमें लिखे हुए प्रयोजन बतानेवाले "यतोऽभ्युदयनिश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः" जिससे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है, वह धर्म है इत्यादि वाक्य किसी भी प्रकारसे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमप्रमाणरूप नहीं हैं।

अन्यमतावलम्बियोंके माने हुए प्रमाण, प्रमेय, आदि पदार्थ ही जब युक्तियों से व्यवस्थित नहीं हो सकते हैं तब प्रमाण आदिकी व्यवस्थाका असम्भव हो जानेसे उनके यहाँ प्रयोजन वाक्य भी किसी प्रमाणस्वरूप कैसे सिद्ध हो सकता है ? और ऐसी अव्यवस्थामें प्रयोजनवाक्य लिखना तो भला दूर रहा किन्तु ऐसे लोगोंका तो शास्त्र बनाना ही असंभव है यह विचार लेना चाहिये, फिर प्रयोजनवाक्यके कथनकी तो बात ही दूर है।

श्रद्धाकुतूहलोत्पादनार्थं तदित्येके तदप्यनेनैव निरस्तं तस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वपक्षयोस्तदुत्पादकत्वायोगात्।

शिष्योंको ग्रंथ सुननेमें श्रद्धा (विश्वास) पैदा हो और कौतुक उत्पन्न हो इस प्रकार श्रोताओंके चित्तको आकर्षित करनेके लिये ग्रन्थकी आदिमें प्रयोजनवाक्य लिख दिया जाता है, ऐसा किसी एक सम्प्रदायको माननेवाले पण्डित कहते हैं, आचार्य महाराज आदेश करते हैं कि—

उनका कथन भी इस पूर्वोक्त विचारसे ही खण्डित हो जाता है क्योंकि प्रयोजनवाक्यके प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व इन दोनोमेंसे किसी भी पक्षको ग्रहण करनेपर प्रयोजनवाक्यको उन उन श्रद्धा और कुतूहलका उत्पादकपना नहीं बन सकता है अर्थात् प्रमाण माननेमें अनवस्था, प्रामाण्यका निश्चय न होना, व्याप्ति न बनना, आदि दोष आवेंगे और अप्रमाण माननेसे तो प्रमाणपनेका विचार ही संसारसे नष्ट हुआ जाता है।

अर्थसंशयोत्पादनार्थं तदित्यप्यसारं क्वचिदर्थसंशयात्प्रवृत्तौ प्रमाणव्यवस्थापनानर्थक्यात्, प्रमाणपूर्वकोऽर्थसंशयः प्रवर्त्तक इति प्रमाणव्यवस्थापनस्य साफल्ये कथमप्रमाणकात्प्रयोजनवाक्यादुपजातोऽर्थसंशयः प्रवृत्त्यंगं। विरुद्धं च संशयफलस्य प्रमाणत्वं विपर्यासफलवत् स्वार्थव्यवसायफलस्यैव ज्ञानस्य प्रमाणत्वप्रसिद्धेः।

कोई संशयालु कह रहा है कि ग्रंथकी आदिमें प्रयोजनका लिखना ग्रन्थके वाच्य अर्थमें संशय पैदा करनेके लिये है क्योकि अर्थमें संशय होनेपर ही जनता भविष्यमें उस ग्रंथको सुनेगी। इस शंकाकारका यह हृद्य प्रतीत होता है कि " एकांतनिश्चयाद्वरं संशयः " अनिष्ट बातके निर्णयकी अपेक्षा उसका संशय बना रहना कहीं अच्छा है, इस नीतिके अनुसार ग्रंथके सुननेमें जिनको कुछ भी फल नहीं दीखता, उनको ग्रंथकी आदिमें प्रयोजन बतानेसे फलप्राप्तिका कमसे कम संशय तो अवश्य हो जावेगा, जिससे कि वे फलकी संभावनासे तो ग्रंथ सुननेमें प्रवृत्ति करेंगे। अर्थशब्दका अर्थ प्रयोजन भी होता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहनेमें भी कुछ सार नहीं है क्योंकि, अर्थके संशयसे ही कहीं प्रवृत्ति होने लगे तो प्रमाणतत्त्वकी व्यवस्था मानना व्यर्थ पडेगा। यदि तुम ऐसा कहोगे कि प्रत्येक संशयको हम प्रवर्त्तक नहीं मानेंगे किन्तु प्रमाणज्ञानसे उत्पन्न हुआ

अर्थके विशेष विशेषांशोंको जाननेवाला संशयज्ञान ग्रन्थ सुननेमें प्रवृत्ति कराता है, ऐसा माननेपर प्रमाणतत्त्वकी व्यवस्थापना करना भी सफल है। पण्डितोंके साथ वाद, संवाद करनेसे विशिष्ट तत्त्वोंका ज्ञान होता है यह सिद्धांत भी विशेषांशमें संशय करनेवालेके ही लिये लागू है, केवलज्ञानीके लिये नहीं। अब आचार्य बोलते हैं कि इस प्रकार तुम्हारे कहनेपर प्रामाणिक प्रयोजनवाक्य तो भले ही प्रवृत्तिका कारण हो जाय किंतु अप्रमाणरूप प्रयोजनवाक्यसे उत्पन्न हुआ अर्थका संशय तो श्रोताओंको ग्रन्थ सुननेमें प्रवृत्तिका कारण कैसे भी नहीं हो सकता है। एक बात यह भी है कि रस्सीमें सर्पका ज्ञान करनारूप विपर्ययज्ञानका फल जैसे प्रमाणरूप नहीं है उसी प्रकार संशयके फलको भी प्रमाणस्वरूप मानना विरुद्ध है। अपना और अपने विषयका निश्चयरूप फलको करनेवाले ज्ञानको ही प्रमाणता प्रसिद्ध हो रही है, तथा च अर्थमें संशय उपजानेवाला आपका प्रयोजन वाक्य कैसे भी श्रोताओंकी प्रवृत्तिका कारण नहीं हो सकता है। फलसंभावना-रूप संशयसे बालजन भले ही प्रवृत्ति कर लेवें किंतु विचारशील विद्वान् निश्चयात्मक प्रमाणसे ही प्रवृत्ति करते हैं।

ये त्वाहुर्यन्निष्प्रयोजनं तन्नारंभणीयं यथा काकदन्तपरीक्षाशास्त्रं, निष्प्रयोजनं चेदं शास्त्रमिति व्यापकानुपलब्ध्या प्रत्यवतिष्ठमानान्प्रति व्यापकानुपलब्धेरसिद्धतोद्भावनार्थं प्रयोजनवाक्यमिति।

यहां जो कोई ऐसा कहते हैं कि व्याप्यसे व्यापकका ज्ञान होता है और व्यापकके अभावसे तो व्याप्यका अभाव प्रतीत हो जाता है, यहां कार्यका आरम्भ करना (धूमके समान) व्याप्य है और प्रयोजनवान्पना (अग्निके समान) व्यापक है, तथा प्रयोजनरहितपना (वह्निके अभावसमान) व्याप्य है और कार्यके आरम्भका न होना (धूमाभावके समान) व्यापक है, ऐसा व्याप्यव्यापक-भाव सिद्ध हो जाने पर कोई असत्य उत्तररूप जातिनामका दोष उठाते हैं कि जो जो प्रयोजन-रहित है, वह वह शास्त्र सद्वक्ताओंको आरम्भ करने योग्य भी नहीं है, जैसे कि काकके दातोंकी परीक्षा करने वाले शास्त्रको कोई नहीं बनाता है, इसके समान प्रयोजनसहितपना-रूप व्यापकके ज्ञान न होनेसे ग्रंथके आरम्भ-रूप अप्रशस्तव्यापकका भी अभाव होना चाहिये, इस प्रकार जाति-दोष उठानेवालोंके प्रति प्रयोजनके नहीं होनेकी असिद्धिको प्रगट करनेके लिये प्रयोजनवाक्य कह दिया गया है। भावार्थ—सद्वक्ताओंके आरंभ करने योग्य यह ग्रंथ प्रयोजनसहित है।

आचार्य कहते हैं कि समाधान करनेवाले ये लोग भी चारों ओरसे अच्छी तरह देखनेवाले परीक्षक नहीं हैं।

तेऽपि न परीक्षकाः स्वयमप्रमाणकेन तदसिद्धतोद्भावनाऽसंभवात् तत्प्रमाणत्वस्य परैर्व्यवस्थापयितुमशक्तेः।

कारण कि जब तक आदिके प्रयोजन वाक्यको प्रमाणपना सिद्ध नहीं तो फिर स्वयं अप्रमाणरूप प्रयोजनवाक्यसे जातिवादीके उठाये हुए दोषकी असिद्धि कैसे हो सकती है ? केवल प्रयोजनका उच्चारण कर देनेसे आप लोग उसकी प्रमाणताका निर्णय कैसे भी नहीं कर सकते हैं, प्रमाणोंसे सिद्ध किये हुए वाक्य ही दूसरोंके दोष हटानेमें समर्थ होते हैं, और अभीतक प्रयोजनवाक्यकी प्रमाणता दूसरोंके द्वारा नहीं व्यवस्थित की जा सकी है।

सकलशास्त्रार्थोद्देशकरणार्थमादिवाक्यमित्यपि फल्गुप्रायं तदुद्देशस्याप्रमाणात्प्रतिपत्तुमशक्तेस्तल्लक्षणपरीक्षावत्।

" आगेके सम्पूर्ण शास्त्रके प्रतिपाद्य-विषयका संक्षेपसे नाममात्र कथन करनेके लिये पहिला वाक्य लिखा जाता है, " यह भी आदिवाक्यका फल बताना बहुभागमें व्यर्थ है, क्योंकि अप्रामाणिकवाक्यसे संक्षिप्त अर्थके कथनका भी निर्णय नहीं हो सकता है, जैसे कि प्रमाणरहित-वाक्यसे किसी वस्तुका लक्षण और परीक्षा नहीं की जाती है उसी प्रकार मन चाहा बोला हुआ वाक्य उद्देश करनेवाला भी नहीं होता है। बात यह है कि उद्देश्य, लक्षणनिर्देश, और परीक्षा तो प्रामाणिक वाक्यसे ही किये जाते हैं। यही सर्व दार्शनिकोंको इष्ट है।

ततो नोद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति त्रिविधा व्याख्या व्यवतिष्ठते।

उस कारणसे उद्देश, लक्षण और परीक्षाकी प्रमाणताके निर्णय किये विना ग्रंथका नाम मात्र कथन करना, मिली हुयी वस्तुओंमेंसे पृथक् करनेका कारणरूप लक्षण बोलना और अनेक युक्तियोंकी सम्भावनामें प्रबलता और दुर्बलताके विचाररूप परीक्षा इन तीनों प्रकारसे व्याख्यान करना व्यवस्थित नहीं हो सकता है।

समासतोऽर्थप्रतिपत्त्यर्थमादिवाक्यं व्यासतस्तदुत्तरशास्त्रमित्यप्यनेनैव प्रतिक्षिप्तमप्रमाणाद्व्यासत इव समासतोऽप्यर्थप्रतिपत्तेरयोगात्।

कोई वादी आदिके वाक्यका प्रयोजन यह बतलाते हैं कि ग्रंथका संक्षेपसे ज्ञान करनेके लिये आदिका वाक्य है और विस्तार रूपसे अर्थ की प्रतिपत्ति करानेके लिये भविष्यका पूरा ग्रंथ है, ग्रंथकार कह रहे हैं कि यह इनका विचार भी पूर्वोक्तकथनसे खण्डित हो जाता है, क्योंकि जब तक पूरे ग्रंथमें प्रमाणता सिद्ध नहीं है, तब तक विस्ताररूपसे अर्थका ज्ञान जैसे नहीं हो सकता है उसी प्रकार ग्रंथके अप्रामाणिक पहिले वाक्यद्वारा संक्षेपसे भी पदार्थका निर्णय नहीं हो सकता है, अतः आप लोगोंको प्रयोजन कहनेवाले वाक्यकी प्रमाणताका निर्णय करना आवश्यक है।

स्याद्वादिनान्तु सर्वमनवद्यं तस्यागमानुमानरूपत्वसमर्थनादित्यलं प्रसंगेन।

स्याद्वादरूप सिद्धांतको माननेवाले जैनोंके मत में तो सर्व पूर्वोक्त कथन निर्दोष सिद्ध है, क्योंकि आदिके प्रयोजन वाक्यको आगमप्रमाणस्वरूपपने और अनुमानप्रमाणरूपपनेका अच्छी तरह

समर्थन कर दिया गया है, इस प्रकार आदिवाक्यके कथनपर बहुत विचार करनेपर भी वही हमारी कही हुयी पूर्वोक्त सफलता सिद्ध हुयी। अब अधिक इस प्रकरणको बढानेसे कुछ तत्त्व नहीं सधता है।

अब यहां दूसरी और तीसरी वार्तिकोंके अवतरण करनेका उत्थान किया जाता है।

ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्रं तावदनुपपन्नं प्रवक्तृविशेषस्याभावेऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित्प्रतिपित्सायामसत्यामेव प्रवृत्तत्वादित्यनुपपत्तिचोदनायामुत्तरमाह।

यहां शंका है कि उपर्युक्त प्रयोजनवाक्यका अनुमान और आगमरूपपना तभी माना जा सकता है, जब कि तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थकी सिद्धि हो जाय। हम तो कहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रका पहिला " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " सूत्र ही सिद्ध नहीं है क्योंकि सच्चे वक्ताके न होते भी और किसी विशेष समझनेवालेकी जाननेकी इच्छा न होनेपर ही इस सूत्रको बोलनेकी प्रवृत्ति हो गयी है। कोई अच्छे वक्ताके द्वारा श्रद्धापूर्व सुननेवाले शिष्योंकी प्रगाढ इच्छा होनेपर ही जो वाक्य बोला जाता है, वह प्रमाणसिद्ध माना जाता है। जब कि पहिले सूत्रकी ही असिद्धि है तो फिर पूर्ण तत्त्वार्थसूत्र या उसकी टीका श्लोकवार्तिक और उसके आदिवाक्यको प्रामाणिक बताना बिना भित्तिके चित्रलेखनसमान अनुचित है। इस प्रकार आदिसूत्रके विषयमें ही शंकाकारद्वारा असिद्धिकी प्रेरणा होनेपर श्रीविद्यानंद स्वामी उत्तर कहते हैं।

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे
सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥ २ ॥
सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम् ॥ ३ ॥

कल्याणमार्गके अभिलाषी अनेक शिष्योंकी मोक्षमार्ग जाननेकी इच्छा होनेपर ही " मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये " इस अच्छी तरह सिद्ध किये गये मंगलाचरण की भित्तिपर ही उमास्वामी महाराजने पहिला सूत्र लिखा है। केवलज्ञानद्वारा प्रत्यक्षरूपसे अच्छी तरह जान लिये हैं सम्पूर्ण पदार्थ जिन्होंने, और नष्ट कर दिये हैं ज्ञानावरणादि घातिकर्म जिन्होंने, तथा मोक्षमार्गको प्राप्त करने और करानेवाले मुनिश्रेष्ठोंके द्वारा भले प्रकार स्तुति करने योग्य श्रीजिनेन्द्रदेवके सिद्ध होनेपर ही तथा ज्ञानदर्शनोपयोग–स्वरूप और मोक्षसे भविष्यमें युक्त होनेवाले शिष्यकी मोक्षमार्गको जाननेकी तीव्र अभिलाषा होनेपर यह पहिला सूत्र " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " उमास्वामी आचार्यने प्रचलित किया है।

तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यं, सिद्धे प्रणेतरि मोक्षमार्गस्य प्रकाशकं वचनं प्रवृत्तं तत्कार्यत्वादन्यथा प्रणेतृव्यापारानेपक्षत्वप्रसंगात् ।

उस कारण यह तात्पर्य नियमसे सिद्ध हुआ कि मोक्षमार्गका प्रणयन करनेवाले श्रीसर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवके सिद्ध होनेपर ही मोक्षमार्गका प्रकाश करनेवाला वचन प्रवर्ता है। क्योंकि मोक्षमार्गका प्रतिपादक वचन उस मोक्षमार्गके बनानेवालेका कार्य है। सर्वज्ञके द्वारा कहा हुआ वचन सर्वज्ञका बनाया हुआ कार्य है और परिपाटीके अनुसार उमास्वामी आचार्यका यह " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " सूत्र कार्य है, अन्यथा यानी यदि वचनका कारण वक्ताको न मानोगे तो शब्दनिर्माताके—बोलनेवाले पुरुषके कण्ठ, तालु आदि अवयवोंके हलन, चलन—रूप व्यापारकी शब्दकी उत्पत्तिमें अपेक्षा न होगी यह प्रसङ्ग आवेगा किंतु होती है ।

तद्व्यंग्यत्वात्तदपेक्षम् ।

यहां शब्दको नित्य माननेवाले मीमांसकोंका कहना है कि कण्ठ, तालु आदिसे शब्द उत्पन्न नहीं किया जाता किंतु पहिलेसे ही विद्यमान शब्द कण्ठ, तालु, मृदंग आदि व्यक्त करनेवाले व्यञ्जकोंसे व्यक्त (प्रकट) किया जाता है, अतः वह वचन उनकी अपेक्षा रखता है ।

इति चेन्न कूटस्थस्य सर्वथाभिव्यंग्यत्वविरोधात्तदभिव्यक्तेरव्यवस्थितेः ।

आचार्य कहते हैं कि मीमांसकोंका उक्त कथन ठीक नहीं है कारण कि, काठमें दृढ अचल गढी हुयी लोहेकी निहाईके समान यदि शब्दको अपरिणामी कूटस्थ माना जावे तो एकांतपनेसे शब्दके आविर्भावपनेका विरोध आवेगा, अर्थात् नित्यपक्षमें भी पूर्वकी तिरोभाव अवस्थासे ही शब्दकी अभिव्यक्ति मानी जावेगी तो कथञ्चित् नित्य अनित्यपना आया, सर्वथा ही नित्यका अभिव्यंग्यपना कैसे भी नहीं बन सकता है। अतः मीमांसकोंके मतमें उस शब्दके प्रगट होनेकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। यद्यपि जैनसिद्धांतमें लुहारकी निहाईको भी प्रतिक्षण परिणामी माना है, निहाईमें भी अतिशयोंका आना जाना विकार होना सर्वदा चालू है, किंतु दूसरोंके मतसे कूटस्थपनेमें लुहारकी निहाईका दृष्टान्त दिया गया है ।

सा हि यदि वचनस्य संस्काराधानं तदा ततो भिन्नोऽन्यो वा संस्कारः प्रणेतृव्यापारेणाधीयते ? यद्यभिन्नस्तदा वचनमेव तेनाधीयत इति कथं कूटस्थं नाम ? भिन्नश्चेत्पूर्ववत्तस्य सर्वदाप्यश्रवणप्रसंगः, प्राक्पश्चाद्वा श्रवणानुषंगः, स्वस्वभावापरित्यागात् । संस्काराधानकाले प्राच्याश्रावणत्वस्वभावस्य परित्यागे श्रावणस्वभावोपादाने च शब्दस्य परिणामित्वसिद्धिः, पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणत्वात् परिणामित्वस्य । तथा च वचनस्य किमभिव्यक्तिपक्षकक्षीकरणेनोत्पत्तिपक्षस्यैव सुघटत्वात् ।

शब्दकी उत्पत्ति न मानकर अभिव्यक्ति माननेवाले मीमांसकोंके मतमें अभिव्यक्तिका क्या अर्थ है ? बतलाओ, यदि बोलनेकी पहिली अवस्थाके नहीं संस्कार किये गये शब्दोंमें कण्ठ, तालु, आदिके व्यापारद्वारा वर्तमानमें कुछ संस्कार धारण करा देनेकी अभिव्यक्ति मानोगे तो बताओ, बतानेवाले वक्ताके व्यापारोंसे उस समय शब्दोंमें रख दिया गया संस्कार (अतिशय) क्या शब्दसे अभिन्न है अथवा भिन्न है ? यदि अभिन्नरूप पहिला पक्ष मानोगे तो वक्ताके तालु आदिके व्यापारने शब्दसे अभिन्न संस्कारको किया तो शब्दको ही बनाया कहना चाहिये, क्योंकि आपके मतमें शब्द और संस्कार दोनों एक ही हैं। ऐसी अवस्थामें भला शब्दका कूटस्थरूपसे नित्यपना कैसे बन सकता है ? यदि शब्दसे संस्कार भिन्न है ऐसा दूसरा पक्ष ग्रहण करोगे तो हमारे दिये हुए उक्त दोषका तो निवारण हो जावेगा किन्तु अन्य दोष आवेंगे। देखिये वक्ताके व्यापारसे किया गया संस्कार यदि शब्दसे भिन्न पडा रहता है तो सब कालोंमें शब्दका श्रवण नहीं होना चाहिये क्योंकि उच्चारणके पूर्वमें जैसे शब्दका श्रवण नहीं होता था उसी प्रकार पीछे भिन्नरूप संस्कारके उत्पन्न होनेपर भी शब्दका सुनना न हो सकनेका प्रसंग आवेगा। क्या भिन्न स्थान पर पडा हुआ घटका संमार्जनरूप संस्कार और सर्वथा भिन्न पटका प्रक्षालनरूप संस्कार कार्यकारी हो सकता है ? नहीं। यदि भिन्न पडे हुए संस्कारसे भी वर्तमान कालमें शब्दका सुनना मानोगे तो भूत और भविष्य-कालमें भी शब्दके सुननेका प्रसंग आवेगा; क्योंकि वर्तमानका शब्द जैसे संस्कारसे भिन्न होकर सुनाई दे रहा है उसी प्रकार नित्यरूपसे विद्यमान वही शब्द उसी संस्कारसे भूत, भविष्यमें भी सुनायी पडना चाहिये, कारण कि संस्कारसे भिन्न पडा हुआ स्वतंत्र शब्द अपनी प्रकृति [आदत] को कभी छोड नहीं सकता है।

यदि आप ऐसा कहोगे कि वक्ताके द्वारा बनाये गये संस्कारोंको धारण करते समय शब्द अपनी पूर्वकालकी नहीं सुनाई पडने की टेव (आदत) को छोडकर वर्तमान कालमें सुने जानेकी प्रकृतिको ग्रहण करता है तो ऐसा माननेपर शब्दको परिणामीपना सिद्ध होता है क्योंकि पूर्वके स्वभावोंको छोडना, उत्तर स्वभावोंको प्राप्त करना, और द्रव्यस्वभावसे स्थित रहना ही परिणामीपनका लक्षण है और वैसा होनेपर फिर आपको शब्दकी अभिव्यक्तिपक्षके स्वीकार करनेसे क्या लाभ हुआ ? आपके उक्त कथनसे तो शब्दकी उत्पत्तिपक्षका ही अच्छी रीतिसे घटन हो जाता है।

शब्दाद्भिन्नोऽभिन्नश्च संस्कारः प्रणेतृव्यापारेणाधीयत इति चेन्न सर्वथा भेदाभेदयोरेकत्वविरोधात्।

यदि शब्दको बनानेवालेके व्यापारद्वारा जो शब्दमें संस्कार किया जाता है, वह शब्दसे भिन्न है और अभिन्न भी है, ऐसा कहोगे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वथा भेद और अभेद

माननेमें संस्कार और शब्दके एकपनेका विरोध हुआ जाता है। सर्वथा भेद माननेपर अभेद नहीं मान सकते हो और सर्वथा अभेद माननेपर भेद मानना विरुद्ध है। भेद और और अभेद दोनों धर्म एक नहीं होसक्ते हैं। तुल्यबल विरोध है।

यदि पुनः कथञ्चिदभिन्नो भिन्नश्च शब्दात्संस्कारस्तस्य तेनाधीयत इति मतं तदा स्यात्पौरुषेयं तत्त्वार्थशासनमित्यायातमर्हन्मतम्।

विरोध और विप्रतिषेध दोषको दूर करनेके लिये यदि आप मीमांसक लोक शब्दसे कथञ्चित् भिन्न और किसी अपेक्षासे अभिन्न संस्कारका बनानेवालेके व्यापारसे शब्दमें स्थापन करना मानोगे, तब तो तत्त्वार्थोंकी शिक्षा करनेवाले तत्त्वार्थसूत्रग्रन्थके वर्ण, पद, वाक्यों, का भी कथञ्चित् पुरुषसे बनाया जाना अभेदपक्षमें आपके द्वारा ही सिद्ध होगया यों जैनसिद्धांत आगया। यद्यपि प्रवाह रूपसे ज्ञानरूप ग्रन्थ सर्वदासे चला आया है किंतु इस ज्ञानके अनुसार शब्दयोजना करके ग्रंथ बना देना ग्रंथकारका स्वायत्त कार्य है इस ही कारण वक्ताके शब्दोंको जैनसिद्धांतमें पौरुषेय माना गया है, यह श्रीजिनेन्द्रदेवका कहा हुआ मन्तव्य आपको भी मानना पड़ा।

ननु च वर्णसंस्कारोऽभिव्यक्तिस्तदावारकवाय्वपनयनम् घटाद्यावारकतमोऽपनयनवत्तिरोभावश्च तदावारकोत्पत्तिर्न चान्योत्पत्तिविनाशौ शब्दस्य तिरोभावाविर्भावौ कौटस्थ्यविरोधिनौ येन परमतप्रसिद्धिरिति चेत्—

यहां फिर मीमांसककी ओरसे यह अपने ऊपर आये हुए दोषोंके निवारण करते हुए अर्हन्तके कहे हुए मतके माननेमें शंका है कि हम वर्णोंके संस्कारको ही शब्दकी अभिव्यक्ति मानते हैं, वक्ताके व्यापारके पूर्वमें उस शब्दकी सुनायी पडनेमें प्रतिबंध करनेवाला कारण विशेषवायु माना गया है, उस वायुका दूर हो जाना ही शब्दका संस्कार है, जैसे कि घरमें रखे हुए घटका आवरण करनेवाले अन्धकारका दूर हो जाना ही घटकी अभिव्यक्ति है। तथा शब्दको न सुनने देनेवाले वायुका उत्पन्न हो जाना ही शब्दका तिरोभाव (वर्तमान होते भी छिप जाना) है, जब कि भिन्न माने गये वायुकी उत्पत्ति और विनाश ही शब्दके आविर्भाव (प्रगट होना) और तिरोभावरूप हैं तो वायुकी उत्पत्ति और नाश होनेसे वायुका ही परिणामपन सिद्ध हुआ। न्यारी वायुके उत्पाद और नाशसे शब्दकी कूटस्थनित्यताका कुछ भी विरोध नहीं हो सकता है, जिससे कि आप जैनोंका मत सिद्ध माना जावे। अर्थात् हम शब्दको पौरुषेय मानते नहीं हैं यदि ऐसा कहोगे?

तर्हि किं कुर्वन्नावारकः शब्दस्य वायुरुपेयते? न तावत्स्वरूपं खण्डयन्नित्यैकान्तत्वविरोधात्। तद्बुद्धिं प्रतिघ्नन्निति चेत्तत्प्रतिघाते शब्दस्योपलभ्यता प्रतिहन्यते वा न वा? प्रतिहन्यते चेत्सा शब्दादभिन्ना प्रतिहन्यते न पुनः शब्द इति प्रलापमात्रम्। ततोऽसौ भिन्नैवेति

चेत्सर्वेदानुपलभ्यतास्वभावः शब्दः स्यात्। तत्संबंधादुपलभ्यः स इति चेत् कस्तया तस्य संबंधः? धर्मधर्मिभाव इति चेन्नात्यन्तं भिन्नयोस्तयोस्तद्भावविरोधात्। भेदाभेदोपगमादविरुद्धस्तद्भाव इति चेत् तर्हि येनांशेनाभिन्नोपलभ्यता ततः प्रतिहन्यते तेन शब्दोऽपीति नैकांतनित्योऽसौ।

इस प्रकार कहनेपर मीमांसकोंसे आचार्य पूँछते हैं कि तो बताओ? वायु क्या करता हुआ शब्द सुननेका आवरण करता माना गया है? आवरण करनेवाले पदार्थ दो प्रकारके होते हैं। एक तो स्वरूपका ही नाश करदेनेवाले जैसे कि शुक्ल कपडेको नीले रंगसे रंग देनेपर वस्त्रकी शुक्लताका ध्वंस हो जाता है। या ज्ञानावरण कर्मसे ज्ञानका नाश हो जाता है। दूसरे आवरण करनेवाले वे कहे जाते हैं जो पदार्थका तो नाश नहीं करते किन्तु उसके ज्ञान होनेका प्रतिबंध करदेते हैं। जैसे चंद्रमाके नीचे बादलोंका आ जाना, या भित्तिसे व्यवहित हो रहे घटके प्रत्यक्ष करनेमें घटज्ञानको रोकनेवाली भित्ति।

यदि आप पहिला पक्ष लोगे यानी आवरण करनेवाला वायु शब्दके स्वरूपका खण्डन कर-देता है तो शब्दके एकान्तसे नित्यपनेका विरोध हो जावेगा। और यदि दूसरा पक्ष लोगे तो शब्दकी नित्यताके विरोधका प्रसंग तो निवृत्त हो जावेगा किंतु अन्य दोष आ जावेंगे। सुनिये, उस शब्दके जाननेका प्रतिबन्ध करनेवाले दूसरे पक्षमें वायुके द्वारा शब्दके ज्ञानद्वारा जानने योग्यपने स्वभावका नाश होता है अथवा नहीं? बताओ, देखिये प्रत्येक पदार्थमें अपने स्वभावोंके अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंकी ओरसे आनेवाले भी स्वभाव रहते हैं। जैसे कि अनामिका अंगुली में बीचकी अंगुलीकी अपेक्षा छोटापन और कनिष्ठा अंगुलीकी अपेक्षासे बडापन है। दूसरी दो अंगुलियोंसे आनेवाले छोटापन और बडापन ये दोनोंही स्वभाव अनामिकाके स्वरूप ही हैं। इसी प्रकार घट, पट, शब्द आदि पदार्थोंमें भी ज्ञानके द्वारा जाननेपर जाने गयेपनेकी योग्यतारूप-स्वभाव माना गया है। ऐसेही घटको प्रत्यक्षसे जाननेपर प्रत्यक्षयोग्यता, अनुमानसे जाननेपर अनुमेयता, आगमसे जाननेपर आगमगम्यता ये तीनों स्वभाव भी घटकी घरू सम्पत्ति है। अब प्रकृतको विचारिये कि यदि वायुके द्वारा शब्दकी बुद्धि होनेका प्रतिघात हुआ माना जावेगा तो शब्दसे अभिन्न होरही शब्दके जाननेकी योग्यताका भी नाश होजावेगा। जब शब्दके उस उपलभ्यतारूप स्वभावका नाश हुआ तो उससे अभिन्न शब्दका भी नाश मानना पडेगा ऐसी दशामें भी शब्दका किसी भी प्रकारसे नाश न मानना मीमांसकोंका केवल बकवाद है। शब्दसे अभिन्न हो रही उपलभ्यताका ध्वंस हो जानेपर फिर शब्द का नाश नहीं होता है ऐसा मानना यह उन्मत्तरोदन है। यदि वायुके द्वारा उपलभ्यताके नष्ट हो जानेपर भी शब्द अक्षुण्ण नित्य बना रहे इसलिए आप शब्दकी ज्ञानसे ज्ञेयपनेकी उस योग्यताको उस शब्दसे भिन्न ही मानोगे तब तो सदा शब्दका स्वभाव ज्ञानसे नहीं जानने योग्य रूपही होगा। जो जानने

योग्य स्वभावोंको धारण नहीं करते हैं उन पदार्थोंका किसीको ज्ञान भी नहीं हो पाता है। जैसे घोडेके सींग, कछुएके रोम आदिका। इसी प्रकार आपके मतानुसार उपलभ्यता रूप स्वभावके शब्दसे सर्वथा भिन्न पडे रहनेपर शब्दका भी कभी ज्ञान नहीं होना चाहिये।

उक्त दोषके परिहारके लिये उपलभ्यताको भिन्न मानकर भी शब्दके साथ उसका संबंध हो जाने से वह शब्द जानने योग्य हो जाता है, जैसे कि उष्णताके समवायसंबंधसे अग्नि उष्ण है। यदि आप ऐसा मानोगे, तो कहिये कि आपने उपलभ्यताके साथ शब्दका कौनसा संबंध माना है ? बताओ, यदि धर्मधर्मिभाव संबंध है अर्थात् शब्द तो धर्मी है और और उपलभ्यता उसका धर्म है, यह संबंध मानना तो ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वथा ही भिन्न पदार्थोंमें धर्मधर्मिभाव नहीं होता है जैसे कि सह्यपर्वत और विंध्याचलका। तथाच सर्वथा भेदपक्षमें पुनः उपलभ्यता और शब्दके धर्मधर्मिभावसंबंध होने का विरोध है। यदि इस दोषके परिहारके लिये आप भेद, अभेद इन दोनों पक्षोंको स्वीकार करेंगे, जिससे कि इस धर्मधर्मिभावपने का विरोध हो सके ऐसा कहने पर भी तो अभेदपक्षमें जिस अंशसे अभिन्न उपलभ्यताका उस वायुके द्वारा नाश होगा, उस स्वभावपनेसे तो शब्दका भी नाश हो ही जावेगा, ऐसी दशा में भला शब्द एकांतरूपसे नित्य कैसे माना जा सकता है ? यों वह शब्द एकांतरूपसे नित्य नहीं है।

द्वितीयविकल्पे सत्यप्यावारके शब्दस्योपलब्धिप्रसंगस्तदुपलभ्यतायाः प्रतिघाताभावात्, तथा च न तद्बुद्धिप्रतिघाती कश्चिदावारकः कूटस्थस्य युक्तो यतस्तदपनयनमभिव्यक्तिः सिद्ध्येत्।

शब्दसे भिन्न और अभिन्न उपलभ्यताका वायुके द्वारा नाश होता है, इस प्रथम पक्षका खण्डन हो चुका। अब आप मीमांसक दूसरा विकल्प उपलभ्यताके नाश न होनेका मानोगे तो आवरण करनेवाले वायुके होनेपर भी शब्दका ज्ञान सर्वदा होते रहना चाहिये, क्योंकि वायुके द्वारा शब्दकी उपलभ्यताका घात तो हुआ नहीं है, और उस कारण " शब्दकी बुद्धिको नष्ट करने वाला कोई विशेष वायु कूटस्थपनेसे नित्य हो रहे शब्दका आवारक है " यह युक्तिसे सिद्ध नहीं हो सकता है जिससे कि मीमांसकोंके मतमें आवारक वायुको दूर करनारूप शब्दकी अभिव्यक्ति सिद्ध होती अर्थात् शब्दकी अभिव्यक्ति सिद्ध नहीं हो सकती है।

एतेन शब्दस्योपलब्ध्युत्पत्तिरभिव्यक्तिरिति ब्रुवन् प्रतिक्षिप्तः, तस्यां तदुपलभ्यतोत्पत्त्यनुत्पत्त्योः शब्दस्योत्पत्त्यप्रतिपत्तिप्रसंगात्, न हि शब्दस्योपलब्धेरुत्पत्तौ तदभिन्नोपलभ्यतोत्पद्यते, न पुनःशब्द इति ब्रुवाणः स्वस्थः। तस्यास्ततो भेदे सदानुपलभ्यस्वभावतापत्तेर्धर्मधर्मिभावसंबंधायोगात्। तत्संबंधादप्युपलभ्यत्वासम्भवाद्भेदाभेदोपगमे कथं-

त्पिदुत्पत्तिप्रसिद्धेरेकांतनित्यताविरोधात् । शब्दस्योपलब्ध्युत्पत्तावप्युपलभ्यतानुत्पत्तौ स्यादप्रतिपत्तिरिति व्यर्थाभिव्यक्तिः ।

इस पूर्वोक्त कथनसे शब्दकी ज्ञप्तिकी उत्पत्तिको शब्दकी अभिव्यक्ति कहनेवालेका मंतव्य भी खण्डित हुआ समझना चाहिये। क्योंकि शब्दके उपलब्धिके उत्पन्न होजाने पर यदि शब्दके उपलभ्यतास्वभावका उत्पाद मानोगे तो उससे अभिन्न शब्दका भी उत्पाद मानना पडेगा। यदि शब्दमें उपलभ्यताकी उत्पत्ति न मानोगे तो पूर्वके समान शब्दका कभी ज्ञान ही नहीं होना चाहिये यह प्रसङ्ग आवेगा। जो शब्दकी उपलब्धिके उत्पन्न होनेपर उस शब्दसे अभिन्न होरही उपलभ्यताको पैदा हुआ मानता है किंतु फिर शब्दको पैदा हुआ नहीं मानता है ऐसा कहने वाला मनुष्य आपे (होश) में नहीं है। जो स्वस्थ है वह ऐसी युक्तिरहित बातें नहीं कहता है ।

यदि आप वैयाकरण लोग उस उपलभ्यताको उस शब्दसे भिन्न मानोगे तो अपने गांठके स्वभावसे शब्दके सर्वदा अनुपलम्भ ही बने रहने की आपत्ति आवेगी, तथाच शब्दका ज्ञान भी न होगा। भिन्न पडी हुयी उपलभ्यताका शब्दके साथ धर्मधर्मिभाव संबंध हो जानेका भी योग नहीं है, जिससे कि उस उपलभ्यताके संबंधसे भी शब्दके उपलभ्यपनेकी किसी भी प्रकार सम्भावना नहीं होसकती है। भेद और अभेद दोनों पक्ष माननेपर भी उपलभ्यताकी उत्पत्ति होने पर किसी न किसी प्रकारसे शब्दकी उत्पत्ति होना अनिवार्य सिद्ध है, इससे आपका एकांतरूपसे शब्दको नित्य मानना विरुद्ध हुआ। शब्दकी उपलब्धिकी उत्पत्ति होने पर भी शब्दमें उपलभ्यपनारूप स्वभावको पैदा हुआ न मानोगे तो त्रिकालमें भी शब्दका ज्ञान न हो सकेगा। इस प्रकार उपलब्धिकी उत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति मानना भी नितांत व्यर्थ है ।

श्रोत्रसंस्कारोऽभिव्यक्तिरित्यन्ये । तेषामपि श्रोत्रस्यावारकापनयनं संस्कारः शब्दग्रहणयोग्यतोत्पत्तिर्वा तदा तद्भावे तस्योपलभ्यतोत्पत्त्यनुत्पत्त्योः स एव दोषः ।

शब्द नित्य और सर्वत्र व्यापक है, जिस जीवकी कर्णेन्द्रियमें संस्कार हो गया है, उस व्यक्तिको सुनायी पडता है । इसी कारण प्रत्येक व्यक्तिको सर्व देशमें सर्वदा सुनायी नहीं पडता है । अतः सुननेवालेके कानोंका संस्कार हो जाना शब्दकी अभिव्यक्ति है । इस प्रकार दूसरे संप्रदायके मीमांसक मानते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि उनके यहां भी कर्णको सुनायी देनेमें आवरण करने वाले आवारकोंका दूर करना ही कर्णोंका संस्कार है ? या शब्दके ग्रहण करनेकी योग्यताका पैदा हो जाना श्रोत्रका संस्कार है ? बताओ, इन इम दोनों भी पक्षोंमें जब कर्णेन्द्रियका संस्कार हो जाता है, उस समय शब्दमें उस उपलभ्यताकी उत्पत्ति माननी पडेगी यदि उपलभ्यताकी उत्पत्ति न मानोगे तो वही पूर्वमें दिया हुआ शब्दका कभी सुनायी न पडनारूप दोष आजावेगा । और जब

आपके यहाँ कर्णेन्द्रिय आकाशरूप मानी गयी है तो आकाशको आवरण करने वाला भी कोई नहीं हो सकता है, अतः श्रोत्रके संस्कारको शब्दकी अभिव्यक्ति मानना भी आपका पोली नींव पर खडा होना है।

तदुभयसंस्कारोऽभिव्यक्तिरित्ययं पक्षोऽनेनैव प्रतिक्षेप्तव्यः।

जिन प्रभाकरोंने वर्ण और कर्ण दोनों के संस्कारको शब्दकी अभिव्यक्ति माना है, यह भी उनका पक्ष पूर्वोक्त प्रकरणसे ही निराकृत हुआ समझ लेना चाहिये, क्योंकि जो प्रत्येक पक्षमें दोष आता है, वह एकांतरूपसे दोनों पक्षोंके मानने पर भी अवश्य आवेगा।

प्रवाहनित्यतोपगमादभिधानस्याभिव्यक्तौ नोक्तो दोष इति चेन्न, पुरुषव्यापारात्प्राक् तत्प्रवाहसद्भावे प्रमाणाभावात्।

मीमांसक जन! आप कूटस्थनित्यपनेसे शब्दको नित्य न मानकर बीजाङ्कुरके समान धारा-प्रवाहरूपसे शब्द नित्य है, ऐसे शब्दकी अभिव्यक्ति स्वीकार करनेमें कोई भी दोष नहीं आता है, यदि ऐसा कहोगे, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि बोलनेवाले पुरुषके कण्ठ, तालु आदिके व्यापार से पहिले भी प्रवाहरूपसे शब्द विद्यमान है, इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है, बीज और अंकुरके पूर्वमें दूसरे समान जातिवाले बीज, अंकुर विद्यमान थे। उनसे भी पूर्वकालमें अन्य बीज, अंकुर थे। किंतु शब्द तो कण्ठ, तालु, मृदंग ढोलके द्वारा सर्वथा नया गढा जाता है वह प्रवाहरूपसे पहले था ही नहीं।

प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणमिति चेत्।

दर्शन और स्मरणको कारण मानकर उत्पन्न हुए पहिली और वर्तमान पर्यायको जोडरूपसे विषय करनेवाले ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे कि यह वही देवदत्त है। यह गवय (रोझ) गौके सदृश है। इसी प्रकार यहां भी यह वही गकार है। ऐसी प्रमाणात्मक प्रत्यभिज्ञा होती है अतः उच्चारणके पहिले भी शब्द विद्यमान था। यदि आप (मीमांसक) ऐसा कहोगे ? तो आचार्य कहते हैं कि देखो—

तत्सादृश्यनिबन्धनमेकत्वनिबन्धनं वा ?।

प्रत्यभिज्ञानके कई भेद हैं। उनमें आप सदृशपनेको कारण मानकर उत्पन्न हुए सादृश्यको जाननेवाले उस प्रत्यभिज्ञानसे शब्दकी नित्यता सिद्ध करते हैं ? या एकपनेको कारण मानकर पैदा हुए "वह वही है" ऐसे एकताको जाननेवाले प्रत्यभिज्ञानसे शब्दकी प्रवाहनित्यता सिद्ध करते हैं ? बताओ—

न तावदाद्यः पक्षः सादृश्यनिबन्धनात्प्रत्यभिज्ञानादेकशब्दप्रवाहासिद्धेः।

उन दोनों पक्षोंमें आपका माना हुआ पहिला पक्ष ठीक नहीं है । क्यों कि सदृशताका अवलम्ब करनेवाले प्रत्यभिज्ञानसे यह वही शब्द है, ऐसी एकताको पुष्ट करनेवाली प्रवाहनित्यता की सिद्धि नहीं हो सकती है । सदृशपना तो भिन्न पदार्थोंमें पाया जाता है ।

द्वितीयपक्षे तु कुतस्तदेकत्वनिबन्धनत्वसिद्धिः ।

यदि आप एकत्वप्रत्यभिज्ञानसे शब्दकी नित्यताको मानते हुए दूसरा पक्ष स्वीकार करोगे तो शब्दके पूर्वापर एकपनेको कारण मानकर उत्पन्न हुए यह वही शब्द है ऐसे प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण-पनेके कारण एकपनेकी सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात्—यह प्रत्यभिज्ञान पहिले पिछले शब्दके एकपनेको ही कारण मानकर प्रमाणस्वरूप उपजा है यह कैसे निर्णय किया जाय ? समझाओ ।

स एवायं शब्द इत्येकशब्दपरामर्शिप्रत्ययस्य बाधकाभावात्तन्निबन्धनत्वसिद्धिस्तत एव नीलज्ञानस्य नीलनिबन्धनत्वसिद्धिवदिति चेत् ।

मीमांसक कहते हैं कि यह वही शब्द है ऐसे पहिले और पीछेके उच्चारित शब्दोंमें एकपने का विचार करनेवाले ज्ञानका कोई बाधक नहीं है । उस कारण प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणताका प्रयोजक एकत्वरूप कारणसे ही उत्पन्न होनेपनेकी सिद्धि हो जावेगी जैसे कि पूर्वमें नीले रंगकी चीज है ऐसा ज्ञान होता है । यहां भी बाधारहित प्रत्यभिज्ञानसे नीलके ज्ञानमें उसी पूर्वकी नील वस्तुको कारणपना सिद्ध किया गया है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे ?

स्यादेवं यदि तदेकत्वपरामर्शिनः प्रत्ययस्य बाधकं न स्यात् स एवायं देवदत्त इत्याद्येकत्वपरामर्शिप्रत्ययवत्, अस्ति च बाधकं नानागोशब्दो बाधकाभावे सति युगपद्भिन्न-देशतयोपलभ्यमानत्वाद्ब्रह्मवृक्षादिवत् इति ।

यों इस प्रकार तब कह सकते है । कि पहिले देखे हुए देवदत्तको पुनःदेखने पर यह वही देवदत्त ऐसा एकत्वको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान जिस प्रकार बाधारहित है, यदि उसीप्रकार पूर्वापर अवस्था में शब्दके एकपनेका निश्चय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानमें कोई बाधक उपस्थित न होता तो अवश्य ही उस प्रत्यभिज्ञानसे शब्दकी नित्यता सिद्ध हो जाती, किंतु शब्दमें नित्यताके ज्ञानका बाधक तो यह अनुमान विद्यमान है कि "नाना व्यक्तियोंके द्वारा अनेक देशोंमें बोले हुए गोशब्द अनेक हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि अनेकपनेका बाधक प्रमाण न होते सन्ते एक ही समयमें भिन्न भिन्न देशोंमें स्थित हो रहे सुनायी पड रहे हैं । (हेतु) जो बाधासे रहित होकर एक कालमें अनेक देशोंमें रहते हुए दीखते हैं, वे पदार्थ अनेक हैं, जैसे कि ढाक के पेड, घट, पटादि अनेक वस्तुएं नाना हैं (अन्वयदृष्टान्त) ।

न तावदिदमेकेन पुरुषेण क्रमशोऽनेकदेशतयोपलभ्यमानेनानैकान्तिकं, युगपद्ग्रहणात्, नाप्येकेनादित्येन, नानापुरुषैः सकृद्भिन्नदेशतयोपलभ्यमानेन, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेकपुरुषेण वा, नानाजलपात्रसंक्रान्तादित्यबिम्बेन प्रत्यक्षतो दृश्यमानेनेति वक्तुं युक्तम्, बाधकाभावे सतीति विशेषणात् । नह्येकस्मिन्नादित्ये सर्वथा भिन्नदेशतयोपलभ्यमाने बाधकाभावः, प्रतिपुरुषमादित्यमालानुपलम्भस्य बाधकस्य सद्भावात् ।

सम्भवतः एक देवदत्तको मंदिरमें देखा, घण्टेभर पश्चात् बाजारमें देखा, पुनः एक घण्टे पीछे घरमें देखा, तो क्रमसे भिन्नदेशोंमें दीख जानेसे वह एक ही देवदत्तपुरुष क्या अनेक माना जावेगा ? इस प्रकार हेतुके रहनेपर साध्यका न रहनारूप व्यभिचार तो हम स्याद्वादियोंके इस हेतुमें नहीं है, क्योंकि हमारे हेतुके शरीरमें "युगपद्" विशेषणका ग्रहण है। एक समयमें ही जो नानादेशोंमें दीखेगा, वही अनेकरूप होगा। देवदत्त तो भिन्न भिन्न कालोंमें नानादेशोंमें देखा गया था, अतः हेतु व्यभिचारी नहीं है। तथा और भी हेतुके विशेषणोंकी कीर्ति करनेके लिये पुनः तीन व्यभिचार उठाये जाते हैं, पहिला तो नानादेशोंमें स्थित अनेक पुरुषोंके द्वारा भिन्न भिन्न देशोंमें स्थितस्वरूप देखे गये एक सूर्यसे व्यभिचार है। अर्थात् बम्बईमें बैठा हुआ मनुष्य सूर्यको अपने महलके ठीक ऊपर देखता है और कलकत्तेमें बैठा हुआ अपनी कोठी पर समझता है। तथा उसी समय सहारनपुरमें अपने अपने घरोंके ऊपर सूर्य दीखता है, क्या इस प्रकार भिन्न भिन्नदेशोंमें एकसमयमें दीख जानेसे सूर्यविमान अनेक हो जावेंगे? दूसरा सम्भाव्यमान व्यभिचार यह है कि जिनदत्तने एक पुरुषको प्रत्यक्षसे ठीक स्थानपर देखा और चन्द्रदत्तने अनुमानद्वारा एक गज हटे हुए स्थानपर उस पुरुषको देखा, एतावता क्या वह पुरुष नाना होजावेगा ?

तीसरा व्यभिचार इस प्रकार है कि जलके भरे हुए थोडी थोडी दूर पर रखे हुए अनेक बर्तन हैं, उन पात्रोंमें सूर्यके अनेक प्रतिबिम्ब पड रहे हैं, क्या ऐसी दशामें प्रत्यक्षरूपसे अनेक देशोंमें देखे हुए सूर्यके प्रतिबिम्ब अनेक हो जावेंगे ? । अथवा इन पंक्तियोंका दूसरा अर्थ तीन दोष न देकर एक सूर्यमें ही व्यभिचार देना है। मीमांसक लोग सूर्यके प्रतिबिंबोंके देखनेमें भी सूर्यको ही देखना मानते हैं। कुमारिल भट्टका मत है कि चमकती हुई वस्तुसे टकराकर आखोंकी किरणें अनेक सोतरूपसे फैल जाती हैं, जलसे भरे हुए पात्रमें नीचेको मुख कर देखनेसे सूर्यका प्रतिबिम्ब नहीं दीखता है किंतु जलसे टकरा कर हमारी आखोंकी किरणें आकाशमें स्थित सूर्यको ही देख रही हैं। इनके यहां प्रतिबिम्बको पुद्गलकी वस्तुभूत पर्याय नहीं माना गया है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारके उक्त व्यभिचार हमारे हेतुमें नहीं आसकते हैं, क्योंकि स्याद्वादियोंने हेतुमें बाधकाभाव विशेषण दे रखा है। भिन्न भिन्न देशस्थ दीखते हुए सूर्यमें सर्वप्रकारसे बाधकाभाव नहीं है, अर्थात् बाधक है। क्या एक सूर्य एकसमयमें भिन्न भिन्न देशोंसे नहीं दीख सकता है ? यह हमारी

दृष्टिका दोष है कि हम उस देशके तारतम्यको दूरदेशसे जान नहीं सकते हैं। हर एक पुरुषको अनेक सूर्योंकी पंक्तिका न दीखना ही सूर्योंकी अनेकताका बाधक प्रमाण विद्यमान है, अतः बाधक-प्रमाणसे रहित होकर जो अनेक देशोंमें विद्यमान दीखेगा, वह अनेक अवश्य है, सूर्यका अनेक देशोंमें दीखना बाधित होनेसे मिथ्याज्ञान है, इसी प्रकार उक्त दो स्थलोंका व्यभिचार भी निवृत्त हो जाता है।

पर्वतादिनैकेन व्यभिचारीदमनुमानमिति चेत् न, तस्य नानावयवात्मकस्य सतो बाधकाभावे सति युगपद्भिन्नदेशतयोपलभ्यमानत्वं व्यवतिष्ठते, निरवयवत्वे तथाभावविरोधा-देकपरमाणुवत् ।

प्रतिवादी कह रहा है कि एक हिमालय पहाडको किसी व्यक्तिने शिमलामें देखा दूसरेने उसी समय मंसूरीमें देखा तो क्या वे पहाड अनेक हैं ? इस प्रकार शब्दको नाना सिद्ध करनेवाला आप जैनोंके अनुमानका हेतु एक माने जा रहे पर्वत, नदी, देश आदिसे व्यभिचारी हो जावेगा, आचार्य कहते हैं कि, मीमांसकोंका यह दोष भी देना ठीक नहीं है, क्योंकि वे पर्वत, नदी, आदि अवयवी अपने अपने अनेक अंशोंसे तदात्मक-युक्त होकर ही एक समयमें भिन्न भिन्न देशोंमें स्थित बाधारहित होते सन्ते दीखते हैं, यह निर्दोष सिद्धान्त व्यवस्थित हो रहा है। अतः अपने अव-यवोंकी अपेक्षासे पर्वतादि अनेक ही हैं, हेतु और साध्य इन दोनोंके रहनेपर व्यभिचार नहीं हो सकता है। यदि पहाडों नदिओंको एक परमाणुके समान अवयवरहित मानोगे तो जिस प्रकार अनेक देशोंमें दीख रहे हैं उतने लम्बे चौडे एक अवयवीपनाका विरोध हो जावेगा। आप मीमांसक लोग बौद्धोंके समान अवयवीपदार्थका खण्डन नहीं करते हैं किंतु अवयवीको मानते हैं, अतः पर्वतादिकसे व्यभिचार दोष नहीं आता है।

व्योमादिना तदनैकान्तिकत्वमनेन प्रत्युक्तं,तस्याप्यनेकप्रदेशत्वसिद्धेः। खादेरनेकप्रदे-शत्वादेकद्रव्यविरोध इति चेत्, न नानादेशस्यापि घटादेरेकद्रव्यत्वप्रतीतेः, न ह्येकप्रदेशत्वे-नैवैकद्रव्यत्वं व्याप्तं येन परमाणोरेवैकद्रव्यता, नापि नानाप्रदेशत्वेनैव यतो घटादेरेवेति व्यवतिष्ठते एकद्रव्यत्वपरिणतस्यैकद्रव्यता, नानाद्रव्यत्वपरिणतानामर्थानां नानाद्रव्यतावत् ।

पुनः मीमांसकोंका कहना है कि आप जैनोंका अनेकत्वको सिद्ध करनेवाला वह हेतु तो आकाश और दिशा आदिसे व्यभिचारी है, क्योंकि वे एक होकर भी अनेकदेशोंमें नानापुरुषोंके द्वारा जाने जाते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि यह मीमांसकोंकी ओरसे उठाया हुआ दोष भी पूर्वोक्त प्रकारसे ही निराकृत होजाता है, क्योंकि आकाश आदि द्रव्योंको अनेकप्रदेशीपना सिद्ध है। भरत-क्षेत्र सम्बन्धी आकाशके प्रदेशोंसे विदेहक्षेत्रके आकाशके प्रदेश भिन्न हैं। ऊर्ध्वलोकके प्रदेशोंसे

अधोलोकके प्रदेश न्यारे हैं, तथाच आकाशमें भी प्रदेशोंकी अपेक्षासे अनेकपना सिद्ध ही है। इस प्रकार हेतु और साध्य दोनोंके विद्यमान होनेपर व्यभिचार दोष नहीं आता है किन्तु हेतु पुष्ट ही होता है।

यदि मीमांसकोंका यह कहना होय कि आकाश आदिके अनेक प्रदेश माननेसे तो आकाश आदिके एकद्रव्यपनेका विरोध हो जायगा, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि एक हाथ भूमिमें रखे हुए घटपटादिकोंको भी आप मीमांसकोंने एकद्रव्यपना माना है, यही बात प्रामाणिक प्रतीतिओंसे सिद्ध है। जो एक ही प्रदेशमें रहता है, वह ही एक द्रव्य है ऐसी कोई व्याप्ति सिद्ध नहीं है जिससे कि परमाणुकोही एकद्रव्यपना सिद्ध हो सके, और यह भी व्याप्ति नहीं है कि जो जो अनेक प्रदेशोंमें रहते हैं, वे ही एक द्रव्य हैं जिससे कि घट, पट, आदिकको ही एकद्रव्यपना व्यवस्थित होता, दूसरा नियम माननेमें काल परमाणु, और पुद्गल परमाणुको द्रव्यपना सिद्ध न होसकेगा, तथा अनेकदेशोंमें रहनेवाले ग्राम, नगर, मेला आदिको भी एक द्रव्यपनेका अतिप्रसंग होजावेगा। मीमांसक लोग घरोंके अत्यंत निकट संयोगको ग्राम कहते हैं और इसी प्रकार नगर, मेला, सेना, आदिको भी संयोगरूप गुणपदार्थ मानते हैं, अतः एक द्रव्यपनेके पूर्वोक्त दोनो लक्षण ठीक नही है, एक द्रव्यपनेका सिद्धान्तलक्षण यह है कि चाहे एक प्रदेशमें रहनेवाला पदार्थ हो और भले ही अनेक देशोंमें स्थित हो, यदि उसका द्रव्यपनेरूप अखण्ड सम्बन्धको लिये हुए परिणाम होगया है, उसको एकद्रव्य कह देते हैं, अनेक गुण या अनेक बन्ध योग पदार्थोंकी कथञ्चित्तादात्म्य संबन्धसे होनेवाली परिणतिसे उस एकद्रव्यपनेकी व्याप्ति देखी जाती है। जैनसिद्धांतमें कर्म नोकर्मसे बंधको प्राप्त संसारी जीवको तथा सजातीय पुद्गलोंसे बंधे हुए अनेकदेशी घटपटादिकोंको भी अशुद्ध द्रव्य माना है। संपूर्ण जनतामें भी यह बात प्रसिद्ध है कि अनेकद्रव्यपनेरूप विष्व-ग्भावपनेसे परिणत भिन्न भिन्न देवदत्त, जिनदत्त, सूर्य, चन्द्रमा आदिको जैसे नानाद्रव्यपना है, उसी प्रकार खण्डित एकप्रदेशमें रहनेवाले या अखण्डित अनेक देशोंमें रहनेवाले अविष्वग्भाव सम्बन्ध रूप एकत्वपरिणतिसे युक्त परमाणु, कालाणु, आत्मा, आकाश, घट, पर्वत, आदि प्रत्येक द्रव्यको भी एकद्रव्यता प्रसिद्ध हो रही है।

स्यादेतद्बाधकाभावे सतीति हेतुविशेषणमसिद्धं गौरित्यादिशब्दस्य सर्वगतस्य युगपद्व्यञ्जकस्य देशभेदाद्भिन्नदेशतयोपलभ्यमानस्य स्वतो देशविच्छिन्नतयोपलम्भासम्भवादिति, तदयुक्तम्। तस्य सर्वगतत्वासिद्धेः कूटस्थत्वेनाभिव्यंग्यत्वप्रतिषेधाच्च।

मीमांसकोंका इस प्रकरणपर यह कहना सम्भव है कि जैनोंका अनेकत्वको सिद्ध करनेवाला पूर्वोक्त अनुमान घरपट आदि पदार्थोंमें तो ठीक है किन्तु गोशब्दरूप पक्षमें हेतुका बाधकाभावके होते संते यह विशेषण नहीं दीखता है किन्तु गो, घट, आदि शब्द सर्व स्थानोंमें व्यापक हैं। उन शब्दोंको

एक समयमें प्रकट करनेवाले वायुविशेष ही भिन्न भिन्न देशोंमें रहते हैं । अतः व्यापक भी एक शब्दव्यञ्जक वायुओंके अधीन होकर अनेक देशोंमें जाना जाता है । अखण्ड शब्दका अपने स्वरूपसे खण्ड खण्ड होकर नानादेशोंमें सुनायी पडता सम्भव नहीं है । जब बाधारहित होकर भिन्न देशोंमें दीखनारूपहेतु शब्दमें असिद्ध है फिर बलात्कारसे [जबर्दस्ती] जो शब्दमें अनेकपनेका बोझ क्यों लादा जाता है ? बताओ, यहांतक मीमांसकोंके कह जानेपर आचार्य कहते हैं कि वह मीमांसकोंका कथन युक्तिरहित है क्यों कि सींग और सास्नासे युक्त पशुको कहनेवाले उस गो शब्दका सर्वव्यापकपना असिद्ध है । उत्पन्न और नष्ट होते हुए अनेक गोशब्दही बाल-वृद्धोंको अनेकदेशोंमें सुनायी पड रहे हैं । मीमांसक लोगोंने शब्दके कूटस्थ नित्यपना भी माना है । ऐसी दशामें वायुके द्वारा प्रकट हो जानेपनेका भी निषेध करना पडेगा क्योंकि कूटस्थ पक्षमें नहीं प्रकट अवस्थासे पुनः प्रकट अवस्थामें आना बन नहीं सकता है ।

सर्वगतः शब्दो नित्यद्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाशवदित्येतदपि न शब्दसर्वगतत्वसाधनायालं जीवद्रव्येणानैकान्तिकत्वात्, तस्यापि पक्षीकरणान्न तेनानैकान्त इति चेन्न प्रत्यक्षादि विरोधात् । श्रोत्रं हि प्रत्यक्षं नियतदेशतया शब्दमुपलभते, स्वसंवेदनाध्यक्षं चात्मानं शरीरपरिमाणानुविधायितयेति कालात्ययापदिष्टो हेतुस्तेजोनुष्णत्वे द्रव्यत्ववत् ।

मीमांसक लोगोंने शब्दको व्यापक सिद्ध करनेके लिए यह अनुमान किया है कि शब्द (पक्ष) सम्पूर्ण स्थानोंमें व्यापक है (साध्य) क्योंकि वह नित्यद्रव्य होकर अमूर्त है । (हेतु) जो जो नित्यद्रव्य होकर अमूर्त यानी अपकृष्ट परिमाणवाला है वह व्यापक है, जैसे आकाश अन्वय दृष्टान्त है इस हेतुमें नित्यद्रव्य विशेषणसे घट, पट आदि अनित्य द्रव्योंमें और गुणक्रियादिकोंमें व्यापकपनेका व्यभिचार नहीं हो पाता है । तथा अमूर्त कहनेसे परमाणुओंमें हेतुका व्यभिचार नहीं है । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकोंका मीमांसापूर्वक दिया गया हेतु भी शब्दको सर्वगतपनेके साधन करनेमें समर्थ नहीं है क्योंकि जीवद्रव्यसे व्यभिचार हो जावेगा । देवदत्त, जिनदत्त आदि जीव नित्यद्रव्य हैं और अमूर्त भी हैं किन्तु व्यापक नहीं हैं । यदि जीव द्रव्यसे व्यभिचार न हो इसलिए जीवको भी पक्षकोटीमें लाकर व्यापक सिद्ध करोगे, यह तो ठीक नहीं है । क्योंकि शब्द और आत्मारूप पक्षमें व्यापकपना मानना प्रत्यक्ष और अनुमान आदिसे विरुद्ध है, कर्णेन्द्रियसे होनेवाला प्रत्यक्ष शब्दको नियत देशमें स्थितिको ही सुनता है और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आत्माको अपने अपने शरीरके लम्बाई, चौडाई और मोटाईके अनुसार परिमाणवाला जानता है । कोई भी प्रत्यक्ष या अनुमान और आगम इन शब्द और आत्माको व्यापक नहीं जानते हैं । अतः अग्निको ठण्डापन सिद्ध करनेमें जैसे द्रव्यत्व हेतु बाधित हेत्वाभास है । उसी

प्रकार नित्यद्रव्य होकर अमूर्तपना हेतु भी शब्दको व्यापक सिद्ध करनेमें दोनों या तीनों प्रमाणोंसे बाधित हो रहा कालात्ययापदिष्ट नामका हेत्वाभास है।

स्वरूपासिद्धश्च सर्वथानित्यद्रव्यत्वामूर्तत्वयोर्धर्मिण्यसम्भवात्, तथा हि-परिणामी शब्दो वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेः, न वस्तुनः प्रतिक्षणविवर्तेनैकेन व्यभिचारस्तस्य वस्त्वेकदेशतया वस्तुत्वाव्यवस्थितेः, न च तस्यावस्तुत्वं वस्त्वेकदेशत्वाभावप्रसंगात्, वस्तुत्वस्यान्यथानुपपत्तिरसिद्धेति चेन्नैकान्तनित्यत्वादौ पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्थितिलक्षणपरिणामाभावे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाद्वस्तुत्वासम्भवादिति नैकान्तनित्यः शब्दः।

और शब्द को सर्वगत सिद्ध करनेमें दिया गया हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी है, क्योंकि शब्दरूपी पक्षमें सर्वथा ही नित्यद्रव्यपना और मूर्तिरहितपना धर्म नहीं ठहरता है असम्भव है। वास्तवमें देखा जाय तो शब्द पुद्गलद्रव्यकी थोडी देर ठहरनेवाली पर्याय है और पौद्गलिक होनेसे शब्द परिमितपरिणाम या रूपादिवाला होकर मूर्त भी है। इसी बातको आचार्य अनुमान द्वारा स्पष्टरूपसे कहते हैं:—"शब्द परिणामी है क्योंकि परिणामके विना शब्दमें वस्तुपना नहीं बन सकता है"। यहां कोई दोष देता है कि प्रत्येकक्षणमें होनेवाली रूपादिकगुणों की काली, नीली एक एक पर्यायें भी तो वस्तु हैं किन्तु पर्यायोंमें पुनः दूसरे परिणाम तो नहीं माने गये हैं। अतः एक पर्यायमें हेतुके रहने और साध्यके न रहनेसे व्यभिचार हुआ ? आचार्य कहते हैं कि यह व्यभिचार दोष जैनोंके हेतुमें नहीं है क्योंकि जैन लोग संसारी जीव, जिनदत्त, मृत्तिका, सुवर्ण आदि अशुद्ध द्रव्योंको और परमाणु, कालाणु, आदि द्रव्योंको परिपूर्ण वस्तुपना मानते हैं। उक्त द्रव्यों की एक एक समयमें होनेवाली उस केवल पर्यायको वस्तुका एकदेश मानते हैं, परिपूर्ण वस्तुपना वहाँ व्यवस्थित नहीं है, जैसे कि समुद्रके एकदेशको समुद्र नहीं माना जाता है। और असमुद्र भी नहीं कहा जाता है किंतु वह समुद्रका एकदेश है। अतः केवल एकपर्यायमें हेतु और साध्य दोनोंके न रहनेसे व्यभिचार दोष नहीं है। पुनः यहाँ कोई कहे कि प्रत्येक क्षणकी काली, नीली, पर्यायोंको आप वस्तु नहीं मानते हैं तो घोडेके सींग समान उन पर्यायोंको अवस्तुपना आवेगा, यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यदि पर्याय बंध्यापुत्रके समान अवस्तु होती तो वस्तुका एकदेश भी न हो सकती थी, खरविषाणके समान अवस्तुको वस्तुके एकदेशपनेका भी अभाव माना गया है। क्या समुद्रका टुकडा (बंगाल की खाडी) समुद्रका एकदेश नहीं है ?। भावार्थ पर्यायको यदि सर्वथा अवस्तुपना माना जावेगा तो वस्तुके एकदेशपनेके अभावका भी प्रसंग हो जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

पश्चात् यहाँ कोई कहे कि वस्तुत्वहेतुकी परिणामसहितपनेके साथ साध्यके विना हेतुका न रहना स्वरूपव्याप्ति असिद्ध है, ऐसा कहना भी तो ठीक नहीं, क्योंकि परिणामके विना वस्तुपना

आता ही नहीं, पदार्थमें परिणाम (विकास) न मानकर जो एकांतरूपसे पदार्थको नित्य या सर्वथा अनित्य या एक, अनेक, उभय, आदि मानते हैं उनके मतमें पूर्वस्वभावका त्याग, उत्तर स्वभावोंका ग्रहण और कालांतर स्थायी पर्यायोंसे स्थित रहनारूप परिणाम नहीं बनेगा, जब उक्त सिद्धांत लक्षणवाला परिणाम ही न बनेगा, तब एक समयमें साथ होनेवाली या क्रमसे अनेक समयोंमें होनेवाली वस्तुकी अर्थक्रियाओंका भी विरोध होगा और जब एक समयमें या क्रमसे स्नान, पान, अवगाहन अर्थोंकी परिस्पन्द और अपरिस्पन्दरूप क्रियाएँ ही न होगीं तो जलादिकोंमें वस्तुपना कैसे सम्भव हो सकता है ? । अर्थात् वस्तु उसे ही कहते हैं, जो वर्तमान और भूत, भविष्यत्में अनेक अर्थक्रियाओंको करती हैं । अर्थक्रिया करनेमें वस्तुको पहिले क्षणिक स्वभाव छोडने पडते हैं और नयी सदृश या असदृश लेंते ग्रहण करनी पडती हैं । तथा द्रव्यरूपसे अन्वय भी बना रहता है, ये अवस्थायें सर्वथा नित्य या अनित्यपक्ष में बन नहीं सकती है अतः आप मीमांसक शब्दको एकांतरूपसे नित्य नहीं मान सक़ते हैं ।

नापि सर्वथा द्रव्यं पर्यायात्मतास्वीकरणात्, स हि पुद्गलस्य पर्यायः क्रमशस्तत्रोद्भवत्वाच्छायातपादिवत्, कथञ्चिद्द्रव्यं शब्दः क्रियावत्त्वाद्बाणादिवत् धात्वर्थलक्षणया क्रियया क्रियावता गुणादिनानैकान्त इति चेन्न परिस्पन्दरूपया क्रियया क्रियावत्त्वस्य हेतुत्ववचनात् । क्रियावत्त्वमसिद्धमिति चेन्न, देशान्तरप्राप्तया तस्य तत्सिद्धेरन्यथा बाणादेरपि निष्क्रियत्वप्रसंगान्मतान्तरप्रवेशाच्च ततो द्रव्यपर्यायात्मकत्वाच्छब्दस्यैकान्तेन द्रव्यत्वासिद्धिः ।

शब्दको सर्वगत सिद्ध करनेके लिए मीमांसकोंने नित्यद्रव्यपना अमूर्तरूप हेतुका विशेषण दिया था । उसमेंसे शब्दकी नित्यताका तो खण्डन हो चुका । अब द्रव्यपनेका भी खण्डन करते हैं कि शब्द सर्वथारूपसे द्रव्य नहीं है क्योंकि शब्द पुद्गलद्रव्यकी पर्यायस्वरूप है । शब्दमें पुद्गलका पर्यायपना भी असिद्ध नहीं है । इसका अनुमान करते हैं कि "शब्द पुद्गलकी पर्याय है क्योंकि क्रम क्रमसे नाना विकासोंको करता हुआ शब्द पुद्गलमें उपादेयरूपसे पैदा होता है, जैसे कि छाया, धूप, द्योत आदिक पुद्गलकी पर्यायें हैं" । साधारण मनुष्य समझता है कि ताली बजाते ही शीघ्र शब्द बन जाता है । नाभिस्थानसे कण्ठ तालु द्वारा वायुके निकालनेपर गकार आदि शब्द बन जाते हैं और सूर्य, चन्द्रमाके निकलतेही धूप और चांदनी बन जाती है । यह उसका समझना ठीक नहीं है क्योंकि अनेक समयोंमें कारण-क्रिया-संतानके द्वारा शब्द, धूपादिकी उत्पत्ति होती है । अतः वे कारणोंसे आत्मलाभ करते हुए पर्यायें हैं । सर्वथा द्रव्य नहीं हैं । जैनसिद्धांत में शब्दको कथञ्चिद् द्रव्य भी स्वीकार किया है क्योंकि पर्यायोंमें तो अन्य पर्यायें होती नहीं

किंतु शब्द देशसे देशांतरको जाता है अतः बाण, लोष्ट आदिके समान क्रियावान् होनेसे शब्द क्रिया रूप पर्यायका धारी होता हुआ कथञ्चिद् द्रव्य भी है।

जो जो क्रियावान् होते हैं, वे वे कथञ्चिद् द्रव्य भी होते हैं। ऐसी व्याप्तिमें कोई व्यभिचार दोष देता है कि पीला रूप उत्पन्न होगया, मीठापन बढ गया, सुगंध स्थित है, भ्रमण करता है। इस प्रकार पद, वृधु, अस्, डुकृञ् आदि धातुओंके अर्थ स्वरूप उत्पत्ति, वृद्धि, स्थिति और करण रूपक्रियाएँ रूपादिगुणोंमें और भ्रमण आदि कर्मोंमें भी विद्यमान हैं। क्रियावाची भू आदि ही धातु संज्ञक माने गये हैं। अतः गुण या कर्म रूपादिकमें क्रिया सहितपना होनेसे द्रव्यपना हो जावेगा। यह हेतुके ठहरने और साध्यके नहीं रहनेके कारण व्यभिचार हुआ। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकरणमें धातुओंके अर्थरूप क्रियाओंको द्रव्य सिद्ध करनेमें क्रिया नहीं माना गया है किंतु देशसे देशान्तर करनेवाली हलन, चलन, कम्पन, भ्रमणरूप क्रियाओंके सहितपनेको हेतु कहा गया है निश्चल भावोंसे सत्पुरुषोंकी गादीके अभिप्राय अनुसार हेतुको समझकर पुन. व्यभिचार उठाना चाहिए।

यहां कोई शब्दमें उक्त क्रियासे सहितपने रूप हेतुकी असिद्धि बतलावें अर्थात् पक्षमें हेतु नहीं रहता है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि शब्दका वक्ताके मुखप्रदेशसे श्रोताके कानोंतक पहुंचना या मेघगर्जनका हमारे कानोंतक आना विना क्रियाके सिद्ध नहीं है। यदि क्रियाके विना भी देशसे देशान्तर हो जाय तो बाण, गोली आदिको भी क्रियारहितपनेका प्रसंग आ जावेगा। ऐसा माननेपर बौद्ध लोगोंके मत-का भी प्रवेश होता है अर्थात् बुद्धमतानुयायी जन क्रियासे सहित एक अन्वेता द्रव्यको तो मानते नहीं हैं क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाली पर्यायोंको ही स्वीकार करते हैं। एक वही बाण पचास गजतक नहीं जाता किन्तु पचास गज लम्बे प्रत्येक आकाशके प्रदेशपर नया नया बाण पैदा होता जाता है। वह बाणकी सन्तान स्वयं क्रियारहित है। मीमांसक, नैयायिक और जैनलोग तो उक्त बौद्ध प्रक्रियाका खण्डन करते हैं। उस कारण अबतक सिद्ध हुआ कि कथञ्चिद् द्रव्य और बहुभाग पर्यायस्वरूप ही शब्द है। अतः सर्वथा द्रव्यपना शब्दमें सिद्ध नहीं हो सकता है। भाट्टोंका हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

अमूर्तत्वं चासिद्धं तस्य मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायत्वात्। मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायोऽसौ सामान्य-विशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियविषयत्वादातपादिवत्। न च घटत्वादिसामान्येन व्यभिचारः, सामान्यविशेषवत्त्वे सतीति विशेषणात्परमतापेक्षं चेदं विशेषणं। स्वमते घटत्वादिसामान्य-स्यापि सदृशपरिणामलक्षणस्य द्रव्यपर्यायात्मकत्वेन स्थितेस्तेन व्यभिचाराभावात्। कर्मणानैकान्तिक इति चेन्न तस्यापि द्रव्यपर्यायात्मकत्वेनेष्टेः, स्पर्शादिना गुणेन व्यभि-चारचोदनमनेनापास्तम्।

मीमांसकोंने शब्दका व्यापकपना सिद्ध करनेके लिये नित्यद्रव्य होकर अमूर्तपना हेतु दिया था, उसमेंसे शब्दरूपी पक्षमें सर्वथा नित्यत्व और द्रव्यत्वकी असिद्धि बतला दी, अब अमूर्तत्वको भी असिद्ध करते हैं। शब्द मूर्तिरहित नहीं है क्योंकि वह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण स्वरूप मूर्तिवाले पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है, अतः मूर्त है। शब्दको पुद्गलकी पर्यायपना कोई असिद्ध न करे, इसलिये अनुमान करते हैं कि "शब्द मूर्तिमान् द्रव्यका ही परिणाम है (प्रतिज्ञा) क्योंकि सामान्यके विशेषोंसे सहित होता सन्ता बाह्य इन्द्रियोंका विषय हैं, (हेतु) जो जो व्यापक सामान्य मानी गयी सत्ताके व्याप्य (अल्पदेशमें रहने वाले,) द्रव्यत्व, गुणत्व, शब्दत्व आदि विशेषजातियोंसे, सहित होकर बहिरंग इंद्रियोंसे जाने जाते है, वे अवश्य ही मूर्तिमान् पुद्गलद्रव्यकी पर्याय होते हैं, जैसे कि घाम (धूप,) अन्धकार आदि विकार पुद्गल द्रव्यके हैं" (अन्वयदृष्टान्त)

इस हेतुमें कोई नैयायिक व्यभिचार दोष उठाता है कि "येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतसामान्यमपि गृह्यते" जिस इंद्रियसे जो जाना जाता है, उसमें रहनेवाली जाति भी उसी इन्द्रियसे जानी जाती है, जैसे घटको चक्षुः इन्द्रियसे जाना तो घटमें रहनेवाली घटत्वजाति भी आंखोंसे ही जानी जावेगी, इस नियमके अनुसार बाह्य इंद्रियोंसे घटत्व, रूपत्व, रसत्व आदि जातियां भी प्रतीत होती हैं। किंतु उनमें पुद्गलद्रव्यकी पर्यायपनारूप साध्य नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकारका व्यभिचार दोष हमारे हेतुमें नहीं होसकता है क्योंकि हमने हेतुका विशेषण अपरसामान्यसे सहितपना दे रक्खा है, मीमांसकों ओर नैयायिकोंने घटत्व आदि जातियोंमें रहनेवाली पुनः दूसरी कोई जाति नहीं मानी हैं " जातौ जात्यन्तरानङ्गीकारात् " अतः पूर्ण हेतुके न घटनेसे साध्यके न रहनेपर व्यभिचार दोष नहीं है। दूसरी बात यह है कि हेतुमें अपरसामान्योंसे सहितपना रूप विशेषण तो दूसरे मीमांसक और नैयायिकके मतोंकी अपेक्षासे दिया है, क्योंकि ये लोग जातिमें पुनः जात्यन्तर नहीं मानते हैं, और जातिरूप सामान्यको पुद्गलका विकार भी नहीं मानते हैं किंतु हमारे मत अनुसार जैनसिद्धांतमें घटोंमें रहनेवाले सदृशपरिणामोंको ही घटत्व आदि सामान्य माना है। अनेक समान व्यक्तियोंमें रहने वाले सदृशपरिणामरूप तिर्यक्सामान्यको और अनेक कालमें एक व्यक्तिमें रहनेवाले घट आदिकी पूर्वापर काल व्यापक सदृशतारूप उर्ध्वतासामान्यको भी पुद्गलकी ही पर्याय माना है, हम लोग नित्य और एक होकर अनेक व्यक्तियोंमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले सामान्यको नहीं मानते हैं, अतः स्याद्वादियोंके मतसे घटत्वसामान्यमें भी हेतु रह गया और साध्य भी रह गया, इस कारण व्यभिचार दोषकी सम्भावना नहीं है। सामान्य भी द्रव्यका पर्याय स्वरूप व्यवस्थित है।

अब यहां कोई शब्दको पौद्गलिक सिद्ध करनेवाले हेतुमें पुनः व्यभिचार देता है कि गमन, भ्रमण, आकुञ्चन आदि कर्म भी सत्तासमान्यकी व्याप्य हो रही कर्मत्वजातिसे सहित है, और

बहिरङ्ग चक्षुः स्पर्शन इन्द्रियोंसे भी जाने जाते हैं किन्तु कर्म (परिस्पंदक्रिया) पुद्गलकी पर्याय नहीं है, वैशेषिकोंके मतमें कर्म स्वतन्त्र पदार्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह दोष भी ठीक नहीं है क्योंकि कर्मको भी जीव और पुद्गल द्रव्यकी पर्यायरूपता इष्ट की गयी है। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं किंतु जैनसिद्धान्तमें ये सब जीव आदि द्रव्योंके पर्यायरूप अंश हैं। हेतु रहगया तो साध्य भी ठहर गया।

उक्त कथनके द्वारा स्पर्श, रस, आदि गुणोंकरके भी साभिमान दिया गया व्यभिचार हटा दिया जाता है कारण कि स्पर्श आदि गुण भी स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं किंतु पुद्गलद्रव्यके ही विकार हैं। द्रव्यकी सहभावी पर्यायोंको गुण कहते हैं।

ततो हेतोरसिद्धिरेवेति नातोऽभिलापस्य सर्वगतत्वसाधनं यतो युगपद्भिन्नदेशतयोपलभ्यमानता अस्याबाधिता न भवेत्, प्रत्यभिज्ञानस्य वा तदेकत्वपरामर्शिनोऽनुमानबाधितत्वेन पुरुषव्यापारात्प्राक् सद्भावावेदकत्वाभावात्तदभिव्यंग्यत्वाभाव इति तज्जन्यमेव वचनं सिद्धं पर्यायार्थतः पौरुषेयम्।

नैयायिकों या वैशेषिकोंने शब्दको गुण पदार्थ माना है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच द्रव्योंको वे मूर्त्त मानते हैं। शब्दको अमूर्त्त मानते हैं। यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिकूल वायुसे शब्दका अवरोध हो जाता है। अनुकूल वायुसे शब्दके आनेमें प्रेरणा होती हैं। ढोलकी आवाजमें तूतीकी आवाज छिप जाती है। गुफा आदिमें शब्दका आघात होकर प्रतिध्वनि सुनायी पडती है। महान् शब्दोंसे गर्भ गिर जाते हैं। कान फट जाते हैं। उस कारणसे सिद्ध हुआ कि मूर्त्त शब्द मूर्त्तिमान् पुद्गलद्रव्यकी अनित्य पर्याय है। मीमांसकोंने शब्दको सर्वत्र व्यापक सिद्ध करनेके लिये नित्यद्रव्य होकर अमूर्त्तपना जो हेतु दिया था, वह शब्दरूप पक्षमें न रहनेसे असिद्ध हेत्वाभास ही है। इस हेतुसे शब्दका व्यापकपना जब सिद्ध न हुआ तो जैनोंकी ओरसे शब्दके नानात्वको सिद्ध करनेके लिये दिये गये एक समयमें भिन्न भिन्न देशोंमें सुनायी देनेरूप इस हेतुका बाधारहितपना विशेषण क्यों नहीं सिद्ध होगा ? और जब बाधारहित भिन्नदेशोंमें भी उसी समय नाना व्यक्तियोंको सुनायी देनेसे शब्दमें अनेकपना सिद्ध हो गया तो मीमांसकोंका पुरुषव्यापारसे पहिले भी उसी शब्दके अस्तित्वको सिद्ध करनेवाला प्रत्यभिज्ञान प्रमाण हमारे अनुमानसे बाधित अवश्य हुआ और जब एकत्वको विषय करनेवाला मीमांसकोंका प्रत्यभिज्ञान अनेकत्वको जाननेवाले समीचीन अनुमानसे बाधित हो गया तो पुरुषके शब्दोच्चारणसे पहिले भी शब्दकी विद्यमानताका कोई प्रमाण न होनेसे उस शब्दके व्यञ्जकोंके द्वारा व्यंग्यपनेका भी अभाव हो गया। इस कारण अभिव्यक्तिवादको छोडकर शब्दको उन भाषावर्गणा, कण्ठ, तालु, मृदङ्ग आदिकसे पैदा हुआ ही मानना चाहिए। उक्त युक्तियोंसे शब्द पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे पौरुषेयही सिद्ध हुआ।

वचनसामान्यस्य पौरुषेयत्वसिद्धौ विशिष्टं सूत्रवचनं सत्प्रणेतृकं प्रसिध्यत्येवेति सूक्तं " सिद्धे मोक्षमार्गस्य नेतरि प्रवन्धेन वृत्तं सूत्रमादिमं शास्त्रस्येति "।

जब अक्षरात्मक सभी सामान्य वचनोंको पुरुषोंके प्रयत्नसे जन्यपना सिद्ध होगया तो सूत्रकारके " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " आदि विशेषवचनोंको तो सज्जन आप्तपुरुषोंके द्वारा बनाया जानापन प्रसिद्ध हो ही जाता है। इस प्रकार हमने जो पहिले वार्त्तिकमें कहा था कि मोक्षमार्गके प्राप्त करनेवाले सर्वज्ञके सिद्ध हो जानेपर तत्त्वार्थशास्त्रके आदिका सूत्र प्रवृत्त हुआ अर्थात् समीचीन रचनासे उमास्वामी आचार्य महोदयने बनाया है। यह हमारा कहना बहुत ठीक था।

तथाप्यनाप्तमूलमिदं वक्तृसामान्ये प्रवृत्तत्वाद्दुष्टपुरुषवचनवदिति न मन्तव्यम्, साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे प्रक्षीणकल्मषे चेति विशेषणात्, सूत्रं हि सत्यं सयुक्तिकं चोच्यते 'हेतुमत्तथ्यं' इति सूत्रलक्षणवचनात्, तच्च कथमसर्वज्ञे दोषवति च वक्तरि प्रवर्त्तेत ? सूत्राभासत्व प्रसंगाद्बृहस्पत्यादिसूत्रवत्ततोऽर्थतः सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकमिदं सूत्रं सूत्रत्वान्यथानुपपत्तेः।

उक्त कथनसे शब्द अनित्य सिद्ध होगया, विशेष कर तत्त्वार्थसूत्र को भी पौरुषेयपना सिद्ध हो चुका। ऐसी दशामें फिर भी कोई पूर्वपक्ष करता है कि जैनों का अनित्य सिद्ध करना तो ठीक है किंतु यह तत्त्वार्थसूत्र सत्यवक्ता पुरुषोंको मूल कारण मानकर पैदा नहीं हुआ। साधारण बोलनेवाले मनुष्यने ही सूत्र को बनाकर प्रवृत्ति में लादिया है, जैसे कि झूंठ बोलनेवाले, चोरी करनेवाले दोषी पुरुष अण्टसण्ट बातें गढ दिया करते हैं। यहाँ आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार पूर्वपक्षीको नहीं मानना चाहिये क्योंकि हमने मोक्षमार्गके प्राप्त करानेवाले आदिसूत्रके वक्तामें दो विशेषण माने हैं। प्रथम तो आदिवक्ताका गुण केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रत्यक्ष कर चुकना है। तथा दूसरा विशेषण ज्ञान, दर्शन, वीर्य, चारित्र और सुख को घातनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय कर देना है। जब कि यह ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र है और सूत्र नियमसे वह कहा जाता है जो अर्थोंका युक्तिसहित सत्यरूपसे निरूपण करे। अन्य ग्रंथोंमें भी सूत्रका यही अर्थ कहा है कि 'तर्क और हेतुवाला होकर जो यथार्थमें सत्य हो'। उक्त लक्षण से सहित तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ किस प्रकार अल्पज्ञ और दोषयुक्त वक्ताके होने पर प्रवृत्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं। असर्वज्ञ, दोषी, उत्सूत्रभाषी वक्ताके द्वारा कहा हुआ वचन सूत्र न होकर सूत्राभास (कुसूत्र) ही होगा। बृहस्पति, खरपट, आदिके सूत्रसमान तत्त्वार्थसूत्रको भी सूत्राभासपनेका प्रसङ्ग आजावेगा अर्थात्—जैसे कि चार्वाकदर्शन बृहस्पति ऋषिने बनाया है उन्होंने स्वतंत्र आत्मा तत्त्व नहीं माना है। स्वर्ग, नरक, परलोक, पुण्य, पाप, नहीं माने हैं। संसारपरिपाटीको पुष्ट किया है। मोक्षमार्गका ज्ञान नहीं कराया और काम-पुरुषार्थको पोषनेवाले वात्स्यायन ऋषिने कामसूत्र बनाया है। उसमें उद्यानगमन, जल-

क्रीडा और कामकी नाना कुचेष्टाओंका राग बढानेवाला वर्णन किया है जो कि इहलोक और परलोकका धर्मनाशक होते हुए व्यवहारमें भी अतीव निंद्य है। खरपटने हिंसा करनेका उपदेश दिया है। तभी तो ऐसी पुस्तकोंका प्रचार न्यायी राजाने रोक दिया है। उस कारणसे सूत्रका सूत्रपना तत्त्वार्थसूत्रमें ही घटता है।

यह तत्त्वार्थसूत्र अपने पद, वाक्यों, की रचनासे यद्यपि उमास्वामी महाराजने बनाया है किंतु इसके वाच्य-प्रमेयका अर्थ सर्वज्ञ गुरुकी ज्ञानधारासे ही चला आरहा है, अतः इस सूत्र का वाच्यार्थ सर्वज्ञ और वीतराग वक्ताके द्वारा ही बनाया गया है कारण कि अन्यथा इसमें सूत्रपनाही नहीं बन सकता है। अतः यह ग्रंथ सूत्र अवश्य है।

गणाधिपप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवल्यभिन्नदशपूर्वधरसूत्रेण स्वयं सम्मतेन व्यभिचार इति चेन्न तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वसिद्धेरर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैर्ग्रथितमिति वचनात्। एतेन गृध्रपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता।

यहां पुनः शंका है कि चार ज्ञानके धारी तथा तीर्थंकर भगवान्के प्रधान शिष्य गणधरदेव और इस जन्ममें तत्त्वार्थदेशनाके विना जो स्वयं ही तत्त्वज्ञानी होकर अनेक सिद्धांत शास्त्रोंके रहस्यको जाननेवाले प्रत्येकबुद्ध मुनि तथा संपूर्ण द्वादशाङ्गके जाननेवाले श्रुतकेवली महाराज एवं ग्यारह अंग और विघ्नबाधाओंको सहकर पारंगत हुये पूर्ण दशपूर्वके धारी सम्यग्ज्ञानी ऋषि भी सूत्रोंको बनाते हैं, आप जैनोंने उन सूत्रोंको सच्चा सूत्रपना भी समीचीन माना है किंतु वे सूत्र सर्वज्ञ तीर्थंकरके तो बनाये हुये नहीं हैं, अतः जो जो सूत्र होते हैं, वे वे सर्वज्ञ वीतरागके बनाये हुए होते हैं, इस व्याप्तिमें व्यभिचार हुआ। आचार्य कहते हैं, कि ऐसी शंका तो ठीक नहीं है, कारण कि गणधरदेव आदिके द्वारा बनाये हुए उन ग्रंथोंका अर्थ भी सर्वज्ञ वीतराग देवके द्वारा ही बनाया गया प्रतिपादन किया जाचुका सिद्ध है, पूर्वाचार्योंने ऐसा ही कहा है कि 'अर्हन्त देवके द्वारा भाषित-अर्थोंको ही गणधरदेवोंने द्वादशाङ्ग ग्रंथरूपसे गूंथा है'। जैसा कि कोई मालाकार पुष्पोंकी माला बनाता है। उसमें पुष्पोंकी इधर उधर योजना करना ही मालाकारका प्रयत्नसाध्य कार्य है, पुष्पोंका निर्माण करना मालाकारके हाथका कार्य नहीं है। अतः अर्थकी अपेक्षासे भावसूत्रोंका बनाना सर्वज्ञ अर्हन्तका ही कार्य है। भले ही शब्दयोजना गणधर आदिकोंने की हो। इस पूर्वोक्त कथनसे दूसरे गृध्रपिच्छ नामको धारण करनेवाले मुनि उमास्वामी आचार्यपर्यंत मुनियोंके सूत्रोंसे भी व्यभिचार दोष दूर होगया अर्थात् अर्थरूपसे तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ गुरुपरिपाटीसे चला आरहा है किंतु ग्रंथरूपसे उमास्वामी महाराजने रच दिया है। और इसके पूर्वके ग्रंथ भी सर्वज्ञधारासे बनाये गये समझने चाहिये।

प्रकृतसूत्रे सूत्रत्वमसिद्धमिति चेन्न सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेन तथास्य सूत्रत्वप्रसिद्धेः

सकलशास्त्रार्थाधिकरणाच्च । न हि मोक्षमार्गविशेषप्रतिपादकं सूत्रमस्मदादिप्रत्यक्षेण बाध्यते तस्य तदविषयत्वात्, यद्धि यदविषयं न तत्तद्वचसो बाधकं, यथा रूपाविषयं रसनज्ञानं रूपवचसः, श्रेयोमार्गविशेषाविषयं चास्मदादिप्रत्यक्षमिति ।

कोई कहता है कि इस प्रकरणप्राप्त तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथमें युक्तिसहित सत्य अर्थको प्रतिपादन करना रूप सूत्रका लक्षण घटता नहीं है यों सूत्रपना असिद्ध हुआ। आचार्य कहते हैं कि यह उसका कहना तो ठीक नहीं है, जब कि इस सूत्रके वाच्य प्रमेयोंमें बाधकप्रमाणोंके न होनेका भले प्रकार निश्चय है उस कारण इस ग्रंथको वैसा सूत्रपना प्रमाणसिद्ध ही हुआ। सूत्रपनेमें दूसरा हेतु यह है कि यह तत्त्वार्थसूत्र सम्पूर्ण शास्त्रोंके प्रतिपाद्य अर्थोंका मूल आधार है । अथवा तत्त्वार्थसूत्रका पहिला " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " यह सूत्र भविष्यके दश अध्याय रूप पूर्ण ग्रंथका मूल आधार है, यानीं पहिले सूत्रकी भित्तिपर ही दश अध्याय रचे गये हैं ।

अब इस सूत्रका अबाधितपना सिद्ध करते हैं कि अनेक मतावलम्बियोंके अकेले ज्ञान आदिको मोक्षका मार्ग बतानेवाले अयुक्तिकवाक्योंसे असंतुष्ट हुए अनेक शिष्योंके मोक्षमार्गविषयक प्रश्नोंके उत्तरमें उमास्वामी महाराजके द्वारा सयुक्तिक सत्य कहा गया मोक्षमार्गका विशेषरूपसे प्रतिपादन करनेवाला यह सूत्र हम लोगोंके प्रत्यक्षसे तो बाधित होता नहीं है क्योंकि इस सूत्रका प्रतिपाद्य अर्थ उस मतिज्ञानरूप हमारे प्रत्यक्षका विषय ही नहीं है। यह व्याप्ति बनी हुई है कि जो ज्ञान जिस प्रमेयको विषय ही नहीं करता वह ज्ञान उस प्रमेयके प्रतिपादन करनेवाले वचनका बाधक नहीं होता है, जैसे कि रूपको न जानता हुआ रसनेन्द्रिय जन्य मतिज्ञान काले, नीले, रूपको कहनेवाले वचनका बाधक नहीं होता है । इसी प्रकार विशेष मोक्षमार्गको नहीं विषय करनेवाला हम लोगोंका प्रत्यक्ष भी उस सूत्रके वाच्यार्थका बाधक नहीं हो सकता है ।

एतेनानुमानं तद्बाधकमिति प्रत्युक्तं तस्यानुमानविषयत्वात्, श्रेयोमार्गसामान्यं हि तद्विषयो न पुनस्तद्विशेषः प्रवचनविशेषसमधिगम्यः । प्रवचनैकदेशस्तद्बाधक इति चेन्न तस्यातिसंक्षेपविस्ताराभ्यां प्रवृत्तस्याप्येतदर्थाऽनतिक्रमस्तद्बाधकत्वायोगात् पूर्वापरप्रवचनैकदेशयोरन्योन्यमनुग्राहकत्वसिद्धेश्च ।

इस पूर्वोक्त कथनसे अनुमानको भी मोक्षमार्गके प्रतिपादक सूत्रके बाधकपनेका खण्डन कर दिया गया है क्योंकि उपलम्भ और अनुपलम्भरूप मतिज्ञानसे उत्पन्न हुये व्याप्तिज्ञानके बलपर पैदा हुआ अनुमान विचारा उस अतीन्द्रिय मोक्षमार्गको विषय नहीं कर सकता है। यद्यपि अनेक हेतु ऐसे भी हैं जिनसे कि अतीन्द्रिय साध्य भी जान लिये जाते हैं, जैसे कि श्वास आदिके चलनेसे आत्माका ज्ञान, या लोक, अलोकके विभागसे धर्म, अधर्म द्रव्यका ज्ञान हो जाता है, तो भी उक्त

अनुमानोंके द्वारा सामान्यरूपसे ही साध्योंका ज्ञान होता है। यहां भी किसी अविनाभावी हेतुसे मोक्षमार्गका सामान्यरूपसे ही ज्ञान तो हो सकता है, विशेषरूपसे ज्ञान नहीं हो सकता है अतः सामान्यरूपसे मोक्षमार्गको जाननेवाला अनुमान प्रकृतका बाधक नहीं है प्रत्युत साधक ही है। जो कि विशेष मोक्षमार्ग, सर्वज्ञाम्नात विशेष आगमसे ही अच्छा जानने योग्य है। पुनः किसीका आक्षेप है कि कितने ही शास्त्र ऐसे हैं, जो सम्यग्ज्ञानका ही प्रधानरूपसे निरूपण करते हैं, जैसे कि न्यायशास्त्र। और कोई कोई शास्त्र चारित्रको ही प्रधान मानकर प्ररूपण करते हैं, जैसे कि श्रावकाचार यत्याचार। तथा कोई सम्यग्दर्शनकी मुख्यतासे ही प्रमेयका प्रतिपादन करते हैं, जैसे कि निश्चय सम्यग्दर्शनका समयसार, पंचाध्यायी आदि। व्यवहारसम्यग्दर्शनका कतिपय प्रथमानुयोगके ग्रन्थ और भक्तिप्रधान स्तोत्र। ऐसी दशामें किसी किसी शास्त्रके द्वारा जाने गये और शास्त्रके एक देश अर्थात् कतिपय श्लोकोंमें प्रतिपादन किये गये केवल सम्यग्दर्शनको या उत्तम क्षमा, ब्रह्मचर्य, अनेकान्त ज्ञानको ही मोक्षका मार्ग बतानेवाला आगम " चारित्तं खलु धम्मो " दंसणभट्टा ण सिज्झंति " आदि तो उन तीनोंको मोक्षमार्ग बतानेवाले वचनका बाधक हो जावेगा? ग्रंथकार कहते हैं कि यह शंका तो ठीक नहीं हैं, सुनिये, समझिये।

जैनसिद्धांत अनेकान्तात्मक हैं, तीनोंको मोक्षमार्ग प्रतिपादन करनेसे सात भंग हो जाते हैं। केवलसम्यग्दर्शन १, सम्यग्ज्ञान २, सम्यक्चारित्र ३, सम्यग्दर्शन ज्ञान ४, सम्यग्दर्शन चारित्र ५, सम्यग्ज्ञान चारित्र ६, और सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र ७। अभेदसंबन्धसे इन सातोंको मोक्षमार्गपना है। जिस समय सम्यग्दर्शन है उस समय आत्मोपलब्धि या भेदविज्ञान अवश्य है। साथमें स्वरूपाचरण चारित्र भी हैं। जब देखोगे तीनोंका जुद ही मिलेगा। दर्शनप्राभृत आदि ग्रन्थोंके " सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं। ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं, दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं " " न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् " इत्यादि सम्यग्दर्शनको प्रधानतासे कहनेवाले वाक्य, तथा "बोधिलाभ एव शरणम्" "चारित्रमेव पूज्यम्" "केवलज्ञानिनोऽपि पूर्णचारित्रमन्तरा न परममुक्तिः " इत्यादि ज्ञान या चारित्रको मुख्यता देनेवाले भी वाक्य तीनोंके अविनाभावको ही पुष्ट करते हैं। क्वचित् अत्यंत संक्षेपसे भले ही उस एक गुणका वर्णन किया है किंतु शेष गुण भी गतार्थ हो जाते हैं। कर (सूँड) युक्तको करी (हाथी) कहते हैं। इस कथनमें हाथीके पैर, पेट, पूंछ आदि अंगोपांग भी गम्यमान हैं और कहीं अधिक विस्तारसे एक गुणकी ही व्याख्या करनेके लिए शास्त्रोंके प्रकरण रचे गये प्रवृत्तिमें आ रहे हैं। वे सभी इस मोक्षमार्गके त्रित्वरूप अर्थका उल्लंघन नहीं करते हैं। अतः सब आगमके कोई भी वाक्य यहां बाधक नहीं है। शास्त्रके आगे पीछेके एक एक देशविषयको निरूपण करनेपर वे परस्परमें अनुग्रह करनेवाले ही सिद्ध होंगे। एक दूसरेके बाधक नहीं हो सकते हैं, इस कारण सम्यग्दर्शन आदि

तीनोंको मोक्षमार्ग बतानेवाला पहिला सूत्र प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमबाधित नहीं हैं।

यथा चाधुनात्र चास्मदादीनां प्रत्यक्षादि न तद्बाधकं तथान्यत्रान्यदान्येषां च विशेषाभावादिति सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वमस्य तथ्यतां साधयति, सा च सूत्रत्वं, तत्सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वमिति निरवद्यम् प्रणेतुः साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थतया प्रक्षीणकल्मषतया च विशेषणम्।

ऐसी व्यवस्था होनेपर कोई कहे कि आज कल यहाँके मनुष्योंके प्रत्यक्ष आदिक भले ही त्रित्वमें बाधक न हों किंतु देशांतर कालांतरके विशिष्ट पुरुषोंके प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तो मोक्षमार्गके बाधक होजावेंगे ? श्रीविद्यानंद स्वामी कहते हैं कि यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार इस देशमें तथा इस कालमें हम लोगों के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण उस सम्यग्दर्शन आदि त्रिकके मोक्षमार्गपनेमें बाधक नहीं है उसी प्रकार भिन्नदेश, भिन्नकालके अन्यजनोंके भी प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण उस त्रित्वके बाधक नहीं हैं। क्योंकि इस काल, इस देश के, हम लोगोंसे, उस काल, उस देशके जानने वाले मनुष्यों का मोक्षमार्ग जानने में कोई अंतर नहीं है। देश, कालके बदल जाने से प्रत्यक्ष आदिक ज्ञानकी जातियोंमें फेर फार नहीं होता है। इस प्रकार सूत्रमें बाधकप्रमाणों के असम्भव हो जानेका निश्चय सिद्ध होता हुआ इस सूत्रको सत्यपनेकी सिद्धि करा देता है। और जब सूत्र सत्य सिद्ध हो चुका तो सत्यतासे वह सूत्र सर्वज्ञ, वीतराग का बनाया हुआ है यह भी ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार आदिसूत्रको बनानेवाले मोक्षमार्गके नेताका केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वोंका प्रत्यक्ष जान चुकना और घाति कर्मोंका नाश कर चुकना ये दोनों विशेषण पूर्व वार्तिकमें दिये हुए दोषरहित सिद्ध हैं क्योंकि कर्मोंका क्षय करनेवाले सर्वज्ञ वीतराग ही अर्थरूपसे सत्यसूत्रों को बना सकता है।

मुनीन्द्रसंस्तुत्यत्वविशेषणं च विनेयमुख्यसेव्यतामंतरेण सतोऽपि सर्वज्ञवीतरागस्य मोक्षमार्गप्रणेतृत्वानुपपत्तेः। प्रतिग्राहकाभावेऽपि तस्य तत्प्रणयने अधुनायावत्तत्प्रवर्त्तनानुपपत्तेः।

तथा गम्भीर अर्थ के प्रतिपादक सूत्रको बनानेवाले सर्वज्ञका मुनीन्द्रोंसे भली प्रकार स्तवन किये जानारूप विशेषण भी निर्दोष सिद्ध है। क्योंकि प्रधान शिष्योंसे सेवा किये गये बिना वीतराग भी होकर परमगुरु सर्वज्ञदेव मोक्षमार्गका प्रणयन नहीं कर सकते हैं। भगवान्के उपदेश को झेलनेवाले विनीत बुद्धिमान् शिष्योंके न होते हुए भी यदि भगवान् उस मोक्षमार्गके प्रणयन करनेवाले सूत्रका उपदेश दे देते तो धाराप्रवाहसे उपदेशका आज तक प्रवर्त्तन हो नहीं सकता था, अर्थात् विना ठीक ग्रहण करने वाले शिष्योंके उस उपदेशको आज तक कोई

भी नहीं जा सकता है। बडे बडे मुनींद्र जब सर्वज्ञकी स्तुति करते थे तभी भगवान् मोक्षमार्गका उपदेश निर्माण करते थे।

तत एवोपयोगात्मकस्यात्मनः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य विनेयमुख्यस्य प्रतिपित्सायां सूत्रं प्रवृत्तमित्युच्यते।

उसही कारणसे हमने पूर्ववार्तिकमें कहा है कि ज्ञानदर्शनोपयोगी आत्माकी कैवल्यप्राप्तिरूप मोक्षसे भविष्यमें संयुक्त होनेवाले शिष्यजनोंमें प्रधान गणधरदेवकी तत्त्वोंके जाननेकी बलवती इच्छा होनेपर यह सूत्र प्रवृत्त होता है। अर्थात् शिष्योंकी जानने, सुननेकी विशेष इच्छा होनेपर ही तीर्थंकर सर्वज्ञने यथार्थ सत्य सूत्रका अर्थरूपसे प्रतिपादन किया है।

सतोऽपि विनेयमुख्यस्य यथोक्तस्य प्रतिपित्साभावे श्रेयोधर्मप्रतिपत्तेरयोगात् प्रतिग्राहकत्वासिद्धेरिदानीं यावत्तत्सूत्रप्रवर्त्तनाघटनात्। प्रवृत्तं चेदं प्रमाणभूतं सूत्रं तस्मात्सिद्धे यथोक्ते प्रणेतरि यथोदितप्रतिपित्सायाञ्च सत्यामिति प्रत्येयम्।

भविष्यमें कल्याणसे युक्त होनेवाले ज्ञानोपयोगात्मक प्रधान शिष्योंके विद्यमान होनेपर भी यदि उनकी समझनेकी इच्छा नहीं है तो उनको कल्याणकारी मोक्षसाधक धर्मका श्रद्धान नहीं हो सकता है। ऐसी दशामें वे उपदेशको ग्रहण करनेवाले भी सिद्ध नहीं होते जाते हैं और विना इच्छाके जब उन्होंने भगवान् का उपदेशही ग्रहण नहीं किया तो आज इस समय तक इस सूत्ररूप उपदेशका प्रवर्तन भी नहीं बन सकेगा, किन्तु सूत्रका उपदेश बराबर आ रहा है। अतः उक्त व्यतिरेकव्याप्तिसे यह सिद्ध हुआ कि आज तक यह प्रमाणभूत सत्यसूत्र धाराप्रवाहसे चला आ रहा है। उस कारण वार्तिक उक्ति अनुसार पहिले कहीं गयी। यह सूत्र मुनींद्रोंसे स्तवनीय हो रहे सर्वज्ञ, वीतराग तीर्थंकरका ही बनाया हुवा है। और तीर्थंकरने भी पहिले कही गयी मोक्षमार्गके चाहनेवाले विनीत शिष्यजनोंकी जाननेकी प्रबल इच्छा होनेपर ही अपनी दिव्यभाषासे उस सूत्रका प्रणयन किया है। यह दृढरूपसे निश्चय रखना चाहिये।

नन्वपौरुषेयाम्नायमूलत्वेऽपि जैमिन्यादिसूत्रस्य प्रमाणभूतत्वासिद्धेर्नेदं सर्वज्ञवीतदोषपुरुषप्रणेतृकं सिद्ध्यतीत्यारेकायामाह।

यहां मीमांसकोंका आक्षेपसहित कहना है कि मोक्षमार्गके निरूपण करनेवाले "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" इत्यादि जैमिनि आदि ऋषियोंके सूत्र भी अनादि आम्नायसे चले आ रहे अपौरुषेयवेदको आधार मानकर ही बनाये गये हैं। तभी उनमें प्रमाणिकपना सिद्ध है। अतः आप जैनोंके इस सूत्रका सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर पुरुषसे बनाया जानापन सिद्ध नहीं हो पाता है। यदि आप अपने सूत्रको प्रमाणभूत सत्य सिद्ध करना चाहते हैं तो

इसका भी मूलकारण वेदही मानना चाहिये । ऐसी आशंका होनेपर विद्यानन्द आचार्य उत्तर देते हैं:—

नैकान्ताकृत्रिमाम्नायमूलत्वेऽस्य प्रमाणता, तद्व्याख्यातुरसार्वज्ञ्ये रागित्वे विप्रलम्भनात् ॥४॥

आपके द्वारा एकान्तरूपसे अनादिनिधन माने गये ऋग्वेद आदिको मूल मानकर बताये गये " अथातो " आदि इस सूत्रको प्रमाणता नहीं है, क्योंकि उस वेदका व्याख्यान करनेवाला असर्वज्ञ और रागी ही माना जावेगा । मीमांसक लोग सर्वज्ञको तो मानते नहीं हैं, अतः रागी द्वेषी अज्ञानी वक्ताओंके द्वारा वेदके अर्थका भिन्न भिन्न विपरीतप्रकारसे भी प्रतिपादन और प्रवर्त्तन कराया जावेगा, तथा च अप्रमाणपना आवेगा, श्रोताजनोंको धोका होजायगा ।

सम्भवन्नपि ह्यकृत्रिमाम्नायो न स्वयं स्वार्थं प्रकाशयितुमीशस्तदर्थे विप्रतिपत्त्यभावानुषंगादिति तद्व्याख्यातानुमन्तव्यः। स च यदि सर्वज्ञो वीतरागश्च स्यात्तदाम्नायस्य तत्परतन्त्रतया प्रवृत्तेः किमकृत्रिमत्वमकारणं पोष्यते, तद्व्याख्यातुरसर्वज्ञत्वे रागित्वे वाश्रीयमाणे तन्मूलस्य सूत्रस्य नैव प्रमाणता युक्ता, तस्य विप्रलम्भनात् ।

यद्यपि वर्णपदवाक्यात्मक वेद कैसे भी नित्य सिद्ध नहीं है, फिर भी अस्तुतोषन्यायसे वेदको सम्भवतः अकृत्रिम भी मान लिया जाय तो भी वह वेद अपने आप तो अपने अर्थका प्रकाशन करनेमें समर्थ नहीं है । यदि उच्चारण मात्रसे ही वेद अपने निर्णीत अर्थको प्रतिपादन करा देता तो श्रोताओंको उसके भावना, विधि, नियोग आदि नाना अर्थोंमें विवाद पैदा न होता किंतु अनेक मतावलम्बी वेदसे खैंच तानकर अपने मन चाहे अर्थोंको निकाल रहे हैं । अद्वैतवादी वेदके लिङ् लकारका अर्थ विधिरूप सत्ता करते हैं, तथा मीमांसकोंमें भट्ट उसका भावना अर्थ मानते हैं, प्रभाकर नियोग अर्थ मानते हैं । इसी प्रकार सर्वज्ञको कहनेवाली " यः सर्वज्ञः स सर्ववित् " आदि श्रुतियोंसे नैयायिक लोग ईश्वरको सर्वज्ञताका अर्थ निकालते हैं और मीमांसकलोग उसको कर्मकाण्डकी स्तुति करनेवाला अर्थवाद वाक्य मानते हैं। यदि वैदिक शब्द स्वयंही अपने अर्थको कह दिया करते तो यह विवाद क्यों पडता ? । अतः आपको वेदके शब्दोंका व्याख्यान करनेवाला कोई पुरुष अवश्य मानना पडेगा, यदि वह व्याख्याता सर्व पदार्थोंको प्रत्यक्ष करनेवाला और रागद्वेषरहित है, तब तो वेद उसके अधीन होकर ही प्रवृत्त होगा, ऐसी दशामें विनाकारण वेदका किसीसे न बनाया जानापन क्यों पुष्ट किया जाता है ? उसे सर्वज्ञसे बताया हुआ मानना ही अच्छा है । मीमांसकोंका विचार है कि प्रायः वक्ता रागी, द्वेषी, अज्ञानी, होते हैं । सराग वीतरागके निर्णयके लिये हमारे पास कोई कसौटी नहीं है, अतः सब ज्ञानोंके आदि कारण वेदको अनादि, अकृत्रिम माना गया है, यह मीमांसकोंका विचार ठीक नहीं है क्योंकि उनको वेदका व्याख्यान करनेवाला तो सर्वज्ञ माननाही पडेगा उसकी अपेक्षा तो सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित वेदको कृत्रिम माननाही अच्छा है ।

यदि वेदका व्याख्यान करनेवाला असर्वज्ञ और रागी है ऐसा पक्ष ग्रहण करोगे तो उस वेदको मूल मानकर बनाये गये मीमांसकोंके दर्शनसूत्रोंको उचित प्रमाणता नहीं आसकती है, कारण कि दोषी, रागी, अज्ञानी के वेदव्याख्यानसे श्रोताओंको धोखा होजाता है। जिसका व्याख्याता असर्वज्ञ रागी है, उसके द्वारा व्याख्या किये गये वेदको भित्ति मानकर बनाया गया सूत्र भी विपरीतप्रवृत्ति करानेवाला होगा।

दोषवद्व्याख्यातृकस्यापि प्रमाणत्वे किमर्थमदुष्टकारणजन्यत्वं प्रमाणस्य विशेषणम्। यथैव हि खारपटिकशास्त्रं दुष्टकारणजन्यं तथाम्नायव्याख्यानमपीति तद्विसंवादकत्वसिद्धेर्न तन्मूलं वचः प्रमाणभूतं सत्यम्।

यदि दोषवाले अल्पज्ञ पुरुषोंसे व्याख्यान किये गये वेदको भी प्रमाण मान लोगे तो आपने " तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितं। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् " यहां प्रमाणका निर्दोष कारणोंसे पैदा होना रूप विशेषण किसलिये दिया है? बताओ, जैसे कि खरपटमतके शास्त्रोंमें लिखा हुआ है कि स्वर्गका प्रलोभन देकर जीवित ही धनवान्को मार डालना चाहिये, एतदर्थ काशीकरवत, गङ्गाप्रवाह, सतीदाह आदि कुत्सित क्रियाएं उनके मतमें प्रकृष्ट मानी गयी हैं। किंतु हम और आप मीमांसकलोग उक्त खरपटके शास्त्रको रागी, द्वेषी, अज्ञानी वक्ता रूप दुष्ट कारणसे जन्य मानते हैं अतः अप्रमाण है, वैसेही आपके वेदका द्वेषी, अज्ञानीसे किया गया व्याख्यान भी सफल प्रवृत्तिका कारण होकर विपरीत मार्गमें प्रवृत्त करादेने वाला सिद्ध हुआ अतः ऐसे वेदको मूल मानकर बनाया गया कोई भी वचन प्रमाण होकर सत्य नहीं हो सकता है।

अब अगली वार्तिकका अवतरण करते हैं। कोई शङ्का करता है कि—

सर्वज्ञवीतरागे च वक्तरि सिद्धे श्रेयोमार्गस्याभिधायकं वचनं प्रवृत्तं न तु कस्यचित्प्रतिपित्सायां सत्याम्। चेतनारहितस्यात्मनः प्रधानस्य वा बुभुत्सायां तत्प्रवृत्तमिति कश्चित् प्रत्याह:—

अबतक यह बात तो सिद्ध हुयी कि सर्वज्ञ वीतराग वक्ताके सिद्ध होने पर ही मोक्षमार्गका कथन करनेवाला सूत्र प्रचलित हुआ है, अतः यह सूत्र सर्वज्ञप्रतिपादित होनेसे सादि है किंतु जैनोंने पूर्वमें कहा था कि प्रधान शिष्योंकी जाननेकी तीव्र अभिलाषा होनेपर ही सर्वज्ञने उक्त सूत्र कहा है, ठीक नहीं प्रतीत होता है। अतः बौद्ध कहते हैं कि किसीकी भी समझनेकी इच्छा न होते हुए अकस्मात् यह सूत्र बोल दिया गया है। और नैयायिक कहते हैं कि इच्छा होनेपर तो सूत्र कहा गया है किंतु भिन्न चेतनागुणको समवाय सम्बन्धसे रखनेवाले वस्तुतः चेतनारहित आत्माकी जाननेकी इच्छा होनेपर सूत्र बोल दिया गया है। तीसरे कपिलमतानुयायी कहते हैं कि सत्त्वगुण,

रजोगुण और तमोगुणकी साम्य अवस्थारूप प्रकृतिकी जिज्ञासा होनेपर सूत्र बनाया गया है। इन तीनोंके मंतव्योंको हृदयमें रखकर आशंका करनेवाले शंकाकारके प्रति आचार्य उत्तर देते हैं।

नाप्यसत्यां बुभुत्सायामात्मनोऽचेतनात्मनः।
खस्येव मुक्तिमार्गोपदेशायोग्यत्वनिश्चयात् ॥ ५॥

किसीकी नहीं जाननेकी इच्छा होनेपर यह सूत्र प्रवृत्त नहीं हुआ है और न चेतनारहित जडस्वरूप आत्माकी इच्छा होनेपर यह सूत्र प्रवर्तित हुआ है, तथा प्रधानकी भी इच्छासे सूत्रका बनाना नहीं हो सकता है क्योंकि जैसे सर्वज्ञदेव इच्छारहित अचेतन आकाशको उपदेश नहीं देते हैं, उसी प्रकार उक्त तीनों प्रकारोंमें भी मोक्षमार्गके उपदेश प्राप्त करनेकी आयोग्यताका निश्चय है।

नैव विनेयजनस्य संसारदुःखाभिभूतस्य बुभुत्सायामप्यसत्यां श्रेयोमार्गे परमकारुणिकस्य करुणामात्रात्तत्प्रकाशकं वचनं प्रवृत्तिमदिति युक्तं, तस्योपदेशायोग्यत्वनिर्णीतेः।

संसारके दुःखोंसे सताये गये शिष्यजनोंकी मोक्षमार्गविषयमें जाननेकी इच्छा न होनेपर उत्कृष्ट करुणाके धारी भी भगवान्का केवल करुणासे ही मोक्षमार्गके प्रकाश करनेवाला वचन प्रवर्त्तित हो गया है, यह उचित नहीं है, क्योंकि " महिष्यग्रे वीणावादनवत् " जाननेकी इच्छाके बिना कोई भी पुरुष सद्वक्ताके उपदेशग्रहणके योग्य नहीं है, ऐसा निर्णय हो रहा है।

नहि तत्प्रतिपित्सारहितस्तदुपदेशाय योग्यो नामातिप्रसंगात्, तदुपदेशकस्य च कारुणिकत्वायोगात्। ज्ञात्वा हि बुभुत्सां परेषामनुग्रहे प्रवर्त्तमानः कारुणिकः स्यात्। क्वचिदप्रतिपित्सावति परप्रतिपित्सावति वा तत्प्रतिपादनाय प्रयतमानस्तु न स्वस्थः।

जो श्रोता तत्त्वज्ञानको समझनेकी अभिलाषा नहीं रखता है, वह उपदेशके लिये सर्वथा योग्य नहीं है। यदि विना इच्छाके ही आचार्य उपदेश देते फिरें तो उनको कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, सुप्त, उन्मत्त पुरुषोंके लिये भी उच्च सिद्धान्तका उपदेश दे देना चाहिये, यह अति प्रसङ्ग हो जायगा।

जो पात्रका विचार न करके कोरी दयासे उपदेश दे देते हैं, उन उपदेशकोंको करुणायुक्त नहीं कहना चाहिये, अर्थात् अविचारितपनेसे की गयी दया कहीं कहीं हिंसासे बढकर है, वस्तुतः वह दया ही नहीं है दयाभास हैं। जैसे कि अग्निसे भुरसे हुए के ऊपर ठण्डा पानी डाल देना या आतुर रोगीको अपथ्य दही, ककडी, आदि दे देना, उसही प्रकार अनाकांक्षा होनेपर भी उपदेश देनेवाला भी दयावान् नहीं है। अन्धे कुएमें आहार या रुपया डालनेसे कोई दानी नहीं हो सकता है। दूसरोंकी तत्त्वग्रहण करनेकी इच्छाको समझकर ही परोपकारमें प्रवृत्ति करनेवालेको दयावान्

कहा है । जो उपदेशक विना इच्छा रखते हुए पुरुषोंके निमित्त प्रतिपादन कर रहा है वह आपेमें नहीं है, तथा देवदत्तकी इच्छा होनेपर जिनदत्तको उपदेश देनेके समान कपिलमतानुयायिओंके मतमें प्रकृतिकी इच्छा होनेपर आत्माके लिये उपदेश देनेका प्रयत्न करना भी आपे (होश) में रहनेवाले विचारक मनुष्यका कार्य नहीं है।

परस्य प्रतिपित्सामन्तरेणोपदेशप्रवृत्तौ तत्प्रश्नानुरूपप्रतिवचनविरोधश्च ।

जो वक्ता दूसरे सुननेवालेकी इच्छाके विना उपदेश देवेगा । वह श्रोताके प्रश्नोंके अनुकूल वचन बोलेगा यह बात विरुद्ध है । अर्थात् वक्ताका बोलना तभी सफल है जबकि वह श्रोताके प्रश्नोंके अनुसार भाषण करै । यदि श्रोता विना इच्छाके ठूँठ सा बैठा हुआ है तो ऐसी दशामें उपदेश देनेका ही विरोध है । अथवा वया पक्षीका वन्दरके प्रति उपदेश देनेके समान वह दुष्फ-लका बीज होगा यह अर्थ भी चशब्दकरके समुचित कर लिया जाता है ।

योऽपि चाज्ञत्वान्न स्वहितं प्रतिपित्सते तस्य हि तत्प्रतिपित्सा करणीया ।

यहाँ कोई कहे कि तत्त्वज्ञानके जाननेकी इच्छा या मोक्षमार्गके समझनेकी अभिलाषा जीवको तभी हो सकती है जबकि उसको हेयोपादेय समझनेकी कुछ योग्यता होवे । जब कि वह निपट गँवार मूर्ख पशुके समान है जो अज्ञान होनेसे अपना हित ही नहीं समझना चाहता है ऐसे पुरु-षको उसकी इच्छाके विना भी उपदेश दे देना दयावानोंका कार्य है। इस पर आचार्योंका कहना है कि जो पुरुष मूर्खतावश अपने हितको नहीं समझता है या समझना नहीं चाहता है उसको प्रथम तत्त्वज्ञान जाननेकी इच्छा पैदा करानी चाहिये । हितमार्गका उपदेश पीछे दिया जावेगा ।

न च कश्चिदात्मनः प्रतिकूलं बुभुत्सते मिथ्याज्ञानादि, स्वप्रतिकूले अनुकूलाभिमा-नादनुकूलमहं प्रतिपित्से सर्वदेति प्रत्ययात् । तत्र नेदं भवतोऽनुकूलं किंत्विदमित्यनुकूलं प्रतिपित्सोत्पाद्यते । समुत्पन्नानुकूलप्रतिपित्सस्तदुपदेशयोग्यतामात्मसात् कुरुते । ततः श्रेयोमार्गप्रतिपित्सावानेवाधिकृतस्तत्प्रतिपादने नान्य इति सूक्तम् ।

कोई भी जीव अपने लिये अनिष्ट पडनेवाले पदार्थको जानना नहीं चाहता है। यद्यपि कभी कभी तीव्र क्रोधके वश होकर जीव अपना घात कर लेता है, विषको खा लेता है, कुएँ में गिर पडता है इत्यादि किंतु इन कार्योंको भी अपने लिये इष्ट समझता हुआ उत्साहसहित अनुकूल ही मान रहा है । मिथ्याज्ञानके वश उसको सर्वदा यही विश्वास रहता है कि यह विषभक्षण ही मेरा इष्टसाधन करनेवाला है । मैं अपने लिये ठीक ही कार्य कर रहा हूँ । यों मिथ्याज्ञानसे भी अपने प्रतिकूल कर्तव्य में अनुकूल पडनेका अभिमान हो जानेसे मैं सदा अपने अनुकूलको समझ रहा हूँ ।

ऐसी दशामें उस मूर्खको यह इच्छा पैदा करा देनी चाहिये कि यह विषभक्षण आदि तुमको अनुकूल नहीं है किन्तु यह जीवित रहना और पुरुषार्थ करना ही तुम्हारे लिये योग्य है। इस प्रकार इष्टसाधन करनेवाली क्रियाओंको समझा कर जब उसको अपने समीचीन इष्टके जाननेकी अभिलाषाएँ अच्छी पैदा हो जावेंगी। तब वह उपदेशकी योग्यताको भी अपने अधीन कर लेगा। बादमें तत्त्वज्ञान और मोक्षमार्गके जाननेकी भी तीव्र इच्छाएँ उसके हृदयमें पैदा हो जावेंगी उस कारणसे हमने पहले यह बहुत ठीक कहा था कि मोक्षमार्गके जाननेकी अभिलाषा रखता हुआ विनीत शिष्यही तत्त्वार्थसूत्रके प्रतिपादन करते समय सुननेका अधिकारी है। दूसरा कोई नहीं।

प्रधानस्यात्मनो वा चेतनारहितस्य बुभुत्सायां न प्रथमं सूत्रं प्रवृत्तं तस्याप्युपदेशा-योग्यत्वनिश्चयात् खादिवत्।

कारिका बोलनेके पूर्व दूसरा, तीसरा आक्षेप यह भी था कि सांख्य आत्माको चेतन मानते हैं और अचेतन प्रकृतिमें इच्छा होना मानते हैं। नैयायिक चेतनाको चौवीस गुणोंमेंसे एक बुद्धि-रूप गुण मानते हैं। और गुणगुणीका सर्वथा भेद स्वीकार करते हैं तथा आत्मामें चेतनाका समवाय संबंध मानते हैं। ऐसी दशामें प्रकृतिको इच्छा होनेपर अथवा चेतनारहित आत्माकी जाननेकी इच्छा होनेपर पहिले सूत्रकी प्रवृत्ति हुई है। यह उनका कहना ठीक नहीं है क्योंकि आकाश, घट, आदिके समान उस स्वयं जडरूप प्रकृति और नैयायिककी स्वतः अचेतन आत्माको भी उपदेश प्राप्त करनेकी अयोग्यताका निश्चय है।

चैतन्यसम्बन्धात्तस्य चेतनतोपगमादुपदेशयोग्यत्वनिश्चय इति चेन्न, तस्य चेतना-सम्बन्धेऽपि परमार्थतश्चेतनतानुपपत्तेः शरीरादिवत्। उपचारात्तु चेतनस्योपदेशयोग्यताया-मतिप्रसङ्गः शरीरादिषु तन्निवारणाघटनात्।

यदि नैयायिक यों कहेंगे कि चेतना (बुद्धि) गुणके सम्बन्धसे आत्माको भी हम चेतन-पना स्वीकार करते हैं और कापिल कहेंगे कि चेतन आत्माके सम्बन्धविशेषसे जड प्रकृति भी चेतन बन जाती है। अतः दोनोंको उपदेश प्राप्त करनेकी योग्यताका निश्चय है। ग्रन्थाकार कहते हैं कि यह उनका विचार तो ठीक नहीं है कारण कि स्वयं जडस्वरूप प्रकृति और आत्माको भिन्न चैतन्य-का सम्बन्ध होते हुए भी वास्तवमें चेतनापना सिद्ध नहीं हो सकता है। यों तो कापिलोंने चेतन आत्माका संबंध शरीर इंद्रिय आदिमें भी माना है और नैयायिकोंने भी स्वाश्रयसंयोग संबंधसे चेत-नाका सम्बन्धीपन शरीर, मन और चक्षु आदि इंद्रियोंमें स्वीकार किया है, क्या एतावता जडशरीर, मन, पुण्य, पाप, आदि भी उपदेशके योग्य हो जावेंगे ?

जपापुष्पके सम्बन्धसे स्फटिकमें वस्तुतः ललाई नहीं आती है, केवल उपाधिजन्य क्रियाका व्यवहार होजाता है, इसी तरहसे नैयायिककी आत्मा और सांख्योंके प्रधानमें चेतनपनेका व्यवहार-मात्र हो सकता है। यदि व्यवहारसे नाममात्रके चेतनको उपदेशकी योग्यता मानोगे तब तो अनेक जड पदार्थोंमें भी उपदेशकी योग्यताका अतिक्रमण करनेवाला प्रसंग आवेगा, अर्थात् शरीर, प्रतिबिम्ब (तसवीर) आदिकोंमें भी उस योग्यताका निषेध नहीं कर सकोगे।

तत्संबन्धविशेषात्परमार्थतः कस्यचिच्चेतनत्वमिति चेत्, स कोऽन्योऽन्यत्र कथञ्चिच्चेतनातादात्म्यात्।

यदि आप नैयायिक या कापिल लोग इन शरीर, इन्द्रिय आदिकमें न रहनेवाले ऐसे किसी विशेषसंबंधसे योग करके किसी आत्मा और प्रधानको वस्तुतः चेतनपना मानोगे तो वह चेतनाका संबंध कथञ्चित्तादात्म्यसंबंधके सिवाय दूसरा क्या होसकता है ? अर्थात् वस्तुतः इच्छा और चेतनाका तादात्म्य रखनेवाला जैनोंसे माना गया आत्मा ही उपदेशके योग्य सिद्ध हुआ।

ततो ज्ञानाद्युपयोगस्वभावस्यैव श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य श्रेयोमार्गप्रतिपित्सायां सत्यामिदं प्रकृतं सूत्रं प्रवृत्तमिति निश्चयः।

उस कारणसे अब तक यह निर्णीत हुआ कि ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभाववाले और कल्याण-मार्गसे निकट भविष्यमें मुक्त होनेवाले ही आत्माकी मोक्षमार्गके जाननेकी अभिलाषा होनेपर प्रकरण-प्राप्त यह पहिला सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

प्रमाणभूतस्य प्रबंधेन वृत्तेः श्रोतृविशेषाभावे वक्तृविशेषासिद्धौ विधानानुपपद्यमानत्वात्।

वार्तिक में पडे हुए प्रवृत्त शब्दका यह अर्थ है कि प्रमाण होकर सत्यस्वरूप यह सूत्र (वृत्त) सर्वज्ञने अपनी रचनासे प्रवर्ताया है कारण कि विशिष्ट (बढिया) श्रोताओंके न होने-पर विशिष्ट वक्ताकी भी असिद्धि है। और जब प्रकाण्ड वक्ता ही न होगा तो सत्य सूत्रोंका बनाना भी सिद्ध नहीं होसकता है अतः यह प्रमाणात्मक सूत्र उत्तम शिष्योंकी गाढी इच्छाके होनेपर ही अर्थरूपसे वीतराग सर्वज्ञदेवने बनाया है।

किं पुनः प्रमाणमिदमित्याह—

अब आगेकी वार्तिकोंका अवतरण देते हैं कि जैनोंने सूत्रको प्रमाणरूप माना है तो क्या वह सूत्र प्रत्यक्ष प्रमाणरूप है या अनुमान प्रमाण अथवा आगम प्रमाणरूप है ? ऐसी शंका होने-पर आचार्य उत्तर देते हैं।

सम्प्रदायाव्यवच्छेदाविरोधादधुना नृणाम् ।
सद्गोत्राद्युपदेशोऽत्र यद्वत्तद्वद्विचारतः ॥ ६ ॥
प्रमाणमागमः सूत्रमाप्तमूलत्वसिद्धितः ।
लैङ्गिकं चाविनाभाविलिंगात्साध्यस्य निर्णयात् ॥ ७ ॥

आज तकके मनुष्योंको गुरुपरिपाटीके अनुसार विरोधरहित चले आये हुए उस सूत्रके अर्थका विच्छेद नहीं हुआ है, जिस प्रकार कि वृद्धपरम्परापूर्वक पंच लोगोंके विचारसे निश्चित होकर चली आयी हुई समीचीन अग्रवाल, खण्डेलवाल, पद्मावतीपुरवाल आदि जातियोंके या पाटणी, सिंह, कासालीवाल आदि गोत्रोंके उपदेश माननेमें यहां कोई बाधा नहीं है, उसी प्रकार प्रकृत सूत्रके भी नहीं टूटी हुई समीचीन प्राचीनधारासे चले आनेमें कोई विरोध नहीं है । यह सूत्र प्रामाणिक सत्यवक्ता पुरुषोंको आधार मानकर प्रसिद्ध हुआ है, उस कारण आगम प्रमाणरूप है, और यह सूत्र हेतुसे उत्पन्न हुआ अनुमान प्रमाणरूप भी है, क्योंकि समीचीन व्याप्तिको रखनेवाले मोक्षमार्गत्व-हेतुसे सम्यग्दर्शन आदि तीनोंकी एकतारूप साध्यका निश्चय किया गया है । वैसे तो शब्दरूप सूत्र पौद्गलिक है किंतु उस शब्दसे अनादि–संकेतद्वारा पैदा हुआ वक्ता और श्रोताका ज्ञान चैतन्यपदार्थ है । यद्यपि शब्द और ज्ञानमें जड तथा चेतनपनेसे महान् अंतर है, फिर भी ज्ञानके पैदा करनेमें शब्दही प्रधान कारण है, अतः शब्द और ज्ञानका घनिष्ट संबंध है । प्रकृतमें सूत्रके ज्ञानरूप भावसूत्रको अनुमान, आगम, प्रमाणरूप माना है ।

प्रत्यक्ष प्रमाण यद्यपि शब्दयोजनासे रहित है, फिर भी दूसरोंको समझानेके लिए उस ज्ञानका स्वरूप शब्दके द्वारा कह दिया जाता है, जैसे 'यह घट है' यह प्रत्यक्षज्ञानका उल्लेख है । इसी प्रकार ज्ञानरूप पदार्थानुमानको भी शब्दके द्वारा कहना पडता है। आगममें तो अनेक अंशोंमें शब्दयोजना लगती ही है। भावार्थ—सूत्र तो ज्ञानरूप ही है, चाहे केवलज्ञानियोंके प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप हो या गणधर आदि ऋषियोंके अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाणरूप होवे, किन्तु ज्ञानको ज्ञानसे साक्षात् जानना सर्वज्ञका ही कार्य है, संसारी जीवोंको शब्दकी सहायता लिये विना कठिन प्रमेयका समझना और समझाना अशक्यानुष्ठान माना गया है । उक्त वार्तिकोंका विद्यानन्द स्वामी अब भाष्य करते हैं ।

प्रमाणमिदं सूत्रमागमस्तावदाप्तमूलत्वसिद्धेः सद्गोत्राद्युपदेशवत् ।

प्रथमही पक्ष, हेतु, दृष्टान्तरूप अवयवोंसे अनुमान बताकर सूत्रको आगमप्रमाणपना सिद्ध करते हैं, यह सूत्र आगमप्रमाण है (प्रतिज्ञा) क्योंकि आप्तपुरुषोंको मूलकारण मानकर आजतक

सिद्ध होरहा है, (हेतु) जैसे कि सच्चे गोत्र, वर्ण, जाति, वंशके वृद्ध परिपाटीसे चले आये हुए उपदेश आगम प्रमाणरूप हैं (अन्वयदृष्टान्त) ।

कुतस्तदाप्तमूलत्वसिद्धिरिति चेत् सम्प्रदायाव्यवच्छेदस्याविरोधात् तद्वदेवेति ब्रूमः ।

सूत्रको आगमप्रमाण माननेमें आप्तको मूल कारण मानकर प्रवृत्त होना हेतु दिया है, वह हेतु सूत्रनामक पक्षमें कैसे सिद्ध है ? अर्थात् वह हेतु असिद्धहेत्वाभास है, ऐसी शंका करोगे तो उसका उत्तर हम ग्रंथकार इस प्रकार स्पष्टरूपसे देते हैं, कि गुरुपरिपाटीके न टूटनेका कोई विरोध नहीं है, कारण कि सर्वज्ञसे लेकर आजतक अव्यवधानरूपसे चली आयी हुयी गुरुपरिपाटीका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे कोई विरोध उपस्थित नहीं हुआ है । जैसे कि वेही जाति, गोत्र, वंश, आदिके कथनव्यवहार आजतक विना किसी रोक टोकके प्रामाणिक पद्धतिसे चले आरहे हैं ।

कथमधुनातनानां नृणां तत्सम्प्रदायाव्यवच्छेदाविरोधः सिद्ध इति चेत् ? सद्गोत्राद्युपदेशस्य कथम् ? । विचारादिति चेत् । मोक्षमार्गोपदेशस्यापि तत एव । कः पुनरत्र विचारः ? सद्गोत्राद्युपदेशे क ? प्रत्यक्षानुमानागमैः परीक्षणमत्र विचारोऽभिधीयते सोमवंशः क्षत्रियोऽयमिति हि कश्चित्प्रत्यक्षतोऽतीन्द्रियादध्यवस्यति तदुच्चैर्गोत्रोदयस्य सद्गोत्रव्यवहारनिमित्तस्य साक्षात्करणात्, कश्चित्तु कार्यविशेषदर्शनादनुमिनोति । तथाऽऽगमादपरः प्रतिपद्यते ततोऽप्यपरस्तदुपदेशादिति संप्रदायस्याव्यवच्छेदः सर्वदा तदन्यथोपदेशाभावात् । तस्याविरोधः पुनः प्रत्यक्षादिविरोधस्यासम्भवादिति, तदेतन्मोक्षमार्गोपदेशेऽपि समानम् ।

यहाँ मीमांसक कहते हैं कि अभी आजकल पर्यन्तके मनुष्योंतक उस आचार्यपरम्पराका विरोधरहित न टूटना कैसे सिद्ध मानोगे ? इस पर जैन कटाक्ष करते हैं कि यदि आप ऐसा कहोगे तो आप ही बतलाइये कि श्रेष्ठ माने गये गर्ग, काश्यप, रघुवंश आदि गोत्रों या जाति आदिके कथनमें भी आपने सम्प्रदायका न टूटना कैसे माना है ? बताओ, यदि आप मीमांसक इसका उत्तर यह देंगे कि श्रेष्ठ गोत्रोंके उपदेशका प्राचीनपुरुषोंकी सम्मतिसे निर्णयात्मक विचार होता हुआ चला आरहा है, तो हम जैन भी कहते हैं कि मोक्षमार्गका उपदेश भी प्राचीन आचार्योंके विचारते रहनेके कारण न टूटता हुआ चला आरहा है । यदि मीमांसक अब यह कहेंगे कि मोक्षमार्गके उपदेशमें प्राचीन पुरुषोंने क्या विचार किया है ? बतलाइये, तो हम जैन भी आप मीमांसकोंके प्रति कहेंगे कि आपके पुरिखाओंने सनाढ्य, गौड, माहेश्वर आदि सच्चे गोत्र, जातियोंके उपदेशमें क्या विचार किया है ? । इसपर आप यही कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों

करके समीचीन परीक्षा करना ही गोत्र आदिके उपदेश में पूर्वपुरुषोंका विचार कहा जाता है वही हम कहते हैं कि कोई मुनिमहाराज अपने अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे ही इस प्रकार निर्णय कर लेते हैं कि यह सोमवंश है। यह नाथवंश है। यह काश्यप गोत्र है। अमुक पुरुष क्षत्रिय वर्णका है। यह वैश्य वर्णका है इत्यादि। जाति और वंश बहिरिन्द्रियोंके विषय नहीं हैं क्योंकि उत्तमवंशोंके व्यवहारका निमित्त कारण उच्चैर्गोत्रकर्मका उदय है और आत्मामें फल देनेवाले उस उच्च गोत्रकर्म का प्रत्यक्ष करना अतींद्रिय प्रत्यक्षसे ही हो सकता है, अतः प्रत्यक्षदर्शी तो गोत्र, जाति, वर्णका साक्षात्प्रत्यक्ष कर लेते हैं। और कोई कोई तो जो प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं, वे उन गोत्र, जाति, वर्णोंके अविनाभावी विशेष विशेष (खास खास) कार्योंके देखनेसे गोत्र आदिका अनुमान कर लेते हैं। कारण कि भिन्न भिन्न जाति, या काश्यप, खण्डेलवाल, अग्रवाल आदि वंशोंमें कोई कोई ऐसा वैयक्तिक कार्य होता है कि विचारवाले पुरुष उन कृत्योंसे उनकी जाति, वर्णोंका शीघ्र बोध कर लेते हैं। भावार्थ—भिन्न भिन्न कुलोंमें कुछ न कुछ विलक्षणपना देखनेमें आता है। गहरा विचार करनेवालोंसे यह बात छिपी हुई नहीं है। कोई तुच्छ पुरुष अच्छा पदस्थ या विशिष्ट धन मिल जानेपर भी अपनी तुच्छता नहीं छोडता है। और उदात्त प्रकृतिका पुरुष दैवयोगसे निर्धन और छोटी वृत्तिमें भी आजाय तो भी अपने बडप्पनको स्थित, कायम, रखता है। ऐसे ही अग्रवाल या पद्मावतीपुरवाल आदि उत्तम जातिओंके समुदित मनुष्योंमें भी कुछ कुछ सूक्ष्म कार्योंमें विशेषता है। जिससे कि आत्मामें सन्तान-क्रमसे आचरणरूप रहनेवाले गोत्र, जाति, वर्णोंका अनुमान हो सकता है। घोडे और कुत्तोंमें इस सजाति सम्बन्ध और जातिसंस्कारसे अनेक गुणदोष देखे गये हैं। अतः निर्णीत हुआ कि बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञानवालोंको विशिष्ट कार्योंसे जाति गोत्र और वर्णोंका अनुमान हो जाता है। तथा अनेक कार्योंमें हमें आगमकी शरण लेनी पडती है। यह ही तेरा पिता है। इसमें सिवाय मातृवाक्यके और क्या प्रमाण हो सकता है। उस मातृवाक्यको भित्ति मानकर आगे भी पिता पुत्र व्यवहारका सम्प्रदाय-सिलसिला चलता है, ऐसे ही अन्य कोई कोई जीव सच्चे शास्त्रोंसे जाति, गोत्र आदिको जान लेते और योंही उनके उपदेशसे दूसरे लोगोंके ज्ञान करनेकी धारा चलती है। इस प्रकार सच्चे वक्ताओंका आम्नाय कभी टूटती नहीं है। अन्यथा यानी यदि गोत्र आदिके उपदेशकी धारा टूट गयी होती तो आजतक सर्वदा उनका उपदेश नहीं बन सकता था। जब कि उक्त प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण उस उपदेशके साधक हैं। बाधक नहीं हैं तो फिर सम्प्रदायके न टूटनेमें प्रत्यक्ष आदिकसे कोई विरोध नहीं है। उसी प्रकार मोक्षमार्गके उपदेशमें भी यह पूर्वोक्त संपूर्ण कथन समानरूपसे घट जाता है। अर्थात् भिन्न भिन्न जीव मोक्षमार्गको भी तीनों प्रमाणोंसे जान सकते हैं।

तथाप्येवंविधविशेषाक्रान्तानि सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षमार्ग इत्यशेषतोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षतो भगवान् परममुनिः साक्षात्कुरुते, तदुपदेशाद्गणाधिपः प्रत्येति, तदुपदेशादप्यन्यस्तदुपदेशाच्चापर इति सम्प्रदायस्याव्यवच्छेदः सदा तदन्यथोपदेशाभावात्, तस्याविरोधश्च प्रत्यक्षादिविरोधस्याभावात् ।

जिस प्रकार जाति, वर्ण, गोत्र आदिके जाननेके लिये जो कुछ विशेषताएं हम लोग देखते हैं और उन विशिष्ट कार्योंसे भिन्न भिन्न कुलोंका अनुमान भी कर लेते हैं, उसी प्रकार मोक्षके मार्ग सम्यग्दर्शन आदिसे जीवोंके कार्योंमें भी शांति संवेग, आस्तिक्य भेदविज्ञान और स्वरूपाचरणकी विशेषतायें आजाती हैं। उन विशेषताओंसे सम्यग्दर्शन आदिको मोक्षमार्गपनेका अनुमान करलेते हैं। तथा साधुओंमें सर्वोत्कृष्ट सर्वज्ञ जिनेंद्र भगवान् अपने केवलज्ञान द्वारा पूर्ण रूपसे सम्यग्दर्शन आदि मोक्षके मार्ग हैं, ऐसा प्रत्यक्ष करलेते हैं। और तीर्थंकर जिनेंद्रके उपदेशसे गणधर देव आगमप्रमाण द्वारा निश्चय करलेते हैं। तथा गणधर देवके उपदेशसे अन्य आचार्य आगमज्ञान करलेते हैं और अन्य आचार्योंके प्रवचन शिष्यपरिपाटीसे अद्यावधि चले आरहे हैं। इस प्रकार मोक्षमार्गके उपदेशका सम्प्रदाय न टूटना सिद्ध है। इसके विना माने दूसरे प्रकारसे आजतक सच्चे वक्ताओंका उपदेश हो ही नहीं सकता था। किंतु मोक्षमार्गका सच्चा उपदेश प्रवर्तित होरहा है। तथा प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोंसे इसमें कोई विरोध आता नहीं है। अतः गोत्र आदिके उपदेशके समान मोक्षमार्गके उपदेशकी सम्प्रदाय न टूटनेमें भी कोई विरोध नहीं है। यहांतक मोक्षमार्गके उपदेशकी आम्नायका न टूटना सिद्ध हुआ।

सद्गोत्राद्युपदेशस्य यत्र यदा यथा यस्याव्यवच्छेदस्तत्र तदा तथा तस्य प्रमाणत्वमपीष्टमिति चेत् मोक्षमार्गोपदेशस्य किमनिष्टम्? केवलमत्रेदानीमेवमसदादेस्तद्व्यवच्छेदाभावात्प्रमाणता साध्यते।

यदि यहां मीमांसक ऐसा कहेंगे कि सच्चे खण्डेलवाल, अग्रवाल, पद्मावती पुरवाल, सेठी, पाटनी, शिरोमणि, आदि गोत्रोंकी जिस स्थानपर जिस कालमें और जिस प्रकारसे जिसकी सम्प्रदायका व्यवधान नहीं हुआ है उस जगह उस कालमें उस प्रकारसे उस गोत्र आदिकी प्रमाणता भी हम इष्ट करते हैं, यदि ऐसा कहोगे तो मोक्षमार्गके उपदेशकी क्या प्रमाणता अनिष्ट है? अर्थात् मोक्षमार्गके उपदेशका भी विदेहक्षेत्रमें सर्वदा विद्यमान होरहे चतुर्थकालमें श्री १००८ तीर्थंकरोंके निरंतर उपदेशसे मोक्षमार्गका व्यवधान नहीं हुआ है और इस भरतक्षेत्रमें भी अवसर्पिणीके चतुर्थ दुःषम सुषमा कालमें तथा उत्सर्पिणीके तृतीय दुष्षम सुषमा कालमें होनेवाले चौबीस

१. तत्रापि—इति मुद्रित पुस्तके.

चौवीस तीर्थंकरोंकी आम्नायसे मोक्षमार्गका उपदेश अटूट सिद्ध है। हां, आप्तमूलत्व हेतुसे सूत्रको आगमप्रमाणरूप सिद्ध करनेवाले पूर्वोक्त अनुमानसे हम केवल इतना ही सिद्ध करते हैं कि इस भरत क्षेत्रमें आज कल पंचमकाल दुःषमामें हम लोगोंको भी वह गुरुपर्वक्रमसे चला आया हुआ मोक्षमार्गका उपदेश आगम प्रमाण रूप है। अन्य क्षेत्रोंमें अब भी और यहां भी अन्य कालोंमें मोक्षके उपदेशका व्यापक रहना सिद्ध है, किंतु प्रकृत अनुमानसे यहां आज कल हम लोगोंके लिये ही सूत्रका आगमप्रमाणरूप सिद्ध करना उपयोगी है।

कपिलाद्युपदेशस्यैवं प्रमाणता स्यादिति चेत् न, तस्य प्रत्यक्षादिविरोधसद्भावात्।

यहां मीमांसक कहते हैं कि इस प्रकार गुरुओंकी धारासे ही यदि मोक्षमार्गके उपदेशको प्रमाणपना मानोगे तो कपिल, जैमिनि, कणादके उपदेश भी इसी प्रकार प्रमाण हो जावेंगे। वे भी अपने सूत्रोंको गुरुधारासे आया हुआ मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उन कपिल आदिके उपदेशोंको प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आदि प्रमाणोंसे विरोध है। भावार्थ—उपदेशोंको आप्तमूलत्व सिद्ध करनेमें सम्प्रदायके अव्यवच्छेदका विरोध न होना रूप हेतु है। वह कपिलादिके उपदेशोंमें घटता नहीं है। यों तो चोरी आदिके उपदेश भी चोर डाँकुओंके उस्तादोंद्वारा चले आ रहे हैं। एतावता क्या वे आप्तमूलक हो जावेंगे ? कभी नहीं। जिस प्रकार आखेट, द्यूत आदिके उपदेश प्रत्यक्ष, अनुमानोंसे विरुद्ध हैं तथा अतिप्राचीन होकर भी मिथ्या हैं, उसी प्रकार जैमिनि, कपिल आदिके पशुवधपूर्वक यज्ञ करना, क्षुधित अवस्थामें दूसरोंका धन बलात्कारसे जबरदस्ती छीनलेना, मोक्षकी अवस्थामें ज्ञान न मानना, आत्माको कूटस्थ या व्यापक स्वीकार करना आदि उपदेश भी प्रमाणविरुद्ध हैं।

नन्वाप्तमूलस्याप्युपदेशस्य कुतोऽर्थनिश्चयोऽस्मदादीनाम् ? न तावत्स्वत एव वैदिकवचनादिवत्पुरुषव्याख्यानादिति चेत्, स पुरुषोऽसर्वज्ञो रागादिमांश्च यदि तदा तद्व्याख्यानादर्थनिश्चयानुपपत्तिरयथार्थाभिधानशंकनात्, सर्वज्ञो वीतरागश्च न सोऽत्रेदानीमिष्टो यतस्तदर्थनिश्चयः स्यादिति कश्चित्।

यहां कोई प्रतिवादी पंडित शंका करता है कि आप्तको मूल कारण मानकर वह उपदेश प्रवर्तित हुआ है, यह बात माननेपर भी उस आप्तके सूत्ररूप उपदेशसे हम लोगोंको उसके अर्थका निश्चय कैसे होगा ? यदि जैनोंकी ओरसे इसका उत्तर कोई इस प्रकार कहेंगे कि उस सूत्रसे विना किसीके समझाये अपने आप ही श्रोताओंको अर्थका बोध होता चला जाता है, यह उत्तर ठीक

नहीं पडेगा। क्योंकि हम मीमांसकोंने जब यह कहा था कि वेदके वाक्य भी अपने आप अर्थज्ञान करा देते हैं, उस समय जैनोंने हमारा खण्डन कर दिया था कि यही (भावना) हमारा अर्थ है और यह (नियोग या विधि) हमारा अर्थ नहीं है, इस बातको शद्ब स्वयं तो अपने आप ही कहते नहीं है। कारण कि शब्द जड हैं। उसी प्रकार आपके " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " ये जडरूप वाक्य भी स्वयं अर्थज्ञान नहीं करा सकते हैं। गौको ले जाओ। घटको लाओ, ये लौकिक वाक्य भी बिना संकेतके अर्थबोध. स्वयं नहीं करा सकते हैं। अन्यथा दो महिनेके बच्चेको भी शब्द सुनकर अर्थज्ञान होजाना चाहिये था, अथवा यह शंका मीमांसककी तरफसे न होकर किसी तटस्थकी ओरसे है। वह वेदके वाक्योंको भी स्वतः अर्थज्ञान करानेवाला नहीं मानता है। यदि स्याद्वादी आप यों कहेंगे कि हम लोगोंको विद्वान् पुरुषोंके व्याख्यान करनेसे प्राचीन उपदेशरूप सूत्रोंके अर्थका निर्णय होजाता है। ऐसी दशामें मैं पूंछता हूं कि वह व्याख्याता पुरुष यदि सर्वज्ञ नहीं है और रागी, द्वेषी है, तब तो उसके व्याख्यानसे अर्थका निश्चय होना असिद्ध है। कारण कि श्रोताओंको रागी और अज्ञानीके कथनमें सत्यार्थकी शंका बनी रहती है। अनेक पुरुष राग और अज्ञानके वश होकर झूंठा उपदेश देते हुए देखे जारहे हैं। इस दोषके निवारणार्थ यदि आप उस सूत्रका व्याख्यान करनेवाला सर्वज्ञ और वीतराग जिनेन्द्र देवको मानोगे तो आपने इस देशमें आजकल जिनेन्द्रदेवका वर्तमान रहना अपनी इच्छासे स्वीकार नहीं किया है। जिससे कि उस सूत्रार्थका निश्चय होसके, यों सूत्रके अर्थका निश्चय कैसे हो सकेगा। बताओ। यहांतक किसी प्रतिवादीकी शंका है।

तदसत्। प्रकृतार्थपरिज्ञाने तद्विषयरागद्वेषाभावे च सति तद्व्याख्यातुर्विप्रलम्भनासम्भवात्तद्व्याख्यानादर्थनिश्चयोपपत्तेः।

तब आचार्य कहते हैं कि किसीकी वह उक्त शंका ठीक नहीं है।

क्योंकि—यद्यपि यहां इस समय केवलज्ञानी नहीं हैं फिर भी प्रकरणमें प्राप्त मोक्षमार्गरूपी अर्थको पूर्ण रूपसे जाननेवाले विद्वान् धाराप्रवाहसे विद्यमान हैं और उस मोक्षमार्ग विषयक बतानेमें उनको राग, द्वेष भी नहीं है। ऐसे व्याख्यान करने वालोंके द्वारा वञ्चना या धोका करना सम्भव नहीं है। प्रत्युत गम्भीर व्याख्यातासे अर्थका निश्चय हो जाना ही सिद्ध है। जो जिस विषयमें रागी, द्वेषी, अज्ञानी नहीं है ऐसा होते संते उस व्याख्याताके व्याख्यानको सर्व जन प्रमाणरूपसे ग्रहण कर लेते

हैं। जैसे कि चतुर वैद्यके उपदेशको रोगी सत्यार्थरूपसे समझ लेता है या छलरहित जौहरीके उपदेशसे अनाडी पुरुष भी रत्नको जान लेता है।

अपौरुषेयागमार्थनिश्चयस्तद्वदस्तु, मन्वादेस्तद्व्याख्यातुस्तदर्थपरिज्ञानस्य तद्विषयरागद्वेषाभावस्य च प्रसिद्धत्वादिति चेत् न।

यहां मीमांसक कहते हैं कि यों तो हमारे किसी पुरुषके द्वारा नहीं बनाये हुए अनादि कालीन वेदरूप आगमके अर्थका निश्चय भी उसी प्रकार विद्वान् व्याख्याताओंके द्वारा हो जावेगा। क्योंकि उस वेदके अर्थका व्याख्यान करनेवाले मनु, याज्ञवल्क, व्यास आदि ऋषियोंको उस वेदके अर्थका पूर्ण ज्ञान था और उनको वेदके विषयमें राग द्वेषका अभाव भी प्रसिद्ध है। ग्रंथकार कहते हैं कि आपका यह कहना तो ठीक नहीं है।

प्रथमतः कस्यचिदतीन्द्रियवेदार्थपरिच्छेदिनोऽनिष्टेरन्धपरम्परातोऽर्थनिर्णयानुपपत्तेः।

कारण कि यदि आपने आद्य अवस्थामें इंद्रियोंसे अतिक्रांत वेदके अर्थको जाननेवाला सूक्ष्म आदि पदार्थोंका प्रत्यक्षदर्शी कोई सर्वज्ञ इष्ट किया होता तब तो उस सर्वज्ञको मूल कारण मानकर मनु आदिको भी वेदके अर्थका ज्ञान परम्परासे हो सकता था। किंतु आप मीमांसक आदि समयमें सर्वज्ञ मानते नहीं हैं; अतः ऐसी अंधपरम्परासे अर्थका निर्णय हो जाना बन नहीं सकेगा। एक अंधेने दूसरे अंधेका हाथ पकडा दूसरेने तीसरेका हाथ पकडा ऐसी दशामें उन सब ही अंधोंकी पंक्ति एक सूझतेके विना क्या अभीष्ट स्थान पर पहुंच सकती है? किंतु नहीं। और यदि मूलरूपसे एक सर्वज्ञ आदिमें सबको मार्ग दिखलानेवाला मान लिया जाय तो अनेक विद्वान् धाराप्रवाहसे आगमके अर्थको आजतक जान सकते हैं।

ननु च व्याकरणाद्यभ्यासाल्लौकिकपदार्थनिश्चये तदविशिष्टवैदिकपदार्थनिश्चयस्य स्वतः सिद्धेः पदार्थप्रतिपत्तौ च तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिसम्भवादश्रुतकाव्यादिवन्न वेदार्थनिश्चयेऽतीन्द्रियार्थदर्शी कश्चिदपेक्ष्यते, नाप्यन्धपरम्परा यतस्तदर्थनिर्णयानुपपत्तिरिति चेत् न।

यहां मीमांसकका कहना है कि व्याकरण, कोष, व्यवहार आदिसे शब्दोंकी वाच्यार्थ शक्तिका ग्रहण होता है। जो विद्वान् पुरुष व्याकरण, न्याय आदिके अभ्याससे लोकमें बोले जायं ऐसे गौ, घट, आत्मा, आदि पदोंके अर्थका निश्चय कर लेते हैं। ऐसा होनेपर उन्हीं आज कल परस्परमें बोले हुए पदोंके समान ही वेदोंमें भी " अग्निमीळे पुरोहितम् यजेत " आदि पद पाये जाते

हैं। अतः वेदके पदोंका अर्थ भी व्युत्पन्न विद्वान्को अपने आप ज्ञात हो जावेगा। पदोंके अर्थको जान लेने पर उन पदोंके समुदायरूप वाक्योंका अर्थ जान लेना सरल रीतिसे सम्भव है। जैसे कि हम दो चार काव्य ग्रंथोंको पढकर अभी तक न सुने हुए नवीन काव्योंको भी अपने आप लगा लेते हैं या गणितके नियमोंको जान कर नवीन नवीन गणितके प्रश्नोंका स्वतः ही झट उत्तर देदेते हैं, इसी प्रकार व्याकरण आदिकी विशेष व्युत्पत्ति बढानेसे ही वेदके अर्थका निश्चय हो आवेगा। इसके लिये मूलमें किसी अतीन्द्रिय अर्थोंके देखनेवाले सर्वज्ञकी हमें कोई अपेक्षा नहीं है और विद्वानोंके द्वारा जब हम अर्थका निर्णय होना मान रहे हैं, ऐसी दशामें अंधोंकी परम्परा भी नहीं है। जिससे कि अंधोंकी धाराके समान वेदके अर्थका भी निर्णय न हो सके। अब आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकोंका वक्तव्य उचित नहीं है। सुनिये।

लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेऽपि नानार्थत्वावस्थितेरेकार्थपरिहारेण व्याख्यांगमिति तस्यार्थस्य निगमयितुमशक्यत्वात्। प्रकरणादिभ्यस्तन्नियम इति चेन्न, तेषामप्यनेकधा प्रवृत्तेः पंचसंधानादिवदेकार्थस्य व्यवस्थानायोगात्।

लोकमें आज कल हम लोगोंसे बोले हुए पद और वेदमें लिखे हुए पद यद्यपि एक ही हैं किंतु उन पदोंके अनेक अर्थ भी व्यवस्थित हो सकते हैं। अतः एक अर्थको छोड कर दूसरे इष्ट अर्थमें ही कारण बताकर उसकी व्याख्या करनी चाहिये, अन्य अर्थमें नहीं। इस प्रकार शब्दोंके उस अर्थका अवधारण (नियम) करना अशक्य है। भावार्थ—जैसे लोकमें सैन्धव शब्दके घोडा और नमक दोनों अर्थ हैं, इसी तरह वेदमें भी अनेक अर्थोंको धारण करनेवाले पद पाये जाते हैं। जैसे कि अज शब्द का अर्थ नहीं उगनेवाला तीन वर्षका पुराना जो होता है और बकरा भी होता है। ऐसी अवस्थामें मनु आदिक अल्पज्ञ विद्वानोंसे एक ही अर्थका निश्चय करना अशक्य है। यदि आप शब्दकी अनेक अर्थोंकी योग्यता होनेपर प्रकरण, बुद्धिचातुर्य, अभिलाषा, आदिसे उस विवक्षित अर्थका नियम करना मानोगे सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि कहीं कहीं प्रकरण आदि भी अनेक प्रकारसे अर्थोंके उपयोगी प्रवर्त रहे हैं, जैसे कि कोई रईस सज्जीभूत होकर बाहिर जानेके लिये तैयार बैठा है और ककडी खारहा है। ऐसी दशामें " सैंधव लाओ " ऐसा कहने पर सैंधवके घोडा और नमक दोनों अर्थ उस प्रकरणमें प्राप्त हैं। द्विसन्धान काव्यमें एक साथ ही प्रत्येक शद्बके पाण्डव और रामचन्द्रके चरित्र पर घटनेवाले दो दो अर्थ किये गये हैं। ऐसे ही पंचसन्धान, सप्तसंधान, चतुर्विंशतिसन्धान काव्योंमें भी एक एक शद्बके अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त किये जानेके प्रकरण हैं। अतः अल्पज्ञ लौकिक विद्वान् प्रकरण आदिके द्वारा अनेक अर्थोंको प्रतिपादन करनेवाले वेदके शद्बोंकी ठीक ठीक एक ही अर्थमें व्यवस्था नहीं कर सकता है।

यदि पुनः वेदवाक्यानि सन्निबंधनान्येवानादिकालप्रवृत्तानि न व्याख्यानांतरापेक्षाणि देशभाषावदिति मतं, तदा कुतो व्याख्याविप्रतिपत्तयस्तत्र भवेयुः ।

यदि आप मीमांसक यह मानोगे कि लौकिक वाक्य भले ही हम लोगोंकी खैंचातानीसे भिन्न भिन्न अर्थोंको प्रतिपादन करें, किन्तु वेदके वाक्य अपने निरुक्त, कल्प, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, और शिक्षा इन छह अंगोंके द्वारा अनादिकालसे अपने नियत अर्थको लेकर ही प्रवृत्त हो रहे हैं । अतः भिन्न भिन्न न्यारे व्याख्यानोंकी वेदवाक्योंको आकांक्षा नहीं है । जैसे कि शब्दोंकी आनुपूर्वी एकसी होनेपर भी संस्कृतभाषामें सन्का अर्थ वर्त्तमान है । इंगलिश् भाषामें सन् का अर्थ सूर्य है और नागरी भाषामें सन् का अर्थ रस्सीको बनानेवाली छाल है । एतावता क्या भिन्न भाषाओंके बोलनेवाले पुरुष अभीष्ट अर्थको नहीं जानते हैं ? किंतु उस शब्दसे अवश्य ज्ञान करलेते हैं । इसी प्रकार देशभाषाके समान वेदके वाक्य भी अपने अर्थको लेकर अनादि कालसे चले आरहे हैं । आचार्य कहते हैं कि यदि आप ऐसा कहोगे तो उन वेदके अर्थोंके व्याख्यानमें क्यों विवाद होरहे हैं ? बताओ । कोई कामधेनु समान हो रहे वेदसे कर्मकाण्ड अर्थ निकालते हैं और चार्वाक " अन्नाद्वै पुरुषः " आदि श्रुतियोंसे अपना मत पुष्ट करते हैं । अद्वैतवादी उन ही मंत्रोंका परब्रह्म अर्थ करते हैं । आप मीमांसक भी नियोग और भावनारूप अर्थमें परस्पर विवाद करते हैं । यदि वेदका अर्थ प्रथमसे निर्णीत होता तो इतने हिंसापोषक और हिंसा निषेधक तथा केवल जडवाद या केवल आत्मवादरूप विरुद्ध व्याख्यानोंके द्वारा क्यों झगडे देखे जाते ? ।

प्रतिपत्तुर्मोघादिति चेत् कथं तदर्थसंप्रतिपत्तिरमन्दस्य प्रतिपत्तुर्जातुचिदसम्भवात् ।

यदि आप कहोगे कि वेदके अर्थोंको जानने वाले पुरुषोंका ज्ञान मंद है जिससे कि वे नाना विवाद खडे करते हैं । प्रतिभाशाली पुरुष झगडोंको छोडकर वेदका एक ही अर्थ करते हैं, ऐसा कहने पर हम जैन आप मीमांसकोंसे पूंछते हैं कि वेदके वास्तविक अर्थका पूर्ण ज्ञानशाली, मंदबुद्धिरहित, सर्वज्ञको तो आपने कभी माना नहीं है। असम्भव कहा है । जब कोई सर्वज्ञ ही नहीं है तो अनादि कालसे अब तकके सम्पूर्ण मनुष्य मंदबुद्धिवाले ही समझे जावेंगे । ऐसी दशामें भला उस वेदके अर्थका यह निर्णय कहां कैसे हो सकता है ? अर्थात् कहीं नहीं ।

सातिशयप्रज्ञो मन्वादिस्तत्प्रतिपत्ता संप्रतिपत्तिहेतुरस्त्येवेति चेत्, कुतस्तस्य तादृशः प्रज्ञातिशयः ? ।

यदि मीमांसक यों कहें कि परोक्षरूपसे भूत, भविष्यत्, देशांतरकी वस्तुएं, और पुण्य, पाप आदिको जान लेनेरूप चमत्कारको धारण करनेवाली बुद्धिसे युक्त होरहे मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषि वेदके अर्थको जानते थे, वे ही ऋषि आजतक हम लोगोंको वेदका समीचीन अर्थ निर्णय करानेमें धाराप्रवाहसे कारण हैं ही। इसपर हम जैन पूंछते हैं कि उनकी बुद्धिमें वैसा सूक्ष्म, भूत, भविष्यत्, अर्थोंके जानने रूप चमत्कार कहांसे आया ? बताओ।

श्रुत्यर्थस्मृत्यतिशयादिति चेत्, सोऽपि कुतः ?

यदि आप यह कहोगे कि वेदके अर्थोंका पूर्णरूपसे स्मरण रखनेकी विशेषता उनमें थी उससे प्रज्ञाका अतिशय हुआ, तभी तो उन्होंने वेदके स्मरणरूप मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि ग्रंथ बनाये हैं। यहां पर हम जैन पूंछते हैं कि मनु, याज्ञवल्क्य अनादि कालके पुरुष तो हैं ही नहीं, उन्होंने भी कभी न कभी जन्म लिया है। फिर विना गुरुके वेदके अर्थका पूर्णरूपसे वह स्मरण करनारूप अतिशय उनके कैसे कहा जाय ? विना गुरुपरिपाटीके स्वतः ही वेदके अर्थका स्मरण माननेपर गलीमें घूमने वाले आदमियोंको भी उसका स्मरण मानना पडेगा। अतः बताओ कि मनु आदिको अनुभवके विना स्मरण करनेकी विशिष्टता कहांसे ?।

पूर्वजन्मनि श्रुत्यभ्यासादिति चेत्, स तस्य स्वतोऽन्यतो वा ? स्वतश्चेत् सर्वस्य स्यात् तस्यादृष्टविशेषाद्वेदाभ्यासः स्वतो युक्तो, न सर्वस्य, तदभावादिति चेत् कुतोऽस्यैवादृष्टविशेषस्ताद्दग्वेदार्थानुष्ठानादिति चेत्, तर्हि स वेदार्थस्य स्वयं ज्ञातस्यानुष्ठाता स्यादज्ञातस्य वापि, न तावदुत्तरःपक्षोऽतिप्रसंगात्, स्वयं ज्ञातस्य चेत्, परस्पराश्रयः, सति वेदार्थस्य ज्ञाने तदनुष्ठानाददृष्टविशेषः सति वाऽदृष्टविशेषे स्वयं वेदार्थस्य परिज्ञानमिति।

मनु आदिक ऋषियोंने अपने पूर्व जन्ममें वेदका अच्छी तरहसे अभ्यास किया है, अतः इस जन्ममें उनको वेदके अर्थका चमत्कार स्मरण है यदि आप मीमांसक ऐसा कहोगे तो हमारा प्रश्न है कि मनु महाराजने पूर्वजन्ममें वेदका अभ्यास स्वयं अपने आप किया था ? या अन्य किसी गुरुकी सहायतासे ? बताओ। यदि स्वतः ही अभ्यास किया मानोगे तो सभी मनुष्योंको वेदका स्मरण मानना पडेगा। स्वतः ही वेदका अध्ययन तो सब जीवोंको विनामूल्य (सस्ता) पडता है, अतः सभी वेदज्ञ माने जावेंगे, एक मनु आदिमें ही क्या विशेषता है ? स्वतः प्राप्त हुआ पदार्थ आकाशके समान सर्वत्र केवलान्वयी है। यदि आप मीमांसक यह कहोगे कि मनु, याज्ञवल्क्य, जैमिनि ऋषियोंको अपने पूर्व जन्ममें विलक्षण पुण्य प्राप्त था। अतः उनको ही अपने आप वेदका पूर्ण अभ्यास पुण्यवश हुआ। इतर सर्व जीवोंको तादृश पुण्यविशेष न होनेसे वेदार्थका ज्ञानाभ्यास

नहीं होता है । अनेक विद्यार्थियोंमें कोई कोई छात्र अपने अदृष्टके अनुसार ग्रंथके अन्तस्तलपर पहुंचते हैं, सभी नहीं । ऐसा कहनेपर हम जैन पूंछते हैं कि वेदज्ञानके अभ्यासका कारण वैसा विशिष्ट पुण्य इन मनु आदिको ही क्यों प्राप्त हुआ ? अन्य लोगोंको प्राप्त हो जाय इसमें क्या कोई बाधा है ? यदि आप यहां यह कहोगे कि अपने पूर्वके जन्मोंमें मनु, जैमिनि, ऋषियोंने ही वैसा वेदके अर्थोंका अनुष्ठान किया था अर्थात् वेदकी बतलायी हुयी यज्ञ, पूजन, होम आदि क्रियाओंका आचरण किया था, अतः उनको ही वैसा पुण्य प्राप्त हुआ । सब जीवोंने वेदज्ञानके उपयोगी उन कर्मोंका आचरण नहीं किया था, अतः पूर्वजन्ममें उपार्जित पुण्य न होनेसे वे वेदार्थके ज्ञाता न बन सके । इसपर हम जैन आपके ऊपर दो पक्ष उठाते हैं कि पूर्व जन्मोंमें उन चुने (खास) ऋषियोंने वेदके अर्थको जानकर वेदविहित ज्योतिष्टोम, अग्निहोत्र, आदि कर्मोंका अनुष्ठान किया था, या विना जाने हुए भी वेदके अर्थका अंटसंट अनुष्ठान किया था ? बताओ । विना जानकर वेदमें विधान किये गये कर्मोंका आचरण करनारूप दूसरा पक्ष तो आपका युक्त नहीं है । क्योंकि वेदके विना जाने चाहे जैसे कर्म करनेवालेको विशिष्ट पुण्य मिल जाय, तब तो हर एकको सुलभरूपसे वह पुण्य प्राप्त हो जावेगा । यह मर्यादित अर्थको अतिक्रमण करनेवाला अतिप्रसंग दोष हुआ । इस दोषके दूर करनेके लिये आप पहिला पक्ष स्वीकार करेंगे अर्थात् वेदके अर्थको अपने आप जानकर ही मनु, जैमिनि आदि ऋषियोंने वेदमें लिखे हुए कर्मोंका इष्ट साधन अनुष्ठान किया था । अतः उससे उनको पुण्य मिला । आपके इस पक्षमें तो अन्योन्याश्रय दोष आता है । जैसे कि एक गुजराती ताला है, वह विना तालीके भी लग जाता है । किंतु ताली बिना खुलता नहीं है । यदि ताली मकानके भीतर पडी रही और किसी भद्रपुरुषने बाहिरसे ताला लगा दिया, अब ताला कैसे खुले ? यहां अन्योन्याश्रय दोष है कि ताला कब खुले ? जब कि ताली मिल जाय और ताली कब मिले जब ताला खुल जाय । ताला खुलना ताली मिलनेके अधीन है और ताली मिलना ताला खुलनेके अधीन है । इसी प्रकार यहां परस्पराश्रय दोष है कि जब वेदके अर्थका ज्ञान होजाय तब तो वेदको जानकर यज्ञ आदि कर्मोंका अनुष्ठान करके विलक्षण पुण्य पैदा हो और जब विलक्षण पुण्य हो जाय, तब उस विशिष्ट पुण्यसे मनु आदि ही वेदके अर्थका स्वयं ज्ञानाभ्यास करे, अर्थात् वेदके जाननेमें पुण्य विशेषकी आवश्यकता है और पुण्य की प्राप्तिमें वेदके जाननेकी जरूरत है । ऐसे अन्योन्याश्रय दोषवाले कार्य होते नहीं हैं ।

मन्वादेर्वेदाभ्यासोन्यत एवेति चेत्, स कोऽन्यः ? ब्रह्मेति चेत्, तस्य कुतो वेदार्थज्ञानम् ? धर्मविशेषादिति चेत् स एवान्योन्याश्रयः । वेदार्थपरिज्ञानाभावे तत्पूर्वकानुष्ठानजनितधर्मविशेषानुत्पत्तौ वेदार्थपरिज्ञानायोगादिति ।

मीमांसकोंसे पूर्वमें हमने पूंछा था कि मनु आदिकको पूर्व जन्ममें श्रुतियोंका अभ्यास अपने आप था या अन्य गुरुओंसे प्राप्त हुआ था ? उसमेंसे प्रथमपक्षका खण्डन किया जाचुका है। अब यदि आप दूसरा पक्ष लोगे कि असर्वज्ञ मनु आदि मुनिओंको चारों वेदोंके ब्राह्मणभाग और उपनिषद् अंशोंका ज्ञान अन्य महात्माओंसे ही हुआ है, यहां हम पूंछते हैं कि वह अन्य महात्मा कौन है ? यदि आप चतुर्मुख ब्रह्माको मनु आदिका गुरु मानोगे तो फिर हम जैन कहेंगे कि उस ब्रह्माको अनादिकालीन वेदोंके अर्थका ज्ञान किससे हुआ ? बताओ, यदि ब्रह्माको अतिशययुक्त पुण्यसे वेदका ज्ञान विना गुरुके स्वतः ही मानोगे यों तो पूर्वके समान पुनः वहीं अन्योन्याश्रयदोष लगेगा, क्योंकि वेदके अर्थको पूर्ण रूपसे जाने विना उस ज्ञानपूर्वक यज्ञ आदि अनुष्ठानोंसे पैदा होनेवाला पुण्यविशेष उत्पन्न न होगा और जब पुण्य पैदा न होगा तो उस पुण्यके विना वेदके अर्थका ब्रह्माको परिज्ञान नहीं हो सकेगा। यहांतक आचार्योंने मीमांसककी मीमांसाका निराकरण कर दिया।

स्यान्मतं सहस्रशाखो वेदः स्वर्गलोके ब्रह्मणाधीयते चिरं, पुनस्ततोऽवतीर्य मर्त्ये मन्वादिभ्यः प्रकाश्यते, पुनः स्वर्गं गत्वा चिरमधीयते, पुनर्मर्त्यावतीर्णेभ्यो मन्वादिभ्योऽवतीर्य प्रकाश्यत इत्यनाद्यनन्तो ब्रह्ममन्वादिसन्तानो वेदार्थविप्रतिपत्तिनिराकरणसमर्थोऽन्धपरम्परामपि परिहरतीति वेदे तद्व्याहतं। सर्वपुरुषाणां अतीन्द्रियार्थज्ञानविकलत्वोपगमाद्ब्रह्मादेरतीन्द्रियार्थज्ञानायोगात् ।

उक्त प्रकार मीमांसकोंका पक्ष गिरनेपर वे यह कहकर संभलना चाहते हैं कि हमारा मत ऐसा है। सो यह भी आपका मन्तव्य होय कि यद्यपि वेद एक है किंतु उसकी हजारों शाखाएं हैं, स्वर्गमें ब्रह्मा वेदको बहुत दिनतक पढते हैं फिर वहांसे अवतार लेकर वे मनुष्यलोकमें मनु आदि ऋषिओंके लिये वेदका प्रकाशन किया करते हैं फिर ब्रह्मा स्वर्गको चले जाते हैं और वहां हजारों वर्षतक वेदका स्मरण, चिंतन, अभ्यास, करते हैं। पुनः स्वर्गसे उत्तर कर मनुष्यलोकमें पुनः अवतार लेनेवाले उन्हीं मनु आदि ऋषिओंको वेदज्ञानका प्रकाश करते हैं। वे मनु आदि ऋषीश्वर उन उन समयोंमें अनेक जीवोंको वेदज्ञान करा देते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा और मनु आदि ऋषियोंकी धारा अनादिकालसे अनंत काल तक चली जाती है। वह उन समयोंमें होनेवाले वेदार्थके विवादोंको भी दूर कर देनेमें समर्थ हैं और ऐसा माननेसे वेदमें अंधपरम्परा—दोषका भी वारण होजाता है। अब आचार्य कहते हैं कि, मीमांसकोंके उस कथनमें वदतो व्याघातदोष आता है, जैसे कोई मनुष्य जोरसे चिल्लाकर कहे कि मैं चुप बैठा हूं उसके वक्तव्यमें उसीके कथनसे बाधा पहुंचती है, इसी प्रकार मीमांसक वेदका अध्यापन, प्रकाशन सर्वज्ञके द्वारा मानते नहीं है, विना कारण विवादोंका दूर करना और अन्धपरम्पराका निवारण करना वेदमें स्वीकार करते हैं, इस कथनमें अपने आपही बाधा डालनेवाला दोष है, आप मीमांसकोंने सर्व ही पुरुषोंको अतीन्द्रिय पदार्थोंके ज्ञानसे रहित माना है। ब्रह्मा, मनु,

बृहस्पति, जैमिनी आदिको भी सूक्ष्म आकाश, पुण्य, पाप, परमाणुओंका ज्ञान होना नहीं बन सकता है, तो फिर स्वर्गमें क्या पढा किससे पढा ? कथानक है कि ढेंकी स्वर्गमें चली जाय तो वहां भी धान ही कूटेगी ।

चोदनाजनितमतीन्द्रियार्थज्ञानं पुंसोऽभ्युपेयते चेत्, योगिप्रत्यक्षेण कोऽपराधः कृतः।

याज्ञिक कहते हैं कि यजेत, पचेत्, जुहुयात् अर्थात् पूजा करै, पकावै, हवन करे ऐसे व्याकरणके विधिलिङ् लकारका अर्थ प्रेरणा होता है, ऐसे प्रेरणा करनेवाले वेदके अनेक वाक्योंसे उत्पन्न हुआ मनु आदि पुरुषोंके इन्द्रियोंसे न जाने जावें ऐसे परमाणु, पुण्य पाप, स्वर्ग, मोक्ष आदि अर्थोंका ज्ञान हम मानते ही हैं, आगमसे अतीन्द्रिय पदार्थोंका जानना हमको इष्ट है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि आप मीमांसक यह कहेंगे तब तो योगियोंके प्रत्यक्षने कौन अपराध किया है ? ज्ञानमें आगमद्वारा अतीन्द्रिय पदार्थोंके जाननेका अतिशय तो आपको मानना ही पडा है, वैसे ही सर्वज्ञ भी अपने केवलज्ञानरूपी प्रत्यक्षसे इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिसे रहित अतीन्द्रिय अर्थोंको भी जान लेते हैं, यह मान लेना चाहिये ।

तदन्तरेणापि हेयोपादेयतत्त्वनिश्चयात् किमस्यादृष्टस्य कल्पनयेति चेत् ब्रह्मादेरतीन्द्रियार्थज्ञानस्य किमिति दृष्टस्य कल्पना ?

अब मीमांसक कहते हैं कि अभक्ष्यभक्षण, पाप, व्यभिचार, मिथ्याज्ञान आदि छोडने योग्य पदार्थोंका और भेदविज्ञान, सत्य ज्योतिष्टोम याग, स्वर्ग, मोक्ष आदि ग्रहण करने योग्य तत्त्वोंका ज्ञान हमको आकांक्षित है । उस सर्वज्ञके विना भी ऐसे हेय और उपादेय पदार्थोंका निश्चय हमको वेदके द्वारा हो ही जाता है फिर किसीको भी कभी देखनेमें न आवै ऐसे सर्वज्ञके इस केवलज्ञानकी कल्पनासे क्या लाभ है ? ग्रंथकार समझाते हैं कि यदि मीमांसक यह कहेंगे तो हम कहते हैं कि आपने ब्रह्मा, मनु आदिको अतीन्द्रियज्ञान माना है । यह क्या आपने देखे हुए अतीन्द्रियज्ञानकी कल्पना की है ? भावार्थ—यह भी तो अदृष्टपदार्थकी ही कल्पना है ।

सम्भाव्यमानस्य चेत् योगिप्रत्यक्षस्य किमसम्भावना ? यथैव हि शास्त्रार्थस्याक्षागोचरस्य परिज्ञानं केषांचिद्दृष्टमिति ब्रह्मादेर्वेदार्थस्य ज्ञानं तादृशस्य सम्भाव्यते तथा केवलज्ञानमपीति निवेदयिष्यते।

यदि आप मीमांसक यहां यह कहोगे कि मनु आदिके अतींद्रियज्ञानकी देखे हुए की कल्पना न सही किन्तु अर्थापत्ति प्रमाणसे जिसकी संभावना की जा सके ऐसे ज्ञानको हमने माना है भावार्थ—सम्भावित पदार्थको हम स्वीकार करते हैं यों कहनेपर तो यहां हम कहते हैं कि केवलज्ञानियोंके अतीन्द्रिय प्रत्यक्षकी क्या सम्भावना नहीं है ? अर्थात् मनु आदिके ज्ञानमें जैसे आगम

द्वारा परोक्ष अर्थोंके जाननेका अतिशय है। उसी प्रकार सर्वज्ञके ज्ञानमें स्वतः ही त्रिकाल त्रिलोक पदार्थोंका प्रत्यक्ष कर लेना रूप चमत्कार है इस बातको हम भी अनुमानसे जानते हैं। जैसे ही कि आप मानते हैं कि इंद्रिय, हेतु, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाणसे न जाननेमें आवे ऐसे शास्त्रोंमें कहे गये अतीन्द्रियपदार्थोंका बढ़िया आगमज्ञान किन्हीं किन्हीं तैसे विद्वानोंमें देखा गया है। अतः आदिगुरु ब्रह्मा, मनु, आदिको भी इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और अभावप्रमाणोंसे न जाने जावें ऐसे वेदविषय उन सदृश पदार्थोंका ज्ञान अवश्य सम्भावनीय है। भावार्थ—अर्थापत्ति प्रमाणसे आप अतीन्द्रियज्ञानीको सिद्ध करेंगे, उसी प्रकार हम जैन भी कहते हैं कि अनेक आचार्य और विद्वानोंको पुण्य, पाप, स्वर्ग, मोक्ष, आत्मा, भेदविज्ञान, सुमेरुपर्वत आदिका ज्ञान है, वह आदिमें उन पदार्थोंके प्रत्यक्षदर्शी सर्वज्ञके विना नहीं हो सकता है। अतः केवलज्ञान भी मानना चाहिए अर्थात् अनुमान प्रमाणसे हम भी केवलज्ञानीको सिद्ध करते हैं। इस बातको भविष्य में हम अधिक स्पष्टरूपसे आपके प्रति निवेदन कर देवेंगे। विश्वास रखिये।

ततः सकलागमार्थविदामिव सर्वविदां प्रमाणसिद्धत्वान्नानुपलभ्यमानानां परिकल्पना, नापि तैर्विनैव हेयोपादेयतत्त्वनिर्णयः, सकलार्थविशेषसाक्षात्करणमन्तरेण कस्यचिदर्थस्याक्षूणविधानायोगात्।

उस कारण अबतक सिद्ध हुआ कि आगमप्रमाणके द्वारा संपूर्ण पदार्थोंके जाननेवाले ब्रह्मा, मनु आदि विद्वान् जिस तरह आपके यहां प्रमाणसे सिद्ध हैं, उन्हींके समान सर्व प्रमेयोंको केवलज्ञानसे जाननेवाले सर्वज्ञ भी पुष्ट प्रमाणोंसे प्रसिद्ध हैं। अतः अतींद्रिय प्रत्यक्षसे सर्वको जाननेवाले सर्वज्ञोंका मानना, निश्चित किये हुओंका ही है। प्रमाणसे नहीं जाने गये हुओंकी कल्पना नहीं है। जैनविद्वान् नहीं जानने योग्य पदार्थोंको स्वीकार नहीं करते हैं और विना उन सर्वज्ञके माने ही आत्मा, पुण्य, पाप, नरक, स्वर्ग आदि हेय और उपादेय पदार्थोंका निश्चय भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंका विशेष विशदरूपसे प्रत्यक्ष किये विना आत्मा, परमात्मा परमाणु, अदृष्ट, आदि किसी भी अर्थका निर्दोष रूपसे विधान नहीं हो सकता है। वीतराग, हितोपदेशक, सर्वज्ञ ही तत्त्वोंकी विधि करता है! अन्यके यह योग नहीं है।

सामान्यतस्तत्त्वोपदेशस्याक्षूणविधानमाम्नायादेवेति चेत् तर्ह्यनुमानादेव तथास्त्विति किमागमप्रामाण्यसाधनायासेन।

प्रतिवादी कहता है कि अनुमान और आगम प्रमाणोंसे पदार्थोंका ज्ञान विशदरूपसे नहीं होता है किंतु सामान्यरूपसे होता है। जैसे कि अग्निको आप्तवाक्य या धूमसे जाननेपर अग्निके धव, खैर, आमकी लकडीकी यह आग है, इतनी लम्बी चौडी है आदि विशेष अंशोंको हम नहीं

जान सकते हैं। विशेष अंशोंका विशदरूपसे ज्ञान होना प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही मानते हैं किंतु संपूर्ण अतीन्द्रियपदार्थोंको प्रत्यक्षरूपसे जाननेवाले जीव संसारमें नहीं है। हम किसी भी पुरुषके न बनाये हुए वेदको अनादि मानते हैं। आकाश, आत्मा, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरकके सामान्य रूपसे जाननेकी हमको आकांक्षा है। अनादिकालीन वेदके द्वारा ही सामान्यरूपसे अतीन्द्रियतत्त्वोंके उपदेशका निर्दोष सम्पूर्ण विधि विधान होता है। ग्रंथकारका निरूपण है कि यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तो हम कहते हैं कि तब तो आप वेदको आगमप्रमाणरूप साधनका परिश्रम भी क्यों करते हैं। अनुमानसे उन अतीन्द्रिय पदार्थोंका ऐसा सामान्यरूपसे ज्ञान हो जावो, "सम्पूर्ण पदार्थ अनेकांतात्मक हैं सत्स्वरूप होनेसे। तथा सर्व चराचर वस्तुएँ प्रकृति और पुरुष स्वरूप हैं प्रमेय होनेसे"। इत्यादि अनुमानोंके द्वारा हम सर्व जीवादि पदार्थोंको जान ही लेते हैं। अतः सामान्य रूपसे जाननेमें वेदकी कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं है।

प्रत्यक्षानुमानाविषयत्वनिर्णयो नागमाद्विनेति तत्प्रामाण्यसाधने प्रत्यक्षानुमानागमाविषयत्वविशेषनिश्चयोऽपि न केवलज्ञानाद्विनेति तत्प्रामाण्यं किं न साध्यते।

यदि आप मीमांसक यह कहेंगे कि जिन प्रमेयोंको हम लोगोंके प्रत्यक्ष और अनुमान नहीं जान सकते हैं ऐसे स्वर्ग, अदृष्ट, देवता आदि पदार्थोंका जानना वेदरूप आगमके विना नहीं होवेगा। इस कारण वेदरूप आगमका प्रमाणपना हम सिद्ध करते हैं ऐसा कहनेपर हम जैन भी कहते हैं कि जिन अत्यंत परोक्षतत्त्वोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणोंकी गति नहीं है ऐसे धर्मद्रव्य, कालाणुएँ, सूक्ष्म पर्यायें, और अविभाग प्रतिच्छेद आदि विषयोंका निर्णय करना भी केवलज्ञानके विना नहीं होसकता है। अर्थात् अत्यंत सूक्ष्म तत्त्वोंके जाननेमें हमारी इन्द्रियाँ भी समर्थ नहीं हैं तथा उन तत्त्वोंके साथ अविनाभाव रखनेवाला कोई हेतु भी नहीं है और किसी वक्ताके द्वारा संकेतग्रहण करके शब्दद्वारा जाननेका भी प्रकरण प्राप्त नहीं है ऐसे सूक्ष्म, देशांतरित और कालांतरित पदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानको प्रमाणपना क्यों नहीं सिद्ध किया जावेगा? अर्थात् अवश्य सिद्ध किया जावेगा।

न हि तृतीयस्थानसंक्रान्तार्थभेदनिर्णयासम्भवेऽनुमेयार्थनिर्णयो नोपपद्यत इत्यागमगम्यार्थनिश्चयस्तत्त्वोपदेशहेतुर्न पुनश्चतुर्थस्थानसंक्रान्तार्थनिश्चयोऽपीति युक्तं वक्तुं तदा केवलज्ञानासम्भवे तदर्थनिश्चयायोगात्।

इसपर मीमांसक यदि यह कहेंगे कि हमारे यहां यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण माने हैं किन्तु उनमें तीन प्रथमके प्रधान हैं। तिनमें प्रत्यक्षगम्य घट, पट, गृह आदिकको तो हम पहिले प्रत्यक्षप्रमाणसे जानना मानते हैं और धूमहेतुके

द्वारा कहि तथा प्रत्यभिज्ञानके विषयपनेसे शब्दका नित्यत्व आदिको दूसरे अनुमानप्रमाणसे सिद्ध करते हैं तथा स्वर्ग, देवता, अदृष्ट आदिको तृतीयस्थानमें पडे हुए आगमप्रमाणसे सिद्ध करते हैं। अनेक पर्यायोंको आगमके द्वारा जानकर पश्चात् तर्क लगाकर अनुमानसे भी निर्णय कर लिया जाता हैं। ऐसी दशामें उस अनुमेयका मूलज्ञापक कारण आगमप्रमाण ही माना जाता है। तीसरे स्थानमें पडे हुए आगमसे जानने योग्य भिन्न भिन्न पदार्थोंके निर्णय किये विना किसी किसी अनुमानसे जानने योग्य--लायक, उन अतीन्द्रिय अर्थोंका निश्चय होना नहीं बन सकता है। इस कारण वेदरूप आगमसे जानने लायक अर्थोंका निश्चय करना तो तत्त्वोंके उपदेशकी प्राप्तिमें कारण है किन्तु जैनोंसे माने गये प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमप्रमाणसे अतिरिक्त केवलज्ञानहीसे जानने योग्य चौथे स्थानमें प्राप्त हुए अत्यन्त परोक्ष अर्थोंका निश्चय करना तत्त्वोपदेशकी प्राप्तिमें कारण नहीं है इस प्रकार मीमांसकोंका कहना उचित युक्तिसहित नहीं है। (पहिले नाहीका अन्वय युक्तके साथ है) क्योंकि आपके कथनानुसार जैसे तीसरे आगमप्रमाणके द्वारा अर्थका निर्णय किये विना परमाणु आदि अनुमेय अर्थोंका निश्चय नहीं हो सकता है, उसी प्रकार चौथे केवलज्ञानके न स्वीकार करनेपर पुण्य, पाप, स्वर्ग, मोक्ष, सुमेरु, राम, रावण आदिक आगमसे जानने योग्य पदार्थोंका भी निर्णय नहीं हो सकेगा अर्थात् जैसे आप अनुमानका मूल कारण अपौरुषेय आगम--वेदको मानते हैं उसी प्रकार आपको अनुमान और आगम प्रमाणका मूलकारण सर्वज्ञका प्रत्यक्ष मानना पडेगा।

न च चोदनाविषयमतिक्रान्तश्चतुर्थस्थानसंक्रान्तः कश्चिदर्थविशेषो न विद्यत एवेति युक्तम्, सर्वार्थविशेषाणां चोदनया विषयीकर्तुमशक्तेस्तस्याः सामान्यभेदविषयत्वात्।

यदि मीमांसक यहां यह कहे कि तीन लोक और तीनों कालके सम्पूर्ण पदार्थ प्रेरणा करनेवाले वेदके लिङन्त वाक्योंसे ही ज्ञात हो जाते हैं, केवलज्ञानसे जानने योग्य इनका अतिक्रमण कर चुका चौथे स्थानमें पडा हुआ कोई पदार्थ ही विद्यमान नहीं है, जो कि वेदके विषयसे अतिरिक्त माना जावे अर्थात् तीसरे आगमसे जानने योग्य पदार्थोंमें ही सम्पूर्ण पदार्थ गर्भित हो जाते हैं, सर्वज्ञके अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे जानने योग्य कोई पदार्थ बचा हुआ नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकोंका प्रतिवाद भी युक्ति शून्य है। उनका यह कथन समुचित नहीं है कारण कि सम्पूर्ण पदार्थोंके विशेष विशेषांशोंका वेदवाक्योंके द्वारा विशदरूपसे निश्चय करना शक्य नहीं है। क्योंकि विधिलिङ् लकारकी क्रियावाले वेदवाक्योंसे अतीन्द्रियपदार्थोंका सामान्यरूपसे ही भिन्न भिन्न ज्ञान होता है, सम्पूर्ण अर्थपर्यायोंसे सहित पदार्थोंका विशद ज्ञान नहीं हो पाता है।

ततोऽशेषार्थविशेषाणां साक्षात्करणक्षमः प्रवचनस्याद्यो व्याख्याताभ्युपेयस्तद्विनेय-

मुख्यश्च सकलागमार्थस्य परिच्छेदीति तत्संप्रदायाव्यवच्छेदादविरुद्धात्सिद्धोऽस्मदादेरागमार्थनिश्चयो न पुनरपौरुषेयागमसंप्रदायाव्यवच्छेदात्तत्सूक्तमागमः प्रमाणमिदं सूत्रमिति ।

उस हेतुसे अब तक सिद्ध हुआ कि गुण, पर्याय, अविभागप्रतिच्छेदवाले सम्पूर्ण पदार्थोंके विशेष विशेषांशोंको विशदरूपसे प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ और शास्त्रोंके प्रमेय अर्थका आदिकालमें विधाता होकर व्याख्यान करना चाहिये, और वही उस समयमें होनेवाले अनेक गणधर आदिक प्रतिपाद्य ऋषियोंका मुखिया है, तथा सम्पूर्ण आगमके अर्थका उपज्ञ (आद्यज्ञान) ज्ञान धारी है । इस प्रकार ऐसे उस सर्वज्ञकी आम्नायके न टूटनेमें आज तक कोई विरोध नहीं है, इस कारण हम आदिक लोगोंको भी उस सर्वज्ञसे कहे गये आगमके अर्थका निर्णय सिद्ध होचुका । किंतु फिर मीमांसकोंसे माने गये किसी पुरुषके द्वारा न किये हुए वेदरूप आगमकी आम्नाय न टूटनेसे अंधपरम्पराके समान विद्वानोंको आज तक अर्थका निर्णय नहीं होसकता है । तभी तो हमने पहिले बहुत अच्छा कहा था कि यह " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " सूत्र आगमप्रमाणस्वरूप है । यहां तक मीमांसकोंके साथ विचार होचुका है ।

ननु च सन्नप्याप्तः प्रवचनस्य प्रणेतास्येति ज्ञातुमशक्यस्तद्व्यापारादेर्व्यभिचारित्वात्, सरागा अपि हि वीतरागा इव चेष्टन्ते वीतरागाश्च सरागा इवेति कश्चित् ।

अब आगमको प्रमाण न माननेवाले बौद्धोंकी शंका है कि जैनोंके कहनेसे थोडी देरके लिये यदि आप्त मान भी लिया जाय किंतु वह आप्त इस शास्त्रका अर्थरूपसे बनानेवाला है, यह तो कैसे भी नहीं जाना जासकता है, क्योंकि सर्वज्ञ वीतरागके साथ अविनाभाव रखनेवाले व्यापार, वचन, और चेष्टा आदि हेतुओंका व्यभिचार देखा जाता है । देखिये संसारमें अनेकरागवान् वकभक्त पुरुष दिखाऊ वीतरागोंके समान आचरण करते हैं, और कोई कोई रागद्वेषरहित भी सज्जन रागियोंके-समान चेष्टा करते हुए देखे गये हैं, अतः वीतराग सर्वज्ञको जाननेके लिये कोई कसौटी हमारेपास नहीं है, ऐसा कोई बुद्धमतानुयायी कह रहा है ।

सोऽप्यसम्बन्धप्रलापी, सरागत्ववीतरागत्वनिश्चयस्य क्वचिदसम्भवे तथा वक्तुमशक्तेः, सोऽयं वीतरागं सरागवच्चेष्टमानं कथञ्चिन्निश्चिन्वन् वीतरागनिश्चयं प्रतिक्षिपतीति कथमप्रमत्तः ? ।

उक्त शंका करनेवाला वह बौद्धभी विना संबंधके बकवाद कर रहा है, स्वयं अपने वक्तव्यके पूर्वापरविरोधका भी इसको विचार नहीं है । जिस पुरुषको सरागपने और वीतरागपनेका कहीं भी निश्चय संभव नहीं है, वह सिलबिला ऐसा मनुष्य उस प्रकार इस बातको नहीं कह सकता है कि रागीजन भी वीतराग साधुओंकीसी चेष्टा करते देखे गये हैं और वीतराग मुनि भी शिष्योंके

प्रायश्चित्त देने तथा पढानेमें और कभी धर्मप्रभावनाके समय रागियोंकीसी क्रियाएं करते हैं, जो हंस और सारसके भेदको जानता है, वही इनकी कुछ समान क्रियाओंका निरूपण कर सकता है, जब कि यह बौद्ध किसी भी तरह यह निश्चय कर रहा है कि रागरहित महात्मा भी रागीके समान चेष्टा करता है, तो इस बौद्धको शुद्ध वीतरागका निश्चय अवश्य है, यदि ऐसी दशामें भी वीतरागके निश्चय करनेका यह छलसे खण्डन कर रहा है तो इसको मद्यपायीके समान प्रमादी क्यों न कहा जाय ?।

स्वयमात्मानं कदाचिद्वीतरागं सरागवच्चेष्टमानं संवेदयते न पुनः परमिति चेत्, कुतः सुगतसंवित्तिः कार्यानुमानादिति चेत् न, तत्कार्यस्य व्याहारादेर्व्यभिचारित्ववचनात्।

यहां बौद्ध कहता है कि मैं स्वयं कभी कभी रागरहित अवस्थामें अपनेको रागीके समान चेष्टा करता हुआ जानता हूं अतः मैंने अपनेमें व्याप्ति ग्रहण कर वीतरागको सरागके समान चेष्टा करता हुआ कह दिया था किन्तु हमारे पास दूसरे अतीन्द्रिय आत्माओंके जाननेका कोई उपाय नहीं है। इस कारण वीतराग आत्माका निश्चय नहीं हो सकता है। बौद्धोंके ऐसे कहनेपर हम जैन पूंछते हैं कि आपको अपने इष्टदेवता बुद्धका ज्ञान कैसे होता है ? बताओ यदि ज्ञानसन्तानरूप बुद्धके उपदेश देना, भावना भाना, आदि कार्यरूप ज्ञापक हेतुसे कारणस्वरूप बुद्ध साध्यका अनुमान करोगे ? यह तो ठीक नहीं है क्योंकि उस बुद्धके चेष्टा, वचन बोलना उपदेश देना, जीवोंपर कृपा करना आदि माने गये कार्योंका भी व्यभिचार हुआ कहा जाता है। आपके कथनानुसार ही बुद्धकी उक्त क्रियाएँ रागी मूर्खोंमें भी देखी जाती हैं, ऐसी भोली बुद्धूपनेकी प्रकृतिवाले पुरुष तो रत्न, काच और पीतल सुवर्णका भी निर्णय नहीं कर सकेंगे।

विप्रकृष्टस्वभावस्य सुगतस्य नास्तित्वं प्रतिक्षिप्यते बाधकाभावान्न तु तदस्तित्वनिश्चयः क्रियत इति चेत् कथमनिश्चितसत्ताकः स्तुत्यः प्रेक्षावतामिति साश्चर्यं नश्चेतः ? कथं वा सन्तानान्तरक्षणस्थितिस्वर्गप्रापणशक्त्यादेः सत्तानिश्चयः स्वभावविप्रकृष्टस्य क्रियेत ? तदकरणे सर्वत्र संशयान्नाभिमततत्त्वनिश्चयः।

हम बौद्ध सुगतको सिद्ध करनेवाले अनुमानसे हम लोगोंके प्रत्यक्षसे न जाननेमें आवे ऐसे अतीन्द्रिय व्यवहित स्वभाववाले सुगतकी सत्ता सिद्ध नहीं करते हैं, किन्तु अनुमानके द्वारा साध्य विषयमें पडे हुए नास्तित्वकी ओर झुकानेवाले संशय, विपर्यय और अज्ञानरूप समारोपका केवल खण्डन किया जाता है। प्रकृतमें भी कालका व्यवधान पड जानेके कारण सुगतका न होना लोग मान लेते हैं, अतः उस सुगतकी सत्ताका कोई बाधक प्रमाण न होनेसे बुद्धके नास्तित्वपनेका हम अनुमान द्वारा खण्डन कर देते हैं। उस सुगतके अस्तिपनेका निश्चय अनुमानसे नहीं किया जाता है

कारण कि अनुमान प्रमाण परमार्थभूत वस्तुको जानता नहीं है, क्षणिकत्व, सुगतसत्ता, आदिमें पडे हुए समारोपोंको केवल दूर करता रहता है, आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो हम पूंछते हैं कि जिस सुगतकी सत्ताकाही निश्चय नहीं है विचारशील पुरुष ऐसे असत् पदार्थकी स्तुति कैसे करते हैं ? इस बातका हमारे चित्तमें बडा भारी आश्चर्य है। भावार्थ—अनेक बौद्ध विद्वानोंने ग्रन्थोंकी आदिमें अद्यापि अनिर्णीत सुगत देवताकी स्तुति क्यों की है ? तथा यदि आप बौद्ध हम लोगोंके प्रत्यक्ष, अनुमानसे न जानने योग्य ऐसे सूक्ष्म परमाणु, देशान्तरित, और कालान्तरित, पदार्थोंका निश्चय नहीं कर सकते हैं तो स्वयं मानी हुयी देवदत्त, जिनदत्त आदिकी ज्ञानसन्तानोंको तथा पदार्थोंकी क्षणिकत्वशक्ति और अहिंसा, दान करनेवालोंकी स्वर्गमें पहुंचनेकी शक्ति आदिकी सत्ताका निश्चय कैसे कर सकोगे ? वे उक्त पदार्थ भी तो अतीन्द्रिय स्वभाववाले हैं और इसी प्रकार कहीं भी निश्चय न करनेपर तो सम्पूर्ण पदार्थोंमें आपको संशय रहेगा अतः ऐसी दशामें आप सौत्रान्तिकोंको अपने अभीष्ट स्वलक्षण, विज्ञान, क्षणिकत्व, आदि तत्त्वोंका निश्चय भी न हो सकेगा।

संवेदनाद्वैतमत एव श्रेयस्तस्यैव सुगतत्वात् संस्तुत्यतोपपत्तेरित्यपरः।

यहां योगाचार बौद्ध कहता है कि बहिरंग घट, पट, स्वलक्षण, संतानान्तर आदि पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकते हैं। इसीसे तो हम समीचीन ज्ञानपरमाणुओंका ही अद्वैत मानते हैं। जैसे स्वप्नमें मिथ्यावासनाओंके कारण समुद्र, नगर, धन आदिके ज्ञान होते हैं किंतु वहां ज्ञानके सिवाय पदार्थ कोई वस्तुभूत नहीं माना हैं। उसी प्रकार जागते समय घट, पट, आदिके ज्ञान भी कल्पित पदार्थोंको विषय करते हैं। वस्तुतः संवेदनके अतिरिक्त संसारमें कोई वस्तु नहीं है। वही अकेले संवेदनका मंतव्य मानना कल्याण करनेवाला है और वही वास्तवमें बुद्ध भगवान् है। इस कारण ग्रंथोंकी आदिमें सुगत शब्दसे संवेदनकी भले प्रकार स्तुति करना सिद्ध माना गया है। इस प्रकार दूसरे योगाचार बौद्धका मत है।

सोऽपि यदि संवेद्याद्याकाररहितं निरंशक्षणिकवेदनं विप्रकृष्टस्वभावं क्रियात्तदा न तत्सत्तासिद्धिः स्वयमुपलभ्यस्वभावं चेन्न तत्र विभ्रमः।

बौद्धोंके चार भेद हैं, सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक और माध्यमिक ये सर्व पदार्थोंको क्षणनाशशील मानते हैं। बाहिरके स्वलक्षण आदि और अंतरंगके ज्ञान, इच्छा, आदि तत्त्वोंको सौत्रांतिक वस्तुभूत परमार्थ मानते हैं। योगाचार बहिरंग तत्त्वोंको न मानकर कल्पितपदार्थोंके ज्ञान और वस्तुभूत ज्ञानके ज्ञानको स्वीकार करते हैं। वैभाषिक निरंश शुद्ध ज्ञानकोही स्वीकार करते हैं और माध्यमिक परिशेषमें शून्यवादपर झुक जाते हैं। यहां योगाचारने अकेले संवेदनकोही तत्त्व

माना है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यदि वह योगाचार ज्ञानको जानने योग्य संवेद्य आकार तथा जाननेवाले संवेदक अंश और जाननारूप संविति अंश इन तीनों आकारोंसे रहित मानेगा और ऐसा क्षणमें नाशको प्राप्त होनेवाला अंशोंसे रहित वह संवेदन, प्रत्यक्ष, अनुमानसे जानने योग्य स्वभावोंसे दूरवर्ती रहता हुआ यदि किया जावेगा तो उस समय उस संवेदनकी सत्ता सिद्ध नहीं होसकती है। यदि योगाचार उस संवेदनको अपने आप जानने योग्य स्वभाववाला बतावेगा तो किसीको भी उसके ज्ञानमें भ्रांति नहीं होनी चाहिये।

स्वयमुपलब्धस्यापि निश्चयाभावाद्विभ्रमः स्यादिति चेत्, कथमनिश्चितं स्वतः सिद्धं नाम ? येन स्वरूपस्य स्वतो गतिर्व्यवतिष्ठेतेति क्वायं तिष्ठेद्विप्रकृष्टसंशयवादी ?

यदि योगाचार यहां यों कहे कि स्वयं जानने योग्य पदार्थका भी हम लोगोंको निर्विकल्पक ज्ञान हुआ है, निश्चयात्मक ज्ञान पैदा नहीं हुआ इस कारण लोगोंको भ्रम होजाता है। यों कहनेपर तो हम पूछते हैं कि जिस वस्तुका निश्चय नहीं है वह अकेली अपने आप ज्ञात होकर सिद्ध होजाती है यह कैसे कहा जाय ? जिससे कि आपके यहां संवेदनके स्वरूपका अपने आप ज्ञान होजाता है। यह ग्रंथका वाक्य व्यवस्थित होवे, अर्थात् जब ज्ञान ही का निश्चय नहीं है तो भला ज्ञानके स्वरूपकी विना कारण अपने आप सिद्धि भी नहीं होसकेगी ऐसी अवस्थामें सराग और वीतरागका बौद्धोंको निर्णय नहीं है। परमाणु, आकाश, भूत, भविष्यत् कालकी वस्तुयें और देशान्तरकी चीजोंमें भी जिसको संशय ही है ऐसा सभी विप्रकृष्ट पदार्थोंमें संशय बोलते रहनेकी टेवको रखनेवाला विचारा बौद्ध कहां ठहर सकता है ? जो संशयवादी खाद्य, पेय, पदार्थोंमें तथा निकटवर्ती भूमि, पुत्र, गुरु, आदिकी शक्तियोंमें भी चलाकर अनिष्ट शक्तियोंका संशय करेगा। ऐसी दशामें क्षणिकवादीका क्षणमें नाश होना अनिवार्य है।

अनाद्यविद्यातृष्णाक्षयादद्वयसंवेदने विभ्रमाभावो न निश्चयोत्पादात् सकलकल्पनाविकलत्वात्तस्येति चेत्—

बौद्धोंका सिद्धांत है कि ज्ञानाद्वैतके ज्ञानमें भ्रम न होने देनेका कारण अनादि कालसे लगे हुए मिथ्याज्ञान और तृष्णारूपी दोषोंका क्षय है। ज्ञानके विषयमें निश्चय उत्पन्न होनेसे संवेदनकी सिद्धि हम नहीं मानते हैं क्योंकि निश्चयज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाणरूप नहीं है, अप्रमाण ज्ञानोंसे वस्तुभूत ज्ञानाद्वैतका वेदन और भ्रान्तिरहित व्यवस्थापन नहीं होसकता है कारणकि वह परमार्थभूत अद्वैतसंवेदन संपूर्ण कल्पनाओंसे रहित है, अतः ज्ञानाद्वैतका ज्ञान भी निर्विकल्पक है। जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य उत्पन्न होसकेगा, आचार्य कहते हैं कि यदि आप बौद्ध ऐसा कहेंगे—

सा तर्ह्यविद्या तृष्णा च यद्युपलभ्यस्वभावा तदा न संवेदनाद्वैतं, तस्यास्ततोऽन्यस्याः प्रसिद्धेः । सानुपलभ्यस्वभावा चेत्, कुतस्तद्भावाभावनिश्चयो यतो ह्यद्वयसंवेदने विभ्रमा-विभ्रमव्यवस्था ।

तो हम आपसे पूंछते हैं कि वे आपकी मानी हुयी अद्वैतसंवेदनके जाननेमें बाधा डालने-वाली अविद्या और संकल्पविकल्पोंको करनेवाली वाञ्छाएँ यदि जानने योग्य स्वभावोंको धारण करती हैं, तब तो आपका केवल अकेले संवेदनकाही मानना नहीं होसकता है, कारण कि संवेदनके समान अविद्या और तृष्णा भी दूसरे तीसरे पदार्थ संवेदनसे भिन्न सिद्ध होगये, क्योंकि वे भी जाने जारहे हैं ज्ञात हो रहे पदार्थका सद्भाव मानना पडता है । यदि आप अविद्या और तृष्णाको जानने योग्य स्वभाववाली नहीं मानोगे तो अविद्या और तृष्णाके सद्भाव तथा अभावका निर्णय कैसे होगा ? आपने अविद्या और तृष्णारूप दोषोंसे ज्ञानाद्वैतके जाननेमें भ्रान्ति होना माना है और अविद्या तृष्णाके विध्वंस होजानेपर ज्ञानाद्वैतकी भ्रांतिरहित जाननेकी व्यवस्था स्वीकार की है, जबकि वे दोनों दोष ज्ञानसे जानने योग्य ही नहीं हैं तो उनकी सत्ता और असत्ताका निर्णय कैसे होसकता है ? जिससे कि संवेदनके जाननेमें झूँट या सत्यकी व्यवस्थाकी जावे ।

निरंशसंवेदनसिद्धिरेवाविद्यातृष्णानिवृत्तिसिद्धिरित्यपि न सम्यक्, विप्रकृष्टेतरस्व-भावयोरर्थयोरेकतरसिद्धावन्यतरसद्भावासद्भावसिद्धेरयोगात्, कथमन्यथा व्याहारादिविशे-षोपलम्भात्कस्यचिद्विज्ञानाद्यतिशयसद्भावो न सिद्ध्येत् ।

बौद्ध कहते हैं कि जानने योग्य घट, पट, स्वलक्षण, परमाणु आदिका सम्बन्धी ग्राह्य अंश और जाननेवाला प्रमाण, प्रमातारूप ग्राहक अंश तथा ज्ञप्ति, प्रमितिरूप संवित्ति अंश इन तीनोंसे रहित शुद्ध संवेदन एक तत्त्वकी सिद्धि हो जाना ही अविद्या और तृष्णाके अभावकी सिद्धि है। जैसे घटरहित अकेले भूतलका जानना ही घटाभावका ज्ञान है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी बौद्धोंका कहना अच्छा नहीं है । कारण कि अत्यन्त परोक्ष और प्रत्यक्ष स्वभाववाले दो पदार्थोंमेंसे एककी सिद्धि होनेपर शेष दूसरेकी सत्ता या असत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है, जैसे परमाणु और घटमेंसे एकके जाननेपर शेष बच रहे दूसरेकी सत्ता या असत्ताका निश्चय नहीं हो सकता है, अन्यथा यदि आप संवेदनाद्वैतके जाननेसे ही अविद्या और तृष्णाका अभाव सिद्ध कर दोंगे अर्थात् अविना-भावी एक हेतुसे दूसरे अतीन्द्रियसाध्यका अनुमान कर लोंगे तो विशिष्ट वचनोंका उच्चारण, चेष्टा आदि कार्योंके जाननेसे किसी आत्माके विज्ञान और वीतरागता आदि चमत्कारोंका विद्यमान होना क्यों नहीं सिद्ध होगा ? । जैनोंका अभीष्ट तत्त्व अवश्य सिद्ध हो जावेगा ॥

तदयं प्रतिपत्ता स्वस्मिन् व्याहारादिकार्ये रागित्वारागित्वयोः संकीर्णमुपलम्भ यत्न

रागित्वनियमाभावं साधयति न पुनररागित्वं रागित्वं चेति ब्रुवाणः परीक्षकत्वमभिमन्यत इति किमपि महाद्भुतम्।

उस कारण संवेदनकी सत्ता और अविद्या तृष्णाके अभावको यह बौद्ध अच्छी तरह जान रहा है और सराग वीतरागोंके जाननेमें संशय करता है, अपनेमें अनुभव किये हुए वचन चेष्टा आदि कार्योंको रागसहितपने और वीतराग सहितपनेसे मिला जानकर पुनः दूसरे पुरुषोंमें केवल रागीपनेके नियमका अभाव तो सिद्ध करता है किन्तु वीतरागपन और रागीपनेके सद्भावका नियम नहीं मानता है यों उक्त कहनेवाला बौद्ध अपने परीक्षकपनेका अभिमान करता है, हमें तो यह कुछ भी एक बडा भारी आश्चर्य है।

यथैव हि रागित्वाद्यतीन्द्रियं तथा तदनियतत्वमपीति कुतश्चित्तत्साधने वीतरागित्वाद्यतिशयसाधनं साधीयः। ततोऽयमस्य प्रवचनस्य प्रणेताप्त इति ज्ञातुं शक्यत्वादाप्तमूलत्वं तत्प्रामाण्यनिबन्धनं सिद्ध्यत्येव।

अब कि जिस ही प्रकार रागीपन और वीतरागपन बहिरंग इन्द्रियोंसे जानने योग्य (लायक) नहीं हैं, उसी प्रकार उनके अभावका नियम करना भी अतीन्द्रिय है। जो पदार्थ इन्द्रियोंके अगोचर है उनका अभाव भी इन्द्रियोंका विषय नहीं है। यों फिर भी किसी कारणसे मनुष्योंमें सरागपनेके नियमकी सिद्धि करोगे तो सर्वज्ञता, वीतरागता, तीर्थंकरता आदि अतिशयोंका साधन करना भी बहुत अच्छी तरहसे हो सकता है। उस कारणसे अब तक सिद्ध हुआ कि हम सर्वज्ञ वीतरागताका निर्णय कर सकते हैं और यह भी जान सकते हैं कि यह सर्वज्ञ यथार्थ वक्ता ही इस शास्त्रका अर्थरूपसे बनानेवाला है इस कारण इस सूत्रको कारणरूपसे आप्तमूलक होनेसे आगमप्रमाणपना सिद्ध हो ही जाता है जो कि इसकी प्रमाणताका कारण है। यहांतक सूत्रको आगमप्रमाणपना सिद्ध करनेके प्रकरणका उपसंहार कर दिया गया है।

अथवानुमानमिदं सूत्रमविनाभाविनो मोक्षमार्गत्वलिंगान्मोक्षमार्गधर्मिणि सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वस्य साध्यस्य निर्णयात्। तथाहि, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गो मोक्षमार्गत्वान्यथानुपपत्तेः, न तावदत्राप्रसिद्धो धर्मी हेतुर्वा मोक्षवादिनामशेषाणामविप्रतिपत्तेः। मोक्षाभाववादिनस्तु प्रति तत्सिद्धेः प्रमाणतः करिष्यमाणत्वात्।

अब सूत्रको अनुमानप्रमाणरूप सिद्ध करनेका प्रकरण चलाते हैं। श्रीविद्यानन्दी आचार्य प्रत्येक पदार्थको समीचीन तर्कद्वारा अनुमानसे सिद्ध करते हैं। पूर्वमें इस सूत्रका आगमप्रमाणपना भी अनुमान बनाकर सिद्ध किया था। अब सूत्रको अनुमानपना सिद्ध करनेके लिये भी अनुमान बनाते हैं। अथवा यह सूत्र अनुमानप्रमाणरूप है। क्योंकि समीचीनव्याप्तिवाले मोक्षमार्गत्व-हेतुसे साध्यधर्म

वाले मोक्षमार्गरूप पक्षमें सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र इन तीनोंकी एकतारूप साध्यका निश्चय किया है, इसी बातको स्पष्ट कर समझाते हैं कि मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप है, (प्रतिज्ञा) अन्यथा उसको मोक्षमार्गपना नहीं बन सकेगा, (हेतु) पहिले तो इस अनुमानमें मोक्षमार्गरूपी पक्ष और हेतु अप्रसिद्ध नहीं है कारण कि संपूर्ण मोक्ष माननेवाले वादियोंने सामान्यरूपसे मोक्षका मार्ग विवादरहित स्वीकार किया है, और जो चार्वाक, शून्यवादी, आदि मोक्षको सर्वथाही नहीं मानते हैं, उनके प्रति तो मोक्षकी सिद्धि आगे चलकर प्रमाणोंसे कर दी जावेगी, संतोष रखिये, अतः उनको भी वह मोक्षका मार्ग स्वीकार करना अनिवार्य होगा ।

प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुरिति चेत्—

साध्य और पक्षके कहनेको प्रतिज्ञा कहते हैं, हेतुका साध्यके साथ समर्थन और पक्षमें रहना सिद्ध करनेके पूर्वमें उक्त प्रतिज्ञावाक्य सिद्ध नहीं समझा जाता है, इस अनुमानमें जैनोंने प्रतिज्ञाके एक देश होरहे पक्षको ही हेतु बना दिया है, ऐसी दशामें जब प्रतिज्ञा असिद्ध है तो उसका एक देश माना गया हेतु भी असिद्ध ही है यदि आप बौद्ध ऐसा कहोगे तब तो ।

कः पुनः प्रतिज्ञार्थस्तदेकदेशो वा ?

यहां हम पूछते हैं कि उस प्रतिज्ञाके वचनका वाच्य अर्थ क्या है ? और क्या उस प्रतिज्ञाके अर्थ (विषयका) एक देश है ? जिसको कि शंकाकार असिद्ध कर रहा है, बताओ ।

साध्यधर्मधर्मिसमुदायः प्रतिज्ञार्थस्तदेकदेशः साध्यं धर्मो यथाऽनित्यः शब्दोऽनित्यत्वादिति, धर्मी वा तदेकदेशो यथा नश्वरः शब्दः शब्दत्वादिति, सोयं हेतुत्वेनोपादीयमानो न साध्यसाधनायालं स्वयमसिद्धमिति चेत् ।

यहां शंकाकार कहता है कि साध्यरूपी धर्म और पक्षरूपी धर्मीका समुदाय ही प्रतिज्ञावाक्यका विषय है । उसका एक देश साध्यधर्म है । उस प्रतिज्ञाविषयका एक देश कहे गये साध्यरूपी धर्मको यदि हेतु कर लिया जायेगा तब वह हेतु साध्य सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता है । जैसे कि शब्द अनित्य है अनित्य होनेसे यहां साध्यको ही हेतु करलिया गया है । तथा कहीं प्रतिज्ञाके एकदेश माने गये धर्मीको हेतु बतानेपर भी साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है । जैसे कि शब्द नाशस्वभाववाला है शब्द होनेसे । इस अनुमानमें स्वयं शब्दत्व ही जब असिद्ध है तो वह हेतुपनेसे अनुमानमें ग्रहण किया गया होकर साध्यके सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता है । यदि आप सौगत ऐसा कहोगे ? । तब तो—

कथं धर्मिणोऽसिद्धता 'प्रसिद्धो धर्मीति' वचनव्याघातात् ।

वहां आचार्य कहते हैं कि प्रतिज्ञाके एकदेश पक्षको हेतुरूपसे ग्रहण कर लिया गया है तो भी स्वयं असिद्ध नहीं है जिससे कि वह साध्यको सिद्ध न कर सके, भला धर्मी असिद्ध कैसे होसकता है ? यदि साध्यके समान धर्मीको भी असिद्ध मानोगे तो " धर्मी प्रसिद्ध होता है " इस माणिक्यनंदी आचार्यके सूत्ररूप वचनका व्याघात हो जावेगा अथवा धर्मीको असिद्ध कहनेवालेको इस सूत्रसे विरोध हो जावेगा। ।

सत्यं प्रसिद्ध एव धर्मीति चेत् स तर्हि हेतुत्वेनोपादीयमानोऽपि न स्वयमसिद्धो यतो न साध्यं साधयेत् ।

प्रतिवादी शङ्काकार--आचार्योंका कहना बिल्कुल ठीक है कि वादी प्रतिवादियोंको जो प्रसिद्ध है वही धर्मी होता है । यदि शंकाकार ऐसा कहेगा तो हम कहते हैं कि ऐसे प्रसिद्ध धर्मीको यदि हमने हेतुरूपसे अनुमानमें ग्रहण किया है तब तो वह स्वयं असिद्ध नहीं है जिससे कि साध्यको सिद्ध न कर पावे, अर्थात् साध्यको अवश्य सिद्ध कर देवेगा।

स हेतुरनन्वयः स्यात् धर्मिणोऽन्यत्रानुगमनाभावादिति चेत् सर्वमनित्यं सत्त्वादिति धर्मः किमन्वयी येन स्वसाध्यसाधने हेतुरिष्यते ?

यहां शंकाकर बौद्ध कहता है कि यदि आप पक्षको ही हेतु करोगे तो अन्वयदृष्टान्त नहीं मिल सकेगा, अतः अनन्वयदोष है। क्योंकि धर्मीके सिवाय दूसरी जगह हेतु रहेगा नहीं, जैसे कि जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है, यहां रसोईघर दृष्टान्त है किंतु जहां मोक्षमार्गपना है वहां वहां रत्नत्रयका समुदायपना है, इस अन्वयव्याप्तिका पक्षके सिवाय कोई दूसरा दृष्टान्त मिलता नहीं है। यदि आप ऐसा कहोगे तो यहां आचार्य बौद्धसे पूंछते हैं कि संपूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं सत् होनेसे, इस आपके माने गये प्रसिद्ध अनुमानमें क्या सत्त्व हेतु अन्वयदृष्टान्त रखता है ? जिससे कि क्षणिकपनेरूप अपने साध्यके सिद्ध करनेमें अच्छा हेतु माना जावे, अर्थात् यहां भी सम्पूर्ण पदार्थोंको पक्षकोटिमें ले रखा है, अतः आपके अनुमानमें भी अन्वय दृष्टान्त न मिलनारूप अनन्वय दोष है। साहित्यवालोंने आकाश आकाशके समानही लम्बा चौडा है, समुद्र समुद्रके समान गंभीर है इन वाक्योंमें अनन्वय नामक अलङ्कार माना है। बौद्धोंने इसको दोष माना है, जैन न्याय-वेत्ता तटस्थ हैं। अनन्वय न तो दोष है और न गुण है।

सत्त्वादिधर्मसामान्यमशेषधर्मिव्यक्तिष्वन्वयीति चेत् तथा धर्मिसामान्यमपि, दृष्टान्त-धर्मिण्यनन्वयः पुनरुभयत्रेति यत्किंचिदेतत् ।

यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे कि क्षणिकत्व सिद्ध करनेके लिये दिये गये सत्त्व, कृतकत्व, उत्पत्ति-मत्त्व आदि हेतु तो सामान्यपनेसे सम्पूर्ण पक्षरूप व्यक्तियोंमें रहते हैं, अतः अन्वयदृष्टान्त बन जावेगा,

तबतो उसी प्रकार हम भी कहते हैं कि हमारे अनुमानमें भी मोक्षमार्गस्वरूपी हेतु सामान्यरूपसे दृष्टान्तधर्मीमें भी पाया जाता है, पक्षके एक देशमें भी अन्वयव्याप्तिका बनना इष्ट किया गया है। तथा विशेषरूपको पक्ष बनाकर और सामान्य अंशको हेतु माननेवालोंको कोई दोष नहीं आता है। यदि बौद्धोंका यह आग्रह है कि पक्षसे बहिर्भूत ही अन्वयदृष्टांत होना चाहिये अन्यथा अनन्वय दोष होगा, तब तो ऐसा अनन्वय दोष फिर हमारे और आपके दोनों अनुमानोंमें समान है, फिर यह कुछ भी कहनामात्र है, तत्त्व कुछ नहीं निकला। यानी आपके उक्त कथनका कुछ भी फल नहीं निकलता है। पक्षके अंतरंगमें भी व्याप्ति बनायी जाकर सद्धेतुओंकी व्यवस्था मानी गयी है, जैसेकि सर्वज्ञकी सिद्धि करनेमें सम्पूर्ण पदार्थोंको पक्ष कर एकज्ञानसे जाने गयेपनको साध्य किया है और अनेकत्व हेतु दिया है, इस अनुमानमें जो जो अनेक होते हैं वे वे एक ज्ञानके विषय होजाते हैं, जैसेकि पांचों अंगुलियां ऐसी अन्वयव्याप्ति बनाकर पांचों अंगुलियोंको अन्वयदृष्टांत माना है, जो कि पक्षमें अंतर्भूत हैं। दूसरी बात यह है कि अन्वयदृष्टांतमें रहना हेतुका प्राणस्वरूप लक्षण नहीं है। विना अन्वय दृष्टांतके भी प्राणादिमत्त्व हेतुसे आत्मासहितपनेको और कृत्तिकोदयसे मुहूर्तके बाद रोहिणी नक्षत्रके उदयको सिद्ध किया गया है। तीसरी बात यह है कि कविलोगोंने अनन्वयको दोष न मानकर अलंकार ही माना है, जैसे कि जिनेन्द्र देव जिनेन्द्रदेव ही हैं, यहां कोई दूसरा उपमान नहीं मिलता है।

साध्यधर्मः पुनः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वान्न हेतुर्धर्मिणा व्यभिचारात् किं तर्हि स्वरूपासिद्धत्वादेवेति न प्रतिज्ञार्थैकदेशो नाम हेत्वाभासोऽस्ति योऽत्राशंक्यते।

श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्यने वह्निवाला पर्वत है, इस अनुमानमें अग्निको साध्य माना है और कहीं कहीं अग्निसहित पर्वतको भी साध्य माना है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी " मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन आदि त्रयात्मक " है, यहां साध्यकी कुक्षिमें पडे हुए दो धर्म हैं, उन दोनोंको प्रतिज्ञावाक्यके विषयका एकदेशपना है, वहां पक्ष अंश तो प्रसिद्ध ही है। साध्य अंश अप्रसिद्ध माना गया है, अतः प्रतिज्ञाका एकदेश होनेसे सद्धेतुपनेमें दोष आवेगा, यदि ऐसा नियम करोगे यह ठीक नहीं, तब तो पक्षसे व्यभिचार हो जावेगा क्योंकि पक्ष भी तो प्रतिज्ञाका एकदेश है, तब तो फिर क्या करें? इसका उत्तर यह है कि यदि प्रतिज्ञाके विषय असिद्ध है तो वहां स्वरूपासिद्ध नामके हेत्वाभाससे असिद्धता उठानी चाहिये, पक्षमें हेतुके न रहनेको स्वरूपासिद्ध कहते हैं। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर ये चार हेत्वाभास हैं, जिसकी आप यहां शंका कर रहे हैं, या जो दोष यहां उठाया जा रहा है, वह प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध नामका तो कोई हेत्वाभास ही नहीं है।

श्रावणत्वादिवदसाधारणत्वादनैकान्तिकोऽयं हेतुरिति चेन्न असाधारणत्वस्यानैकान्तिकत्वेन व्याप्त्यसिद्धेः ।

नैयायिक लोग अनैकान्तिक हेत्वाभासको तीन प्रकारका मानते हैं, साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी । सपक्ष और विपक्षमें रहनेवाले हेतुको साधारण कहते हैं, जैसे कि पर्वत अग्निवाला है। प्रमेय होनेसे, इस अनुमानमें प्रमेयत्व हेतु रसोई घर और तालावमें रह जानेसे साधारण अनैकाकान्तिक हेत्वाभास है । और जो हेतु सपक्ष, विपक्ष, दोनोंमें नहीं रहता है उसको असाधारण कहते हैं । जैसे कि शब्द अनित्य है क्योंकि कर्णेन्द्रियसे ग्राह्य है, कानोंसे जाना गयापन हेतु तो घट आदि सपक्ष और आत्मा आकाश आदि विपक्षमें नहीं रहता है। अतः असाधारण है और केवलान्वयी पक्षवाले हेतुको अनुपसंहारी कहते हैं, जैसे कि 'सर्व पदार्थ जानने योग्य हैं प्रमेय होनेसे' यहां सर्व पदार्थोंको पक्ष कर लिया है, अतः अन्वयदृष्टान्त और व्यतिरेकदृष्टान्त नहीं मिलते हैं ।

आचार्यके माने गये मोक्षमार्गत्वहेतुको प्राचीन नैयायिकके मतानुसार बौद्ध असाधारण हेत्वाभास बता रहा है । जैसे कि श्रावणत्व हेतु अनित्य माने गये घट, पट, आदि सपक्षों में नहीं रहता, है तथा नित्य हो रहे आकाश, आत्मा, आदि विपक्षोंमें भी नहीं वर्तता है इस कारण असाधारण है । उसी प्रकार यह मोक्षमार्गत्व हेतु भी पक्षके अतिरिक्त सपक्ष और विपक्षमें न रहनेसे असाधारण हेत्वाभास है । ग्रंथकार कहते हैं कि यह नैयायिकोंका विचार ठीक नहीं है । क्योंकि जो जो असाधारण होता है । वह वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है ऐसी व्याप्ति सिद्ध नहीं है ।तभी तो नव्यनैयायिकोंने असाधारण हेत्वाभासका प्रत्याख्यान कर दिया है । और जैन भी असाधारण नामका हेत्वाभास नहीं मानते हैं ।

सपक्षविपक्षयोर्हि हेतुरसत्त्वेन निश्चितोऽसाधारणः संशयितो वा ? निश्चतश्चेत् कथमनैकान्तिकः ? पक्षे साध्यासम्भवे अनुपपद्यमानतयास्तित्वेन निश्चितत्वात् संशयहेतुत्वाभावात् । न च सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन निश्चिते पक्षे साध्याविनाभावित्वेन निश्चेतुमशक्यः सर्वानित्यत्वादौ सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसंगात्, न हि सत्त्वादिर्विपक्ष एवासत्त्वेन निश्चितः सपक्षेऽपि तदसत्त्वनिश्चयात् ।

हम जैन आप वृद्ध नैयायिकोंकी पक्षवाले बौद्धोंसे पूछते हैं कि आप सपक्ष विपक्षमें न रहने वाले हेतुको असाधारण कहते हैं तो जैसे आपने साधारण व्यभिचारके दो भेद किये हैं, विपक्षमें हेतुके निश्चितरूपसे रहनेपर निश्चित व्यभिचार होता है और विपक्षमें हेतुके रहनेका संशय होनेपर संदिग्ध व्यभिचार होता है । इसी प्रकार क्या सपक्ष और विपक्षमें हेतुके निश्चयरूपसे न रहनेको असाधारण कहते हैं ? या संशयरूपसे न रहनेको असाधारण मानते हो ? बताओ यदि आप पहिला

पक्ष लोगे कि सपक्ष और विपक्षमें न रहनेका निश्चय होनेसे निश्चितासाधारण हेत्वाभास होता है; तब तो असाधारणको अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं कहना चाहिए क्योंकि जो हेतु साध्यके साथ अविनाभाव रखता हुआ और साध्यके न रहनेपर विपक्षमें निर्णीतरूपसे नहीं वर्तमान होता हुआ केवल पक्षमें वर्तमानपनेसे निश्चित है वह तो अच्छी तरहसे सद्धेतु है। चाहे वह सपक्षमें भले ही न रहे। पक्षमें न रहनेके संशयका कोई कारण नहीं है। जिसका सपक्ष, विपक्षमें अवृत्तिपनेका निश्चय है वह पक्षमें भी साध्यके साथ अविनाभावी रहकर निश्चय नही किया जा सके यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त नियम माननेपर सबको अनित्यपना सिद्ध करनेमें दिये गये सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतुओंको भी असिद्धपनेका प्रसंग आवेगा। सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतु विचारे विपक्ष में ही अवृत्ति होकर निश्चित है। इतना ही नहीं बल्कि सपक्षमें भी वे सत्त्व आदि हेतु अवर्तमान-पनेसे निश्चित हो रहे हैं।

सपक्षस्याभावात्तत्र सर्वानित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादेरसत्त्वनिश्चयान्निश्चयहेतुत्वं न पुनः श्रावणत्वादेस्तद्भावेऽपीति चेत्। ननु श्रावणत्वादिरपि यदि सपक्षे स्यात्तदा तं व्याप्नुयादेवेति समानांतर्व्याप्तिः।

यहां बौद्ध कहते हैं कि सबको अनित्य सिद्ध करनेमें दिया गया सत्त्व हेतु असाधारण नहीं होसकता है क्योंकि सबको पक्षकोटिमें लेलिया है। अतः कोई सपक्ष शेष रहता ही नहीं है। और शब्द अनित्य है श्रवण इंद्रियसे जानने योग्य होनेसे। इस अनुमानमें घट, पट आदि सपक्षोंके विद्यमान होनेपर भी श्रावणत्व हेतु उनमें नहीं रहता है। अतः श्रावणत्व हेतु तो असा-धारण हेत्वाभास है किंतु सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतुओंका सपक्ष सर्वथा बिल्कुल नहीं है। सपक्षके सर्वथा न होनेसे सत्त्व आदि हेतुओंका सपक्षमें न रहना स्वतः ही निश्चित होगया। इस कारण सत्त्व आदि हेतु सद्धेतु हैं किंतु फिर श्रावणत्व आदि हेतु तो सद्धेतु नहीं होसकते हैं क्योंकि वहां सपक्ष घट, पट, आदि विद्यमान हैं और उनमें श्रावणत्व हेतु रहता नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम भी बौद्धोंसे कह सकते हैं कि श्रावणत्व आदि हेतु भी यदि सपक्षमें रहते होते तो उस समय अवश्य सपक्षमें रहनेवाले साध्यको व्याप्त कर लेते। अतः जैसे आप सर्वरूपी पक्षके भीतर बिजली, बबूला आदिमें सत्त्व और अनित्यत्वकी व्याप्ति बनाकर सत्त्व, कृतकत्वको सद्धेतु कहते हैं। उसी प्रकार शब्दोंमेंसे ककार, मृदंगध्वनि आदि पक्षके एकदेशीय शब्दोंमें श्रावणत्व और अनित्यत्वकी व्याप्ति बनाकर श्रावणत्वको भी सद्धेतु बनाया जा सकता है। पक्षके भीतर भी साध्य और हेतुकी व्याप्ति बनाना इष्ट किया गया है। वह हमको और आपको समानरूपसे माननी पड रही है।

सति विपक्षे धूमादिश्चासत्वेन निश्चितो निश्चयहेतुर्मा भूत्, विपक्षे सत्यसति

वाऽसत्त्वेन निश्चितः साध्याविनाभावित्वाद्धेतुरेवेति चेत् सपक्षे सत्यसति वा सत्त्वेन निर्णीतो हेतुरस्तु तत एव ।

यदि सपक्षके सर्वथा न होनेपर तो सपक्षमें न रहनेको गुण माना जाय और सपक्षके होनेपर सपक्षावृत्तित्वको दोष माना जाय तब तो विपक्ष तालाव आदिके विद्यमान रहनेपर धूम आदि हेतुके न रहनेका निश्चय भी धूम आदिकके निश्चयरूपसे सद्धेतुपनेको सिद्ध न कर सकेगा, कारण कि आपका सत्त्व हेतु भी तो विपक्षमें नहीं रहता है, जब सबको ही पक्ष कर रखा है, ऐसी दशामें विपक्ष कोई नहीं है । इसपर बौद्ध यदि यह कहेंगे कि विपक्ष होवे चाहे न होवे, उसमें अवृत्तिपनेसे निश्चित जो हेतु है, वह साध्यके साथ अविनाभावसंबन्ध रखता है, इस कारण सद्धेतु ही है, ऐसा कहनेपर हम जैन भी कह सकते हैं कि उस ही कारण सपक्ष होवे चाहे न होवे, उसमें (पक्षके भीतर भी) वृत्तिपनेसे निर्णय किया गया श्रावणत्व हेतु भी साध्यके साथ अविनाभावरूप व्याप्ति रखनेसे ही समीचीन हेतु होना चाहिये, भले ही वह पक्षसे बहिर्भूत सपक्षमें न रहे । इस प्रकरणमें अन्यवादियोंका आग्रह यह है, कि पक्षसे सर्वथा भिन्न ही सपक्ष होना चाहिये किन्तु हमारा मत है कि पक्षका अन्तरङ्ग भी सपक्ष हो सकता है ॥

सपक्षे तदेकदेशे वाऽसन् कथं हेतुरिति चेत्, सपक्षे असत्त्वेन हेतुरित्यनवधारणात् । विपक्षे तदसत्त्वानवधारणमस्त्वित्ययुक्तं साध्याविनाभावित्वव्याघातात् । नैवं सपक्षे तद-सत्त्वानवधारणे व्याघातः कश्चित् ॥

बौद्ध कहते हैं कि निश्चितसाध्य वाले संपूर्ण सपक्षोंमें या उसके एकदेशरूप किसी दृष्टा-न्तमें न रहता हुआ हेतु कैसे अच्छा हेतु होसकता है ? इसपर आचार्य कहते हैं कि सपक्षमें हेतु नहीं ही रहना चाहिये, ऐसा तो नियम किसीने नहीं किया है अर्थात् हेतु सपक्षमें रह जाय तो अच्छा और यदि न रहे तो भी हानि नहीं है । "ऊपरके देशमें पानी वर्ष चुका है क्योंकि नीचेके प्रान्तमें नदीका प्रवाह बढ गया है" इस अनुमानका हेतु पक्ष, सपक्ष, दोनोंमें नहीं रहता है तथा "जीवित पुरु-षोंके शरीर आत्मासे सहित हैं, श्वासउच्छ्वास और शरीर, इन्द्रिय आदिमें विशिष्ट चेष्टा होनेसे" इस अनुमानमें हेतु सपक्षमें सर्वथा बिल्कुल नही रहता है, क्योंकि पूर्व अनुमानमें कानपुर पक्ष है, बना-रसमें गङ्गाका पूर बढना हेतु है, वृष्टि होना साध्य है । यहां बरसते समय गृहकी छत, गली आदि सपक्ष हैं वहां हेतु नहीं रहता है । दूसरे अनुमानमें सर्व ही जीवितशरीरोंको पक्ष बना रक्खा है । "पर्वत आगवाला है धूम होनेसे" यहां हेतु पक्ष सपक्ष दोनोंमें रहता है । उक्त तीनों हेतु सद्धेतु माने गये हैं, अतः सपक्षमें न रहनेका ही नियम करना आवश्यक नहीं है । यदि यहां कोई इस प्रकार कहे कि साध्यके अभाववाले विपक्षमें भी हेतुके अवर्तमानपनेका नियम मत करो आचार्य कहते हैं

कि यह कहना युक्तिसे रहित है, क्योंकि विपक्षमें न रहनेका यदि नियम नहीं किया जावेगा तो साध्यके बिना न रहनेरूप हेतुके गुणका नाश हो जावेगा और सपक्षमें हेतुकी असत्ताका नियम न करनेपर हेतुका रत्तीभर भी कोई बिगाड होता नहीं है।

इति तत्र सन्नसन् वा साध्याविनाभावी हेतुरेव श्रावणत्वादिः सत्त्वादिवत्, तद्वन्मोक्षमार्गत्वादिति हेतुर्नासाधारणत्वादगमकः,साध्यस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकत्वस्याभावे ज्ञानमात्रात्मकत्वादौ सर्वथानुपपन्नत्वसाधनात्।

इस कारण यह सिद्ध हुआ है कि उस सपक्षमें हेतु विद्यमान रहे अथवा न रहे। यदि वह साध्यके साथ अविनाभाव संबंधरूप व्याप्ति रखता है तो वह अवश्य सद्धेतु है। आपने सत्त्व, कृतकत्व आदिकको जैसे सद्धेतु माना है उसी प्रकार श्रावणत्व आदि भी सद्धेतु हैं और सपक्षमें न रहनेपर भी मोक्षमार्गत्व हेतु सत्त्व आदि हेतुके समान सद्धेतु है। असाधारण हेत्वाभास होनेसे साध्यको नहीं ज्ञापन करनेवाला है यह कटाक्ष ठीक नहीं है। किन्तु अविनाभाव-संबंधके होनेसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनोंकी एकतारूप साध्यका साधक ही है। जहां तीनोंकी तदात्मक एकता नहीं है ऐसे अकेले ज्ञान या कोरी श्रद्धा, भक्ति, तथा कुज्ञान आदिमें सभी प्रकारोंसे मोक्षमार्गत्व हेतु सिद्ध नहीं माना गया है।

यदि पुनः सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन संशयितोऽसाधारण इति मतं तदा पक्षत्रयवृत्तितया निश्चितया संशयितया वानैकान्तिकत्वं हेतोरित्यायातम्, न च प्रकृतहेतोः सास्तीति गमकत्वमेव।

पूर्वमें असाधारण हेत्वाभासका लक्षण करते समय दो पक्ष उठाये थे, उनमें सपक्ष और विपक्षमें न रहनेपनेसे निश्चित किये गयेरूप असाधारण हेत्वाभासके लक्षणका खण्डन हो चुका। अब सपक्ष और विपक्षमें नहीं रहनेके संशयको प्राप्त हुआ हेतु असाधारण हेत्वाभास है, यदि ऐसे दूसरे पक्षकारका मत ग्रहण करोगे, तब तो अनैकान्तिक हेत्वाभासका यह लक्षण आया कि पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें निश्चतरूपसे विद्यमान रहनेवाला और संशयरूपसे रहनेवाला हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है। निश्चितरूपसे तीनों पक्षोंमें रहना तो साधारण हेत्वाभासका लक्षण आप मानही चुके हैं और अब तीनों पक्षोंमें संशयरूपसे रहना असाधारणहेत्वाभासका लक्षण मान रहे हैं, अतः समुदित रूपसे यह अनैकान्तिकका लक्षण अच्छा है। हम भी व्यभिचारके संदिग्ध और निश्चित दो भेद मानते हैं, किन्तु प्रकरणमें प्राप्त हुये मोक्षमार्गत्व हेतुमें पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें संशयरूपसे रहनापन तथा तीनों पक्षोंमें निश्चितरूपसे विद्यमानपन नहीं है, इस कारण निर्दोष होनेसे मोक्षमार्गत्व हेतु अपने साध्यका ज्ञापक ही है अनैकान्तिक नहीं है।

विरुद्धतानेन प्रत्युक्ता विपक्षे बाधकस्य भावाच्च ।

व्यभिचार और विरुद्ध हेतुका भाईचारेका नाता है, अन्तर इतना पड जाता है कि व्यभिचारी हेतु सपक्षमें रहकर विपक्षमें रहता है और विरुद्ध हेतु सपक्षमें न रहकर विपक्षमें रह जाता है। जब इन दोनोंमें समानता है तो अनैकान्तिकता दोषके हटानेवाले उक्त प्रकरणसे मोक्षमार्गत्व-हेतुके विरुद्ध हेत्वाभासपनेकी शंकाका भी खण्डन हो जाता है क्योंकि हेतुके विपक्षमें रहनेका प्रबल बाधक विद्यमान है । अर्थात् अकेले सम्यग्दर्शन आदिमें या कुज्ञान, असदाचारोंमें हेतु सर्वथा नहीं रहता है । विपक्षमें बाधक प्रमाण होनेसे प्रत्येक वस्तुकी सत्ताका दृढ निश्चय होता है ।

न चैवं हेतोरानर्थक्यं ततो विधिमुखेन साध्यस्य सिद्धेरन्यथा गमकत्ववित्तौ तदापत्तेः ।

यहां कोई कहे कि जिसको विपक्षमें बाधक प्रमाणका निश्चय है उसको साध्यका निश्चय भी अवश्य है ऐसी दशामें हेतु बोलना सर्वथा व्यर्थ है । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कल्पना ठीक नहीं है । कारण कि उस हेतुके द्वारा साध्यकी सिद्धि विधिको मुख्य कर की जाती है और विपक्षमें हेतुके न रहनेसे साध्यकी सिद्धि निषेधको लेकर हुयी थी अन्यथा यानी यदि ऐसा न होता तो हेतुके गमकपनेके जाननेपरही वह साध्यका ज्ञान होगया होता, किन्तु देखते हैं कि अविनाभावी हेतुके जाननेपर भी बादमें व्याप्तिस्मरण, पक्षवृत्तित्वज्ञान, तथा कहीं कहीं समर्थन, दृष्टांत, और उपनयके अनंतर साध्यका निर्णय होता है ।

ततः सूक्तं लैंगिकं वा प्रमाणमिदं सूत्रमविनाभाविलिङ्गात्साध्यस्य निर्णयादिति ।

उस कारण हमने पहिले बहुत अच्छा कहा था कि "अथवा यह सूत्र तो लिङ्गजन्य अनुमान-प्रमाणरूप है क्योंकि इसमें अविनाभाव रखनेवाले मोक्षमार्गत्व हेतुसे रत्नत्रयकी एकतारूप साध्यका निश्चय किया गया है"। इस प्रथम सूत्रको आगमप्रमाण और अनुमान-प्रमाणरूप सिद्ध करनेका प्रकरण यहां तक समाप्त हुआ ।

प्रमाणत्वाच्च साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे प्रक्षीणकल्मषे सिद्धे प्रवृत्तमन्यथा प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः ।

और जब यह सूत्र आगमज्ञान और अनुमानज्ञानरूप है तो प्रमाण होनेके कारण इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको जान चुके और कर्मोंके क्षय कर चुके वीतराग सर्वज्ञके सिद्ध होनेपर उपचारसे वचनरूप किंतु वस्तुतः ज्ञानरूप यह सूत्र आप्तधारासे प्रवर्ता हुआ चला आरहा है । इसके विना माने दूसरे प्रकारसे सूत्रमें प्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकती है ।

"नेदं सर्वज्ञे सिद्धे प्रवृत्तं तस्य ज्ञापकानुपलम्भादभावसिद्धेः" रिति परस्य महामोहविचेष्टितमाचष्टे—

यहां किसीका नवीन पूर्वपक्ष है कि "यह सूत्र सर्व पदार्थोंका प्रत्यक्ष करनेवाले सर्वज्ञके सिद्ध होनेपर प्रवृत्त हुआ है यह जैनोंका कहना ठीक नहीं है कारण कि उस सर्वज्ञका ज्ञान करानेवाला कोई प्रमाण माना नहीं गया है। अतः ज्ञापक प्रमाण नहीं दीखनेसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध है"। इस प्रकार दूसरे सर्वज्ञाभाववादी मीमांसकका कहना अत्यंत गाढमोहसे प्रेरित होकर चेष्टा करना है। इसी बातको आचार्य कहते हैं—

> तत्र नास्त्येव सर्वज्ञो ज्ञापकानुपलम्भनात्।
> व्योमाम्भोजवदित्येतत्तमस्तमविजृम्भितम्॥ ८॥

उस प्रकरणमें कोई कहता है कि "आकाशके कमलके समान सर्वज्ञका ज्ञापकप्रमाण न होनेसे कोई भी सर्वज्ञ नहीं है"। इस प्रकार का यह अयुक्तबकवाद केवल बढे हुए कुज्ञान और मिथ्यात्व नामक अन्धकारकी कुचेष्टा (हरकत) है।

"नास्ति सर्वज्ञो ज्ञापकानुपलब्धेः खपुष्पवत् इति ब्रुवन्नात्मनो महामोहविलासमावेदयति।"

"सर्वज्ञ नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उसको सिद्ध करनेवाला कोई ज्ञापक प्रमाण नहीं दीखता है (हेतु) जैसे कि आकाशके फूलका (अन्वयदृष्टान्त)" इस प्रकार कहनेवाला अपने महामूढपनेमें होनेवाली चेष्टा करनेकी सूचना दे रहा है।

यस्मादिदं ज्ञापकमुपलभ्यत इत्याह;—

सर्वज्ञाभाववादीके द्वारा सर्वज्ञके नास्तित्व सिद्ध करनेमें दिया गया ज्ञापक प्रमाणका न दीखनारूप हेतु विचारपक्षमें न रहनेसे असिद्ध हेत्वाभास है, जिस कारणसे कि सर्वज्ञका ज्ञान करानेवाला यह अनुमान प्रमाण देखा जा रहा है। इसी बातको आचार्य विशदरूपसे कहते हैं—

> सूक्ष्माद्यर्थोपदेशो हि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकः। परोपदेशलिंगाक्षानपेक्षावितथत्वतः॥९॥

आकाश, परमाणु, धर्म-द्रव्य आदि सूक्ष्म पदार्थोंका और क्षीरसमुद्र, सुमेरुपर्वत आदि देशव्यवहित वस्तुओंका तथा महापद्म, रामचन्द्र, शंख, भरतचक्रवर्ती प्रभृति वर्तमानकालसे व्यवहित पदार्थोंका यथार्थ उपदेश करना तो उन संपूर्ण पदार्थोंके विशदरूपसे प्रत्यक्ष करनेवाले सर्वज्ञको कारण मानकर प्रवृत्त हुआ है (प्रतिज्ञा) क्योंकि दूसरोंके उपदेश, अविनाभावी हेतु, और इंद्रियोंकी अपेक्षा न रखता हुआ वह उपदेश सत्यार्थ है। (हेतु)

शीतं जलमित्याद्युपदेशेनाक्षापेक्षेणावितथेन व्यभिचारोऽनुपचरिततत्साक्षात्कर्तृपूर्वकत्वस्य साध्यस्याभावेऽपि भावादवितथत्वस्य हेतोरुपचारतस्तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकत्वसाधने स्वसिद्धान्तविरोधात्, तत्सामान्यस्य साधने स्वाभिमतविशेषसिद्धौ प्रमाणान्तरापेक्षणात्प्रकृतानुमानवैयर्थ्योपपत्तिरिति न मन्तव्यमक्षानपेक्षत्वविशेषणात् ।

सर्वज्ञके साधक हेतुमें पडे हुए इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले हेतुअंशके प्रयोगकी सफलता दिखलाते हैं कि जल ठण्डा है, पौण्डा मीठा है, फूल सुगन्धित है, वस्तु शुक्ल है इत्यादि उपदेश भी इंद्रियोंकी अपेक्षा रखते हुए सत्य हैं किन्तु मुख्यप्रत्यक्षरूप केवलज्ञानसे जानकर उनका उपदेश नहीं दिया गया है । अतः पहिले मुख्यप्रत्यक्षसे उनका साक्षात् कर पुनः उपदेश देना-स्वरूप साध्यके न रहनेपर भी हेतुके रह जानेसे व्यभिचार दोष है । यदि जैन लोग व्यभिचारके दूर करनेके लिए सांव्यवहारिक प्रत्यक्षसे जाननेवाले वक्ताको कारण मानकर ठण्डा पानी आदि उपदेशोंमें साध्यको सिद्ध करोगे तो जैनोंके सिद्धान्तसे विरोध हो जावेगा । कारण कि इस अनुमानमें साध्यदलमें मुख्य प्रत्यक्षके द्वारा जानकर सूक्ष्म आदिक पदार्थोंके उपदेश देनेका सिद्धान्त किया गया है । इंद्रियप्रत्यक्षसे जानकर उपदेश देनेमें वह सिद्धान्त बिगडता है । अर्थात् सर्वज्ञके भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका प्रसंग आता है जो कि जैनोंको अनिष्ट है । यदि उन इंद्रियप्रत्यक्ष और मुख्यप्रत्यक्षमें रहनेवाले सामान्य प्रत्यक्षसे जानकर वक्ता उपदेश दे देता है अर्थात् साध्यके शरीरमें पडे हुए प्रत्यक्षका खुलासा न कर सामान्य प्रत्यक्षसे जानकर उपदेश दे देनेकी सिद्धि इष्ट करोगे तो ऐसे सामान्य साध्यसे सामान्यरूपसे प्रत्यक्ष करनेवाले वक्ताकी ही सिद्धि हो सकती है किन्तु आपको अपने केवलज्ञानी सर्वज्ञ, वक्ताकी सिद्धि इष्ट है । इसके लिए दूसरा प्रमाण कहना अपेक्षणीय पडेगा । प्रकरणप्राप्त अभीका दिया हुआ सामान्य प्रत्यक्षसे जानकर उपदेश करनेको साधनेवाला अनुमान व्यर्थ पडेगा । इसपर आचार्य कहते हैं कि हमारे हेतुमें इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं रखनारूप विशेषण पडा हुआ है और शंकाकारने इंद्रियोंके द्वारा हुए प्रत्यक्षको कारण मानकर उत्पन्न हुए उपदेशमें हेतुको रखकर साध्यका न रहनारूप व्यभिचार दिया था यों वह व्यभिचारका प्रसंग नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यहां हेतुका अज्ञानपेक्षत्व विशेषण नहीं घटा है । अतः मुख्यप्रत्यक्षसे जानकर उपदेश देनापन साध्य भी नहीं है । साध्य भी न रहा, हेतु भी नहीं ठहरा व्यभिचार दोष टल गया ।

सर्वज्ञविज्ञानस्याप्यक्षजत्वादसिद्धं विशेषणमित्यपरः, सोऽप्यपरीक्षकः, सकलार्थसाक्षात्करणस्याक्षजज्ञानेनासम्भवात्, धर्मादीनामक्षैरसंबन्धात्, स हि साक्षान्न युक्तः पृथिव्याद्यवयविवत्, नापि परम्परया रूपरूपत्वादिवत् स्वयमनुमेयत्ववचनात् ।

यहां अन्यवादी अलौकिक सन्निकर्षके द्वारा योगिप्रत्यक्षको माननेवाला नैयायिक कहता है

कि सर्वज्ञका विशदज्ञान भी इन्द्रियोंसेही जन्य है, अतः इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखना यह हेतुका विशेषण पक्षमें न रहनेसे असिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि वह ऐसा कहनेवाला भी परीक्षक नहीं है क्योंकि इन्द्रियोंसे पैदा हुए ज्ञानके द्वारा त्रिलोक, त्रिकालके संपूर्ण पदार्थोंका स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष नहीं होसकता है, असम्भव है। सुनिये धर्मद्रव्य, पुण्य, पाप, क्षीरसमुद्र, रामचंद्र आदिके साथ आधुनिक पुरुषोंकी इन्द्रियोंका सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आपके मतानुसार इन्द्रियोंके द्वारा उसी पदार्थका प्रत्यक्ष माना गया है, जिसके साथ इन्द्रियोंका विना व्यवधान लिये हुए साक्षात् संबंध हो या व्यवधान डालकर परम्परासे संबन्ध हो। तिनमें यहां धर्मादि पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका वह साक्षात् संबन्ध तो युक्तही नहीं है। जैसे कि घट, पट, भूमि, वायु, जल, आत्मा आदिक द्रव्य पदार्थोंसे चक्षुइन्द्रियका साक्षात् संयोगसंबंध माना है क्योंकि आपके मतमें इंद्रियां द्रव्यरूप मानी गयी हैं। स्पर्शनेन्द्रिय वायुकी, रसना जलकी, घ्राण पृथिवीद्रव्यकी और आंखे तेजोद्रव्यकी बनी हुई हैं। कर्ण आकाश द्रव्यरूप है तथा प्रत्येक आत्माके पास परमाणुके बराबर मनइंद्रिय स्वतंत्र नौमां द्रव्य है। और द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे संयोगसंबंध इष्ट किया है। पृथ्वी आदिक अवयवी द्रव्योंके समानधर्म, परमाणु आदिका इंद्रियोंसे साक्षात्संबन्ध होना युक्त नहीं है। और रूपके साथ आपने संयुक्त समवाय सन्निकर्ष माना है, चक्षुसे संयुक्त घट है, और घटमें रूप समवायसंबंधसे वर्त्तमान है, अतः चक्षु इंद्रियका रूपके साथ संयुक्तसमवायसंबंध है यह परम्परासंबंध है। तथा रूपत्वके साथ चक्षुका आपने संयुक्तसमवेतसमवाय संबंध माना है, यहां भी चक्षुका रूपत्वके साथ दूसरोंकी परम्परा लेकर संबंध है। चक्षुसे घटसंयुक्त है, घटमें समवायसंबंधसे रूप रहता है, और रूपमें रूपत्वजाति समवायसंबंधसे रहती है, अतः चक्षुका रूपत्वके साथ संयुक्तसमवेतसमवाय संबंध है। यों चक्षुका रूप, रूपत्वके समान धर्म आदिकके साथ इंद्रियोंका परम्परासे भी संबंध नहीं है क्योंकि आप नैयायिकोंने पुण्य, पाप, परमाणु आदिको अनुमानप्रमाणसे जानने योग्य कहा है, वे बहिरंग इंद्रियोंके गोचर नहीं हैं। प्रत्यक्षके उपयोगी चक्षु संयुक्तमें उद्भूतरूपसे अवच्छिन्न और महत्त्वावच्छिन्न विशेषण आपने दे रक्खे हैं धर्म आदिमें उद्भूतरूप नहीं है। और परमाणुमें महत्त्व नहीं है।

योगजधर्मानुगृहीतान्यक्षाणि सूक्ष्माद्यर्थे धर्मादौ प्रवर्तन्ते महेश्वरस्येत्यप्यसारं, स्वविषये प्रवर्त्तमानानामतिशयाधानस्यानुग्रहत्वेन व्यवस्थितेः, सूक्ष्माद्यर्थेऽक्षाणामप्रवर्तनात्तदघटनात्। यदि पुनस्तेषामविषयेऽपि प्रवर्त्तनमनुग्रहस्तदैकमेवेन्द्रियं सर्वार्थे ग्रहीष्यताम्।

वैशेषिक कहता है कि चित्तकी वृत्तिको एक अर्थमें रोकनारूप समाधिसे पैदा हुए पुण्य विशेषको सहकारी कारण लेकर महान ईश्वरकी चक्षुरादिक इन्द्रियाँ पुण्य, पाप, परमाणु, स्वर्ग, राम, रावण, सुमेरु आदि सूक्ष्म, व्यवहित आदि अर्थोंके जाननेमें प्रवृत्ति करती हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी वैशेषिक, नैयायिकका कहना साररहित है—क्योंकि अनुग्रह करनेवाला सहकारी कारण वह

निर्णीत किया गया है, जो कि अपने विषयमें प्रवृत्ति करनेवाले कारणोंमें कुछ विशेषताओंको स्थापन कर देवें, जैसे कि छोटे छोटे अक्षरोंके पढनेमें चक्षुका अनुग्रह करनेवाला उपनेत्र (चश्मा) होता है, अन्धे मनुष्यको चश्मा सहकारी कारण नहीं है, तथा रूपकी तरह रसको भी जाननेमें चक्षुका सहकारी चश्मा नहीं हो सकता है, कारण कि रस, गन्ध, आदि चक्षुके विषय ही नहीं है। इसीप्रकार परमाणु, पुण्य, पाप, भूत भविष्यत् कालके पदार्थ तो इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं, अतः अविषयमें प्रवृत्ति करनेके लिये योगसे पैदा हुआ पुण्यविशेष विचारा महेश्वरकी इन्द्रियोंमें सहकारी कारण होकर कुछ विशेषताको नहीं ला सकता है, यों वह बात घटित नहीं होती है। यदि आप फिर महेश्वरकी उन इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे बाहिर भी प्रवर्त्तन करना समाधिसे पैदा हुए पुण्यविशेषसे सहकृत अनुग्रह है ऐसा मानोगे, तब तो सम्पूर्ण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, सुख, दुःख, आदिको ग्रहण करनेवाली एक ही इन्द्रिय इष्ट कर लो, उसमें अनेक कारणोंसे अतिशय पैदा होता जावेगा, अकेली चक्षुइंद्रिय ही उस अतिशयके बलसे अपने विषय नहीं ऐसे रस, गन्ध, आदिकमें भी प्रवृत्ति कर लेवेगी, अतः आप नैयायिक पांच छह इन्द्रियोंकी कल्पना भी क्यों करते हैं ?।

सत्यमन्तःकरणमेकं योगजधर्मानुगृहीतं युगपत्सर्वार्थसाक्षात्करणक्षममिष्टमिति चेत्, कथमणोर्मनसः सर्वार्थसंबन्धः सकृदुपपद्यते ? दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ सकृच्चक्षुरादिभिस्तत्संबन्धप्रसक्तेः, रूपादिज्ञानपंचकस्य क्रमोत्पत्तिविरोधात्। क्रमशोऽन्यत्र तस्य दर्शनादिह क्रमपरिकल्पनायां सर्वार्थेषु योगिमनःसम्बन्धस्य क्रमकल्पनास्तु।

नैयायिक कहते हैं कि आप जैनोंका कहना ठीक है, हम नैयायिक चित्तकी एकाग्रतासे उत्पन्न हुए पुण्यसे सहकृत अन्तरंगकी इन्द्रिय—मनको एक समयमें सम्पूर्ण अर्थोंके प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ मानते ही हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम जैन आपसे पूंछते हैं कि परमाणुके बराबर छोटेसे मनका एक ही बादमें त्रिलोक, त्रिकालके सम्पूर्ण पदार्थोंके साथ सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ? बताओ जहां साधारण लोगोंको पांचों इन्द्रियोंके ज्ञानकी योग्यता है ऐसे (खस्ता) कचौडी, तथा पके हुए पान आदिके खाते समय भी पांचों ही ज्ञान एक समयमें नहीं माने गये हैं, (खस्ता) कचौडी या पापड खाते समय उसका रूप आंखोंसे दीखता है, रसना इन्द्रियसे रस चखा जा रहा है, नाकसे उसकी सुगन्ध आरही है, स्पर्शन इन्द्रियसे उष्ण स्पर्श जाना जाता है तथा कर्णेन्द्रियसे कुरकुर मनोहर शब्द भी सुनायी पडता है। ऐसी दशामें भी हम और आपने एक समयमें वहां पांचों ज्ञान नहीं माने हैं किन्तु क्रमसे शीघ्र पैदा हुए पांच ज्ञान पांच समयोंमें माने हैं। यों एक साथ उनके सम्बन्ध हो जानेका प्रसङ्ग आवेगा यदि आप परमाणुके बरोबर आकारवाले छोटेसे मनका अनेक अर्थोंके साथ एक समयमें साक्षात्संबन्ध मान लोगे तो कचौडी खाते समय

भी पांचों इंद्रियोंसे पांचों ज्ञान एक समयमें हो जाने चाहिए। तब आपके माने गये ज्ञानोंके क्रमसे पैदा होनेका विरोध हो जावेगा। इस विरोधके दूर करनेके लिए यदि आप यह कहेंगे कि अन्य स्थलोंपर घट, वह्नि, आम्र आदिके रूप, रस, आदिका वह ज्ञान क्रमसे ही होता देखा गया है। अतः यहां कचौडी खानेमें भी पांचों ज्ञान क्रमसे होते हुए माने जावेंगे कारण कि छोटेसे मनका अनेक इंद्रियोंके साथ क्रमसे ही संबंध होना सम्भव है, ऐसी अटपटी कल्पना करनेपर तो समाधियुक्त योगियोंके मनका संपूर्ण अर्थोंमें सम्बन्ध करना भी क्रमसे ही मानना पडेगा।

सर्वार्थानां साक्षात्करणसमर्थस्येश्वरविज्ञानस्यानुमानसिद्धत्वादीशमनसः सकृत्संबन्धसिद्धिरिति चेत्। रूपादिज्ञानपञ्चकस्य क्वचिद्यौगपद्येनानुभवादनीशमनसोऽपि सकृच्चक्षुरादिभिः सम्बन्धोऽस्तु कुतश्चिद्धर्मविशेषात्तथोपपत्तेः।

पुनः नैयायिक कहते हैं कि ईश्वरका ज्ञान संपूर्ण भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान, व्यवहित, पदार्थोंके प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ है, यह बात धर्म आदि किसी आत्माके प्रत्यक्षके विषय हैं क्योंकि वे प्रमेय हैं इस अनुमानसे सिद्ध हो चुकी है, अतः ईश्वरके मनका संपूर्ण पदार्थोंके साथ एक समयमें संबंध होजाना उक्त अनुमानसे गम्य है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि आप ऐसा कहोगे तो जो ईश्वरसे भिन्न हैं ऐसे सामान्य मनुष्योंके मनका भी कहीं कचौडी खाते समय युगपद् रूपसे पांचों ज्ञान होना प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, अतः साधारण मनुष्योंके मनका भी चक्षुरादिक अनेक इंन्द्रियोंसे संबंध होजाना एक समयमें मानलो, ईश्वरके पुण्य विशेषसे जैसे ईश्वरके मनका संपूर्ण अर्थोंसे साक्षात्सम्बन्ध होजाता है, इसी प्रकार किसी एक धर्मकर्मसे पैदा हुए छोटे पुण्यविशेषसे साधारण मनुष्यकी कई इंद्रियोंके साथ भी एक समयमें मनका इस प्रकार संबंध बन सकता है।

तादृशो धर्मविशेषः कुतोऽनीशस्य सिद्ध इति चेत्, ईशस्य कुतः? सकृत्सर्वार्थज्ञानात्कार्यविशेषादिति चेत्, तर्हि सकृद्रूपादिज्ञानपंचकात् कार्यविशेषादनीशस्य तद्धेतुधर्मविशेषोऽस्तीति किं न सिद्धयेत्?

नैयायिक पूंछते हैं कि एक समयमें पांचों इंद्रियोंके साथ संबंधका कारण छोटा पुण्यविशेष साधारण मनुष्यके पास है, यह कैसे सिद्ध हुआ? बताओ ऐसे कहने पर हम जैन भी नैयायिकसे पूछते हैं कि सम्पूर्ण अर्थोंसे एक समयमें सम्बन्धका कारण पुण्यविशेष ईश्वरके पास है यह भी आपने कैसे जाना? यदि इसका उत्तर आप नैयायिक यह दोगे कि ईश्वर सम्पूर्ण पदार्थोंको एक समयमें जानता है, उस कार्यविशेषसे उसके कारणविशेष पुण्यका मानना आवश्यक है तब तो हम भी कहते हैं कि साधारण मनुष्यको भी कचौडी खाते समय रूप आदिकके पांचों ज्ञान एक साथ होते हैं। इस विशेषकार्यको देखकर यह अनुमानसे क्यों नहीं सिद्ध होगा कि

साधारण मनुष्यके पास भी पांचों इंद्रियोंसे एक समयमें मनके उस संबंध होनेका कारण छोटा पुण्य विशेष है।

तथा सति तस्य रूपादिज्ञानपञ्चकं नेन्द्रियजं स्यात्। किं तर्हि धर्मविशेषजमेवेति चेत्, सर्वार्थज्ञानमप्येवमीशस्यान्तःकरणजं माभूत् समाधिविशेषोत्थधर्मविशेषजत्वात्।

यहां नैयायिक कटाक्ष करते हैं कि यदि सामान्य मनुष्यके छोटे पुण्यके द्वारा पैदा हुए पांचों ज्ञान एक समयमें मानोगे तो तैसा होनेपर उसका ज्ञान इंद्रियोंसे जायमान नहीं कहा जावेगा, किंतु विशेषपुण्यसे पैदा हुए पांच ज्ञान कहे जावेंगे। इसके उत्तरमें हम जैन कहते हैं कि एक समयमें ईश्वरको होनेवाला सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान भी मन इंद्रियसे जन्य न होसकेगा क्योंकि आपने चित्तकी एकाग्रतारूप विलक्षण समाधिके द्वारा उत्पन्न हुए पुण्यविशेषसे पैदा हुआ ईश्वरका ज्ञान माना है।

तस्य मनोऽपेक्षस्य ज्ञानस्यादर्शनाददृष्टकल्पना स्यादिति चेत्। मनोऽपेक्षस्य वेदनस्य सकृत्सर्वार्थसाक्षात्कारिणः क्वचिद्दर्शनं किमस्ति येनादृष्टस्य कल्पना न स्यात्?

सब जीवोंके ज्ञान मनकी अपेक्षा रखते हुए पैदा होते देखे गये हैं, विना मनको कारण माने कोई ज्ञान पैदा नहीं होता है। प्रत्येक आत्माके पास अणुरूप एक एक मन माना गया है। यदि ईश्वरके सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान मनकी नहीं अपेक्षा करके अकेले पुण्यसे पैदा हुआ माना जावेगा तो यह विना देखे हुए नये कार्यकारणभावकी कल्पना समझी जावेगी। यदि आप नैयायिक ऐसा कहोगे तब तो हम जैन पूछते हैं कि मनकी अपेक्षा रख रहे और एक समयमें सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञानका क्या कहीं दर्शन हो रहा है? जिससे कि मनका अनेक पदार्थोंसे युगपत् संबन्ध करना विना देखे हुए पदार्थकी एक मनगढंत न समझी जावे?

सर्वार्थज्ञानं मनोऽपेक्षं ज्ञानत्वादस्मदादिज्ञानवदिति चेत् न, हेतोः कालात्यापदिष्टत्वात् पक्षस्यानुमानबाधितत्वात्। तथाहि—सर्वज्ञविज्ञानं मनोऽक्षानपेक्षं सकृत्सर्वार्थपरिच्छेदकत्वात्, यन्मनोऽक्षापेक्षं तत्तु न सकृत्सर्वार्थपरिच्छेदकं दृष्टं यथास्मदादिज्ञानं, न च तथेदमिति मनोऽपेक्षत्वस्य निराकरणात्।

यहां नैयायिक अनुमान करते हैं कि "ईश्वरके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें मन इन्द्रियकी अपेक्षा रखता है क्योंकि वह ज्ञान है, जैसे कि हम संसारी जीवोंके ज्ञान मनकी अपेक्षा रखते हैं"। आचार्य कहते हैं कि यह नैयायिकोंका अनुमान ठीक नहीं है क्योंकि सर्वज्ञके ज्ञानको मनकी नहीं अपेक्षा करके पैदा होना सिद्ध हो चुकनेके बाद आपने मनकी अपेक्षा रखनेवाला अनुमान किया है। अतः आपके प्रतिज्ञावाक्यकी इस वक्ष्यमाण अनुमानसे बाधा हो जानेसे आपका ज्ञानत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट नामका हेत्वाभास है। हम आपके साध्यकी बाधा करनेवाले अनुमानको

स्पष्ट कहते हैं। सुनिये "सर्वज्ञका एक समयमें जाननेवाला संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान (पक्ष) अंतरंग मन इन्द्रियकी और बहिरंग चक्षुरादिक इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं करता है। (साध्य) क्योंकि वह ज्ञान एकसमयमें संपूर्ण अर्थोंको विशदरूपसे जाननेवाला है। (हेतु) इस अनुमानमें व्यतिरेक व्याप्तिको दिखलाते हुए दृष्टान्त देते हैं कि जो ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें चक्षुरादिक और मन इन्द्रियकी अपेक्षा रखता है वह ज्ञान तो एक समयमें संपूर्ण अर्थोंको स्पष्टरूपसे जाननेवाला नहीं देखा गया है। जैसे कि हम सरीखे साधारण लोगोंका ज्ञान इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखता है, तभी तो संपूर्ण अर्थोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है किंतु यह सर्वज्ञका ज्ञान इस प्रकार संपूर्ण अर्थोंको न जाननेवाला नहीं है, अर्थात् संपूर्ण अर्थोंको जाननेवाला है। (उपनय) इस कारण इन्द्रियोंकी सहकारिता नहीं चाहता है" । (निगमन) इस कहे हुए अनुमानसे नैयायिकोंके मनकी अपेक्षाको सिद्ध करनेवाले अनुमानका खण्डन हो जाता है।

नन्वेवं "शष्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानपञ्चकं मनोऽक्षानपेक्षं सकृद्रूपादिपञ्चकपरिच्छेदकत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं दृष्टं यथान्यत्र क्रमशो रूपादिज्ञानं, न च तथेदमतोऽक्षमनोनपेक्षम् " इत्यप्यनिष्टं सिद्ध्येदिति मा मंस्थाः साधनस्यासिद्धत्वात्, परस्यापि हि नैकांतेन शष्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानपंचकस्य सकृद्रूपादिपंचकपरिच्छेदकत्वं सिद्धम्, सोपयोगस्यानेकज्ञानस्यैकत्रात्मनि क्रमभावित्ववचनात्, शक्तितोऽनुपयुक्तस्य यौगपद्यस्य प्रसिद्धेः।

यहां नैयायिक पुनः शंका करते हैं कि जैनोंने जिस प्रकार अनुमान द्वारा सर्वज्ञके अनेक अर्थोंको जाननेवाले ज्ञानमें इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखना सिद्ध कर दिया है, उसी प्रकार यह भी अनुमान हो सकता है कि "खस्ता, कचौडी खाने, पापड, चवाने आदिमें पांचों इंद्रियोंसे रूप, रस, आदिकके जो पांच ज्ञान होते हैं, वे चक्षु मन आदिकी अपेक्षा नहीं करते हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि एक समयमें रूप, रस, गन्ध, आदि पांचों विषयोंको जान रहे हैं। (हेतु) हम भी व्यतिरेक दृष्टांत देते हैं कि जों इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला नहीं है, वह एक समयमें अनेकरूप आदि विषयोंको जाननेवाला भी नहीं देखा गया है। जैसे कि अन्यस्थलोंपर कोमल वस्त्र,मोदक, इत्र, वृक्ष, मृदंगका शब्द आदि दूसरे दूसरे विषयोंमें क्रमसे होनेवाले स्पर्श, रूप, आदिके ज्ञान, अर्थात् ये सब ज्ञान इंद्रियोंकी अपेक्षा रखते हैं। (उदाहरण) कचौडी खाते समय होनेवाले ये पांचों ज्ञान इस प्रकार क्रम क्रमसे जाननेवाले नहीं है। (उपनय) इस कारण पांचों इंद्रिय और मनकी अपेक्षा रखनेवाले भी नहीं हैं"। (निगमन) इस अनुमानसे उक्त अनिष्टकी भी सिद्धि होजावेगी अर्थात् सर्वज्ञसंबंधी ज्ञानके समान कचौडी खाते समय पांचों ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें भी इंद्रियां सहकारी कारण न होसकेंगी। यह बात हम तुम दोनोंको अनिष्ट हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि पापड, कचौडी, खाते समय होनेवाले पांचों ज्ञानरूप पक्षमें युगपत्

रूप आदि पांच विषयोंको जाननेवाला हेतु रहता नहीं है, अतः नैयायिकोंका अनिष्टको आपादन करनेवाला हेतु असिद्ध नामका हेत्वाभास है। दूसरे हम लोगोंके यहां कचौडीके खाने आदिमें रूपादि पांच विषयोंको जाननेवाले एक समयमेंही रूप आदिके पांच ज्ञान होना मानना एकांतरूपसे सिद्ध नहीं हैं। जैनोंका सिद्धांतवचन है कि एक समयमें दो उपयोग नहीं होते हैं, आठ ज्ञानोपयोग और चार दर्शनोपयोग ये चेतना गुणकी बारह पर्यायें हैं। एक समयमें एक गुणकी एकही पर्याय होती है। रासन प्रत्यक्ष, चाक्षुष प्रत्यक्ष ये सब मतिज्ञानके भेद हैं। अतः एक आत्मामें एक समयमें उपयोगरूप अनेक ज्ञान नहीं हो सकते हैं। पर्याय भी परिवर्तनसे होनीवाली क्रमसेही होसकेंगी। ग्रंथोंमें कहीं कहीं दो तीन और चारतक भी ज्ञान एक समयमें स्वीकार किये हैं। वह शक्तिकी अपेक्षासे कथन हैं, जैसे कि अंधे पुरुषमें चाक्षुषप्रत्यक्षावरणका क्षयोपशम होनेसे लब्धिरूप चाक्षुष प्रत्यक्ष है। किंतु अन्धेके उपयोगरूप चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं है। अथवा अष्टसहस्री ग्रंथको जाननेवाले विद्वान्के पढते पढाते समय अष्टसहस्रीका ज्ञान उपयोग रूप है। खाते, सोते, खेलते, समय और इष्टवियोगके अवसर पर उपयोगरूप उसका ज्ञान नहीं है। क्षयोपशम होनेसे केवल शक्तिरूप है, इसी प्रकार बडी कचोडी खाते समय उपयोगरूप पांचों ज्ञान नहीं हैं किंतु चक्रके घूमनेके समान अत्यंत शीघ्र उत्तरक्षणमें पैदा होजाते हैं, अतः एक समयमें होते हुए सरीखे दीखते हैं। पांचों ज्ञानोंके आवरण करनेवाले ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम अवश्य है, अतः उपयोग रहित अर्थात् लब्धि रूप पांच ज्ञान क्या पचास मतिज्ञान भी अनेक व्यक्तियोंके जाननेकी शक्तिकी अपेक्षा युगपत् पाये जा सकते हैं। उपयोगरहित ज्ञानोंका शक्तिरूपसे युगपत् हो जाना प्रसिद्ध है।

प्रतीतिविरुद्धं चास्याक्षमनोऽनपेक्षत्वसाधनं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायितया तदपेक्षत्वसिद्धेरन्यथा कस्यचित्तदपेक्षत्वायोगात्। ततः कस्यचित् सकृत्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्करणमिच्छता मनोऽक्षानपेक्षमेषितव्यमिति नाक्षानपेक्षत्वविशेषणं सूक्ष्माद्यर्थोपदेशस्यासिद्धम्।

और नैयायिकोंकी ओरसे यह हमारे ऊपर कटाक्ष सिद्ध करना कि "कचौडी खाते समय होनेवाले ये पांच ज्ञान भी इंद्रियोंकी अपेक्षा न रख सकेंगे"। यह आपादान लोकप्रतीतिसे भी विरुद्ध है। क्योंकि इंद्रियोंके होनेपर पांच ज्ञानोंका होना और न होनेपर न होना ऐसे अन्वय व्यतिरेकको रखनेके कारण उन झटिति क्रमसे होनेवाले ज्ञानोंको इंद्रियोंकी अपेक्षा सिद्ध होजाती है। अन्यथा अन्वय व्यतिरेक रखते हुए भी यदि ज्ञानोंको इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं मानोगे तो किसी भी यानी क्रमसे होनेवाले अन्य अकेले रूप आदिके ज्ञानोंमें भी उन इंद्रियोंको कारण नहीं मान सकोगे। तिस कारणसे अब तक सिद्ध होता है कि यदि आप किसी पुरुषके एकसमयमें सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, अर्थोंका प्रत्यक्ष करना इष्ट करते हो तो वह ज्ञान इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला ही आपको मानना चाहिये। इस प्रकार नौमी वार्त्तिकमें कहे गये अनुमानमें दिया गया हेतुका अक्षान-

पेक्षत्व यह विशेषण सिद्ध होगया। विशेषणसे युक्त हेतु सूक्ष्म आदिक अर्थोंके उपदेशरूपी पक्षमें रह गया। अतः असिद्धहेत्वाभास भी नहीं है।

सिद्धमप्येतदनर्थकं तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकत्वसामान्यस्य साधयितुमभिप्रेतत्वान्न वा सर्वज्ञवादिनः सिद्धसाध्यता, नापि साध्याविकलत्वादुदाहरणस्यानुपपत्तिरित्यन्ये।

कोई कह रहे हैं कि हेतुका इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा न रखनारूप विशेषण सिद्ध हुआ। यह ठीक है, किंतु कुछ भी लाभ न होनेसे व्यर्थ ही है। कारण कि पूर्वोक्त अनुमानद्वारा सूक्ष्म आदिक पदार्थोंके उपदेशमें सामान्यरूपसे प्रत्यक्ष करनेवालेको कारणपना सिद्ध किया गया है। जब किसी भी प्रत्यक्षसे जान लेना साध्यकोटिमें माना है, ऐसी दशामें उक्त प्रत्यक्षका इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखना रूप विशेषण व्यर्थ ही है। साध्यकी कुक्षिमें सामान्य प्रत्यक्षके द्वारा जाननेका निवेश करनेपर यदि हम मीमांसक लोग सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाले जैनके ऊपर सिद्धसाध्यता दोष उठावें कि सामान्य रूपसे प्रत्यक्ष करना तो हम मानते ही हैं फिर सिद्ध पदार्थको चर्वितके चर्वण समान साध्य क्यों किया जाता है? यह दोष ठीक नहीं है, क्योंकि हम मीमांसक लोगोंने सूक्ष्म परमाणु धर्म आदिका सामान्यप्रत्यक्षसे भी जानना इष्ट नहीं किया है। हम तो पुण्य, पाप, परमाणु, आदिके जाननेमें वेदवाक्योंका सहारा लेते हैं। अतः जैनोंके ऊपर सिद्धसाध्यता दोष नहीं लागू होसकता है तथा सामान्यप्रत्यक्षके द्वारा जाननेवालेको साध्य कोटिमें डालनेसे आप जैनोंको दूसरा लाभ यह भी है कि अन्वयदृष्टांत भी बन जावेगा। इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले मुख्य प्रत्यक्षसे जाननारूप साध्य जहां पाया जाय ऐसा प्रसिद्ध उदाहरण कोई नहीं मिल सकता है और सामान्य प्रत्यक्षसे जानकर वह्नि, पुस्तक आदिका उपदेश होता है। इस उदाहरणमें साध्यका सहितपना मिल जाता है। अतः साध्यसे रहित न होनेके कारण उदाहरणका न सिद्ध होना रूप दोष भी जैनोंके ऊपर लागू नहीं होता है ऐसा कोई दूसरे महाशय मीमांसकोंकी पक्ष लेकर कह रहे हैं।

तेऽपि स्वमतानपेक्षं ब्रुवाणा न प्रतिषिध्यन्ते परानुरोधात्तथाभिधानात्, स्वसिद्धान्तानुसारिणां तु सफलमक्षानपेक्षत्वविशेषणमित्युक्तमेव॥

अब आचार्य कहते हैं कि वे भी अन्य महाशय अपने माने हुए तत्त्वोंकी नहीं अपेक्षा करके यदि कह रहे हैं तो हम उनका निषेध नहीं करते हैं क्योंकि उनका सिद्धान्त जैनोंके विचारानुसार है, दूसरे जैनोंकी अनुकूलतासे उन्होंने वैसा कहा है। किन्तु योग, वेदाध्ययन आदिसे संस्कारको प्राप्त हुयीं इंद्रियोंके द्वारा ही सूक्ष्म अर्थोंका ज्ञान हो जाता है ऐसे अन्यवादियोंके अनुरोध करनेपर ही सूक्ष्म आदिके उपदेशमें इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखना रूप विशेषण हमने कहा है। जो मीमांसक परमाणु आदिका प्रत्यक्ष होना ही नहीं मानते हैं और अपने वैदिकसिद्धान्तके अनुसार चलते हैं।

उनके प्रति इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनारूप विशेषण तो अवश्य सफल है । इसलिए हमने हेतुमें कह दिया ही है । और यह नैयायिककी ओरसे आये हुए सिद्धसाधन दोषका भी प्रतीकार है ।

तदनुमातृपूर्वकसूक्ष्माद्यर्थोपदेशेनाक्षानपेक्षावितथत्वमनैकान्तिकमित्यपि न शंकनीयं लिङ्गानपेक्षत्वविशेषणात्, न चेदमसिद्धं परोपदेशपूर्वके सूक्ष्माद्यर्थोपदेशे लिङ्गानपेक्षावितथत्वप्रसिद्धेः ॥

अब सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाले अनुमानमें दिये गये हेतुके लिंगकी नहीं अपेक्षा रखनारूप-विशेषणकी सफलताको सिद्ध करते हैं कि परमाणु, पुण्य, पाप, आदिका अनुमान करनेवाले वक्ता भी इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखते हुए परमाणु आदिका सत्य उपदेश देते हैं किन्तु वहां मुख्य प्रत्यक्षसे जाननेवालेके द्वारा उपदेश देनारूप साध्य नहीं है अतः आपका हेतु व्यभिचारी है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी शंका नहीं करना चाहिये क्योंकि लिंगकी अपेक्षा न रखनारूप विशेषण हेतुमें दिया गया है । यदि यहां कोई यों कहे कि अविनाभावी हेतुकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ सत्य उपदेश कोई है ही नहीं, अतः जैनोंका हेतु असिद्ध हेत्वाभास है । यह तो ठीक नहीं है क्योंकि आगमसे जाने हुए पदार्थोंका अपनी आत्मामें अनुभव करके दूसरे सत्यवक्ता उपदेष्टाके द्वारा जहां सूक्ष्म आदिक पदार्थोंका उपदेश हो रहा है उस उपदेशमें इंद्रियों और हेतुकी नहीं अपेक्षा रखते हुए सत्य उपदेशपना प्रसिद्ध है ।

तेनैव व्यभिचारीदमिति चेत्, न परोपदेशानपेक्षत्वविशेषणात् ।

जब आप किसी निष्णात विद्वान्के उपदेशमें हेतु और इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा करके यथार्थ उपदेशपना मानते हो तो आप जैनोंका हेतु इस विद्वान्के उपदेशसे ही व्यभिचारी हो गया । ऐसा कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि हेतुमें हमने दूसरोंके उपदेशकी नहीं अपेक्षा रखना पन भी विशेषण दिया है, अतः पूर्ण हेतुके न रहनेसे साध्य भी न रहा, ऐसी दशामें व्यभिचार दोष नहीं है । इस कारण अब तक सिद्ध हुआ कि वर्तमानमें सच्चे जैन आगमोंके द्वारा सूक्ष्म आदि पदार्थोंके जो उपदेश दूसरोंके उपदेश इंद्रियों और हेतुओंकी नहीं परवाह करके यथार्थ हो रहे हैं वे अवश्यही अपने उपदेश्य विषयको प्रत्यक्ष करनेवाले सत्यवक्ता सर्वज्ञके द्वारा ही पूर्वमें उपज हुए हैं । बादमें भले ही आगमदर्शी या अनुभवी विद्वान् सर्वज्ञके उस उपदेशका स्वयं उपदेश देवें ।

तदसिद्धं धर्माद्युपदेशस्य सर्वदा परोपदेशपूर्वकत्वात्, तदुक्तं " धर्मे चोदनैव प्रमाणं नान्यत् किञ्चनेन्द्रिय " मिति कश्चित् ।

यहां कोई मीमांसक कहता है कि जैनोंका हेतु धर्म आदिकके उपदेशरूप पक्षमें नहीं रहता है। अतः असिद्ध हेत्वाभास है क्योंकि हमारे यहां सूत्रग्रन्थोंमें लिखा हुआ है कि पुण्य, पापके जाननेमें लिङ्, लोट, तव्य प्रत्ययवाले वेदवाक्य ही प्रमाण हैं। दूसरा कोई ज्ञापक नहीं है। इन्द्रियां, हेतु, और अतींद्रिय प्रत्यक्षसे पुण्य नहीं जाना जाता है। हम लोग जो पुण्य, परमाणु, आदि सूक्ष्म अर्थोंको जान लेते हैं। वह वेदविद्वानोंके उपदेश द्वारा ही जान सकते हैं। अतः धर्म आदिकके उपदेशमें परोपदेशकी अपेक्षा होनेसे परोपदेशकी नहीं अपेक्षा रखनारूप-विशेषण नहीं घटता है। अतः असिद्धहेत्वाभास है।

तत्र केयं चोदना नाम ? क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमिति चेत् तत्पुरुषेण व्याख्यातं स्वतो वा क्रियायाः प्रवर्तकं श्रोतुः स्यात् ? न तावत्स्वत एवाचार्यचोदितः करोमीति हि दृश्यते न वचनचोदित इति।

यहां आचार्य पूंछते हैं कि जिन प्रेरणावाक्योंसे परोपदेशद्वारा आप धर्म आदिकको जानते हैं, वह वेदका प्रेरणावाक्य भला क्या पदार्थ है ? बताओ यदि यज्ञ करना, भावना करना, नियुक्त होना आदि क्रियाओंमें प्रवृत्ति करा देनेवाले वचनको प्रेरणावाक्य कहोगे तो हम पूंछते हैं कि वह वचन पुरुषके द्वारा व्याख्यान किया गया होकर श्रोताकी क्रियामें प्रवृत्ति करावेगा या विना व्याख्यान किये उच्चारणमात्रसेही अपने आप श्रोताको क्रिया करनेमें प्रेरित कर देवेगा ? बतलाइये, यदि यहां दूसरा पक्ष लोगे अर्थात् वह वेदवाक्य अपने आपही प्रवृत्ति करा देवेगा यह पक्ष तो ठीक नहीं है। क्योंकि अच्छा व्याख्यान करनेवाले आचार्यके द्वारा प्रेरित होकर मैं पूजा कररहा हूं, ऐसा सब स्थानोंपर सब जगह, देखा जाता है किंतु केवल वचन सुनकर ही इस कार्यमें प्रेरित हुआ हूं ऐसा नहीं जाना जाता है।

नन्वपौरुषेयाद्वचनात्प्रवर्तमानो वचनचोदितः करोमीति प्रतिपद्यते, पौरुषेयादाचार्यचोदित इति विशेषोऽस्त्येवेति चेत् स्यादेवं यदि मेघध्वानवदपौरुषेयं वचनं पुरुषप्रयत्ननिरपेक्षं प्रवर्तकं क्रियायाः प्रतीयेत, न च प्रतीयते, सर्वदा पुरुषव्यापारापेक्षत्वात्तत्स्वरूपलाभस्य, पुरुषप्रयत्नोऽभिव्यञ्जकस्तस्येति चेन्नैकान्तनित्यस्याभिव्यक्त्यसंभवस्य समर्थितत्वात् ॥

स्वपक्ष अब धारण करते हुए यहां मीमांसक कहते हैं कि लौकिकवचन और वैदिकवचनोंके उपदेशमें यह अंतर है ही कि किसी पुरुषके द्वारा न बनाये हुए वेदके वचनोंको सुनकर प्रवृत्ति करनेवाला यह विश्वास करता है कि मैं पवित्रवचनोंसे प्रेरित होकर इस वेदविहित क्रियाको कर रहा हूं और पुरुषोंके द्वारा बनाये हुए वचनोंको सुनकर समीचीन क्रिया करता हुआ श्रोता

यह जानता है कि मैं विद्वान् आचार्योंके व्याख्यानद्वारा प्रेरित होकर दान, पूजा आदि कर्म कर रहा हूं, आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकोंका कहना तब हो सकता है जब कि किसी पुरुषके न बनाये हुए वचन पुरुषोंके प्रयत्न किये विना ही किसी क्रियामें प्रवृत्त करानेवाले प्रतीतिसिद्ध हो जावें किन्तु नहीं प्रतीत हो रहे हैं। क्या बादलोंका गर्जना अपौरुषेय भी होकर अपने वाच्यार्थको रखता हुआ उसमें प्रवृत्ति करा देता है ? किन्तु नहीं ! भावार्थः—जब अपौरुषेय वचन कुछ भी अपने वाच्य अर्थको नहीं रखते हैं, तब प्रवृत्ति क्या करावेंगे ? पदार्थोंके कहनेवाले उन वचनोंकी उत्पत्ति यानी अपने स्वरूपकी प्राप्ति तो सदैव पुरुषोंके व्यापारकी अपेक्षा रखती है। यदि मीमांसक यहां यों कहेंगे कि वेदके वचन तो नित्य हैं, किसी पुरुषने बनाये हुए नहीं हैं। पुरुषका कण्ठ, तालु, आदिका व्यापार पूर्वसे विद्यमान हो रहे उन शब्दोंको केवल प्रकट कर देता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि एकान्तपनेसे कूटस्थनित्य शब्दकी अभिव्यक्ति नहीं बन सकती है, असम्भव है। इस बातको हम पूर्वप्रकरणमें अच्छीतरहसे सिद्ध कर चुके हैं।

पुरुषेण व्याख्यातमपौरुषेयं वचः क्रियायाः प्रवर्त्तकमिति चेत्, स पुरुषः प्रत्ययितोऽप्रत्ययितो वा ? न तावत्प्रत्ययितोऽतीन्द्रियार्थज्ञानविकलस्य रागद्वेषवतः सत्यवादितया प्रत्येतुमशक्तेः।

मीमांसकके ऊपर आचार्यने दो पक्ष उठाये थे। उनमेंसे दूसरे पक्षका खण्डन होगया। अब पहिले पक्षका खण्डन करते हैं कि पुरुषके द्वारा व्याख्यान किया गया अपौरुषेयवेदका वचन श्रोताको यागक्रियामें प्रवृत्ति करा देता है। यदि यह पक्ष ग्रहण करोगे तो हम जैन पूछते हैं कि वह व्याख्यान करनेवाला पुरुष विश्वस्त है या विश्वास करने योग्य नहीं है ? यदि पहिला पक्ष लोगे कि वह व्याख्याता विश्वास करने योग्य है सो ठीक नहीं है, क्योंकि इंद्रियोंके अगोचर सूक्ष्म आदिक अर्थोंके ज्ञानसे रहित और रागद्वेषवाले व्याख्याताके सत्यवादीपनका विश्वास नहीं किया जासकता है। निर्णय भी नहीं होसकता है ॥

स्यादपीन्द्रियगोचरेऽर्थेऽनुमानगोचरे वा पुरुषस्य प्रत्ययिता न तु तृतीयस्थानसङ्क्रान्ते आत्यन्तपरोक्षस्यैव रूपविशेषेषु।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षसे जानने योग्य इंद्रियोंके विषयभूत अर्थोंमें और हमारे अनुमानसे जानने योग्य अनुमेय पदार्थोंमें उन विषयोंके व्याख्यान करनेवाले पुरुषका विश्वास भी किया जासकता है किंतु जो पदार्थ अनुमान और प्रत्यक्षसे सर्वथा न जाने जाय, केवल तीसरे प्रमाणस्थानपर होरहे आगमसे ही जानने योग्य हैं उन पदार्थोंके व्याख्यान करनेवालेमें विश्वास कैसे भी नहीं किया

जासकता है। यदि आप सर्वज्ञको मानते होते तब तो उसके व्याख्यानकी आम्नायसे आज तक के व्याख्याता विद्वानोंका विश्वास किया जाता, किंतु आप सम्पूर्ण व्याख्याताओंके आदिगुरु सर्वज्ञको मानते नहीं हैं। अतः जन्मसे अन्धे पुरुषका रूपगुणके विशेष हो रहे काले, नीलेपनका और उनकी तरतमताके व्याख्यान करनेमें जैसे विश्वास नहीं किया जाता है, उसी प्रकार आपके वेद व्याख्याताओंका भी विश्वास नहीं किया जा सकता है।

न च ब्रह्मा मन्वादिर्वातीन्द्रियार्थदर्शी रागद्वेषविकलो वा सर्वदोपगतो यतोऽसात्प्रत्ययिताच्चोदनाव्याख्यानं प्रामाण्यमुपेयादित्युक्तं प्राक्।

आपने ब्रह्मा तथा मनु आदि ऋषियोंको वेदका व्याख्याता तो माना है किंतु अतीन्द्रिय अर्थोंका देखनेवाला और रागद्वेषसे रहित ऐसा कोई भी ब्रह्मा, मनु, आदि पुरुष सब कालोंमें नहीं स्वीकार किया है, जिससे कि सर्वज्ञ, वीतरागपनेसे विश्वासको प्राप्त इस ब्रह्मा आदिकसे किया गया वेदवाक्योंका व्याख्यान प्रमाणपनेको प्राप्त होवे। यह सब विषय हम पहिले प्रकरणमें कह चुके हैं।

स्वयमप्रत्ययितात्तु पुरुषात् तद्व्याख्यानं प्रवर्त्तमानमसत्यमेव नद्यास्तीरे फलानि संतीति लौकिकवचनवत्।

यदि आप मीमांसक दूसरा पक्ष लेंगे कि बिना विश्वास किये गये पुरुषसे भी वेदका व्याख्यान प्रवर्तित होजाता है, तब तो वह व्याख्यान झूँठा ही समझा जावेगा। जैसे कि कार्य करनेवाले एक पुरुषको छोकरोंने हैरान किया। लडकोंको भगानेकी अभिलाषासे वह पुरुष यह लौकिक वचन बोल देता है कि नदीके किनारे अनेक फल पडे हुए हैं। इस वाक्यको सुनकर आतुर लडके नदीके किनारे भाग जाते हैं। किंतु नदीके किनारे वृक्षोंके न होनेसे उनको फल नहीं मिलते हैं। अतः उस साधारण मनुष्यके ऊपर उन लडकोंका विश्वास नहीं रहता है। जैसे इस काम करनेवाले लौकिक पुरुषके वचन झूठे हैं उसी प्रकार श्रोताको जिस वक्ताके कथनका विश्वास नहीं है उसका व्याख्यान भी झूँठा ही है।

न चापौरुषेयं वचनमतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयादिति विप्रतिषिद्धं यतस्तद्व्याख्यानमसत्यं न स्यात्।

पूरी पूरी शक्तिवाले अनेक विरुद्ध पदार्थोंके विरोध करनेको विप्रतिषेध कहते। विप्रतिषेधवाले दो पदार्थ एक जगह रह नहीं सकते हैं। जहां घट है वहां घटाभाव नहीं, और जहां घटाभाव है वहां घट नहीं। एककी विधिसे दूसरेका निषेध उसी समय हो जाता है और दूसरे की विधिसे एकका निषेध तत्काल हो जाता है। इस प्रकारका विप्रतिषेध मीमांसक दे रहे हैं कि अपौरुषेय

वेदका वचन असत्य अर्थको कैसे भी (बिल्कुल) न कह सकेगा अर्थात् जो वेदका वाक्य है वह झूंठे अर्थका प्रतिपादक नहीं और जो असत्य अर्थका वाचक है वह अपौरुषेय वेदका वाक्य नहीं है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यहां विप्रतिषेध नामका विरोध नहीं है जिससे कि वेदका व्याख्यान असर्वज्ञ रागियोंके द्वारा किया गया होकर झूंठा न हो सके । अर्थात् अपौरुषेय वचन भी असत्य अर्थको कह सकते हैं। एक पक्षी (काला तीतर) ने गटरगट ऐसा अव्यक्त शब्द बोला था। किसीने " खुदा तेरी कुदरत " और दूसरेने " रामचन्द्र दशरथ " तीसरे मल्लने दंड कुस्ती-कसरत अर्थ निकाल लिया था। रागी, अज्ञानी व्याख्याता वेदवाक्योंसे मनचाहा चाहे जैसा झूंठा अर्थ निकाल लेते हैं और वेद भी सर्वज्ञोक्त न होनेसे अनेक चार्वाक, (जडवाद) अद्वैत (सत्त्ववाद) एवं सांख्य, नैयायिक तथा हिंसा अहिंसा और कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड आदि विरुद्ध मंतव्योंको पुष्ट कर रहा है।

लौकिकमपि हि वचनमर्थं ब्रवीति, बोधयति, बुध्यमानस्य निमित्तं भवतीत्युच्यते वितथार्थाभ्यधायि च दृष्टमविप्रतिषेधात्, तद्यथार्थं ब्रवीति न तदा वितथार्थाभिधायि, यदा तु बाधकप्रत्ययोत्पत्तौ वितथार्थाभिधायि न तदा यथार्थं ब्रवीत्यविप्रतिषेधे, वेदवचनेऽपि तथा विप्रतिषेधो मा भूत् ।

इस लोकमें साधारणजनताके वचन भी अर्थको कहते हैं अर्थात् उन शब्दोंसे अर्थका ज्ञान कराया जाता है। इस कथनमें भी यह तात्पर्य कहना चाहिए कि उच्चारण करनेवाले मनुष्योंके शब्द श्रोतासे जाने गये अर्थके निमित्त कारण हो जाते हैं। अनेक गोत्रस्खलन आदि प्रकरणोंमें कहा कुछ जाता है और भिन्न अर्थ समझा जाता है। इस कारण सिद्ध हुआ कि शब्दकी सत्यार्थ वाचकताके निमित्तपनेके नियमका व्यभिचार है, और तभी तो वे शब्द झूंठे अर्थके कहनेवाले देखे गये हैं। अतः साधारण पुरुषके वचनके समान असत्य अर्थ कहनेमें वेदवाक्योंका कोई तुल्यबल वाला विरोध नहीं है।

यदि यहां मीमांसक यह कहे कि लौकिकमनुष्योंके वचन ठीक उच्चारण करते समय जब अर्थको कह रहे हैं उस समय वे ठीक ही ठीक अर्थके वाचक हैं। झूंठे अर्थको कुछ भी बिल्कुल, नहीं कहते हैं। और जब यह पदार्थ वह नहीं है जो कि वचनके द्वारा कहा गया था ऐसे बाधक ज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर वे शब्द झूंठा अर्थ कह रहे हैं उस समय तो वे वचन वास्तविक अर्थको नहीं कहनेवाले माने गये हैं। इस प्रकार यदि विप्रतिषेध दोषका वारण किया जाय तब वेदके शब्दोंमें भी उस प्रकार अर्थ कहनेपर भी विप्रतिषेध–नामका विरोध न हो सकेगा, अर्थात् वेदके शब्द भी जब ठीक अर्थको कह रहे हैं तब झूंठे अर्थको नहीं कह रहे हैं और जब बाधकज्ञानके

होजानेपर पूर्व वाक्योंके वाच्यको झूंठा कर दिया गया है तब वे शब्द भी अर्थको कहाँ कर रहे हैं ? उक्त प्रकार मीमांसकोंका कहना तो प्रसिद्धार्थख्याति माननेवालोंकासा ही है। जो कि कोसों तक फूले काँसोंमें या चमकते हुए बालू रेतमें (मरीचिकाचक्रमें) जलकी भ्रांति होनेपर यह मानते हैं कि जलके ज्ञान होते समय बालू रेतमें अवश्य जल भरा हुआ था किंतु वहां पहुंचनेपर वह जल बिजलीकी तरह झट नष्ट होगया। शब्दके सत्य अर्थ प्रतिपादन करनेमें भी निकटतम (लगभग) मीमांसकोंका इसी प्रकारका सिद्धांत माना जारहा है। भले मनुष्योंको यह तो विचारना चाहिये कि पीछे वहां पहुंचनेपर कुछ भी कीच या गीलापन वहां जलचिन्ह दीखता ॥

तत्र बाधकप्रत्ययोत्पत्तेरसम्भवाद्विप्रतिषेध एवेति चेत्, न, अग्निहोत्रात्स्वर्गो भवतीति चोदनायां बाधकसद्भावात्। तथाहि " नाग्निहोत्रं स्वर्गसाधनं हिंसाहेतुत्वात्सधनवधवत्। सधनवधो वा न स्वर्गसाधनस्तत एवाग्निहोत्रवत् "।

यदि मीमांसक यहाँ यह कहेंगे कि लौकिक- वचनोंमें बाधक ज्ञानोंके उत्पन्न होजानेसे असत्यार्थपना भले ही होजाय किंतु वाक्योंके अर्थमें बाधा देनेवाला कोई ज्ञान पैदा नहीं होसकता है। असम्भव है। इस कारण वेदके वाक्य होकर असत्य अर्थके प्रतिपादन करनेवाले हों, यह अवश्य ही तुल्यबलवाला विरोध है अर्थात् वेदके वाक्य सत्यार्थ ही है हैं, यह तो उनका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अग्निहोत्र नामके यज्ञ करनेसे स्वर्ग मिल जाता है इस प्रेरक वेदवाक्यमें बाधक प्रमाण विद्यमान हैं। इसी बातका आचार्य अनुमानको बाधक प्रमाण बनाकर स्पष्टीकरण करते हैं कि, " अग्निहोत्र नामका याग स्वर्गका साधक नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह पशुओंकी हिंसाका कारण है। (हेतु) जैसे कि धनवान् पुरुषको मार डालना चाहिये ऐसे जीव हिंसापूर्वक किये गये कर्म सद्गतिके कारण नहीं हैं। अथवा खरपटमतके अनुयायी यदि धनवानोंके मारडालनेमें भी स्वर्ग बतलावें तो इसका भी बाधक प्रमाण यह है कि धनवान्का काशीकरवत, गंगाप्रवाह, शिवपिण्डीके सामने मस्तक चढाने आदि उपायोंसे मार डालना स्वर्गको प्राप्त करानेवाला उपाय नहीं है इसही कारणसे यानी क्योंकि वह भी अग्निहोत्रके समान हिंसाके कारणोंसे पैदा हुआ है। अतः स्वर्गका साधक नहीं होसकता है "।

विधिपूर्वकस्य पश्वादिवधस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वाभावात् असिद्धो हेतुरिति चेत्, तर्हि विधिपूर्वकस्य सधनवधस्य खारपटिकानां विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वं मा भूदिति सधनवधात्स्वर्गो भवतीति वचनं प्रमाणमस्तु।

प्रतिवादी बोलता है कि कर्मकाण्डके विधान करनेवाले शास्त्रोंमें लिखी हुई वैदिकविधिके अनुसार किया गया पशुओंका वध तो शास्त्रोक्त क्रियाओंकाही अनुष्ठान है, लौकिकहिंसाके समान

हिंसाका कारण होकर पापको पैदा करनेवाला नहीं है। अतः जैनोंका दिया गया हिंसाका कारणपना-रूपहेतु अग्निहोत्र-रूपपक्षमें नहीं रहनेसे असिद्ध हेत्वाभास है, यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तब तो हम जैन आपादन करते हैं कि खरपटमतके अनुयायिओंने धनवान्के विधिपूर्वक मार डालनेको भी शास्त्रोंमें लिखी हुयी क्रियाकाही अनुष्ठान माना है, अतः धनीका मार डालना भी हिंसाका कारण न होवे। यों धर्मका प्रलोभन देकर की गयी धनिकोंकी हिंसासे स्वर्ग होजाता है इस प्रकारका वचन भी आप मीमांसक लोगोंको प्रामाणिक होजाओ।

तस्याप्यैहिकप्रत्यवायपरिहारसमर्थेतिकर्तव्यतालक्षणविधिपूर्वकत्वाविशेषात्। न हि वेदविहितमेव विहितानुष्ठानं, न पुनः खरपटशास्त्रविहितमित्यत्र प्रमाणमास्ति।

अनेक पुरुषोंका ऐसा अनुभव है कि संसारमें प्रायः धनवान पुरुष ही अनर्थ करते हैं। हिंसा करना, द्यूत खेलना, मद्यपान करना, वेश्या-परस्त्रीगमन करना, परिग्रह एकत्रित करना, अन्यायोंसे गरीब, दीन, अनाथ, विधवाओंका घोर परिश्रमसे पैदा हुए पैसेको हडप जाना, कुरीतियां चलाना आदि धनवानोंके ही कुकर्म हैं। धनिक पुरुष ही धनके मदसे अन्धे होकर दीन, दुःखी, साधारण मनुष्योंको नाना प्रकारके क्लेश पहुंचाते रहते हैं। पूंजीपतियोंको कोई अधिकार नहीं है कि वे अकेले ही उस धनका उपयोग करें, धन सर्व पुरुषोंकी सार्वजनिक सम्पत्ति है। वह सब पुरुषोंमें यथायोग्य बांट देना चाहिये। जो धनी पुरुष उक्त क्रियाको न करे, उसका वधतक कर दिया जाय, इस प्रकार करनेसे इस लोक संबंधी अनेक पापाचार भी दूर होजावेंगे तथा अभिमान, दूसरोंपर घृणा करना, लोभ आदि कुकर्मोंके दूर होजानेसे सहानुभूति, वात्सल्य, सबके प्रति सौहार्दभाव, सजातीयता, समानता आदि गुणोंकी वृद्धि होकर संसार-दुनियांमें आनन्द अमन चमन रहेगा, इन पूर्वोक्त युक्तियोंसे वह धनिकोंका वध भी कर्तव्यपनेको प्राप्त होता हुआ अनेक पापोंको हटानेमें समर्थ है। यह धनिक वध खरपट मतानुयायियोंकी विधिके अनुसार ही है। वे यह मानते हैं कि बकरा, घोडा आदिको मारकर होमदेना चाहिये, इन वाक्योंमें और "हन्ते को हनिये" धनिकोंको मारिये इत्यादि वाक्योंमें कोई अन्तर नहीं है। यदि आप मीमांसक यहां कहें कि वेदमें लिखी हुई हिंसाके करनेसे, या युद्धमें मरनेसे स्वर्ग अवश्य होता है अतः ये ही कर्म तो शास्त्रोक्त क्रियायें हैं किन्तु फिर खरपटमतानुयायिओंके शास्त्रोंमें विधिलिङ्से लिखी हुयी क्रियाएँ वेदोक्त नहीं हैं, इस आपके कहनेमें कोई प्रमाण नहीं हैं। दोनों ही समानरूपसे हिंसाके कारण हैं। दोनों भी प्रमाण होंगे या एक साथ अप्रमाण हो जायेंगे।

यागः श्रेयोऽर्थिनां विहितानुष्ठानं श्रेयस्करत्वान्न खनखनस्तद्विपरीतत्वादिति चेत्। कुतो यागस्य श्रेयस्करत्वम्?

यहां मीमांसक कहते हैं कि "अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, विश्वजित् आदि यज्ञही कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंके लिये शास्त्रोक्त विधिविहित कर्म हैं। क्योंकि वे कर्म ही इष्ट पदार्थोंकी प्राप्तिरूप कल्याणको करनेवाले हैं किंतु धनिकोंका मारना वेदमें लिखा हुआ कर्म नहीं हैं। क्योंकि वह उससे विपरीत है, दुःखका कारण है"। यदि आप मीमांसक यह कहोगे तब तो जैन पूछते हैं कि पशुओंके वध आदि अनेक कुकर्मोंसे सम्पन्न हुआ यज्ञ भला कल्याणकारी कैसे है? बताओ।

धर्मशब्देनोच्यमानत्वात्, यो हि यागमनुतिष्ठति तं " धार्मिक " इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्त्ता स तेन समाख्यायते यथा याचको लावक इति। तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्मशब्देनोच्यते, न केवलं लोके, वेदेऽपि। " यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्निति " यजति शब्दवाच्य एवार्थे धर्मशब्दं समामनन्तीति 'शबराः'॥

हिंसामार्गके पोषक मीमांसादर्शनका भाष्य बनानेवाले शबरमुनि वेदसे भी कई गुनी हिंसाका पोषण करते हुए अपने बनाये भाष्यमें यज्ञोंका कल्याणकारीपन इस प्रकार सिद्ध करते हैं कि संसारमें और मीमांसकदर्शनमें यह प्रसिद्ध है कि धर्मसे ही स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है, वेदवाक्योंसे प्रेरित होकर किये गये ज्योतिष्टोम, अजामेध, कुक्कुटमेध, भैंसेका आलभन आदि अनेक यज्ञ ही धर्म शब्दसे कहे जाते हैं। जो पुरुष निश्चयसे यज्ञोंको करता है उसको सभी पुरुष धर्मात्मा कहते हैं। धर्मके करनेवालेको धार्मिक कहना भी ठीक है क्योंकि जो जिसको करता है, वह उस कर्मके द्वारा व्यवहारमें नाम पाता है। जैसे कि मांगनेवालेको याचक कहते हैं और काटनेवालेको लावक कहते हैं और पवित्र करनेवालेको पावक कहते है। इस कारणसे यह सिद्ध हुआ कि जो पदार्थ पुरुषको स्वर्ग, मोक्ष आदि कल्याणके मार्गसे संयुक्त कर देता है, वह पदार्थ धर्म शब्दसे कहा जाता है। यह बात केवल लोकमें ही नहीं है किंतु वेदमें भी यह नियम चला आरहा है कि "अनेक देवता यज्ञकी विधिसे यज्ञ रूपी पूजा करते भये। अतः वे यज्ञ ही सबसे पहिले प्रधान धर्म थे"। इस प्रकार लोक और वेदके नियमसे सिद्ध होता है कि यज् धातुके यज्ञरूप वाच्य अर्थमें ही धर्म शब्द अनादिकालकी प्राचीन ऋषिधारासे प्रयुक्त किया हुआ चला आ रहा है अतः यज्ञ ही धर्म है। इस प्रकार शबर ऋषिका मत है।

सोऽयं यथार्थनामा शिष्टविचारबहिर्भूतत्वात्, नहि शिष्टाः क्वचिद् धर्माधर्मव्यपदेशमात्रादेव श्रेयस्करत्वमश्रेयस्करत्वं वा प्रतियंति, तस्य व्यभिचारात्। क्वचिदश्रेयस्करेऽपि हि धर्मव्यपदेशो दृष्टो यथा मांसविक्रयिणां मांसदाने। श्रेयस्करेऽपि वाऽधर्मव्यपदेशो, यथा संन्यासे स्वघाती पापकर्मेति तद्विधायिनि कैश्चिद्भाषणात्।

यहां आचार्य कहते हैं कि यह प्रसिद्ध शबर नाममात्रसे ही म्लेच्छजातीय या भील नहीं

है किंतु जैसा इसका नाम है तदनुसार वैसा ही इसका अर्थ भी इसमें घट जाता है । जंगली मनुष्य ही हिंसाका पोषण कर सकते हैं, सज्जनपुरुषोंके व्यवहारसे इन हिंसकोंका आचार सर्वथा विपरीत है, बाहर फेंकने योग्य है । समीचीन आगमोंकी शिक्षासे अलंकृत होकर विचार करनेवाले सज्जन मनुष्य चाहें जिस क्रियामें केवल धर्मके नामसे ही कल्याणकारीपन और अधर्म शब्दके कहनेसे ही किसी भी अच्छी क्रियामें अमंगलकारीपनका विश्वास नहीं करलेते हैं, क्योंकि अविचारी पुरुषोंके द्वारा उच्चारण किये गये धर्मशब्दकी कल्याण करनेके साथ और अधर्मशब्दके बोलनेसे दुःखकारीपनेकी व्याप्ति नहीं है, इस उक्त नियममें व्यभिचार देखा जाता है । कहीं कहीं पाप करनेवाले कर्ममें भी धर्म शब्दका प्रयोग देखा गया है, जैसे कि मांस, मद्य, बेचनेवालोंके यहां महापापके कारण मांसका देना भी धर्म कह दिया जाता है । उसी प्रकार शिकार खेलनेवाले, वेश्यासेवन करनेवाले, डांका डालनेवाले, पापियोंने भी अपने इष्ट व्यसनोंको धर्मका रूपक दे रखा है, और कहीं कहीं अच्छे पुण्यवर्धक कार्योंको भी लोग अधर्म शब्दसे कह देते हैं, जैसे समाधिमरण करनेवाला आत्मघात करता है अतः पापी है, बुरा काम करता है । शठके साथ सज्जनता करना, हिंसकपशुके साथ दयाभाव करना भारी अपराध है, इत्यादि प्रकारसे भी कोई कोई भाषण करते हैं । उन अच्छे कर्मोंको कर रहे व्यक्तियोंमें पाप करना शब्द प्रयुक्त होरहा है यह व्यभिचार हुआ । इस कारण हिंसा पोषक यज्ञ केवल थोडेसे आदमियोंके द्वारा धर्म कहे जानेसे वास्तवमें कल्याणकारी नहीं होसकता है ।

सर्वैर्यस्य धर्मव्यपदेशः प्रतिपद्यते स श्रेयस्करो नान्य इति चेत् । तर्हि न यागः श्रेयस्करस्तस्य सौगतादिभिरधर्मत्वेन व्यपदिश्यमानत्वात् ।

यदि यहां मीमांसक यह कहैं कि सम्पूर्ण जीव जिसको धर्मशब्दसे व्यवहार किया हुआ जानते हैं वह अवश्य कल्याणकारी है, अन्य डांका डालना आदि नहीं । क्योंकि डांका डालनेको सभी लोग धर्मकार्य नहीं कहते हैं । आपके इस प्रकार माननेपर तो आपका यज्ञ भी कल्याणकारी नहीं हो सकता है । क्योंकि बौद्ध, चार्वाक, जैन आदि मतानुयायियोंने इस यज्ञको अधर्म शब्दसे निरूपण किया है । अतः सबके द्वारा धर्म शब्दकी प्रवृत्ति यज्ञमें नहीं हुई ।

सकलैर्वेदवादिभिर्यागस्य धर्मत्वेन व्यपदिश्यमानत्वाच्छ्रेयस्करत्वे सर्वैः खारपटिकैः सधनवधस्य धर्मत्वेन व्यपदिश्यमानतया श्रेयस्करत्वं किं न भवेत्, यतः श्रेयोर्थिनां स विहितानुष्ठानं न स्यात् ।

पुनः यदि मीमांसक यहां यों कहेंगे कि वेदके अनुसार चलनेवाले मीमांसक, वैशेषिक, शाक्त भैरवभक्त और पौराणिक सब ही विद्वानोंने यज्ञको धर्मरूपसे प्ररूपण किया है, अतः यज्ञ कल्याण करनेवाला धर्म है । ऐसा होते सन्ते तो इसपर हम जैन भी कहते हैं कि खरपटमतके अनुयायी

सर्व ही वन्हों, डांकू और बोल्शेविकोंने धनिकों [कृपण] और हिंसक क्रूर सिंह, सर्प, व्याघ्र आदि प्राणियोंका मारना भी धर्मरूपसे कहा है इस कारण फिर उक्त क्रियाएँ कल्याण करनेवाली क्यों न हो जावें। जिससे कि कल्याणको चाहनेवाले पुरुषोंके लिए वह धनिकोंका मारना आदि शास्त्रोक्त अनुष्ठान न हो सके, अर्थात् यज्ञमें पशुवधके सदृश धनिकोंका मारना आदि भी कल्याणकारी हो जावेगा। यह आपादन हुआ।

लोकगर्हितत्वमुभयत्र समानम्।

यदि आप मीमांसक धनिकोंके वधको लोकसे निंदनीय समझकर धर्म न कहोगे तो पशुवध भी लोकमें निंदनीय है। अतः वह भी धर्म नहीं हो सकता है। लोकमें निंदित होना तो दोनों स्थलपर समान है। वास्तवमें देखा जाय तो क्षमा, दया, अहिंसा, ही सज्जनोंके प्रधान कर्तव्य है। परस्त्रीसेवन, डाँका डालना, मांस खाना, पशु-पक्षियोंको मारना आदि अनन्त संसारके कारण ही हैं। स्वार्थी कषायी और इंद्रियलोलुप वञ्चकोंने भोले जीवोंको पापमार्गमें फंसने और फंसनेके लिए अनेक कुकर्मोंको कर्तव्यकर्म बतलाया है। यह केवल धर्मकी आडमें महापापरूप शिकार खेलता है। कहीं पशुओंके वध करनेसे भी भला धर्म हो सकता है ? यदि ऐसा ही हो तो यजमान अपने इष्ट पुत्र, माता, पिता आदिका होम क्यों नहीं करता है ? जैसे यजमानको और उसके बालबच्चोंको मरनेका दुःख है उससे भी कहीं अधिक पशुओंको मरनेमें दुःख है। अतः ऐसे हिंसक यजमानको और हिंस्य पशुओंको कैसे भी अच्छी गति प्राप्त नहीं हो सकती है। धनिकोंके मारनेमें भी लोगोंका गहरा स्वार्थ है। वे परोपकार और वात्सल्यका तो उपदेश देते हैं किन्तु अनेक अनर्थोंका मूल कारण धनिकोंका वधरूप कार्य करते हैं। क्या पुण्यपापरूप व्यवस्था संसारसे नष्ट हो सकती है ? कोई धनी है तथा अन्य दरिद्र है, एक विद्वान है दूसरा मूर्ख है, एक रोगी है दूसरा नीरोग। इसी प्रकार कोई स्त्री है, अन्य जीव पुरुष हैं, तीसरे प्रकारके पशु जीव हैं. अनेक बालक हैं, कई युवा है, बहुतसे बुड्ढे हैं, कोई जड हैं, कोई अन्धा है, कितने ही चेतन हैं इत्यादि प्रकारसे पुण्यपापके फलरूप संसारकी व्यवस्था है। केवल धनिकोंको मार डालनेसे उक्त प्राकृतिक नियमका क्षय करना अपने पैरों में कुल्हाडा मारना है। संसारभरमें भेद स्वाभाविक है अर्थात् स्वात्मभूत अगुरुलघु गुणके द्वारा प्रत्येक वस्तु संपूर्ण परपदार्थोंसे भिन्न स्वरूप है। सर्वज्ञ और इन्द्र, चक्रवर्ती आदि भी आकर वस्तुओंके केवलान्वयी होकर पाये जा रहे हैं भेद भावको मिटा नहीं सकते हैं। किसी न किसीका प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, या अत्यन्ताभाव, सर्व वस्तुओंमें पाये जाते हैं। धनवान् होना भी विशिष्ट पुण्यका कार्य है। सातावेदनीय आदि शुभकर्मोंके उदयसे यह जीव धन, पुत्र, आदि विभूतिको प्राप्त करता है और पुण्यके न होनेसे अनेक दुःख झेलता है, अतः खरपटके मत और मीमांसकके मतके अनुसार चलनेमें लोकनिंदा होना बराबर है।

केषाञ्चिदगर्हितत्वश्चेति ।

विचारशील पुरुष तो पशुओंकी हिंसा और धनिकोंकी हिंसाकी बराबर निन्दा करते हैं। किन्हीं किन्हींके यहां निन्दा न होना भी दोनोंमें एकसा है। स्यात् शायद मीमांसक यह कहें कि कालीदेवीके उपासक या यज्ञ करनेवाले कर्मकाण्डी पुरुष यज्ञमें होनेवाले पशुवधकी निंदा नहीं करते हैं:—इसका उत्तर सुनिये, यों तो डाकेवाले या धर्मके नामपर धन और प्राणोंको लेनेवाले खारपटिक लोग भी धनिकोंके मारनेमें निंदा नहीं समझते हैं। तथा च इस प्रकार कतिपय इंद्रियलोलुप जीवोंकी अपेक्षासे निंदा न होना तो पशु- और धनिकवध दोनों में समान है।

ततो न सधनवधाग्निहोत्रयोः प्रत्यवायेतरसाधनत्वव्यवस्था ।

इस कारणसे मीमांसकोंकी मानी गयी धनिकोंके मारनेमें पाप और उससे न्यारी पशुवध पूर्वक किये गये अग्निहोत्र यज्ञमें स्वर्गप्राप्तिके सिद्ध करानेकी पुण्यव्यवस्था ठीक नहीं है अर्थात् धनिकोंका वध यदि सदोष है तो यज्ञ भी सदोष है। यदि यज्ञ निर्दोष है तो धनिकोंका वध भी निर्दोष है॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणबलात्तु नाग्निहोत्रस्य श्रेयस्करत्वसिद्धिरिति नास्त्यैव विहितानुष्ठानत्वं, यतो हिंसाहेतुत्वाभावादसिद्धो हेतुः स्यात् ।

प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंके बलसे तो अग्निहोत्र यज्ञका कल्याणकारीपन सिद्ध हो ही नहीं सकता है। इस प्रकार इस धनिकोंके वधको टालकर केवल अग्निहोत्रके ही शास्त्रोक्त अनुष्ठानपना नहीं है, जिससे कि हिंसाका कारणपना न होनेसे हम जैनोंकी ओरसे अग्निहोत्रको स्वर्गसाधनताके अभावको सिद्ध करनेमें दिया गया हिंसाका कारणपनारूप हेतु असिद्ध होवे, अर्थात् हमारा "हिंसाहेतुत्व" अग्निहोत्र पक्षमें रह जाता है। अतः सद्धेतु है। असिद्ध हेत्वाभास नहीं है, जो कि मीमांसकने दोष उठाया था।

तत्र प्रकृतचोदनायां बाधकाभावनिश्चयाद्यथार्थत्वाभावे संशयानुदयः पुरुषवचनविशेषवदिति न तदुपदेशपूर्वक एव सर्वदा धर्माद्युपदेशो येनास्य परोपदेशानपेक्षत्वविशेषणमसिद्धं नाम ।

इस कारण यह सिद्ध हुआ कि प्रकरणमें प्राप्त हो रहे वेदके लिङ्, लोट, तव्य, प्रत्ययान्त प्रेरणावाक्योंमें बाधकप्रमाणकी सत्ताका निश्चय है। अतः वस्तुतः सत्य अर्थके कहनेमें संशयका अनुत्पन्न होना नहीं है। साधारण मनुष्योंके विशेष वचनोंके समान वैदिक वचनोंमें भी

यथार्थ वस्तुके कहनेका संशय पैदा हो जाता है । " इस प्रकार पुरुषोंके द्वारा व्याख्यान किये गये अपौरुषेय वेदके उपदेशको कारण मानकर ही सदा धर्म, परमाणु, आकाश आदिकका उपदेश होता है " यह मीमांसकोंकी बात सिद्ध नहीं हुई । जिससे कि सर्वज्ञके सिद्ध करनेवाले अनुमानमें दिये गये इस हेतुका परोपदेशकी नहीं अपेक्षा करनारूप विशेषण नाममात्रसे भी असिद्ध हो जाय । अर्थात् सूक्ष्म आदिक पदार्थोंके सर्वज्ञ द्वारा दिये गये आदिकालीन उपदेशमें दूसरे छद्मस्थोंके उपदेशकी अपेक्षा कैसे भी नहीं है । अतः पूर्ण हेतुका शरीर पक्षमें रह गया भला ऐसी दशामें असिद्ध दोष कहां ? ॥

न च परोपदेशलिंगाक्षानपेक्षावितथत्वेऽपि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकत्वं सूक्ष्माद्यर्थोपदेशस्य प्रसिद्धस्य नोपपद्यते तथाविनाभावं संदेहायोगादित्यनवद्यं सर्वविदो ज्ञापकं तत् । अथवा ।

परोपदेश, लिंग और इंद्रियोंकी अपेक्षा रखते हुए भी सूक्ष्म आदिक अर्थोंके पहिलेके सत्यार्थ उपदेशमें उनके विशद प्रत्यक्ष करनेवाले सर्वज्ञके द्वाराही उपदेशपूर्वक होनापन प्रसिद्ध है । उक्त हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति नहीं है यह नहीं समझना चाहिये, क्योंकि हेतुका इसी प्रकार साध्यके साथ अविनाभाव संबंध होना संदेह रहित सिद्ध हो चुका है । अतः अबतक सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाला ज्ञापक प्रमाण निर्दोष सिद्ध होगया है ।

अथवा सर्वज्ञ साधक दूसरा अनुमान यह भी है जोकि सर्वाङ्ग निर्दोष है अर्थात् हिंसाके पोषक होनेसे वैदिक वचनोंकी अप्रमाणता सिद्ध हो चुकी है, फिर भी मीमांसकोंके हृदयमें परमाणु, पुण्य, पाप, आदिके उपदेशकी वेदद्वारा ही प्राप्ति होनेकी धुन समा रही है, वे विचारते हैं कि अनेक चिकित्साशास्त्रोंमें जीवोंके मांस, रक्त, चर्म, और मल मूत्रोंके, गुण, दोष, लिखे पाये जाते हैं, अभक्ष्य भक्षणका त्यागी भले ही मधु, मांसके सेवनमें प्रवृत्ति न करे, एतावता वैद्यक ग्रंथके संपूर्ण अंशोंमें अप्रमाणता नहीं आसकती है । बात, पित्त, कफ, संबंधी दोषोंके निरूपण करनेमें तथा अर्श, अतीसार, अपस्मार (मृगी) आदि रोगोंकी चिकित्सा बतलानेमें उन वैद्यकविषयके ग्रंथोंको ही प्रमाणता मानी जाती है, इसी प्रकार पशुवधकी बातको रहने दीजिये किंतु पुण्य, पाप, आकाश, स्वर्ग, और नरकके उपदेश तो वेदके द्वाराही प्राप्त होरहे हैं । अतः परमाणु, पुण्य, पाप, के उपदेश देनेवालेका लक्ष्य कर सर्वज्ञके ज्ञान करानेके लिये दिये गये आपके पूर्वोक्त अनुमानमें हमको अरुचि है । इस अस्वरसको दूर करते हुए आचार्यमहाराज मीमांसकोंके प्रति सर्वज्ञको सिद्ध करानेवाला दूसरा अनुमान कहते हैं ।

सूक्ष्माद्यर्थोपि वाध्यक्षः कस्यचित्सकलः स्फुटम् ।
श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वान्नदीद्वीपाद्रिदेशवत् ॥ १० ॥

हमारा पूर्वोक्त अनुमान तो ठीक है ही और यह भी अनुमान युक्तियुक्त है कि "सूक्ष्म होरहे परमाणु, आकाश, और देश कालसे व्यवहित माने गये स्वर्ग, सुमेरु, रामचन्द्र, आदि भी संपूर्ण पदार्थ (यह पक्ष है) किसी न किसी आत्माके पूर्ण स्पष्टरूपसे होनेवाले प्रत्यक्षज्ञानके विषय हैं (यह साध्य है) क्योंकि वे पदार्थ श्रुतज्ञानसे जानने योग्य हैं । (यह हेतु है) जो जो पदार्थ हम लोगोंको शास्त्रोंसे या इतिहाससे जानने योग्य होते हैं वे किसी न किसी तद्देशीय या तत्कालीन पुरुषोंके द्वारा अवश्य ही प्रत्यक्षरूपसे जाने जाते हैं । जैसे कि गंगा, सिंधु, आदि नदियां, जम्बूद्वीप या लंका, अमेरिका, एशिया, आदि उपद्वीप, हिमवान, नील अथवा हिमालय, विन्ध्याचल, आदि पर्वत तथा भारतवर्ष, यूरोप, पंजाब, बंगाल, मालव, आदि देश, ये संपूर्ण पदार्थ किसी न किसीके प्रत्यक्ष हैं " (यह अन्वय दृष्टान्त है)

धर्माधर्मावेव सोपायहेयोपादेयतत्त्वमेव वा कस्यचिदध्यक्षं साधनीयं न तु सकलोऽर्थ इति न साधीयः, सकलार्थप्रत्यक्षत्वासाधने तदध्यक्षासिद्धेः ।

यहां मीमांसक कहते हैं कि "आप जैन उक्त अनुमानमें संपूर्ण पदार्थोंको पक्ष करके किसी न किसीके प्रत्यक्षमें विषय होना सिद्ध मति करो, आपको केवल पुण्य, पापको ही अथवा उपायसहित छोडने योग्य और ग्रहण करने योग्य तत्त्वों यानी उनके कारणों और उनको ही पक्ष करके किसी न किसीके प्रत्यक्षसे जाना गयापन सिद्ध करना चाहिये " ग्रंथकार कहते हैं कि यह मीमांसकोंका कहना कुछ अच्छा नहीं है । क्योंकि सकल पदार्थोंका प्रत्यक्षसे जाने गयेपनको सिद्ध न करनेपर कुछ थोडेसे विवक्षित उन पुण्य, पाप, और हेय, उपादेय, अतीन्द्रिय तत्त्वोंका भी प्रत्यक्ष करलेना बन नहीं सकता है, अर्थात् जो पुण्यपापको प्रत्यक्षसे जान लेवेगा, वह संपूर्ण पदार्थोंका जाननेवाला अवश्य है क्योंकि सब पदार्थोंके जानने पर ही अत्यन्त सूक्ष्म पुण्य, पाप, आकाश, आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष हो सका है ।

संवृत्या सकलार्थः प्रत्यक्षः साध्य इत्युन्मत्तभाषितं स्फुटं तस्य तथाभावासिद्धौ कस्यचित्प्रमाणतानुपपत्तेः ।

यदि यहां कोई यों कहे कि " केवल कल्पितव्यवहारमें प्रशंसा करनेके लिये ही सर्वज्ञके सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष करनापन साध्य किया जाता है । वस्तुतः सर्व पदार्थोंको प्रत्यक्ष करनेवाला ही कोई नहीं है " । यह कहना तो पागलोंकी बकवाद है। क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंका केवलज्ञानद्वारा विशदरूपसे उस प्रकार प्रत्यक्ष होना यदि सिद्ध न करोगे तो सूक्ष्मपरिणमनोंसे सहित किसी भी पदार्थके जाननेमें प्रमाणता नहीं आसकती है । यः सर्वज्ञः स सर्ववित् इत्यादि श्रुतियोंका मीमांसक लोग ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंकी प्रशंसा (तारीफ) करना ही अर्थ करते हैं कि हे ज्योतिष्टोम !

तुम सबको जानते हो, तभी तो यष्टाको स्वर्गमें पहुंचा देते हो और हे पुत्रेष्टियाग ! तुम भी सबको जानते हो। तभी तो नानायोजनाओंसे पुत्रको पैदा करा देते हो। इसी प्रकार हिंसा, झूंठ बोलना, आदिसे अन्य पापकर्म भी नरक, तिर्यञ्चोंके स्थान और कारणोंको जानते हैं। तभी तो वे जीवोंको उन कुगतियोंमें पहुंचा देते हैं। अनेक वादियोंको इस प्रकार कर्मकी स्तुति करनेवाले वेदके सर्वज्ञ बोधक वाक्योंके अर्थमें जैसे संशय है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष किये विना सूक्ष्म पदार्थोंके जाननेमें भी संशय ही रहेगा। उस वेदसे सूक्ष्म आदिके ज्ञानमें प्रमाणता नहीं आसकती है। सम्भवतः पुण्य पापको कहनेवाले वाक्य भी अर्थवाद यानी स्तुतिवाक्य हों ॥

न हेतोः सर्वथैकांतैरनेकांतः कथञ्चन ।
श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वात्तेषां दृष्टेष्टबाधनात् ॥ ११ ॥
स्थानत्रयाविसंवादि श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते ।
तेनाधिगम्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥ १२ ॥

यदि कोई कह बैठे कि सर्व प्रकारसे कूटस्थ नित्यरूप या क्षणिकत्वरूप ही धर्मके एकांत तथा सर्वथा एक अनेकपनेरूप एकांतोंमें भी हम मीमांसक और बौद्ध आदिके द्वारा अभिमत होरहे शास्त्रोंके ज्ञानसे जाना गयापनरूप हेतु विद्यमान है, किंतु जैनोंके मतानुसार वे असत् एकांत किसी न किसीके प्रत्यक्ष नहीं हैं। अतः हेतुके रह जानेसे और साध्यके वहां न रहनेसे आपके सर्वज्ञसाधक अनुमानमें व्यभिचार दोष हुआ। ऐसा कहनेपर आचार्य कहते हैं कि हमारे अनुमानमें किसी भी प्रकार व्यभिचार नहीं है। क्योंकि आपके माने हुए शास्त्रोंके द्वारा जो नित्यत्व आदिक एकांत धर्म पुष्ट किये जाते हैं वे सम्पूर्ण एकांत विचारे प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंसे बाधित हो जाते हैं अतः वे वस्तुभूत पदार्थ नहीं हैं। वास्तवमें सच्चे श्रुतज्ञानका लक्षण हम आगेके ग्रंथमें यह कहेंगे कि जो तीनों स्थानोंमें विसंवाद करनेवाला न होवे अर्थात् जिसको जाने उसीमें प्रवृत्ति करे और उसीको प्राप्त करे ऐसे ज्ञानको अविसंवादी ज्ञान कहते हैं। स्वभाव, देश और कालसे व्यवहित होरहे परमाणु आदि पदार्थोंको निर्दोषरूपसे श्रुतज्ञान जानता है। ऐसे श्रुतज्ञानके द्वारा परोक्षरूपसे जाना गयापन हेतु सम्पूर्ण वस्तुभूत पदार्थोंमें ठहर रहा सिद्ध हो जाता है। अपरमार्थभूत सर्वथा एकांत धर्मोंमें हेतु रहता नहीं है।

ततः प्रकृतहेतोरव्यभिचारिता पक्षव्यापकता च सामर्थ्यतो बोद्धव्या ।

इस कारणसे श्रुतज्ञानसे जाना गयापन हेतु व्यभिचारी नहीं है। जब कि सर्वथा एकान्त कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है तो घोडोंके सींगके समान वे अविसंवादी श्रुतज्ञानसे नहीं जाने जा सकते हैं अतः हेतुके न रहनेसे साध्यके न रहनेपर व्यभिचारी नहीं हुआ। और श्रुतज्ञान द्वारा जानागयापन हेतु

सूक्ष्म परमाणु, देशव्यवहित सुमेरु आदि, पदार्थोंरूप पक्षमें सामान्यरूपसे व्याप्त होकर रह जाता है, यह भी समझ लेना चाहिये जिससे कि असिद्ध आदि दोषोंकी सम्भावना नहीं है।

यस्मात्तैवं सर्वज्ञसाधनमनवद्यम् ।

ततोऽसिद्धं परस्यात्र ज्ञापकानुपलम्भनम् ॥
नाभावसाधनायालं सर्वतत्त्वार्थवेदिनः ॥ १३ ॥

जिस कारणसे कि इस उक्त प्रकारसे दिया गया सर्वज्ञसाधक हमारा अनुमान निर्दोष सिद्ध हो चुका है उस कारण इस सर्वज्ञके अभावको सिद्ध करनेके लिए दिया गया दूसरे मीमांसकोंका सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंका नहीं दीखनारूप हेतु सर्वज्ञरूप–पक्षमें नहीं रहता है अतः असिद्ध हेत्वाभास है। वह हेतु सर्व तत्त्वरूप पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञके अभावको सिद्ध करनेके लिए समर्थ नहीं है। जब कि सर्वज्ञकी सिद्धि कर रहे निर्दोष अनुमान प्रमाण विद्यमान है।

स्वयं सिद्धं हि किञ्चित्कस्यचित्साधकं नान्यथाऽतिप्रसङ्गात् ॥

जो कोई हेतु वादीको स्वयं सिद्ध हो चुका है वह तो नियमसे किसी न किसी साध्यका साधक हो सकता है। अन्यप्रकार नहीं, जैसे कि धूम अग्निको सिद्ध कर देता है। किंतु जो स्वयं सिद्ध नहीं है वह साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता है। यदि नहीं सिद्ध किया गया हेतु भी साध्योंको सिद्ध करने लगे तो अतिप्रसंग हो जावेगा। अर्थात् खरविषाण आदि हेतु भी साध्योंको सिद्ध करने लगेंगे, या चाक्षुषत्व हेतु भी शब्दको अनित्यत्व सिद्ध कर देवेगा। किंतु यह अन्याय है।

सिद्धमपि ।

आप मीमांसकोंके कथनमात्रसे ज्ञापक प्रमाणोंका न दीखनारूप हेतुको कथञ्चित् थोडी देरके लिए सिद्ध मान भी लेवें तो (देखिये कितने दोष आते हैं)

स्वसंबन्धि यदीदं स्याद्व्यभिचारि पयोनिधेः ॥
अम्भःकुम्भादिसंख्यानैः सद्भिरज्ञायमानकैः ॥ १४ ॥

हम जैन आप मीमांसकोंसे पूंछते हैं कि सर्वज्ञका ज्ञापक प्रमाण केवल आपको ही नहीं प्रतीत होता है ? अथवा सब जीवोंके पास सर्वज्ञका ज्ञापक प्रमाण नहीं है ? यदि केवल आपको अपनी ही आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले ज्ञापक प्रमाणोंका न दीखनारूप हेतु सर्वज्ञके अभावका साधक माना जावेगा तो आपका यह हेतु व्यभिचारी हेत्वाभास है, क्योंकि समुद्रके सम्पूर्ण

पानीका घडा, पुर, लोटा, गिलास आदि वर्तनोंसे मापनेकी संख्याका परिमाण हो सकता है किन्तु आपको तो यह ज्ञान नहीं है कि पूरे समुद्रमें कितने घडे पानी है। अतः पानीकी घडोंके द्वारा विद्यमान परन्तु नहीं जानी जारही संख्यामें ज्ञापकानुपलम्भन हेतु रह गया और नास्तित्व साध्य तो वहां नहीं है। अर्थात् समुद्रके पानीमें घडोंकी संख्याका परिमाण है किंतु आपके पास उनका ज्ञापक प्रमाण नहीं है, इस कारण आपका हेतु व्यभिचारी है।

न हि पयोनिधेरम्भःकुम्भादिसंख्यानानि स्वयं परैरज्ञायमानतयोपगतानि न सन्ति येन तैर्व्यभिचारि ज्ञापकानुपलम्भनं न स्यात्। समुद्राम्भःकुम्भादिसंख्यानं बह्वम्भस्त्वात् कूपाम्भोवदित्यनुमानात् न तेषामज्ञायमानतेति चेत्, नातो विशेषणासिद्धेस्तत्संख्यातमात्रेण व्यभिचाराचोदनात्।

समुद्रके जलकी घडोंसे मापनेकी संख्याको आप मीमांसकोंने स्वयं नहीं जानने योग्य (लायक) पनेसे स्वीकार किया है। इतने स्वीकार करने मात्रसे समुद्रके जलकी घडोंसे संख्या नहीं हो सकती है, यह नहीं मानना चाहिये। जिससे कि आपका ज्ञापकानुपलम्भन हेतु घडोंकी संख्याओंसे व्यभिचारी न हो सके, आपका न जानना किसीके अभावका साधक नहीं हो सकता है। स्यात् (शायद) आप अनुमान द्वारा यह कहें कि समुद्रका जल घडे आदिककी मापसे गिना जा सकता है क्योंकि उसमें बहुतसा पानी है जैसे कि कुएंका जल घडोंसे या पुरोंसे मापा जाता है। इस अनुमानसे समुद्रके जलका घडोंसे माप किया जा सकता है अतः हमारे पास समुद्रके जलकी संख्या करनेका अनुमानरूप ज्ञापक प्रमाण है। न जानागयापन नहीं है। इस कारण हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह आपका कहना ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त अनुमानसे आपने केवल घडोंकी सामान्य संख्याको सिद्ध किया है। विशेषरूपसे संख्या सिद्ध नहीं हुयी है। हमने आपके ज्ञापकानुपलम्भन हेतुका समुद्रके जलकी विशेष रूपसे ठीक ठीक (अन्यूनातिरिक्त) संख्याओंसे व्यभिचार दिया था, सामान्य घडोंकी केवल अटकल पच्चूकी संख्यासे प्रेरित व्यभिचार नहीं दिया था। इस कारण आपका केवल अपनी आत्मामें सर्वज्ञज्ञापक प्रमाणोंका न जाननारूप हेतु व्यभिचारी ही हुआ। गणितके जाननेवाले घडेकी लम्बाई, चौडाई, ऊंचाईका घनफल निकालकर और समुद्रका घनफल निकालकर विशेषरूपसे भी समुद्रके पानीकी घडोंसे संख्या कर लेते हैं। लवणसमुद्रके पानीकी घडोंसे क्या किन्तु (बल्कि) रोमाग्रोंसे भी ठीक ठीक संख्या निकाली जा सकती है किन्तु लालसमुद्र, बंगालकी खाडी आदि उपसमुद्रकी ऊंची नीची भूमियोंका तथा लहरोंकी या पानीकी ऊंचाई नीचाईका आप ठीक ठीक खातफल नहीं निकाल सकते हैं। अतः आपकी ठेकेदारीमें पडा हुआ ज्ञापकानुपलम्भन हेतु समुद्रके जलकी विशेष

करके घडोंकी ठीक ठीक संख्याओंमें चले जानेसे और वहां नास्तित्वरूप साध्यके न रहनेसे व्यभिचारी हुआ ही।

एतेनार्थापत्त्युपमानाभ्यां ज्ञायमानता प्रत्युक्ता, चोदनातत्तत्प्रसिद्धिरिति चेत्, न, तस्याः कार्यार्थादन्यत्र प्रमाणतानिष्टेः, परेषां तु तानि सन्तीत्यागमात्प्रतिपत्तेर्युक्तं तैर्व्यभिचारचोदनम्।

अर्थापत्ति और उपमानप्रमाणसे समुद्रजलके घडोंकी संख्याओंका ज्ञान होता है, अतः ज्ञापकप्रमाणका उपलम्भ है। मीमांसककी यह बात भी इसी पूर्वोक्त कथनसे खण्डित होजाती है. क्योंकि समुद्रजलका विशेषरूपसे घडोंके द्वारा संख्या ज्ञात करना अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणसे नहीं हो सकता है।

यदि आप मीमांसक कहेंगे कि विधिलिङ्वाले आगम प्रमाणरूप वेदवाक्योंसे समुद्रके जल की घडोंके द्वारा नाप प्रसिद्ध होजावेगी, यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आपने ज्योतिष्टोम यज्ञ, आदि कर्मकाण्डरूप अर्थके सिवाय वेदके प्रेरकवाक्योंका प्रमाणपना स्वीकार नहीं किया है। नहीं तो वेदमें सर्वज्ञबोधक भी प्रेरक वाक्य है। और दूसरे हम जैनोंके यहां तो सर्वज्ञद्वारा कहे हुए आगमसे यह निश्चित कर लिया जाता है कि अमुक समुद्रकी लम्बाई, चौडाई और गहराई इतनी है। अथवा इस समुद्रमें इतने घडे पानी है, इतनी घडोंकी संख्यायें हैं। यह बात सत्यवक्ता पुरुषोंके द्वारा भी निर्णीत हो जाती है। अतः सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेमें दिये गये मीमांसकोंके ज्ञापक प्रमाणका न दिखनारूप हेतु समुद्रजलकी घडोंसे ठीक ठीक संख्याओं करके हमारी तरफसे व्यभिचारदोषकी प्रेरणा करना युक्तही है।

सर्वसम्बन्धि तद्बोध्दुं किञ्चिद्बोधैर्न शक्यते ॥
सर्वबोद्धास्ति चेत्कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ?॥ १५ ॥

यदि आप मीमांसक दूसरा पक्ष लेंगे कि सर्वसंसारके जीवोंके पास सर्वज्ञको ज्ञापन करनेवाला प्रमाण नहीं है। इसपर हम जैन कहते हैं कि थोडेसे ज्ञानवाले पुरुषोंके द्वारा यह बात नहीं जानी जा सकती है कि सब जीवोंके पास सर्वज्ञका कोई ज्ञापक प्रमाण नहीं है। सम्भव है किसी के पास सर्वज्ञसाधक प्रमाण होय जैसा कि जैन, नैयायिक, वैशेषिक मानते हैं। यदि आप किसी जीवको ऐसा मानते हो कि वह सब जीवोंका प्रत्यक्ष ज्ञान कर यह समझ लेता है कि सबके पास सर्वज्ञका ज्ञापक प्रमाण नहीं पाया जा रहा है तब तो सबको जाननेवाले सर्वज्ञका आप निषेध क्यों करते हैं ? जो सब जीवोंको जानता है और उन जीवोंके सर्वज्ञको न जाननेवाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका प्रत्यक्ष कर रहा है वही तो सर्वज्ञ है।

सर्वसम्बन्धि तदज्ञातासिद्धं, किंचिज्ज्ञैर्ज्ञातुमशक्यत्वात्, न च सर्वज्ञस्तज्ज्ञोऽस्ति तत्प्रतिषेधविरोधात् ।

मीमांसकोंका सब जीवोंके सम्बन्ध होरहे ज्ञापक प्रमाणका न दीखनारूप हेतु वादी प्रतिवादीके द्वारा जाना नहीं जा सकता है । अतः अज्ञात होकर असिद्ध हेत्वाभास है । कुछको जानने वाले अल्पज्ञ संसारी जीवोंके द्वारा सब जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञापकोंका अनुपलम्भ जाना नहीं जा सकता है । यदि आपने सब जीवोंके प्रमाणोंका प्रत्यक्ष करनेवाला कोई ज्ञाता माना है, यह तो ठीक नहीं है क्योंकि इससे तो सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है और आप सर्वज्ञको मानकर फिर उसका निषेध करेंगे तो आपके वचनोंमें पूर्वापरविरोध हो जावेगा ।

षड्भिः प्रमाणैः सर्वज्ञो न बाध्येत इति चायुक्तम् । यस्मात्—

यदि मीमांसक यों कहें कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति, उपमान और अभाव इन छह प्रमाणोंसे सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान करनेवाले सर्वज्ञका खण्डन हम नहीं करते हैं । अनुमान या आगमसे अनेक विद्वान् परोक्षरूपसे सम्पूर्ण पदार्थोंको जान लेते हैं यह कोई कठिन बात नहीं है, किंतु एक मुख्यप्रत्यक्षद्वारा युगपत् सर्व जगत्को विशदरूपसे प्रत्यक्ष करनेवाले सर्वज्ञको हम नहीं मानते हैं । आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकका कहना युक्तियोंसे रहित है । कारण कि—

सर्वसम्बन्धिसर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् ।
न चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ॥ १६ ॥

एक केवलज्ञानरूप प्रत्यक्षके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंके प्रत्यक्ष करनेवाले सर्वज्ञका नास्तिपन सिद्ध करनेके लिये दिया गया सब जीवोंके पास ज्ञापकप्रमाणोंका अनुपलम्भरूप हेतु विचारा चक्षु, मन आदि इंद्रियोंसे तो जाना नहीं जाता है । क्योंकि सर्वज्ञके ज्ञापकोंका नहीं दीखना अतीन्द्रिय विषय है । जैसे कि पुण्य, पाप, इंद्रियोंसे नहीं दीखते हैं । अतः आप मीमांसकोंके हेतुकी सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो हो नहीं सकती है, विना हेतुके जाने साध्यको नहीं जान सकते हैं ।

नानुमानादलिंगत्वात्कार्थापत्त्युपमागतिः ।
सर्वस्यानन्यथाभावसादृश्यानुपपत्तितः ॥ १७ ॥

आपके ज्ञापकानुपलम्भन हेतुको कोई अनुमान से भी नहीं जान सकता है क्योंकि उस हेतुको साध्य बनाकर जाननेके लिये अविनाभाव रखनेवाला कोई दूसरा हेतु नहीं है । अतीन्द्रिय साध्यके साथ व्याप्तिका ग्रहण करना कठिन है । जब ज्ञापकानुपलम्भन-हेतु अनुमानसे ही नहीं

जाना गया तो अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणसे तो क्या जाना जावेगा ? । जिसके विना जो न हो सके, ऐसे अदृष्ट पदार्थके जाननेको अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे कि मोटे पुष्ट देवदत्तको देखकर दिनमें खानेकी बाधा उपस्थित होजानेपर रात्रिमें भोजन करना अर्थापत्तिसे जान लिया जाता है तथा सदृश पदार्थके देखनेपर सादृश्यज्ञानका स्मरण करते हुए इसके सदृश वह है ऐसे ज्ञानको आपने उपमान प्रमाण माना है, जैसेकि रोझकी सदृशता गौमें है । जबकि यहां संपूर्ण जीवोंको अन्यथा न होनेवाले और सदृशता रखनेवाले पदार्थोंकी सिद्धि नहीं है । ऐसी दशामें अतीन्द्रिय हेतुको जाननेके लिये अर्थापत्ति और उपमानप्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ।

सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् ।
केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत् ? ॥ १८ ॥

" ज्ञापकानुपलम्भन " हेतुके जाननेमें सम्पूर्ण प्रमाताओंके संबंधी होरहे (सम्बन्धः षष्ठ्यर्थः) प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका निवारण होगया तो मीमांसकोंके यहां केवल आगमसे उस ज्ञापकानुपलम्भका जानना कैसे सिद्ध होसकेगा ? । कारण कि—

कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य संमतम् ।
तस्य स्वरूपसत्तायां तन्नैवातिप्रसंगतः ॥ १९ ॥

जिन मीमांसकोंके यहां प्रेरक वेदवाक्यसे जन्य ज्ञानको कर्मकाण्डके प्रतिपादन करनेरूप अर्थमें ही प्रमाण—ठीक माना है, उन मीमांसकोंने स्वरूपकी सत्तारूप परब्रह्मके कहनेवाले वेद-वाक्योंको भी प्रमाण नहीं माना है, क्योंकि " एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म " ब्रह्माद्वैतवादियोंके अतिप्रसंग दोष होजायगा । "एकही ब्रह्म है दूसरा कोई नहीं है " ऐसे वेदवाक्योंको यदि मीमांसक प्रमाण मानें तो " अन्नाद्वै पुरुषः " "अन्नसे पुरुष पैदा होता है " ऐसे वेदवाक्योंको भी प्रमाण मानना पडेगा। तथाच चार्वाकमतका प्रसंग हो जायगा। अतः कर्मकाण्डके प्रतिपादक वाक्योंको ही मीमांसक प्रमाण मानते हैं । ज्ञापकानुपलम्भनके सिद्ध करनेवाले वेदवाक्योंको वे प्रमाण नहीं मानते हैं । अतः आगमसे भी ज्ञापकानुपलम्भन हेतुकी सिद्धि नहीं हुयी, जोकि उनने सर्वज्ञाभावको साधनेमें प्रयुक्त किया था ।

तज्ज्ञापकोपलम्भस्याभावोऽभावप्रमाणतः ।
साध्यते चेन्न तस्यापि सर्वत्राप्यप्रवृत्तितः ॥ २० ॥

यदि मीमांसक अभाव प्रमाणसे उस सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंके उपलम्भका अभाव सिद्ध

करेंगे, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि उस अभाव प्रमाणकी भी सभी स्थानों (जगह) में प्रवृत्ति नहीं होती है ।

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ॥ २१ ॥

जिन भाट्ट मीमांसकोंने छट्ठा अभाव प्रमाणके प्रवर्त्तनकी यह योजना बतलायी है कि अभावके आधारभूत वस्तुके सद्भावको जानकर और जिसका अभाव सिद्ध किया गया है उस प्रतियोगिका स्मरण करके बहिरंग इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षासे केवल अंतरग मन इन्द्रियके द्वारा नास्तिपनका ज्ञान होता है। जैसे कि भूतलमें घटका अभाव जाना जाता है। इस समय भूतलका चक्षुसे या स्पर्शन इन्द्रियसे प्रत्यक्ष है ही और पहिले देखे हुए घटका स्मरण है ऐसी दशामें मन इन्द्रियसे घटाभावका ज्ञान हुआ है ।

तेषामशेषनृज्ञाने स्मृते तज्ज्ञापके क्षणे ।
जायते नास्तिताज्ञानं मानसं तत्र नान्यथा ॥ २२ ॥

जैनसिद्धांतमें और नैयायिकोंके यहां तो अभावका ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे हो जाता है। मीमांसकोंकी उक्त सामग्री अभावके जाननेमें अपेक्षणीय नहीं है। किन्तु मीमांसक लोग अभावके जाननेमें निषेध करने योग्य (लायक) पदार्थका स्मरण और निषेधके आधारवस्तुका प्रत्यक्ष करना या दूसरे प्रमाणोंसे निर्णीत कर लेना आवश्यक मानते हैं। उन मीमांसकोंको सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणोंके उपलम्भका नास्तित्व मन इन्द्रियसे तभी ज्ञात हो सकेगा जब कि वहां आधारभूत सम्पूर्ण मनुष्योंका ज्ञान किया जाय और उस समय ज्ञापकप्रमाणोंका स्मरण किया जाय । इसके सिवाय दूसरी तरहसे आप ज्ञापक प्रमाणोंकी नास्तिताका ज्ञान कैसे भी नहीं कर सकते हैं ।

न चाशेषनरज्ञानं सकृत्साक्षादुपेयते ।
न क्रमादन्यसन्तानप्रत्यक्षत्वानभीष्टितः ॥ २३ ॥

मीमांसकोंके अभाव प्रमाणकी उत्पत्तिमें अधिकरणका जानना आवश्यक है। प्रकृतमें सम्पूर्ण आत्माओंमें ज्ञापकप्रमाणके उपलम्भका अभाव जानना है, अतः अभावके आधारभूत सम्पूर्ण आत्माओंका एक बार ही एक समयमें प्रत्यक्ष हो जाना तो आप स्वीकार नहीं करते हैं और क्रम क्रमसे भी अन्य सम्पूर्ण आत्माओंका प्रत्यक्ष होना आपको अभीष्ट नहीं है। क्योंकि अपनी आत्माके सिवाय अन्य आत्माओंका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? सर्वज्ञको आप मानते हैं ।

यदा च क्वचिदेकत्र तदेतन्नास्तिता मतिः ।
नैवान्यत्र तदा सास्ति क्वैवं सर्वत्र नास्तिता ? ॥ २४ ॥

जिस समय किसी एक आत्मामें इस ज्ञापकोपलम्भकी नास्तिताका ज्ञान होगा उस समय दूसरी आत्माओंमें उसके नास्तिपनका आपको ज्ञान नहीं हो सकेगा । ऐसी अवस्थामें सभी आत्माओंमें ज्ञापकोपलम्भका नास्तिपन कहां सिद्ध हुआ ? । क्रम क्रमसे जिस आत्माको जानते जावोगे उसीमें नास्तिपन सिद्ध कर सकोगे ।

प्रमाणान्तरतोऽप्येषां न सर्वपुरुषग्रहः ।
तल्लिङ्गादेरसिद्धत्वात् सहोदीरितदूषणात् ॥ २५ ॥

इन मीमांसकोंके यहां ज्ञापकोपलम्भरूप निषेध्यके आधारभूत सम्पूर्ण पुरुषोंका ग्रहण अन्य अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंसे भी नहीं हो सकता है क्योंकि उनके अविनाभाव, सादृश्य आदि गुणोंको रखनेवाले हेतु आदिक सिद्ध नहीं हैं । अनेक पुरुषोंको क्रमसे प्रत्यक्ष जाननेमें जो दूषण आते हैं वेही दोष उन पुरुषोंको जाननेमें जो हेतु या सादृश्य दिये जावेंगे उनमें भी साथ साथ आवेंगे । अर्थात् अनेक पुरुषोंके साथ व्याप्ति रखनेवाला निर्दोष कोई हेतु आपके पास नहीं है, सादृश्य आदि भी नहीं हैं ।

तज्ज्ञापकोपलम्भोऽपि सिद्धः पूर्वं न जातुचित् ।
यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तिताज्ञानमञ्जसा ॥ २६ ॥

अभावप्रमाणकी उत्पत्तिमें प्रतियोगीका स्मरण करना भी आपने कारण माना है । मीमांसकोंके मतमें सर्वज्ञके उन ज्ञापकप्रमाणोंका उपलम्भ होना पहिले कभी सिद्ध नहीं हो चुका है जिसका कि स्मरण करनेपर ज्ञापकोपलम्भकी नास्तिताका ज्ञान ठीक ठीक हो जावे । अर्थात् पूर्वकालमें जाने हुएका ही हम वर्तमानमें स्मरण कर सकते हैं । मीमांसकोंको ज्ञापकप्रमाण ज्ञात ही नहीं हैं तो अभाव जानते समय उनका स्मरण भी नहीं हो सकता है ।

तदेवं सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकवदभावप्रमाणमपि न सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भस्य सर्वप्रमातृसंबंधितो संभवसाधनं, तत्र तस्योत्थानसामग्र्यभावात् ।

उस कारण इस प्रकार अब तक सिद्ध हुआ कि पदार्थोंकी सत्ताको जाननेवाले प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, और अर्थापत्ति इन पांच प्रमाणोंकी प्रवृत्ति ज्ञापकानुपलम्भन हेतुके जाननेमें जैसे सिद्ध नहीं हुई उसी प्रकार अभावप्रमाण भी सम्पूर्ण प्रमाताओंमें सम्बन्धित होरहे सर्वज्ञ

ज्ञापक प्रमाणोंके उपलम्भके अभावको सिद्ध नहीं कर सकता है—असम्भव है। क्योंकि अभावप्रमाणके उत्पन्न होनेमें आधारका प्रत्यक्ष और प्रतियोगीका स्मरण आवश्यक है, उसकी सामग्री वहां है नहीं। अर्थात् सम्पूर्ण मनुष्योंका ज्ञान और सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंका स्मरण है नहीं, विना कारणके कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ?।

ननु च विवादापन्नेष्वशेषप्रमातृषु तदुपगमादेव सिद्धः सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भो नास्तीति साध्यते ततो नाभावप्रमाणस्य तत्रोत्थानसामग्र्यभाव इत्यारेकायां परोपगमस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोर्दूषणमाह।

यहां मीमांसक और भी स्वपक्षकी अवधारणा करते हैं कि सर्वज्ञको माननेवाले बौद्ध, जैन, नैयायिक आदि हैं और सर्वज्ञको न माननेवाले मीमांसक, चार्वाक आदि हैं। जब कि विवादमें पडे हुए जैन और नैयायिक सर्वज्ञके ज्ञापकप्रमाणोंका उपलम्भ करते हैं तो उनके मन्तव्यके अनुसार सर्वज्ञज्ञापकके उपलम्भको हम थोडी देरके लिये कल्पनासे सिद्ध मानते हैं। बादमें प्रामाणिक अभाव प्रमाणसे ज्ञापक प्रमाणोंके उपलम्भका उन ही विवादग्रस्त सम्पूर्ण आत्माओंमें अभाव है ऐसा सिद्ध कर देते हैं। उस कारणसे वहां अभावप्रमाणकी उत्पत्ति करानेवाली सामग्रीका अभाव नहीं है। सर्वज्ञवादियोंने जिन आत्माओंमें सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंका उपलम्भ माना है उनके स्वीकार करनेसे ही हमने निषेध्यके आधार सम्पूर्ण आत्माओंका ज्ञान कर लिया है और उनके जाने हुए ज्ञापकोपलम्भका स्मरण भी अभाव प्रमाणको उत्पन्न करते समय हमको होजाता है। इस प्रकार मीमांसकोंकी शंका होनेपर दूसरे सर्वज्ञवादियोंका मन्तव्य मीमांसकोंको प्रमाण है या अप्रमाण ? ऐसा पक्ष उठाकर उनमें आचार्य महाराज स्पष्टरूपसे दूषण कहते हैं।

परोपगमतः सिद्धस्य चेन्नास्तीति गम्यते।
व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेऽन्योऽन्यं सिद्धो न सोऽन्यथा ॥ २७ ॥

यदि आप मीमांसक हम दूसरे सर्वज्ञवादियोंके स्वीकार करनेसे सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणोंको सिद्ध मानकर पुनः ज्ञापकोपलम्भका नास्तिपना अभावप्रमाणसे यों जान लेते हो तब तो ऐसी दशामें हम पूंछते हैं कि उन (हम) सर्वज्ञवादियोंके ज्ञापकोपलम्भका स्वीकार करना यदि आपको प्रमाण है तब तो आपके कथनमें परस्परमें व्याघातदोष है। अर्थात् सर्वज्ञवादीके मतको प्रमाण माननेपर आप ज्ञापकोपलम्भका नास्तिपन सिद्ध नहीं कर सकते हैं और यदि ज्ञापकोपलम्भनका नास्तिपन सिद्ध करते हो तो सर्वज्ञवादीके अभ्युपगमको प्रमाण नहीं मान सकते हैं। दोनोंके माननेमें वदतो व्याघात दोष है। भावार्थ—न सन् और न असन् के समान उस पूर्वापर विरुद्ध या तुल्यबल विरुद्ध बातको बोलनेवालेका अपनेसे ही अपना घात हुआ जाता है। अन्यप्रकारसे यदि सर्वज्ञवादियोंके मन्तव्यको

आप प्रमाण नहीं मानेंगे तो संपूर्ण आत्माओंका ज्ञान और ज्ञापकोपलम्भनका स्मरण होनारूप साम-ग्रीके न होनेसे उस अभावप्रमाणका उत्थान नहीं हो सकता है। एवं च अभावप्रमाणसे ज्ञापका-नुपलम्भन–हेतुको जब न जान सके तब सर्वज्ञका अभाव भी अनुमानसे सिद्ध नहीं कर सकते हो ॥

नहि प्रमाणात्सिद्धे सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भे परोपगमोऽसिद्धो नाम यतस्तन्नास्तित्वसाधनेऽन्योन्यं व्याघातो न स्यात्, प्रमाणमन्तरेण तु स न सिद्ध्यत्येवेति तत्सामग्र्यभाव एव।

जब कि सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंकी उपलब्धि प्रमाणसे सिद्ध हो चुकी है। ऐसी दशामें दूसरे सर्वज्ञवादियोंका अनेक आत्माओंको सर्वज्ञ स्वीकार करना मीमांसकोंके लिये कैसे भी असिद्ध नहीं है, जिससे कि उस सर्वज्ञका नास्तिपन सिद्ध करनेमें मीमांसकोंके परस्पर पूर्वापरविरुद्ध वचनोंमें व्याघात दोष न हो सके। अर्थात् हमारे कहनेके अनुसार सर्वज्ञ–आत्माओंको आपने थोडी देरके लिये कल्पित माना था। जब वह प्रमाणसे सिद्ध हो चुका तब उसके विरुद्ध स्वयं बोलनेमें मीमांसकोंके ऊपर व्याघात हो जाता है। प्रमाणके विना तो सर्वज्ञके ज्ञापकोंका उपलम्भ सिद्ध होता नहीं है किन्तु जब होगा प्रमाणसे ही होगा। इस प्रकार मीमांसकोंके यहां अभाव-प्रमाणके उत्पन्न होनेकी कारणकूटरूप सामग्रीका अभाव ही है। प्रमाणके विना आपका ज्ञाप-कानुमान हेतु भी सिद्ध नहीं होता है। अतः सर्वज्ञका अभाव तो सिद्ध नहीं हुआ किंतु उलटा अभावप्रमाणकी सामग्रीका अभाव होगया " सेयमुभयतःपाशा रज्जुः " रस्सी में दोनों तरफ फांसे हैं, इस न्यायसे मीमांसकोंको दोनों तरहसे सर्वज्ञ मानना पडता है। सर्वज्ञका नास्तिपन अभाव प्रमाणसे सिद्ध करें तो भी सर्वज्ञ मानना पडता है और सर्वज्ञका अभाव न करें तब तो सर्वज्ञ स्वयं सिद्ध है ही।

नन्वेवं सर्वथैकान्तः परोपगमतः कथम्।
सिद्धो निषिध्यते जैनैरिति चोद्यं न धीमताम् ॥ २८ ॥

यहां मीमांसक शंका करते हुए कटाक्ष करते हैं कि, जैनोंने सर्वथा एकान्तका निषेध किया है वह कैसे सिद्ध होगा? क्योंकि स्याद्वादी विद्वान् भी सर्वप्रकारसे कूटस्थ नित्यपन या एक-क्षणमें पैदा होकर द्वितीयक्षणमें सर्वथा ध्वंस हो जानारूप अनित्यपन–एकांतोंका अभाव मानते हैं। वह भी तो आप दूसरे सांख्य, बौद्ध, आदिके स्वीकार किये गये ही एकांतोंका अभाव सिद्ध करते हैं। हम भी यहां कह सकते हैं कि यदि सांख्य, बौद्धोंका मन्तव्य आपको प्रमाणसे सिद्ध है और फिर आप जैन उनके माने हुए एकांतोंका अभाव सिद्ध करते हो तब तो आपके कथनमें भी परस्परव्याघात दोष हुआ और यदि आप सांख्य, बौद्ध आदिके मन्तव्योंको प्रमाण नहीं मानते हैं तो विना एकान्तोंकी विधिके उनका निषेध कैसे कर सकते हैं?' ' संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रति-

षेध्यादृते क्वचित् " आपके यहां भी प्रतिषेध्यके विना संज्ञीका निषेध हो जाना नहीं माना है। भावार्थ—हमारे सर्वज्ञके निषेध न कर सकनेके समान आप जैन भी सर्वथा एकान्तोंका निषेध नहीं कर सकते हैं। यहां आचार्य कहते हैं कि मीमांसकोंका यह प्रेरित कटाक्ष प्रतिभाशाली स्याद्वादियोंके ऊपर नहीं चलता है। क्योंकि एकान्तोंके अभावको हम अनेकान्त नहीं मानते हैं किंतु अनेकांत भावरूप पदार्थ है, एकके समान अनेक शब्द भी भावोंको कह रहा है। अनेक धर्मवाले पदार्थ प्रत्यक्ष—आदिप्रमाणोंसे ही सद्भावरूप सिद्ध हो रहे हैं। अशेषका अर्थ मूलरूपसे सम्पूर्ण होता है।

न हि स्वोपगमतः स्याद्वादिनां सर्वथैकान्तः सिद्धोऽस्तीति निषेध्यो न स्यात् सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भवत्। तदेतदचोद्यम्।

मीमांसकोंके द्वारा सर्वज्ञके अभाव सिद्ध करने में दिया गया ज्ञापकानुपलम्भन हेतु अभावरूप है और साध्य भी अभावरूप है। अतः साध्यके और हेतुके जाननेमें जिसका अभाव किया जाय ऐसे निषेध्यरूप प्रतियोगीके जाननेकी आवश्यकता है। किंतु स्वयं स्याद्वादियोंके मतसे सर्वथा एकान्तोंके निषेधसे अनेकान्त सिद्ध नहीं होता है जिससे कि निषेध करने योग्य न होता, यानी यदि ऐसा होता तो सर्वज्ञज्ञापकोंके उपलम्भकी तरह सर्वथा एकान्तका भी निषेध नहीं कर सकते थे। स्याद्वादी विद्वानोंने दूसरोंके माने हुएको स्वयं स्वीकार करके सर्वथा एकान्तकी सिद्धि मानी नहीं है। जो वस्तु सर्वथा है ही नहीं, उसके निषेध करने या विधि करनेका किसी प्रमाताके पास अवसर नहीं है, सर्वज्ञके द्वारा भी जो कुछ ज्ञात होरहा है वह अनेक धर्मात्मक ही है अतः अश्वविषाण के समान एकान्तोंका निषेध करना हमको आवश्यक नहीं है। इस कारण जैनों के ऊपर मीमांसकोंका यह कुचोद्यरूपी दोष नहीं है।

प्रतीतेऽनन्तधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते।
को दोषः सुनयैस्तत्रैकान्तोपप्लवबाधने ॥ २९ ॥

अग्नि में दाह करना, पाक करना, शोषण करना आदि धर्म पाये जाते है। इसी प्रकार जीव, पुद्गल आदि सम्पूर्ण पदार्थ अनेक धर्मोंके आधारस्वरूप निर्बाध होकर अपने आप प्रमाणसे सिद्ध प्रतीत होरहे हैं। ऐसी दशामें श्रेष्ठ प्रमाणनयकी प्रक्रिया, और सप्तभंगीकी घटनाको जाननेवाले विद्वानोंके द्वारा सर्वथा एकान्तोंके तुच्छ उपद्रवको बाधा देनेमें क्या दोष संभावित है? अर्थात् कोई दोष नहीं है। जैसे तीव्र आतपसे सन्तप्त पुरुषको छायामें स्फुलिंग दीखते हैं, उनका निषेध कर दिया जाता है। यानी शुद्ध छायाका प्रत्यक्ष होना ही दृष्टिदोषसे हुये अनेक असत् धर्मोंका निषेध करना है। वास्तवमें वहां निषेध कुछ नहीं, केवल शुद्ध छायाका विधान है।

सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणेऽपि ह्यनेकान्तात्मनि वस्तुनि दृष्टिमोहोदयात्सर्वथैकान्ताभिप्रायः कस्यचिदुपजायते, स चोपप्लवः सम्यग्नयैर्बाध्यते इति न कश्चिद्दोषः प्रतिषेध्याधिकरणाप्रतिपत्तिलक्षणः प्रतिषेध्यासिद्धिलक्षणो वा ।

यह है कि सम्पूर्ण वस्तुएँ (पक्ष) परमार्थरूपसे, यथार्थ सिद्धांतनिश्चयसे अनेक धर्म स्वरूप है (साध्य) क्योंकि अनेक धर्मोंकी सिद्धिमें बाधा करनेवाले प्रमाणोंका न पैदा होना अच्छी तरहसे निश्चित है। (हेतु) इस प्रकार प्रमाणसे सिद्ध होनेपर भी दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे किसी एक मिथ्यादृष्टि जीवके सर्व प्रकारोंसे नित्यत्व या अनित्यपनरूप एकधर्मके माननेका आग्रह उत्पन्न हो जाता है और स्याद्वादी विद्वान् लगे हाथ समीचीननयोंसे उस उपद्रवका बाधन कर देते हैं। जैसे कि प्रचण्ड (तेज) धूपमेंसे चले आये हुए पुरुषको मकानमें चमकते हुए पीले पीले तिलमिले दीखते हैं किंतु विश्रान्ति लेनेसे समीचीनदृष्टिके हो जानेपर उस चकाचौंधका निषेध कर दिया जाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भावस्वरूप अनेकांतके सिद्ध करनेमें भी कोई दोष नहीं है। यदि सर्वथा एकांतोंका अभावरूप अनेकांत माना जाता तब तो एकांतोंके अभाव जाननेमें निषेध करने योग्य, (लायक) एकांतोंके अधिकरणोंका न जाननास्वरूप अथवा प्रतियोगीके स्मरणार्थ करने योग्य सर्वथा एकांतोंकी असिद्धिस्वरूप दोष सम्भावित था, किंतु अनेकांतसिद्धिमें उक्त वार्त्ता है नहीं।

मिथ्यादृशस्तदधिकरणस्य वचनाद्यनुमानात्सिद्धिसद्भावात्तदभिप्रायस्य च तदनुपलम्भनान्निषेधे साध्ये कुतो न दोष इति न वाच्यम् ।

मीमांसक कहते हैं कि जिस आत्मामें सर्वथा एकांत माना जा रहा है उस कल्पित एकांतोंके अधिकरणरूप मिथ्यादृष्टीकी हम कुगुरु, कुदेव, कुतत्त्वोंके श्रद्धानसे या मिथ्यात्वप्रयुक्त वचनों आदिसे अनुमानद्वारा सिद्धि कर लेते हैं और मिथ्यादृष्टियोंके स्वीकार करनेसे उनके अभिप्रेत एकांतोंकी भी कल्पना कर लेते हैं, किंतु उन सर्वथा एकांतोंका वस्तुतः उपलम्भन न होनेसे निषेध सिद्ध कर दिया जाता है। अतः एक प्रकारसे अभाव जाननेकी सामग्री भी बन गयी, ऐसा होनेपर एकांतोंके अनुपलम्भसे एकांतोंका अभाव सिद्ध करनेमें आप जैनोंके ऊपर वह दोष कैसे नहीं होता है ? जैसे कि आपने हम मीमांसकोंको दोष दिया था वह दोष तो आपको भी लगेगा। अब आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकोंको कहना नहीं चाहिये कारण कि—

अनेकान्ते हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम् ।
तद्विधिस्तन्निषेधश्च यतो नैवान्यथा मतिः ॥ ३० ॥

जैनसिद्धान्तमें नैयायिकोंका माना गया तुच्छ अभाव नहीं इष्ट किया है। एकान्तोंके न दीखनेसे सर्वथा एकान्तोंका अभाव हम नहीं मानते हैं किंतु वस्तुभूत अनेक धर्मोंमें विज्ञान हो जाना ही एकान्तोंका न दीखना है। इसी प्रकार अनेक धर्मोंका जो विधान है वही एकान्तोंका निषेध माना गया है। नैयायिक या मीमांसकोंके समान दूसरे प्रकारोंसे अभावका ज्ञान होना हम नहीं मानते हैं। समझे।

अनेकान्तोपलब्धिरेव हि प्रतिपत्तुरेकान्तानुपलब्धिः प्रसिद्धैव स्वसम्बधिनी सा चैकान्ताभावमन्तरेणानुपपद्यमाना तत्साधनीया।

वस्तुमें तादात्म्यसम्बन्धसे रहनेवाले अनेक धर्मोंका सर्वदा ज्ञान होते रहना ही सर्वथा एकान्तोंका अनुपलम्भ है, यह बात प्रमाता विद्वानको अपनी आत्मामें सम्बन्धित हो रही अच्छी तरहसे प्रमाणसिद्ध हो चुकी है। जैसे कि केवल भूतलका ही दीखना घटका अनुपलम्भ है। मात्र रीते भूतलका उपलम्भ घटाभावके विना सिद्ध नहीं हो सकता है। उसी प्रकार वस्तुमें वह अनेक-धर्मोंका उपलम्भ होना भी एकान्ताभावके विना सम्पन्न नहीं होता है। इस अविनाभावसे उन एकान्तोंका अभाव सिद्ध कर लेना चाहिये। व्यर्थमें निषेध्यके आधारका ज्ञान या निषेध्यके स्मरणकी आवश्यकता नहीं है।

नन्वनेकान्तोपलम्भादेवानेकान्तविधिरभिमतः स एव चैकान्तप्रतिषेध इति नानुमानतः साधनीयस्तस्य तत्र वैयर्थ्यात्, सत्यमेतत्, कस्यचित्तु कुतश्चित्साक्षात्कृतेऽप्यनेकान्ते विपरीतारोपदर्शनात्तद्व्यवच्छेदोऽनुपलब्धेः साध्यते, ततोऽस्याः साफल्यमेव।

मीमांसकोंका प्रश्न है कि आप जैन सर्वथा एकान्तोंके अभावसे तो अनेकान्तका उपलम्भ मानते नहीं हैं किंतु आप जैनियोंने वस्तुभूत बहुतसे धर्मोंके देखनेसे ही अनेकान्तका विधान इष्ट किया है। उस अनेकान्तके विधानको ही आपने सर्वथा एकान्तोंका निषेध स्वीकृत किया है! ऐसी दशामें आपको एकान्तोंका निषेध अनुमानसे सिद्ध नहीं करना चाहिये। क्योंकि जब वे दोनों एक ही हैं तब एकान्तके जाननेमें अनुमान करना व्यर्थ है। इसपर आचार्य कहते हैं कि आपका कहना ठीक है किंतु किसी एक मनुष्यको किन्हीं अनेक अर्थक्रियाओंके द्वारा वस्तुमें अनेक धर्मोंका प्रत्यक्ष होनेपर भी उन अनेक धर्मोंसे प्रतिकूल एकान्तपनेकी कल्पना कर लेना देखा जाता है अतः ऐसी दशामें सर्वथा एकान्तोंका न दीखनारूप हेतुसे उस विपरीत कल्पनाका निवारण किया जाता है जैसे कि केवल भूतलका देखना ही घटाभावका ज्ञान है। फिर भी कोई भ्रमी (वहमी) पुरुष घटकी संभावना कर बैठता है तब इस भूतलमें घट नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह नहीं दीखता है। (हेतु) इस अनुमानसे घटका निषेध कर देते हैं। इसी प्रकार यहां भी झूटी कल्पना करने-

वाले पुरुषोंके लिये एकान्तोंका अभाव सिद्ध कर दिया है जिस कारण इस अनुपलब्धि हेतुसे किया गया अनुमान सफल ही है।

प्रमाणसंप्लवोपगमाद्वा न दोषः।

एक अर्थको अनेक प्रमाणोंसे विशेषविशेषांशों करके जानना रूप प्रमाणसंप्लव भी हम जैनोंने स्वीकृत किया है, अतः अनेकांतोंको प्रत्यक्ष जान लेना भी एकांतोंके निषेधका ज्ञान है और अनुपलब्धि हेतुसे एकांतोंका अभाव जानना भी दूसरा इसी विषयको जाननेवाला अनुमान प्रमाण है। इस कारण अनुमानसे दुबारा सिद्ध करनेमें कोई दोष नहीं है।

परस्याप्ययं न्यायः समानः,

यहां मीमांसक कहते हैं कि इसी प्रकार हम भी सर्वज्ञके अभावको सिद्ध कर लेवेंगे जैसे आपने एकांतोंका अभाव सिद्ध कर दिया है। वहां प्रतियोगीके स्मरण और निषेध्यसम्बन्धी आधारके प्रत्यक्षकी जिस प्रकार आपको आवश्यकता नहीं पडी है। यही तर्कणारूप न्याय दूसरे हमको सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेमें भी समान है, न्यायमें पक्षपात नहीं होना चाहिये।

इति चेत्‌ः—

इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो आचार्य कहते हैं किः—

नैवं सर्वस्य सर्वज्ञज्ञापकानुपदर्शनम्‌।
सिद्धं तद्दर्शनारोपो येन तत्र निषिध्यते॥ ३१॥

मीमांसकोंका उक्तकथन ठीक नहीं है। कारण कि जैसे हमको सब वस्तुओंमें (जगह) अनेकांतोंकी उपलब्धिरूप एकांतोंका अदर्शन सिद्ध है। इस कारण यदि किसीको भ्रमवश एकांत की कल्पना भी हो जाती है तो वह खण्डित कर दी जाती है। उसी प्रकार सब पुरुषोंके सर्वज्ञज्ञापक प्रमाणोंका न दीखना आपको सिद्ध नहीं है जिससे कि वहां वस्तुतः निषेध कर देते। भावार्थ—यदि न दीखना सिद्ध होजाता तो एक दो मनुष्योंको सर्वज्ञज्ञापकके कल्पित उपलम्भ करनेका आप निषेध भी कर सकते थे। किन्तु सर्वज्ञके ज्ञापकप्रमाणोंका अभाव आप नहीं कर सकते हैं। भला हमारा और आपका अर्थपरीक्षणस्वरूप न्याय समान कहां रहा?

सर्वसम्बन्धिनि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भे हि प्रतिपत्तुः स्वयं सिद्धे कुतश्चित्कस्यचित्सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भसमारोपो यदि व्यवच्छेद्येत तदा समानो न्यायः स्यान्न चैवं सर्वज्ञाभाववादिनां तदसिद्धेः।

यदि ज्ञाता मीमांसकको सम्पूर्णपुरुषोंमें सम्बन्धित होरहे सर्वज्ञके ज्ञापकप्रमाणोंका अनुपलम्भ अपने आप सिद्ध होता और बादमें किसी एक आध सर्वज्ञवादी व्यक्तिको किसी कारण से उसके विपरीत सर्वज्ञके ज्ञापकका उपलम्भरूप आरोप (कल्पना) हो जाता, पुनः इस आरोपको आप निवारण करते तब तो हमारे एकान्ताभावका और आपके सर्वज्ञाभावका न्याय समान होता किन्तु इस प्रकार सर्वज्ञाभाववादियोंके मतमें सम्पूर्ण आत्माओंमें सर्वज्ञके उन ज्ञापक प्रमाणोंका नहीं दीखना सिद्ध नहीं है । और हमारे यहां अनेकान्तोंका दर्शनरूप एकान्तोंके ज्ञापक-का अनुपलम्भ सिद्ध है । अतः हमारा ओर आपका न्याय सदृश नहीं है ।

आसन् सन्ति भविष्यन्ति बोद्धारो विश्वदृश्वनः ।
मदन्येऽपीति निर्णीतिर्यथा सर्वज्ञवादिनः ॥ ३२ ॥
किंचिज्ज्ञस्यापि तद्वन्मे तेनैवेति विनिश्चयः ।
इत्ययुक्तमशेषज्ञसाधनोपायसंभवात् ॥ ३३ ॥

सम्पूर्ण पदार्थोंके प्रत्यक्ष कर चुकनेवाले सर्वज्ञको जाननेवाले मेरेसे अतिरिक्त दूसरे पुरुष पहिले यहां हो चुके हैं उस समय भी अन्य क्षेत्रोंमे प्रत्यक्ष करनेवाले और यहां आगम, अनुमानसे जाननेवाले सर्वज्ञवेत्ता पुरुष वर्तमान हैं तथा भविष्यकालमें भी सर्वज्ञको जाननेवाले अनेक होवेंगे इस प्रकारका निर्णय जैसे सर्वज्ञवादीको है, उसीके समान मुझ मीमांसकको भी अच्छी तरह इस बातका विशेषरूपेस निश्चय है कि पहिले कालोंमें भी सम्पूर्ण लोग अल्पज्ञ थे और इस समय भी अल्पज्ञ हैं तथा अब आगे भी सम्पूर्ण जन अल्पज्ञ रहेंगे सर्वज्ञ और सर्वज्ञको जाननेवाला न कोई था, न है न होगा । सम्पूर्ण मनुष्य अल्पज्ञोंको ही जाननेवाले थे, हैं, और होंगे भी । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकका कहना युक्तियोंसे रहित है । क्योंकि सर्वज्ञके सिद्ध करनेका समीचीन उपाय विद्यमान है । प्रमाणसे सम्भव रही वस्तुका असम्भव कहते रहना उचित नहीं है ।

स्वयमसर्वज्ञस्यापि सर्वविदो बोद्धारो वृत्ता वर्तन्ते मत्तोऽन्येऽपीति युक्तं वक्तुम्, तत्सि-द्ध्युपायघटनात् । न पुनरसर्वज्ञवादिनस्ते पूर्वे नासन् सन्ति, न भविष्यन्तीति प्रमाणाभावात् ।

इस समय स्वयं अल्पज्ञ होकर भी हम जैन इस बातको युक्तिसहित कह सकते हैं कि हमसे अतिरिक्त पुरुष भी भूतकालमें सर्वज्ञके जाननेवाले थे, हैं, और वर्तमानमें भविष्यमें होंगे । क्योंकि उस सर्वज्ञकी सिद्धिका उपाय अनुमानप्रमाण चेष्टासहित बना हुआ है । किंतु सर्वज्ञको न माननेवाले मीमांसकोंके यहां सर्वज्ञ न थे, न हैं, और न होंगे इस बातका कोई प्रमाण नहीं है ।

कथम् ? ।

वह सर्वज्ञका ज्ञापक प्रमाण हम असर्वज्ञ लोगोंको किस प्रकार है यह दिखलाते हैं।

यथाहमनुमानादेः सर्वज्ञं वेद्मि तत्त्वतः
तथान्येऽपि नराः सन्तस्तद्बोद्धारो निरंकुशाः ॥ ३४ ॥

जैसे कि मैं अनुमान, आगम, आदि प्रमाणोंसे सर्वज्ञको वास्तविकरूपसे जान लेता हूं उसी प्रकार दूसरे विचारशील सज्जन पुरुष भी बाधक प्रमाणोंसे रहित होकर उस सर्वज्ञको जान लेते हैं।

सन्तः प्रशस्याः प्रेक्षावन्तः पुरुषास्ते मदन्येऽप्यनुमानादिना सर्वज्ञस्य बोद्धारः प्रेक्षावत्वात् यथाहमिति ब्रुवतो न किंचिद्बाधकमस्ति। न च प्रेक्षावत्त्वं ममासिद्धं निरवद्यं सर्वविद्यावेदकप्रमाणवादित्वात्। यो हि यत्र निरवद्यं प्रमाणं वक्ति स तत्र प्रेक्षावानिति सुप्रसिद्धम्।

लोकमें सद्गुणोंसे जो पूज्य हैं वे सज्जन हैं अर्थात् मुझसे अतिरिक्त जो विचारशील पुरुष हैं वे भी अनुमान आदि प्रमाणोंके द्वारा सर्वज्ञको जान रहे हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे पुरुष समीचीन तर्कणासे हिताहितको विचारनेवाले हैं, (हेतु) जैसे कि मैं विचारवाला होकर प्रमाणोंसे सर्वज्ञको जान रहा हूं। (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार कहते हुए मुझ सर्वज्ञवादीके अभिमतका कोई बाधक नहीं है। मुझको विचारशालिनी बुद्धिसे सहितपना असिद्ध नहीं हैं। क्योंकि मैं निर्दोषरूपसे संपूर्ण विद्याओंके ज्ञान करानेवाले प्रमाणोंको स्वीकार करनेवाला वादी हूं। जो वादी जिस विषयमें निर्दोषरूपसे निश्चय करके प्रमाणोंको कह रहा है वह वादी उस विषयमें अवश्य विचारशील सत्पुरुष माना जाता है जैसे कि सच्चा वैद्य, यह व्याप्ति लोकमें अच्छी तरहसे प्रसिद्ध है।

यथा मम न तज्ज्ञप्तेरुपलम्भोऽस्ति जातुचित्।
तथा सर्वनृणामित्यज्ञानस्यैव विचेष्टितम् ॥ ३५ ॥
हेतोर्नरत्वकायादिमत्त्वादेर्व्यभिचारतः।
स्याद्वादिनैव विश्वज्ञमनुमानेन जानता ॥ ३६ ॥

यहां मीमांसक कहता है कि जैसे मुझको उस सर्वज्ञ की ज्ञप्तिका उपलम्भ कभी नहीं होता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण मनुष्योंको भी सर्वज्ञका ज्ञान नहीं हो सकता है। इस प्रकार मीमांसकोंका कहना अज्ञानपूर्वक ही क्रिया करना है कारण यह है कि आप सम्पूर्ण मनुष्योंको सर्वज्ञका ज्ञान नहीं है। इसका यही अनुमान करेंगे कि " सम्पूर्ण मनुष्योंमें कोई भी मनुष्य सर्वज्ञको नहीं जानते

हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे सभी पुरुष है (हेतु) या वे सभी शरीर, इन्द्रिय आदिसे विशिष्ट हैं। (दूसरा हेतु) अथवा वे वक्ता हैं। (तीसरा हेतु) जो जो पुरुष हैं या शरीर आदिके धारी हैं तथा व्याख्याता हैं वे वे कोई भी सर्वज्ञको नहीं जानते हैं। जैसे कि मैं, (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमानमें दिये गये मनुष्यत्व, शरीरित्व आदि हेतुओंका अनुमानके द्वारा सर्वज्ञको जाननेवाले जैन स्याद्वादी विद्वान्से ही व्यभिचार है अर्थात् स्याद्वादी विद्वान् पुरुष हैं, शरीरधारी हैं और अच्छे वक्ता भी हैं किंतु वे सर्वज्ञको भली प्रकार जानते हैं। हेतु रह गया और साध्य नहीं रहा, अतः आप मीमांसकोंके हेतु व्यभिचारी हैं।

मदन्ये पुरुषाः सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भशून्याः पुरुषत्वात्कायादिमत्त्वाद् यथाहमिति वचस्तमोविलसितमेव; हेतोः स्याद्वादिनानैकान्तात्।

उक्त दो वार्तिकोंका अर्थ यह है। मीमांसक यदि यह कहें कि "मेरेसे अतिरिक्त संसारके मनुष्य सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंसे रीते हैं पुरुष होनेसे, या शरीर आदिका धारीपना होनेसे जैसे कि मैं" इस अनुमानमें मीमांसकोंने अन्वयदृष्टान्त बनानेके लिये अपनेसे अतिरिक्त सर्व जीवोंको पक्षकोटिमें डाला है और दृष्टान्त बनानेके लिये अपनेको बचा लिया है। क्योंकि अन्वयदृष्टान्त पक्षसे भिन्न हुआ करता है। ये मीमांसकोंके वचन अत्यन्त गाढ अन्धकारके कोरे खिलवाड ही हैं। क्योंकि उन हेतुओंका स्याद्वादी विद्वान्से व्यभिचार है।

तस्य पक्षीकरणाददोष इति चेत्, न, पक्षस्य प्रत्यक्षानुमानबाधप्रसक्तेः। सर्वज्ञवादिनो हि सर्वज्ञज्ञापकमनुमानादि स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रतिवादिनश्च तद्वचनविशेषोत्थानुमानसिद्धं सर्वपुरुषाणां सकलवित्साधनानुभवनशून्यत्वं बाधते हेतुश्चातीतकालः स्यादिति नासर्वज्ञवादिनां सर्वविदो बोद्धारो न केचिदिति वक्तुं युक्तम्।

यहां मीमांसक यह कहें कि, व्यभिचारस्थल माने गये स्याद्वादी–लोगोंको भी पक्षकोटिमें कर लिया जावेगा इस कारण कोई दोष नहीं है। अर्थात् स्याद्वादियोंको भी सर्वज्ञका ज्ञान नहीं है, वे झूंठी दम भरते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि तब तो आपके पक्षको प्रत्यक्ष और अनुमानप्रमाणसे बाधा होनेका प्रसंग हो जावेगा। कारण कि सर्वज्ञवादीने सर्वज्ञका ज्ञान करानेवाले अनुमान आदि प्रमाण स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जान लिये हैं और प्रतिवादीको उन पूर्वापर अविरुद्ध वचनविशेषोंसे पैदा हुए अनुमानके द्वारा सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंका ज्ञान करा दिया जाता है। अतः स्वसंवेदन और अनुमानसे सिद्ध किये वे सर्वज्ञके ज्ञापकप्रमाण मीमांसकोंके बनाये हुए उक्त अनुमानको बाधा देते हैं अतः सम्पूर्ण पुरुष सर्वज्ञसाधक अनुभवोंसे रहित हैं। इस अनुमानमें दिया गया हेतु–बाधित हेत्वाभास होजाता है क्योंकि सर्वज्ञके साधक अनुभवोंके सिद्ध

होजानेपर पश्चात्कालमें आपका अनुमान बोला गया है। इस प्रकार सर्वज्ञको जाननेवाले कोई नहीं हैं यह असर्वज्ञवादी मीमांसक नहीं कह सकते हैं अर्थात् सर्वज्ञका या सर्वज्ञको जाननेवालोंका निषेध करना उचित नहीं है।

ज्ञापकानुपलम्भोऽस्ति तन्न तत्प्रतिषेधतः।
कारकानुपलम्भस्तु प्रतिघातीष्यतेऽग्रतः ॥ ३७ ॥

हेतु दो प्रकारके होते हैं। एक ज्ञापक हेतु, दूसरे कारक हेतु, जैसे कि अग्निका धूम ज्ञापक हेतु है और धूमका कारक हेतु अग्नि है। यहां मीमांसकों करके कहा गया सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंका अनुपलम्भ तो सिद्ध नहीं हुआ है क्योंकि हमने सर्वज्ञके ज्ञापकप्रमाणोंको सिद्ध करके उस अनुपलम्भका निषेध कर दिया है और सर्वज्ञको बनानेवाले कारकहेतुओंके अनुपलम्भ होनेका भी आगे विघात करनेवाले हैं। अर्थात् तपस्या, समाधि, पूर्ण श्रुतज्ञान आदिके द्वारा ज्ञानावरण आदि कर्मोंके क्षयसे सर्वज्ञपन बनना इष्ट है। भावार्थ–कर्मोंके क्षयसे विशुद्ध आत्मामें स्वाभाविक केवलज्ञान प्रगट होजाता है अतः कारकहेतुओंका अनुपलम्भ भी नहीं है।

तदेवं सिद्धो विश्वतत्त्वानां ज्ञाता, तदभावसाधनस्य ज्ञापकानुपलम्भस्य कारकानुपलम्भस्य च निराकरणात्।

इस कारण इस प्रकार अब तक सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण पदार्थोंका एक साथ प्रत्यक्ष करनेवाला सर्वज्ञ अवश्य है। क्योंकि उस सर्वज्ञके अभावको सिद्ध करनेके लिये मीमांसकोंकी ओरसे दिये गये ज्ञापकप्रमाणोंके अनुपलम्भका और कारककारणोंके अनुपलम्भका खण्डन कर दिया गया है। दूसरी कारिकामें कहे गये प्रमेयको पुष्ट करनेके लिये–सर्वज्ञताको सिद्ध कर चुकनेपर अब पापोंका क्षय करना प्रसिद्ध करते हैं सुनिये।

कल्मषप्रक्षयश्चास्य विश्वज्ञत्वात्प्रतीयते।
तमन्तरेण तद्भावानुपपत्तिप्रसिद्धितः ॥ ३८ ॥

इस सर्वज्ञके ज्ञानावरण आदि पापकर्मोंका क्षय हो जाना तो सम्पूर्ण पदार्थोंके ज्ञातापनसे ही निर्णीत कर लिया जाता है। क्योंकि उसके विना यानी पापोंका क्षय किये विना उसके सद्भाव यानी सर्वज्ञताकी सिद्धि नहीं होती हैं। यह प्रमाणसे सिद्ध है।

सर्वतत्त्वार्थज्ञानं च कस्यचित्स्यात् कल्मषप्रक्षयश्च न स्यादिति न शंकनीयं तद्भाव एव तस्य सद्भावोपपत्तिसिद्धेः।

दूसरी वार्त्तिकमें सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंके ज्ञानरूप कार्यको हेतु बनाया है और कर्मोंके ध्वंसरूप कारणको साध्य बनाया है। उस प्रकरणका यहां उपसंहार किया जा रहा है। यहां कोई शंका करे कि आपके उक्त अनुमानमें अनुकूल तर्क नहीं है अर्थात् किसी एक अनादि ईश्वरके सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंका ज्ञान हो और सदा शुद्ध हो रहे ईश्वरके पापोंका क्षय न हो इसमें क्या बाधा है? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उस पापोंके क्षय होनेपर ही उस आत्माको सब पदार्थोंका जानना बन सकता है। जैसे कि वह्निसाधक प्रसिद्ध अनुमानमें कोई शंका करे कि धूम हो और वह्नि न हो तो इसमें क्या आपत्ति है? इसका उत्तर यही है कि कार्यकारणभावका भंग हो जावेगा। विना कारणके धूम नहीं हो सकता है। उसी तरहसे यहां भी कार्यकारणभावका भंग न होना ही उक्त शंकाका बाधक है।

जायते तद्विधं ज्ञानं स्वेऽसति प्रतिबन्धरि।
स्पष्टस्वार्थावभासित्वान्निर्दोषनयनादिवत्॥ ३९॥

सम्पूर्ण पदार्थोंको हस्तामलकवत् युगपत् जाननेवाला वैसा ज्ञान (पक्ष) अपने विघ्न कर रहे ज्ञानावरण आदि प्रतिपक्षियोंके नष्ट हो जानेपर ही पैदा होता है (साध्यदल) क्योंकि वह स्पष्ट रूपसे सम्पूर्ण अपने विषयोंको प्रकाश कर रहा है (हेतु) जैसे कि चाकचक्य, कामल, पाण्डु, आदि दोषोंसे सहित चक्षु आदि इन्द्रियां अपने विषयोंका स्पष्ट प्रकाश करती हैं। (अन्वय दृष्टान्त) इस अनुमान द्वारा सर्वज्ञके ज्ञानका आवरण करनेवाले कर्मोंका विनाश सिद्ध किया है।

सर्वज्ञविज्ञानस्य स्वं प्रतिबन्धकं कल्मषं तस्मिन्नसत्येव तद्भवति स्पष्टस्वविषयावभासित्वात् निर्दोषचक्षुरादिवदित्यत्र नासिद्धं साधनं प्रमाणसद्भावात्।

पूर्वमें सर्वज्ञके विज्ञानका स्वाभाविकशक्तिसे बिगाडने वाला अपना पापकर्म था, उस पापके ध्वंस होनेपर ही सबको जाननेवाला वह विशद ज्ञान पैदा होता है क्योंकि वह स्पष्टरूपसे अपने विषयोंका प्रकाशक है। जो स्पष्टरूपसे अपने विषयोंके प्रकाशक होते हैं वह अपने प्रतिबन्धकोंके नष्ट होनेपर ही उत्पन्न होते हैं। जैसे कि काच कामल आदि दोषोंसे रहित चक्षु आदिक इन्द्रियां या उन इंद्रियोंसे पैदा हुए घट, पटके प्रत्यक्ष ज्ञान। यों इस अनुमानमें हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि पक्षमें हेतुका रहना सिद्ध करनेवाले अनुमान और आगमप्रमाण विद्यमान हैं।

नन्वामूलं कल्मषस्य क्षये किं प्रमाणमिति चेदिमे ब्रूमहे—

किसीकी यहां शंका है कि हम लोगोंके ज्ञानावरण आदि कर्म कुछ नष्ट भी हो जाते हैं और अनेक कर्म आत्मामें विद्यमान रहते हैं किन्तु आपने सर्वज्ञके ज्ञानावरण आदि कर्मोंका सम्पूर्णरूपसे

क्षय माना है। अतः कर्मोके जडसे ही पूरी तरह क्षय हो जानेमें क्या प्रमाण है? बताओ, ऐसी शंका होनेपर यहां ये हम जैन सहर्ष यह कहते हैं किः—

क्षीयते क्वचिदामूलं ज्ञानस्य प्रतिबन्धकम्।
समग्रक्षयहेतुत्वाल्लोचने तिमिरादिवत् ॥ ४० ॥

आत्माके स्वाभाविक ज्ञानगुणका आवरण करनेवाला प्रतिबन्धक कर्म (पक्ष) किसी न किसी आत्मामें मूलसे शिखा तक पूरी तरहसे नष्ट हो जाता है (साध्य) क्योंकि उस आत्मामें ज्ञानावरणकर्मके पूर्णरूपसे क्षय होनेके कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र उत्पन्न हो गये हैं (हेतु) जैसे कि अञ्जन, सुरमा, ममीरा आदि कारणोंसे नेत्रमें तमारा, चकाचोंध, कामल, आदि दोष सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। (अन्वय दृष्टान्त)

समग्रक्षयहेतुकं हि चक्षुषि तिमिरादि न पुनरुद्भवदृष्टं तद्वत्सर्वविदो ज्ञान-प्रतिबन्धकमिति।

जैसे कि तमारा, रतोंध आदि दोषोंके सर्वथा नाश करनेवाले कारणोंके उपयोग करनेपर नेत्रमें तमारा आदि दोष फिर पैदा होता हुआ नहीं देखा गया है। उसीप्रकार एकत्ववितर्क अवी-चार नामक ध्यानसे सम्पूर्ण घातियोंका क्षय हो जानेपर सर्वज्ञके केवलज्ञानको आवरण करनेवाला कर्म पुनः उत्पन्न नहीं हो पाता है।

ननु क्षयमात्रसिद्धावप्यामूलक्षयोऽस्य न सिद्ध्येत् पुनर्नयने तिमिरसमुद्भवदृष्टमेवेति चेन्न, तदा तस्य समग्रक्षयहेतुत्वाभावात्, समग्रक्षयहेतुकमेव हि तिमिरादिकमिहोदाहरणं नान्यत्, न चानेन हेतोरनैकान्तिकता, तत्र तदभावात्।

मीमांसकोंकी ओरसे नेत्रके दृष्टांतको लेकर यहां शंका है कि पूर्वोक्त अनुमानसे कर्मोका केवल क्षय सिद्ध हुआ। फिर भी जडमूलसे इन कर्मोका क्षय तो सिद्ध नहीं होता है क्योंकि नेत्रोंमें एकबार तमारे आदिके नष्ट होजानेपर फिर भी तमारा, रतोंध आदि दोष पैदा होते हुए देखे गये हैं। इसी प्रकार सर्वज्ञके भी पुनः ज्ञानावरणदोषका बन्ध होना सम्भव है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि संसारी जीवों के ज्ञानावरण आदि कर्मोका पूर्णरूपसे नष्ट करनेवाला रत्नत्रय उत्पन्न नहीं हुआ है। इस कारण कतिपय कर्मोका क्षयोपशम होजाता है। पुनः बन्ध भी होजाता है। किंतु सर्वज्ञके कर्मोका अनन्त काल तक के लिये क्षय करनेवाले कारण पूर्ण संवर और निर्जरा होगये हैं। इसी प्रकार नेत्रों में एक बार उपशम होनेपर भी पुनः तमारा, रतोंध दोष पैदा हो जाता है। वहां भी उस दोषका पूर्णरूपसे क्षय करनेके कारण अञ्जन आदिकक

उस समय सेवन नहीं किया है। हमने यहां सम्पूर्णरूपसे दोषोंके नाश करनेवाले कारणोंसे सर्वथा नष्ट हो चुके तमारा आदि दोषोंको ही दृष्टान्त किया है। कुछ देरके लिये दब गये अन्य रतौंध आदिको दृष्टान्त नहीं बनाया है। इस कारण कुछ दिनके लिये उपशमको प्राप्त हुये इस तमारा दोषसे हमारे हेतुका व्यभिचार नहीं है। क्योंकि वहां दबे हुए कामल आदि नेत्रदोषों में " सम्पूर्ण रूपसे क्षय करनेका कारण विद्यमान है " वह हेतु रहता नहीं है। फिर व्यभिचारदोष कैसा ?।

किं पुनः केवलस्य प्रतिबन्धकं यस्यात्यन्तपरिक्षयः क्वचित्साध्यत इति नाक्षेप्तव्यम्।

यहां किसीका उपहास करते हुए आक्षेप है कि नेत्रके दृष्टान्तसे दोषोंका सम्पूर्ण रूपसे क्षय हो जाना मान भी लिया जाय, फिर भी आप यह बतलाइये कि सर्वज्ञके केवलज्ञानका प्रतिबन्ध करनेवाला दोष कौन है ? जिसका कि अनन्त कालतक के लिये पूर्ण रूपसे नष्ट होजाना किसी एक आत्मामें सिद्ध किया जा रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि—इस प्रकार आक्षेप नहीं करना चाहिये। कारण कि—

मोहो ज्ञानदृगावृत्यन्तरायाः प्रतिबन्धकाः।
केवलस्य हि वक्ष्यन्ते तद्भावे तदनुद्भवात्॥ ४१॥

मोहनीय, तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, ये पौद्गलिक कर्म केवलज्ञानके निश्चय करके प्रतिबन्धक हैं। मूलसूत्रकार इस बातको आगे दशमें अध्याय में कहेंगे उन कर्मोंके होने पर वह केवलज्ञान नहीं पैदा होता है। यहां अन्वयव्याप्ति है। कि—

यद्भावे नियमेन यस्यानुद्भवस्तस्य प्रतिबन्धकं यथा तिमिरं नेत्रविज्ञानस्य, मोहादिभावोऽस्मदादेश्चक्षुर्ज्ञानानुद्भवश्च केवलस्येति मोहादयस्तत्प्रतिबन्धकाः प्रवक्ष्यन्ते, ततो न धर्मिणोऽसिद्धिः।

जिसके विद्यमान रहनेपर जो नियमसे पैदा नहीं होता है, वह उसका प्रतिबन्धक माना जाता है। जैसे कि नेत्रोंके द्वारा ठीक ठीक विज्ञान होनेका प्रतिबन्ध करनेवाले तमारा, कामल आदि दोष हैं। हम आदि लोगोंके मोहनीय कर्म और ज्ञानावरण आदि कर्म विद्यमान हैं। जैसे तिमिरादि दोषके विद्यमान होनेपर पूरा चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं पैदा होता है। इसी प्रकार चारित्रमोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके होनेपर केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो पाती है। इस हेतुसे मोहादिक कर्म उस केवलज्ञानके आवरण करनेवाले सिद्ध होते हैं। केवलज्ञानके बिगाडने वाले कर्मोंका स्पष्टरूपसे निरूपण अन्तिम अध्यायमें करेंगे, इस कारण ज्ञानके प्रतिबन्धक कर्म (पक्ष) किसी

आत्मा में मूलसे नष्ट हो जाते हैं (साध्य) पूर्णरूपसे क्षयका कारण विद्यमान होनेसे (हेतु) इस अनुमानमें प्रतिबन्धक कर्म-रूपी धर्मी (पक्ष) की असिद्धि नहीं हुयी ।

कः पुनरेतत्क्षयहेतुः समग्रो यद्भावाद्धेतुसिद्धिरिति चेत् ।

फिर यहां प्रश्न है कि मोहनीय आदि कर्मोंके पूर्णरूपसे क्षयका कारण कौन है ? जिसके विद्यमान होनेसे जैनोंका हेतु सिद्ध कहा जावे बताओ, यदि ऐसा कहोगे तो आचार्य उत्तर देते हैं कि-

तेषां प्रक्षयहेतू च पूर्णे संवरनिर्जरे ।
ते तपोतिशयात्साधोः कस्यचिद्भवतो ध्रुवम् ॥ ४२ ॥

उन मोहनीय आदि कर्मोंके वर्तमान और भविष्यके भी सम्बन्धको रोकते हुए बढिया क्षय करनेके कारण वे पूर्ण संवर और निर्जरा किसी किसी निकटसिद्ध साधुके उत्कृष्ट तपके माहात्म्यसे निश्चय कर पैदा होजाते हैं ।

तपो ह्यनागताघौघप्रवर्तननिरोधनम्।
तज्जन्महेतुसंघातप्रतिपक्षयतो यथा ॥ ४३ ॥
भविष्यत्कालकूटादिविकारौघनिरोधनम् ।
मंत्रध्यानविधानादि स्फुटं लोके प्रतीयते ॥ ४४ ॥

जिस तपके द्वारा संवर और निर्जरा दोनों हो जाते हैं, उस तपके उत्पन्न होनेके कारण तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र हैं । बहिरंगमें दीक्षा, तपस्या, कायक्लेश आदि भी हैं । वह तप ही भविष्यमें आनेवाले पापोंके समुदायकी प्रवृत्तिको रोकता रहता है तथा वर्तमानकालमें भी उस पापका सम्बन्ध नहीं होने देता है । कर्मोंके उत्पन्न होनेका कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगोंका समुदाय है । उसको सम्यग्दर्शन आदि सामग्रीसे नाश करता हुआ तप किसी साधुके उत्पन्न होजाता है । जैसे कि यह बात लोकमें स्पष्टरूपसे प्रतीत होरही है कि काटे हुए या जहर खानेवाले मनुष्यके शरीरमें विषका प्रभाव मन्त्रसे और ध्यानकी विधि आदिसे वर्तमानमें भी नष्ट कर दिया जाता है और भविष्यकालमें भी उस तीक्ष्ण विष या बावले कुत्तेके काटने, और पागल श्रृगालके काटनेके विकारोंके समुदाय रोक दिये जाते हैं । इसी प्रकार तपके द्वारा वर्तमान और भविष्यके लिये कर्मबन्ध नष्ट कर दिये जाते हैं ।

नृणामप्यघसम्बन्धो रागद्वेषादिहेतुकः
दुःखादिफलहेतुत्वादतिभुक्तिविषादिवत् ॥ ४५ ॥

वर्तमान संसारी जीवोंके भी राग, द्वेष, अज्ञान, प्रमाद, आदि कारणोंसे पापोंका सम्बन्ध अवश्य है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह दुःख, अज्ञान, उत्साहका न होना, परतन्त्र होना, आदि फलोंका कारण है (हेतु) जैसे कि भूखसे अत्यधिक खानेपर या विष, कच्चा पारा आदि भक्षण करनेसे उस पुद्गलके सम्बन्ध द्वारा आत्मामें नाना क्लेश उत्पन्न हो जाते हैं। (अन्वयदृष्टान्त) उसी प्रकार संसारीमनुष्योंके विचित्र प्रकारके आधि, व्याधि, उपाधिरूप अनेक दुःख देखे जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि आत्माके विभावभावोंका कारण विजातीय पुद्गल पापद्रव्यका सम्बन्ध हो रहा है।

तद्विरोधि विरागादिरूपं तप इहोच्यते ।
तदसिद्धावतज्जन्मकारणप्रतिपक्षता ॥ ४६ ॥

जिन रागद्वेष, अज्ञान आदि विभावोंसे कर्मोंका बन्ध होता है, उन रागादिकोंसे विरोध करनेवाले वैराग्य, आत्मज्ञान, भेदविज्ञान, स्वाध्याय, कायक्लेश, धर्मध्यान आदि स्वरूप यहां प्रकरणमें तप कहा जाता है। क्योंकि धर्मध्यान, वैराग्य आदि तपके सिद्ध न होनेपर उन पापोंकी उत्पत्तिके कारण हो रहे अविरति, कषाय आदिका विरोध करना नहीं बनता है। इसकारण वीतराग विज्ञान आदि ही ज्ञानावरण आदि पौद्गलिककर्मोंके और रागद्वेष आदि भावकर्मोंके विरोधी सिद्ध हो जाते हैं।

तदा दुःखफलं कर्म संचितं प्रतिहन्यते
कायक्लेशादिरूपेण तपसा तत्सजातिना ॥ ४७ ॥
स्वाध्यायादिस्वभावेन परप्रशममूर्तिना ।
बद्धं सातादिकृत्कर्म शक्रादिसुखजातिना ॥ ४८ ॥

जिस समय मुनिमहाराजके उत्कृष्ट तप हो जाता है उस समय दुःख, रोग, संक्लेश हैं फल जिनके ऐसे पूर्व जन्ममें इकट्ठे किये गये कर्म तो प्रतिपक्ष हो रहे कायक्लेश, प्रायश्चित्त उपवास, व्युत्सर्ग आदि तपोंके द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। और इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदिके सुखोंको प्राप्त करानेवाले या उसी जातिके दूसरे नीरोगता, सत्कुलीनता, यशस्विता, राजलोकमान्यता, जयशालिनी विद्वत्ता आदि लौकिक सुखोंको देनेवाले सातावेदनीय, उच्चगोत्र, यशस्कीर्त्ति, सुभग, आदि लौकिक सुखसाताको करनेवाले पुण्यकर्मको आत्मामें बंधे हुए हैं। उन शुभकर्मोंका विनाश तो परम उत्कृष्ट शान्तिकी मूर्ति स्वरूप स्वाध्याय, शुक्लध्यान, आदि आत्माके स्वाभाविक परिणामरूप तपसे हो जाता है।

केवलप्रतिबन्धकस्यानागतस्य संचितस्य वात्यन्तिकक्षयहेतू समग्रौ संवरनिर्जरे तपोऽतिशयात् कस्यचिदवश्यं भवत एवेति प्रमाणसिद्धं तस्य समग्रक्षयहेतुत्वसाधनं यतः–

केवलज्ञानका प्रतिबन्ध करनेवाले भविष्यके कर्म और पूर्व जन्मके एकत्रित कर्मोंका अत्यंतरूपसे क्षय करनेके कारण पूर्ण संवर तथा पूर्ण निर्जरा किसी न किसी विशुद्ध साधुके तपके माहात्म्यसे अवश्य उत्पन्न हो जाते ही हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त शंकाकारको मोहनीय आदि समग्र कर्मोंके पूर्णरूपसे क्षयके हेतुका विद्यमान रहनारूपी ज्ञापक साधन–प्रमाणोंसे सिद्ध कर दिया गया है, जिस कारणसे कि कर्मोंके क्षय करनेवाला हेतु सिद्ध होगया।

ततो निःशेषतत्त्वार्थवेदी प्रक्षीणकल्मषः।
श्रेयोमार्गस्य नेतास्ति स संस्तुत्यस्तदर्थिभिः॥ ४९॥

इस कारणसे यह भी सिद्ध हो गया कि जिसके सम्पूर्ण पाप प्रकृष्टपनेसे ध्वस्त हो गये हैं वह पुरुष ही सम्पूर्ण पदार्थोंके जाननेका स्वभाववाला है और वही मोक्षमार्गका प्राप्त करानेवाला पथप्रदर्शक नायक है। तथा वही उस मोक्षके अभिलाषी भव्यजीवों करके अच्छा स्तवन करने योग्य है। यहां तक दूसरी वार्तिकके संदर्भका उपसंहार हुआ।

ननु निःशेषतत्त्वार्थवेदित्वे प्रक्षीणकल्मषत्वे च चारित्राख्ये सम्यग्दर्शनाविनाभाविनि सिद्धेऽपि भगवतः शरीरित्वेनावस्थानासंभवान्न श्रेयोमार्गोपदेशित्वं, तथापि तदवस्थानेशरीरित्वाभावस्य रत्नत्रयनिबन्धनत्वाविरोधात् तद्भावेऽप्यभावात्। कारणान्तरापेक्षायां न रत्नत्रयमेव संसारक्षयनिमित्तमिति कश्चित्।

यहां किसी की शंका है कि स्याद्वादियोंके कथनानुसार जिनेन्द्र भगवान्के सम्यग्दर्शन गुणके साथ व्याप्ति रखनेवाले सम्पूर्ण पदार्थोंका जानलेनापन तथा चारित्रमोहनीय आदि चार घातिकर्मोंका बढिया क्षय होजानारूप चारित्रनामके गुणके सिद्ध होजाने पर भी रत्नत्रयवाले भगवान्का शरीरसहित होकर ठहरना सम्भव नहीं है, क्योंकि तीनों गुणोंके पैदा होजानेपर वे शीघ्र ही द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे विमुक्त होकर सिद्धलोकको प्राप्त हो जावेंगे। अतः मोक्षमार्गका उपदेशदायकपन नहीं बन सकेगा, फिर भी रत्नत्रय हो जानेपर आप उन जिनेन्द्रभगवान्का संसारमें उपदेश देनेके लिये स्थूलशरीर–सहित स्थित रहना मानोगे तो आत्माके शरीरसहितपनेके अभावरूप मोक्षमें रत्नत्रयकी कारणताका विरोध होगा अर्थात् रत्नत्रयसे आत्माके स्थूल, सूक्ष्म शरीरोंका अभाव न हो सका, क्योंकि रत्नत्रयके उत्पन्न होनेपर भी उपदेशार्थ ठहरना पडा शरीरका अभाव नहीं हुआ है। यदि शरीररूप उपाधिके नाश करनेके लिये रत्नत्रयके अतिरिक्त दूसरे कारणों-

की अपेक्षा करोगे तो पूर्ण रत्नत्रयही ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म, या अज्ञान, क्रोध, राग आदि भाव-कर्म, और शरीर, इन्द्रिय, आदि नोकर्मस्वरूप संसारके क्षयका कारण है। यह सिद्धान्तवचन न बन सकेगा। कारणसे कार्य होनाही चाहिये। कार्यकारणभाव कोई बच्चोंका खेल नहीं है, चाहे जहां कार्य करलिया और कहीं कार्य न होसका। इस प्रकार किसी एक नैयायिक मतके अनुसार चलनेवाले वादीका कुचोद्य है।

सोऽपि न विपश्चित्, यस्मात्–

ग्रन्थकार कहते हैं कि वह शंकाकार भी विचारशाली पण्डित नहीं है। जिस कारणसे कि—

तस्य दर्शनशुद्ध्यादिभावनोपात्तमूर्तिना।
पुण्यतीर्थंकरत्वेन नाम्ना संपादितश्रियः॥ ५०॥
स्थितस्य च चिरं स्वायुर्विशेषवशवर्तिनः।
श्रेयोमार्गोपदेशित्वं कथंचिन्न विरुध्यते॥ ५१॥

उस जिनेन्द्रदेवने पूर्वजन्ममें या इस जन्ममें दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंके भावनेसे अत्यंत पुण्यशालिनी पौद्गलिक नामकर्मकी तीर्थंकरप्रकृतिका बन्ध किया है तथा उस तीर्थंकरप्रकृतिके साथ नियमरूपसे होनेवाली अनेक पुण्यप्रकृतियोंका ग्रहण किया है। उन पुण्य-प्रकृतियोंके उदय आनेपर सम्पादित हुई समवसरण आदि बहिरंगलक्ष्मीको प्राप्त करनेवाले जिनेंद्रदेव उत्कृष्टपनेसे कुछ अन्तर्मुहूर्तोंसे अधिक पौनेनौ वर्ष कमती एक कोटी पूर्ववर्ष और जघन्यपनेसे कति-पय अन्तर्मुहूर्त अपने विशेष आयुष्यकर्मके अधीन होकर बर्ताव करनेवाले भगवान् बहुत देर तक या बहुत वर्षोंतक संसारमें ठहरते हैं। यों चार अघातिया कर्मोंके अधीन संसारमें स्थित रहनेवाले अनन्तचतुष्टयधारी भगवान्के तीर्थंकर प्रकृतिके उदय होनेपर मोक्षमार्गका उपदेश देनापन किसी भी तरहसे विरुद्ध नहीं है।

तस्य निःशेषतत्त्वार्थवेदिनः समुद्भूतरत्नत्रयस्यापि शरीरित्वेनावस्थानं स्वायुर्विशेषवशवर्तित्वात्, न हि तदायुरपवर्तनीयं येनोपक्रमवशात् क्षीयेत, तदक्षये च तदविनाभाविनामादिकर्मत्रयोदयोऽपि तस्यावतिष्ठते, ततः स्थितस्य भगवतः श्रेयोमार्गोपदेशित्वं कथमपि न विरुध्यते।

सम्पूर्ण तत्त्वार्थके जाननेवाले उस प्रसिद्ध जिनेन्द्र भगवान्के रत्नत्रय भले ही प्रगट हो गये हैं फिर भी अपनी विशेष आयुके अधीन होनेसे जिनेन्द्र देवका उपदेशके उपयोगी शरीरसे सहित

होकर संसारमें ठहर जाना बन जाता है। तीर्थंकर भगवान्‌की आयु विष, वेदना, रक्तक्षय, आदि कारणोंसे मध्यमें ही छिन्न होनेके योग्य है नहीं, जिससे कि उपक्रमके अधीन आयुः कर्मकी उदीरणा होकर औपक्रमिकनिर्जरा हो जाती। अर्थात् साधारण कर्मभूमियां मनुष्य तिर्यञ्चोंकी या गुरुदत्त, पाण्डव आदि सामान्यकेवलियों या अन्तकृत् केवलियोंकी भी आयुका अपवर्तन हो जाता है किंतु तीर्थंकरोंकी आयुका मध्यमें किसी कारणसे क्षय नहीं हो पाता है। वे भुज्यमान पूर्ण आयुष्यको भोगते हैं और जब उस आयुष्यकर्मका क्षय नहीं हुआ तो उससे अविनाभाव रखनेवाले नाम, गोत्र, तथा वेदनीय इन तीन कर्मोंका उदय भी तीर्थङ्कर जिनेंद्रदेवके विद्यमान रहता है, तिस कारण चार अघातिया कर्मोंके वशवर्ती भगवान् संसारमें ठरहते हैं और अपने अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, तीर्थंकरत्व, स्वरनामकर्म तथा मन, वचन, कायके योग तथा भव्यजीवोंके पुण्यविशेषको निमित्त पाकर मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं। यह बात कैसे भी विरुद्ध नहीं पडती है।

कुतस्तर्हि तस्यायुःक्षयः शेषाघातिकर्मक्षयश्च स्याद्यतो मुक्तिरिति चेत्—

यहां शंकाकार पूंछता है कि तो फिर उन भगवान्‌के आयुकर्मका क्षय तथा बाकी बचे हुए वेदनीय, गोत्र और नामकर्मका क्षय किस कारणसे होगा? बताओ जिससे कि सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय होनेपर भगवान् को मोक्ष होसके, ऐसा कहनेपर तो आचार्य उत्तर देते हैं। सुनिये।

फलोपभोगादायुषो निर्जरोपवर्णनादघातिकर्मत्रयस्य च शेषस्याधिकस्थितेर्दण्डकपाटादिकरणविशेषादपकर्षणादिकर्मविशेषाद्वेति ब्रूमः।

आयुष्य कर्मकी निर्जरा तो संसारमें उतने दिनतक ठहरना रूप उसके फलके उपभोग करनेसे ही मानी गयी है और बाकीके तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति यदि आयुकर्मके बराबर है, तब तो आयुकर्मके साथ साथ उन तीनों कर्मोंका भी फल देकर क्षय होजाता है। किन्तु आयुसे वेदनीय आदि कर्मोंकी स्थिति यदि अधिक है तो दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणरूप विशेष क्रिया करनेसे या आत्मीयपरिणामोंसे होनेवाले अपकर्षणविधान आदि क्रियाविशेषसे निर्जरा कर दी जाती है ऐसा हम जैन साटोप कहते हैं। भावार्थ— जैसे कि नींद कम आनेपर जंभाईसे शरीरका आलस्य कम होजाता है, जंभाई अकडनके लिये हम चलाकर प्रयत्न नहीं करते हैं। उसी प्रकार विना इच्छा, प्रयत्नके जिनेन्द्र देवके आयुकर्मके बराबर शेष तीन कर्मोंकी स्थिति करनेके लिये केवलिसमुद्घात होता है। उसमें सात समय लगते हैं। प्रथम समयमें आत्माके प्रदेश दण्डके समान हो जाते हैं। पूर्वमुख या उत्तरमुख पद्मासन बैठे हुए या खडे हुए केवलीके शरीरविन्यासके अनुसार शरीरबराबर मोटी सात राजू लम्बी आत्मा हो जाती है। दूसरे समयमें वे प्रदेश किवाडके आकार होकर सात राजू लम्बे, सात राजू चौडे और शरीरकी मोटाईके अनुसार मोटे होकर

फैल जाते हैं। तीसरे समयमें वातवलयोंको छोडकर सर्व लोकमें वे प्रदेश व्याप्त हो जाते हैं और चौथे समयमें वातवलय भी भर जाते हैं इसको लोकपूरण कहते हैं। आत्मा लोकाकाशके बराबर हो जाता है, यह प्रसारणविधि है। बादमें पूर्वके समान संकोचन होता है। पांचवे समयमें प्रतर और छट्टेमें पुनः कपाट फिर दण्डके अनुसार प्रदेशरचना होकर आठवें समयमें पूर्वशरीरके अनुसार आत्मा हो जाता है। इस केवलिसमुद्घातसे तीन अघाती कर्मोंकी स्थिति आयु के बराबर हो जाती है। इसके कई अन्य भी लौकिक दृष्टांत हैं।

न चैवं रत्नत्रयहेतुता मुक्तेर्व्याहन्यते निश्चयनयादयोगकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य मुक्तेर्हेतुत्वव्यवस्थितेः।

कोई आक्षेप करे कि इस प्रकार माननेपर तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रको मोक्षकी कारणताका व्याघात होता है क्योंकि चौथेसे सातवें तक किसी भी गुणस्थानमें क्षयोपशम सम्यग्दर्शनके विद्यमान होनेपर करणत्रय करके अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन हो जानेपर पुनः करणत्रयसे दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय हो जानेसे क्षायिकसम्यक्त्व हो चुका है, और दशमे गुणस्थानके अंतमें चारित्रमोहनीयका अविकलध्वंस हो जानेपर क्षायिक चारित्रगुण भी बारहवें गुणस्थानके आदि समयमें प्रकट हो चुका है, तथा बारहवें गुणस्थानके अंतमें ज्ञानावरणके नाश हो जानेसे तेरहवेंकी आदिमें क्षायिक केवलज्ञान भी उत्पन्न हो गया है, फिर क्या कारण है कि रत्नत्रय होनेपर भी मोक्ष नहीं होपाती है? ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि व्यवहारनयसे यद्यपि तीनों रत्न पूर्ण हो चुके हैं, फिर भी चारित्रगुणमें अघातिकर्मोंके निमित्तसे आनुषंगिक दोष आ जाते हैं। परमावगाढ सम्यग्दर्शन चौदहवें गुणस्थानके अंतमें माना है तथा पूरा चारित्र व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान भी चौदहवेंके अंतसमयमें माना है। निश्चयनयसे चौदहवें गुणस्थानके अंतसमयमें योगरहित केवलज्ञानीके होनेवाले रत्नत्रयको मोक्षका कारणपना व्यवस्थित किया गया है। तब वे एक क्षण भी संसारमें नहीं ठहरते हैं। चौदहवेंके अंतमें रत्नत्रयकी पूर्णता कर उसके उत्तरक्षणमें स्वाभाविक ऋजुगतिसे ऊर्ध्व गमन कर लोकके सबसे ऊपर तनुवातवलयमें स्थित पैंतालीस लाख योजन लम्बे चौडे और पांचसौ पचीस धनुष ऊंचे थालीके आकार गोल सिद्धलोकमें वे अनंत काल तकके लिये विराजमान हो जाते हैं।

ननु स्थितस्याप्यमोहस्य मोहविशेषात्मकविवक्षानुपपत्तेः कुतः श्रेयोमार्गवचनप्रवृत्तिरिति च न मन्तव्यम्। तीर्थकरत्वनामकर्मणा पुण्यातिशयेन तस्यागमलक्षणतीर्थकरत्वश्रियः सम्पादनात्तीर्थकरत्वनामकर्म तु दर्शनविशुद्ध्यादिभावनाबलभावि विभावयिष्यते।

यहां शंका है कि जिनेन्द्र भगवान् आयुकर्मके अधीन होकर संसारमें स्थित रहते हैं यह तो ठीक है किंतु जब भगवान्के मोहनीय कर्मका नाश पहिले ही होगया है तो विशेष मोहनीय

कर्मके उदयसे होनेवाली बोलनेकी इच्छा तो मोहरहितभगवान्के बन नहीं सकती है, फिर कैसे इच्छाके विना भगवान्के मोक्षमार्गके प्रतिपादन करनेवाले वचनोंकी प्रवृत्ति होसकेगी ? बताओ। आचार्य कहते हैं कि यह नहीं मानना चाहिये, क्योंकि तीर्थकरत्वनामका नामकर्म अत्यंत चमत्कारी पुण्य है। उस बहिरंगकारणके द्वारा उस अनंतचतुष्टयधारी भगवान्ने द्वादशांग आगमरूप तीर्थ बनानेकी लक्ष्मीको प्राप्त किया है। अर्थात् अनेक दुःखोंसे निकालकर भव्यजीवोंको मोक्षधाममें पहुंचानेके लिये श्रेष्ठ आगम द्वादशांग वाणीरूपी घाट संसारसमुद्रसे पार होनेके लिये बना दिया है। वह आगमरूपी घाटके बनानेमें निमित्त कारण तीर्थंकरत्वसंज्ञावाला नामकर्म तो दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओंके बलसे भव्यजीवोंके चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवेंके छट्ठे भाग तक बंधको प्राप्त हो जाता है। इस बातका भविष्यग्रंथमें अच्छी तरहसे विचार कर निर्णय कर देवेंगे।

न च मोहवति विवक्षानान्तरीयकत्वं वचनप्रवृत्तेरुपलभ्य प्रक्षीणमोहेऽपि तस्य तत्पूर्वकत्वसाधनं श्रेयः, शरीरित्वादेः पूर्वासर्वज्ञत्वादिसाधनानुषंगात्, वचोविवक्षानान्तरीयकत्वासिद्धेश्चेति निरवद्यं सम्यग्दर्शनादित्रयहेतुकमुक्तिवादिनां श्रेयोमार्गोपदेशित्वम् ।

मोहयुक्त संसारी जीवोंमे बोलनेकी इच्छाके विना न होनेवाली अर्थात् बोलनेकी इच्छापूर्वक ही होनेवाली वचनप्रवृत्तिको देखकर मोहरहित जिनेन्द्रदेवके भी उन वचनोंका विवक्षापूर्वकपन सिद्ध करना अच्छा नहीं है। अन्यथा यों तो केवलज्ञानीके शरीरधारीपन, वक्तापन आदि हेतुओंसे पूर्वके समान असर्वज्ञता भी सिद्ध हो जावेगी, " अर्हन् असर्वज्ञः शरीरधारित्वात्, वक्तृत्वात्, अध्यापकवत्, " मिट्टीका विकार होनेसे घटके समान सर्पकी वामी भी कुम्हारकी बनाई हुयी नहीं सिद्ध होती है। " वल्मीकं कुम्भकारकृतं मृद्विकारत्वाद् घटवत्, " उसी प्रकार सामान्य संसारीजीवोंके वचनोंमें बोलनेकी इच्छाको कारण देखकर सर्वज्ञदेवके वचनोंके अव्यवहित पूर्वमें भी बोलनेकी इच्छाका सिद्ध करना ठीक नहीं है। तथा वचनका विवक्षाके साथ अविनाभावीपन सिद्ध भी नहीं है। क्योंकि सोते समय और मूर्च्छा आदिमें विवक्षाके बिना भी वचन बोल दिये जाते हैं। कभी कभी बोलनेकी इच्छा अन्य होती है और मुखसे दूसरा ही शब्द निकल जाता है। ऐसे गोत्रस्खलनमें इच्छाके नहीं होते हुए भी शब्दप्रवृत्ति हो जाती है, " न अन्तरे भवतीति नान्तरीयकः " इसका अर्थ अविनाभाव होता है। विवक्षाका और वचनप्रवृत्तिका अविनाभावसम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार अब तक निर्दोष रूपसे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनको मोक्षका कारण माननेवाले स्याद्वादियोंके मतमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके स्वांशोंमें पूर्णता होनेपर भी तथा चारित्रके अंशोंमें पूर्णता होनेके पहिले जिनेन्द्रदेवके मोक्षमार्गका उपदेशकपन बन जाता है।

ज्ञानमात्रात्तु यो नाम मुक्तिमभ्येति कश्चन ।
तस्य तन्न ततः पूर्वमज्ञत्वात्पामरादिवत् ॥ ५२ ॥
नापि पश्चादवस्थानाभावाद्वाग्वृत्त्ययोगतः ।
आकाशस्येव मुक्तस्य क्वोपदेशप्रवर्तनम् ॥ ५३ ॥

जो कोई कपिलमतानुयायी भला तीनको मुक्तिका कारण न मानकर अकेले ज्ञानसे ही मोक्ष होना स्वीकार करता है, उसके मतमें वह मोक्षमार्गका उपदेश कैसे भी नहीं बन सकता है। क्योंकि उस पूर्णज्ञान उत्पन्न होनेके प्रथम तो वह अज्ञानी है। अतः गंवार, छोकरा, आदिके समान मोक्षका उपदेश नहीं दे सकता है और पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होनेके पीछे वह शीघ्र ही मोक्षमें चला जावेगा। संसारमें ठहरता नहीं है क्योंकि, कारणसे तत्काल कार्यका होना आवश्यक (जरूरी) है " कारणविलम्बाद्धि कार्याणि विलम्बन्ते " कारणोंकी देरीसे कार्य उपजनेमें देर हो सकती है अन्यथा नहीं। इस कारण उसके वचनोंकी प्रवृत्तिका होना सम्भव नहीं है। जब पूर्णज्ञान होनेपर उत्तरक्षणमें मोक्ष हो जाती है तो शरीर, कण्ठ, तालु आदिसे रहित मुक्त आत्माके मोक्षमार्गके उपदेश देनेमें प्रवृत्ति करना हो सकता है ? जैसे कि आकाश उपदेश नहीं दे सकता है। वैसे ही मुक्त आत्मा भी शरीर आदि कारणोंके विना उपदेशरूप वचन नहीं बोल सकता है। यों मुक्तजीवकी उपदेश देनेमें प्रवृत्ति कहां हुई ?

साक्षादशेषतत्त्वज्ञानात्पूर्वमागमज्ञानबलाद्योगिनः श्रेयोमार्गोपदेशित्वमविरुद्धमज्ञत्वासिद्धेरिति न मन्तव्यम्, सर्वज्ञकल्पनानर्थक्यात्, परमतानुसरणप्रसक्तेश्च ।

यदि सांख्यमतानुयायी यह कहें कि सम्पूर्ण पदार्थोंके प्रत्यक्षज्ञानसे पहिले योगीको पूर्ण शास्त्रका ज्ञान हो जाता है, उस शास्त्रज्ञानके बलसे योगीके मोक्षमार्गका उपदेश देना बन जावेगा, इसमें कोई विरोध नहीं है। जब उसके पूर्ण श्रुतज्ञान है तो गंवार, या छोकरोंके समान अज्ञानीपन भी सिद्ध नहीं है। बादमें पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान होनेपर वह साधु तत्काल मोक्षको चला जावेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कापिलोंका मानना ठीक नहीं है। क्योंकि जब श्रुतज्ञानसे ही मोक्ष आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान हो जावेगा तो सर्वज्ञकी कल्पना करना ही व्यर्थ है। आगमके द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थोंका उपदेश देना माननेपर आप सांख्यको दूसरे मीमांसकमतके अनुसरण (नकल करने) का प्रसंग आ जावेगा। जो कि आपको अनिष्ट है। प्रत्यक्ष किये विना शास्त्रोंमें प्रमेय लिखा नहीं जा सकता वचनरूप आगम कोई नित्य नहीं है।

योगिज्ञानसमकालं तस्य तदित्यप्यसारं तत्त्वज्ञानपूर्वकत्वविरोधात्तदुपदेशस्य तत्त्वज्ञानात्पश्चात्तु मुक्तेः खस्येव वाग्वृत्त्यघटनात् शरीरित्वेनावस्थानासंभवाद्दूरे सन्मार्गोपदेशः ।

उक्त दोषके परिहारकी इच्छासे आप सांख्य यदि यह कहोगे कि पूर्ण प्रत्यक्षज्ञानके समान कालमें ही वह योगी उस मोक्षमार्गका उपदेश देता है। यह भी आपका विचार साररहित है क्योंकि वह मोक्षमार्गका उपदेश सर्वज्ञतापूर्वक होता है। यदि आप सर्वज्ञता उत्पन्न होनेके ठीक उसी समय मोक्षका उपदेश मानेंगे तो सम्पूर्ण तत्त्वोंका प्रत्यक्षज्ञान होनेपर पश्चात् (बादमें) मोक्षका उपदेश हुआ करता है इस सिद्धान्तका विरोध हो जावेगा, कार्यकारणभाव पूर्वापर-क्षणवर्ती पदार्थोंमें होता है। टेडे और सीधे गौके सींग समानसमयवालों में नहीं होता है। सर्वज्ञ ज्ञानके पीछे अव्यवहित उत्तर क्षणमें तो मुक्त होनेवाला है। क्या एक ही समयमें मोक्षमार्गका उपदेश दे देवेंगे ऐसे उपदेशको सुननेके लिये कौन कहांसे आवेगा, और एक समयमें उपदेश भी क्या हो सकेगा ! तथा प्रत्यक्ष तत्त्वज्ञानके पीछे शीघ्र ही मुक्ति हो जावेगी तो आकाशके समान शरीररहित मुक्तजीवके वचनोंका प्रवर्तन होना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि शरीरधारीपनसे अवस्थित रहना जब असम्भव है तो श्रेष्ठ मार्गका उपदेश देना तो बहुत दूरकी बात है।

संस्कारस्याक्षयात्तस्य यद्यवस्थानमिष्यते ।
तत्क्षये कारणं वाच्यं तत्त्वज्ञानात्परं त्वया ॥ ५४ ॥

यदि आप यह कहें कि जैसे जैनलोग केवलज्ञान होने पर भी आयुकर्मके अधीन होरहे सर्वज्ञकी संसारमें स्थिति मानते हैं। उसी प्रकार हम भी पूर्वके आयु नामक संस्कार का क्षय न होनेसे उस कपिल ऋषिका संसारमें स्थित रहना और स्थित होकर सज्जनोंको मोक्षमार्गका उपदेश देना इष्ट करते हैं। आचार्य कहते हैं कि ऐसी दशामें तुमको उस संस्कारके क्षय करनेमें तत्त्वज्ञानसे निराला कोई अन्य कारण कहना पडेगा, तभी तो मोक्ष हो सकेगा।

न हि तत्त्वज्ञानमेव संस्कारक्षये कारणमवस्थानविरोधस्य तदवस्थत्वात् ।

तत्त्वज्ञानको ही आयु नामक संस्कारके क्षयका कारण आप सांख्य नहीं मान सकते हैं। क्योंकि तत्त्वज्ञान नामक कारण होनेपर उससे अतिशीघ्र आयुका भी नाश हो जावेगा, तब तो संसारमें कुछ दिन ठहरनेका फिर भी विरोध बना ही रहेगा अर्थात् उपदेश देनेके लिये वे संसारमें नहीं ठहर सकेंगे।

संस्कारस्यायुराख्यस्य परिक्षयनिबन्धनम् ।
धर्ममेव समाधिः स्यादिति केचित्प्रचक्षते ॥ ५५ ॥
विज्ञानात्सोऽपि यद्यन्यः प्रतिज्ञाव्याहतिस्तदा ।
स चारित्रविशेषो हि मुक्तेर्मार्गः स्थितो भवेत् ॥ ५६ ॥

" यहां चित्तका एक अर्थमें कुछ देरतक स्थिर रहनारूप समाधि नामका धर्म ही आयु संज्ञक संस्कारके पूर्ण क्षयका कारण है " ऐसा कोई सांख्य विद्वान् स्पष्टरूपसे कह रहे हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि वह समाधि यदि–प्रकृति पुरुष भेदज्ञान–स्वरूप तत्त्वज्ञानसे भिन्न है, तब तो आपकी अकेले तत्त्वज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होनेकी प्रतिज्ञाका व्याघात होता है क्योंकि एक तो तत्त्वोंका प्रत्यक्षज्ञान और दूसरा वही समाधिरूप विशेष चारित्र इन दोनोंको मोक्षका मार्गपन आपके कथनानुसार स्थित हो सका है ।

तत्त्वज्ञानादन्यत एव संप्रज्ञातयोगात्संस्कारक्षये मुक्तिसिद्धिस्तत्त्वज्ञानान्मुक्तिरिति प्रतिज्ञा हीयते, समाधिविशेषश्च चारित्रविशेषः स्याद्वादिनां मुक्तिमार्गो व्यवस्थितः स्यात् ।

सांख्य लोगोंने दो प्रकारके योग माने हैं । एक संप्रज्ञात, दूसरा असंप्रज्ञात । पूर्णज्ञान-कालमें साधुके संप्रज्ञातयोग होता है । इच्छापूर्वक विषयोंका ज्ञान होता रहता है । तब तक आयु वर्तमान रहती है और बादमें होनेवाले निर्बीज समाधिरूप असंप्रज्ञातयोगसे आयु का भी क्षय हो जाता है उस समय मोक्ष हो जाती है । यदि सांख्य लोग तत्त्वज्ञानसे भिन्न मानी गयी संप्रज्ञात समाधिसे संस्कारका क्षय होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति मानेंगे तो ज्ञानसे ही मोक्ष होती है, यह उनकी एकान्तप्रतिज्ञा नष्ट होती है । हां, स्याद्वादियोंने व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामके ध्यानविशेषको पूर्ण चारित्र माना है । आपको भी उस प्रकार मुक्तिका मार्ग व्यवस्थित करना पडा । सम्यग्दर्शन तो ज्ञानका सहभावी ही है, तथाच सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रको ही मोक्षमार्गपना निर्णीत हो सकता है ।

ज्ञानमेव स्थिरीभूतं समाधिरिति चेन्मतम् ।
तस्य प्रधानधर्मत्वे निवृत्तिस्तत्क्षयाद्यदि ॥ ५७ ॥
तदा सोऽपि कुतो ज्ञानादुक्तदोषानुषंगतः ।
समाध्यन्तरतश्चेन्न तुल्यपर्यनुयोगतः ॥ ५८ ॥
तस्य पुंसः स्वरूपत्वे प्रगेव स्यात्परिक्षयः ।
संस्कारस्यास्य नित्यत्वान्न कदाचिदसंभवः ॥ ५९ ॥

यदि आप तत्त्वज्ञानसे समाधिको भिन्न नहीं मानकर बहुत देर तक एकसे स्थिर रहनेवाले ज्ञानको ही समाधि मानोगे तो हम पूंछते हैं कि वह स्थिर हुआ ज्ञान क्या सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी साम्यअवस्थारूप प्रकृतिका धर्म है ? बताओ । यदि उस प्रकृतिके विकारसे आयु नामक संस्कारका क्षय मानोगे तब तो आपके यहां मोक्ष नहीं हो सकती है । क्योंकि आपने सर्वज्ञ कही गयी प्रकृतिका संसर्ग छोडकर केवल उदासीनता, चैतन्य, भोक्तापन को ही प्राप्त कर लेना आत्माकी मोक्ष मानी है । अतः

जिस स्थिर ज्ञानरूप प्रकृतिसे आयुष्य संस्काररूप प्रकृतिका नाश हो जाता है उस स्थिर ज्ञानरूप प्रकृतिका नाश करना भी आवश्यक है। वह किस ज्ञानसे होगा ? और उस स्थिरीभूत प्राकृतिक ज्ञानके संसर्गका भी नाश करनेके लिए आपको अन्य तीसरे आदि समाधिरूप धर्मका अवलम्ब करना पडेगा। उसमें भी पूर्वोक्त दोषोंका प्रसंग आता है। क्योंकि चौथे, पांचमें, ज्ञानकी धारा मानते हुए पूर्वके समान ही चोद्य होता चला जावेगा एवं अनवस्था होगी। अतः उन ज्ञानोंसे प्रधानके सम्बन्धका क्षय करना नहीं मान सकते हो, अथवा समाधिको प्रकृतिका धर्म मानोगे तो प्रकृतिके क्षयसे मोक्ष प्राप्ति हो सकेगी, उस ज्ञानरूप प्रकृतिका क्षय भी अन्यज्ञानरूप या अज्ञानरूप प्राकृतिक विचारसे ही माना जावेगा तो समान चोद्य और वही उत्तर, पुनः चोद्य और पुनः उत्तर ऐसे होते रहनेसे अनवस्था दोष आवेगा। क्या अपने ही आप कोई अपना नाश कर सकता है ? कभी नहीं। यदि उस स्थिरज्ञानको प्राकृतिक न मानकर आत्माका स्वरूप मानोगे तब तो आयु नामके संस्कारका क्षय पहिलेसे ही हो जाना चाहिये था। क्योंकि आत्मा अनादि कालसे नित्य है। उस आत्मासे तादात्म्य संबन्ध रखनेवाले इस स्थिरज्ञानरूप विरोधीके सदा उपस्थित रहनेपर कभी भी आयुनामका संस्कार उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। तथा च आत्माकी सर्वदासे ही मोक्ष हो जानी चाहिये।

आविर्भावतिरोभावावपि नात्मस्वभावगौ।
परिणामो हि तस्य स्यात्तथा प्रकृतिवच्च तौ ॥ ६० ॥
ततः स्याद्वादिनां सिद्धं मतं नैकान्तवादिनाम्
बहिरन्तश्च वस्तूनां परिणामव्यवस्थितेः ॥ ६१ ॥

सांख्यमतमें उत्पाद और विनाश नहीं माने गये हैं वे सत्कार्यवादी हैं। कार्य अनादिसे कारणमें विद्यमान हैं। कार्य नष्ट हो जाता है इसका अर्थ है कि कारणमें वह कार्य छिप जाता है। कार्य उत्पन्न हो गया इसका अभिप्राय यह है कि कारणमेंसे कार्य प्रगट होगया है जो कि पहिलेसे विद्यमान (मौजूद) था। अतः वे आविर्भाव और तिरोभावको ही परिणाम मानते हैं। प्रकृतमें आचार्य महाराज कापिलोंके प्रति कहते हैं कि, स्थिर ज्ञान और आयु नामक संस्कारके आविर्भाव, तिरोभावको भी आप आत्माके स्वभावमें प्राप्त हुए नहीं मानते हैं। यदि वे छिपना और प्रकट होना भी आत्माके स्वभाव हो जावेंगे तो प्रकृतिके समान आत्माके भी दोनों परिणाम होना स्वीकार करना पडेगा। तिस कारणसे प्रकृति और आत्माको भी परिणामी माननेपर स्याद्वादियोंका सिद्धान्त ही प्रसिद्ध होता है। आत्मा या पदार्थोंको सर्वथा नित्य ही एकान्तसे कहनेवाले कापिलोंका मत सिद्ध नहीं हो पाता है। क्योंकि बहिरंग घट, पट, पृथ्वी, आकाश द और अन्तरंग बुद्धि,

अहंकार, आत्मा, मन आदि पदार्थोंका परिणामीपन युक्तियोंसे निर्णीत हो जाता है। जो कि कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक अर्थोंको माननेपर ही सिद्ध होता है।

न स्थिरज्ञानात्मकः संप्रज्ञातो योगः संस्कारक्षयकारणमिष्यते यतस्तस्य प्रधानधर्मत्वात्तत्क्षयान्मुक्तिः स्यात्। सोपि च तत्क्षयो ज्ञानादज्ञानाद्वा समाधेरिति पर्यनुयोगस्य समानत्वादनवस्थानमाशंक्यते, नापि पुरुषस्वरूपमात्रं समाधिर्येन तस्य नित्यत्वान्नित्यं मुक्तिरापाद्यते, तदाविर्भावतिरोभावादन्यथा प्रधानवत्पुंसोऽपि परिणामसिद्धेः सर्वः परिणामीति स्याद्वादाश्रयणं प्रसज्येत, किं तर्हि? विशिष्टं पुरुषस्वरूपमसंप्रज्ञातयोगः संस्कारक्षयकारणम्। न च प्रतिज्ञाव्याघातस्तत्त्वज्ञानाज्जीवन्मुक्तेरास्थानान्तकाले तत्त्वोपदेशघटनात्परमनिःश्रेयसस्य समाधिविशेषात्संस्कारक्षये प्रतिज्ञानात्।

स्याद्वादियोंकी उक्त पांच कारिकाओंके अन्तिम निकाले हुये मन्तव्यको स्वीकार करनेमें कपिल मतानुयायी आनाकानी करते हैं। उनका कहना है कि हम स्थिरज्ञानस्वरूप संप्रज्ञात योगको आयु नामक संस्कारके क्षयका कारण नहीं मानते हैं। जिससे कि उस संप्रज्ञात योगको प्रधानका विवर्तपना हो जानेके कारण उस प्राकृतिक संप्रज्ञानके क्षय हो जानेसे मोक्ष होना माना जावे और प्रधानकी पर्यायरूप उस संप्रज्ञातयोगका क्षय भी प्रकृतिके ज्ञान अथवा अज्ञानरूप समाधिपरिणामसे क्षय होना स्वीकार करते करते इसी प्रकार चोद्यकी समानतासे आकांक्षायें बढनेपर अनवस्था दोषकी शंका की जावे, तथा हम उस समाधिको केवल पुरुषस्वरूप भी नहीं मानते हैं। जिससे कि पुरुषके कूटस्थ अनादि नित्य होनेसे मोक्षके नित्य होनेका भी हम पर आपादन (कटाक्ष) किया जावे तथा हम आत्माके आविर्भाव और तिरोभावको भी नहीं मानते हैं। अन्यथा यानी यदि मानते होते तो प्रकृतिके समान पुरुषके भी पर्यायोंका होना सिद्ध हो जाता " और सब पदार्थ परिणामी हैं " ऐसे स्याद्वादियोंके कथनको स्वीकार या आश्रय करनेका भी प्रसंग हमारे ऊपर जड दिया जाता, तब तो तुम्हारा मत क्या है? कुछ कहो भी, उसका उत्तर यह है कि आत्माका विलक्षण स्वरूप ही असंप्रज्ञात योग है। जैसे कि जैन लोग चौदहवें गुणस्थानमें होनेवाले विशिष्ट आत्माके व्युपरतक्रियानिवृत्तिरूप परिणामको मोक्षका कारण मानते हैं। उसी प्रकार हम भी तेरहवें गुणस्थानके समान संप्रज्ञात योगके बाद होनेवाले असंप्रज्ञात योगको आयु नामक संस्कारके क्षयका कारण मानते हैं, ऐसा माननेपर ज्ञानसे ही मोक्ष होती है, इस हमारी प्रतिज्ञाका घात नहीं होता है क्योंकि तत्त्वज्ञानसे जीवन्मुक्तिका होना हमको नितांत इष्ट है। मोक्ष दो प्रकारकी है एक अपर मोक्ष, दूसरी परमोक्ष,। प्रथम—अपर मोक्ष यह है कि सर्वज्ञ होकर थोडीसी प्रकृतिका संसर्ग रहते हुए संसारमें जीवित रहना और दूसरी परममुक्त यह है कि सर्वथा प्रकृतिका संसर्ग छूट

आनेपर आत्माका केवल चैतन्यस्वभावमें स्थिर हो जाना। तत्त्वज्ञानसे जब जीवन्मुक्ति हो जाती है उस समय योगी संसारमें कुछ दिनोंतक ठहरते हैं जबतक ठहरते हैं। तबतक मोक्षके उपयोगी तत्त्वोंका उपदेश देना बन जाता है और जीवन्मुक्तिके अंतसमयमें अतिशययुक्त समाधिसे आयु, ज्ञान, विचार, आदि संस्कारोंका नाश होजानेपर परममोक्षको प्राप्त हो जाते हैं। यह हमारी तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होनेकी प्रतिज्ञाका अर्थ है। यही हमारा विश्वास है।

इति वदन्नन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायेन स्याद्वादिदर्शनं समाश्रयतीत्युपदर्श्यते।

पूर्वोक्त प्रकारसे कहता हुआ सांख्य " अन्धसर्प–बिलप्रवेश " न्यायसे स्याद्वादियोंके मतके सिद्धान्तका ही आश्रय लेरहा है अर्थात् जैसे कि अन्धा साप इन्द्रियलोलुपतासे इधर उधर घूमना चाहता है किन्तु घातक जीवोंके भयसे शीघ्र ही अपने बिलमें प्रवेश कर जाता है। यदि वह सूझता होता तो इधर उधर कोई निष्कण्टक मार्ग भी दीख जाता, अतः निर्दोष और भयरहित अपने बिलके समान उस सर्पको दूसरा अवलम्बमार्ग ही नहीं है। उसी प्रकार ज्ञान और समाधिरूप-चारित्रसे ही मोक्ष माननेपर सांख्यको भी रत्नत्रयकी शरण लेना आवश्यक हो जाता है। इसी बातको दिखलाते हैं।

मिथ्यार्थाभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन वर्जितम्।
यत्पुंरूपमुदासीनं तच्चेद्ध्यानं मतं तव ॥ ६२ ॥
हन्त रत्नत्रयं किं न ततः परमिहेष्यते।
यतो न तन्निमित्तत्वं मुक्तेरास्थीयते त्वया ॥ ६३ ॥

सांख्यके शोधन किये गये उक्तकथनसे यह बात प्रतीत होती है कि पदार्थोंके मिथ्याश्रद्धानसे और मिथ्याज्ञानसे रहित होरहा जो उपेक्षा स्वरूप उदासीन पुरुषका धर्म है वही समाधिरूप ध्यान है। यदि तुम्हारा यह मन्तव्य है तब तो खेदके साथ कहना पडता है कि अकेले तत्त्वज्ञानसे ही मोक्षके होनेका आग्रह आपने व्यर्थ पकड रखा है। आपके उक्तकथनसे तो ज्ञानसे अतिरिक्त श्रद्धान और चारित्र भी कारण बन जाते हैं। इस प्रकार यहां उत्कृष्ट रत्नत्रय ही मोक्षका मार्ग सिद्ध होता है। अतः आप रत्नत्रयको ही मोक्षका मार्ग क्यों नहीं अभीष्ट करते हैं ? जिससे कि तुम्हें उस रत्नत्रयके निमित्तसे मुक्तिकी श्रद्धा स्वीकार न करनी पडे अर्थात् रत्नत्रय ही मोक्षका कारण व्यवस्थित हुआ यह आपको विश्वासमें लाना चाहिये।

ननु च मिथ्यार्थाभिनिवेशेन वर्जितं पुरुषस्य स्वरूपं न सम्यग्दर्शनं तस्य तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणत्वात्। नापि मिथ्याज्ञानेन वर्जितं तत्सम्यग्ज्ञानं तस्य स्वार्थावायलक्षणत्वात्।

उदासीनं च न पुंरूपं सम्यक्चारित्रं तस्य गुप्तिसमितिव्रतभेदस्य बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमलक्षणत्वात् येन तथाभूतरत्नत्रयमेव मोक्षस्य कारणमस्माभिरास्थीयते ! मिथ्याभिनिवेशमिथ्याज्ञानयोः प्रधानविवर्ततया समाधिविशेषकाले प्रधानसंसर्गाभावे पुरुषस्य तद्वर्जितत्वेपि स्वरूपमात्रावस्थानात् । तदुक्तं " तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् " इति कश्चित् ।

यहां कपिलमतानुयायी सांख्य जैनोंके उक्त कथनका अनुवाद करते हुए अपनेही आग्रहको पुष्ट करते हैं कि हम आपके माने हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्रको आत्मस्वरूप नहीं मानते हैं। वे तो प्रकृतिकी पर्याय हैं। अतः अर्थोंके मिथ्याश्रद्धानसे रहित हो रहा पुरुषका स्वरूप आपके माने हुए सम्यग्दर्शनरूप नहीं पडता है क्योंकि उस सम्यग्दर्शनका लक्षण तो तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना है। तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना प्रकृतिका काम है आत्माका नहीं, और मिथ्याज्ञानसे रहित हुआ पुरुषका स्वभाविक वह चैतन्य स्वरूप भी हमने आपके द्वारा माने हुए सम्यग्ज्ञानरूप नहीं इष्ट किया है क्योंकि आपके सम्यग्ज्ञानका लक्षण अपनेको और अर्थको निश्चित कर लेना है। यह काम भी प्रकृतिका ही है। इसी तरह हमारी आत्मस्वरूप मानी हुयी उदासीनता भी आपके सम्यक्चारित्ररूप नहीं है। क्योंकि आपने उस चारित्रके गुप्ति, समिति और महाव्रत ये भेद माने हैं। तथा बहिरंग और अन्तरंग विशेष क्रियाओंके त्यागको चारित्रका लक्षण माना है यह भी प्राकृतिक है। जिससे कि इस प्रकारका रत्नत्रयही मोक्षका कारण हम लोगोंसे व्यवस्थित किया जाता, अर्थात् जब ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों आत्माके स्वरूप ही नहीं हैं तो इन तीनोंको ही मोक्षका कारणपना हम कैसे विश्वस्त कर सकते हैं ! मिथ्याश्रद्धान और उसके पर्युदासनिषेधसे किया गया सम्यग्दर्शन ये दोनों ही भाव हमारे यहां प्रकृतिके माने गये हैं। मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञान भी प्रकृतिके परिणाम हैं। हां, असंप्रज्ञात नामक विशेष समाधिके समय प्रकृतिका संसर्ग सर्वथा छूट जाता है। ऐसा होनेपर प्रसज्यनिषेधसे उन मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञानसे रहितपना पुरुषका स्वरूप है। किसी प्राकृतिकभाव–पदार्थरूप नहीं, तथापि मुक्तावस्थामें आत्मकी केवल अपने स्वरूपमें स्थिति रह जाती है। जब कि वैसा हमारे दर्शनसूत्रमें लिखा हुआ है कि मोक्षावस्थामें चेतयिता द्रष्टा आत्माका अपने स्वभावोंमें अवस्थान हो जाता है। इस प्रकार कोई कपिलमतानुयायी कह रहा है।

तदसत् संप्रज्ञातयोगकालेऽपि तादृशः पुंरूपस्य भावात्परमनिःश्रेयसप्रसक्तेः ।

आचार्य कहते हैं कि उसका कहना प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंको जानते हुए संप्रज्ञात समाधिके समयमें भी मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञानसे रहित होरहा पुरुषके स्वरूपका सद्भाव है ही। कारण कि मिथ्याश्रद्धान, ज्ञानोंसे सहितपना या सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदिसे

सहितपना प्रकृतिका धर्म है। कूटस्थ नित्य आत्मा तो सदासे ही मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञानोंसे रहित है। यदि प्रकृतिके संसर्गसे आनुषङ्गिक मिथ्यादर्शनज्ञानसहितपना आत्मामें कुछ कुछ आभी जाता था अब तो प्रकृतिकी सर्वज्ञता होनेपर वह भी आनुषङ्गिक मिथ्यादर्शनसहितपना आत्मामें नहीं आसकता है। अतः संप्रज्ञात-योगकालमें ही पुरुषका मिथ्यादर्शन आदिसे रहितपना स्वरूप बन गया है तो उसी समय आत्माकी परम मोक्ष हो जानी चाहिये थी।

तदा वैराग्यतत्त्वज्ञानाभिनिवेशात्मकप्रधानसंसर्गसद्भावान्नासंप्रज्ञातयोगोऽस्ति, यतः परममुक्तिरिति चेत्तर्हि रत्नत्रयाज्जीवन्मुक्तिरित्यायातः प्रतिज्ञाव्याघातः।

यहां कापिल कहते हैं कि सम्पूर्ण पदार्थोंको अच्छी तरह जाननेवाले जीवके उस संप्रज्ञात समाधिके समयमें वैराग्य, तत्त्वज्ञान और तत्त्वश्रद्धान स्वरूप प्रकृतिका संसर्ग आत्माके साथ विद्यमान हो रहा है। इस कारण उस समय निर्बीज समाधिरूप प्रकृतिका उपयोगरहित अभिन्न ज्ञान, श्रद्धान, चारित्रस्वरूप असंप्रज्ञात योग नहीं है। जिससे कि परममोक्ष प्राप्त हो जावे अर्थात् असंप्रज्ञातयोग परम मुक्तिका कारण है। वैराग्य, तत्त्वज्ञान, और तत्त्वश्रद्धानरूप प्रकृतिका संसर्ग जब तक है तब तक जीवन्मुक्ति है, परममुक्ति नहीं। आचार्य कहते हैं कि यदि आप ऐसा कहोगे तब तो आपके कहनेसे ही सिद्ध होता है कि रत्नत्रयसे ही जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है। यों तो अकेले तत्त्वज्ञानसे ही मोक्ष प्राप्त होजानेकी आपकी प्रतिज्ञाका व्याघात आगया। तीनोंसे मोक्षकी प्राप्ति होना यह जैन सिद्धांत है।

परमतप्रवेशात् तत्त्वार्थश्रद्धानतत्त्वज्ञानवैराग्याणां रत्नत्रयत्वात्ततो जीवन्मुक्तेरार्हन्त्यरूपायाः परैरिष्टत्वात्।

वैराग्य, तत्त्वज्ञान और तत्त्वाभिनिवेशरूप प्रधानके संसर्गसे जीवन्मुक्ति माननेवाले आप सांख्योंके "पोतकाक" न्यायसे जैनमतमें प्रवेश करना ही न्याय्यप्राप्त होता है। क्योंकि तत्त्वार्थोंका श्रद्धान और जीव आदि तत्त्वोंका ज्ञान तथा इष्ट, अनिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेष न करना रूप वैराग्यको ही जैनमतमें रत्नत्रय माना गया है। उन तीन रत्नोंसेही अनन्तचतुष्टय, समवसरण आदि लक्ष्मीसे युक्त मोक्षके उपदेष्टा तीर्थंकर भगवान्की अर्हन्त अवस्थारूप जीवन्मुक्तिका उत्पन्न होना दूसरे स्याद्वादियोंने स्वीकार किया है।

यदपि द्रष्टुरात्मनः स्वरूपेऽवस्थानं ध्यानं परममुक्तिनिबन्धनं तदपि न रत्नत्रयात्मकतां व्यभिचरति, सम्यग्ज्ञानस्य पुंरूपत्वात्, तस्य तत्त्वार्थश्रद्धानसहचरितत्वात्, परमौदासीन्यस्य च परमचारित्रत्वात्।

और जो आपने अपने दर्शनसूत्रका प्रमाण देकर यह कहा था कि द्रष्टा आत्माका अपने स्वरूपमें स्थित हो जानारूप ध्यान परममुक्तिका कारण है। वह आपका कहना भी आत्माके

रत्नत्रय-स्वरूपका व्यभिचार नहीं करता है किन्तु अविनाभावी है। सूत्रमें द्रष्टुः स्वरूपे, और अवस्थान, ये तीन पद हैं। वहां पुरुषका स्वरूप ज्ञानचेतनामय ही है। द्रष्टा कहनेसे सम्यग्दृष्टिपन प्राप्त होजाता है और अवस्थितिसे आत्मामें स्थितिरूप चारित्र आजाता है अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान-के साथ रहने वाला सम्यग्ज्ञान आत्माका अभिन्न स्वरूप है और उत्कृष्ट उदासीनता ही परमचारित्र है तथा च मोक्ष अवस्थामें आत्माकी तीनों रूप हो जाना परिणति है।

पुरुषो न ज्ञानस्वभाव इति न शक्यव्यवस्थम्। तथाहि,—

सांख्य लोग ज्ञानको प्रकृतिका विकार मानते हैं। आत्मामें चैतन्य मानते हैं जो कि ज्ञानसे भिन्न है। अतः वे कहते हैं कि आत्माका स्वभाव ज्ञान नहीं है। इसपर आचार्यका कहना है कि उक्त बातको आप अच्छी तरह प्रमाणोंसे निर्णीत नहीं कर सकते हैं, इसका स्पष्टीकरण आगेकी वार्तिकमें कहते हैं।

यद्यज्ञानस्वभावः स्यात्कपिलो नोपदेशकृत्।
सुषुप्तवत्प्रधानं वाऽचेतनत्वाद् घटादिवत्॥ ६४॥

आपका माना हुआ कपिल ऋषि यदि ज्ञानस्वभाववाला नहीं है तो गाढ सोते हुए पुरुषके समान मोक्षका उपदेश नहीं कर सकता है तथा कपिलकी आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त हुई प्रकृति भी उपदेश नहीं कर सकती है क्योंकि वह अचेतन है। जैसे कि घट, पट आदि अचेतन पदार्थ उपदेश नहीं देते हैं।

यथैव हि सुषुप्तवत्तत्त्वज्ञानरहितः कपिलोऽन्यो वा नोपदेशकारी परस्य घटते तथा प्रधानमपि स्वयमचेतनत्वात्कुटादिवत्।

जैसे ही सोते हुए मनुष्यके समान तत्त्वज्ञान और वक्तृत्वकलासे रहित कपिल या दूसरे कोई वाचस्पतिमिश्र, ईश्वरभट्ट, आदि विद्वान् भी मोक्षके उपदेश करनेवाले आप दूसरे सांख्योंके यहां नहीं घटित होते हैं। उसी प्रकार जड प्रकृति भी उपदेश नहीं कर सकती है। क्योंकि वह अपने मूलस्वभावसे अचेतन मानी गयी है। जैसे कि घट, पट, मृतशरीर आदि स्वयं अचेतन होकर व्याख्यान नहीं कर सकते हैं। जो स्वयं चेतन होकर स्वाभाविक ज्ञानके तादात्म्यवाला है वही उपदेष्टा हो सकता है। किन्तु सांख्योंके यहां विषम घटना है उनका आत्मा चेतन तो है। ज्ञानवान् नहीं और प्रकृति ज्ञानवती मानी है किन्तु चेतनात्मक नहीं।

तत्त्वज्ञानसंसर्गायोगी ज्ञानस्वभाव इति चेत्।

यदि कापिल यों कहें कि " प्राकृतिक तत्त्वज्ञानके साथ सम्बन्ध होनेसे योगविशिष्ट आत्मा भी ज्ञानस्वभाव हो जाता है " ऐसा कहने पर तो,

ज्ञानसंसर्गतोऽप्येष नैव ज्ञानस्वभावकः
व्योमवत्तद्विशेषस्य सर्वथानुपपत्तितः ॥ ६५ ॥

वह आपका माना हुआ अतिशयोंसे रहित कूटस्थ आत्मा अन्य सम्बन्धी ज्ञानके संसर्गसे भी ज्ञानस्वभाववाला नहीं माना जा सकता है। जैसे कि प्रकृतिके बने हुए ज्ञानके मात्र संसर्गसे आकाश विचारा ज्ञानी नहीं हो जाता है। आपके यहां प्रकृति व्यापक (व्यापिका) मानी गयी है। उसका सम्बन्ध जैसा ही आत्माके साथ है वैसा ही आकाशके साथ भी है। सभी प्रकारोंसे यानी किसी भी प्रकारसे प्रकृतिके साथ होनेवाले आत्माके सम्बन्धमें और आकाशके साथ हुये उसके सम्बन्धमें आप विशेषता (फर्क) को सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

यस्य सर्वथा निरतिशयः पुरुषस्तस्य ज्ञानसंसर्गादपि न ज्ञानस्वभावोऽसौ गगनवत् । कथमन्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति न विरुध्यते ? ततो न कपिलो मोक्षमार्गस्य प्रणेता येन संस्तुत्यः स्यात् ।

जिस सांख्यके यहां आत्मा सर्वथा निरतिशय माना गया है अर्थात् आत्मोअनाधेयाप्रहेया-तिशय है अर्थात् कूटस्थ नित्य है सर्वदा वह का वही रहता है, दूसरोंके सम्बन्ध होनेपर भी न कुछ विशेषताओंको लेता है और न अपनी पुरानी विशेषताओंको छोडता ही है, परिणामी नहीं है, उस सांख्यके यहां ज्ञानके सम्बन्धसे भी ज्ञानस्वभाववाला वह आत्मा नहीं हो सकता है। जैसे कि सर्वथा जडस्वरूप आकाश ज्ञानस्वभावी नहीं है। अन्यथा यानी यदि आप आत्माको ज्ञानस्वभाव मान लोगे तो " पुरुषका स्वरूप चैतन्य है " इस ग्रंथका विरोध कैसे नहीं होगा ? अवश्य होगा, तिस कारणसे स्वयं ज्ञानरहित कपिल ऋषि मोक्षमार्गका प्रणयन करने-वाला नहीं सिद्ध होपाता है। जिससे कि शिष्यजनोंके द्वारा भले प्रकार उसकी स्तुति की जावे, अर्थात् जो मोक्षमार्गका विधान नहीं करता है उसकी प्रशंसा स्तुति भी कोई नहीं करता है।

एतेनेवेश्वरः श्रेयःपथप्रख्यापनेऽप्रभुः ।
व्याख्यातोऽचेतनो ह्येष ज्ञानादर्थान्तरत्वतः ॥ ६६ ॥

अपनेसे भिन्न पडे हुए प्राकृतिक ज्ञानके सम्बन्धसे ज्ञानी होकर भी जैसे कपिल मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं दे सकते हैं, उसी प्रकार उक्त कथनसे ही यह भी व्याख्यान कर दिया गया है कि अपनेसे सर्वथा भिन्न ज्ञानका सम्बन्ध रखनेवाला नैयायिक, वेशेषिकोंके द्वारा माना हुआ यह

ईश्वर भी मोक्षमार्गके निरूपण करनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि ज्ञानसे सर्वथा भिन्न होजानेके कारण ईश्वर भी अचेतन ही है। घट, पट आदिके समान अचेतन पदार्थ क्या उपदेश देवेगा ?

नेश्वरः श्रेयोमार्गोपदेशी स्वयमचेतनत्वादाकाशवत्। स्वयमचेतनोऽसौ ज्ञानादर्थान्तरत्वात् तद्वत्। नात्राश्रयासिद्धो हेतुरीश्वरस्य पुरुषविशेषस्य स्याद्वादिभिरभिप्रेतत्वात्। नापि धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितः पक्षस्तद्ग्राहिणा प्रमाणेन तस्य श्रेयोमार्गोपदेशित्वेनाप्रतिपत्तेः।

ईश्वर (पक्ष) मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला नहीं है (साध्य) क्योंकि वह अपने स्वभावसे स्वयं अचेतन है (हेतु) जैसे कि आकाश। (अन्वयदृष्टान्त) यहां कोई नैयायिक अचेतनपन हेतुको असिद्ध (स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास) करता है। उसको दूर करनेके लिये आचार्य दूसरा अनुमान कहते हैं कि आपका माना हुआ वह ईश्वर अचेतन है (प्रतिज्ञा) क्योंकि ज्ञानगुणसे ईश्वरात्मारूप गुणी आपने सर्वथा भिन्न माना है (हेतु) उसी आकाशके समान। (अन्वय उदाहरण) यानी जैसे कि आकाश ज्ञानसे भिन्न होनेके कारण अचेतन है जब कि जैनजन स्रष्टा, गोप्ता, हर्ता, ईश्वरको नहीं मानते हैं और फिर ईश्वरको पक्ष बनाते है तो उनका हेतु आश्रयासिद्ध हो जायगा इस कटाक्ष पर आचार्य महाराज कहते हैं कि उक्त अनुमानमें ईश्वररूपी पक्ष असिद्ध नहीं है, जिससे कि हमारा हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास होजावे, जबकि हम स्याद्वादी विद्वान् किसी विशिष्ट पुरुषको ईश्वर स्वीकार करते हैं। हां महान् देव माने गये उस पुरुषमें मोक्षमार्गके उपदेश देनेका अभाव सिद्ध करते हैं। यदि यहां कोई नैयायिक कहें कि जिस प्रमाणसे आप ईश्वरको जानेंगे, उस प्रमाणसे मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला ही ईश्वर सिद्ध होगा। तथाच ईश्वररूप पक्षके जानते समय ही उसके मोक्षमार्गका उपदेशकपन भी ज्ञात हो जाता है। पुनः आपका मोक्षमार्गके उपदेशका अभाव सिद्ध करना पक्षके ग्राहक प्रमाणसे ही बाधित हो जावेगा और तब तो आपका हेतु बाधित नामका हेत्वाभास बन बैठेगा। आचार्य कहते हैं कि यह भी नैयायिकोंका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि श्रेयोमार्गके उपदेश देनेवाले उस ईश्वरका अद्यापि निर्णय नहीं हुआ है। केवल सामान्य मनुष्योंके समान अथवा कुछ लौकिक विद्याओं और चमत्कारोंसे युक्त महादेव, ब्रह्मा, ईश्वर, कृष्ण, व्यास, परशुराम, कपिल, बुद्ध आत्माओंको हम स्वीकार करते हैं किंतु उस ईश्वरको व्यापक, कर्ता, हर्ता, भर्ता, मोक्षमार्गका उपदेष्टा, सर्वज्ञ आदि विशेषणोंसे सहित नहीं मानते हैं। अतः हमारा अचेतनत्व हेतु बाधाओंसे रहित होकर सद्धेतु है।

परोपगमतः साधनाभिधानाद्वा न प्रकृतचोद्यावतारः सर्वस्य तथा तद्वचनाप्रतिक्षेपात्।

अथवा दूसरी बात यह है कि अन्य नैयायिकोंके मन्तव्यके अनुसार हमने ईश्वरको पक्ष स्वीकार कर लिया है और उसमें उनसे माने हुए अचेतनत्व हेतुसे मोक्षमार्गके उपदेशीपनका अभाव सिद्ध कर दिया है। इस कारण यहां इस समय प्रकरणमें दिये गये नैयायिकोंके कुत्सित दोष नहीं

आते हैं, यदि अपने अपने मतके अनुसार माने गये धर्मीके ग्राहकप्रमाणोंसे ही साध्यकी बाधा उपस्थित की गयी तब तो कोई वादी दूसरे प्रतिवादीके प्रति अनुमानसे नई बातको सिद्ध न कर सकेगा। जैसे कि शब्दको अनित्य सिद्ध करनेवाले नैयायिकके प्रति मीमांसक कह देवेगा कि जिस प्रमाणसे नैयायिक शब्दको जानेंगे उस प्रमाणसे नित्यतासहित ही शब्द जाना जावेगा। अतः धर्मीके ग्राहक प्रमाणसे ही साध्यकी बाधा उपस्थित हो जावेगी। तथाच नैयायिक शब्दको अनित्य सिद्ध नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार सर्व ही वादी वैसे ही उन प्रतिवादियोंके वचनका खण्डन न कर सकेंगे, किंतु खण्डनमण्डन व्यवहार प्रसिद्ध है। अतः दूसरोंके मन्तव्यको लेकर ही सब लोग पक्ष और हेतुको बोल सकते हैं, कोई दोष नहीं है।

विज्ञानसमवायाच्चेच्चेतनोऽयमुपेयते।
तत्संसर्गात्कथं न ज्ञः कपिलोऽपि प्रसिद्ध्यति ॥ ६७ ॥

यदि नैयायिक यहां यह कहें कि भिन्न होनेपर भी गुणगुणीका तो समवायसम्बन्ध हो जाता है इस कारण बुद्धिरूप चेतनाके समवायसम्बन्धसे यह ईश्वर भी चेतन मान लिया जाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा स्वीकार करनेपर तो सांख्यके मतमें भी प्रकृतिकी बनी हुयी उस बुद्धिके संसर्गसे कपिलदेव भी ज्ञाता (ज्ञान--स्वभाववाले) क्यों नहीं प्रसिद्ध हो जावेंगे ?। न्याय समान होना चाहिये।

यथेश्वरो ज्ञानसमवायाच्चेतनस्तथा ज्ञानसंसर्गात्कपिलोऽपि ज्ञोऽस्तु। तथापि तस्याज्ञत्वे कथमीश्वरश्चेतनो यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात्।

जिस प्रकार नैयायिकोंके मतमें भिन्न ज्ञानके समवायसे ईश्वरको चेतन माना जाता है उसी प्रकार सर्वथा भिन्न ज्ञानके संसर्गसे सांख्योंका कपिल भी ज्ञानस्वरूप ज्ञाता हो जाओ। यदि फिर वैसा ज्ञानका संसर्ग होनेपर भी उस कपिलको अज्ञ मानोगे तो आपका ईश्वर भी दूसरेके संसर्गसे कैसे चेतनात्मक हो सकता है ?, जिससे कि हमारा हेतु असिद्ध हो जावे अर्थात् ईश्वरको मोक्षमार्गके उपदेशकत्वका अभाव सिद्ध करनेमें दिया गया अचेतनत्व हेतु सिद्ध ही है। न्यायमार्गमें पक्षपात नहीं करना चाहिये।

प्रधानाश्रयि विज्ञानं न पुंसो ज्ञत्वसाधनम्।
यदि भिन्नं कथं पुंसस्तत्तथेष्टं जडात्मभिः ॥ ६८ ॥

यदि यहां नैयायिक यह कहें कि सांख्योंके मतसे आधारभूत प्रधानमें रहनेवाला विज्ञान तो सर्वथा भिन्न होकर पुरुषका ज्ञातापन सिद्ध नहीं कर सकता है तो हम जैन भी नैयायिकोंके

प्रति कहते हैं कि स्वभावसे जडस्वरूप आत्माको माननेवाले जड नैयायिकोंने उस अपनी द्रव्य स्वरूप आत्माको सर्वथा भिन्न होरही गुणस्वरूप बुद्धिके संसर्गसे कैसे चेतन मान रखा है ? बताओ।

प्रधानाश्रितं ज्ञानं नात्मनो ज्ञत्वसाधनं ततो भिन्नाश्रयत्वात्पुरुषान्तरसंसर्गिज्ञानवदिति चेत्, तर्हि न ज्ञानमीश्वरस्य ज्ञत्वसाधनं ततो भिन्नपदार्थत्वादनीश्वरज्ञानवदिति किं नानुमन्यसे ?

कपिलमतका खण्डन करनेके लिये नैयायिकका यह अनुमान है कि " आश्रय रूप प्रकृतिका आधेय होकर रहता हुआ विज्ञानरूप परिणाम तो आत्माका ज्ञातापन सिद्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि वह ज्ञान उस आत्मासे सर्वथा भिन्न होरही प्रकृतिका आश्रित धर्म है। जैसे कि दूसरे पुरुष यानी देवदत्तमें रहनेवाला सिद्धांतविषयका ज्ञान जिनदत्तमें सम्बन्ध नहीं कर सकता है और जिनदत्तको स्वयं अपने रूपसे सिद्धांतज्ञानी भी नहीं बना सकता है "। आचार्य कहते हैं कि यदि आप नैयायिक ऐसा कहोगे तब तो हम भी कपिलमतकी तरफसे कह सकते हैं कि " ज्ञान भी ईश्वर को ज्ञाता सिद्ध नहीं कर सकता है, क्योंकि वह ज्ञानगुण उस ईश्वरसे सर्वथा भिन्न पदार्थ है। जैसे कि ईश्वरसे न्यारे अन्य साधारण जीवका ज्ञान सर्वथा भिन्न होनेके कारण ईश्वरको अपने समवायसे अल्पज्ञानी नहीं बना पाता है "। इस बातको तुम ही क्यों नहीं मानते हो ?। कुत्सित हठको छोड देना चाहिये।

ज्ञानाश्रयत्वतो वेधा नित्यं ज्ञो यदि कथ्यते।
तदेव किं कृतं तस्य ततो भेदेपि तत्त्वतः॥ ६९॥

यदि नैयायिक यह कहेंगे कि ईश्वर अनादिकालसे ज्ञानका आधार होनेसे नित्यज्ञाता है, किसी समय बाहिरसे ज्ञान आवे फिर ज्ञानसमवायी बने ऐसा नहीं है। तो हम जैन आपसे पूंछते हैं कि वास्तवमें उस ज्ञानसे सर्वथा भिन्न होने पर भी उस ईश्वरके वह नित्य-ज्ञातापन आपने किस तरहसे हुआ सिद्ध किया है ? इसका उत्तर दीजिये।

स्रष्टा ज्ञो नित्यं ज्ञानाश्रयत्वात्। यस्तु न ज्ञः स न नित्यं ज्ञानाश्रयो यथा व्योमादिः, न च तथा स्रष्टा ततो नित्यं ज्ञ इति चेत्। किं कृतं तदा स्रष्टुर्ज्ञानाश्रयत्वं ज्ञानाद्भेदेऽपि वस्तुत इति चिन्त्यम्।

उक्त कारिकाकी व्याख्या करते हैं। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, शरीर, इंद्रिय आदिका बनाने वाला ईश्वर, (पक्ष) सर्व पदार्थोंका ज्ञाता है (साध्य) क्योंकि वह अनादिसे अनन्त काल तक नित्य ही ज्ञानका अधिकरण है। (हेतु) जो ज्ञाता स्वरूप नहीं है वह सर्वदासे ज्ञानका आधार

भी नहीं है। जैसे आकाश, काल आदि ये व्यतिरेकदृष्टांत हैं। नित्य ही ज्ञानका आश्रय न होवे ऐसा आकाश आदिके समान सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं है (उपनय) तिस कारणसे नित्य ही ज्ञाता है। (निगमन) इस पांच अवयववाले अनुमानसे आप नैयायिक यों ज्ञातापन सिद्ध करोगे तब तो आप इस बातका दीर्घकाल तक विचार करें कि वह परमार्थरूपसे ज्ञानसे भेद होने पर भी सृष्टिनिर्माता ईश्वर ही ज्ञानका आश्रय कैसे कर दिया गया है? आकाश, घट, पट आदि भी ज्ञानाधार क्यों न बन जावें ?, ईश्वरमें ही क्या विलक्षणता है? जिससे कि वही ज्ञानका आधार माना जाता है। ऐसी दशामें तुम्हारा हेतु संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है इस बातका आप बहुत दिन तक सोचकर उत्तर देना।

समवायकृतमिति चेत् समवायः किमविशिष्टो विशिष्टो वा ? प्रथविकल्पोऽनुपपन्नः कस्मात्—

यदि नैयायिक यह कहें कि समवायसम्बन्ध होनेसे ईश्वरके ही ज्ञानकी आश्रयता कर दी जाती है तो हम जैन पूंछते है कि वह समवाय क्या विशेषतारहित सामान्य समवाय ही लिया है? या ईश्वरमें रहनेवाला कोई विलक्षण समवाय है? बताओ, यदि आप पहिला पक्ष लोगे, तब तो ईश्वरमें ही ज्ञानकी अधिकरणता सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि—

समवायो हि सर्वत्र न विशेषकृदेककः।
कथं खादीनि संत्यज्य पुंसि ज्ञानं नियोजयेत् ॥ ७० ॥

आपने सब जगह एक ही समवाय माना है, वह शुद्ध अकेला किसीके साथ पक्षपात करके कोई विशेषता नहीं कर सकता है। अतः एक वही समवाय निकटवर्ती आकाश, काल आदिको नितान्त छोडकर उस भिन्न पडे हुये ज्ञानगुणका आत्मामें ही संबन्ध करा देनेमें नियुक्त होजाय, यह कैसे हो सकता है? विचारिये।

यस्मात् " सर्वेषु समवायिष्वेक एव समवायस्तत्त्वं भावेन व्याख्यातम् " इति वचनात्। तस्मात्तेषां विशेषकृन्न नाम येन पुंस्येव ज्ञानं विनियोजयेदाकाशादिपरिहारेण इति बुद्ध्यामहे।

जिस कारणसे कि यौगोंनें रूप, रस, शब्द, ज्ञान, परिणाम, आत्मत्व, घटत्व, हलन, चलन आदि गुण, जाति, क्रियाओंके समवाय–सम्बन्धवाले पृथ्वी, आत्मा, आकाश आदि सम्पूर्ण समवायियोंमें तत्त्वरूपसे एक ही समवाय माना है। तभी तो आपके कणाद ऋषिके बनाये हुए वैशेषिक दर्शनमें परमार्थरूप तत्त्वदृष्टिसे या सत्ताके एकपन सिद्ध करनेसे एक ही समवायतत्त्वका

व्याख्यान किया है। उस कारणसे उन पदार्थोंमें रहनेवाले समवायकी विशेषता करनेवाला भला कोई अतिशय नहीं है जिससे कि आकाश, आदिको छोडकर वह अतिशयधारी समवाय आत्मामें ही ज्ञानका सम्बन्ध करा देता, इस बातको हम भले प्रकार समझते हैं।

सत्तावदेकत्वेऽपि समवायस्य प्रतिविशिष्टपदार्थविशेषणतया विशेषकारित्वमिति चेत् तर्हि विशिष्टः समवायः प्रतिविशेष्यं सत्तावदेव इति प्राप्तो द्वितीयः पक्षः तत्र च:—

नैयायिक या वैशेषिक बोलते हैं कि जैसे सत्ताजाति एक है फिर भी वह भिन्न भिन्न द्रव्य, गुण, कर्मोंमें रहती हुयी द्रव्यकी सत्ता, गुणकी सत्ता, कर्मकी सत्ता इस प्रकार विशेषता कर देती है। उसी प्रकार समवायके एक होनेपर भी प्रत्येक विशिष्ट–पदार्थोंमें रहनेवाला "विशेष्यके भेद होनेसे विशेषणमें भी भेद हो जाता है" इस नियमके अनुसार भेद रखता है। वह आकाश आदिकको छोडकर ईश्वरमें ही ज्ञानका सम्बन्ध करा देना रूप विशेषताको कर देता है। जैन कहते हैं कि यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तब तो सामान्यसे समवाय मानना यह आपका पहिला पक्ष गया। प्रत्येक विशेष्यमें सत्ताजातिके समान विशिष्टप्रकारका समवाय है। इस प्रकार आपने दूसरे पक्षका आलम्बन किया है और उसमें हमारा यह कहना है सुनिये—

विशिष्टः समवायोऽयमीश्वरज्ञानयोर्यदि।
तदा नानात्वमेतस्य प्राप्तं संयोगवन्न किम् ॥ ७१ ॥

नैयायिक यदि ईश्वरका और ज्ञानका विलक्षण प्रकारका यह दूसरा विकल्परूप समवाय सम्बन्ध मानेंगे तब तो संयोगसम्बन्धके समान समवायको भी नानापन क्यों नहीं प्राप्त होगा ? देखिये, भूतलमें घटका संयोग न्यारा है, पटका संयोग न्यारा है। इसीके समान घटके साथ रूपका समवाय भिन्न है और आकाशके साथ शब्दका समवाय पृथक् है। तथा आत्माका ज्ञानके साथ समवायसम्बन्ध अतिरिक्त है। एवं अनेक समवायसम्बन्ध हुए जाते हैं। इस तरह अपने सिद्धान्तके विरुद्ध कहनेपर आपको अपसिद्धान्त नामका निग्रहस्थान प्राप्त होता है।

न हि, संयोगः प्रतिविशेष्यं विशिष्टो नाना न भवति दण्डपुरुषसंयोगात् पटधूपसंयोगस्याभेदाप्रतीतेः।

आचार्य संयोग नामक दृष्टान्तको पुष्ट करते हैं। प्रत्येक विशेष्यमें विलक्षण होकर विद्यमान संयोगसम्बन्ध अनेक नहीं होता है यह कथमपि नहीं समझना चाहिये अर्थात् संयोगसम्बन्ध अनेक हैं। पुरुषका दण्डके साथ संयोग न्यारा है और कपडेमें बंधी हुयी सुगन्धित धूपका कपडेसे संयोग निराला है। वे दोनों संयोग एक नहीं दीख रहे हैं। इस देवदत्तका छत्रीके साथ हो रहे

संयोगसे जिनदत्तका पगडीके साथ हो रहा संयोग सम्बन्ध भिन्न है। दण्डपुरुषके संयोगसे पट और धूपका संयोग अभिन्न नहीं प्रतीत हो रहा है।

संयोगत्वेनाभेद एवेति चेत्, तदपि ततो यदि भिन्नमेव तदा कथमस्यैकत्वे संयोगयोरेकत्वम्? तन्नाना संयोगोऽभ्युपेयोऽन्यथा स्वमतविरोधात्।

अनेक संयोगगुणोंमें रहनेवाली संयोगत्वजाति एक है। यदि उस जातिकी अपेक्षासे संयोगका अभेदही मानोगे तो भी सम्पूर्ण संयोग एक नहीं हो सकते हैं। क्योंकि उन संयोग नामक गुणोंमें रहनेवाली वह संयोगत्वजाति भी यदि आपने आधारभूत उन संयोगोंसे सर्वथा भिन्न ही मानी है तब तो उस भिन्न जातिके एक होनेपर भी इन दो संयोगोंमें या अनेक संयोगोंमें एकपना कैसे आ सकता है? बताओ। इस कारणसे संयोग अनेक मानने चाहिये और संयोगोंको अनेक मानते भी हैं। यदि न मानोगे तो आपका अपने सिद्धान्तसे विरोध हो जावेगा। क्योंकि आपके दर्शनमें संयोगगुण अनेक माने गये हैं। दार्ष्टान्तको बिगाडनेके लिये अभीष्ट दृष्टान्तको बिगाडने चले हैं। अलं वावदूकतया।

तद्वत्समवायोऽनेकः प्रतिपद्यताम्, ईश्वरज्ञानयोः समवायः, पटरूपयोः समवाय इति विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तेः।

बस, उन संयोगोंके समान समवायसम्बन्ध भी अनेक मानने या समझ लेने चाहिये। ईश्वर का ज्ञानसे समवायसम्बन्ध भिन्न है तथा पटका और रूपका समवाय निराला है इसी प्रकार नीबूसे रसका समवाय अतिरिक्त है, इत्यादि विलक्षण ज्ञानोंके होनेसे समवाय भी अनेक सिद्ध होजाते हैं। यह युक्तियोंसे साधा गया सिद्धान्त है।

समवायिविशेषात्समवाये विशिष्टः प्रत्यय इति चेत्, तर्हि संयोगिविशेषात्संयोगे विशिष्टप्रत्ययोऽस्तु। शिथिलः संयोगो, निबिडः संयोग इति प्रत्ययो यथा संयोगे तथा नित्यं समवायः कदाचित्समवाय इति समवायेऽपि।

नैयायिक कहता है कि प्रतियोगितासम्बन्धसे समवायसम्बन्धके आधार, रूप, ज्ञान, रस आदि अनेक हैं और अनुयोगितासंबन्धसे समवायके अधिकरण भी घट, आत्मा, नीबू आदि अनेक हैं। अतः उन समवायवाले आश्रयोंके अनेक हो जानेसे उनमें रहनेवाले एक समवायमें भी विलक्षण विलक्षण रूपके ज्ञान होजाते हैं। जैसे कि मेघजलके एकसा होनेपर भी उसकी तदाश्रय अनेक वृक्षों में भिन्न भिन्न परिणति होजाती है। इसी तरह समवायवालोंकी विशेषतासे ज्ञान नाना हो जाते हैं किन्तु समवाय एक ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि आप नैयायिक ऐसा कहोगे तबतो संयोगसम्बन्धको भी एक ही मान लेना चाहिये। वहां भी प्रतियोगितासम्बन्धसे संयोगके आश्रय

होरहे दण्ड, छत्र, धूम आदि अनेक हैं और अनुयोगितासम्बन्धसे संयोगके अधिकरण पुरुष, देवदत्त बस्त्र, आदि बहुत हैं। अतः संयोगवालोंके भिन्न भिन्न होनेसे ही संयोगमें भी विलक्षणताको जानने-वाला ज्ञान उत्पन्न हो जावेगा। संयोगगुण लाघव होनेसे एक ही मान लिया जावे। यदि आप वैशेषिकोंका यह भाव होय कि देवदत्तके गलेमें जंजीरका ढीला संयोग है और अंगुलीमें अंगूठीका कडा संयोग है, चटाईमें तृणोंका शिथिल संयोग है और किवाडों में गर्भकीलकका घनिष्ठ संयोग है। इस तरह संयोगकी प्रतीतियां तो अनेक प्रकारकी देखी जाती हैं, तो हम जैन भी कहते हैं कि आत्माका परिमाणके साथ और आकाशका एकत्वसंख्याके साथ नित्य ही समवाय है तथा घटका काले, लाल रूपके साथ और जीवात्माका घटज्ञान पटज्ञानके साथ कभी कभी होनेवाला समवाय है। इस प्रकार समवायसम्बन्धमें भी अनेकपन दीखरहा है, तो फिर समवाय सम्बन्ध भी अनेक मान लेने चाहिये। न्यायप्राप्तमें पुनः विपरीत पक्षपात नहीं करना चाहिये।

समवायिनोर्नित्यत्वकादाचित्कत्वाभ्यां समवाये तत्प्रत्ययोत्पत्तौ संयोगिनोः शिथिलत्वनिबिडत्वाभ्यां संयोगे तथा प्रत्ययः स्यात्।

समवायसम्बन्धके आधारभूत आकाश, आत्माके नित्य होनेसे समवायमें भी वह नित्यपन कल्पित जान लिया जाता है और समवायी माने गये ज्ञान, काला, लाल, रूपके अनित्य होनेसे समवायमें भी अनित्यपनका ज्ञान उपज जाता है। ऐसा नैयायिकोंके कहनेपर हम जैन भी कह सकते हैं कि संयोग सम्बन्धवाले चटाई, किवाड, कील, रुई आदिके ढीले, कडे हो जानेसे संयोगमें भी ढीले, कठिनका इस प्रकार व्यवहारज्ञान कर लिया जायगा, किन्तु संयोगको एक ही मानो।

स्वतः संयोगिनोर्निबिडत्वे संयोगोऽनर्थक इति चेत्, स्वतः समवायिनोर्नित्यत्व समवायोऽनर्थकः किं न स्यात्।

संयोगियोंको अपने आप ही कडा, ढीला माननेपर तो संयोगसम्बन्ध मानना व्यर्थ पडता है। क्योंकि भिन्न भिन्न प्रकारके संयोगोंने ही उन संयोगियोंको कडा, ढीला बना दिया था और अब आप संयोगियोंको स्वतः ही कडा, ढीला मानते हो फिर संयोग माननेकी क्या आवश्यकता है? यदि आप वैशेषिक यों कहोगे तब तो स्वयं मूलमें समवायियोंके नित्य और कभी कभी होनेसे आपका समवाय भी व्यर्थ पडेगा। कारण कि समवायके द्वारा ही सदा (हमेशा) समवेत रहना और कभी कभी समवेत रहना परिणाम, ज्ञान, रूप, आदिकोंमें माना गया था किंतु जब आप समवायियोंको स्वभावसे ही नित्यपना और अनित्यपना मानते हैं तो आपका समवाय मानना भी व्यर्थ क्यों न होगा? उत्तर दो।

इहेदं समवेतमिति प्रतीतिः समवायस्यार्थ इति चेत्, संयोगस्येहेदं संयुक्तमिति प्रतीतिरर्थोऽस्तु । ततो न संयोगसमवाययोर्विशेषोऽन्यत्र विष्वग्भावाविष्वग्भावस्वभावाभ्यामिति तयोर्नानात्वं कथंचित्सिद्धम् ।

वैशेषिक कहते हैं कि इसमें यह समवायसम्बन्धसे विद्यमान है । जैसे कि आत्मामें ज्ञान और घटमें रूप समवेत है, इस प्रकार प्रतीति कराना ही समवायका प्रयोजन है । अतः समवाय व्यर्थ नहीं है । ऐसा कहनेपर तो हम (जैन) भी कह सकते हैं कि संयोग गुणका फल ढीला, कड़ा करना नहीं है । संयोगवाले पदार्थ अपने आप पहिलेसे ही कड़े, ढीले हैं । किंतु यह यहां संयुक्त है । जैसे कि पुरुषमें दण्ड, किवाडमें कील संयुक्त हो रही है इत्याकारक प्रतीति कराना ही संयोगका प्रयोजन हो जाओ, इस कारणसे अब तक सिद्ध कर दिया कि संयोग और समवायमें इस वक्ष्यमाणके अतिरिक्त कोई अंतर नहीं है । यदि संयोग अनेक होंगे तो समवाय भी अनेक हो जावेंगे, तथा समवाय एक होगा तो संयोगके भी एक माननेसे सब काम चल जावेगा । हां अंतर इतना ही है कि पृथक्भूत पदार्थोंका परिणाम या स्वभाव तो संयोग होता है और कथंचित् अपृथक् पदार्थोंका समवाय होना धर्म है यों प्रतीतिके अनुसार पदार्थोंकी व्यवस्था माननेपर उन संयोग और समवाय दोनोंको ही किसी न किसी अपेक्षासे अनेकपन सिद्ध होता है । वस्तुतः व्यवस्था यह है कि संयोगके एकपनेका तो हमने आपके ऊपर आपादन किया था, किंतु एक संयोग हम स्याद्वादी मानते नहीं हैं । और न संयोगको गुणरूप पदार्थ मानते हैं । गुण उनको कहते हैं जो वस्तुकी आत्मा होकर अनादिसे अनंत कालतक रहें, अतः दो आदि पदार्थोंके मिल जानेपर उनके प्रदेशोंकी प्राप्ति होना संयोगरूप पर्याय है । असंयुक्त अवस्थाको छोडकर संयुक्तावस्थारूप पदार्थकी परिणतिको हम संयोग मानते हैं वे अनेक हैं । दो आदि द्रव्योंमें रहनेवाली परणतियां दो, तीन, आदि होंगी एक नहीं । जैन सिद्धांतमें पदार्थोंका भीतर घुसकर विचार किया है केवल ऊपरसे नहीं टटोला है ।

समवायस्य नानात्वे अनित्यत्वप्रसंगः संयोगवदिति चेत्, न, आत्मभिर्व्यभिचारात्, कथंचिदनित्यत्वस्येष्टत्वाच्च ।

पुनः वैशेषिक कहता है कि जो जो अनेक होते हैं वे वे घट, पट आदिके सदृश अनित्य होते हैं । यदि समवायको आप जैन लोग अनेक मानेंगे तो समवायको संयोगके समान अनित्यपनेका प्रसंग आवेगा । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकका कहना तो ठीक नहीं हैं क्योंकि जो अनेक होते हैं वे वे अनित्य होते हैं इस व्याप्तिका आत्माओं करके व्यभिचार होगा । आपने आत्माएं अनेक मानी हैं किंतु अनित्य नहीं मानी हैं । परमाणुयें भी अनेक हैं किंतु आपने उनको नित्य माना है, नित्य मन भी अनेक माने गये हैं । दूसरी बात यह है कि कथंचित्

तादात्म्य सम्बन्धरूप समवायका अनित्यपना हम इष्ट करते हैं। आत्मामें घटज्ञान होनेपर घटज्ञानका समवाय उत्पन्न होता है। बादमें पटज्ञान होनेपर पहिले घटज्ञानका समवाय पर्यायरूपसे नष्ट हो जाता है और अबके पटज्ञानका समवाय कथंचित् उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार कथंचित् तादात्म्य सम्बन्धरूप अनेक समवायोंमें उत्पादविनाशशालीपना जैनसिद्धान्तमें स्वीकार किया गया है समवायके अनित्य हो जानेसे हम आपके समान डरते नहीं है। हम आत्मा, आकाश, परमाणु, मन आदि द्रव्योंको भी पर्यायार्थिक नयसे अनित्य मानते हैं। सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप परिणतियां करते हैं।

तथा आपका माना गया समवायसम्बन्ध इस युक्तियोंसे भी सिद्ध नहीं होता है। सो और भी सुनिये।

किञ्च।

अनाश्रयः कथं चायमाश्रयैर्युज्यतेऽञ्जसा।
तद्विशेषणता येन समवायस्य गम्यते ॥ ७२ ॥

आपने सम्बन्धको द्विष्ठ माना है। जो दूसरे सम्बन्धसे दो आदि अनुयोगी, प्रतियोगियोंमें रहे वह सम्बन्ध है। और आपने अन्य सम्बन्धसे विशेषण के विशेष्यमें रहनेपर ही उनका विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्ध माना है ऐसा आप नैयायिकोंका मन्तव्य होनेपर यह आपका माना हुआ आश्रयमें नहीं ठहर रहा नित्य, एक, स्वतन्त्र, समवाय किसी अन्य सम्बन्धसे नहीं वर्तता संता विचारा आत्मा, ज्ञान, आदि आश्रयोंके साथ कैसे सीधा ही सम्बद्ध होजाता है बताओ। जिससे कि समवायसंबंधकी उन समवायियोंमें विशेषणता मानी जावे क्योंकि दण्ड और पुरुषमें विशेषणविशेष्यभाव तब ही है जब कि संयोग सम्बन्धसे दण्ड पुरुषमें विद्यमान है। भूतलमें घटाभाव स्वरूपसम्बन्धसे है। दूसरे सम्बन्धसे आश्रयमें सम्बद्ध हुए बिना विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध नहीं बनता है। जो विशेष्यको अपने रूपसे अनुरंजित करे वही विशेषण कहा जाता है। विशेषण यों विशेष्यमें प्रथमसे ही सम्बद्ध है।

येषामनाश्रयः समवाय इति मतं तेषामात्मज्ञानादिभिः कथं संबध्यते ? संयोगेनेति चेन्न। तस्याद्रव्यत्वेन संयोगानाश्रयत्वात् समवायेनेति चायुक्तम्। स्वयं समवायान्तरानिष्टेः

जिन नैयायिक, वैशेषिकोंके मतमें समवाय सम्बन्ध आश्रयसे रहित माना गया है उनके यहां प्रतियोगिता, अनुयोगिता सम्बन्धसे समवायवाले आत्मा, ज्ञान, और घट, रूप आदिके साथ समवाय किस तरहसे संबंधित होगा ? बताओ। यदि आत्मा, ज्ञान आदिमें संयोगसम्बन्ध करके

समवायका रहना मानोगे। यह तो ठीक नहीं है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें संयोगसम्बन्धसे रहा करता है। जैसे कि भूतलमें घट या देवदत्तमें कुण्डल अर्थात् द्रव्यका अन्यद्रव्यके साथ संयोग-सम्बन्ध होता है। जब कि समवाय स्वयं द्रव्य नहीं है तो वह संयोगसम्बन्धसे किसी आश्रयमें ठहर नहीं सकता है। संयोगसम्बन्ध तो द्रव्यमें ही रहता है। समवायपदार्थ संयोगका आश्रय नहीं है। यदि समवायका अपने आधारोंमें रहना समवायसंबन्धसे मानोगे, वह भी मानना युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि द्विष्ठसम्बन्ध आधेय और आधार दोनोंमें स्थित रहता है जैसे कि समवायसम्बन्धसे ज्ञान आत्मामें रहता है। यहां समवायसम्बन्ध प्रतियोगी ज्ञानमें भी है और अनुयोगी आत्मामें भी है। तभी तो वह दोनोंको मिला देता है। इसी प्रकार वैशेषिकोंके यहां गुण माने गये संयोगसम्बन्धकी कुण्डल आधेय और देवदत्त आधारमें समवाय सम्बन्धसे वृत्ति है तभी तो दोनोंको संयुक्त कर देता है। प्रकरणमें समवायसम्बन्धमें रहनेवाला दूसरा समवाय कोई आपने माना नहीं है। फिर भला समवाय सम्बन्धसे समवायकी आत्मा, ज्ञान आदिमें कैसे वृत्ति हो सकती है? आपने समवायसम्बन्धवाले द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ये पांच पदार्थ माने हैं। समवाय और अभाव इन दोनोंमें समवायसम्बन्ध नहीं स्वीकार किया है।

विशेषणभावेनेति चेत्, कथं समवायिभिरसंबद्धस्य तस्य तद्विशेषणभावो निश्चीयते?

वैशेषिकमतके औलूक्यदर्शनमें समवाय और अभावका विशेष्यविशेषणतासम्बन्ध माना गया है। आचार्य कहते हैं कि यदि आप समवायियोंके साथ समवायका विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध मानोगे यों तो समवायीरूप विशेष्योंके साथ किसी अन्यसम्बन्धसे नहीं सम्बन्धित होता हुआ वह समवाय उन समवायिओंका विशेषण है यह कैसे निश्चित किया जावे? बताओ, दूसरे सम्बन्धसे विशेष्यमें विशेषणका सम्बन्ध निश्चय किये विना विशेष्यविशेषणभाव नहीं बनता है। जैसे कि दण्ड और पुरुषका संयोग होने पर ही पीछेसे विशेषणविशेष्यभाव—सम्बन्ध माना जाता है॥

समवायिनो विशेष्याः समवायो विशेषणमिति प्रतीतेर्विशेषणविशेष्यभाव एव सम्बन्धः समवायिभिः समवायस्येति चेत् स तर्हि ततो यद्यभिन्नस्तद्वा समवायिनां तादात्म्यसिद्धिरभिन्नादभिन्नानां तेषां तद्भेदविरोधात्।

कणादके अनुयायी कहते हैं कि "समवायवाले द्रव्य आदिक पांच पदार्थ तो विशेष्य हैं और उनमें रहनेवाला एक समवाय विशेषण है" इस प्रकार सम्पूर्णजनोंको प्रतीत हो रहा है। अतः दूसरे सम्बन्धके बिना भी समवायियोंके साथ समवायका विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध सिद्ध ही है। यदि वैशेषिक ऐसा कहेंगे ऐसी दशामें तो हम जैन पूंछते हैं कि वह विशेष्यविशेषणसम्बन्ध उन

अपने सम्बन्धी समवाय और समवायवाले आत्मा, ज्ञान आदिसे यदि अभिन्न है तब तो समवाय-वाले उन ज्ञान, आत्मा आदिकका भी उस विशेष्यविशेषण सम्बन्धके समान तादात्म्यसंबन्ध सिद्ध हो जावेगा क्योंकि अभिन्नसे जो अभिन्न है उनका भेद होना विरुद्ध है। अर्थात् समवाय और समवायवाले ज्ञान, आत्मा आदि पदार्थोंके बीचमें पडा हुआ विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध अपने दोनों सम्बन्धियोंसे अभिन्न है तब तो उन दोनों सम्बन्धियोंका भी अभेद ही कहना चाहिये। अभिन्न विशेष्यविशेषणभावसे उसके सम्बन्धी अभिन्न ही हैं। अतः सम्बन्धियोंमें भी अभेद मानना पडेगा। यही जैन सिद्धांत है।

भिन्न एवेति चेत् कथं तैर्व्यपदिश्यते ? परस्माद्विशेषणविशेष्यभावादिति चेत्, स एव पर्यनुयोगोऽनवस्थानं च, सुदूरमपि गत्वा स्वसंबन्धिभिः सम्बन्धस्य तादात्म्योपगमे परमतप्रसिद्धेर्न समवायिविशेषणत्वं नाम।

यदि आप उस विशेष्यविशेषणभावको उसके सम्बन्धियोंसे भिन्न ही मानोगे यों तो " यह विशेष्यविशेषणभाव उन सम्बन्धियोंके साथ है " यह व्यवहार कैसे होगा ? बताओ। क्योंकि सर्वथा भेद में " उसका यह है, यह व्यवहार नहीं होता है, जैसे सह्यपर्वतका विन्ध्यपर्वत है या बम्बई-का कलकत्ता है, यह व्यवहार अलीक है। कथंचिद् भेद होनेपर ही षष्ठीविभक्ति उत्पन्न होती है। यदि आप वैशेषिक अपने विशेष्यविशेषणभाव और समवाय तथा समवायवान् इन सम्बन्धियोंमें भिन्न पडे हुए उस विशेष्यविशेषणभाव का फिर दूसरे विशेष्यविशेषणभावसे सम्बन्ध मानोगे तो वह दूसरा माना गया विशेष्यविशेषणसम्बन्ध भी अपने सम्बन्धियोंसे भिन्न पडा रहेगा, वहां भी " उनका यह है " इस व्यवहारके लिये तीसरा सम्बन्ध मानना पडेगा, उसको भी अपने सम्बन्धियों में रहना आवश्यक होगा, अन्यथा वह सम्बन्धहीन बन सकेगा। इस तरहसे वही चौथे, पांचमे आदि सम्बन्धोंकी कल्पनाका बोझ बढता जावेगा और परापरसम्बन्ध मानते हुए आकांक्षा शान्त न होगी, अतः आपके ऊपर अनवस्था दोष आवेगा। कहीं सैकडों, हजारों, सम्बन्धोंकी कल्पनाके बाद बहुत दूर जाकर भी उस सम्बन्धका अपने सम्बन्धियोंके साथ यदि तादात्म्यसम्बन्ध मानोगे तो दूसरोंके मत यानी जैनसिद्धान्तकी प्रसिद्धि हो जावेगी, अति निकटमें ही तादात्म्य क्यों न मान लिया जावे, भेद पक्ष लेकर इतना परिश्रम क्यों किया जारहा है ?। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि समवायियोंमें विशेषणतासम्बन्धसे भी समवाय नाममात्रको भी आश्रित नहीं हो सकता है। जिससे कि उनका विशेषण होसके।

विशेषणत्वे चैतस्य विचित्रसमवायिनाम्।
विशेषणत्वे नानात्वप्राप्तिर्दण्डकटादिवत् ॥ ७३ ॥

यदि इस समवायको आपके कहनेसे नाना प्रकारके आत्मा, आकाश, रूप, घटत्व, चलना, फिरना आदि समवायियोंका विशेषण होना मान भी लिया जावे तब तो उस समवायरूप विशेषणको अनेकपना प्राप्त होता है, जैसे कि पुरुष, भूतल, देवदत्त आदि संयोगियोंके विशेषण होनेसे दण्ड, चटाई, कुण्डल आदि अनेक हैं और इनके संयोगसम्बन्ध भी अनेक हैं। इनहीके समान समवाय भी अनेक हो जावेंगे।

सत्यपि समवायस्य नानासमवायिनां विशेषणत्वे नानात्वप्राप्तिर्दण्डकटादिवत्।

अनेक समवायियोंका विशेषण हो जाना होते हुए भी समवायको अनेकत्व अवश्य प्राप्त हो जाता है। जैसे कि पुरुष दण्डवाला है भूतल चटाईसे युक्त है। यहां दण्ड चटाईरूप विशेषण अनेक हैं। क्योंकि—

न हि युगपन्नानार्थविशेषणमेकं दृष्टम्, सत्त्वं दृष्टमिति चेन्न, तस्य कथञ्चिन्नानारूपत्वात्, तदेकत्वैकान्ते घटः सन्निति प्रत्ययोत्पत्तौ सर्वथा सत्त्वस्य प्रतीतत्वात् सर्वार्थसत्त्वप्रतीत्यनुषंगात्क्वचित्सत्तासंदेहो न स्यात्।

एक ही समयमें अनेक पदार्थोंका जो विशेषण है वह अनेक है, एक नहीं देखा गया है। यदि यहां वैशेषिक यह कहें कि देखो, सत्ताजाति एक समयमें द्रव्य आदि अनेक पदार्थोंमें रहती है किंतु वह सत्ता एक ही है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जैन सिद्धांतमें द्रव्यस्वरूपसे तीनों कालोंमें विद्यमान रहनारूप सदृशपरिणामोंको सत्ताजाति माना है। वह जाति अनेक पदार्थोंमें तादात्म्यसंबंधसे रहती हुयी कथंचित् अनेक है यह प्रमाणसिद्ध है। यदि उस सत्ताको एक माना जावेगा तो सत्तावाला घट सत्‌रूप विद्यमान है। ऐसे ज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर सर्व प्रकारसे सत्ताकी प्रतीति हो ही चुकी है। क्योंकि आपकी मानी हुई सत्ता एक ही है। एक घटकी सत्ताके जाननेपर पूरी सत्ताका ज्ञान होना स्वाभाविक है। तथा च संपूर्ण पदार्थोंकी सत्ताके जान लेनेका प्रसंग आवेगा। एक पदार्थके सद्रूपसे जानलेनेपर सभी सर्वज्ञ हो जावेंगे। अतः किसीको किसी पदार्थमें सत्ताका संदेह नहीं होना चाहिये। किन्तु अनेक पदार्थोंके सन्देह होते देखे जाते हैं। अतः सत्ता जाति एक नहीं है।

सत्त्वं सर्वात्मना प्रतिपन्नं न तु सर्वार्थास्तद्विशेष्या इति तदा क्वचित्सत्तासन्देहे घटविशेषणत्वं सत्त्वस्यान्यदन्यदर्थान्तरविशेषणत्वमित्यायातमनेकरूपत्वम्।

यदि यहां कोई कहे कि विशेषणरूप सत्ता नामकी जातिको हमने पूर्णरूपसे जान लिया है किंतु उस जातिके आधारभूत सम्पूर्ण विशेष्य अर्थोंको नहीं जान पाया है। इस कारण उस

समय किसी किसी पदार्थमें सत्ताका सन्देह हो जाता है ऐसा माननेपर तो सत्ताको अनेकरूपत्व अच्छी रीतिसे (तरह) आजाता है। देखिये घटमें रहनेवाली सत्ताका घटमें विशेषणपना भिन्न है और दूसरे पदार्थोंमें रहनेवाली सत्ताका अर्थान्तरके साथ विशेषणपना निराला है। गुण या क्रियामें रहनेवाली सत्ता न्यारी है इस प्रकार अनेक धर्मवाली सत्ता नानारूप सिद्ध होती है।

नानार्थविशेषणत्वं नाना न पुनः सत्त्वं तस्य ततो भेदादिति चेत् तर्हि घटविशेषणत्वाधारत्वेन सत्त्वस्य प्रतीतौ सर्वार्थविशेषणत्वाधारत्वेनापि प्रतिपत्तेः स एव संशयापायः सर्वार्थविशेषणत्वाधारत्वस्य ततोऽनर्थान्तरत्वात्।

सत्तामें रहनेवाले नाना अर्थोंके विशेषणपन ही अनेक हैं किंतु फिर सत्ता अनेक नहीं है क्योंकि वह सत्ता अपने उन विशेषणोंसे सर्वथा भिन्न है। धर्म धर्मीसे भिन्न होता है। यदि वैशेषिक ऐसा कहेंगे तब तो घटविशेषणत्व–धर्मके आश्रयपनसे सत्ताको जान लेनेपर सम्पूर्ण अर्थोंके विशेषणपनके आधाररूपसे भी सत्ताकी प्रतीति हो चुकी है। क्योंकि सत्ता तो एक ही है और निरंश है। अतः एक सत्ताके जानलेनेपर सम्पूर्ण पदार्थोंका जानना सिद्ध हो गया तो वहका वही, कहीं भी संशयका न रहनारूप दोष तदवस्थ रहा, कारण कि सत्ताके उस घटविशेषणत्वका आधारपन धर्मसे सर्वार्थोंमें विशेषणत्वका आधारपना धर्म भिन्न नहीं है, एक ही है।

तस्यापि नानारूपस्य सत्त्वाद्भेदे नानार्थविशेषणत्वान्नानारूपादनर्थान्तरत्वसिद्धेः सिद्धं नानास्वभावं सत्त्वं सकृन्नानार्थविशेषणम्, तद्वत्समवायोऽस्तु।

यदि वैशेषिकसत्ताके उन अनेक धर्मोंको भी सत्तासे भिन्न होरहे मानेंगे तो नाना अर्थोंके विशेषणत्वरूप जो नाना स्वरूप हैं उनसे नाना रूपोंका अभेद सिद्ध हो जावेगा क्योंकि सर्वथा भिन्नसे जो भिन्न है वह प्रकृतसे अभिन्न होता है। इस तरह नानारूपोंसे सत्ताका अभेद सिद्ध हुआ। तथाच एकवारमें नाना अर्थोंमें विशेषणरूपसे विद्यमान होरहा सत्ता अनेकस्वभाववाली ही सिद्ध होती है। उस सत्ताके समान समवायको भी आप अनेक मान लेवें यही हितमार्ग है।

द्रव्यत्वादिसामान्यं द्वित्वादिसंख्यानं, पृथक्त्वाद्यवयविद्रव्यमाकाशादि विभुद्रव्यं च स्वयमेकमपि पुरा यदनेकार्थविशेषणमित्येतदनेन निरस्तम्। सर्वथैकस्य तथाभावविरोधसिद्धेरिति न परपरिकल्पितस्वभावः समवायोऽस्ति, येनेश्वरस्य सदा ज्ञानसमवायितोपपत्तेर्ज्ञत्वं सिद्ध्येत्।

नैयायिक और वैशेषिक सत्तासे अतिरिक्त निम्न लिखित पदार्थोंको भी एक होकर अनेक पदार्थों में रहनेवाला मानते हैं। जैसे कि द्रव्यत्व नामकी जाति एक है किन्तु पहिलेसे ही पृथ्वी,

अप्, तेज्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन, इन नौ द्रव्योंमें एकदम रहती है। एक गुणत्वजाति रूप, रस आदिक चौवीस गुणोंमें वर्तती है। कर्मत्वजाति भी उत्क्षेपण आदि पांच कर्मोंमें ठहरती है इत्यादि। तथा दो द्रव्योंमें रहनेवाली द्वित्वसंख्या तथा तीनमें रहनेवाली त्रित्व-संख्या, चार द्रव्योंमें रहनेवाली चतुष्ट्व संख्या आदि भी एक एक होकर पर्याप्ति नामक सम्बन्धसे अनेकोंमें रहती हैं। पृथक्त्व, संयोग, और विभागगुण भी एक होकर अनेकोंमें रहते हैं। इसी तरह एक घट अवयवी द्रव्य दो कपालोंमें निवास करता है तथा एक पट अवयवी द्रव्य अनेक तन्तुओंमें रहता है। तथा आकाश, काल, आत्मा, दिशा ये चार व्यापक द्रव्य स्वयं अकेले अकेले होकर भी वृत्तिताके अनियामक संयोगसम्बन्धसे घट, पट आदि अनेक देश, देशान्तरोंके पदार्थोंमें विद्यमान रहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि उक्त प्रकार वैशेषिकका मंतव्य अच्छा नहीं है। हमारे इस पूर्वोक्त कथनसे समवाय और सत्ताको अनेकपना सिद्ध करनेसे वैशेषिकोंका यह उक्तमन्तव्य खण्डित हो जाता है। भावार्थ— आकाश, आत्मा, आदि सर्वथा एक नहीं हैं, प्रदेशोंकी अपेक्षासे अनेक हैं। जो आकाशके प्रदेश बम्बईमें हैं वे कलकत्तामें नहीं है। जो मस्तकमें आत्माके प्रदेश हैं। वे पांवोंमें नहीं है नहीं तो बम्बईमें कलकत्ता घुस पडेगा। मांथेमें पांव लग बैठेंगे समझे। सर्व प्रकारसे जो एक है उसका इस प्रकार एक समयमें पूर्णरूपसे अनेकोंमें ठहरनेका विरोध सिद्ध हो चुका है। इस ढंगसे दूसरे वैशेषिकोंका अपनी रुचि करके कल्पना किया गया नित्य और एक ऐसा समवाय पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता है। जिस समवाय सम्बन्धसे कि ईश्वरका ज्ञानके साथ सदासे ही समवायीपना सिद्ध हो जाता, और ईश्वरको ज्ञानस्वभाववाला ठहराया जाता, अर्थात् उस असिद्ध समवायसे ईश्वरमें विज्ञता नहीं आ सकती है।

कीदृशस्तर्हि समवायोऽस्तु ?

थक कर वैशेषिक पूछते हैं कि तब तो आप जैन लोग ही बतलाइये कि समवाय कैसा होवे ? जो कि वह मान लिया जावे इसपर आचार्य अपना सिद्धांत कहते हैं।

ततोऽर्थस्यैव पर्यायः समवायो गुणादिवत्।
तादात्म्यपरिणामेन कथंचिदवभासनात् ॥ ७४ ॥

इस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि रूप, रस, काला, नीला, खट्टा, मीठा, संयोग, चलना, फिरना, आदि गुणक्रियाएँ जैसे अर्थकी ही पर्यायें हैं उसी प्रकार समवाय संबंध भी परिणामी द्रव्यकी पर्यायविशेष है क्योंकि कथंचित् तादात्म्य परिणामसे परिणमन करता हुआ जाना जा रहा है।

भ्रान्तं कथंचिद्द्रव्याभेदेन प्रतिभासमानं समवायस्येति न मन्तव्यं, तद्भेदैकान्तस्य ग्राहकाभावात्। न हि प्रत्यक्षं तद्ग्राहकं तत्रेदं द्रव्यमयं गुणादिरयं समवाय इति भेदप्रतिभा-

साभावात्। नाप्यनुमानं लिंगाभावात्, इहेदमिति प्रत्ययो लिंगमिति चेत्, न, तस्य समवायितादात्म्यस्वभावसमवायसाधकत्वेन विरुद्धत्वात्, नित्यसर्वगतैकरूपसमवायेनानान्तरीयकत्वात्।

द्रव्यसे समवाय पदार्थ सर्वथा भिन्न दीख रहा है अतः समवायका द्रव्यसे कथंचिद् भेदाभेद-स्वरूप परिणाम करके जैनोंको ज्ञान भ्रम पूर्ण है ऐसा तो वैशेषिकोंको नहीं मानना चाहिये क्योंकि द्रव्यसे उस समवायको एकांतरूपसे भिन्न ग्रहण करनेवाले प्रमाणका अभाव है। देखो उन प्रमाणोंमें पहिला प्रत्यक्ष प्रमाण तो समवाय और समवायीके भेदका ग्राहक नहीं है। कारण कि उस प्रत्यक्षसे यह द्रव्य है, ये गुण, क्रिया, जाति, आदि हैं, इनके बीचमें पडा हुआ यह समवाय संबन्ध निराला है, इस प्रकार अंगुलीसे निर्देश करने योग्य भेदका ज्ञान होता नहीं है। और दूसरा प्रमाण अनुमान भी अर्थसे भिन्न समवायको जानता नहीं है। क्योंकि उसका उत्पादक अविनाभावी हेतु यहां नहीं है। यदि "इस आत्मा आदिकमें यह ज्ञान आदि हैं" इत्यादिकारक प्रतीतिको हेतु मान करके समवायको सिद्ध करोगे, सो यह तो ठीक नहीं है क्योंकि वह हेतु समवायियोंके साथ तादात्म्य-सम्बन्धस्वरूप समवायका साधक है, नित्य एक समवायका नहीं। अतः आपके अभिप्रेत होरहे समवायसम्बन्ध–स्वरूप साध्यसे विरुद्धके साथ व्याप्ति रखनेके कारण आपका हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। "इसमें यह है" इत्याकारक प्रतीतिरूप हेतु आपके माने हुए नित्य, व्यापक, और एकरूप समवायके साथ अविनाभावी नहीं है। यह हेतु अनित्य, अनेक, संयोगोंको भी सिद्ध कर देता है। नान्तरीय शब्दकी न अन्तरे भवति इति नान्तरीयकः न नान्तरीयक इति अनान्तरीयकः ऐसी निरुक्ति कीजाय।

गुणादीनां द्रव्यात्कथञ्चित्तादात्म्याभासनस्य द्रव्यपरिणामत्वस्य चाभावात्साधनशून्यं साध्यशून्यं च निदर्शनमिति चेन्न, अत्यन्तभेदस्य ततस्तेषामनिश्चयात्तदसिद्धेः।

यहां वैशेषिक कहते हैं कि गुणादिदृष्टान्तमें द्रव्यसे कथंचित् तदात्मकरूपसे प्रकाशन होनारूप हेतु और द्रव्यका परिणाम होना रूप साध्य नहीं विद्यमान है। इस कारण आप जैनोंका गुणादि दृष्टान्त तो हेतु और साध्यसे रहित है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह उनका कहना कथमपि अच्छा नहीं है। क्योंकि उस द्रव्यसे उन गुणादिकोंके अत्यन्त भेदका अभीतक निश्चय नहीं हुआ है। अतः आपके उस सर्वथाभेदकी सिद्धि नहीं है। तथा च हेतु और साध्य दोनों ही गुणादि नामक दृष्टान्तमें पाये जाते हैं।

गुणगुणिनौ, क्रियातद्वन्तौ, जातितद्वन्तौ च परस्परमत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् घटपटवदित्यनुमानमपि न तद्भेदैकान्तसाधनम्। कथञ्चिद्भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतोः कथञ्चित्तद्भेदसाधनतया विरुद्धत्वात्, सिद्धत्वभावात्।

नैयायिक अत्यंत भेदको सिद्ध करनेके लिये अनुमान प्रमाण देते हैं कि रूप, रस आदिक गुण, और पृथ्वी, जल, घट आदि गुणी द्रव्य, तथा हलन, चलन आदि क्रिया, और उस क्रिया वाले बादल, घोडा आदि क्रियावान् पदार्थ, एवं घटत्व, द्रव्यत्व आदि जातियां और उन जातियोंसे युक्त घट, आत्मा, गुण आदि पदार्थ (ये सम्पूर्ण पक्ष हैं) परस्परमें सर्वथा भिन्न हैं (साध्य) क्योंकि इनका भिन्न भिन्न ज्ञान होरहा है । (हेतु) जैसे कि घट, पट, पुस्तक आदिको भिन्न भिन्न ज्ञान होनेसे ही भिन्न मानते हो (अन्वय दृष्टान्त) उसी प्रकार घट पृथक् दीख रहा है और उसका रूपगुण निराला दीख रहा है, घोडेसे दौडना अतिरिक्त दीख रहा है । यहां आचार्य कहते हैं कि आपका यह उक्त अनुमान भी उन गुण, गुणी आदिके सर्वथा भेदको सिद्ध नहीं करपाता है । आत्मासे ज्ञान, घटसे रूप, घोडेसे दौडना और घटसे घटत्व सर्वथा अतिरिक्त तो दीखते नहीं हैं । हां ! कथंचिद् भिन्न दीख रहे हैं । जैसे कि आत्मा नहीं बदलता है किंतु घटज्ञान, पटज्ञान अनेक होते रहते हैं । घट वही रहता है किंतु पकानेपर कालेसे लालरूप हो जाता है, चलना छोडकर घोडा खडा होजाता है । इस प्रकारका कथंचिद् भेद प्रतिभासनरूप हेतुसे उनमें परस्पर कथंचिद्‌भेद ही सिद्ध होगा । जो कि आपके सर्वथा भेदरूप साध्यसे विपरीत है । अतः आप वैशेषिकोंका हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है । उससे सर्वथा भेदकी सिद्धि नहीं होती है ।

न हि गुणगुण्यादीनां सर्वथा भेदप्रतिभासोऽस्ति कथंचित्तादात्म्यप्रतिभासनात् । तथाहि—गुणादयस्तद्वतः कथंचिदभिन्नास्ततोऽशक्यविवेचनत्वान्यथानुपपत्तेः ।

गुण गुणी, क्रिया क्रियावान्, विशेष और नित्यद्रव्य आदिका सर्वथाभेदरूपसे प्रकाशन नहीं होता है किंतु कथंचित् तादात्म्यरूपसे ही प्रतिभासन हो रहा है । जैसे कि रूप, रस, आदि गुण तो घटकी आत्मा हो रहे हैं । ज्ञान आत्मामें ओतप्रोत तत्स्वरूप हो रहा है । इसी बातको स्पष्ट कर कहते हैं कि गुण, जाति, आदि पदार्थ गुणादिवानोंसे कथंचिद् अभिन्न हैं (प्रतिज्ञा) अन्यथा यानी यदि अभिन्न न होते तो उनका पृथक् पृथक् करना अशक्य न होता (हेतु) अर्थात् आत्मासे ज्ञान खींचकर अलग नहीं रख दिया जाता है ; ऐसे ही घटसे रूप भी निकालकर पृथक् नहीं दिखाया जासकता है यों इस हेतुसे गुण, गुणी आदि किसी अपेक्षासे अभिन्न हैं ।

किमिदमशक्यविवेचनत्वं नाम ? विवेकेन ग्रहीतुमशक्यत्वमिति चेदसिद्धं गुणादीनां द्रव्याद्भेदेन ग्रहणात्, तद्बुद्धौ द्रव्यस्याप्रतिभासनात्, द्रव्यबुद्धौ च गुणादीनामप्रतीतेः। देशभेदेन विवेचयितुमशक्यत्वं तदिति चेत्, कालाकाशादिभिरनैकान्तिकं साधनमिति कश्चित् ।

यहां किसी वैशेषिकका कटाक्ष है कि जैनोंका माना हुआ गुणगुणियोंका परस्पर पृथक्भाव न कर सकना भला इसका भाव क्या है ? बताओ यदि जैन लोग यह कहें कि गुण आदिकोंको

तद्विशिष्टोंसे भिन्न भिन्न होकर ज्ञानसे ग्रहण करनेकी अशक्यता है। यह आप जैनोंके हेतुका अर्थ है, तब तो अशक्यविवेचनत्व हेतु अपने गुण, गुणी, आदि पक्षमें रहता नहीं है। अतः स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि गुण, क्रिया आदिकोंका द्रव्यसे भिन्न होकरके ग्रहण हो रहा है। ज्ञानके द्वारा उन गुण आदिकका प्रतिभास होनेपर द्रव्यका प्रतिभास नहीं होता है और द्रव्यको जाननेवाले ज्ञानमें गुण आदिककी प्रतीति नहीं होती है। दालमें नीबूके रसका प्रत्यक्ष हो जानेपर भी रसवान् द्रव्यकी प्रतीति नहीं है और आंखसे देखे हुए पत्थरमें उसके रसका ज्ञान नहीं हो पाता है। यदि आप स्याद्वादी उस अशक्यविवेचनत्व हेतुका यह अर्थ करोगे कि गुणसे गुणीका देश भिन्न नहीं कर सकते हैं और गुणीसे गुण भी भिन्न देशमें नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार घट घटत्व आदिका भी देश भिन्न नहीं है, इस कारण गुण, गुणी आदि अभिन्न हैं। ऐसा माननेपर तो आप जैनोंका हेतु काल, आकाश, दिशा, आदिसे व्यभिचारी हो जावेगा। जिस देशमें काल है उसी देशमें आकाश, वायु, आतप (धूप) पुद्गलवर्गणायें भी विद्यमान हैं एतावता क्या वे सब अभिन्न हैं ? कथमपि नहीं, इस प्रकार कोई वैशेषिक कह रहा है। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि—

तदनवबोधविजृम्भितम्। स्वाश्रयद्रव्याद्द्रव्यान्तरं नेतुमशक्यत्वस्याशक्यविवेचनत्वस्य कथनात्। न च तदसिद्धमनैकान्तिकत्वं साध्यधर्मिणि सद्भावाद्विपक्षाद्व्यावृत्तेश्च। तत्र गुणादीनां कथंचिद् द्रव्यतादात्म्यपरिणामेनावभासमानमसिद्धम्, नापि द्रव्यपरिणामत्वं, येन साध्यशून्यं वा निदर्शनमनुमन्यते, समवायो वार्थस्यैव पर्यायो न सिद्ध्येत्।

वैशेषिकका वह उक्त कथन तो जैन सिद्धान्तको न जानकर व्यर्थकी चेष्टा करना है। सुनिये :

हमारे यहां अशक्यविवेचनत्व हेतुका यह अर्थ कहा गया है कि गुण आदिकोंकी अपने आधारभूत द्रव्यसे दूसरे द्रव्यपर लेजानेके लिये अशक्यता है। देवदत्तका ज्ञान यज्ञदत्त की आत्मामें नहीं प्रविष्ट होता है, गुरुके द्वारा पढानेपर शिष्यका ज्ञान ही उसकी आत्मामें विकासको प्राप्त होता है। कोटि प्रयत्न करनेपर भी गुरुका ज्ञान शिष्यकी आत्मामें नहीं पहुंच पाता है। अन्यथा पंडितोंके लडके विना प्रयत्नके पंडित बन जावें। पुद्गलका रूप, रस, गुण आत्मामें नहीं प्राप्त कराया जाता है और आत्माके ज्ञान, सुख पुद्गलद्रव्यमें नहीं रखे जासकते हैं। प्रत्येक ज्ञान, रूप, आदिक गुणों (पक्ष) में उक्त प्रकारका अशक्यविवेचनत्व हेतु स्थित है, अतः असिद्धहेत्वाभास नहीं है क्योंकि वह साध्यधर्मवाले पक्षमें विद्यमान है। और वह अशक्यविवेचनत्व हेतु सर्वथा भिन्न होरहे दण्ड, छत्र, कुण्डल आदि विपक्षोंमें वृत्ति नहीं है, यों विपक्षसे व्यावृत्ति होरही है, इस कारण व्यभिचारी

हेत्वाभास भी नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि गुण आदिकोंका अपने आधारभूतद्रव्योंसे कथंचित् तदात्मकरूप-परिणतिसे प्रकाशन होना असिद्ध नहीं है और उस हेतुका साध्य माना गया द्रव्यका पर्यायपना भी असिद्ध नहीं है। जिससे कि उदाहरण, साध्य अथवा साधनसे रहित माना जाता, तथा समवायसम्बन्ध भी अर्थकी पर्याय सिद्ध न हो पाता। भावार्थ—गुण, क्रिया, आदि दृष्टांतके समान समवाय भी तदात्मक-परिणतिरूप प्रतीति होनेसे द्रव्यका ही परिणाम सिद्ध होता है। युक्तियोंसे जच गयी बातको विचारवान् मान लिया करते हैं हठ नहीं रखते हैं।

सिद्धेऽपि समवायस्य द्रव्यपरिणामत्वे नानात्वे च किं सिद्धमिति प्रदर्शयति—

कुछ परिज्ञान कर वैशेषिक कहते हैं कि समवाय सम्बन्धको द्रव्यका तदात्मक-परिणामपना सिद्ध हो गया और अनेकपना भी सिद्ध हो गया। एतावता प्रकृतमें क्या बात सिद्ध हुयी ? बताओ इसका सुन्दर उत्तर आचार्य स्वयं दिखलाते हैं।

तदीश्वरस्य विज्ञानसमवायेन या ज्ञता।
सा कथंचित्तदात्मत्वपरिणामेन नान्यथा ॥ ७५ ॥
तथानेकान्तवादस्य प्रसिद्धिः केन वार्यते।
प्रमाणबाधनाद्भिन्नसमवायस्य तद्वतः ॥ ७६ ॥

इस कारण वैशेषिक लोगोंने विज्ञानके समवायसम्बन्ध करके ईश्वरको जो सर्वज्ञता सिद्ध की थी वह कथंचित् तदात्मकत्वपरिणामसे ही सिद्ध होसकती है। भिन्न पडे हुए समवाय, या विशेषणविशेष्य, इन दूसरे प्रकारोंसे नहीं बन सकती है। तथा इस प्रकार ज्ञान और आत्माका तादात्म्यसम्बन्ध सिद्ध हो जानेसे अनेकान्त कहनेवाले स्याद्वादियोंका सिद्धान्त प्रसिद्ध होजाता है। उसको कोई रोक नहीं सकता है। सर्वथा भिन्न माने गये समवायसम्बन्धसे ज्ञानको आत्मामें रखना प्रमाणोंसे बाधित है। अतः उस समवायवाले इष्ट किये गये दोनों सम्बन्धियोंसे बीचमें भिन्न होकर समवायका रहना प्रमाणसे सिद्ध नहीं होसका है। इस बातको हम पहिले कह चुके हैं। सत्तुओंमें पानी डालनेसे लिबलिबापन उत्पन्न होकर विशिष्ट रस और बन्ध विशेष होजाता है यह रस और बन्धरूप तदात्मपरिणति सत्तुओंकी ही है, उनसे सर्वथा भिन्न कोई पदार्थ नहीं।

तदेवं समवायस्य तद्वतो भिन्नस्य सर्वथा प्रत्यक्षादिबाधनात्तदबाधितद्रव्यपरिणामविशेषस्य समवायप्रसिद्धेर्ज्ञानसमवायात् ज्ञो महेश्वर इति कथंचित्तादात्म्यपरिणामादेवोक्तः स्यात्।

इस कारण अबतक इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अपने सम्बन्धी समवायियोंसे सर्वथा भिन्न कल्पित किये गये समवायके माननेमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधा होती है, और उस द्रव्यका तदात्मक विशेष परिणामको स्वीकार करनेसे कोई बाधा उपस्थित नहीं है। अतः तादात्म्यसम्बन्धरूप समवायकी प्रसिद्धि हुयी। ज्ञानके समवायसे आप अपने ईश्वरको विज्ञ कहते हैं इसका अभिप्राय यही निकला कि वह ईश्वरके साथ कथंचित् तादात्म्यपरिणाम होनेसे ही सर्वज्ञ हो सकता है। अन्यथा नहीं।

स च मोक्षमार्गस्य प्रणेतेति भगवानर्हन्नेव नामान्तरेण स्तूयमानः केनापि वारयितुमशक्यः। परस्तु कपिलवदज्ञो न तत्प्रणेता नाम।

और आत्मस्वरूप ज्ञानसे तादात्म्यसम्बन्ध रखता हुआ वह महेश्वर मोक्षमार्गको आद्य अवस्थामें प्रगट करनेवाला है। यह तो दूसरे शब्दोंमें आपने भगवान् जिनेन्द्रदेव अर्हत् परमेष्ठीकी ही स्तुति की जा रही है। अर्हन्तको सर्वज्ञपनेका किसीके द्वारा रोकनेपर भी निवारण नहीं हो सकता है। बलात्कारसे ज्ञानात्मक जिनेंद्रदेवकी स्तुति आपके मुखद्वारा निकल पडती है। हां, दूसरा कोई नैयायिक, या वैशेषिकके द्वारा कल्पित किया गया कर्ता, हर्ता, सर्वशक्तिमान्, व्यापक, ईश्वर तो उस मोक्षमार्गका बतानेवाला नहीं सिद्ध हो सकता है। क्यों कि जैसे कपिल, बृहस्पति आदि ज्ञानसे भिन्न होनेके कारण अज्ञ हैं। उसी तरह नैयायिकोंका ईश्वर भी ज्ञानसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण अज्ञ है, और अज्ञानी आत्मा भला लोष्ठके समान कैसे क्या उपदेश देवेगा? कुछ नहीं। इस प्रकार नैयायिकोंके मतका निराकरण हो चुका। प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थोंको नैयायिक मानते हैं और द्रव्य, गुण, कर्म, आदि सात पदार्थ वैशेषिकके यहां माने गये हैं। हाँ तत्त्वप्रणाली एकसी है। इसतरह नैयायिक और वैशेषिकमतमें प्रायः समानता देखी जाती है। इस कारण हमने भी दोनोंको ईश्वरवादमें या गुणगुणीके भेदवादमें एकसा मानकर दोनोंका मिलाकर निराकरण कर दिया है। इसके आगे बौद्धोंके बुद्धदेवका विचार करते हैं।

सुगतोऽपि न मार्गस्य प्रणेता व्यवतिष्ठते।
तृष्णाविद्याविनिर्मुक्तेस्तत्समाख्यातखड्गिवत् ॥ ७७ ॥

विषयोंकी आकांक्षा करना तृष्णा है और अनात्मा, क्षणिक, दुःख अशुचि होरहे पदार्थोंमें आत्मा, नित्य, सुख, पवित्ररूपताका अभिमान करना अविद्या है। इन दोनोंके पूर्णरूपसे सदाके लिये नष्ट होजानेपर बुद्ध भगवान् मोक्षमार्गका प्रगट करनेवाला सिद्ध है। यों यह सौगतमन्तव्य भी प्रमाणोंसे व्यवस्थित नहीं है। जैसे कि बौद्धोंके यहां भले प्रकार विचारभास होगया खड्गी मोक्षमार्गका शासक नहीं है।

योऽप्याह " अविद्यातृष्णाभ्यां विनिर्मुक्तत्वात्प्रमाणभूतो जगद्धितैषी सुगतो मार्गस्य शास्तेति " सोऽपि न प्रेक्षावान् तथा व्यवस्थित्यघटनात् ।

इस कारिकाका भाष्य ऐसा है कि जो भी कोई बुद्धमतानुयायी वादी यह कहता है कि "अनेक जीवोंके द्वारा विश्वासको प्राप्त प्रमाणभूत और जगत्के सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहनेवाला बुद्ध भगवान् ही अविद्या तथा तृष्णाके वाल वाल सर्वथा दूर हो जानेसे मोक्षमार्गका शिक्षण करनेवाला है।" ग्रंथकार कहते हैं कि वह भी बौद्धमती हिताहितका विचार करनेवाला नहीं है। क्योंकि वैसे माने गये के अनुसार बुद्धकी व्यवस्था घटित नहीं हो सकती है । सुनिये:-

न हि शोभनं सम्पूर्णं वा गतः सुगतो व्यवतिष्ठते, क्षणिकनिरास्रवचित्तस्य प्रज्ञापारमितस्य शोभनत्वसंपूर्णत्वाभ्यामिष्टस्य सिद्ध्युपायापायात् ।

सुगत शब्दके निरुक्तिसे तीन अर्थ होते हैं। पहिले " सु " उपसर्गके प्रकृतमें शोभन, सम्पूर्ण, सुष्ठु, ये तीन द्योत्य अर्थ हैं । तिनमें प्रथमके दो अर्थ तो बुद्धमें घटते नहीं हैं । परिशेषमें तीसरा अर्थ ही मानना पडेगा। यानी फिर लौट कर न आनारूप अनावृत्तिसे बुद्ध चला गया, वह या उसका चित्त पुनः नहीं उत्पन्न होगा अर्थात् शून्यवादमें प्रवेश समझिये । प्रथमके दो अर्थोंका भी अब विचार करते हैं। देखिये आप बौद्धोंके विचार अनुसार---

सुगत शब्दका अर्थ यदि यह किया जाय कि " सु " यानी शोभायुक्त होकर " गतः " माने प्राप्त हो गया । भावार्थ---संसार अवस्थामें क्षणिकज्ञानकी सन्तान अनेक पूर्ववासनाओंसे वासित होती हुयीं उत्पन्न होती रहती हैं । किंतु सुगतकी ज्ञानसन्तान तो अविद्या और तृष्णाकी वासनाओंके आस्रवसे रहित होकर अच्छी तरह क्षणिक उत्पन्न होती रहती है और मोक्षावस्थामें भी उस चित्तकी सन्तान बराबर पैदा होती रहती है । अथवा सुगतका दूसरा अर्थ यह किया जाय कि " सु " माने सम्पूर्णरूपसे " गतः " यानी पदार्थोंका जाननेवाला सुगत है। भावार्थ-सर्वपदार्थोंके प्रत्यक्ष करनेवाले सर्वज्ञप्रत्यक्षसे स्वलक्षण, क्षणिक, दुःख, शून्यरूप चार आर्यसत्योंको जानता है । और वह सुगत भविष्यमें भी इनको जानता रहेगा । गत्यर्थक " गम् " धातुके ज्ञान, गमन, प्राप्ति और सर्वथा चला जाना (मोक्ष) ये अर्थ माने गये हैं। यों उक्त दोनों ही तरहसे सुगतकी व्यवस्था नहीं हो सकती है क्योंकि आस्रवरहित क्षणिकचित्तोंके उत्पादकको आपने शोभनपनसे इष्ट किया है और भूत, वर्तमान, भविष्यत् पदार्थोंके सम्पूर्णपने जाननेवाली बुद्धिके पारको प्राप्त हो जाना अर्थ माना है, जब कि इनकी सिद्धिका उपाय आपके पास नहीं है ।

भावनाप्रकर्षपर्यन्तस्तत्सिद्ध्युपाय इति चेत्, न, भावनाया विकल्पात्मकत्वेनातत्त्वविषयायाः प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तायास्तत्त्वज्ञानवैतृष्ण्यस्वभावोदयविरोधात् ।

बौद्ध पुनः कहते हैं कि " हम किसीके नहीं और हमारा कोई नहीं है " तथा " सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं आत्मारूप नहीं हैं " इस प्रकारकी भावनाओंको बढाते, बढाते, अन्तमें जाकर शोभनपना और सम्पूर्णपना प्राप्त हो जाता है। यह उसे सुगत होनेकी सिद्धिका उपाय है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा बौद्धोंका कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि आपने श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनाओंको विकल्पज्ञानात्मक माना है और विकल्पज्ञान आपके यहां वस्तुको छूनेवाला न होनेके कारण झूंठा ज्ञान माना गया है। जब भावनाएं वस्तुरूपतत्त्वोंको विषय नहीं करती हैं तब ऐसी असत्य भावनाओंके अन्तिम उत्कर्ष बढ जाना प्राप्त होजानेपर भी समीचीन तत्त्वोंका ज्ञान और तृष्णाकी अभावरूप वैराग्य इन स्वभावोंकी उत्पत्ति होनेका विरोध है अर्थात् बढे हुए भी झूंठे अतत्त्वोंके ज्ञानसे बुद्धके ज्ञान वैराग्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। मिथ्याज्ञानोंसे वीतराग विज्ञान नहीं उपजता है ॥

न हि सा श्रुतमयी तत्त्वविषया श्रुतस्य प्रमाणत्वानुषंगात्, तत्त्वविवक्षायां प्रमाणं सेति चेत् तर्हि चिन्तामयी स्यात् तथा च न श्रुतमयी भावना नाम, परार्थानुमानरूपा श्रुतमयी, स्वार्थानुमानात्मिका चिन्तामयीति विभागोऽपि न श्रेयान्, सर्वथा भावनायास्तत्त्वविषयत्वायोगात् ।

वह आपकी मानी हुयी श्रुतमयी–भावना तो वास्तविकतत्त्वोंको नहीं जान सकती है। यदि श्रुतमयी भावनासे शास्त्रोक्त तत्त्वोंका चिन्तन करोगे तो शास्त्रज्ञानको तीसरा प्रमाण माननेका प्रसङ्ग आवेगा, किन्तु आप बौद्धोंने प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माने हैं। यदि आप ऐसा कहोगे कि निर्विकल्पक ज्ञानके विषयभूत वास्तविक तत्त्वोंको शास्त्रके द्वारा कहनेकी इच्छा होनेपर श्रुतमयी भावनाको भी हम परार्थानुमान प्रमाण मानते हैं, तब तो वह परार्थानुमानरूप श्रुतमयी भावना नहीं रही किन्तु दूसरोंके लिए बनाये गये अनुमानरूप शास्त्रके वचनोंकी भावना करते करते चिन्तामयी भावना पैदा हो गयी है। क्या अप्रामाणिक वचनोंसे परार्थानुमानरूप श्रुतमयी भावना और स्वार्थानुमानरूप चिन्तामयी भावना उत्पन्न हो सकती है ? कभी नहीं। चूहोंसे उत्पन्न किये गये भी चूहे ही होते हैं। झूंठे ज्ञानोंसे सच्चे ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं। इस कारण परार्थानुमानरूप श्रुतमयी और स्वार्थानुमान चिन्तमयीका भेद करना भी अच्छा नहीं है। क्योंकि आपके यहां शब्दोंकी योजनासहित ज्ञानको भावना माना है। ऐसी अवस्तुको विषय करनेवाली भावनाके द्वारा ठीक ठीक तत्त्वोंको जानलेना आपके मतसे ही नहीं बनता है।

तत्त्वप्रापकत्वाद्वस्तुविषयत्वमिति चेत्, कथमवस्त्वालंबना सा वस्तुनः प्रापिका ?

बौद्ध कहते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान ही परमार्थभूत वस्तुको विषय करता है। सविकल्पक ज्ञान वस्तुको छूता नहीं, केवल मिथ्यावासनाओंसे पैदा होकर अपना संवेदन करा लेता है, किन्तु कोई कोई मिथ्याज्ञान भी तत्त्वोंकी प्राप्ति करानेमें कारण पडते हैं, अतः परम्परासे वस्तुको विषय करनेवाले कहे जाते हैं। जैसे कि पर्वतमें वह्निका संशय होनेपर अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है, इस कारण वह्निकी प्राप्ति कराने में वह संशयज्ञान भी दूरवर्ती कारण होजाता है। उसी तरह भावनाज्ञान भी तत्त्वोंका प्रापक है। पूर्वमें ज्ञप्ति होती है, पुनः अर्थमें प्रवृत्ति होती है, पश्चात् अर्थकी प्राप्ति होती है, प्राप्तिकालतक वह क्षणिक निर्विकल्पक ज्ञान तो ठहरता नहीं है। इच्छाओं द्वारा सविकल्पक ज्ञान उपजा लिया जाता है, अतः प्राप्तिकालमें सविकल्पक ज्ञान है। यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो हम जैन पूंछते हैं कि अपरमार्थभूत अवस्तुको जाननेवाली वह मिथ्याज्ञानरूप भावना सच्ची वस्तुको प्राप्त करानेमें कैसे कारण हो जावेगी ? क्या सीपमें पैदा हुए चांदीके ज्ञानसे यथार्थ चांदीकी प्राप्ति हो सकती है ? नहीं।

तदध्यवसायाच्चत्र प्रवर्त्तकत्वादिति चेत्, किं पुनरध्यवसायो वस्तु विषयीकुरुते यतोस्य तत्र प्रवर्त्तकत्वम् ?

यदि बौद्ध ऐसा कहें कि सीपमें पैदा हुआ चांदीका ज्ञान चांदीका निश्चय न करानेके कारण प्रवर्तक नहीं है, किंतु भावनारूप ज्ञान उन परार्थानुमानरूप शास्त्रके विषयोंका निश्चय करानेवाला है इस कारण उस वस्तुमें प्रवृत्ति करा देवेगा। बौद्धोंके ऐसा कहनेपर तो हम जैन आपादन करते हैं कि आपने निश्चयज्ञानको सविकल्पक ज्ञान कहा है और सविकल्पक ज्ञान आपके मतमें झूंठा ज्ञान है। ऐसी दशामें क्या फिर वह निश्चयरूप मिथ्याज्ञान यथार्थभूत वस्तुको विषय कर लेता है ! बताओ। जिससे कि निश्चयज्ञानसे वस्तुमें प्रवृत्ति हो जावे। भावार्थ—निश्चयात्मक ज्ञान भी आपके मतसे ठीक वस्तुमें प्रवृत्ति करानेवाला सिद्ध नहीं होता है।

स्वलक्षणदर्शनवशप्रभवोऽध्यवसायः प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वात्प्रवर्तक इति चेत्, प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पस्तथास्तु।

"वस्तुभूत स्वलक्षणसे उत्पन्न हुए निर्विकल्पकप्रत्यक्षके अधीन होकर पैदा हुआ निश्चयज्ञान प्रवृत्तिके विषयको दिखलानेवाला होनेसे प्रवर्तक माना जाता है" यदि आप बौद्ध ऐसा कहोगे तो प्रत्यक्ष ज्ञानके पीछे होनेवाला चाहे कोई विकल्पज्ञान भी प्रवृत्तिके योग्य विषयको प्रदर्शन करनेवाला होनेसे प्रवर्तक हो जाओ। जैनसिद्धान्तमें प्रमाणज्ञानसे ज्ञप्ति, प्रवृत्ति और प्राप्ति होती हुई मानी गयी हैं। इसका भाव यही है कि ज्ञान, प्रवृत्ति और प्राप्तिके विषयको जता देता है। प्रवृत्ति, निवृत्ति या प्राप्ति करना ज्ञाताकी इच्छा और प्रयत्नसे संबन्ध रखती हैं। क्या सूर्य चन्द्रमाके ज्ञान, सूर्य

चन्द्रको हाथमें प्राप्त करा देते हैं ? इसी तरह अनेक उपेक्षणीय पदार्थोंके ज्ञान हमें लाखों, करोडों, होते रहते हैं, किंतु उन उदासीनविषयोंमें प्रवृत्ति या प्राप्ति नहीं कराते हैं। प्रकृत यह है कि जैसे वस्तु-भूत स्वलक्षणको जाननेवाले दर्शनके पश्चात् उत्पन्न हुआ निश्चयज्ञान प्रवर्तक है। उसी प्रकार प्रत्यक्षके पीछे पैदा हुआ विकल्पज्ञान भी उस प्रकार परम्परासे वस्तुको छूने वाला होनेसे प्रवर्तक हो जाओ, कोई निवारक नहीं है।

समारोपव्यवच्छेदकत्वादनुमानाध्यवसायस्य तथाभावे दर्शनोत्थाध्यवसायस्य किमतथाभावस्तदविशेषात्।

बौद्धलोग परमार्थभूत वस्तुको जाननेवाले अकेले निर्विकल्प प्रत्यक्षको ही बढिया प्रमाण मानते हैं। विकल्पस्वरूप अनुमान भी उन्होंने क्षणिकपना और दान करनेवाले मनुष्यकी स्वर्गको प्राप्त करानेवाली शक्ति तथा हिंसककी नरक जानेकी शक्तिको जाननेवाला होनेसे प्रमाण माना है। वह अनुमान किसी नयी वस्तुको विषय नहीं करता है किन्तु क्षणिकपन आदि विषयोंमें उत्पन्न हुए संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोपोंको दूर करता रहता है। वस्तु-स्वरूप क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति आदिका ज्ञान तो प्रत्यक्ष प्रमाणकरके निर्विकल्पकरूप पहिले ही हो जाता है। यदि क्षणिकत्व आदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे न जाने गये होते तो वे वास्तविक नहीं ठहर सकते थे। किन्तु क्या करें, वस्तुभूत क्षणिकत्व आदिमें मिथ्याज्ञानी शीघ्र विपर्यय, संशयरूप समारोप कर लेते हैं। उसको दूर करनेके लिये अनुमानप्रमाणका उत्थान किया जाता है। इस कारण हम बौद्धलोग समारोपका व्यवच्छेद करनेवाला होनेसे अनुमानरूपनिश्चयज्ञानको वैसा होनेपर प्रवर्तक मानते हैं। ऐसा बौद्धोंके माननेपर हम जैन कहते हैं कि निर्विकल्प प्रत्यक्षको कारण मान कर उत्पन्न हुए निश्चयरूप विकल्पक उस प्रकार ज्ञानको अनुमानके समान क्या प्रवर्तकपना नहीं है ? बताओ। दोनों निश्चयात्मक उन ज्ञानोंमें हमारी समझसे कोई अन्तर नहीं है। इन्द्रिय और अर्थके योग्यक्षेत्रमें अवस्थित होनेपर उत्पन्न हुए अवग्रहज्ञानके बाद पैदा होनेवाले सैकडों ईहा, अवाय, ज्ञान अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्ति करानेवाले देखे जाते हैं।

प्रवृत्तस्यारोपस्य व्यवच्छेदकोऽध्यवसायः प्रवर्तको न पुनः प्रवर्तिष्यमाणस्य व्यव-च्छेदक इति ब्रुवाणः कथं परीक्षको नाम ?।

अनेक लोगोंको पदार्थोंके कालान्तरतक स्थायीपनेका पूर्वसे ही मिथ्याज्ञान है। किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानके समय किसी समारोपकी सम्भावना नहीं है। इस कारण पूर्वकालसे ही प्रवृत्त हुए समारो-पोंका व्यवच्छेद करनेवाला क्षणिकपनेका अनुमानरूप निश्चयज्ञान प्रवर्तक कहा जाता है। किन्तु भविष्यमें पैदा होनेवाले संशय आदिकोंको सम्भाव्यरूपसे दूर करनेवाले उन प्रत्यक्षोंके बाद उत्पन्न हुए

विकल्पज्ञानोंको हम प्रवर्त्तक नहीं मानते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार पक्षपातके अधीन बोलनेवाला बौद्ध भला परीक्षक कैसे हो सकता है ? नहीं अर्थात् क्या पूर्वमें किये गये चोरी, झूंठको छुडानेवाले उपदेश अच्छे हैं और भविष्यमें चोरी झूंठका त्याग करानेवाले उपदेश प्रमाण नहीं माने जावेंगे ! प्रत्युत उत्पन्न दोषोंके दूर करनेमें कुछ तत्त्व भी नहीं है, सांपके निकल जानेपर लकीरको पीटनेके समान व्यर्थ है। भविष्य दोषोंका निवारण ही किया जाता है। इस तरह भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालोंमें संशय आदिकके दूर करनेवाले विकल्पोंको भी प्रवर्त्तक मानना चाहिये। पक्षपातसे बोलनेवाले पुरुष न्यायकर्त्ता परीक्षक नहीं कहे जाते हैं।

तत्त्वार्थवासनाजनिताध्यवसायस्य वस्तुविषयतायामनुमानाध्यवसायस्यापि सेष्टेति तदात्मिका भावना न तत्त्वविषयातो न विद्याप्रसूतिहेतुरविद्यातो विद्योदयविरोधात्।

ज्ञानोंके बाद उत्पन्न होने वाली संस्काररूप वासनायें दो प्रकारकी हैं। एक तो ज्ञानद्वारा ठीक ठीक वस्तुको पीछेसे भी जतानेके लिये कारण हैं वे तत्त्वार्थवासनाएं कही जाती हैं और जो इष्ट, अनिष्ट आदि झूंठी कल्पनाएं कराने वाली हैं, वे मिथ्या वासनाएं हैं। वस्तुग्राही प्रत्यक्षसे वास्तविक अर्थोंको जानकर उनसे पैदा हुयी वासनाएं सच्चे अध्यवसायको पैदा करती हैं। इस कारण वह निश्चय ज्ञान अपने विषय होरहे वस्तुओंको जानता है। ऐसा बौद्धों द्वारा नियम करनेपर अनुमानरूप निश्चय भी वस्तुभूत क्षणिकत्वको जाननेवाला इष्ट किया है। इस प्रकार वह भावना स्वरूप ज्ञान भी वस्तुस्वरूपको ही विषय करनेवाला मानना चाहिये। अपरमार्थभूत अतत्त्वोंको जाननेवाला आपका माना गया अध्यवसायात्मक भावनाज्ञान तो ठीक नहीं है। इस कारण यदि भावनाको मिथ्याज्ञानस्वरूप अविद्या माना जावेगा तब तो वह सर्वज्ञतारूप विद्याको उत्पन्न करनेवाली कारण न हो सकेगी क्योंकि अविद्यासे विद्याके उदय होनेका विरोध है।

नन्वविद्यानुकूलाया एवाविद्याया विद्याप्रसवनहेतुत्वं विरुद्धं न पुनर्विद्यानुकूलायाः सर्वस्य तत एव विद्योदयोपगमादन्यथा विद्यानादित्वप्रसक्तेः संसारप्रवृत्त्ययोगात्।

शंकाकारके पदस्थमें प्राप्त होकर बौद्ध अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि अविद्या दो तरहकी है। प्रथम तो सम्यग्ज्ञानकी सहायकरूप अविद्या है और दूसरी मिथ्याज्ञानके सहकारिणी अविद्या है। मिथ्या ज्ञानके अनुकूलआचरण करनेवाली अविद्यासे ही विद्याकी उत्पत्तिकी हेतुताका विरोध है। किंतु फिर विद्याकी सहकारिणी अविद्यासे विद्याकी उत्पत्तिका विरोध नहीं है। सब लोग अविद्यापूर्वक ही विद्याकी उत्पत्ति मानते हैं। आप जैनियोंके यहां भी सम्यग्दर्शनके उस पूर्ववर्ती मिथ्याज्ञानसे ही सम्यग्ज्ञान होना माना है।

सब लोग मूर्ख अवस्थासे ही पण्डित बनते हैं। अल्पज्ञतासे ही सर्वज्ञता होती है अन्यथा यानी यदि ऐसा मानोगे तो आप जैनोंको सम्यग्ज्ञान अनादिकालीन मानना पडेगा। सर्वज्ञपना भी सर्वदासे स्वीकार करना पडेगा क्योंकि सम्यग्ज्ञान और सर्वज्ञतासे ही आपके यहां भविष्यमें सम्यग्ज्ञान और सर्वज्ञता पैदा होगीं। तथाच संसारकी प्रवृत्ति भी न हो सकेगी सर्वजीव अनादिसे सर्वज्ञ हो जावेंगे। अतः विद्याके अनुकूल पडनेवाली अविद्यासे विद्याकी उत्पत्ति मानियेगा।

इति चेन्न। स्याद्वादिनां विद्याप्रतिबन्धकाभावाद्विद्योदयस्येष्टेः। विद्यास्वभावो ह्यात्मा तदावरणोदये स्यादविद्याविवर्तः स्वप्रतिबन्धकाभावे तु स्वरूपे व्यवतिष्ठत इति नाविद्यैवानादिर्विद्योदयनिमित्ता।

अब आचार्य कहते हैं कि बौद्धोंका यह कहना तो ठीक नहीं है। क्यों कि–

हम स्याद्वादियोंके यहां अविद्यासे विद्याकी उत्पत्ति नहीं मानी है, किन्तु विद्या अर्थात् ज्ञानके आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशम या क्षयरूप अभावसे विद्याकी उत्पत्ति स्वीकार की है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है। पूर्वमें बन्धे हुए ज्ञानावरण कर्मके उदय होनेपर आत्मा मिथ्याज्ञान या अज्ञानरूप पर्यायोंको धारण करता है और जब उस ज्ञानके अपने प्रतिबन्धक कर्मोंका अभाव हो जाता है, तब तो वह आत्मा अपने स्वभावरूप केवलज्ञानमें व्यवस्थित होकर परिणमन करता रहता है। क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंका जानना उसका स्वायत्त धर्म है। इस प्रकार अनादिकालीन अविद्याही विद्याकी उत्पत्तिका कारण नहीं है। प्रत्युत कर्मोंके नाशसे और अविद्याके अभावसे आत्मामें स्वाभाविक विद्या उत्पन्न हो जाती है।

सकलविद्यामुपेयामपेक्ष्य देशविद्या तदुपायरूपा भवत्यविद्यैवेति चेत् न देशविद्याया देशतः प्रतिबन्धकाभावादविद्यात्वविरोधात्।

यहां बौद्ध यह कहें कि आपने अन्तिम फलस्वरूप प्राप्त करने योग्य पूर्ण केवलज्ञानकी अपेक्षा करके एकदेश अल्पज्ञानको उसका कारण हो जाना माना ही है। अर्थात् श्रुतज्ञानसे या अवधि, मनःपर्यय ज्ञानके पश्चात् केवलज्ञान पैदा होता है। वह श्रुतज्ञान अल्पज्ञान है तथा सम्पूर्ण अर्थपर्यायोंका ज्ञान न करनेवाला होनेसे अज्ञानरूप भी है। बारहवें गुणस्थानमें केवलज्ञानावरणके उदय होनेसे अज्ञानभाव माना है। इस कारण वह अविद्या या अज्ञान ही प्राप्तव्य केवलज्ञानका उपाय है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो बौद्धोंका कहना उचित नहीं है क्यों कि श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान ये अविद्यारूप नहीं है। अपने अपने आवरण कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए हैं। अतः उनको अविद्यापनका विरोध है। खोटे ज्ञान या अज्ञान ही अविद्या कहे जा सकते हैं।

तथाच विद्यारूप श्रुतज्ञान आदि अल्पज्ञानोंको अविद्या नहीं कह सकते हैं तब तो विद्यासे ही पूर्ण ज्ञान हुआ, अविद्यासे नहीं। विशेष बात यह है कि क्षपकश्रेणीमें भले ही किन्हीं मुनिमहाराजके सर्वावधि या मनःपर्ययज्ञान हो चुका हो किंतु उनके उपयोगात्मक श्रुतज्ञान ही है। श्रुतज्ञानोंका पिंड शुक्लध्यान है। इसमें मति, अवधि, मनःपर्ययका रंचमात्र प्रकाश नहीं है। अतः बारहवें गुणस्थानमें पूर्ण श्रुतज्ञान है, उस परोक्षरूप पूर्णज्ञानसे ही परिपूर्ण केवलज्ञान हुआ है।

या तु केनचिदंशेन प्रतिबन्धकस्य सद्भावादविद्याऽऽत्मनः, सापि न विद्योदयकारणं, तदभाव एव विद्याप्रसूतेरिति न विद्यात्मिका भावना गुरुणोपदिष्टा साध्यमाना सुगतत्वहेतुर्यतः सुगतो व्यवतिष्ठते।

कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले श्रुतज्ञान आदिमें देशघातिप्रकृतिका उदय होनेसे आत्मामें कुछ अज्ञानका अंश रहता है। इस कारण उस अंशरूप अविद्यासे विद्याका उदय माना जाता तो बौद्धके सिद्धान्तको सहकारिता प्राप्त हो भी जाती, किन्तु जो भी वह अज्ञानका अंश है वह तो विद्याका कारण नहीं माना है। प्रत्युत (बल्कि) उसके विपरीत जैनसिद्धान्तमें उस अविद्याके अंशोंका पूर्णरूपसे अभाव हो जानेपर ही विद्याकी उत्पत्ति मानी गयी है। सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाले सम्यग्ज्ञानमें भी हम उसके पूर्वमें हुए मिथ्याज्ञानको कारण नहीं मानते हैं। बल्कि ज्ञानका कारण ज्ञान ही है। ज्ञानमें सम्यक्पनेके व्यवहारका कारण दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय, उपशम या क्षयोपशम है तथा ज्ञानमें मिथ्यापनके कथन करनेका कारण मिथ्यात्वकर्मका उदय है। यद्यपि सम्यग्ज्ञानके पूर्वमें मिथ्याज्ञान था और अज्ञानभाव भी पूर्णज्ञानके प्रथम था। किन्तु अज्ञान या मिथ्याज्ञान ये सम्यग्ज्ञान या पूर्णज्ञानके कारण नहीं हैं। हां! उनका अभाव ही विद्याका कारण होता है। इस प्रकार स्वयं अविद्यारूप किन्तु भविष्यमें विद्याका कारण ऐसी गुरुओंके द्वारा परार्थानुमानरूप उपदेशी गयी और पूर्णरूपसे अन्तपर्यन्त साधी गयी (अभ्यास की गयी) आपकी मानी हुई श्रुतमयी और चिन्तामयी भावना तो सुगतके पूर्णज्ञान उत्पन्न करनेमें कारण नहीं हो सकती है, जिससे कि बुद्धका सर्वज्ञपन सिद्ध होकर कुछ दिन संसारमें उपदेशके लिए ठहरना व्यवस्थित बन सके।

भवतु वा सुगतस्य विद्यावैतृष्ण्यसंप्राप्तिस्तथापि न शास्तृत्वं व्यवस्थानाभावात्, तथाहि—"सुगतो न मार्गस्य शास्ता व्यवस्थानविकलत्वात् खड्गिवत्, व्यवस्थानविकलोऽसावविद्यातृष्णाविनिर्मुक्तत्वाच्चद्वत्"।

अथवा आपके कथनमात्रसे बुद्धदेवको सर्वज्ञता और तृष्णारहित वैराग्यकी समीचीन प्राप्ति होजाना मान भी लिया जाय तो भी बुद्ध सज्जनोंको मोक्षमार्गके उपदेशकी शिक्षा नहीं कर सकते

है। क्योंकि पूर्णज्ञान और वैराग्यके होनेपर शीघ्र ही उनकी मोक्ष हो जावेगी। वे संसारमें ठहर न सकेंगे। इसी बातको अनुमान द्वारा स्पष्ट कहते हैं। " सुगत (पक्ष) मोक्षमार्गका शिक्षक नहीं है (साध्य) क्योंकि वह संसारमें व्यवस्थित रखनेवाले कारणोंसे रहित होगया है (हेतु) जैसे कि बौद्धोंका माना गया खड्गी (अन्वयदृष्टान्त) आप बौद्धोंने मुक्तावस्थामें मुक्त खड्गी जीवोंका उपदेश देना कार्य नहीं माना है। वे मुक्तावस्थामें संसारकी वासनाओंके आस्रवरहित होकर क्षणिक ज्ञानरूप है"। उक्त अनुमानमें दिये गये हेतुको सिद्ध करते हैं " कि आपका माना हुआ वह बुद्ध (पक्ष) संसारमें स्थित रहनेवाला नहीं है (साध्य) क्योंकि उसी खड्गी मुक्तात्मा (अन्वयदृष्टान्त) के समान संसारस्थितिके कारण अविद्या और रागद्वेषोंसे पूर्णरूपसे सर्वदाके लिये वह मुक्त होगया है " (हेतु)।

जगद्धितैषितासक्तेर्बुद्धो यद्यवतिष्ठते।
तथैवात्महितैषित्वबलात् खड्गीह तिष्ठतु ॥ ७८ ॥

यदि आप बौद्ध ऐसा कहेंगे कि संसारभरके प्राणियोंको हित प्राप्त करानेकी तीव्र अभिलाषामें आसक्त होजानेसे सर्वज्ञ बुद्ध कुछ दिनतक संसारमें ठहर जाते हैं, तब तो आत्माको हितस्वरूप शान्तियुक्त निर्वाण प्राप्त करानेकी अभिलाषाके बलसे खड्गी मुक्तात्मा भी इस ही प्रकार यहां संसारमें ठहर जाओ। भावार्थ—जैनमतमें जैसे अन्तकृत् केवली होते हैं, उसी प्रकार बौद्धोंके यहां तलवार आदिसे घातको प्राप्त हुए कतिपय मुक्तात्मा माने गये हैं वे बिना उपदेश दिये ही शान्तिरहित निर्वाणको प्राप्त होजाते हैं। आत्माको शान्त करनेकी उनको अभिलाषा बनी रहती है।

" बुद्धो भवेयं जगते हिताये," ति भावनासामर्थ्यादविद्यातृष्णाप्रक्षयेऽपि सुगतस्य व्यवस्थाने खड्गिनोप्यात्मानं शमयिष्यामीति भावनाबलाद्व्यवस्थानमस्तु विशेषाभावात्।

पूर्व जन्ममें या इस जन्ममें बुद्धने यह भावना भायी थी कि मैं जगत्का हित करनेके लिये सर्वज्ञ बुद्ध हो जाऊं, इस भावनाकी शक्तिसे अविद्या और तृष्णाके सर्वथा क्षय होनेपर भी सुगतकी स्थिति संसारमें उपदेश देनेके लिये हो जाती है। ऐसा स्वीकार करनेपर हम भी आपादन करते हैं कि आत्माको शान्तिलाभ कराऊंगा, ऐसी पूर्वजन्मकी या इस जन्मकी भावनाकी सामर्थ्यसे खड्गीका भी संसारमें अवस्थान हो जाओ, बुद्ध और खड्गीका संसारमें ठहरने और न ठहरनेमें नियामक कोई विशेष नहीं है।

तथागतोपकार्यस्य जगतोऽनन्तता यदि।
सर्वदावस्थितौ हेतुर्मतः सुगतसन्ततेः ॥ ७९ ॥

खड्गिनोप्युपकार्यस्य स्वसन्तानस्य किं पुनः ।
न स्यादनन्तता येन तन्निरन्वयनिर्वृतिः ॥ ८० ॥
स्वचित्तशमनात्तस्य सन्तानो नोत्तरत्र चेत् ।
नात्मानं शमयिष्यामीत्यभ्यासस्य विधानतः ॥ ८१ ॥
न चान्त्यचित्तनिष्पत्तौ तत्समाप्तिर्विभाव्यते ।
तत्रापि शमयिष्यामीत्येष्यच्चित्तव्यपेक्षणात् ॥ ८२ ॥

क्षणिक विज्ञानरूप सुगतकी सन्तानके सर्वदा स्थित रहनेमें यदि यह हेतु माना जावे कि बुद्धके द्वारा उपकृत होनेवाला जगत् अनन्त कालतक धाराप्रवाहसे स्थिर रहेगा। इस कारण बुद्ध भी सन्तानरूपसे अनन्त कालतक सदा संसारमें बने रहेंगे तो हम जैन भी कटाक्ष करते हैं कि खड्गिकी अपनी ज्ञानसन्तान भी खड्गिके द्वारा शान्तिलाभसे उपकृत होती हुई अनन्तकाल तक रहेगी, फिर क्यों नहीं खड्गिकी संसारमें स्थिति मानी जाती है? जिससे कि उस खड्गिकी निरन्वय मोक्ष होगयी मानी जाय। आपने दीपकके के बुझनेके समान सर्वथा अन्वयरहित होकर खड्गिकी मोक्ष मानी है, सो नहीं बन सकती है ।

यदि आप बौद्ध यों कहें कि उस खड्गिके अपने ज्ञानरूप आत्माका सर्वदाके लिये शमन हो जाता है, सर्वथा अन्वय टूट जाता है, इस कारण उत्तरकाल भविष्यमें खड्गिके चित्तकी सन्तान नहीं चलती है। यह आपका कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि खड्गिके चित्तका शमन नहीं हुआ है। आत्माको मैं सदा शान्तिमार्गपर ले जाऊंगा। इस प्रकार भावनाका अभ्यास खड्गि बराबर कर रहा है।

यदि आप यह कहें कि भावना करते करते अन्तिमचित्तके उत्पन्न हो जानेपर खड्गिके उस ज्ञानसन्तानकी समाप्ति होना विचारपूर्वक मानी जाती है, सो यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि जिसको आप अन्तमें होनेवाला चित्त कहते हो उस समय भी " आत्माको शमन करूंगा " ऐसी भावना करना खड्गिके अभ्यासमें आरहा है, अतः उसकी अपेक्षासे आगे भी चित्तकी सन्तान चलेगी। इस प्रकार दीपकलिकाके समान निरन्वय होकर ज्ञानसन्तानका नाश हो जानारूप मोक्ष खड्गिके नहीं बन सकती है। सुगतके समान खड्गिकी भी ज्ञानधारा अनन्त काल तक चलती रहेगी अतः वह भी संसारमें ठहर सकता है।

चित्तान्तरसमारम्भि नान्त्यं चित्तमनास्रवम् ।
सहकारिविहीनत्वात्तादृग्दीपशिखा यथा ॥ ८३ ॥

इत्ययुक्तमनेकान्ताद्बुद्धचित्तेन तादृशा ।
हितैषित्वनिमित्तस्य सद्भावोऽपि समो द्वयोः ॥ ८४ ॥
चरमत्वाविशेषस्तु नेतरस्य प्रसिद्ध्यति ।
ततोऽनन्तरनिर्वाणसिद्ध्यभावात्प्रमाणतः ॥ ८५ ॥

" खड्गिके अन्तका आस्रवरहित चित्त (पक्ष) दूसरे भविष्यचित्तोंको धारारूपसे उत्पन्न नहीं करता है (साध्य) क्योंकि वह सहकारीकारणोंसे रहित है (हेतु) । जैसे वत्ती, तैलसे रहित अन्तकी दीपशिखा पुनः दूसरी कलिकाओंको पैदा नहीं करती है " (दृष्टान्त) । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना युक्तिरहित है । उक्त हेतुका उस प्रकारके सहकारी कारणोंसे रहित होरहे बुद्धके चित्तसे ही व्यभिचार हो जावेगा । अर्थात् सहकारीरहितपना बुद्धके चित्तमें है। किन्तु दूसरे चित्तोंको नहीं पैदा करनारूप साध्य नहीं है । आपने बुद्धकी ज्ञानसन्तानको अनन्तकाल तक प्रसवशील माना है ।

यदि संसारी जीवोंके लिये हितके चाहनेकी इच्छाको भविष्यमें ज्ञानसन्तान चलनेका निमित्त कारण मानोगे तो वह भी दोनोंके समानरूपसे विद्यमान है । जैसे बुद्धके जगत्के हित करनेकी अभिलाषा है । वैसी ही खड्गिके आत्माको शान्ति करनेकी अभिलाषा भी वर्तमान है । अतः दोनों की विज्ञानधारा चलेगी । दूसरे खड्गिके विज्ञानमें अन्तमें होनेवाला यह विशेष भी सिद्ध नहीं है । क्योंकि बुद्धके समान खड्गि भी तो वस्तु है और वस्तु अनन्त काल तक परिणमन करती हैं । इस कारण अकेले खड्गिका ही निरन्वय नाश माना जाय और बुद्धको अनन्तकाल तक सन्तानक्रमसे स्थायी माना जाय, यह पक्षपात ठीक नहीं है । उस कारणसे आप प्रमाणोंके द्वारा अन्वयसहित ज्ञानसन्तानका नाश हो जानारूप शान्त मोक्षको सिद्ध नहीं कर सकते हैं । अथवा दीपकके ध्वन्सोंका भविष्यमें जैसे अन्तर नहीं है वैसा अन्तररहित अनन्तध्वन्सरूप मोक्ष नहीं कर सक्ता है ।

" खड्गिनो निरास्रवं चित्तं चित्तान्तरं नारभते जगद्धितैषित्वाभावे चरमत्वे च सति सहकारिरहितत्वात् तादृग्दीपशिखावदित्ययुक्तम्, सहकारिरहितत्वस्य हेतोर्बुद्धचित्तेनानैकान्तात्, तद्विशेषणस्य हितैषित्वाभावस्य चरमत्वस्य चाऽसिद्धत्वात्, समानं हि तावद्धितैषित्वं खड्गिसुगतयोरात्मजगद्विषयम् ।

ग्रन्थकार अपनी उक्त वार्तिकोंकी टीका करते हैं कि " खड्गिनामक मुक्तात्माका मोक्ष होनेपर पूर्वज्ञानोंके संस्कारोंसे आस्रवरहित चित्त है । वह चित्त भविष्यमें दूसरे चित्तोंको पैदा नहीं करता है (प्रतिज्ञा) क्योंकि खड्गिका चित जगत्का हितैषी न होकर और अन्तिम होता हुआ सहकारी

कारणोंसे रहित है। (हेतु) जैसे कि तैल, बत्ती आदि सहकारी कारणोंसे रहित और दूसरोंका हित न चाहनेवाली सबसे पिछली दीपकी शिखा उत्तरवर्ती शिखाओंको पैदा नहीं करती है किन्तु उसी समय शान्त हो जाती है (अन्वयदृष्टान्त) इसी तरह खड्गीका चित्त भी मुक्ति अवस्था प्राप्त करनेपर अतिशीघ्र समूल नष्ट हो जाता है " ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बौद्धका कहना भी युक्तिशून्य है, क्योंकि उक्त अनुमानमें दिये गये सहकारीरहितपने हेतुका बुद्धके ज्ञानरूप चित्तसे व्यभिचार है। बुद्धका चित्त सहकारीकारणोंसे रहित है, किंतु भविष्यके अन्यचित्तोंको उत्पन्न करता रहता है। और उस हेतुके हितैषी न होना तथा अन्तिमपना ये दो विशेषण भी खड्गिरूप पक्षमें नहीं घटते हैं। इस कारण तुम्हारा हेतु असिद्ध हेत्वाभास भी है कारण कि आत्माके शमनकी अभिलाषा और जगत्के हितकी अभिलाषारूप हितैषिता तो क्रमसे खड्गि और सुगतमें समानरूपसे रहती है। और वह चित्तसन्तानरूपसे सर्वदा रहेगा, अतः अनन्त है।

सर्वविषयं हितैषित्वं खड्गिनो नास्त्येवेति चेत्, सुगतस्यापि कृतकृत्येषु तदभावात् तत्र तद्भावे वा सुगतस्य यत्किञ्चनकारित्वं प्रवृत्तिनैष्फल्यात्।

यदि बौद्ध यों कहें कि " हमारे दिये गये हेतुका जगत्की हितैषिताका अभावरूप विशेषण खड्गिमें घट जाता है, अर्थात् खड्गिके सम्पूर्ण जीवोंमें हितैषिता नहीं ही है, अपनी आत्माकी शान्तिका ही स्वार्थ लगा हुआ है ", इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर हम जैन कहेंगे कि जो आत्माएँ कृतकृत्य हो चुकी हैं, उनके प्रति वह सुगतकी भी हितैषिता नहीं है, तो सुगतकी भी सब जीवोंमें हितैषिता कहां सिद्ध होती है ? यदि मुक्तिको प्राप्त हो चुके उन कृतकृत्य जीवोंमें भी सुगतकी उस हितैषिताका सद्भाव मानोगे तो सुगतको चाहे जो कुछ भी व्यर्थ कार्य करते रहनेका प्रसंग आवेगा। जैसे कि बनियेने अपने लडकेको सिखाया था कि " मुख है तो बोल, ग्राहक नहीं हैं तो ठाली बैठा बांटोंको तोल " इस लोकोक्तिके अनुसार सुगत भी व्यर्थके कार्य करनेवाला सिद्ध होगा। जिन आत्माओंने अपना सम्पूर्ण कर्तव्य कर लिया है उनके प्रति किसी भी हितैषीका प्रवृत्ति करना व्यर्थ है, निष्फल है।

यत्तु देशतोऽकृतकृत्येषु तस्य हितैषित्वं तत्खड्गिनोपि स्वचित्तेषूत्तरेष्वस्तीति न जगद्धितैषित्वाभावः सिद्धः।

यदि सुगतकी हितैषिताका आप जो यह अर्थ करोगे कि जो क्षणिकविज्ञानरूप आत्माएँ कुछ अंशोंमें अपने कर्तव्यको कर चुके हैं और कुछ अंशोंमें कृतकृत्य नहीं हुए हैं उनमें सुगतकी हित करनेकी इच्छा है तब तो इसपर हम जैन कहते हैं कि ऐसी कुछ चित्तोंमें वह हितैषिता तो खड्गीके भी विद्यमान है। खड्गी भी अपने उत्तरकालमें होनेवाले विज्ञानरूप चित्तोंमें प्रशान्त करनेकी

हितैषिता रखता है इस प्रकार आपका जगत्के हितकी अभिलाषा रखनारूप हेतु खड्गीमें सिद्ध नहीं है। जगत्के भीतर खड्गी भी आगया है। जिस जगतका हित करना है, उन जीवोंमें अकृतकृत्य ही जीव लिये जावेंगे।

नापि चरमत्वं प्रमाणाभावात्।

खड्गीका चित्त दूसरे चित्तोंको उत्पन्न नहीं करता है। इस आपकी प्रतिज्ञामें दिये गये हेतुका अन्तिमपना विशेषण भी सिद्ध नहीं है। क्योंकि खड्गीके चित्तोंका कहीं अन्त होजाता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। जब कि सब ही पदार्थ अनन्तकालतक परिणमन करनेके स्वभाववाले हैं। घट, पट, आदिके स्वलक्षण और बुद्धोंके चित्त अनन्तकालतक परिणमन करेंगे तो खड्गीके चित्तकी भी उत्तरोत्तर धारा उत्पन्न होती रहेगी, दीपककी कलिका भी काजलको उत्पन्न करती है और काजलसे उत्तरोत्तर काजल, वर्गणा, परमाणु, आदि पर्यायें होती रहती हैं। अतः दीपकलिकाका दृष्टान्त विषम है। कलिका और काजल तत्त्वान्तर नहीं हैं किन्तु रूप, रस आदिवाले पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें हैं। पीले रंगसे काला रंग होगया है। उष्णस्पर्शसे शीतस्पर्श होगया है किन्तु पुद्गलतत्त्व नहीं बदला है।

चरमं निरास्रवं खड्गिचित्तं स्वोपादेयानारम्भकत्वाद्वर्तिस्नेहादिशून्यदीपादिक्षणवदिति चेत्, न, अन्योन्याश्रयणात्। सति हि तस्य स्वोपादेयानारम्भकत्वे चरमत्वस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च स्वोपादेयानारम्भकत्वसिद्धिरिति नाप्रमाणसिद्धविशेषणो हेतुर्विपक्षवृत्तिश्च। खड्गिसन्तानस्यानन्तप्रतिषेधायालं, येनोत्तरोत्तरैष्यच्चित्तापेक्षयात्मानं शमयिष्यामीत्यभ्यासविधानात्स्वचित्तैकस्य शमनेऽपि तत्सन्तानस्यापरिसमाप्तिसिद्धेर्निरन्वयनिर्वाणाभावः सुगतस्येवानन्तजगदुपकारस्य नाव्यवतिष्ठेत तथापि कस्यचित्प्रशान्तनिर्वाणे सुगतस्य तदस्तु।

यदि आप बौद्ध इस अनुमानसे चरमपना सिद्ध करेंगे कि "खड्गिका आस्रवरहित चित्त अन्तिम है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उसके सबसे अन्तका चित्त स्वयं उपादानकारण बनकर किसी दूसरे उपादेयोंको उत्पन्न नहीं करता है (हेतु) जैसे कि अन्त (आखीर) की दीपकलिका बत्ती, तैल, और पात्रसे रहित होकर दूसरे कलिकारूप स्वलक्षणोंको उत्पन्न नहीं करती है। या बिजली और बबूला उत्तरवर्ती बिजली, बबूलारूप पर्यायोंको नहीं बनाते हैं" (अन्वय दृष्टान्त) आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार अनुमान बनाना ठीक नहीं है। इसमें परस्पराश्रय दोष है। क्योंकि अभीतक खड्गिके चित्तका अन्तिमपना और अपने उपादेयको न उत्पन्न करना ये दोनों ही सिद्ध नहीं है। इस कारण अन्तिमपना कब सिद्ध हो ? जब कि वह चित्त अपने उपादेयकार्यको पैदा न करे और अपने उपादेयोंका उत्पन्न न करना कब सिद्ध हो ? जब कि पहले हेतुका चरमपना सिद्ध हो जाय। अतः

आपके पूर्व अनुमान और इस अनुमानमें परस्पराश्रय दोष हुआ, इस प्रकार पूर्व अनुमानमें दिये गये हेतुके हितैषिताका अभाव और अन्तिमपना ये दोनों विशेषण प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं हैं और आपका हेतु बुद्धके चित्तरूप विपक्षोंमें वर्तमान है अतः व्यभिचारी भी है। इस कारण वह सहकारीरहितत्व हेतु खड्गीके चित्तसन्तानकी अनन्तताका निषेध करनेके लिये समर्थ नहीं है, जिससे कि चित्तसन्ततियोंका अन्वयसहित सर्वथा ध्वंस होजानारूप मोक्ष सिद्ध होता, खड्गिके आगे आगे भविष्यमें आनेवाले चित्तोंकी अपेक्षासे अपनेको शान्त करूंगा, इस प्रकार भावनाका अभ्यास बना रहता है। उससे वर्तमानमें अपने चित्तका शमन होजाने पर भी उस खड्गीकी सन्तानकी पूर्णरूपसे समाप्ति होजाय, यह सिद्ध नहीं है। अतः अन्वयरहित तुच्छाभावरूप मुक्ति नहीं बनती है तथा च अनन्त जगत्के उपकार करनेवाले सुगतके समान खड्गीकी भी संसारमें स्थिति न होवे, यह बात नहीं है। तथापि यानी इस प्रकार सुगत और खड्गीके पूर्णरूपसे समानता होनेपर भी किसी अकेले खड्गीकी ही तुच्छ अभावरूप शान्त मुक्ति मानोगे तो बुद्धकी भी बुझे हुए दीपकके समान चित्तधाराका सर्वथा नाश होजाना रूप वह मोक्ष होजाओ। दोनोंमें अन्तर कुछ नहीं है।

ततः सुष्ठुगत एव सुगतः स च कथं मार्गस्य प्रणेता नाम।

उस कारणसे अब तक यही सिद्ध हुआ कि सुगत शब्दका अच्छी तरह चले जाना अर्थात् अपना सर्वथा खोज खो देना ही अर्थ है। पूर्वमें सुगतके तीन अर्थ कहे थे। उनमें " पुनरनावृत्या गतः " फिर लौट कर न आना रूप ही अर्थ आप बौद्धोंके कथनसे निकला, अब बतलाइये कि ऐसा असद्रूपसुगत मोक्षमार्गका पथप्रदर्शक भला कैसे हो सकता है? कथमपि नहीं।

मा भूत्तच्छान्तनिर्वाणं सुगतोऽस्तु प्रमात्मकः।
शास्तेति चेन्न तस्यापि वाक्प्रवृत्तिविरोधतः॥ ८६॥

वैभाषिकका दीपकके बुझनेके समान वह शान्त निर्वाण न सिद्ध हो यह बात हम योगाचार मानते हैं। हमारे यहां बुद्धदेव प्रमाणज्ञानस्वरूप माना है। वह बुद्ध मोक्षमार्गका शिक्षण करनेवाला सिद्ध है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह भी तो मानना ठीक नहीं है। क्योंकि उस ज्ञानस्वरूप बुद्धके भी उपदेश देनेके लिये वचनोंकी प्रवृत्ति होनेका विरोध है। क्या शरीर, कण्ठ, तालु, और इच्छाके विना शब्द कहे जा सकते हैं? अर्थात् नहीं।

न कस्यचिच्छान्तनिर्वाणमस्ति येन सुगतस्य तद्वत्तदापाद्यते निरास्रवचित्तोत्पादलक्षणस्य निर्वाणस्येष्टत्वात्, ततः शोभनं सम्पूर्णं वा गतः सुगतः, प्रमात्मकः शास्ता मार्गस्येति चेत्, न, तस्यापि विधूतकल्पनाजालस्य विवक्षाविरहाद्वाचः प्रवृत्तिविरोधात्।

उक्त वार्त्तिकका व्याख्यान करते हैं कि किसी खड्गी या उपसर्गीमुक्तात्माका हम सर्वथा मटियामेट हो जानारूप शान्त निर्वाण नहीं मानते हैं जिससे कि उस खड्गीके समान बुद्धको भी वैसी ही मोक्ष प्राप्त करनेका आपादन किया जाय, जबकि हमारे यहां सांसरिक वासनाओंके आस्रवसे रहित होरहे शुद्ध चित्तका अनन्त काल तक उत्पन्न होते रहना ऐसा निर्वाण माना गया है। उस कारणसे " सुष्ठु गतः " यानी बिल्कुल नाशको प्राप्त हो गया है, यह सुगतका अर्थ हम नहीं मानते हैं, किंतु ज्ञान, वैराग्यसे शोभायुक्तपनेको प्राप्त हो गया या पूर्ण ज्ञानीपनेको प्राप्त हो गया, ऐसा ज्ञानस्वरूप ही सुगत है और वह मोक्षमार्गका आद्य प्रकाशक है, शिक्षक है। आचार्य कहते हैं कि यह योगाचारका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस सुगतका कल्पना करनेका जंजाल सर्वथा नष्ट हो गया है तो बोलनेकी इच्छारूपकल्पना भी उसके उत्पन्न न होगी। इस कारण इच्छाके बिना वचनोंका बोलना नहीं बन सकेगा। वचनकी प्रवृत्तिके लिये कारणकूटकी आवश्यकता है। उनमें बोलनेकी इच्छा प्रधान कारण है जो कि सुगतके है नहीं, तब मोक्षमार्गका उपदेश नहीं दे सकता है।

विशिष्टभावनोद्भूतपुण्यातिशयतो ध्रुवम्।
विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिः सुगतस्य चेत्॥ ८७॥

बोलनेके लिए इच्छाके विना भी " जगत्का उपकार करूं " इस बढिया भावनाके बलसे उत्पन्न हुए पुण्योंके चमत्कारसे बुद्धदेवकी भी वचनप्रवृत्ति यथार्थरूपसे हो जावेगी यदि आप बौद्ध ऐसा कहोगे—

बुद्धावनोद्भूतत्वाद्बुद्धत्वं, संवर्तकाद्धर्मविशेषाद्विनापि विवक्षाया बुद्धस्य स्फुटं वाग्वृत्तिर्यदि तदा स सान्वयो निरन्वयो वा स्यात्? किञ्चातः—

इसकी व्याख्या यह है कि मैं जगत्को मुक्तिमार्ग बतलानेवाला बुद्ध हो जाऊं इस प्रकार बुद्धपनेको बनानेवाली भावनासे एक विलक्षण पुण्य पैदा होता है। उस विशेष धर्म माने गये पुण्य करके इच्छाके विना भी बुद्ध भगवान्के स्पष्टरूपसे वचनोंकी प्रवृत्ति हो जावेगी। यदि ऐसा कहोगे तो इस पर हम जैनोंका थोडा यह पूंछना है कि वह बुद्ध क्या द्रव्यरूपसे अनादि अनन्त काल तक स्थिर रहनेवाला अन्वयी है? अथवा प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला अन्वयरहित होकर केवल उत्पाद, व्यय, स्वभाववान् है? बताओ। सम्भव है कि आप हमारे पूंछनेपर यह कहें कि आप जैन लोग इस पूंछनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध करोगे? तो हम जैन कहते हैं कि—

सिद्धं परमतं तस्य सान्वयत्वे जिनत्वतः
प्रतिक्षणविनाशत्वे सर्वथार्थक्रियाक्षतिः॥ ८८॥

प्रथम पक्षके अनुसार बुद्धको द्रव्यरूपसे अनादिसे अनन्त कालतक अन्वयसहित-रूप मानेपर तो जैनमत ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि उस पुण्यविशेषसे अलंकृत और द्रव्यरूपसे अनादि अनन्त कालतक व्यापक तथा विवक्षाके विना ही मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला बुद्धदेव हमारा जिनेन्द्रदेव ही तो है। यदि द्वितीयपक्षके अनुसार उस बुद्धको आप प्रत्येकक्षणमें विनाशशील मानोगे यानी अन्वयरहित होकर सर्वप्रकारसे नष्ट हो जाता है तब तो ऐसी दशामें वह क्षणिक बुद्ध कथमपि कुछ भी अर्थक्रिया न कर सकेगा। कालान्तरस्थायी तो आत्मा उपदेश दे सकता है। जो एक क्षण ही ठहरता है वह अपने आत्मलाभ करनेके समयमें कोई भी अर्थक्रिया नहीं कर सकता है। जब दूसरे क्षणमें कुछ कार्य करनेके योग्य होता है तब उसका आपके मतसे सत्यानाश हो जाता है। असत् पदार्थ क्या कार्य करेगा? अर्थात् कुछ भी नहीं।

न सान्वयः सुगतो येन तीर्थंकरत्वभावनोपात्तात्तीर्थंकरत्वनामकर्मणोऽतिशयवतः पुण्यादागमलक्षणं तीर्थं प्रवर्तयतोऽर्हतो विवक्षारहितस्य नामान्तरकरणात् स्याद्वादिमतं सिद्ध्येत्, नापि प्रतिक्षणविनाशी सुगतः क्षणे शास्ता येनास्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाक्षतिरापाद्यते, किं तर्हि? सुगतसन्तानः शास्तेति यो ब्रूयात्—

बौद्ध कहते हैं कि न तो हम सुगतको द्रव्यरूपसे अन्वयसहित मानते हैं जिससे कि यानी यदि हम ऐसा मानते होते तो जरूर स्याद्वादियोंका यह मन्तव्य सिद्ध होजाता कि धर्मतीर्थका किया जानारूप तीर्थंकर प्रकृतिका आस्रव करानेकी कारण सोलह कारण भावनाओंके बलसे बांधे हुए तीर्थंकरत्व—नामकर्मरूप माहात्म्य रखनेवाले पुण्यसे बोलनेकी इच्छाके विना मोक्षमार्गका प्रतिपादक आगमरूपी तीर्थकी प्रवृत्ति कराते हुए अर्हन्त देवका ही दूसरा नाम बुद्ध कर दिया गया है और इस ही कारण हम क्षण क्षणमें नष्ट होते हुए सुगतको एक ही क्षणमें मोक्षमार्गका शिक्षक भी नहीं मानते हैं। जिससे कि आप हमारे ऊपर क्षणिकपक्षमें क्रमसे और युगपत्से अर्थक्रिया की क्षति होजानेका आपादन करें, तब तो हम क्या मानते हैं इस बातको सुनिये हम सुगतकी उत्तर कालतक होनेवाली ज्ञानसन्तानसे मोक्षमार्गका शासन होना स्वीकार करते हैं। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार जो कोई बौद्ध कहेगा तो—

तस्यापि स सन्तानः किमवस्तु वस्तु वा स्यात्? उभयत्रार्थक्रियाक्षतिपरमतसिद्धी तदवस्थे।

उस बौद्धके मतमें भी वह ज्ञानकी सन्तान क्या अपरमार्थभूत है? अथवा क्या वस्तुस्वरूप परमार्थ है? बताओ, पहिला पक्ष माननेपर अवस्तुसे अर्थक्रिया न हो सकेगी तथा दूसरा पक्ष होनेपर दूसरे मत यानी स्याद्वादियोंके सिद्धान्तकी सिद्धि होजावेगी। यों इन दोनों पक्षोंमें हमारा पूर्वोक्त कथन वैसाका वैसा ही ठीक रहा यानी दोनों बातें अवस्थित रहीं।

तथाहि—

इसी बातको पुनः स्पष्ट कर कहते हैं।

सन्तानस्याप्यवस्तुत्वादन्यथात्मा तथोच्यताम्।
कथञ्चिद्द्रव्यतादात्म्याद्विनान्यस्याप्यसम्भवात् ॥ ८९ ॥

जबकि एक क्षणस्थित रहनेवाले ज्ञानोंकी धारारूप सन्तान भी अवस्तु है क्योंकि अनेक क्षणोंमें रहनेवाले पदार्थोंका कालिक प्रत्यासत्तिसे समूह बन सकता है किन्तु बिजली या दीपकलिकाके समान क्षणध्वंसी पदार्थके परिणामोंकी धारा कोई वस्तु नहीं है, स्वयं बौद्धोंने सन्तानको वस्तुभूत नहीं माना है।

यदि क्षणध्वंसी न मानकर उस धाराको कालान्तरस्थायी पदार्थ मानोगे तब तो सन्तान शब्दसे उस प्रकार आत्मा द्रव्य ही कहा गया समझो। आत्माका पूर्वापर क्षणोंके साथ द्रव्यरूप करके कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। उस तादात्म्य सम्बन्धके विना वह सन्तान उन ज्ञानोंकी है यह बात नहीं बन सकती है

एक द्रव्यमें अनेक परिणामोंको तादात्म्यसम्बन्ध ही मिला सकता है क्योंकि तादात्म्यके विना पूर्वापर परिणामोंके मिलानेमें संयोग, समवाय आदि अन्यसम्बन्धोंका असम्भव है।

स्वयमपरामृष्टभेदाः पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तान इति चेत् तर्हि तस्यावस्तुत्वादर्थक्रियाक्षतिः सन्तानिभ्यस्तत्त्वातत्त्वाभ्यामवाच्यत्वस्यावस्तुत्वेन व्यवस्थापनात्।

बौद्ध कहते हैं कि प्रत्येक क्षणवर्ती परिणामों में परस्पर अत्यंत भेद है किंतु हम लोगोंकी मोटी दृष्टिसे उस भेदका विचार नहीं हो पाता हैं इस कारण नहीं विचारा गया है भेद जिनका ऐसे आगे पीछेके क्षणिक परिणामोंके समुदायको सन्तान मान लेते हैं। यदि आप बौद्ध ऐसा कहोगे तो हम जैन कहते हैं कि वह सन्तान अवस्तु हुयी, क्योंकि जो पदार्थ सर्वथा विद्यमान ही नहीं है उसकी धारा भी क्या बन सकती है? हिमालयसे लेकर समुद्रतक गंगाकी धारा बहती है तब तो उस जलकी सन्तान मानी जाती है किंतु बिंदु जलकी नहीं विद्यमान पूर्वापर पर्यायोंको कल्पित करके धारा नहीं बनती है तथाच आपकी मानी हुयी सन्तान तुच्छ अवस्तु होनेसे कुछ भी अर्थक्रियाको न कर सकेगी यों अर्थक्रियाकी क्षति हुई। एक एक क्षण रहनेवाले सन्तानियोंसे भिन्न या अभिन्न होकर जो तद् अतद्रूपसे नहीं कहा जाता है वह अवस्तु माना गया है। ऐसी निर्णायक विद्वानों ने व्यवस्था की है॥

सन्तानस्य वस्तुत्वे वा सिद्धं परमतमात्मनस्तथाभिधानात्, कथंचिद्द्रव्यतादात्म्येनैव पूर्वोत्तरक्षणानां सन्तानत्वासिद्धेः प्रत्यासत्त्यन्तरस्य व्यभिचारात्, तात्त्विकतानभ्युपगमाच्च।

यदि आप बौद्ध सन्तानको वास्तविक मानोगे तब तो दूसरे वादीके मन्तव्य यानी जैन मतकी सिद्धि हो जावेगी क्योंकि इस कारण पूर्वापर परिणामोंमें अखण्ड द्रव्यरूपसे रहनेवालेका नाम ही आपने सन्तान रख दिया है। एक देवदत्तके आगे पीछे होनेवाले ज्ञानपरिणामोंका संतान हो जाना कथंचित् तादात्म्यसंबंध करके ही सिद्ध हो सकता है। द्रव्यप्रत्यासत्तिके अतिरिक्त क्षेत्रप्रत्यासत्ति आदि माननेसे व्यभिचार आता है, कारण कि एक क्षेत्रमें पुद्गल आदिक छहों द्रव्य रहते हैं। क्षैत्रिक संबंध होनेसे उन सबकी भी एक संतान बन जावेगी इसी तरहसे एककालमें अनेकद्रव्योंके परिणाम होते रहते हैं। उन भिन्न द्रव्योंके परिणामोंका भी परस्पर कालिकसंबंध है। किंतु उन सब परिणामोंकी एक अखण्ड धारारूप सन्तान नहीं मानी है। समान ज्ञानवाले भिन्न भिन्न देवदत्त, जिनदत्त आदिकी भावप्रत्यासत्ति है किंतु उन भिन्न आत्माओंके ज्ञानोंका परस्परमें सांकर्य नहीं है और संयोग सम्बन्धसे भी एक सन्तानकी सिद्धि नहीं है। तथा क्षेत्रसम्बन्ध, कालिकसम्बन्ध आदि वास्तविक माने भी नहीं गये हैं ये तो औपाधिक हैं तात्त्विकरूपसे नहीं स्वीकार किये गये हैं। अतः संतानियोंका एक द्रव्यमें कथंचित् तादात्म्य संबंधसे अन्वित रहने पर ही संतान वस्तुभूत और अर्थक्रियाकारी बन सकेगी। हां अखंडित अनेक देशवाले द्रव्यका विष्कम्भक्रमसे माना गया स्वक्षेत्र वास्तविक है और पूर्वापर कालोंकी अनेकपर्यायें ऊर्ध्वता सामान्यसे स्वकाल हो जाती हैं किंतु आकाश और व्यवहारकाल तो सर्वथा बहिरंग हैं, जीव पुद्गलोंका निज स्वरूप नहीं है।

पूर्वकालविवक्षातो नष्टाया अपि तत्त्वतः।
सुगतस्य प्रवर्तन्ते वाच इत्यपरे विदुः ॥ ९० ॥

बौद्ध लोग चिरकाल प्रथम नष्ट होचुके तथा भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंको भी वर्तमानकार्यका कारण मान लेते हैं। जिनके यहां असत्की उत्पत्ति और सत्का सर्वथा नाश मान लिया गया है। वे असत् पदार्थको कारण भी मानें तो क्या आश्चर्य है ? विवक्षाके विना सुगतके वचन कैसे प्रवृत्त होंगे ? इस कटाक्षको दूर करते हुए बौद्ध कहते हैं कि पहिले कालमें कभी सुगतके इच्छा हुयी थी, वह इच्छा वस्तुतः नष्ट होगयी है। फिर भी नष्ट हुयी इच्छा को कारण मानकर बुद्धके वास्तविक रूपसे वचन प्रवृत्त हो जावेंगे इस प्रकार दूसरे सौत्रान्तिक बौद्ध मानते हैं।

यथा जाग्रद्विज्ञानान्नष्टादपि प्रबुद्धविज्ञानं दृष्टं तथा नष्टायाः पूर्वविवक्षायाः सुगतस्य वाचोऽपि प्रवर्तमानाः संभाव्या इति चेत्—

आचार्य उनके मतका वर्णन करते हैं कि बौद्ध लोग आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान इस प्रकार ज्ञानकी दो धाराएं मानते हैं। सोते समय आलयविज्ञानकी धारा चलती रहती है और जागते समय प्रवृत्तिविज्ञानकी सन्तान चलती है। आज प्रातःकाल छह बजे हम सोकर उठे हैं। रातको दस बजेतक जागेंगे और दस बजे सोकर कल सुबह फिर उठेंगे, तथा कल मिति रातको दस बजे सोवेंगे। यहां आजके दस बजेतक होनेवाला प्रवृत्तिविज्ञान आज रातको दस बजे नष्ट होजावेगा। फिर भी नष्ट हुआ प्रवृत्तिविज्ञान कल प्रातःकाल छह बजेके प्रवृत्तिविज्ञानका उपादान कारण मान जाता है। तथा आज रातके दस बजेके बादसे पैदा हुआ आलयविज्ञान कल प्रातःकाल छह बजे तक सर्वथा नष्ट होजावेगा। ज्ञानोंकी धारा भी टूट जावेगी फिर भी नष्ट हुआ आलयविज्ञान कल रातको दस बजे बाद सोते समय होनेवाले आलयविज्ञानका कारण है। भविष्यमें होनेवाले पुत्र या आगे होनेवाला स्त्रीवियोग, धनलाभ, मरण आदि पहिलेसे ही हाथमें रेखाएं बना देते हैं, या शरीरमें तिल, मसा, लहसन, आदि बना देते हैं। इनके मतसे मरे बाबा भी गुड खालेते हैं ऐसी कहावत ठीक है। अस्तु—

ये बुद्धिके समूहरूप बौद्ध जो कुछ कहें सो सुनिये ? बौद्ध कहते हैं कि जैसे नष्ट होचुके भी पहिले दिनकी जागृत अवस्थाके ज्ञानसे दूसरे दिनकी जागृत अवस्थाका विज्ञान उत्पन्न हुआ देखा गया है। उसी प्रकार नष्ट हुयी पूर्वकालकी विवक्षासे भी बुद्ध भगवान्के वचनोंकी प्रवृत्ति होना भी सम्भव है। यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो आचार्य कहते हैं कि—

तेषां सवासनं नष्टं कल्पनाजालमर्थकृत् ।
कथं न युक्तिमध्यास्ते शुद्धस्यातिप्रसंगतः ॥ ९१ ॥

उन बौद्धोंके यहां जीवन्मुक्तदशामें ही बुद्धके संस्कारोंसे सहित होकर नष्ट होगया विवक्षारूप कल्पनाओंका समुदाय भला कैसे अर्थोंको करेगा ? अर्थात् कोई भी कार्य नहीं कर सकता है। यदि कल्पना नष्ट भी होगयी होतीं और उसकी वासना बनी रहती तो भी कुछ देरतक अर्थक्रिया होसकती थी किन्तु विवक्षानामक कल्पनाओंके संस्कारसहित ध्वंस होजानेपर पूर्वकालकी विवक्षासे वर्तमानमें बुद्धके वचनकी प्रवृत्ति कैसे भी युक्तिको प्राप्त नहीं होसकती है।

यदि कल्पनाओंसे रहित शुद्ध पदार्थके भी वचनोंकी प्रवृत्ति मानोगे तो आकाश, परमाणु आदिके भी वचनप्रवृत्ति होजानी चाहिये। यह अतिप्रसंग होगा।

यत्सवासनं नष्टं तन्न कार्यकारि यथात्मीयाभिनिवेशलक्षणं कल्पनाजालम्, सुगतस्य सवासनं नष्टं च विवक्षाख्याकल्पनाजालमिति न पूर्वविवक्षातोऽस्य वाग्वृत्तिर्युक्तिमधिवसति ।

अनन्तानुबन्धी कषायकी वासना अनेक वर्षोंतक चलती चली जाती है। एक झटकेदार प्रचण्ड क्रोध कर दिया जाय तो उसका संस्कार संख्यात, असंख्यात और अनन्त जन्मोंतक रहता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनका छह महीने, पन्द्रह दिन और अन्तर्मुहूर्त तक उत्तरोत्तर पर्यायमें परिणत होनेका संस्कार रहता है। तथा किसी धारणास्वरूप ज्ञानसे किसीको एक घण्टेतक स्मरण होता रहता है, किसीसे एक वर्ष, दस वर्ष तथा कई जन्मोंतक भी संस्कार बना रहता है। भूलता नहीं है। भावार्थ—जैसे बन्दूककी गोलीमें हजार गज तक जाते हुए वेग नामका संस्कार बना रहता है और प्रत्येक आकाशके प्रदेशपर उसका वेग उत्पत्तिक्रमसे न्यून होता जाता है। सर्वथा वेगके नष्ट होजानेपर गोली गिर पडती है। ऐसे ही एक वस्तुका ज्ञान होनेपर दस वर्ष तक उसकी स्मृति रहती है। इसका भाव यह है कि दस वर्षतक होनेवाले असंख्यात ज्ञानोंमें उसका संस्कार चलता रहता है, यदि देवदत्तने जिनदत्तसे कहा कि तुम दिल्ली जाओ तो हमारे लिये पांच सेर बादाम लेते आना। उस समयसे लेकर जिनदत्तके दिल्ली पहुंचने तक दस घण्टेमें जितने घट, पट आदिकके असंख्यात ज्ञान हुए हैं। उन सब ज्ञानोंमें अव्यक्त रूपसे यह संस्कार घुसा हुआ है कि देवदत्तके लिये पांच सेर बादाम लाना है। यदि ज्ञानके समान संस्कार भी सुननेके बाद नष्ट हो गया होता तो दिल्ली पहुंचनेपर स्मृति कैसे भी नहीं होसकती थी। हम लोगोंके ज्ञानगुणकी प्रतिक्षण एक पर्याय होती है। उसमें प्रगटरूपसे एक, दो, चार पदार्थ विषय पडते हैं किंतु अप्रकटरूपसे उन ज्ञानोंमें अनेक पदार्थोंके संस्कार चले आरहे हैं। किंचित् उद्बोधकके मिलने पर शीघ्र पूर्वके ज्ञातपदार्थकी स्मृति हो जाती है। यह तो जैन सिद्धांतके अनुसार वासनाका तत्त्व है। बौद्ध लोग भी ऐसी वासना मानते होंगे। अंतर इतना है कि उनके यहां पूर्वपर्यायका उत्तरपर्यायमें द्रव्यरूपसे अन्वय नहीं माना गया है ; अतः बालूकी नींव पर बने हुए महलके समान उनका वासनाका मानना ढह जाता है। अनुमान बनाकर प्रकृतमें (हेतु) यह कहना है कि " जो वासनासहित नष्ट हो गया है वह कुछ भी कार्य नहीं कर सकता है (साध्य) जैसे कि धन, पुत्र, कलत्र आदि अनात्मीय पदार्थोंमें " ये मेरे हैं " ऐसा दृढ श्रद्धान स्वरूप अतत्त्वश्रद्धान मूलसहित नष्ट हो गया है। अतः जीवन्मुक्त अवस्थामें वह कल्पित मिथ्या-श्रद्धान पुनः उत्पन्न नहीं होता है। (अन्वयदृष्टांत) बुद्धके विवक्षा नामक कल्पनाओंका समुदाय वासनासहित नष्ट हो गया माना है (उपनय) इस कारण पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी पूर्व विवक्षासे सुगतके वचनोंकी प्रवृत्तिका होना यह प्रयोजन साधना युक्तिसंगत नहीं है।" (निगमन)

जाग्रद्विज्ञानेन व्यभिचारी हेतुरिति चेत्, न सवासनग्रहणात्। तस्य हि वासना-प्रबोधे सति स्वकार्यकारित्वमन्यथातिप्रसंगात्। सुगतस्य विवक्षावासनाप्रबोधोपगमे तु विवक्षोत्पत्तिप्रसक्तेः कुतोऽत्यन्तं कल्पनाविलयः ?

बौद्ध कहते हैं कि जो नष्ट हो गया है वह कार्यकारी न माना जावेगा तो कल रातको जो दस बजे सर्वथा नष्ट हो गया है वह जागती अवस्थाका ज्ञान आज प्रातःकाल सोतेसे उठते समयके ज्ञानका कारण कैसे हो जाता है ? बताओ इस कारण आप जैनोंका माना गया हेतु व्यभिचारी है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना ठीक नहीं है क्योंकि हमने हेतुका विशेषण वासनासहितपना दे रखा है। कल रातके दसबजेके पहिले होनेवाला ज्ञान यद्यपि नष्ट हो गया है तो भी उसकी वासना सोते समय रही है। अतः उस वासनाके बलसे आज प्रातःकालके जागते समयका ज्ञान उत्पन्न हो गया था। वासनाका उद्बोध हो जानेपर पूर्वका ज्ञान भी अपने कार्यको कर देता है यह अनुमान हमने सुगतसिद्धान्तके अनुसार बौद्धके माने गये हेतुसे बनाया है। जैन सिद्धांतमें सोते और जगाते समय एक ही ज्ञानधारा मानी है केवल क्षयोपशमका वैयात्य है एकही ज्ञानगुणकी अनेक पर्यायें होती रहती हैं।

अन्यथा यानी ऐसा न मानकर अन्य प्रकारसे मानोगे अर्थात् यदि बौद्ध वासनाओंके नष्ट हो जानेपर वासनाओंके प्रकट हुए बिना भी पूर्व ज्ञानको कार्यकारी मानेंगे तो पूर्व जन्मोंके धन, पुत्र, कलत्र आदिमें उत्पन्न हुए मिथ्याज्ञान भी जीवन्मुक्त अवस्थामें अकेले मिथ्याज्ञानोंको पैदा कर देवेंगे किंतु बुद्धके आपने एक भी मिथ्याज्ञान नहीं माना है। यों अतिप्रसंग दोष बन बैठेगा।

यदि आप बुद्धके पूर्वकालीन विवक्षा नामक कल्पनाओंकी वासनाका उद्बोध होना मानोगे तब तो सुगतके विवक्षास्वरूप विकल्पज्ञानोंकी उत्पत्तिका प्रसंग आजावेगा। ऐसी दशामें सम्पूर्ण रूपसे कल्पनाओंका नाश हो जाना सुगतके कैसे सिद्ध हुआ ?। कथापि नहीं।

स्यान्मतं, " सुगतवाचो विवक्षापूर्विका वाक्त्वादस्मदादिवाग्वत् । तद्विवक्षा च बुद्धदशायां न सम्भवति, तत्सम्भवे बुद्धत्वविरोधात् । सामर्थ्यात् पूर्वकालभाविनी विवक्षा-वाग्वृत्तिकारणं गोत्रस्खलनवदिति "।

आप बौद्धोंका मत यह भी रहे कि " सुगतके वचन (पक्ष) बोलनेकी इच्छापूर्वक उत्पन्न हुए हैं (साध्य) क्योंकि वे वचन हैं। (हेतु) जैसे कि हम आदि लोगोंके वचन इच्छापूर्वक ही उत्पन्न होते हैं (दृष्टांत) इस अनुमानसे वचनोंका बोलनेकी इच्छाको कारणपना आवश्यक सिद्ध होता है किंतु बुद्ध अवस्थामें वचनोंका कारण इच्छारूप कल्पनाज्ञान सम्भव नहीं है।

यदि उन कल्पनाज्ञानोंका सम्भवना जीवन्मुक्त अवस्थामें भी माना जावे तो बुद्धपनेका विरोध आता है। बुद्ध निर्विकल्पक है और वचनोंके पहिले इच्छा मानना भी क्लस है। अतः कार्य-कारणकी शक्तिके अनुसार पहिले कालमें होनेवाली विवक्षा बुद्धकी वचन प्रवृत्तिका कारण है। जैसे कि गोत्रस्खलनमें प्रायः देखा जाता है। कभी कभी हम बोलना कुछ चाहते हैं और मुखसे अन्य ही

शब्द निकल जाता है। रक्षित वाणीका बिना इच्छाके असमयमें च्युत होजाना इसको गोत्रस्खलन कहते हैं। देवदत्त शब्दके कहनेकी इच्छा होनेपर मुखसे जिनदत्त शब्द निकल गया। यहां पहिले कभी हुयी जिनदत्तके कहनेकी इच्छा इसका कारण मानी जाती है क्योंकि इस समय तो देवदत्त बोलनेकी इच्छा है जिनदत्त कहनेकी इच्छा नहीं है किन्तु जिनदत्त शब्द मुखसे निकल गया है। बिना इच्छाके हमारे वचन हो नहीं सकते हैं। अतः दस दिन पूर्वकी इच्छा भी कारण हो सकती है। नष्ट हुए पदार्थ या भविष्यके गर्भमें पडे हुए असत्यपदार्थोंको भी हम कारण मान लेते हैं। यहां तक सौगत कह चुके हैं अब आचार्य कहते हैं कि—

तदयुक्तम्। गोत्रस्खलनस्य तत्कालविवक्षापूर्वकत्वप्रतीतेः, तद्धि पद्मावतीतिवचनकाले वासवदत्तेतिवचनम्। न च वासवदत्ताविवक्षा तद्वचनहेतुरन्यदा च तद्वचनमिति युक्तम्। प्रथमं पद्मावतीविवक्षा हि वत्सराजस्य जाता तदनन्तरमाश्वेवात्यन्ताभ्यासवशाद्वासवदत्ताविवक्षा तद्वचनं चेति सर्वजनप्रसिद्धम्। कथमन्यथान्यमनस्केन मया प्रस्तुतातिक्रमेणान्यदुक्तमिति संप्रत्ययः स्यात्। तथा च कथमतीतविवक्षापूर्वकत्वे सुगतवचनस्य गोत्रस्खलनमुदाहरणं येन विवक्षामन्तरेणैव सुगतवाचो न प्रवर्तेरन् सुषुप्तवचोवत् प्रकारान्तरासंभावात्।

उक्त प्रकार बौद्धोंका कहना युक्तियोंसे रहित है कारण कि गोत्रस्खलनमें होनेवाली वचनप्रवृत्तिका उसी कालमें अव्यवहित पूर्व होनेवाली विवक्षाको कारणपना प्रतीत हो रहा है। उस गोत्रस्खलनका कथासरित्सागरमें उपाख्यान प्रसिद्ध ही हैं, चन्द्रवंशी वत्सराज नामक राजाके पद्मावती बोलते समय वासवदत्ता यह शब्द निकल गया था। बौद्धोंके कथनानुसार पूर्वकालकी वासवदत्ता कहनेकी इच्छा वासवदत्ता शब्द बोलनेमें कारण होवे और वचनप्रवृत्ति पीछे होवे। इस तरह भिन्नकालीन पदार्थोंका कार्यकारणभाव मानना युक्त नहीं है। यह बात सम्पूर्ण मनुष्योंमें प्रसिद्ध है कि वत्सराजके पद्मावती कहनेकी पहिले इच्छा हुयी उसके बाद शीघ्र ही अत्यन्त अभ्यासके वशसे वासवदत्ता कहनेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। उस समयकी इच्छासे ही वह वासवदत्ता शब्द कहा गया है। यदि ऐसा न मानकर अन्य प्रकारसे माना जावे तो लोगोंको यह अच्छा निर्णय कैसे हो जाता कि मेरा चित्त दूसरी तरफ लग गया था इस कारण मैंने प्रस्तावप्राप्त प्रकृत विषयका अतिक्रमण करके दूसरी ही बात कह दी है। इससे सिद्ध होता है कि जो शब्द निकलते हैं। उनकी इच्छा शीघ्र ही अव्यवहित पूर्वकालमें उत्पन्न हो चुकी है। तभी तो अनुव्यवसाय हुआ। ऐसा सिद्ध होनेपर सुगतकी वचनप्रवृत्तिका भूतकालीन इच्छाको कारण माननेमें गोत्रस्खलनका उदाहरण कैसे घटित हुआ ? यानी यह दृष्टांत ठीक नहीं है। जिससे कि विवक्षाके विना भी सुगतके वचन प्रवर्तित न हो सकेंगे अर्थात् सोते हुए पुरुषके वचन विना इच्छाके जैसे पैदा हो जाते हैं उसी प्रकार विना इच्छाके सुगतके वचन भी प्रवृत्त हो जाते हैं। यह मान लेना चाहिये। दूसरा कोई उपाय सम्भवता नहीं है।

नहि सुषुप्तस्य सुषुप्तदशायां विवक्षासंवेदनमस्ति तदभावप्रसंगात् ।

सोता हुआ पुरुष कभी कभी अंटसंट बडबडाने लगता है। उस समय उसके बोलनेकी इच्छा नहीं है। यदि बोलनेकी इच्छा होती तो अवश्य उस इच्छाका ज्ञान होता। आत्माके सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञान आदि परिणाम संवेदनात्मक हैं। जैसे कि घट, पट, आदिके होनेपर भी उनके जाननेमें हम विलम्ब करलेते हैं या नहीं भी जानते हैं। उस प्रकार दुःखके जाननेमें आत्मा विलम्ब नहीं करता है अथवा नहीं जानना चाहे सो भी नहीं, दुःख उत्पन्न हो जाय और आत्मा यह विचारे कि हे दुःख ? तुम ठहर जाओ। हम तुमको घंटेभर बाद जानेंगे। यह अशक्य है। सुख दुःख आदिक उत्पन्न होते ही अपना ज्ञान करा देते हैं। इच्छा भी अपना ज्ञान करानेवाली पर्याय है। इच्छाके उत्पन्न होते ही उसका ज्ञान अवश्य हो जाता है किन्तु गाढनिद्रासे सोते हुए मनुष्यके सोती हुयी अवस्थामें बोलनेकी इच्छाका ज्ञान नहीं है। इस कारण हम जानते हैं कि उस समय इच्छा नहीं ही है। यदि इच्छा होती तो उसका ज्ञान अवश्य हो जाता और इच्छाके ज्ञान होनेपर वह सुप्तावस्था नहीं बन सकेगी। इच्छाका वेदन करना जागती अवस्थाका काम है। सचेतन होते रहना और सोजानेका विरोध है।

पश्चादनुमानान्तरविवक्षासंवेदनमिति चेत् न, लिंगाभावात् वचनादिर्लिंगमिति चेत्, सुषुप्तवचनादिर्जाग्रद्वचनादिर्वा ? प्रथमपक्षे व्याप्त्यसिद्धिः, स्वतः परतो वा सुषुप्तवचनादेर्विवक्षापूर्वकत्वेन प्रतिपत्तुमशक्तेः ।

शयनके पीछे उठनेपर दूसरे अनुमानोंसे उस समयकी बोलनेकी इच्छाका अच्छा ज्ञान होना मानोगे, सो तो ठीक नहीं है क्योंकि सोते हुए जीवकी वचनप्रवृत्तिको अनुमानप्रमाणसे इच्छापूर्वकपना सिद्ध करनेवाला कोई अच्छा हेतु नहीं है।

यदि बौद्ध मन, वचन और शरीरकी चेष्टा आदिको इच्छा सिद्ध करनेके लिये हेतु मानेंगे तो हम पूंछते हैं कि "सोते हुए पुरुषके वचन आदिको हेतु मानोगे या जागते हुए पुरुषके वचन अथवा चेष्टाको हेतु स्वीकार करोगे" ? बताओ पहिला पक्ष स्वीकार करनेपर व्याप्तिकी सिद्धि नहीं है क्योंकि सोते हुए पुरुषके वचन आदिक तो विवक्षापूर्वक ही होते हैं। इस व्याप्तिको अपने आप अथवा दूसरेके द्वारा कोई समझ नहीं सकता है कारण कि सोता हुआ जीव उक्त व्याप्तिको कैसे ग्रहण करेगा ? वह तो सो रहा है और जागता हुआ मनुष्य भी सोते हुए की वचन प्रवृत्तिका इच्छापूर्वक होना कैसे जान सकता है ? वहतो व्याघात दोष है जिससे कि वह पीछेसे सोते हुए को कह देवे कि तुम्हारे सोते समय वचन इच्छापूर्वक निकले थे। यह तो वैसी ही विषम समस्या है कि जैसे कोई मनुष्य यह विचार करे कि मेरी मृत्युके बाद घरकी व्यवस्था कैसी रहती है ? इस बातको मैं अपनी जीवित अवस्थामें ही जान जाऊं।

जाग्रद्वचनादिस्तु न सुषुप्तविवक्षापूर्वको दृष्ट इति तद्गमक एव, सन्निवेशादि-वज्जगत्कृतकत्वसाधने यादृशामभिनवकूपादीनां सन्निवेशादिर्धीमत्कारणकं दृष्टं तादृशाम-दृष्टधीमत्कारणानामपि जीर्णकूपादीनां तद्गमकं नान्यादृशां भूधरादीनामिति ब्रुवाणो यादृशां जाग्रदादीनां विवक्षापूर्वकं वचनादि दृष्टं तादृशामेव देशान्तरादिवर्तिनां तत्तद्गमकं नान्यादृशां सुषुप्तादीनामिति कथं न प्रतिपद्यते ?।

यदि दूसरा पक्ष लोगे कि " जागृत अवस्थाके वचन और चेष्टासे सोते हुए के वचन भी इच्छा-पूर्वक सिद्ध कर लिये जावेंगे "। यह आप बौद्धोंका हेतु भी उस साध्यका गमक कैसे भी नहीं है, क्योंकि क्या जागते हुएके वचनादि गाढ सोते हुए पुरुषकी विवक्षापूर्वक देखे गये हैं ? अर्थात् नहीं, अतः व्याप्ति नहीं बनी और आपका जागती हुयी अवस्थाका वचनरूप हेतु तो सोती हुयी दशाकी इच्छा सिद्ध करनेमें व्यधिकरण है। जैसे कि कोई कहे कि हवेली धौली (सफेद) है क्योंकि कौवा काला है। यह असमशस्त है।

यदि इसी प्रकार ऊटपटांग अनुमान बनाये जावेंगे तब तो सोते हुए पुरुषके इच्छा सिद्ध करनेके समान नैयायिकोंकी ओरसे ईश्वरको जगत्का कर्तापन सिद्ध करनेमें दिये गये विशिष्ट सन्नि-वेश, कार्यत्व और अचेतनोपादानत्व हेतु भी समीचीन होजावेंगे देखिये।

नैयायिक कहते हैं कि जैसे नवीन कुएं, कोठी, किले आदिको देखकर पुराने महल, कुएं आदिका भी बुद्धिमान् कारीगरोंके द्वारा बनाया जाना सिद्ध कर लेते हो, उसी प्रकार पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, पहाड, बन, आदि सबका बनानेवाला भी ईश्वर है क्योंकि पृथ्वी आदि कार्य हैं तथा इनके उपादान कारण अचेतन परमाणु हैं। वे परमाणु किसी चेतन प्रयोक्ताके विना समुचित कार्य नहीं बना सकते हैं और सूर्य, शरीर आदिमें चेतनके द्वारा की गयी विलक्षण रचना देखी जाती है। इस प्रकार नैयायिकके माने गये उक्त तीन हेतुओंको आप बौद्ध गमक नहीं मानते हैं। प्रत्युत (उल्टा) जगत्के कर्तापनका आप इस प्रकार खण्डन करते हैं कि जिस प्रकारके नवीन कूप, गृह आदिका कार्यपना या रचनाविशेष इस असर्वज्ञ, शरीरी बुद्धिमान्के द्वारा किया गया देखा है। उसी प्रकारके और नहीं दीख रहे हैं बुद्धिमान् कर्ता जिनके ऐसे पुराने कुएं, खण्डहर आदिकोंका भी रचनाविशेष हेतु झट उस बनानेवाले चेतन कर्ताकी सिद्धि करा सकता है किन्तु जीर्ण कुएं आदिसे सर्वथा अन्य प्रकारके विसदृश शरीर, पर्वत, आदिके चेतन कर्ताको कैसे भी सिद्ध नहीं करा सकता है ?

उक्त प्रकार नैयायिकोंके खण्डनमें बोलता हुआ बौद्ध इस बातको क्यों नहीं समझता है कि जिस प्रकार जागते हुए, शास्त्र बांचते हुए या स्तोत्र पाठ करते हुए मनुष्योंके वचन आदि कार्य

विवक्षापूर्वक देखे गये हैं । वे जागृतके वचन उसी प्रकारके देशान्तर कालान्तर आदिमें होनेवाले स्रोता, व्याख्याताओंके उन वचनोंको भी उस इच्छा पूर्वक सिद्ध कर सकते हैं किन्तु उनसे सर्वथा भिन्न होरहे नितान्त सोते हुए, मूर्च्छित पागल, अपस्मारी मनुष्योंके वचनोंको इच्छापूर्वक सिद्ध नहीं कर सकते हैं ।

तथा प्रतिपत्तौ च न सुगतस्य विवक्षापूर्विका वाग्वृत्तिः साक्षात्परम्परया वा शुद्धस्य विवक्षापायादन्यथातिप्रसंगात् ।

यदि इस प्रकार हमारे समझानेसे आप सोते हुए पुरुषोंके वचनोंको इच्छाके विना भी उत्पन्न हुए स्वीकार करते हैं तो सुगतके वचनोंकी प्रवृत्ति भी न तो साक्षात् इच्छापूर्वक हुयी है और न पूर्वकालकी इच्छासे परम्परा इच्छापूर्वक हुयी है यों इष्ट करना पडेगा । आप यह भी तो समझिये कि शुद्ध बुद्ध भगवान्‌के बोलनेकी संकल्प विकल्परूप इच्छाएं कैसे उत्पन्न हो सकती हैं ?। शुद्ध आत्मामें भी इच्छा मानी जावेगी तो मुक्तजीवके और आकाशके भी इच्छा होनेका प्रसंग आवेगा । जो कि आपको इष्ट नहीं है । यह अतिप्रसंग हुआ ।

सान्निध्यमात्रतस्तस्य चिन्तारत्नोपमस्य चेत् ।
कुड्यादिभ्योपि वाचः स्युर्विनेयजनसम्मताः ॥ ९२ ॥

बौद्ध कहते हैं कि " सुगतके वचन इच्छापूर्वक नहीं हैं, सुगतके केवल निकट रहनेसे ही वचन अपने आप बुल जाते हैं । जैसे कि चिंतामणि रत्नके समीप रहने मात्रसे रत्नकी इच्छा न होनेपर उसके सन्निधानमात्रसे मनुष्यको अभीष्ट वस्तुएं प्राप्त हो जाती है " । आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा मानेंगे तो सुगतके पास रहनेसे झोंपडी, भित्ति, स्तम्भ आदिसे भी विनययुक्त शिष्यजनोंके उपयोगी सम्मानित वचन निकलने चाहिये ।

सत्यं न सुगतस्य वाचो विवक्षापूर्विकास्तत्सन्निधानमात्रात् कुड्यादिभ्योऽपि यथाप्रतिपत्तुरभिप्रायं तदु तेश्चिन्तारत्नोपमत्वात्सुगतस्य, तदुक्तम् " चिन्तारत्नोपमानो जगति विजयते विश्वरूपोऽप्यरूपः " इति केचित् ।

इस कारिका भाष्य यों है कि सुगतके वचन, बोलनेकी इच्छापूर्वक नहीं हैं यह ठीक है । उस सुगतके विद्यमान रहने मात्रसे समझनेवाले शिष्यजनोंके अभिप्रायके अनुसार कुटी, भित्ति आदिसे भी वे वचन निकल पडते हैं । क्या हुआ ? क्योंकि सुगत भगवान् चिन्तामणि रत्नके सदृश हैं । चिंतामणि रत्न मांगनेवालोंके अभिप्रायानुसार केवल अपनी विद्यमानतासे ही विना इच्छाके छप्परमेंसे भी अभीष्ट पदार्थोंको निकाल देता है । वही हमारे ग्रंथोंमें लिखा है कि " यह बुद्ध

चिंतामणि रत्नके समान होता हुआ जगतमें जयवंत है । सम्पूर्ण अनेक रूप होनेपर भी स्वयं रूपरहित है अर्थात् स्वयं इच्छारहित है किंतु संसारवर्ती प्राणियोंको उनकी इच्छानुसार शुभ फल देनेवाला है " । ऐसा कोई बुद्धे बौद्ध कहते हैं ।

ते कथमीश्वरस्यापि सन्निधानाज्जगदुद्भवतीति प्रतिषेद्धुं समर्थाः, सुगतेश्वरयोरनुपकारकत्वादिना सर्वथा विशेषाभावात् तथाहि—

वे बौद्ध "ईश्वरके भी निकटमें विद्यमान रहने मात्रसे जगत् उत्पन्न हो जाता है" इस प्रकार नैयायिकोंके सिद्धांतका खण्डन करनेके लिये कैसे समर्थ हो सकते हैं ? बताओ सुगतके उदासीन रूपसे विद्यमान होनेपर उपदेश हो जाता है यह अन्वय ईश्वरके होनेपर जगत् उत्पन्न हो जाता है यहां भी विद्यमान है । सुगतका जगत्के प्राणियोंके साथ उपकृत–उपकारक भाव नहीं है । वैसा ही नित्य कूटस्थ ईश्वरका भी जगत्के साथ कोई उपकार्य–उपकारक भाव नहीं है क्योंकि प्राणियोंकी तरफसे आये हुए उपकारका सुगतसे भेद माननेपर या सुगतकी तरफसे गये हुए प्राणियोंके ऊपर उपकारका भेद माननेपर अनवस्था दोष आता है । स्वस्वामि सम्बन्धकी विवक्षा भिन्न उपकारोंकी आकांक्षा बढती जावे । और अभेद माननेपर सभी प्राणी सुगतके कार्य हुए जाते हैं । यही बात ईश्वरमें भी लागू होती है । अतः उपकारक न होकर विना इच्छाके ही ईश्वर जगत्को बना देवेगा । यह मान लो, तथा सुगतके द्वारा उपदेशको देनेमें और ईश्वरके द्वारा जगत्की उत्पत्ति करनेमें आपके मंतव्यानुसार सभी प्रकारोंसे कोई अन्तर नहीं है । इसी बातको प्रसिद्ध कर दिखलाते हैं । सुनिये, ।

किमेवमीश्वरस्यापि सांनिध्याज्जगदुद्भवत् ।
निषिध्यते तदा चैव प्राणिनां भोगभूतये ॥ ९३ ॥

कण्ठ, तालु, व्यापार और इच्छाके विना ही केवल सुगतकी निकटतामात्रसे ही वचन प्रवृत्ति मानोगे तब तो इसी प्रकार ईश्वरकी समीपतासे जगत् उत्पन्न हुआ क्यों न माना जावे ? देखिये ! संसारवर्ती प्राणियोंके पुण्य, पाप विना फल दिये हुए नष्ट हो नहीं सकते हैं और पुण्य पापके नाश किये विना मोक्ष नहीं हो सकती है इस कारण भोग भुगवानेके लिये ईश्वर उस समय प्राणियोंके शरीर इंद्रियां, स्वामीपन, दरिद्रता आदिको बनाता है । नित्य व्यापक ईश्वरके होनेपर कार्यसमुदाय होता रहता है इस अन्वयसे प्रसिद्ध होरहे ईश्वरका फिर आप निषेध क्यों करते हैं ? आपने सुगतको चिन्तामणि रत्नकी उपमा दी है किंतु ईश्वरवादियोंने कार्यकारणभावकी कुछ रक्षा करते हुए ये दृष्टांत दिये हैं कि जैसे हजारों गज लम्बे तंतुओंको एक चावल बराबर मकडी उत्पन्न कर देती है या एक रुपयाभरकी चंद्रकांतमणि चंद्रोदय होनेपर हजारों मन पानी निकाल

देती है अथवा वट वृक्षका अत्यल्प बीज महावृक्षको स्वशक्तिसे उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार ईश्वर संसारभरको बना देता है। उक्त तीनों दृष्टांत भी बौद्धोंके दृष्टांतके समान हैं। प्रत्युत और भी बढे चढे हैं ॥

सर्वथानुपकारित्वान्नित्यस्येशस्य तन्न चेत् ।
सुगतस्योपकारित्वं देशनासु किमस्ति ते? ॥ ९४ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि सर्वप्रकारसे कूटस्थ नित्य माने गये ईश्वर अनेक कार्योंका उपकारक नहीं हो सकता है। जो कार्योंकी तरफसे या निमित्तकारणोंसे अतिशय लेता देता है। वही परिणामी पदार्थ उपकारक माना गया है। इस प्रकार ईश्वरको कर्तापन सिद्ध नहीं हो सकता है। अनुपकारक अवस्थामें ईश्वरके ये कार्य हैं यह षष्ठीसम्बन्ध भी नहीं घटता है। यदि बौद्ध यों कहेंगे तो हम कहते हैं कि तुम्हारे यह क्षणवर्ती सुगतका मोक्षमार्गके उपदेशोंमें क्या उपकारीपन है? बताओ अर्थात् क्षणिक पदार्थमें भी सुगतके उपदेशोंका कर्तापन सिद्ध नहीं है। वह उपदेश बुद्धदेवका है। या संबन्धवाचक षष्ठी विभक्ति भी नहीं उतरती है।

तद्भावभाविमात्रात्तस्य ता इति चेन्मतम् ।
पिशाचादेस्तथैवैताः किं न स्युरविशेषतः ॥ ९५ ॥

बुद्धके होनेपर मोक्षमार्गकी देशनाएं होती हैं। इस अकेले अन्वयसे वे उपदेश उस सुगतके कहे जा सकते हैं यदि ऐसा तुम्हारा मंतव्य है तो उसी प्रकार अन्वय तो पिशाच, भूत आदिके साथ भी है, पिशाच आदिकी तटस्थ आत्माके होनेपर ये देशनायें हुयी हैं। अतः सुगतके समान पिशाच आदिके भी ये उपदेश क्यों नहीं हो सकते हैं?, उपदेश देनेमें कुछ भी व्यापार न करना सुगत और पिशाच आदिमें अंतररहित समान है।

तस्यादृश्यस्य तद्धेतुभावनिश्चित्यसम्भवे ।
सुगतः किं न दृश्यस्ते येनासौ तन्निबन्धनम् ॥ ९६ ॥

यदि बौद्ध यों कहेंगे कि "वे पिशाच आदि तो दीखनेमें नहीं आते हैं इस कारण केवल अन्वय होनेसे पिशाच आदिको उन उपदेशोंकी कारणताका निश्चय करना असम्भव है"। तब तो हम जैन कहते हैं कि "आपका माना हुआ बुद्धदेव क्या देखनेमें आता है? बताओ जिससे कि वह बुद्ध उन उपदेशोंका कारण मान लिया जावे, अर्थात् वह बुद्ध भी उपदेशका कारण नहीं हो सकता है"।

ततोऽनाश्वास एवैतद्देशनासु परीक्षया।
सतां प्रवर्त्तमानानामिति कैश्चित्सुभाषितम् ॥ ९७ ॥

उस कारणसे यह सिद्ध हुआ कि परीक्षा करके प्रवृत्ति करनेवाले सज्जनोंको बुद्धके इन उपदेशोंमें कैसे भी विश्वास नहीं है । इस प्रकार जो बौद्धोंके प्रति किन्ही वादियोंने कहा था वह बहुत ही अच्छा भाषण था ।

तदेवं न सुगतो मार्गस्योपदेष्टा प्रमाणत्वाभावादीश्वरवत्, न प्रमाणमसौ तत्त्वपरिच्छेदकत्वाभावाद्वद्वत्, न तत्त्वपरिच्छेदकोऽसौ सर्वथार्थक्रियारहितत्वात्तद्वदेव, न चार्थक्रियारहितत्वमसिद्धं क्षणिकस्य क्रमाक्रमाभ्यां तद्विरोधान्नित्यवत् ।

उस कारण उक्त कथनसे इस प्रकार सिद्ध हुआ कि बुद्ध मोक्षमार्गका उपदेशक नहीं है (प्रतिज्ञा क्योंकि उसको प्रामाणिकपना नहीं है (हेतु) जैसे कि ईश्वर । (अन्वयदृष्टांत) इस अनुमानमें प्रयुक्त किया गया, हमारा प्रमाणत्वाभाव हेतु असिद्ध नहीं है । उसका साधक यह अनुमान है कि यह सुगत (पक्ष) प्रामाणिक नहीं है (साध्य) क्योंकि ठीक ठीक तत्त्वोंका जाननेवाला नहीं है (हेतु) जैसे कि वही ईश्वर । (अन्वयदृष्टांत) दूसरे अनुमानमें दिये गये हेतुको सिद्ध करते हैं कि वह सुगत तत्त्वोंका यथार्थरूपसे जाननेवाला नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि सर्वप्रकारसे जानना आदि अर्थक्रियाओं करके रहित है (हेतु) जैसे कि वही नैयायिकोंका माना गया ईश्वर । इस अनुमानमें दिया गया अर्थक्रियारहितत्व हेतु भी असिद्ध नहीं है कारण कि एक क्षणवर्ती पदार्थके क्रमसे या युगपत् अर्थक्रियाएं होनेका विरोध है । जैसे कि सर्वथा नित्यपदार्थ किसी भी अर्थक्रियाको नहीं करता है । उसी प्रकार क्षणिक पदार्थ भी हिंसा, दान, शयन, भोजन आदि क्रियाओंको नहीं कर सकता है । पूर्वस्वभावका त्याग, उत्तर स्वभावोंका ग्रहण और द्रव्यरूपसे या स्थूल पर्यायपनेसे स्थिर ऐसे परिणामी पदार्थके ही अर्थक्रियाएं होना बनता है ।

स्यान्मतं संवृत्यैव सुगतः शास्ता मार्गस्येष्यते न वस्तुतश्चित्राद्वैतस्य सुगतत्वादिति, तदसत् सुतरां तस्य शास्तृत्वायोगात् । तथाहि—

यह भी चित्र विचित्र ज्ञानका अद्वैत माननेवाले बौद्धका मत रहो कि हम बौद्ध विद्वान् व्यवहारसे ही सुगतको मोक्षमार्गका उपदेष्टा स्वीकार करते हैं परमार्थसे नहीं, क्योंकि वास्तवमें देखा जाय तो विचित्र नानाआकार वाले ज्ञान ही संसारमें अकेले भरे हैं । सम्पूर्ण संसार ज्ञानरूप है । बुद्ध भी चित्राद्वैतस्वरूप है । इस प्रकार चित्राद्वैतवादियोंका वह कहना प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि विना प्रयत्नके अपने आप ही आपके अद्वैत मतमें सुगतको मोक्षका शासकपन नहीं बनता है । इस बातको प्रसिद्ध कर कहते हैं—

चित्राद्यद्वैतवादे च दूरे सन्मार्गदेशना।
प्रत्यक्षादिविरोधश्च भेदस्यैव प्रसिद्धितः ॥ ९८ ॥

चित्र विचित्र आकारवाले अकेले ज्ञानोंको ही माननेवाले चित्राद्वैतवादी हैं। एवं ग्राह्य, ग्राहक, कार्य, कारण आदि भावोंको रखते हुए क्षणिक ज्ञानोंको माननेवाले विशिष्टाद्वैतवादी हैं। तथा ग्राह्य-ग्राहकभाव आदिसे रहित होकर शुद्ध ज्ञानका ही प्रकाश माननेवाले शुद्ध संवेदनाद्वैतवादी हैं। ज्ञान, ज्ञेय आदि सबका लोप करनेवाले शून्यवादी हैं। इन चित्र आदिकके अद्वैतवादमें श्रेष्ठ मार्गका उपदेश देना तो लाखों कोस दूर है क्योंकि अद्वैतवादमें कौन उपदेशक है और कौन उपदेश. सुननेवाला है? क्या शब्द है इत्यादि व्यवस्था नहीं बनती है। और प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे घट, पट, देवदत्त, जिनदत्त, इहलोक, परलोक, पुण्य, पाप, बंध, मोक्ष आदि अनेक पदार्थ जब भेदरूपसे ही लोकमें प्रसिद्ध होकर प्रतीत होरहे हैं तब आपके अद्वैतवादका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ही विरोध आता है। भेदकी जगत्प्रसिद्ध प्रतीति होना प्रामाणिक है।

परमार्थतश्चित्राद्वैतं तावन्न संभवत्येव चित्रस्याद्वैतत्त्वविरोधात् तद्वद्बहिरर्थस्याप्यन्यथा नानैकत्वसिद्धेः।

वास्तवमें विचारा जावें तो सबसे पहिले चित्रका अद्वैत ही नहीं बन सकता हैं असम्भव है। विधवाका विवाह होना जैसे असंगत है। उसी प्रकार नाना आकारके पदार्थोंका एक अद्वैत नहीं होसकता है। जो नाना है वह अद्वैत नहीं, अद्वैतका अनेकपनसे और चित्रपनेका अद्वैत होनेसे विरोध है। उसीके समान बहिरंग घट, पट, सह्य, विन्ध्य आदि भी द्वैतपदार्थ भिन्न भिन्न हैं। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारसे मानोगे तो अनेक पदार्थ एकपनरूप सिद्ध होजावेंगे, अर्थात् स्वतन्त्र सत्तावाले एक एक होकर जीव, पुद्गल आदि अनेक पदार्थ हैं, जोकि प्रथमसे ही प्रसिद्ध हैं।

स्यान्मतं चित्राकाराप्येका बुद्धिर्बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्। शक्यविवेचनं हि बाह्यं चित्रमशक्यविवेचना स्वबुद्धेर्नीलाद्याकारा इति। तदसत्।

चित्राद्वैतवादियोंका यह भी मन्तव्य होसकता है कि अनेक आकारोंको धारण करनेवाली चित्रबुद्धि भी एक ही है क्योंकि बुद्धिके भिन्न भिन्न आकार तो चित्रपट, इन्द्रधनुष्य, तितली आदिके बहिरंग विचित्र आकारोंसे विलक्षण है। चित्रपट आदिके बहिरंग आकार नियमसे पृथक् पृथक् किये जा सकते हैं किन्तु बुद्धिके अपने नील, पीत आदि आकार न्यारे न्यारे नहीं किये जासकते हैं। यहांतक बौद्ध कह चुके हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह चित्राद्वैतवादियोंका कहना झूंठ है प्रशंसनीय नहीं है। कारण कि—

बाह्यद्रव्यस्य चित्रपर्यायात्मकस्याशक्यविवेचनत्वाविशेषाच्चित्रैकरूपतापत्तेः यथैव हि ज्ञानस्याकारास्ततो विवेचयितुमशक्यास्तथा पुद्गलादेरपि रूपादयः।

बहिरंग द्रव्योंमें भी अनेक रूप, रसके साथ तादात्म्य रखनेवाले चित्रपर्याय-स्वरूप पदार्थ हैं। जैसे कि पानीमें घुले हुए काले, पीले, नीले रंगोंका आकार भिन्न नहीं किया जाता है तथा ठण्डाईमें दूध, मिश्री, काली मिर्च, बादामके रसोंके आकारका भेदीकरण नहीं होता है, यों विवेचन नहीं कर सकना बहिरङ्ग, अन्तरङ्ग दोनोंमें समान है, इस कारण यहां भी चित्राद्वैतरूपसे या चित्राद्वैतरससे एकपनका प्रसंग हो जावेगा। यह बौद्धोंके ऊपर आपादन है जैसे ही चित्रज्ञानके आकार ज्ञानसे भिन्न भिन्न रूप होकर नहीं जाने जाते हैं या न्यारे नहीं किये जा सकते हैं। उसी प्रकार पुद्गलद्रव्यके रूप, रस आदिक और आत्मद्रव्यके चेतना, सुख, उत्साह आदि भी पृथक् नहीं किये जा सकते हैं, कोई अन्तर नहीं है। एतावता क्या इनका चित्राद्वैत बन जावेगा ? किंतु नहीं।

नानारत्नराशौ बाह्ये पद्मरागमणिरयं चन्द्रकान्तमणिश्चायमिति विवेचनं प्रतीतमेवेति चेत्, तर्हि नीलाद्याकारैकज्ञानेऽपि नीलाकारोऽयं पीताकारश्चायमिति विवेचनं किन्न प्रतीतम् ? ।

यदि चित्राद्वैतवादी यों कहें कि बहिरंग पदार्थोंमें तो न्यारे न्यारे आकार जान लिये जाते हैं देखिये, नाना रंगकी मणियोंके एक स्थानमें विद्यमान (मौजूद) रहनेपर यह लाल लाल पद्मराग मणिका प्रकाश है और यह पीला पीला चन्द्रकान्तमणिका प्रतिभास है। तथा यह हरा हरा पन्नाका आभास है, इसी प्रकार ठण्डाई पेय द्रव्यमें मिर्च अधिक हैं, मीठापन कम है आदि आकार पृथक् पृथक् प्रतिभासित हो ही जाते हैं। ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी कहेंगे कि तब तो समूहालम्बन ज्ञानमें या नील, पीत आदि आकारवाले एक चित्रज्ञानमें भी यह नीलका आकार है। ज्ञानमें इतना अंश पीतके आकारका है, ज्ञानमें इतनी हरितकी प्रमिति है, क्या यह पृथक् रूपसे विचार करना ज्ञानमें नहीं प्रतीत हुआ है ? अर्थात् चित्रज्ञानमें भी भिन्न भिन्न प्रतीति हो रही हैं।

चित्रप्रतिभासकाले तन्न प्रतीयत एव पश्चात्तु नीलाद्याभासानि ज्ञानान्तराण्यविद्योदयाद्विवेकेन प्रतीयन्त इति चेत्, तर्हि मणिराशिप्रतिभासकाले पद्मरागादिविवेचनं न प्रतीयत एव, पश्चात्तु तत्प्रतीतिरविद्योदयादिति शक्यं वक्तुम्।

बौद्ध बोल रहे हैं कि नाना आकारवाले चित्रज्ञानके प्रतिभास करते समय वह पृथक् पृथक् आकारोंका विवेचन प्रतीत नहीं होरहा ही है, हां पीछे तो मिथ्या, वासनाओंसे जन्य अविद्याके उदय होनेपर नील, पीत, आदिकको जाननेवाले दूसरे झूंठे झूंठे ज्ञान भिन्न भिन्न रूपसे उन आकारोंको

जानते हुये प्रतीत होरहे हैं। प्रमाणात्मक सच्चा ज्ञान तो अनेक आकारोंका अभिन्न रूपसे ही जानता है। आचार्य कहते हैं कि यदि आप बौद्ध ऐसा कहोगे तो माणिक, पन्ना, नील, हीरा आदि मणियोंका समुदाय रूपसे प्रतिभास करते समय यह पद्मराग मणीकी लाल प्रभा भिन्न है, यह नीली कान्ति न्यारी है आदि इस प्रकार भेदज्ञान नहीं प्रतीत होता है किन्तु यहां भी अनेक रूपोंकी संकीर्ण पर्यायोंमें पीछेसे अविद्याके उदय होनेपर उस भेदविज्ञानको प्रतीत कर लिया जाता है। ऐसा हम भी कह सकते हैं। हम जैनोंका आपादन आपके ऊपर ठीक जम गया है।

मणिराशेर्देशभेदेन विभजनं विवेचनमिति चेत् भिन्नज्ञानसन्तानराशेः समम्।

मणियोंकी राशिका तो भिन्न देशकी अपेक्षासे विभाग करनारूप विवेचन हो सकता है आप बौद्ध यदि ऐसा कहोगे तो भिन्न भिन्न देवदत्त, जिनदत्तके ज्ञानसन्तानसमुदायका भी देशभेदसे विभाग हो सकता है। दोनों समान है फिर आपका चित्राद्वैत कहां रहा ?।

एकज्ञानाकारेषु तदभाव इति चेत् एकमण्याकारेष्वपि।

पुनः भिन्न ज्ञानसंतानोंमें देश भेद भले ही हो जाय किंतु एक ज्ञानके आकारोंमें तो भेद नहीं हुआ यदि आप यों कहेंगे तो हम भी कहते हैं कि अनेक मणियोंके संसर्ग होनेपर या सूर्य और दीपकके निकट होनेपर अनेक पैलुवाली एक मणिके परिणत हुए नाना आकारोंमें भी पृथक् भाव नहीं है। परस्पर सन्निधान होनेपर निमित्त नैमित्तिक भावसे एक मणिकी भी इंद्रधनुषके समान अनेक दीप्तियां हो जाती हैं।

मणेरेकस्य खण्डने तदाकारेषु तदस्तीति चेत्। ज्ञानस्यैकस्य खण्डने समानम्।

एक मणिके टुकडे करनेपर उसके नाना आकारोंमें वह भेदीकरण हो जाता है। यदि ऐसा कहोगे तब तो एक चित्रज्ञानके खण्ड करनेपर " यह नील आकार है " और यह पीत आकार है " यह भी भेद किया जा सकता है। मणिका दृष्टांत समान है।

पराण्येव ज्ञानानि तत्खण्डने तथेति चेत्। पराण्येव मणिखण्डद्रव्याणि मणिखण्डने तानीति समानम्।

फिर भी यदि आप बौद्ध यों कहेंगे कि उस चित्रज्ञानका खण्ड करनेपर तो दूसरे दूसरे अनेक ज्ञान इस प्रकार वैसे उत्पन्न होगये हैं तो हम भी कहते हैं कि मणिके खण्ड करनेपर भी वे भिन्न भिन्न मणिद्रव्यके खण्ड दूसरे ही बन गये हैं। यों फिर भी समानता ही रही।

नन्वेवं विचित्रज्ञानं विवेचयन्नर्थे पततीति तदविवेचनमिति चेत्, तर्हि एकत्वपरिणतद्रव्याकारानेवं विवेचयन्नानाद्रव्याकारेषु पततीति तदविवेचनमस्तु, ततो यथैकज्ञानाकाराणा-

मशक्यविवेचनत्वं तथैकपुद्गलादिद्रव्याकाराणामपीति ज्ञानवद्बाह्यमपि चित्रं सिद्ध्यत्कथं प्रतिषेध्यं येन चित्राद्वैतं सिद्ध्येत् ।

यहां चित्राद्वैतवादीका स्वपक्षके अवधारण पूर्वक कहना है कि इस प्रकार विचित्र आकारवाले एक ज्ञानका टुकडा किया जावेगा तो वह खण्ड करना ज्ञानके विषयभूत अर्थोंमें पडता है। क्या घट, पट, पुस्तकको एकदम जाननेवाले समूहालम्बन ज्ञानके टुकडे हो सकते हैं ? यदि कोई आहार्य बुद्धिसे टुकडे करेगा भी तो समूहालम्बनके विषयोंपर वह भेद करना पडेगा । इस कारण चित्रज्ञानके आकारोंमें भी भेदकरण नहीं होता है । इसपर आचार्य कहते हैं कि तब तो इस प्रकार मणिके अवयवोंसे एकत्वरूप बन्धनको प्राप्त होरहे मणिद्रव्यके आकारोंका भी विवेचन करना, उसी प्रकार मणिखण्डरूप नानाद्रव्योंके आकारोंमें पडेगा। इस कारण एक मणिके उन आकारोंका भेद करण नहीं हो सकता है । अतः मणिका भी विवेचन न होओ । इस कारण एक ज्ञानके आकारोंका जैसे भेद करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार एक पुद्गल या एक आत्मा आदि द्रव्यके रूप, रस आदिक या ज्ञान सुख आदि आकारोंका भी यों भेदकरण नहीं हो सकता है । तथा च अतरंग ज्ञानके चित्राद्वैतके समान बहिरंग रूपाद्वैत, रसाद्वैत, शब्दाद्वैत, भोजनाद्वैत आदि भी चित्र सिद्ध होजावेंगे, एवं च सिद्ध होते होते अनेक अद्वैतोंके सिद्ध होने पर द्वैतवादका आप कैसे निषेध करोगे ? जिससे कि आपका चित्राद्वैत सिद्ध होजावे ।

न च सिद्धेपि तस्मिन् मार्गोपदेशनास्ति, तत्त्वतो मोक्षतन्मार्गादेरभावात् ।

यदि चित्राद्वैत आपके मतानुसार सिद्ध भी मानलिया जावे तो भी मोक्षमार्गका उपदेश नहीं हो सकता है क्योंकि अद्वैतवादमें वास्तविक रूपसे मोक्ष और उस मोक्षका मार्ग तथा उपदेशक, उपदेश्य आदिका अभाव है ।

संवेदनाद्वैते तदभावोऽनेन निवेदितः ।

इस चित्राद्वैत पक्षमें मोक्ष और उसके मार्ग तथा उपदेशका निराकरण करदेनेसे शुद्ध ज्ञानाद्वैतमें भी उस मोक्षमार्गके उपदेशका अभाव निवेदन करदिया है । शुद्ध ज्ञानाद्वैतवादी ज्ञानके ग्राह्याकार, ग्राहकाकार, नीलाकार, पीताकार आदि कोई भी अंश नहीं मानते हैं, " विचिर् पृथक्भावे " धातुका अर्थ है न्यारा न्यारा करना और " विचॢ विचारणे " का अर्थ विचार करना है, विशिष्टाद्वैतवादी ग्राह्य आकारोंका विचार करना अर्थ लेते हैं और शुद्धाद्वैतवादी पृथक् करना अर्थ ग्रहण करते हैं, एवं अद्वैतवादमें मोक्ष और मोक्षमार्गकी व्यवस्था कथमपि नहीं बनती है ।

प्रत्यक्षादिभिर्भेदप्रसिद्धेः तद्विरुद्धं च चित्राद्यद्वैतमिति सुगतमतादन्य एवोपशमविधेर्मार्गः सिद्धः ततो न सुगतस्तत्प्रणेता भवत् ।

तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोंसे घट, पट, देवदत्त, जिनदत्त, सह्य, विन्ध्य आदि भेद प्रसिद्ध हो रहे हैं, अतः आपका वह चित्राद्वैत और संवेदनाद्वैत आदिका प्रतिपादन प्रमाणोंसे विरुद्ध है। इस प्रकार सुगतमतसे भिन्न ही कोई दूसरा शान्तिविधानका उपाय सिद्ध हुआ। अर्थात् अर्हन्तदेव ही सांसारिक दुःखोंकी शान्तिका मार्ग उपदिष्ट करते हैं। इस कारण अब तक सिद्ध हुआ कि बुद्ध उस मोक्षमार्गका प्रणयन करनेवाला नहीं है। जैसे कि ब्रह्माद्वैतवादियोंका सत्तारूप परब्रह्म मोक्षमार्गका उपदेष्टा नहीं है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च मोचकः।
न बन्धोऽस्ति न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥ ९९ ॥
न ब्रह्मवादिनां सिद्धा विज्ञानाद्वैतवत्स्वयम्।
नित्यसर्वगतैकात्माप्रसिद्धेः परतोऽपि वा ॥ १०० ॥

ब्रह्माद्वैतवादी भी तो यही कहते हैं कि न किसीका नाश है और न किसीकी उत्पत्ति है, न कोई जीव बन्धा हुआ है और न कोई दूसरा जीव मोक्ष प्राप्त कर रहा है। न बन्ध है और न मोक्ष। उक्त प्रकार भेदोंका निषेध करना ही वास्तविक पदार्थ है। इस प्रकार ब्रह्माद्वैतवादियोंके मतमें विज्ञानाद्वैतवादियोंके समान परमार्थपना नहीं बन सकता है क्योंकि वह नित्य, सर्वव्यापक, एक, सत्तारूप, परब्रह्म अपने आप तो स्वतः प्रसिद्ध नहीं है और न अद्वैतवादियोंके मतमें दूसरे अनुमान, हेतु आदि परपदार्थसे आत्माऽद्वैतकी प्रसिद्धि हो सकती है। क्योंकि वे आत्मासे अतिरिक्त दूसरा पदार्थ स्वीकार नहीं करते हैं।

न हि नित्यादिरूपस्य ब्रह्मणः स्वतः सिद्धिः क्षणिकानंशसंवेदनवत्, नापि परतस्त-स्यानिष्टेः अन्यथा द्वैतप्रसक्तेः।

न तो नित्य व्यापक एक ब्रह्मकी अपने आपही ज्ञप्ति हो सकती है, जैसे कि बौद्धोंके क्षणिक और अंशोंसे रहित ज्ञानाद्वैतकी अपने आप सिद्धि नहीं होपाती है। और दूसरोंसे भी ब्रह्म की ज्ञप्ति नहीं होती है। कारण कि ब्रह्माद्वैतवादियोंके मतमें वह परपदार्थ इष्ट नहीं किया गया है, अन्यथा यानी अन्य प्रकारसे यदि दूसरे पदार्थको साधक मानोगे तो द्वैतवादका प्रसंग आजावेगा।

कल्पितादनुमानादेः तत्साधने न तात्त्विकी सिद्धिर्यतो निरोधोत्पत्तिबद्धमोचकब-न्धमुक्तिरहितं प्रतिभासमात्रमास्थाय मार्गदेशना दूरोत्सारितैवेत्यनुमन्यते।

यदि अद्वैतवादी थोडी देरके लिए अनुमान, हेतु और वेदवाक्यों आदिकी भिन्न स्वरूप कल्पना करके उस कल्पित अनुमान आदिसे उस ब्रह्माद्वैतकी सिद्धि करेंगे ऐसी दशामें तो ब्रह्मकी

वास्तविक सिद्धि न हो सकेगी। कल्पित धूमसे परमार्थ अग्निकी सिद्धि नहीं होती है। जिससे कि उत्पाद, व्यय, बद्ध बन्धक, मोचक, बन्ध और मोक्षसे रहित हो रहे केवल प्रतिभास सामान्यकी श्रद्धासे मोक्षमार्गके उपदेशोंका दूर फेंकना ही यों स्वीकार कर लिया जावे। अर्थात् बन्ध, मोक्ष आदिसे रहित केवल प्रतिभास चैतन्यकी वास्तविक सिद्धि होगयी होती तब तो द्वैतवादमें होनेवाले मोक्षमार्गके उपदेश देनेका भी दूर फैंक देना मान लिया जाता, किन्तु जब अद्वैत की सिद्धि ही नहीं हुयी तो द्वैतवादियोंके यहां मोक्षमार्गका उपदेश वास्तविक सिद्ध होजाता है।

तदेवं तत्त्वार्थशासनारम्भेऽर्हन्नेव स्याद्वादनायकः स्तुतियोग्योऽस्तदोषत्वात्। अस्तदोषोऽसौ सर्ववित्त्वात्। सर्वविदसौ प्रमाणान्वितमोक्षमार्गप्रणायकत्वात्।

इसलिये अबतकके उक्त प्रकरणसे इस प्रकार सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थशास्त्रके आरम्भमें स्याद्वाद श्रुतज्ञान सिद्धांतका बनानेवाला पथप्रदर्शक, नायक श्रीअर्हन्तदेव ही स्तवन करने योग्य है, क्योंकि वह अज्ञान, रागद्वेष आदि भावदोषोंसे और ज्ञानावरण आदि द्रव्य दोषोंसे रहित है। जिनेंद्र देवने तपस्या नामक प्रयत्नसे इन दोषोंका विनाश कर दिया है। इस अनुमानमें दिये गये हेतुको सिद्ध करते हैं कि वह जिनेंद्र (पक्ष) देव दोषोंको नष्ट कर चुका है (साध्य) क्योंकि वह युगपत् सम्पूर्ण पदार्थोंको जानता है (हेतु) इस हेतुको भी पुष्ट करते हैं कि वह जिनेंद्र देव सर्वज्ञ है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह प्रमाणोंसे युक्त मोक्षमार्गका प्रणयन करानेवाला है (हेतु) उक्त तीनों अनुमानोंसे " मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये " इस श्लोकके तीनों विशेषण सिद्ध कर दिये हैं।

ये तु कपिलादयोऽसर्वज्ञास्ते न प्रमाणान्वितमोक्षमार्गप्रणायकास्तत एवासर्वज्ञत्वान्नास्तदोषा इति न परीक्षकजनस्तवनयोग्यास्तेषां सर्वथेहितहीनमार्गत्वात् सर्वथैकान्तवादिनां मोक्षमार्गव्यवस्थानुपपत्तेरित्युपसंह्रियते।

उक्त अनुमानों में व्यतिरेक दृष्टान्त दिखलाते हैं कि जो कपिल, बुद्ध, ईश्वर आदि तो सर्वज्ञ नहीं हैं, वे प्रमाण—प्रतिपादनपूर्वक मोक्षमार्गके बनानेवाले भी नहीं हैं। और उस ही कारणसे जब वे मोक्षमार्गके बनानेवाले नहीं है उससे अनुमित होता है कि वे सर्वज्ञ भी नहीं है। सर्वज्ञ न होनेसे वे दोषोंके ध्वंस करनेवाले भी नहीं हैं। इस कारण परीक्षाप्रधानी पुरुषोंके स्तुति करने योग्य नहीं हैं। समव्याप्तिवाले साध्य हेतुओंको उलटा सीधा कर सकते हैं। उक्त तीनों अनुमानो में दिये गये हेतु ज्ञापक हेतु हैं। धूम अग्निके समान उलटा कर देनेसे ये कारक हेतु बनजाते हैं। जैसे कि अग्निका धूम ज्ञापक हेतु है। किन्तु धूमका अग्नि कारक हेतु है। वैसे ही दोषरहितपनेका सर्वज्ञत्व ज्ञापक हेतु है, किन्तु सर्वज्ञत्वका दोषरहितपना कारक हेतु है। ऐसे ही अन्यत्र समझ-

लेना। जब कि वे कपिलादिक अपने अभीष्ट मार्गसे सर्व प्रकार स्वयं च्युत होरहे हैं, क्यों कि सर्वथा क्षणिक, नित्य ज्ञानाद्वैत आदि एकान्तोंको प्रतिपादन करनेवालोंके मतमें मोक्षमार्गकी समीचीन व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है। अतः इस प्रकरणका अब उपसंहार किया जाता है।

ततः प्रमाणान्वितमोक्षमार्गप्रणायकः सर्वविदस्तदोषः।
स्याद्वादभागेव नुतेरिहार्हः सोऽर्हन्परे नेहितहीनमार्गाः ॥१०१॥

उस कारणसे प्रमाणोंके द्वारा निर्णीत हुए मोक्षमार्गका आद्य निर्माणकर्ता, सर्वज्ञ, दोषोंसे रहित और स्याद्वादसिद्धान्तका धारी अधिपति वह श्री जिनेन्द्रदेव अर्हन्त ही विचारशील साधुओंको इस ग्रन्थमें स्तवन करने योग्य है। दूसरे कपिल, सुगत आदिक तो अपने अभीष्ट मार्गसे अपने आप स्खलित हो रहे हैं। बुद्ध आदिके मतमे उनके मतानुसार ही संसारके दुःखोंसे मुक्त होनेका उपाय नहीं बनता है।

इति शास्त्रादौ स्तोतव्यविशेषसिद्धिः।

इस प्रकार तत्त्वार्थशास्त्रकी आदिमें कहेगये मंगल श्लोकद्वारा स्तवन करने योग्य विशिष्ट अर्हंत की सिद्धि कर दी है।

इस प्रकार आचार्य महाराजके द्वारा प्रतिपादन की गयी दूसरी वार्त्तिकका इस एक सौ एक वीं वार्त्तिकतक व्याख्यान करके संकोच किया गया है। अर्थात् सुगत आदि स्तुति करने योग्य नहीं हैं, किन्तु उनसे विशिष्टताको धारण करनेवाले श्रीअर्हन्त परमेष्ठी ही विद्वान् मुनीश्वरोंकी स्तुतिको धारण करने योग्य हैं, जोकि द्वितीय वार्त्तिकमें कहा गया था। पूर्वोक्त प्रकरणोंमें इसी बातको भाष्यसहित सिद्ध कर दिया है। उमास्वामी महाराजको " मोक्षमार्गस्य नेतारं " इत्यादि मंगलाचरण अभीष्ट है यह भी इससे ध्वनित होता है।

स्वसंवेदनतः सिद्धः सदात्मा बाधवर्जितात्।
तस्य क्ष्मादिविवर्तात्मन्यात्मन्यनुपपत्तितः ॥ १०२ ॥

अब तीसरी वार्तिकके अनुसार श्रेयोमार्गसे युक्त होनेवाले आत्माको साधते हैं सो सुनिये। जो ज्ञान सकल बाधकोंसे रहित है, वह प्रमाण है। प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका है। प्रत्यक्षके दो भेद हैं। सांव्यवहारिक और मुख्य। वहां सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाणका एक भेद स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी है। संसारी जीवोंका आत्मा तथा उसके ज्ञान आदि पर्यायें स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय हैं। जब सर्वदा बाधकोंसे रहित स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा आत्मा स्वयं सिद्ध होरहा है,

तब उस आत्माको पृथ्वी, अप्, तेज, वायु इन चार मूतोंका परिणाम स्वरूप कहना चार्वाकोंका अनुचित है। क्योंकि यदि पृथ्वी आदि चार तत्त्वोंका परिणाम आत्माको माना जावेगा तो ऐसे जड आत्मामें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष बन नहीं सकता है। पृथिवी आदिकके पर्याय घटादिकोंका बहिरिन्द्रिय जन्य और बाहिरकी तरफ जाननेवाला प्रत्यक्ष होता है। अन्तरंग तत्त्वोंके उन्मुख होकर आत्म सम्बन्धी पदार्थोंको जाननेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष पृथ्वी आदिके बने हुए जड आत्मामें नहीं होसकेगा।

क्षित्यादिपरिणामविशेषश्चेतनात्मकः सकललोकप्रसिद्धमूर्तिरात्मा ततोऽन्यो न कश्चित् प्रमाणाभावादिति कस्य सर्वज्ञत्ववीतरागत्वे मोक्षो मोक्षमार्गप्रणेतृत्वं स्तुत्यता मोक्षमार्गे प्रतिपित्सा वा सिद्ध्येत्। तदसिद्धौ च नादिसूत्रप्रवर्तनं श्रेय इति योप्याक्षिपति, सोऽपि न परीक्षकः स्वसंवेदनादात्मनः सिद्धत्वात्। स्वसंवेदनं, भ्रान्तमिति चेत्, न तस्य सर्वदा बाधवर्जितत्वात्। प्रतिनियतदेशपुरुषकालबाधवर्जितेन विपरीतसंवेदनेन व्यभिचार इति न मन्तव्यम्, सर्वदेति विशेषणात्।

न च क्ष्मादिविवर्तात्मके चैतन्यविशिष्टकायलक्षणे पुंसि स्वसंवेदनं संभवति, येन ततोर्थान्तरमात्मानं न प्रसाधयेत्।

चार्वाकका मन्तव्य है कि गुड पानी, पिठी, महुआके प्रयोग द्वारा मिश्रण विशेष होनेपर जैसे उन्मत्तता पैदा करनेवाली मदिरा नवीन बन जाती है, उसी प्रकार पृथिवी, अप्, तेज, वायु, के उचित रूपमें मिलनेपर विवर्त होते होते चेतन स्वरूप आत्मा उत्पन्न हो जाता है। चैतन्य शक्तिसे युक्त मूर्तिवाला शरीर ही सम्पूर्ण संसारमें आत्मा प्रसिद्ध है। उस जीवित शरीरसे भिन्न कोई भी आत्मा नहीं हैं। शरीरसे निराले अमूर्त आत्माको जाननेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। इस प्रकार जैनोंके द्वारा माना हुआ आत्मा कोई है ही नहीं, तो किसकी सर्वज्ञता और वीत-रागता गुणोंके उत्पन्न होनेपर मोक्ष मानते हो, और कौन मोक्षमार्गका प्रणेता है तथा कौन मुनी-न्द्रोंके द्वारा स्तवनीय है ? अथवा किसके मोक्षमार्गको जाननेकी इच्छा बन सकती है ? अर्थात् आत्माकी असिद्धि होनेपर उक्त सर्वज्ञता आदि धर्म किसीके सिद्ध हो नहीं सकते हैं। जब धर्मी ही नहीं है तो उसके धर्म कहां और मोक्ष तथा मोक्षमार्गके जाननेकी वह इच्छा ही सिद्ध नहीं हुयी तो उमास्वामी महाराजका " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस तत्त्वार्थ शास्त्रके पहिले सूत्रका प्रवर्तन करना भी योग्य नहीं है। इस प्रकार जो भी कोई आक्षेप करता है, वह बृहस्पति मतानुयायी चार्वाक भी तत्त्वोंकी परीक्षा करनेवाला नहीं है। क्योंकि शरीरसे अतिरिक्त आत्मा स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे सिद्ध होरहा है।

यदि चार्वाक यों कहे कि आत्माको अन्तरंग तत्त्वरूपसे वेदन करनेवाला आपका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भ्रान्त है, सो उसका यह कहना तो ठीक नहीं क्योंकि आत्माको जाननेवाला वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष सर्वकालमें बाधा रहित है। बाधाओंसे रहित ज्ञान कभी भ्रान्त नहीं होता है।

चार्वाक हेतुमें दोष उठाता है कि दौडती हुयी रेलगाडीमें बैठे हुए पुरुषको दूरवर्ती कांस या बालू रेतमें जलका ज्ञान हो जाता है और वहां कोई बाधक ज्ञान भी उत्पन्न नहीं होता है। एतावता क्या वह जलज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा ?

दूसरा व्यभिचार यह है कि किसी संभ्रान्त सीपमें चांदीका ज्ञान होगया और मृत्यु पर्यंत प्रयोजन न होनेके कारण उस व्यक्तिको जन्मभर कोई बाधक ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, इतनेसे ही क्या वह ज्ञान अभ्रान्त प्रमाण हो जावेगा ?

तीसरा व्यभिचार यह है कि एक आततायी पुरुषको रस्सीमें सर्पका ज्ञान होगया, उस समय उसको बाधक प्रमाण भी उत्पन्न नहीं हुआ, इतनेसे ही वह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जाता है। इस कारण जैनोंके बाधवर्जितपने हेतुका कोई एक विशेष देश और विशिष्ट पुरुष तथा नियतकाल सम्बन्धी बाधाओंसे रहित उक्त तीन भ्रांत ज्ञानोंसे व्यभिचार हुआ। ग्रंथकार कहते हैं कि—

यह चार्वाकोंका अभिप्राय समीचीन नहीं है। क्योंकि हमारे बाधवर्जित हेतुमें " सर्वदा " यह विशेषण लगा हुआ है। सम्पूर्ण पुरुषोंको, सम्पूर्ण देशोंमें, तथा सम्पूर्ण कालोंमें, बाधाओंसे रहित जो ज्ञान है, वह अभ्रांत प्रमाण है। चार्वाकके दिये गये तीन व्यभिचार किसी देशमें, किसी पुरुषको, किसी कालमें भले ही बाधा रहित होवें, किंतु सर्वकालमें बाधाओंसे शून्य नहीं हैं। बालू रेतमें जलका ज्ञान निकट पहुंचने पर भ्रांत सिद्ध हो जाता है। सीपमें उत्पन्न हुए चांदीके ज्ञानको अन्य परीक्षकजन बाधित कर देते हैं। रस्सीमें सर्पका ज्ञान भी कालांतरमें सबाध सिद्ध हो जाता है अर्थात् जो सर्वदा बाधा रहित होगा, वह ज्ञान प्रमाणीक है। सर्वदा कहनेसे सर्वत्र सर्वस्य भी उपलक्षणसे आजाते हैं॥

यदि भूमि आदि पानी पृथ्वी, अप्, तेज, वायुका परिणाम स्वरूप और चैतन्य शक्ति युक्त इस दृश्यमान शरीरको ही आत्मा मानलिया जावेगा तो ऐसे शरीररूपी आत्मामें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना नहीं संभवता है। जिससे कि वह होता हुआ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष उस शरीरसे भिन्न आत्माको सिद्ध न कर सके, भावार्थ—स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा आत्मा शरीरसे भिन्न स्वयं सिद्ध हो जाता है।

स्वसंवेदनमसिद्धमित्यत्रोच्यते।

यदि यहां प्रतिवादी चार्वाक यों कहे कि आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा जान लेना सिद्ध नहीं है। इस पर आचार्य उत्तर कहते हैं कि:—

स्वसंवेदनमप्यस्य बहिःकरणवर्जनात्।
अहंकारास्पदं स्पष्टमबाधमनुभूयते ॥ १०३ ॥

इस अन्तरंग आत्माका बहिरंग पांच इन्द्रियोंसे रहित, तथा "मैं मैं" इस प्रकार की प्रतिति का स्थान, और बाधारहित, विशद रूपसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना भी अनुभवमें आरहा है। बाल, वृद्ध, पामर, बनिता आदि सभी जीव न्यारे आत्माका अनुभव कररहे हैं।

न हीदं नीलमित्यादि प्रतिभासनं स्वसंवेदनं बाह्येन्द्रियजत्वादनहंकारास्पदत्वात्, न च तथाहं सुखीति प्रतिभासनमिति स्पष्टं तदनुभूयते।

यह कम्बल नीला है, यह पुष्प पीला है, इत्यादि ज्ञान आत्मा और आत्मीय तत्त्वोंके जानने वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप नहीं हैं। क्योंकि नील, पीत आदिकके ज्ञान तो बहिरंग चक्षुरादिक इन्द्रियोंसे जन्य है। बाह्य इन्द्रियोंसे जन्य है। तभी तो नील आदिके ज्ञान में मैं इत्याकारक अहं आकार (अर्थविकल्प) को करनेवाली बुद्धिके स्थान नहीं हैं। किन्तु मैं सुखी हूं, मैं ज्ञानवान् हूं, इस प्रकारके ये वेदन तो विशद रूपसे अनुभवमें आरहे हैं। ये ज्ञान बाह्येन्द्रियोंसे जन्य नहीं हैं तथा अहं अहं इत्याकारक प्रतीतिके आधार भी हैं। अतः स्वसंवेदन रूप हैं, यह सिद्ध हुआ।

गौरोहमित्यवभासनमनेन प्रत्युक्तं, करणापेक्षत्वादहं गुल्मीत्यवभासनवत्।

अहंपनेको अवलम्ब लेकर तो मैं गौरा हूं मैं स्थूल हूं यह भी ज्ञान होता है। इस कारणसे मैं इस प्रतीतिका आधार शरीर मानना चाहिये। इस मकार चार्वाकका कहना भी, जो "बहिरंग इन्द्रियोंसे जो जन्य है, वह स्वसंवेदन नहीं है" इस पूर्वोक्त अनुमानसे ही खण्डित हो जाता है। क्योंकि जैसे कि मैं फोडेवाला हूं, मैं तिल्लीवाला हूं, मैं गूमडेवाला हूं, यह ज्ञान बहिरंग इन्द्रियोंकी अपेक्षा होनेसे अहं बुद्धिका आधार होता हुआ भी स्वसंवेदन नहीं है, वैसे ही मैं गौरा हूं, मैं काला हूं, मैं मोटा हूं, ये ज्ञान भी स्पर्शन, चक्षुरिन्द्रियोंकी अपेक्षा रखनेवाला होनेसे स्वसंवेदनरूप नहीं है। वस्तुतः विचारा जाय तो यहां शरीरमें शब्दकी प्रवृत्ति उपचारसे है। जैसे कि अत्यन्त प्रिय पुरुषको यह मेरी आंख है, ये मैं ही हूं, यह कहना कल्पनामात्र है। शरीरमें आत्माका मोहजन्य प्रियपना है।

करणापेक्षं हीदं शरीरान्तःस्पर्शनेन्द्रियनिमित्तत्वात्। सुख्यहमित्यवभासनमिति तथास्तु तत एवेति चेत्, न, तस्याहंकारमात्राश्रयत्वात्, भ्रान्तं तदिति चेन्न, अबाधत्वात्।

किसी वातविकारसे शरीरमें आम, खरबूजा सरीखा उठा हुआ गूमडा बन जाता है। उसको गुल्म कहते हैं। मैं गुल्मवाला हूं, पतला हूं यह ज्ञान (पक्ष) इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखता है (साध्य) क्योंकि हाथोंसे टटोलनेपर शरीरके भीतर रहनेवाली स्पर्शन इन्द्रियको कारण मानकर उत्पन्न हुआ है। यों दृष्टान्तमें हेतुको रखदिया है। तब तो व्याप्तिवाले साध्यको पक्षमें साध देगा।

चार्वाक कहता है कि उस ही कारणसे " मैं सुखी हूं " यह ज्ञान भी उसी प्रकार इन्द्रियोंको निमित्त मानकर उत्पन्न होनेसे ही इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखनेवाला मानलिया जावे, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह चार्वाकका कहना तो उचित नहीं है। क्योंकि मैं सुखी हूं ऐसा वह वेदन तो केवल अहं करानेवाली प्रतीतिको आश्रय मानकर उत्पन्न हुआ है। इसमें चक्षुरादिक इन्द्रियां और बहिरंग विषय कारण नहीं पडे हैं।

पुनः भी चार्वाक यों कहें कि " मैं सुखी हूं " वह ज्ञान तो भ्रांतिरूप ही है। यह भी उसका कथन ही ठीक नहीं है। कारण कि मैं सुखी हूं इस ज्ञानमें कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है। बाधारहित ज्ञान प्रमाण ही होता है। भ्रम नहीं।

नन्वहं सुखीति वेदनं करणापेक्षं वेदनत्वादहं गुल्मीत्यादिवेदनवदित्यनुमानबाधस्य सद्भावात्सबाधमेवेति चेत्, किमिदमनुमानं करणमात्रापेक्षत्वस्य साधकं बहिःकरणापेक्षत्वस्य साधकं वा ? प्रथमपक्षे न तत्साधकं स्वसंवेदनस्यान्तःकरणापेक्षस्येष्टत्वात्। द्वितीयपक्षे प्रतीतिविरोधः स्वतस्तस्य बहिःकरणापेक्षत्वाप्रतीतेः।

यहां बाधवर्जितपनको बिगाडनेकी इच्छासे अनुमान बनाकर चार्वाक बाधा उपस्थित करते हैं कि " मैं सुखी हूं " यह ज्ञान (पक्ष) इंद्रियोंकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ है (साध्य) क्योंकि वह ज्ञान है, जैसे कि मैं गुल्मवाला हूं, मैं काला हूं इत्यादि ज्ञान इंद्रियोंकी अपेक्षा रखते हैं। (अन्वय दृष्टान्त) इस अनुमानसे आप जैनोंके पूर्वोक्त अनुमानमें बाधा विद्यमान है। इस कारण अर्हतोंका हेतु बाधित हेत्वाभास है। वह मैं सुखी हूं इस ज्ञानको अभ्रान्त सिद्ध नहीं कर सकता है। आचार्य कहते हैं कि यदि चार्वाक यह कहेंगे तो हम पूंछते हैं कि आपका दिया हुआ यह अनुमान क्या इंद्रियमात्रकी अपेक्षा रखनेपनको सिद्ध करता है अथवा स्पर्शन आदिक बहिरंग इंद्रियोंकी अपेक्षाको सिद्ध करता है ? बताओ।

यदि पहिला पक्ष लोगे तब तो वह अनुमान हमारे अनुमानके बाधक होनेका उद्देश्य रखकर अपने साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि मनरूप अन्तरंग इन्द्रियकी अपेक्षा रखनेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, यह हमने इष्ट किया है। सिद्धसाधन दोष तुमपर लगा। तथा यदि दूसरा पक्ष लोगे कि मैं सुखी हूं यह ज्ञान बहिर्भूतइन्द्रियोंकी अपेक्षा रखता है तो प्रतीतियोंसे विरोध होगा।

होगा। कारण कि अपने आप ज्ञात होनेवाले उस स्वसंवेदन प्रत्यक्षके बहिरंग इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखना प्रतीत नहीं होरहा है।

स्वरूपमात्रपरामर्शित्वात्तथा न स्वसंवेदनं बहिःकरणापेक्षं स्वरूपमात्रपरामर्शित्वात्, यन्न तथा तन्न तथा नीलवेदनं स्वरूपमात्रपरामर्शि चाहं सुखीत्यावेदनमित्यनुमानादपि तस्य तथाभावासिद्धेः।

तथा " मैं सुखी हूं " इत्याकारक ज्ञान उस प्रकार आत्मा और ज्ञानके स्वांशोंको ही अवलम्ब करता है। यहां यह अनुमान है कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष (पक्ष) अपनी उत्पत्तिमें बहिरंग इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं करता है (साध्य) क्योंकि वह केवल अपने स्वरूपका ही विचार करनेवाला है (हेतु) यहां व्यतिरेकदृष्टांत है कि जो उस प्रकार साध्यवाला नहीं है अर्थात् बहिरंग इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है। वह वैसा अन्तस्तत्त्वको ही विषय करनेवाला होवे, यह नहीं है। जैसे कि नीलका, मीठेका, और ठण्डेका ज्ञान है। मैं सुखी हूं यह ज्ञानस्वरूप मात्रकी ही विशदज्ञप्ति करानेवाला है (उपनय) उस कारण बहिरङ्ग इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं रखता है (निगमन) यहां परामर्शका अर्थ विचार करना रूप श्रुतज्ञान नहीं है किंतु विलक्षण क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ अंतरंग आत्मीयतत्त्वोंकी विशिष्ट ज्ञप्ति होना है। इस प्रकार अनुमानसे भी उस स्वसंवेदनको वैसा होना यानी इंद्रियोंकी अपेक्षा रखना सिद्ध नहीं होता है।

स्वात्मनि क्रियाविरोधात् स्वरूपपरामर्शनमस्यासिद्धमिति चेत्।

चार्वाक कहते हैं कि क्रिया अपने कर्त्ता या कर्ममें रहती है। जैसे कि देवदत्त सोता है। यहां शयनक्रिया देवदत्तमें रहती है। जिनदत्त भात पकाता है। यहां पचनक्रिया भातमें रहती है। अकर्मक शयनक्रिया स्वयं शयनमें नहीं रहती है और सकर्मक पाकक्रिया अपने आप पाकमें नहीं ठहरती है अर्थात् पाकमें पाक नहीं होता है। शयन स्वयं नहीं सो जाता है। इस तरह जानना रूप क्रिया स्वयं ज्ञानमें नहीं रह सकती है। स्वसंवेदनमें ज्ञानका ज्ञान करके ज्ञान होना नहीं बनता है। अतः स्वात्मामें क्रियाका विरोध हो जानेसे इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षका अपने रूपमें ही विज्ञप्ति करना असिद्ध है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि चार्वाक यों कहेंगे तो—सुनोः—

तद्विलोपे न वै किंचित्कस्यचिद्व्यवतिष्ठते।
स्वसंवेदनमूलत्वात्स्वेष्टतत्त्वव्यवस्थितेः॥ १०४॥

उस अपने आपको जाननेवाले ज्ञानका लोप हो जानेपर किसी भी वादीका कोई भी तत्त्व-व्यवस्थित न हो सकेगा। क्योंकि सर्ववादियोंको अपने इष्टतत्त्वोंकी व्यवस्था करना स्वसंवेदन ज्ञान की नींवपर अवलम्बित होरहा है। अर्थात् स्वपरप्रकाशक ज्ञानके द्वारा ही अभीष्ट तत्त्वोंकी सिद्धि

हो सकती है। ज्ञानका स्वके द्वारा वेदन होना अनिवार्य है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः ज्ञानका स्वयं अपनेसे ही ज्ञप्ति होना न स्वीकार करनेपर कोई भी दर्शन सिद्ध नहीं हो सकता है। पदार्थोंकी व्यवस्था ज्ञानसे और ज्ञानकी अपने आप व्यवस्था होना न्याय्य है।

पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, सर्वमुपप्लवमात्रमिति वा स्वेष्टं तत्त्वं व्यवस्थापयन् स्वसंवेदनं स्वीकर्तुमर्हत्येव, अन्यथा तदसिद्धेः।

चार्वाकके मतमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु यों ये चार तत्त्व माने हैं तथा शून्यवादीके मतमें सम्पूर्ण पदार्थ केवल शून्यरूप असत् स्वीकार किये हैं। इस प्रकार अपने अभीष्ट तत्त्वोंको जो व्यवस्थापित कर रहा है वह वादी ज्ञानका अपने आप वेदन होना इस तत्त्वको भी स्वीकार करनेकी योग्यता रखता ही है। अन्यथा अर्थात्—

यदि ज्ञानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना न मानोगे तो उक्त उस इष्ट तत्त्वकी सिद्धि नहीं होसकेगी, क्योंकि संसारमें एक ज्ञान ही पदार्थ ऐसा है, जो स्वयं समझने और दूसरेके समझानेमें प्रधान कारण है। उस ज्ञानका सूर्यके समान स्वपरप्रतिभासन मानना अत्यावश्यक है। जडवादी चार्वाकके मतमें तथा शून्यवादमें भी स्वसंवेदी ज्ञान अनन्यगतिसे स्वीकार करना पडेगा।

परपर्यनुयोगमात्रं कुरुते न पुनस्तत्त्वं व्यवस्थापयतीति चेत्, व्याहतमिदं तस्यैवेष्टत्वात्।

यहां चार्वाक कहता है कि भूतचतुष्टयवादी या शून्यवादी पण्डित वितण्डावादी बनकर दूसरे आस्तिकवादियोंके ऊपर प्रश्नोंको उठाते हुए केवल दोषोंका आरोपण करते हैं, किन्तु फिर अपने किसी अभीष्ट तत्त्वको सिद्ध नहीं करते हैं। आचार्य महाराज कहते हैं कि चार्वाकोंके ऐसे कहनेमें तो स्वयं व्याघातदोष है, जैसे कि कोई जोरसे चिल्लाकर कहे कि मैं चुप हूं यहां वदतो व्याघात दोष है। वैसे ही चार्वाक अपने आप ही अपने वक्तव्य विषयका घात कर रहा है, जब कि जयका उद्देश्य लेकर परपक्षके खण्डन करनेमें जो प्रवृत्त है, वही उसका इष्ट तत्त्व है, फिर वह चार्वाक या शून्यवादी कैसे कह सकता है कि मैं किसी तत्त्वकी व्यवस्था नहीं कर रहा हूं।

परोपगमात् परपर्यनुयोगमात्रं कुरुते न तु स्वयमिष्टे, येन तदेव तत्त्वं व्यवस्थापितं भवेदिति चेत्, स परोपगमो यद्युपप्लुतस्तदा न ततः परपर्यनुयोगो युक्तः सोऽनुपप्लुतश्चेत्कथं न स्वयमिष्टः।

शून्यवादी कहता है कि दूसरे जैन, नैयायिक आदि आस्तिक लोगोंके माने गये स्वसंवेदन, आत्मा आदि तत्त्वोंमें उनके स्वीकार करनेसे हम उनपर दोषोंका केवल उद्भावन करते हैं परंतु अपने माने हुए किसी विशेष तत्त्वमें ऊहापोह नहीं करते हैं। जिससे कि दूसरेका खण्डन करना वही हमारी तत्त्वव्यवस्था हुई यों मान लिया जाय। भावार्थ—हम अपनी गांठका कोई भी तत्त्व

नहीं मानते हैं। जैन, नैयायिकोंके स्वीकार किये गये प्रमाण आदि पदार्थोंसे उन्हींके आत्मा, परलोक, ज्ञान, आदि तत्त्वोंका खण्डन करते हैं। हम वैतण्डिक हैं, वादी नहीं, वितण्डा करनेवाला केवल परपक्षका खंडन करता है। अपने पक्षकी सिद्धि नहीं, " स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा " (गौतम सूत्र) इस प्रकार शून्यवादीके इस मन्तव्यपर हम जैन पूंछते हैं कि वह दूसरोंका प्रमाण, आत्मा आदि तत्त्वोंका स्वीकार करना यदि आपके मतानुसार घोडेके सींगके समान अलीक शून्यरूप है, तब तो उन दूसरोंके प्रमाण आदिसे उनके ऊपर आपका दोषारोपण करना उचित नहीं है; असत् वस्तुमे सत् या असत्के ऊपर आघात नहीं होता है। हां—

यदि दूसरोंके स्वीकार करनेको आप ठीक ठीक, शून्यरहित, तथा प्रमाणसिद्ध वस्तु मानते हो तब तो आपको वह अपने आप इष्ट कैसे नहीं हुआ ? अर्थात् अन्योंका माना हुआ वस्तुभूत पदार्थ आपने भी इष्ट कर लिया।

परोपगमान्तरादनुपप्लुतो न स्वयमिष्टत्वादिति चेत्। तदपि परोपगमान्तरमुपप्लुतं न वेत्यनिवृत्तः पर्यनुयोगः। सुदूरमपि गत्वा कस्यचित्स्वयमिष्टौ सिद्धमिष्टतत्त्वव्यवस्थापनं स्वसंविदितं प्रमाणमन्वाकर्षत्यन्यथा घटादेरिव तद्व्यवस्थापकत्वायोगात्।

शून्यवादी कह रहा है कि दूसरे जैन, नैयायिक, आदिकोंके प्रमाण आदि तत्त्वोंके स्वीकार करनेको अन्य मीमांसक आदिकोंने वस्तुभूत ठीक स्वीकार किया है। अतः हम शून्यवादी भी उसको स्वीकार कर लेते हैं किंतु हमको वह स्वयं घरमें इष्ट नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम पूछते हैं कि वह आस्तिकोंके प्रमाण प्रमेय आदिको स्वीकार करनेवाले दूसरोंके मन्तव्य आपने शून्यरूप माने हैं ? या वस्तुभूत ठीक माने हैं ? बताओ। इन दोनों पक्षोंमें दोषारोपण न कर सकना, और स्वयं इष्टतत्त्वकी सिद्धि होना ये दोनों दोष आवेंगे। इन दोषोंके वारण करनेके लिये आप फिर तीसरे चौथे वादियोंके मन्तव्योंकी शरण पकडेंगे, वहां भी हमसे ये ही पूर्वोक्त दो पक्ष उठाये जावेंगे और उक्त दोनों दोष आपके ऊपर संलग्न होते चले जावेंगे। " तुम डार डार हम पात पात " इस लोकरूढिके अनुसार हमारा कटाक्ष करना रुक नहीं सकेगा। बहुत दूर भी जाकर " अन्धसर्पके बिलप्रवेश " न्यायसे यदि आप किसी एक वस्तुभूत इष्टतत्त्वकी सिद्धि स्वयं होना इष्ट करेंगे तो आप शून्यवादीको अभीष्ट तत्त्वकी व्यवस्थापना करना सिद्ध हुआ। उस अभीष्ट तत्त्वमें सबसे प्रथम और प्रधान स्वको जाननेवाला स्वसंवेदन प्रमाणज्ञान ही पीछे लगे हाथ आकर्षित होता है अन्यथा यानी यदि प्रमाणको स्वसंवेदी नहीं माना जावेगा तो जड हो रहे घट, पट आदिकसे जैसे तत्त्वव्यवस्था नहीं हो सकती है वैसे ही उस जड ज्ञानसे भी किसी तत्त्वकी व्यवस्था न हो सकेगी। जगत्का कोई भी तत्त्व निर्णीत न हो पावेगा।

न हि स्वयमसंविदितं वेदनं परोपगमेनापि विषयपरिच्छेदकम्, वेदनान्तरविदितं तदिष्टसिद्धिनिबन्धनमिति चेन्न, अनवस्थानात्, तथाहि—

जो ज्ञान अपने आप अपने को नहीं जानता है, वह दूसरे वादियोंके स्वीकार करने मात्रसे भी इष्ट तत्त्वोंका ज्ञापक नहीं होता है ।

यदि नैयायिकोंके सदृश आप चार्वाक यों कहेंगे कि प्रकृत ज्ञान दूसरेसे और दूसरा ज्ञान तीसरे ज्ञानसे संविदित होता हुआ यों वह इष्ट तत्त्वकी ज्ञप्तिका साधक हो जावेगा, आपका यह कहना भी ठीक नहीं । क्योंकि ज्ञानका स्वयंसे वेदन न मान कर दूसरे तीसरे चौथे ज्ञानोंसे ज्ञप्ति माननेमें अनवस्था दोष आता है । स्वयं अन्धेरेमें पडा हुआ ज्ञान अपने विषयोंका प्रकाशक नहीं हो सकता है । इसी बातको प्रसिद्ध कर दिखलाते हैं ।

संवेदनान्तरेणैव विदिताद्वेदनाद्यदि
स्वेष्टसिद्धिरुपेयेत तदा स्यादनवस्थितिः ॥ १०५ ॥
प्राच्यं हि वेदनं तावन्नार्थं वेदयते ध्रुवम् ।
यावन्नान्येन बोधेन बुद्धयं सोऽप्येवमेव तु ॥ १०६ ॥
नार्थस्य दर्शनं सिद्ध्येत् प्रत्यक्षं सुरमन्त्रिणः ।
तथा सति कुतश्च स्यान्मतान्तरसमाश्रयः ॥ १०७ ॥

यदि विवक्षित ज्ञानका तीसरे ज्ञानसे जान लिये गये ही दूसरे ज्ञानद्वारा ज्ञान हो जानेपर उससे अपने इष्ट तत्त्वकी ज्ञप्ति होना स्वीकार करोगे तो मूलका क्षय करनेवाला अनवस्था दोष हो जावेगा; जब तक पहिला ज्ञान दूसरेसे और दूसरा तीसरेसे तथा तीसरा चौथेसे, इसी प्रकार आगेके भी ज्ञान उत्तरवर्ती ज्ञानोंसे ज्ञात न होंगे तब तक अप्रकाशित ज्ञान प्रकृत विषयोंका प्रकाशन नहीं कर सकेंगे । देखिये पहिला ज्ञान तब तक निश्चित रूपसे अर्थकी ज्ञप्ति कथमपि नहीं कर सकता है, जब तक कि वह दूसरे ज्ञानसे स्वयं विदित न हो जाय । इसीप्रकार आगेके वे ज्ञान भी भविष्य दूसरे ज्ञानोंसे ज्ञात होकर ही विषयके ज्ञापक हो सकते हैं । इसप्रकार तो अनवस्था हो जानेसे बृहस्पति ऋषिके अनुयायी चार्वाकके मतमें माना गया पृथ्वी आदि पदार्थोंको देखनेवाला अकेला प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि वह प्रत्यक्ष स्वयं अपनेको जानता नहीं है और प्रत्यक्षको जाननेवाला दूसरा ज्ञान चार्वाकने इष्ट नहीं किया है । जो ज्ञान स्वयं जाना नहीं गया है वह दूसरोंका ज्ञापक नहीं होता है । यदि वैसा होनेपर दूसरे ज्ञानोंसे पहिले ज्ञानको ज्ञात मानोगे तो आपको नैयायिकके मतका बढिया सहारा लेना पडा ।

अर्थदर्शनं प्रत्यक्षमिति बृहस्पतिमतं परित्यज्यैकार्थसमवेतानन्तरज्ञानवेद्यमर्थज्ञानमिति ब्रुवाणः कथं चार्वाको नाम ? ।

इस पंचमकालमें चार्वाक मतके सबसे आदिमें पथप्रदर्शक बृहस्पति नामके ऋषि हुए हैं। उनका यह मत है कि घट, पट, रूप, रस, आदिक पदार्थोंका बहिरंग इन्द्रियोंसे जानलेना प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। बहिरंग इन्द्रियोंसे अग्राह्य आत्मा, इच्छा, आदि तत्त्वोंको चार्वाक स्वीकार नहीं करते हैं। अतः इनका ज्ञान होना भी वे नहीं मानते हैं। इस अपने मतको छोडकर चार्वाक यदि ज्ञानकी भी दूसरे ज्ञानसे ज्ञप्ति मानेंगे तो नैयायिकका मत अंगीकृत करना पडेगा, नैयायिक ही घट को जाननेवाले ज्ञानका उसी एक आत्मा पदार्थमें समवायसंबन्धसे उत्पन्न हुए अव्यवहित उत्तरवर्ती दूसरे ज्ञानके द्वारा वेदन होना मानते हैं। ज्ञानका प्रत्यक्ष होना बृहस्पति मतानुयायी मानते नही हैं, तभी तो अर्थरूप विषयोंके दर्शनको प्रत्यक्ष कहा है।

ज्ञानकी उसी आत्मामें पैदा हुए दूसरे ज्ञानसे ज्ञप्ति मानेंगे तो चार्वाकको अपसिद्धान्त दोष लगेगा। बहिरंग अर्थोका ही प्रत्यक्ष करना रूप चार्वाकपन भला कैसे स्थिर रहेगा? फिर तो वह नैयायिक बन जावेगा। उक्त रीतिसे नैयायिकके मतको कहनेवालेको किस प्रकार चार्वाक कहा जाय?

परोपगमात्तथावचनमिति चेन्न। स्वसंविदितज्ञानवादिनः परत्वात्। ततो मतान्तरसमाश्रयस्य दुर्निवारत्वात्। न च तदुपपन्नमनवस्थानात्।

दूसरे, नैयायिक, जैन, बौद्ध, लोग ज्ञानकी ज्ञप्ति होना स्वीकार करते हैं, इससे हम चार्वाक भी इसी प्रकार कह देते हैं, यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि आपके विचारोंसे ज्ञानका अपने आप ही वेदन हुआ माननेवाला जैनवादी ही यहां दूसरा है। फिर भी आपको नैयायिक नहीं सही दूसरे जैन मतका ही बढिया आश्रय लेना अनिवार्य हुआ। किन्तु वह दूसरेका तीसरेसे और तीसरे ज्ञानका चौथे ज्ञानसे ज्ञापन मानते हुये पूर्वमें नैयायिकका सहारा लेना सो आपका युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि एक ज्ञानका दूसरेसे और दूसरेका तीसरेसे तथा तीसरेका चौथेसे ज्ञान होते होते अनवस्था हो जावेगी।

इति सिद्धं स्वसंवेदनं बाधवर्जितं सुख्यहमित्यादिकायात्तत्त्वान्तरतयात्मनो भेदं साधयतीति किं नश्चिन्तया।

इस प्रकार अबतक सिद्ध हुआ कि " मैं सुखी हूं, मैं ज्ञानी हूं, मैं हूं " इस प्रकारके उल्लेखको धारण करनेवाले बाधारहित स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही शरीरसे भिन्न तत्त्वरूप करके आत्माका यों भेद सिद्ध कर रहे हैं। फिर हम अधिक चिन्ता क्यों करें? जिसका प्रत्यक्ष सहायक है, उसमें भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है तो फिर दूसरे प्रमाणके ढूंढनेकी क्या आवश्यकता है?। इस प्रकार यहां तक एक सौ दोमीं वार्तिकका उपसंहार किया है।

विभिन्नलक्षणत्वाच्च भेदश्चैतन्यदेहयोः।
तत्त्वान्तरतया तोयतेजोवदिति मीयते ॥ १०८ ॥

चार्वाकके प्रति और भी कहते हैं कि देह और चैतन्यका भिन्न भिन्न विशेष लक्षण होनेसे भिन्न तत्त्व होकर पृथक् भाव हैं। जैसे कि आप चार्वाकके मतमें जल और अग्नितत्त्व निराले माने गये हैं। इस प्रकार अनुमानसे भी शरीरसे भिन्न आत्मा सिद्ध होता है।

चैतन्यदेहौ तत्त्वान्तरत्वेन भिन्नौ भिन्नलक्षणत्वात् तोयतेजोवत्। इत्यत्र नासिद्धो हेतुः, स्वसंवेदनलक्षणत्वाच्चैतन्यस्य, काठिन्यलक्षणत्वात् क्षित्यादिपरिणामात्मनो देहस्य, तयोर्भिन्नलक्षणत्वस्य सिद्धेः।

ज्ञान और शरीर (पक्ष) अलग अलग पदार्थ होते हुए भिन्न हैं (साध्य) क्योंकि उन दोनोंका लक्षण न्यारा न्यारा है (हेतु) जैसे कि ठण्डा और गर्म स्पर्शवाले जल और तेजस्तत्त्व आपने न्यारे माने हैं (अन्वय दृष्टांत) यों इस अनुमानमें भिन्नलक्षणपना हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि पक्षमें हेतु ठहरता है। क्योंकि चैतन्यका स्वके द्वारा स्वको जान लेना लक्षण है और पृथ्वी, जल, तेज, वायुका समुदित पर्याय रूप शरीरके कठिनपना, भारीपन, काला गोरापन आदि लक्षण हैं। इस कारण उन शरीर और चैतन्यका भिन्न भिन्न लक्षण युक्तपना सिद्ध है। हम जैनोंका हेतु निर्दोष है।

परिणामिपरिणामभावेन भेदसाधने सिद्धसाधनमित्ययुक्तं तत्त्वान्तरतयेति साध्ये देहचैतन्ययोः तत्त्वान्तरतया भेदसाधनमस्ति विशेषणात्।

यदि चार्वाक यहां यों कहें कि शरीर परिणामी है और शरीरका परिणाम चैतन्य है। जैन लोग परिणाम और परिणामी रूपसे शरीर और ज्ञानका यदि उक्त अनुमानद्वारा भेद सिद्ध करते हैं तो आपने हमारे सिद्ध किए हुए पदार्थका ही साधन किया है। अतः जैनोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष लगा। आचार्य कहते हैं कि यह चार्वाकका कहना युक्तियोंसे रहित है, क्योंकि हमने तत्त्वान्तर-रूपसे यों साध्यके पेटमें भिन्नतत्त्व होकर ऐसा भेदका विशेषण दिया है अर्थात् देह और चैतन्य-का भिन्नपदार्थ रूपसे भेद सिद्ध करना हमको अभीष्ट है। परिणामी भावसे नहीं।

कुटपटाभ्यां भिन्नलक्षणाभ्यां तत्त्वान्तरत्वेन भेदरहिताभ्यामनेकान्त इति चेन्न। तत्र परेषां भिन्नलक्षणत्वासिद्धेरन्यथा चत्वार्येव तत्त्वानीति व्यवस्थानुपपत्तेः।

उक्त अनुमानमें चार्वाक व्यभिचार देता है कि मोटा बडा पेट, छोटी शंखकीसी ग्रीवा तथा जलधारण कर सकना ये घडेके लक्षण हैं और आतान वितानरूप तन्तुओंका तथा शीतबाधाको दूर कर सकना ये कपडाके लक्षण हैं। यहां घट और पटमें भिन्नलक्षणपना हेतु विद्यमान है। किंतु तत्त्वान्तररूपसे भेदस्वरूप साध्य यहां नहीं है ये सब पृथ्वीतत्त्वके विवर्त हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि-इस प्रकार हमारे हेतुमें व्यभिचारदोष देना तो ठीक नहीं है। क्योंकि दूसरे चार्वाक लोगोंके मता-नुसार भी भिन्न लक्षणपना हेतु घट और पटमें सिद्ध नहीं है।

अन्यथा यानी यदि भिन्न लक्षणपना घट, पट आदिक में भी माना जावेगा तो पृथ्वी, अप्, तेज, वायु ये चारही तत्त्व हैं यह व्यवस्था नहीं बन सकेगी। घट, पट, पुस्तक, गृह मुकुट, शकट आदि अनेक तत्त्व स्वीकार करने पडेंगे।

कुटपटादीनां भिन्नलक्षणत्वेऽपि तत्त्वान्तराभावे क्षित्यादीनामपि तत्त्वान्तराभावात्।

जब कि घट, पट आदिकोंका भिन्न लक्षण होते हुए भी यदि आप भिन्नतत्त्वपना न मानोगे तो पृथ्वी, जल, तेज, वायुको भी न्यारा न्यारा तत्त्व नहीं मानना चाहिये। जैनोंके ऊपर व्यभिचार पुष्ट करते हुए चार्वाकको अपने चार तत्त्वोंको भी एक पुद्गल तत्त्वरूप माननेके लिये बाध्य होना पडेगा।

धारणादिलक्षणसामान्यभेदात्तेषां तत्त्वान्तरत्वं न लक्षणविशेषभेदाद्येन घटपटादीनां तत्प्रसंग इति चेत्, तर्हि स्वसंविदितत्वेतरत्वलक्षणसामान्यभेदाद्देहचैतन्ययोस्तत्त्वान्तरत्वसाधनात् कथं कुटपटाभ्यां तस्य व्यभिचारः? स्याद्वादिनां पुनर्विशेषलक्षणभेदाद्भेदसाधनेऽपि न ताभ्यामनेकान्तः, कथञ्चित्तत्त्वान्तरतया तयोर्भेदोपगमात्।

यदि चार्वाक यों कहे कि पृथ्वीका सामान्य लक्षण पदार्थोंको धारण करना है आदि यानी जलका लक्षण द्रवरूप बहना है, अग्निका लक्षण उष्णता है और वायुका सामान्य लक्षण गमन, कम्पन, रूप हरण करना है। सामान्यलक्षणोंके भेदसे वे तत्त्व भिन्न माने जाते हैं। किंतु विशेष लक्षणोंसे तत्त्वोंमें भेद नहीं होता है जिससे कि घटपट आदि करके उस व्यभिचार दोषका प्रसङ्ग होवे विशेष लक्षणवाले तो एक तत्त्वके व्याप्य हैं। अतः घट, पट, पुस्तक आदिक एक पृथ्वी तत्त्वके परिणाम हैं। इस विशेषलक्षण के भेद होनेसे घट, पट आदिकोंको भिन्न तत्त्व होनेका प्रसंग नहीं है। इस प्रकार चार्वाककी सामान्यलक्षणोंके भेदसे भिन्न तत्त्वोंकी व्यवस्था होनेपर तब तो हम जैन भी कहते हैं कि शरीर और चैतन्यमें भी सामान्यरूपसे लक्षणोंका भेद है। चेतना स्वसंवेदन रूप है स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जानी जाचुकी है। और न्यारा शरीर इससे सर्वथा भिन्न बहिरिन्द्रियोंसे ग्राह्य है। इस प्रकार हमने पूर्वोक्त अनुमानसे सामान्यलक्षणोंके भेदरूप हेतु शरीर और चैतन्यका भिन्न तत्त्व होकर भेद सिद्ध किया है फिर चार्वाक लोग हमारे अनुमानमें उस विशेषलक्षणके भेदद्वारा हेतु और घट, पटसे कैसे व्यभिचार उठा सकते हैं? अर्थात् कथमपि नहीं।

दूसरी बात यह है कि विशेष लक्षणोंके भेदसे भी भेदसाधन करनेमें स्याद्वादियोंके यहां तो उन घट, पटसे व्यभिचार नहीं है। क्योंकि शरीर और चैतन्यके समान घट तथा पटमें भी कथञ्चित् तत्त्वान्तर रूपसे हम भेदको स्वीकार करते हैं। अन्तर इतना ही है कि शरीर और आत्मामें द्रव्यरूपसे भेद है और घट, पट में भावरूपसे भेद है।

सत्त्वादिसामान्यलक्षणभेदे हेतुरसिद्ध इति चेन्न कथमन्यथा क्षित्यादिभेदसाधनेऽपि सोऽसिद्धो न भवेत् ? असाधारणलक्षणभेदस्य हेतुत्वान्नैवमिति चेत्, समानमन्यत्र, सर्वथा विशेषाभावात् ।

चार्वाक हमारे हेतुमें असिद्ध नामका दोष उठाते हैं कि सत्पना या प्रमेयपना आदि यह देह और चैतन्यका साधारण रूपसे रहनेवाला सामान्य लक्षण है। देह, या चैतन्यरूप पक्षमें सत्त्व आदि रूप सामान्य लक्षणोंका भेदरूप हेतु नहीं विद्यमान है ! इस कारण जैनोंका हेतु पक्षमें न रहनेसे असिद्ध है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास उठाना तो ठीक नहीं है। अन्यथा सत्त्व, ज्ञेयत्व आदि सामान्य लक्षण तो पृथ्वी जल आदिकमें भी पाये जाते हैं। उनको तत्त्वान्तर सिद्ध करते समय आपका वह सामान्यसे लक्षणभेद हेतु भी असिद्ध हेत्वाभास क्यों नहीं होगा ?। बताओ।

यदि आप असिद्ध दोष न होवे इस कारण पृथ्वी आदिकमें भेद सिद्ध करनेके लिये विशेष लक्षणोंका भेद इस प्रकार हेतु देवेंगे तो दूसरी जगह भी यही बात समान रूपसे लागू होगी। अर्थात् हम भी देह और चैतन्यके निराले तत्त्वरूपसे भेदको सिद्ध करनेके लिये विशेष विशेष लक्षणोंके भेदको हेतु बनावेंगे। सभी प्रकारसे हमारे और आपके तत्त्वभेद सिद्ध करनेमें कोई अन्तर नहीं है। न्याय समान होता है। पक्षपात करना ठीक नहीं है। स्याद्वादसिद्धान्तमें सामान्य लक्षण और विशेष लक्षण इन दोनोंसे देह और चैतन्यकी द्रव्यप्रत्यासत्ति नहीं है अर्थात् दोनों भिन्न द्रव्य हैं। अथवा जीव और पुद्गलद्रव्यकी पर्याय हैं।

भिन्नप्रमाणवेद्यत्वादित्यप्येतेन वर्णितम् ।
साधितं बहिरन्तश्च प्रत्यक्षस्य विभेदतः ॥ १०९ ॥

इस उक्त कथनके द्वारा यह भी वर्णन कर दिया गया है कि देह और चैतन्य भिन्न हैं क्योंकि वे दोनों भिन्न प्रमाणोंसे जाने जाते हैं। बहिरंग इन्द्रियोंसे जन्य प्रत्यक्षके द्वारा शरीर जाना जाता है और उससे भिन्न अन्तरंग स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे उपयोगस्वरूप चैतन्य जाना जाता है। इन भिन्न भिन्न दोनों प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे देह और चैतन्यमें अनुमानद्वारा भेद सिद्ध कर दिया गया है, यों प्रत्यक्षके विशेष भेदोंसे यह साधा गया है। अतः यह हेतु पुष्ट होगया है।

बहिरन्तर्मुखाकारयोरिन्द्रियजस्वसंवेदनयोर्भेदेन प्रसिद्धौ सिद्धमिदं साधनं वर्णनीयं देहचैतन्ये भिन्ने भिन्नप्रमाणवेद्यत्वादिति, करणजज्ञानवेद्यो हि देहः स्वसंवेदनवेद्यं चैतन्यं प्रतीतमिति सिद्धं साधनम् ।

बहिरंग पदार्थोंका उल्लेख करके बाहिरकी तरफ झुके हुए इंद्रियजन्य प्रत्यक्ष है और अंतरंग पदार्थोंका उल्लेख कर भीतरी तत्त्वोंको लक्ष्य कर जाननेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। इन दोनों

प्रत्यक्षोंके भिन्नरूपसे प्रसिद्ध होनेपर, यह हेतु भी यों सिद्ध हुआ कहना चाहिये, जब कि देह और चैतन्य भिन्न है। क्योंकि वे दोनों भिन्न प्रमाणोंसे जाननेयोग्य हैं। स्पर्शन इंद्रियसे जन्य स्पार्शन-प्रत्यक्ष और चक्षुरिन्द्रियसे जन्य चाक्षुष प्रत्यक्षसे शरीर जाना जाता है, या जानने योग्य है तथा स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे चैतन्यकी प्रतीति सभी बाल गोपालोंको हो रही है। इस प्रकार भिन्न प्रमाणोंसे जाना गयापन हेतु सिद्ध हो गया।

स्वयं स्वसंवेदनवेद्येन परैरनुमेयेनाभिन्नेन चैतन्येन व्यभिचारीति न युक्तम्, स्वसंवेद्यानुमेयस्वभावाभ्यां तस्य भेदात्।

यहां कोई हेतुमें व्यभिचार दोष देवे कि देवदत्तके चैतन्यको देवदत्तने अपने स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे जाना और जिनदत्त इंद्रदत्त आदिने उसी देवदत्तके चैतन्यको अनुमानप्रमाणसे जाना। अतः भिन्न प्रमाणोंसे जाना गया होकर भी वह चैतन्य अभिन्न है। इस कारण जैनोंके हेतुमें व्यभि-चार दोष हुआ, ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना तो युक्त नहीं है क्योंकि उस देवदत्तके चैतन्यमें न्यारे न्यारे अनेक स्वभाव माने गये हैं। जैसे कि एक ही अग्निमें दाह करना, पाक करना, सोखना, फफोला उठा देना, उबालना, चावलोंमें क्रिया करना आदि अनेक स्वभाव हैं। वैसे ही प्रत्येक ज्ञेयमें नाना ज्ञानोंसे जानने योग्य भी भिन्न भिन्न अनेक स्वभाव हैं। परमाणुमें बहिरंग इंद्रियोंसे जन्य ज्ञानके द्वारा जाननेका स्वभाव नहीं है। तभी तो अवधि ज्ञानी और केवलज्ञानी भी परमाणुओंको इंद्रियोंसे नहीं जान पाते हैं। प्रकृत चैतन्यमें स्वसंवेद्यपना और अनुमेयपना ये दोनों भिन्न भिन्न स्वभाव विद्यमान हैं। तिन स्वभावोंसे देवदत्तके चैतन्यका भेद भी है अतः हेतुके रहते हुए साध्यके रह जाने पर हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है।

तत एवैकस्य प्रत्यक्षानुमानपरिच्छेद्येनाग्निना न तदनैकान्तिकम्, नापि मारणशक्त्यात्मकविषद्रव्येण सकृत्तादृशा शक्तिशक्तिमतोः कथञ्चिद्भेदप्रसिद्धेः।

इस ही कारणसे एक एक देवदत्त, जिनदत्तके द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमानसे योग्यतानुसार जानी गयी अग्नि उसी अग्निके द्वारा भी हमारा वह हेतु व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि अग्निमें प्रमेयत्व नामक गुण है। उसके उन उन व्यक्तियोंके द्वारा अनेक प्रमाणोंसे जानने योग्य अनेक स्वभावोंको लिये हुए परिणमन होते रहते हैं। इस कारण अग्निमें भी अनेक स्वभावोंकी अपेक्षा भिन्नपना रूप साध्य रह गया। तथा विषद्रव्यसे भी व्यभिचार नहीं है, क्योंकि विषद्रव्यमें भी एक साथ वैसी मारनेकी और जीवित करनेकी शक्तियां विद्यमान हैं। किसी कार्यकी अपेक्षा अशक्तियां भी हैं।

एक लौकिक दृष्टान्त है कि एक मनुष्य गलितकुष्ट रोगसे अत्यंत पीडित था। उसने अनेक धुरन्धर वैद्योंसे चिकित्सा करायी, किन्तु लवमात्र भी काम नहीं हुआ। ज्यों ज्यों दवा की गयी उलटा

त्यों त्यों रोग बढता ही गया। अंतमें वह एक सुचतुर अनुभवी वैद्यके निकट पहुंचा। वैद्यने कष्टसाध्य रोगका " काकतालीय " न्यायके सदृश असम्भव नहीं किंतु अशक्य औषधिका सेवन करना पत्र पर लिखकर रोगीको व्यवस्थापत्र दे दिया और कह दिया कि रोग दूर होना अशक्य है। मूर्ख, दरिद्र, रोगी भी हताश होकर शीघ्र मृत्युको चाहता हुआ बन की ओर चल दिया। वहां पहुंचकर देखता है कि एक नरकपालमें तत्काल की वर्षाके भरे हुए पानीको काला भुजङ्ग पी रहा है। कोढीने मृत्युका बढिया उपाय समझकर भयंकर विषरूप उस खोपडीके पानीको पी लिया, किंतु उसी समयसे वह रोगी चंगा होने लगा और कुछ दिनमें हृष्ट पुष्ट होकर उस अनुभवी वैद्यके पास गया और कहने लगा कि आपने मेरी चिकित्सा करनेकी उपेक्षा की थी किंतु मैं आपके सामने नीरोग, बलवान्, खडा हुआ हूं। तब वैद्यने उससे अपनी औषधिका लिखा हुआ पत्र निकलवाया। उसमें वही काले सर्पके द्वारा खोपडीमें पिये गये पानी पीनेका औषधिसेवन लिखा पाया गया तथा वर्तमानमें भी उग्रवीर्यवाली औषधियां संखिया, हरताल, अहिफेन आदिसे बनायी जाती हैं। पारा, चंद्रोदय, मकरध्वज यदि कच्चे रह जावें तो प्राण हरण कर लेते हैं तथा परिपूर्ण सम्पन्न होनेपर अनेक सिद्धियोंके कारण बन जाते हैं। अतः मारनेकी शक्तिस्वरूप विषद्रव्यसे भी व्यभिचार नहीं है। मारनेकी अशक्ति वाले वैसे विषद्रव्य न्यारे न्यारे हैं। इस कारण कथञ्चिद्भेद सिद्ध है। हेतु रह गया साध्य भी ठहर गया, चलो अच्छा हुआ।

सर्वथा भेदस्य देहचैतन्ययोरप्यसाधनत्वात्, तथा साधने सद्द्रव्यत्वादिना भेदप्रसक्तेर्नोभयोरपि सत्त्वद्रव्यत्वादयो व्यवतिष्ठेरन्। यथाहि देहस्य चैतन्यात् सत्त्वेन व्यावृत्तौ सत्त्वविरोधस्तथा चैतन्यस्यापि देहात्। एवं द्रव्यत्वादिभिर्व्यावृत्तौ चोद्यं।

हम जैनबन्धु प्रकृत अनुमानसे देह और चैतन्यमें भी किसी अपेक्षासे ही भेद सिद्ध करते हैं। सर्व प्रकारसे भेदका साधन नहीं करते हैं। यदि देह और चैतन्यमें उस प्रकार सर्वथा ही भेद सिद्ध करना प्रतिज्ञात किया जाय तो सत्त्व, द्रव्यत्व, वस्तुत्व और प्रमेयत्व आदिरूपसे भी भेद सिद्ध करनेका प्रसंग आवेगा। तथा च दोनोंमें से एक या " चालिनीन्याय " से दोनों ही असत्, अद्रव्य, अवस्तु और अज्ञेय हो जावेंगे। दोनों में भी सत्पने और द्रव्यपने आदिकी व्यवस्था न बन सकेगी। इसी बातको इस प्रकार वक्ष्यमाणरूपसे स्पष्ट करते हैं:— जैसे सद्रूप यानी विद्यमानपनेसे देहका चैतन्यसे भेद मानकर व्यावृत्ति मानी जावेगी तो शरीरको सत्पनेका विरोध आवेगा। अर्थात् देह खरविषाणके सदृश असत् हो जावेगी। वैसेही चैतन्यका भी देहसे सत्त्वरूप करके पृथग्भाव माना जावेगा तो चैतन्य वन्ध्यापुत्रके समान असत् हो जावेगा। इसी प्रकार द्रव्यपने और वस्तुपने आदिसे भी भेद माननेपर दूसरेको तर्कद्वारा अद्रव्यता और अवस्तुताकी आपत्ति हो जावेगी, जिस स्वरूपसे भेद माना जावेगा उस स्वरूपकी दूसरे पदार्थमें व्यावृत्ति माननी पडेगी

यही भेदकी परिभाषा है । इस कारण हम जैन लोग एक द्रव्यके नाना स्वभावोंके समान देह और चैतन्यमें भी सर्वथा भेद नहीं मानते हैं किंतु कथञ्चिद् भेद मानते हैं ।

भिन्नप्रमाणवेद्यत्वादेवेत्यवधारणाद्वा न केनचिद्व्यभिचारचोदना हेतोः सम्भवति येन विशेषणमेकेनेत्यादि प्रयुज्यते ।

अथवा हेतुमें नियम करनेवाला एवकार डाल दिया जावे तो भी हेतुकी किसी करके व्यभिचार होजानेकी आपत्ति सम्भव नहीं है जिससे कि एक पुरुष करके इत्यादि विशेषण प्रयुक्त किये जाय।अर्थात् " जो भिन्न प्रमाणोंसे ही जानने योग्य है, वह अवश्य भिन्न है " ऐसी व्याप्ति बनाने पर एक पुरुषकरके एक समयमें जो भिन्न प्रमाणोंसे वेद्य है, वह भिन्न है । इस प्रकार विशेषणोंके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं होती है । इन विशेषणोंका प्रयोजन केवल एवकारसे सध जाता है ।

संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वमपि नास्य शङ्कनीयम्, कुत्रचिदभिन्नरूपे भिन्नप्रमाणवेद्यत्वासम्भवात् । तादृशः सर्वस्यानेकस्वभावत्वसिद्धेरन्यथार्थक्रियानुपपत्तेरवस्तुत्वप्रसक्तेः ।

आपको इस भिन्न प्रमाणोंसे जानेगयेपन रूप हेतुकी अभिन्न एकरूप माने गये विपक्षमें न रहना रूप व्यावृत्ति संदेहप्राप्त है यह भी शंका नहीं उठानी चाहिये, क्योंकि कहीं भी अभिन्नरूप एक पदार्थका या एक स्वभावमें भिन्न प्रमाणोंसे जानने योग्यपन नहीं है—असम्भव है ।

यदि एक पदार्थको भी दस जीवों या अनेक प्रमाणोंने जाना है तो वहां भी अपने अपनेसे जानने योग्य स्वभाववाले पदार्थको दसने जाना है। एक एक परमाणु और एक एक कणमें अनंतानंत स्वभाव भरे हुए हैं । भिन्न प्रमाणोंसे जानने योग्य वैसे संपूर्ण पदार्थ तादात्म्यसंबंधसे अनेक स्वभावयुक्त सिद्ध हैं यदि ऐसा न मानकर अन्य प्रकार माना जावेगा तो कोई भी पदार्थ अर्थक्रिया न कर सकेगा । " परिव्राट्कामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनौ । कुणपः, कामिनी, भक्ष्य, इति तिस्रो विकल्पनाः " एक युवतीके मृत शरीरको देखकर साधु, कामुक और कुत्तेको संसारस्वरूपका विचार, इंद्रियलोलुपता और भक्ष्यपनेकी तीन कल्पनाएं भी निमित्त बननेवाले युवतिशरीरमें विद्यमान स्वभावोंके अनुसार ही हुयी हैं । नीलाञ्जनाके परिवर्तित शरीरके नृत्यमें वैराग्य और रागभाव दोनोंको पैदा करानेकी निमित्त शक्तियां हैं । इसी प्रकार अनेक स्वभाव माननेपर ही नवीन नवीन अर्थक्रियाएं पदार्थोंमें बन सकती हैं । यदि वस्तुमें अनेक स्वभाव न होंगे तो पदार्थ क्रियाएं न करेगा और अर्थक्रिया न होनेसे अवस्तुपनेका प्रसंग आवेगा । एक समयमें ही पूर्वस्वभावोंको छोडना और नवीन स्वभावोंका ग्रहण करना तथा कतिपय स्वभावोंसे ध्रुव रहना ये तीनों अवस्थाएं विद्यमान हैं । उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होना ही परिणामका सिद्धांत लक्षण है। श्री माणिक्यनंदी आचार्यने परीक्षामुखमें ऐसा ही कहा है ।

यदप्यभ्यधायि—

और भी जो चार्वाकोंने आत्माको भिन्न तत्त्व निषेध करनेके लिये कहा था कि—

क्षित्यादिसमुदायार्थाः शरीरेन्द्रियगोचराः ।
तेभ्यश्चैतन्यमित्येतन्न परीक्षाक्षमेरितम् ॥ ११० ॥

बृहस्पति ऋषिने चार्वाकदर्शनमें ये तीन सूत्र बनाये हैं—पृथ्वी, अप्, तेज और वायु ये चार तत्त्व हैं। इन चारों तत्त्वोंके समुदायरूप शरीर, इंद्रियां और विषय ये पदार्थ बन जाते हैं तथा उन शरीर, चक्षुरादिक इंद्रिय, और रूप, रस, आदिक विषयोंसे चैतन्य हो जाता है आचार्य कह रहे हैं कि इस प्रकार यों चार्वाकोंका कथन भी परीक्षा करनेको सहन नहीं कर सकता है। यों प्रेरणा की जा चुकी है ॥

पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः, तेभ्यश्चैतन्यमित्येतदपि न परीक्षाक्षमेरितम्, शरीरादीनां चैतन्यव्यञ्जकत्वकारकत्वयोरयोगात् कुतस्तदयोगः ? ।

वे तीन सूत्र यों हैं कि चार्वाकमतानुयायी पृथ्वी, अप्, तेज और वायु इस प्रकार चार तत्त्व मानते हैं। उन तत्त्वोंके योग्यरूपसे मिश्रणात्मक समुदाय होनेपर शरीर, इंद्रियां, और विषय नामके पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। और उनसे उपयोगात्मक चैतन्य होता है, यों यह चार्वाकोंका साहसपूर्वक कहना परीक्षा झेलनेको समर्थ नहीं समझा गया है। क्योंकि शरीर, इंद्रिय और विषयोंको चैतन्यका प्रकट करनेवाला अभिव्यञ्जकहेतु माननेपर तथा शरीर आदिकको चैतन्यका उत्पादक कारण मानने पर दोनों ही पक्षमें उनसे चैतन्य होनेका योग नहीं है।

चैतन्य होनेका उन व्यञ्जक या कारक दोनों पक्षोंमें कैसे योग नहीं है ? इस प्रश्नका उत्तर स्पष्ट कहते हैं—

व्यञ्जका न हि ते तावच्चितो नित्यत्वशक्तितः ।
क्षित्यादितत्त्ववज्ज्ञातुः कार्यत्वस्याप्यनिष्टितः ॥ १११ ॥

पहिले पक्षके ग्रहण अनुसार वे शरीर, इन्द्रिय और घट, रूप, रस, आदिक विषय तो चैतन्यशक्ति के प्रगट करनेवाले निश्चयसे नहीं हैं क्योंकि ऐसा मानने पर पृथ्वी आदिक तत्त्वोंके समान ज्ञाता आत्माको भी व्यङ्ग्य पक्षमें नित्यपनेका प्रसंग आता है। अभिव्यक्तिपक्षमें आपने आत्माको कार्यपना भी इष्ट नहीं किया है। तथा च आत्मा भी पृथिवीपरमाणुओंके सदृश एक स्वतन्त्र तत्त्व सिद्ध होता है।

नित्यं चैतन्यं शश्वदभिव्यंग्यत्वात् क्षित्यादितत्त्ववत्, शश्वदभिव्यंग्यं तत्कार्यतानुपगमात्, कदाचित्कार्यत्वोपगमे वाभिव्यक्तिवादविरोधात् ।

चैतन्य नित्य है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह सर्वदा व्यञ्जकोंके द्वारा योग्यतानुसार प्रगट होता है (हेतु) जैसे कि पृथ्वी, जल, आदि ये मूल तत्त्व नित्य हैं (दृष्टान्त) यहां हेतुको दूसरे अनुमानसे सिद्ध करते हैं कि वह चैतन्य सर्वदा ही व्यञ्जकोंसे प्रगट करने योग्य है क्योंकि वह कार्य नहीं माना गया है इस हेतुमें अन्यथानुपपत्तिको दिखलाते हैं कि यदि चार्वाक लोग किसी भी समय आत्माको कारणोंसे बना हुआ कार्य मानेंगे तो चैतन्यके अभिव्यक्ति कहनेके पक्षका परिग्रह करना चार्वाकोंको विरुद्ध पडेगा ।

तदभिव्यक्तकाल एवतस्याभिव्यङ्ग्यत्वं नान्यथेत्यसिद्धं सर्वदाभिव्यङ्ग्यत्वं न मंतव्यम्, अभिव्यक्तियोग्यत्वस्य हेतुत्वात्, तत एव न परस्य घटादिभिरनैकांतिकं तेषां कार्यत्वे सत्यभिव्यंग्यत्वस्याशाश्वतिकत्वात्, स्याद्वादिनां तु सर्वस्य कथंचिन्नित्यत्वान्न केनचिद्व्यभिचारः ।

" गर्भकी आद्य अवस्थामें या ज्ञान होते हुए उस अभिव्यक्ति के समय ही इस चैतन्यको प्रगट होने योग्य हम चर्वाक स्वीकार करते हैं । अन्य प्रकारसे दूसरे समयोंमें चैतन्यको अभिव्यंग्य नहीं मानते हैं । हम असत्कार्यवादी हैं । जो की पिठी और महुआमें पहिले जैसे मादक शक्ति नहीं है, परंतु पुनः नयी प्रकट हो जाती है । वैसे ही चैतन्य भी नवीन दीयासलाई से आगके समान प्रगट हो जाता है । इस प्रकार जैनोंका चैतन्यको नित्य सिद्ध करने के लिये दिया गया सर्वदा अभिव्यंग्यपना हेतु तो पक्षमें न रहने के कारण असिद्ध हेत्वाभास है " ग्रंथकार कहते हैं कि यह चार्वाकोंको नहीं मानना चाहिये क्योंकि " हम जैनोंने चैतन्यमें सदा ही प्रगट होनेकी योग्यताको हेतु होना इष्ट किया है । चैतन्यमें प्रगट होनेकी योग्यता सर्व कालोंमें विद्यमान है । इस ही कारणसे हमारे हेतुमें दूसरे चार्वाक लोग घट, पट आदिकोंसे व्यभिचार भी नहीं दे सकते हैं क्योंकि उन घट, पट आदिकोंको कार्यपना होते हुए प्रगट होनापन सदा विद्यमान नहीं है । शिवक, स्थास, कोष, कुशूल इन अवस्थाओंमें ही घटके प्रगट होनेकी योग्यता है । उससे पहिले और पीछे नहीं है । किंतु ज्ञान सदा ही प्रगट होनेकी शक्तिसे सम्पन्न है । अतः चैतन्य नित्य है । घट आदिक नित्य नहीं हैं । "

" दूसरी बात यह है कि हम स्याद्वादियोंके मतमें तो द्रव्यार्थिक नयसे सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् नित्य माने गये हैं । अतः किसीसे भी व्यभिचार नहीं होता है । द्रव्य रूपसे घट, पट आदिकको भी हम नित्य माननेके लिये सन्नद्ध हैं । "

कुम्भादिभिरनेकान्तो न स्यादेव कथञ्चन ।
तेषां मतं गुणत्वेन परैरिष्टः प्रतीतितः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार कालांतरस्थायी घट, पट आदिसे भी किसी ही तरह व्यभिचार दोष नहीं है क्योंकि उन स्याद्वादियोंके मंतव्यको प्रतीतिके अनुसार गौणरूपसे दूसरे चार्वाकोंने इष्ट किया है ।

प्रतीतिका अपलाप कोई नहीं कर सकता है। घट आदिकोंमें व्यक्त होनापन सिद्ध नहीं है। घट आदि पर्यायें नवीन उत्पन्न हुयी हैं।

न ह्येकांतनश्वरा घटादयः प्रदीपादिभिरभिव्यंग्या नाम नाशैकांतेऽभिव्यंग्याभिव्यंजकभावस्य विरोधान्नित्यैकांतवत्, जात्यन्तरे तस्य प्रतीयमानत्वादिति प्रतिपक्षापेक्षया न घटादिभिरनेकांतः साधनस्य।

यदि बौद्धोंके सदृश चार्वाक भी एकांतहठसे घट, पट आदिकोंको सर्वथा नाशशील मानेंगे तो अन्धेरेमें रखे हुए घट, पट आदि पदार्थ कैसे भी प्रदीप, अग्निज्वाला, चंद्रिकासे अभिव्यंग्य न हो सकेंगे, क्योंकि नहीं विद्यमान कार्यके स्वरूप निर्माण करनेवालेको कारकहेतु कहते हैं और पहिलेसे विद्यमान पदार्थके प्रगट करनेवाले हेतुको व्यञ्जक कहते हैं।

यदि घट एक क्षणमें ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जावेगा तो विनाशके एकांतपक्षमें प्रगट होना और प्रगट कर देनापन यह व्यंग्यव्यंजकभाव नहीं बन सकेगा उसमें विरोध होगा। जैसे कि घटको एकांत रूपसे कूटस्थनित्य माननेमें व्यंग्यव्यंजकभाव नहीं बनता है, क्योंकि अनभिव्यक्त अवस्थाको छोडकर घट अभिव्यक्त अवस्थाको धारण करे, तब कहीं प्रकट होवे। एवं सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य पक्षके अतिरिक्त कालान्तरस्थायी कथंचित् नित्यानित्यरूप तीसरी जातिवाले पक्षमें ही वह व्यंग्यव्यञ्जकभाव प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार चार्वाकोंके प्रतिकूल हो रहे जैनसिद्धांतके मन्तव्यकी अपेक्षासे हमारे हेतुका घट, पट आदिसे व्यभिचार नहीं है।

ततः कथंचिच्चैतन्यनित्यताप्रसक्तिभयान्न शरीरादयश्चित्ताभिव्यंजकाः प्रतिपादनीयाः।

उक्त समीचीन अनुमानसे चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व द्रव्यदृष्टिसे नित्य हो जाता है किन्तु चैतन्यका नित्यरूपसे सिद्ध होना आपको इष्ट नहीं है। उस कारणसे चैतन्यको कथञ्चित् नित्यताके प्रसंग होनेके डरसे आपको अपना पहिला पक्ष हटा लेना चाहिये अर्थात् " शरीर, इन्द्रिय और विषय ये मिलकर चेतन आत्मतत्त्वको प्रगट करनेवाले हैं, यह नहीं समझ बैठना चाहिये " किन्तु यों कहना चाहिये कि—

शब्दस्य ताल्वादिवत् तेभ्यश्चैतन्यमुत्पाद्यत इति क्रियाध्याहाराद्व्यज्यत इति क्रियाध्याहारस्य पौरन्दरस्यायुक्तत्वात्। कारका एव शरीरादयस्तस्येति चानुपपन्नम्, तेषां सहकारित्वेनोपादानत्वेन वा कारकत्वायोगादित्युपदर्शयन्नाह—

कण्ठ, तालु, ओष्ठ, भाषावर्गणा आदिक जैसे शब्दके कारक हेतु हैं। उसी प्रकार उन शरीर इन्द्रिय और विषयोंसे चैतन्य उत्पन्न कराया जाता है। सूत्रमें तेभ्यश्चैतन्यं " उनसे चैतन्य " यह क्रियारहित वाक्य पडा है। यहां उनसे चैतन्य प्रगट होता है। इस प्रगट होना रूप क्रियाका।

अध्याहार करना बृहस्पतिमतके अनुयायी चार्वाकको अयुक्त है। हां उनसे चैतन्य पैदा होता है इस उत्पत्तिरूप क्रियाका उपस्कार करना चार्वाकके सिद्धान्तसे समुचित है। अतः शरीर आदिक उस चैतन्यके कारक हेतु ही हैं। इस प्रकार चार्वाकोंका द्वितीय पक्ष ग्रहण करना भी युक्तियोंसे सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि हम पूछते हैं कि आप चार्वाक उन शरीर आदिकको चैतन्यका सहकारी कारण मानते हैं या उपादान कारण मानते हैं ? बताओ दोनों पक्षमें किसी भी ढंगसे शरीर आदिकको कारकपना नहीं बनता है। इस बातको विशद रीतिसे दिखलाते हुए भगवान् विद्यानंदी आचार्य वार्तिक कहते हैं।

नापि ते कारका वित्तेर्भवन्ति सहकारिणः।
स्वोपादानविहीनायास्तस्यास्तेभ्योऽप्रसूतितः। ॥ ११३ ॥

द्वितीय पक्षके अनुसार चैतन्यके वे शरीर, इंद्रिय और विषय सहकारी कारण होकर कारक भी नहीं हैं क्योंकि विना अपने उपादानकारणके उस चैतन्यकी केवल उन शरीर आदि सहकारी कारणोंसे उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उपादानकारणके विना जगत्में कोई भी कार्य नहीं बनता है।

स्वोपादानरहिताया वित्तेः शरीरादयः कारकाः शब्दादेस्ताल्वादिवदिति चेन्न असिद्धत्वात् तथाहि—

चार्वाक कहता है कि शब्द, बिजली, दीपकलिका जैसे विना उपादानकारणके केवल कण्ठ, तालु, बादलोंका घर्षण, दीपशलाका आदि निमित्त कारणोंसे उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार अपने उपादानकारणके विना उत्पन्न हुए चैतन्यके भी शरीर आदि सहकारीकारक हो जावेंगे। आचार्य कहते हैं कि चार्वाकका यह कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि विना उपादानकारणके किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति होना सिद्ध नहीं है। इस बातको प्रसिद्ध कर कहते हैं।

नोपादानाद्विना शब्दविद्युदादिः प्रवर्तते।
कार्यत्वात्कुम्भवच्चाप्यदृष्टकल्पनमत्र ते ॥ ११४ ॥
क्व काष्ठान्तर्गतादग्नेरग्न्यन्तरसमुद्भवः।
तस्याविशेषतो येन तत्त्वसंख्या न हीयते ॥ ११५ ॥

उपादानकारणके विना शब्द, बिजली आदिक नहीं प्रवर्तते यानी उत्पन्न नहीं होते हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे कार्य हैं (हेतु) जैसे कि मिट्टीके बिना घडा उत्पन्न नहीं होता (अन्वयदृष्टांत) इस अनुमानसे शब्द आदिके चर्मचक्षुओंसे नहीं दीखनेवाले भी भाषावर्गणा और शब्दयोग्य पुद्गलस्कन्ध उपादानकारण सिद्ध कर दिये जाते हैं। यहां तुम चार्वाकका हमारे ऊपर यह कटाक्ष होसकता है

कि शब्दादिकके उपादानका अनुमान करना जैनोंकी नहीं देखे हुए पदार्थकी व्यर्थ कल्पना है। घटमें तो मिट्टी उपादान देखी जाती है किंतु शब्दमें कोई उपादान नहीं देखा जाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि चार्वाक यों कहेंगे तो हम कहते हैं कि काष्ठके जलनेपर अग्नि होनेकी अवस्थामें चार्वाक लोग काठरूप पृथिवीतत्त्वके भीतर अग्नितत्त्वसे ही दूसरी अग्निके उत्पन्न होजाने रूप क्यों अदृष्टकी कल्पना करते हैं ? बताओ। जैनसिद्धांतके अनुसार काष्ठरूप पुद्गल ही अग्निरूप परिणत हो जाता है। ऐसा देखा हुआ ही पदार्थ क्यों न माना जावे अर्थात् शुक्ल, शुष्क, ठण्डा, कठिन, पौद्गलिक काष्ठ ही उष्ण, लाल, नर्म, चमकता हुआ अग्निरूप बन गया है। जिससे कि अग्नितत्त्व सिद्ध न होनेसे चार्वाकोंके तत्त्वोंकी संख्या क्यों नहीं नष्ट होजावेगी ? तीन दो और परिशेषमें विचार करते हुए एक पुद्गल तत्त्व ही रह जावेगा, यदि काष्ठमें नहीं दीखनेमें आवे ऐसे अग्नितत्त्वकी कल्पना करोगे तो उसीके समान होनेसे शब्द आदिकोंके उपादान कारण भी अनिवार्य मानने पड़ेंगे। जडवाद (साइन्स) भी विना उपादानके कार्योंका विकास होना नहीं मानता है। आपके काठके भीतर अग्नितत्त्वको अदृष्टरूपसे माननेमें और हमारे शब्दके अदृष्ट उपादानकारणोंके माननेमें कोई अंतर नहीं है।

प्रत्यक्षतोऽप्रतीतस्य शब्दाद्युपादानस्यानुमानात्साधने परस्य यद्यदृष्टकल्पनं तदा प्रत्यक्षतोऽप्रतीतात्काष्ठान्तर्गतादग्नेरनुमीयमानाग्न्यन्तरसमुद्भवसाधने तददृष्टकल्पनं कथम स्याद्भूतवादिनः सर्वथा विशेषाभावात् ।

यदि शब्द, बिजली, आदिके इंद्रियप्रत्यक्षसे नहीं जाननेमें आवें ऐसे उपादान कारणोंको अनुमानसे सिद्ध करनेमें दूसरे वादी जैनोंके ऊपर आप अदृष्ट पदार्थकी कल्पना करनेका उपालम्भ देंगे तब तो काष्ठके भीतर प्रत्यक्षसे लेशमात्र भी नहीं देखनेमें आवे ऐसे कारणस्वरूप दूसरे तत्त्वसे अनुमान द्वारा अग्निकी समीचीन उत्पत्ति सिद्ध करनेमें भूतवादी चार्वाकको सर्वथा नहीं देखी हुयी की कल्पना करनारूपी वह दोष क्यों नहीं लागू होगा ? अवश्य लगेगा। अनुमानके द्वारा अदृष्टतत्त्वकी कल्पना करनेमें हमसे तुममें किसी भी प्रकारसे अंतर नहीं है।

काष्ठादेवानलोत्पत्तौ क तत्त्वसंख्याव्यवस्था, काष्ठोपादेयस्यानलस्य काष्ठेतरत्वाभावात् पृथिवीत्वप्रसक्तेः। पार्थिवानां च मुक्ताफलानां स्वोपादाने जलेऽन्तर्भावाज्जलत्वापत्तेर्जलस्य च चंद्रकांतादुद्भवतः पार्थिवत्वानतिक्रमात् ।

यदि काष्ठसे ही अग्निकी उत्पत्ति मानोगे और काष्ठके भीतर अदृष्ट अग्नितत्त्व नहीं स्वीकार करोगे, तो चार संख्यावाले तत्त्वोंकी व्यवस्था कहां रही ? पृथ्वीरूप काष्ठको उपादानकारण स्वीकार कर उत्पन्न हुयी उपादेय अग्निको पार्थिवकाष्ठसे भिन्नपनेका अभाव हो जानेके कारण पृथ्वीपनेका प्रसंग हो जावेगा। तथा इसी प्रकार पृथ्वीके विकारस्वरूप कठिन, भारी और गन्ध-

वाले मोतियोंका अपने उपादानकारण जलमें अन्तर्भाव होजानेके कारण मोतियोंको जलपनेका आपादन हो जावेगा, क्योंकि विशेष नक्षत्र आदिके योग होनेपर सीपमें पडे हुए जलकाही कालान्तरमें मोतीरूप परिणमन हो जाता है। तथा चन्द्रमाके उदय होनेपर पृथ्वीतत्त्वका विकार मानी गयी चन्द्रकान्तमणिसे जल उत्पन्न हो जाता है तो उस जलको भी पार्थिवपनेका अतिक्रमण न होगा, अर्थात् जल भी अपने उपादान चन्द्रकान्तमणिरूप पृथ्वीतत्त्वमें गर्भित हो जावेगा। इस प्रकार आपके माने हुए पृथ्वी, अप्, तेज, वायु इन चार तत्त्वोंकी व्यवस्था न हो सकेगी। क्योंकि अन्नसे पेटमें वायु, वायुसे आकाशमें जल, जलसे वृक्षमें काष्ठ, काष्ठसे जलने पर अग्नि और अग्निसे राख इत्यादि संकरपनेसे उपादान उपादेय भाव होरहा है।

यदि पुनः काष्ठादयोऽनलादीनां नोपादानहेतवस्तदानुपादानानलाद्युत्पत्तिः कल्पनीया, सा च न युक्ता प्रमाणविरोधात्।

यदि आप फिर काठ, जल और चंद्रकांतको आग, मोती और जलका समवायिकारण नहीं मानोगे तब तो विना उपादानकारणके अग्नि, मोती, आदि की उत्पत्ति कल्पित करनी पडेगी और वह कल्पना करना तो ठीक नहीं है क्योंकि विना उपादानकारणके कार्योंकी उत्पत्ति माननेमें प्रमाणोंसे विरोध है। सर्व बाल गोपाल इष्ट कार्योंके सम्पन्न करनेके लिये प्रथम ही उपादान कारणोंको ढूंढते हैं। समवायीकारण ही कार्यस्वरूप परिणत होता है।

ततः स्वयमदृष्टस्यापि पावकाद्युपादानस्य कल्पनायां चितोऽप्युपादानमवश्यमभ्युपेयम्।

इस कारण आप काष्ठके भीतर निजरूपसे नहीं दीखते हुए भी अग्नि तत्त्वको दृश्यमान अग्निके उपादान कारणकी कल्पना करोगे तो उसीसे चैतन्यका भी उपादान कारण आत्मा आपको अवश्य स्वीकार करना चाहिए। न्यायमार्ग सबके लिए एकसा होता है॥

सूक्ष्मो भूतविशेषश्चेदुपादानं चितो मतम्।
स एवात्मास्तु चिज्जातिसमन्वितवपुर्यदि॥ ११६॥

स्थूल पृथ्वी आदिकोंमें रहनेवाला विलक्षण प्रकारका अत्यंत सूक्ष्मभूत यदि चैतन्यका उपादान कारण आपने माना है तो यदि उस सूक्ष्मभूतका डील अनाद्यनंत अन्वितरूप करके चैतन्यशक्तिसे सहित है, तब तो वही चेतना नामक नित्य सदृशपरिणति-स्वरूप शरीरका धारी आत्मा तत्त्व होओ, आपने उस चित्शक्तिवाले तत्त्वका नाम सूक्ष्मभूत रख लिया है। हम उसको जीव या आत्मा कहते हैं। हमारे और आपके केवल शब्दोंमें अंतर है अर्थमें नहीं।

तद्विजातिः कथं नाम चिदुपादानकारणम्।
भवतस्तेजसोऽम्भोवत्तथैवादृष्टकल्पना॥ ११७॥

यदि आप चार्वाकके मतमें अन्वितरूप चैतन्यशक्तिवालेसे विभिन्न जातिवाला सूक्ष्मभूत जडस्वरूप स्वीकृत किया है तो वह भला चैतन्यका उपादान कारण कैसे हो सकता है ? असत्य बात है। जैसे कि तेजका उपादान जल नहीं होता है। उसी प्रकार विजातीय जडसे चैतन्यकी उत्पत्ति माननेमें आपकी मनमानी गढी हुयी युक्तिशून्य अदृष्टपदार्थकी कल्पना है। जो कि आजतक किसी परीक्षकने नहीं की है।

सत्त्वादिना समानत्वाच्चिदुपादानकल्पने ।
क्ष्मादीनामपि तत्केन निवार्येत परस्परम् ॥ ११८॥
येन नैकं भवेत्तत्त्वं क्रियाकारकघाति ते ।
पृथिव्यादेरशेषस्य तत्रैवानुप्रवेशतः ॥ ११९ ॥

जड और चेतनका सत्पने, द्रव्यपने, और वस्तुपने प्रमेयत्व आदिसे सजातीयपना मानकर भूतोंको चैतन्यका उपादानकारण होजानेकी कल्पना स्वीकार करोगे, यों तो सत्त्व, द्रव्यत्वसे पृथ्वी, जल आदिमें भी सजातीयता है। तब पृथिवी, जल आदिके भी परस्परमें उपादान उपादेयपनेको कौन रोक सकता है ? कोई भी नहीं, जिससे कि तुम्हारे मतमें एक ही तत्त्व सिद्ध न हो जावे। जो कि क्रिया, कारक को नष्ट करनेवाला है। पृथ्वी, जल आदिक सम्पूर्ण पदार्थोंका उस ही एक तत्त्वमें पूर्णरीत्या प्रवेश हो जावेगा। भावार्थ—उत्कृष्ट सामान्यरूपसे व्यापक होरहे सत्त्व, द्रव्यत्व और वस्तुत्वधर्मोंसे यदि सजातीयपना व्यवस्थित किया जावेगा तो कार्यकारणभाव, कर्त्ता-क्रियाभाव नहीं बन सकेंगे। क्योंकि जैसे कार्य सत् है वैसे ही कारण भी सत् है तथा च कार्य ही कारणका कारण क्यों न बन जावे। अतः इतने बडे पेटवाले धर्मसे उपादान उपादेय व्यवस्था नहीं होसकती है किंतु एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप स्वभावसे ही उपादान उपादेय व्यवस्था है चैतन्य और भूत जडमें अन्वितरूपसे एक द्रव्यप्रत्यासत्ति नहीं होनेसे उपादान उपादेय भाव नहीं है। हां जैन सिद्धांतमें क्रियाकारक भाव सब बन जाते हैं। एकही तत्त्व मानने पर ये सब नहीं बन पाते हैं।

सूक्ष्मभूतविशेषश्चैतन्येन सजातीयो विजातीयो वा तदुपादानं भवेत् ? सजातीयश्चेदात्मनो नामान्तरेणाभिधानात् परमतसिद्धिः। विजातीयश्चेत् कथमुपादानमग्नेर्जलवत्। सर्वथा विजातीयस्याप्युपादानत्वे सैवादृष्टकल्पना।

उक्त वार्तिकोंकी टीका करते हैं कि परमाणुस्वरूप विशेष रीतिसे माना गया सूक्ष्मभूत आप चार्वाकके मतमें चैतन्यकी जातिवाला होकर ज्ञानीका उपादान कारण है अथवा विजातीय होकर चैतन्यका उपादान कारण है ? बताओ। यदि पहिला पक्ष सजातीयका लोगे तो दूसरे सूक्ष्मभूत शब्दोंसे आपने आत्माको ही कह दिया है। अतः दूसरे वादियोंके मतकी जैनमतकी सिद्धि हो जावेगी।

यदि भिन्नजातिवाला दूसरा पक्ष लोगे तब तो अग्निका जलके समान विजातीय भूत उस चैतन्यका उपादान कारण कैसे बन सकता है ? अर्थात् जैसे अग्निका उपादानकारण जल नहीं है वैसे ही विजातीयभूत भी आत्माका उपादान न हो सकेगा। यदि सर्वप्रकारसे विजातीय पदार्थको भी उपादान कारण मानोगे तो फिर भी चार्वाकोंने वही अदृष्ट पदार्थोंकी कल्पना की जो कि प्रतीतिओंसे विरुद्ध है।

गोमयादेर्वृश्चिकस्योत्पत्तिदर्शनान्नादृष्टकल्पनेति चेत् न वृश्चिकशरीरगोमययोः पुद्गलद्रव्यत्वेन सजातीयत्वात्, तयोरुपादानोपादेयतापायाच्च। वृश्चिकशरीरारम्भका हि पुद्गलास्तदुपादानं न पुनर्गोमयादिस्तस्य सहकारित्वात्।

यदि चार्वाक यों कहें कि गोबर, दही, आदिसे विच्छू पैदा होते हुए देखे गये हैं। अतः जडसे चैतन्यकी उत्पत्ति माननेमें हमारी अदृष्टकल्पना नहीं है। आचार्य कह रहे हैं कि इस प्रकार तो मति (नहीं) कहो—क्योंकि विच्छूका शरीर और गोबर दोनों ही पुद्गलद्रव्य होनेकी अपेक्षासे समानजातिवाले हैं। अतः उन शरीर और गोबरका उपादानउपादेयभाव है। बिच्छूकी आत्मा और गोबरका उपादान उपादेयभाव सर्वथा नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जैन सिद्धांतकी सूक्ष्म गवेषणा करनेपर गोमयको शरीरका उपादान कारणपना भी सिद्ध नहीं है किंतु गोबरमें अदृश्यरूपसे विद्यमान होरही सूक्ष्म आहारवर्गणाएं ही बिच्छूके शरीरको बनानेवाली उपादानकारण हैं, जिनको कि गोबरमें आया हुआ बिच्छूका जीव अपने योगसे प्रतिक्षण कुछ देरतक ग्रहण करता है मोटा दृश्यमान गोबर आदि तो सहकारी कारण हैं। अतः आपका दृष्टांत विषम है। वास्तवमें पौद्गलिक शरीरकी गोबर, दही, वर्गणा आदिसे उत्पत्ति है, चैतन्यकी नहीं। हां! शरीर, इंद्रियां, मस्तक और छातीके छोटे छोटे अवयव या ब्राह्मी, बादाम, आदि पुद्गल उस चेतन आत्मासे उपादेय होरहे ज्ञानके निमित्त कारण बन जाते हैं।

सत्त्वेन द्रव्यत्वादिना वा सूक्ष्मभूतविशेषस्य सजातीयत्वाच्चेतनोपादानत्वमिति, तत एव क्ष्मादीनामन्योऽन्यमुपादानत्वमस्तु निवारकाभावात्।

चार्वाक कहते हैं कि जडभूत भी सद्रूप है और चैतन्य भी सद्रूप विद्यमान है। इसी प्रकार अचेतनभूत भी द्रव्य है और आत्मा भी द्रव्य है तथा भूत और चैतन्य दोनों अभिधेय, ज्ञेय, वस्तु, पदार्थ हैं। यों सत्त्व और द्रव्यपने आदिसे चेतनका सजातीय होनेसे विशिष्ट परिणामोंमें मिला हुआ सूक्ष्म भूत हमारे यही चेतनका उपादान कारण हो जावेगा ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा मानोगे तो तिस ही कारण पृथ्वी आदिकोंका भी परस्परमें उपादान उपादेय भाव हो जावे। क्योंकि कोई रोकनेवाला नहीं है। सत् और द्रव्यपनेसे पृथ्वी आदि भी समान जातिवाले हैं फिर पृथ्वी जल आदि चार तत्त्व पृथक् क्यों माने जाते हैं ? एक ही तत्त्व (पुद्गल) मानलो।

तथा सति तेषां परस्परमनन्तर्भावस्तदन्तर्भावो वा स्यात्? प्रथमपक्षे चैतन्यस्यापि भूतेष्वन्तर्भावाभवात् तत्त्वान्तरत्वसिद्धिः। द्वितीयपक्षे तत्त्वमेकं प्रसिद्ध्येत्, पृथिव्यादेः सर्वस्य तत्रैवानुप्रवेशनात्, तच्चायुक्तं क्रियाकारकघातित्वात्।

यदि पृथ्वी आदिकोंका आप परस्परमें उपादान उपादेय भाव इष्ट कर लोगे तो तैसा होनेपर हम जैन आपसे पूंछते हैं कि उन पृथ्वी आदि तत्त्वोंको पृथक् पृथक् मानते हुए परस्परमें अंतर्भाव न करोगे अथवा एकका दूसरेमें अंतर्भाव कर लोगे? बताओ।

यदि आप चार्वाक प्रथम पक्ष लोगे तब तो पृथ्वी में जल आदिकका गर्भ न होनेके समान चैतन्यका भी भूतोंमें अंतर्भाव न होगा। एवं च भूतोंसे अतिरिक्त चैतन्य भिन्न तत्त्व सिद्ध होता है।

यदि आप दूसरा पक्ष लेंगे अर्थात् एकका दूसरेमें गर्भ कर लोगे तो चैतन्य भले ही भूतमें अन्तःप्रविष्ट हो जाय किंतु साथमें पृथ्वी आदिक चारों तत्त्व भी एक तत्त्व हो जावेंगे सभी पृथ्वी आदिक चारोंका एकमें ही प्रवेश हो जावेगा।

यदि आप दूसरेके अपशकुन करनेके लिये " स्वनासिकाछेद " न्यायसे चैतन्य भिन्न तत्त्व सिद्ध न हो जावे, इस लिये पृथिवी, जल, आदिकोंको भी एक ही तत्त्व स्वीकार कर लोगे तो वह भी मानना युक्तियोंसे शून्य है। क्योंकि ऐसा माननेसे क्रियाकारकभाव नष्ट हो जाता है। ब्रह्माद्वैतवादियोंकी तरह सब पदार्थोंको एक ब्रह्मतत्त्वमें अंतर्भाव करनेसे क्रिया, कर्त्ता, कर्म नहीं हो सकते है। क्या वही एक आप ही अपनेसे स्वयं बन जाता है? नहीं, इस प्रकार एक तत्त्वके माननेसे चार्वाकको अपसिद्धांत भी होगा। परिशेषमें आत्माको ही चैतन्यका उपादानकारण माननेपर चैन मिल सकता है।

तस्माद्द्रव्यान्तरापोढस्वभावान्वयि कथ्यताम्।
उपादानं विकार्यस्य तत्त्वभेदोऽन्यथा कुतः॥ १२०॥

तिस कारण उपादानकारण माननेका यह नियम करना चाहिये कि जो स्वपर्यायवाले प्रकृत द्रव्यसे अतिरिक्त दूसरे द्रव्योंसे व्यावृत्त स्वभाववाला है और यह वही द्रव्य है। इस प्रकार अन्वयज्ञानका जो विषय है वही विकारको प्राप्त हुये उस कार्यका उपादानकारण है। यदि ऐसा न मानकर अन्यप्रकारसे मानोगे तो पृथिवी, जल आदि तत्त्वोंका भी भेद कैसे होगा? बताओ तो सही। बगलें क्यों झांकते हैं। सिद्धांत यह है कि जैसे क्षुद्र गंगानदीकी धारा गंगोत्तरी पर्वतसे लेकर कलकत्ता पर्यंत बह रही है। हरिद्वार, कानपुर, बनारस, पटना आदिमें भिन्नदेशवाली पर्यायोंको धारण करनेवाली वही एक गंगा है। इसी प्रकार अनादि कालसे अनंत काल

तक पर्यायोंको धारण करता हुआ अखण्ड एक द्रव्य पूर्व उत्तरवर्ती पर्यायोंके द्वारा उपादान उपादेयस्वरूप होरहा है। दूसरा सजातीय या द्रव्य उसकी पर्यायोंका उपादान कारण नहीं है।

तत्त्वमुपादानत्वं विकार्यत्वं च तद्भेदो द्रव्यान्तरव्यावृत्तेन स्वभावेनान्वयित्वे सत्युपादानोपादेययोर्युक्तो नान्यथातिप्रसंगादित्युपसंहर्तव्यम्।

यहां उपादानव्यवस्थासंबंधी नियमके प्रकरणका बक्ष्यमाण इस तरह संक्षेपमें संकोच करना चाहिए कि उपादान कारण और उसके विकारको प्राप्त हुए उपादेय कार्य दोनों एकही तत्त्व हैं। उन उपादान और उपादेयका केवल कार्यकारणरूपसे भेद है। निराले भिन्न तत्त्वोंकी अपेक्षासे भेद नहीं है क्योंकि वे दोनों ही दूसरे द्रव्योंके स्वभावोंसे पृथग्भूत स्वकीय स्वभावोंकरके धाराप्रवाह रूपसे एक दूसरेमें शृङ्खलाबद्ध अन्वित हो रहे हैं। सभी उपादान उपादेयभाव उचित पडता है जो पर्याय अखण्ड त्रिकालगोचर द्रव्यमें अन्वित नहीं हैं उनमें उपादान उपादेयपना भी नहीं है। यदि ऐसा नियम न माना जावेगा तो अन्य प्रकार होनेपर अतिप्रसंग हो जावेगा। अर्थात् कोई भी चेतनद्रव्य जडका और आपके मतानुसार पृथ्वीतत्त्व जलका भी उपादान बन बैठेगा, हम तो अनंतानंत पर्यायोंको टांकीसे उकेरे गये न्यायसे द्रव्यमें शक्तिरूपसे विद्यमान मानते हैं। अतः न कोई बाल बराबर घटता है और न रत्ती भर बढता है सब अपने अपने स्वभावोंमें रमे रहते हैं।

यदि द्रव्यप्रत्यासत्ति न रखनेवाले किसी भी तत्त्वसे चाहे कोई भी उपादेय बन जावेगा तो मोहम्मद—मतानुयायियोंके खुदाके यथावश्यक विचारानुसार अनेक रूहों (आत्माओं) की उत्पत्ति कर देनेके समान असंख्य नवीन पदार्थ उत्पन्न हो जावेंगे। अश्वके मस्तकमें भी सींग निकल आवेंगे, चनासे गेहूंका अंकुर भी उपज जायगा जो कि किसीको इष्ट नहीं है॥

तथा च सूक्ष्मस्य भूतविशेषस्याचेतनद्रव्यव्यावृत्तस्वभावेन चैतन्यमनुगच्छतस्तदुपादानत्वमिति वर्णादिरहितः स्वसंवेद्योऽनुमेयो वा स एवात्मा पंचमतत्त्वमनात्मज्ञस्य परलोकप्रतिषेधासम्भवव्यवस्थापनपरतया प्रसिद्ध्यत्येवेति निगद्यते।

वैसा होनेपर इस कारणसे यह बात प्रसिद्ध हो ही जाती है कि अचेतन जड द्रव्योंके स्वभावोंसे पृथग्भूत स्वभावों करके सर्वदा चेतनपनेका अनुगमन करनेवाला आत्मा ही सूक्ष्मभूत विशेष है और वही ज्ञानका उपादान कारण है जोकि पृथ्वी आदिकके स्वभावोंसे सर्वथा रहित है। इस प्रकार रूप, रस, आदिकसे रहित हो रहा और अपनेमें स्वयं स्वसंवेदनप्रत्यक्षका विषय तथा दूसरेमें वचन चेष्टा, आदि द्वारा अनुमान करने योग्य वह सूक्ष्मभूत ही हमारा आत्मा है। आत्माको नहीं जाननेवाले चार्वाकको पांचवा चेतन तत्त्व अगत्या स्वीकार करना पडेगा। चार्वाकने अनाद्य-

नन्त आत्माको स्वीकार न करते हुए स्वर्ग, नरक, प्रेत्यभाव, परलोककी व्यवस्था नहीं मानी है किंतु जब स्वसंवेदनके योग्य सूक्ष्मभूतको मानलिया है तो परलोकके निषेधका सम्भव न होनेकी व्यवस्था करनेमें चार्वाक स्वयं तत्पर होरहा है। इस कारण उक्त निर्णय प्रमाणोंसे सिद्ध होजाता ही है। इसी बातको आचार्य महाराज वार्तिकों द्वारा पुनः स्पष्ट कर कहते हैं—

> सूक्ष्मो भूतविशेषश्च वर्णादिपरिवर्जितः ।
> स्वसंवेदनवेद्योऽयमनुमेयोऽथवा यदि॥ १२१ ॥
> सर्वथा पंचमं भूतमनात्मज्ञस्य सिद्ध्यति ।
> स एव परलोकीति परलोकक्षतिः कथम् ॥ १२२ ॥

चैतन्यशक्तिको धारण करनेवाला विलक्षण प्रकारका सूक्ष्मभूत है जो कि रूप, रस, गंध, स्पर्शोसे रहित है। यह स्वयं अपनेमें स्वसंवेदन–प्रत्यक्षसे जाना जाता है अथवा दूसरेमें अपने द्वारा और अपनेमें दूसरोंके द्वारा उसका अनुमान भी किया जाता है। यदि चार्वाक यों मानेंगे तो आत्मतत्त्वको नहीं माननेवाले चार्वाकको सभी प्रकारसे चार भूतोंके अतिरिक्त पांचवा भूतस्वरूप आत्मा तत्त्व सिद्ध होजाता है। वह आत्मा ही परलोकको धारण करनेवाला है। ऐसी दशामें एक एक आत्माके पूर्व, पीछे हुये अनादि, अनंत, परलोकोंकी क्षति कहां हुई ? अर्थात् चार्वाकजन परलोकका निषेध कैसे कर सकते हैं ? बतलाइये अर्थात् नहीं।

नेदृशो भूतविशेषश्चैतन्यस्योपादानं किन्तु शरीरादय एव तेषां सहकारित्वेन कारकत्वपक्षानाश्रयादिति चेत्।

चार्वाक कहते हैं कि पूर्वोक्त रीतिसे स्वसंवेद्य और वर्णादिकोंसे रहित ऐसे सूक्ष्मभूत विशेषको हम चैतन्यका उपादान कारण नहीं मानते हैं किन्तु शरीर, इन्द्रिय और विषयोंको ही चैतन्यका उपादान कारण इष्ट करते हैं। हमने जो यह पक्ष किया था कि चैतन्यके सूक्ष्मभूत उपादान कारण हैं वे शरीर, इन्द्रिय तथा विषय तो सहकारी कारण होकर कारक हैं सो अब इस पक्षका हम आश्रय नहीं लेते हैं। भावार्थ—शरीर आदिकको निमित्त कारण न मानकर हम उनको ही चैतन्यका उपादान कारण मानते हैं। यदि चार्वाक ऐसा कहेंगे तब तो आचार्य कहते हैं कि—

> शरीरादय एवास्य यद्युपादानहेतवः ।
> तदा तद्भावभावित्वं विज्ञानस्य प्रसज्यते ॥ १२३ ॥
> व्यतीतेऽपीन्द्रियेऽर्थे च विकल्पज्ञानसम्भवात् ।
> न तद्धेतुत्वमेतस्य तस्मिन्सत्यप्यसम्भवात् ॥ १२४ ॥

शरीर आदिक चैतन्यके निमित्तकारण न होकर यदि उपादानकारण माने जावेंगे तब तो उन शरीर, इन्द्रिय तथा विषयोंके होनेपर ज्ञानका होना और शरीर आदिकके न होनेपर ज्ञानका न होना यों विज्ञानको इस अन्वयव्यतिरेकभाव होनेका प्रसंग आवेगा किन्तु यहां अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार देखा जाता है। सुनिये, इन्द्रियोंके व्यापार और अर्थके बिना भी विचारस्वरूप अन्तरंगमें संकल्प विकल्परूप अनेक ज्ञान होते रहते हैं। इस कारण व्यतिरेकव्यभिचार हो जानेसे इस चैतन्यके वे शरीर आदिक उपादान कारण नहीं हो सकते हैं और यहां अन्वयव्यभिचार भी है। अन्यमनस्क मूर्च्छित, या मरे हुए जीवके उन शरीर और इन्द्रियोंके होनेपर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। तथा उपादेय अवस्थामें कार्यस्वरूपसे उपादानका रहना आवश्यक है किन्तु चैतन्यके होनेपर भी ध्यान या विचार की अवस्थामें उपादान माने गये शरीर और इन्द्रियोंका उपादेय परिणामस्वरूप होकर विद्यमान रहना देखा नहीं जाता है। घट अवस्थामें मिट्टी और कपडेकी दशामें सूत तो देखे जाते हैं—

कायश्चेत्कारणं यस्य परिणामविशेषतः ।
सद्यो मृततनुः कस्मात्तथा नास्थीयतेमुना ॥ १२५ ॥
वायुविश्लेषतस्तस्य वैकल्याच्चेन्निबन्धनम् ।
चैतन्यमिति संप्राप्तं तस्य सद्भावभावतः ॥ १२६ ॥

जिस चार्वाकके मतमें विशिष्ट मिश्रणरूप परिणतिसे युक्त शरीरको चैतन्यका उपादान कारण इष्ट किया है यों तो हम पूंछते हैं कि मरनेके कुछ काल पहिले जो शरीर चैतन्यका कारण हो रहा था वह शरीरका विशेष परिणमन मरते समय भी विद्यमान है। अतः शीघ्र मरा हुआ शरीर भी वैसा पूर्वकी प्रकार इस चैतन्यस्वरूप व्यवस्थितरूपसे परिणति क्यों नहीं करता है ? अर्थात् मुर्दाको जीवित हो जाना चाहिये और जीवित होकर उसे बहुत दिनोंतक ठहरना चाहिये।

यदि आप यों कहेंगे कि मरनेपर प्राणवायु निकल जाती है अतः उस आवश्यक वायुसे रहित होरहे केवल पार्थिव, जलीय, तैजस विशिष्ट परिणाम न रह सकनेके कारण उस चैतन्यका कारण नहीं होता है। ऐसा कहनेपर तो यों चैतन्यकी वायुको ही उपादानकारणता भले प्रकार प्राप्त हुयी क्योंकि उस वायुका सद्भाव होनेपर चैतन्यका अस्तित्व और वायुके न रहनेपर चैतन्यका अभाव आपने अभी माना है।

सामग्री जनिका नैकं कारणं किंचिदीक्ष्यते।
विज्ञाने पिष्टतोयादिर्मदशक्ताविवेति चेत् ॥ १२७ ॥

संयुक्ते सति किन्न स्यात्क्ष्मादिभूतचतुष्टये ।
चैतन्यस्य समुद्भूतिः सामग्र्या अपि भावतः ॥१२८॥

बृहस्पति मतवाले कहते हैं कि जैसे मदशक्तिके उत्पन्न करनेमें पिठीका पानी, गुड महुआ आदि कारणोंकी पूर्णतारूप सामग्री कारण है। अकेली पिठीसे मदशक्तिवाला मद्य पैदा नहीं होता है। उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा इनके विशेष विशेष परिमाणमें होनेवाले परिणामरूप कारणकूटसे विज्ञान उत्पन्न होता है। एक एक करके कोई भी वायु या पृथ्वी उपादानकारण नहीं देखा जाता है, कारणोंकी समग्रता कार्यको करती है। अकेला कारण नहीं। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि चार्वाक यह कहेंगे तब तो कसैंडी या भगौनामें दाल, भात पकाते समय पृथ्वी, अप्, तेज और वायु इन चारों भूतोंके मिश्रण होजाने पर चूल्हाके ऊपर कसैंडीमें चैतन्यकी बढिया उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती है? बताओ; चार्वाकोंके मतानुसार कारणसमुदायस्वरूप सामग्री भी वहां विद्यमान है। न्यायशास्त्रका कार्यकारणभाव पक्का होता है। कारणोंके मिल जानेपर कार्य अवश्य हो जाना ही चाहिये।

तद्विशिष्टविवर्त्तस्यापायाच्चेत्स क इष्यते ।
भूतव्यक्त्यन्तरासंगः पिठिरादावपीक्ष्यते ॥ १२९ ॥
कालपर्युषितत्वं चोत्पिष्टादिवदुपेयते ।
तत्किं तत्र न सम्भाव्यं येन नातिप्रसज्यते ॥ १३० ॥

यदि आप चार्वाक यह कहेंगे कि कसैंडीमें उन पृथ्वी आदिकका अतिशयधारी विशिष्ट प्रकारका परिणाम नहीं है। अतः चैतन्य नहीं बनता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन आपसे पूंछते हैं कि वह अतिशयधारी परिणाम आपके यहां कौनसा माना गया है?

बताओ, यदि आप दूसरे दूसरे भूतव्यक्तियोंके आकर मिलजानेको विशिष्ट पर्याय स्वीकार करोगे तो यह विशिष्ट परिणाम तो कसैंडी भगोना आदि पाकभाण्डों में भी देखा जाता है। अतः वहां चैतन्य उत्पन्न होजाना चाहिये।

तथा यदि पिठी, महुआ आदिकके समान कुछ समय तक सडना, गलनारूप विशिष्ट परिणाम मानोगे ऐसा स्वीकार करनेपर तो हम आर्हत पूछते हैं कि क्या यह परिणाम उन कसैंडी आदिमें सम्भावित नहीं है?, जलेबीके लिये घोले हुए चूनके समान कसैंडीमें भी देर तक पृथ्वी, जल आदिक भी वासे किये जाते हैं जिससे कि फिर क्यों नहीं वहां चैतन्यकी उत्पत्तिका अतिप्रसंग होगा?। अर्थात् चाहें कहीं भी भूतोंके दो, तीन दिनतक पडे रहनेसे वासे हो जानेपर चाहे

जहां चैतन्य उत्पन्न हो जावेगा। चून आदिके सडाये जानेपर सन्मूर्छन द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय या निगोदराशि जीव उत्पन्न होजाते हैं किंतु मनुष्य घोडे, गाय, भैंस ये जीव उपजने चाहिये जैसे कि माताके पेटमें सत्त्व उपजते हैं। यह आपादन है वस्तुतः चूनसे जीवोंका देह ही बनता है चैतन्य नहीं।

> भूतानि कति चित्किञ्चित्कर्तुं शक्तानि केन चित्।
> परिणामविशेषेण दृष्टानीति मतं यदि ॥ १३१ ॥
> तदा देहेन्द्रियादीनि चिद्विशिष्टानि कानि चित्।
> चिद्विवर्तसमुद्भूतौ सन्तु शक्तानि सर्वदा ॥ १३२ ॥

चार्वाक बोलते हैं कि "जैसे वर्षा ऋतुके जल और मिट्टीसे तथा द्रव्यपरिवर्तनस्वरूप व्यवहारकालसे असंख्य मैंडक, गिंडोरे, गिंजाई, पतङ्गा, इंद्रगोप आदि जंतु उत्पन्न हो जाते हैं, सब स्थानोंमें और सब ऋतुओंमें नहीं होते हैं। इसी प्रकार कितने ही और कोई कोई विशेष भूतचतुष्टय ही किसी विशेषपरिणामसे किन्हीं विशेष जीवोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ देखे गये हैं, गर्भमें या अन्य योनियोंमें मिले हुए भूतचतुष्टय चैतन्यको उत्पन्न कर देते हैं थाली, कसेंडीमें नहीं।"। आचार्य कहते हैं कि यदि तुम्हारा ऐसा मन्तव्य है तब तो आपने प्रामाणिक प्रतीतिके अनुसार कार्यकारण–व्यवस्था स्वीकार की इससे हमें प्रसन्नता हुई। इस तरह तो चेतन आत्मासे संयुक्त हो रहे कोई विलक्षण शरीर, इंद्रिय आदिक ही उस गर्भ आदिकके समय चैतन्यपर्यायको बढिया उत्पन्न करनेमें सर्वदा समर्थ हो जावो। यह स्वीकार कर लेना चाहिए। अर्थात् छिपे हुए चैतन्यस्वरूप उपादानकारणसे और शरीर, इंद्रियां, क्षयोपशम, उत्साह आदि निमित्तकारणोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। जडसे जड शरीर ही बनता है चेतन नहीं। दाल, अमरूद आदिके सडनेपर जो कीट आदि उत्पन्न हो जाते हैं उनका शरीर ही दाल आदिसे बनता है अनादि आत्मा नहीं। आत्मा तो इधर उधरसे वहां जन्म ले लेता है, असंख्य आत्मायें प्रतिक्षण जन्मते, मरते, हैं।

> तथा सति न दृष्टस्य हानिर्नादृष्टकल्पना।
> मध्यावस्थावदादौ च चिद्देहादेश्चिदुद्भवात् ॥ १३३ ॥
> ततश्च चिदुपादानाच्चेतनेति विनिश्चयात्।
> न शरीरादयस्तस्याः सन्त्युपादानहेतवः ॥ १३४ ॥

उस प्रकार ऐसा कार्य, कारण, माननेपर प्रत्यक्ष और अनुमानसे देखे जाने हुए पदार्थकी हानि नहीं हुयी अर्थात् मध्य अवस्थामें अग्निसे अग्नि या दीपकसे दीपकलिकाकी उत्पत्ति होनेके

समान आद्य अवस्थामें भी चेतनमय पिंडसे ही चेतन उत्पन्न हुआ माननेपर उपादेय उपादानके कार्य-कारणभावका भंग नहीं होता है। बांस या पत्थरके रगडनेसे पथिककी पहिली आगकी उत्पत्तिके समान बिना उपादानकारणके पदार्थोंके उत्पन्न होनेकी अदृष्टकल्पनाका भी प्रसंग नहीं है। क्योंकि मध्यकी अवस्थाके समान आदिमें भी चेतन आत्मद्रव्यसे या सुख, चारित्र, सम्यक्त्व आदि ज्ञानशरीरी जीवित पिण्डसे ही वैसा चैतन्य उत्पन्न होता है। बिना उपादानके चैतन्य पैदा नहीं होता है उस कारणसे अब तक चेतन उपादानसे ही ऐसी चेतनाकी उत्पत्तिका निश्चय हो जानेसे चेतनाके शरीर, इन्द्रिय और विषय या अन्य सूक्ष्मभूत आदि उपादान कारण नहीं हैं यह सिद्ध हुआ। बांस तो पुद्गलद्रव्य है वही रगड खाजानेपर अग्निपर्यायको धारण कर लेता है। बांसके जलनेपर मध्यमें भी तो बांस ही अग्निस्वरूप परिणत हुआ है। बांसमें भीतर कोई अग्नि घुसी हुई नहीं है। दाह होनेपर सम्पूर्ण बांस आग्निमय होजाता है।

तदेवं न शरीरादिभ्योऽभिव्यक्तिवदुत्पत्तिश्चैतन्यस्य घटते सर्वथा तेषां व्यञ्जकत्ववत्कारकत्वानुपपत्तेः ।

इस कारण इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियोंसे यह घटित कर दिया है कि शरीर, इंद्रिय आदिकोंसे चैतन्यके प्रगट होनेके समान उनसे चैतन्यकी उत्पत्ति भी नहीं घटित होती है। क्योंकि उन शरीर, इंद्रिय और विषयोंको चैतन्यके अभिव्यञ्जकपनेके सदृश सभी प्रकारोंसे कारकपना भी सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् शरीर आदिक या सूक्ष्मभूत ये चैतन्यके व्यञ्जक अथवा कारक हेतु नहीं हो सकते हैं।

एतेन देहचैतन्यभेदसाधनमिष्टकृत् ।
कार्यकारणभावेनेत्येतद्ध्वस्तं निबुद्ध्यताम् ॥१२५॥

आचार्य महाराजने भिन्नलक्षणपना हेतुसे चैतन्य और देहका भेद सिद्ध किया था। उस समय चार्वाकने परिणामिपरिणाम-भावसे अथवा कार्यकारण-भावसे चैतन्य और देहका भेद हम भी मानते हैं इस प्रकार अचार्योंके ऊपर सिद्धसाधन दोष उठाया था किंतु इस उक्त प्रकरणके द्वारा यह कार्यकारण भावसे देह और चैतन्यका इष्ट किया गया चार्वाकोंका भेद सिद्ध करना भी खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये।

निरस्ते हि देहचैतन्ययोः कार्यकारणभावे व्यंग्यव्यञ्जकभावे च तेन तयोर्भेदसाधने सिद्धसाधनमित्येतन्निरस्तं भवति तत्त्वान्तरत्वेन तद्भेदस्य साध्यत्वात्। न च यद्यस्य कार्यं तत्तत्तत्त्वान्तरमतिप्रसङ्गात्।

देह और चैतन्यके कार्यकारणभाव तथा व्यंग्यव्यञ्जक भावके पक्की तौरसे प्रतिविधान (खंडन) हो जाने पर इससे ही उन दोनोंके भेद सिद्ध करनेमें उठाया गया यह सिद्धसाधनदोष भी खण्डित होगया है क्योंकि भिन्न तत्त्वरूपसे उन देह और चैतन्यके भेदको हमने साध्य किया है। न्याय यह है कि जो जिसका कार्य होता है, वह उससे वास्तविकमें भिन्न तत्त्व नहीं होता है। ऐसा न मानकर यदि किसीके कार्यको भी उससे विजातीय भिन्न तत्त्व मान लोगे तो असंख्य तत्त्व बन बैठेंगे। यह तत्त्वोंकी संख्याके अतिक्रमणका प्रसंग होगा। अर्थात् मिट्टी, दण्ड, घट, और तुरी, तंतु, पट, इस प्रकार न्यारे न्यारे असंख्याते तत्त्व हो जावेंगे। कोई नियत निर्णीत तत्त्व-व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

नापि स्वात्मभूतं व्यंग्यं तत एव, व्यञ्जकाद्भिन्नं तत्त्वान्तरमिति चेन्न, अद्भ्यो रसनस्य तद्भावप्रसङ्गात्, रसनं हि व्यंग्यमद्भ्यो भिन्नं च ताभ्यो न च तत्त्वान्तरं तस्याप्तत्वेऽन्तर्भावात् ।

तथा इस ही कारणसे जो स्वयं निज व्यंजककी आत्मा स्वरूप हो रहा है, वह व्यंग्य भी तत्त्वान्तर नहीं होता है। अन्यथा यहां भी असंख्य व्यंग्य तत्त्व भिन्न भिन्न माननेका अतिप्रसङ्ग हो जावेगा। अर्थात् व्यञ्जक प्रदीपके व्यंग्य हो रहे घट पट आदि सर्व ही पदार्थ न्यारे न्यारे तत्त्व बन जावेंगे जो कि तुमको भी अनिष्ट हैं। हम भिन्न तत्त्वपनेसे देह और चैतन्यका भेद सिद्ध कर रहे हैं। अतः चार्वाक अभिन्न तत्त्वोंमें केवल व्यङ्ग्यव्यंजकपनेसे भेद मानकर हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष नहीं उठा सकते हैं क्योंकि चैतन्य और देहका तत्त्वान्तर होकर भेद सिद्ध किया जा रहा है इसके समझकर दोष उठाना चाहिए। बालकपन अच्छा नहीं।

यदि चार्वाक यों कहेंगे कि वह प्रगट करने योग्य चैतन्य तो अपने व्यञ्जक माने गये पृथिवी आदिकसे भिन्न हैं इस कारण दूसरा तत्त्व है, सो यह कहना तो समुचित नहीं है क्योंकि ऐसा माननेपर तो जलसे रसना इंद्रियके व्यंग्य हो जानेके कारण तत्त्वान्तर होनेका प्रसंग आता है। देखिये जलतत्त्वसे बनी हुयी रसना इंद्रिय निश्चय करके जलसे व्यंग्य है और जलोंसे भिन्न भी है किंतु उसको आपने भिन्न तत्त्व नहीं माना है कारण कि रसना इंद्रियको जलतत्त्वमें गर्भित किया है। नैयायिकोंके समान चार्वाक भी नासिका इंद्रियको पृथ्वीस्वरूप और रसनाको जलसे बनी हुयी तथा चक्षुः इंद्रियका तेजस् तत्त्वसे उत्पन्न होना एवं स्पर्शन इंद्रियको वायवीय स्वीकार करते हैं॥

कार्यकारणयोः सर्वथा भेदात्तद्विशेषयोर्व्यंग्यव्यञ्जकयोरपि भेद एवेति चेन्न, कयोश्चिदभेदोपलब्धेः, कथमन्यथा चैतन्यस्य देहोपादानत्वेऽपि तत्त्वान्तरता न स्यात्, देहाभिव्यंग्यत्वे वा, येन कार्यकारणभावेन देहचैतन्ययोर्भेदे साध्ये सिद्धसाधनमुद्भाव्यते।

यदि तुम चार्वाक यह कहोगे कि हम नैयायिकके समान कार्य और कारणको सर्व प्रकारसे भिन्न मानते हैं। अतः कार्यकारणभावके व्याप्यरूप होरहे व्यंग्य-व्यञ्जकोंका भी भेद ही है।

जो सामान्यमें धर्म रहता है वह उसके विशेषोंमें अवश्य पाया जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह चार्वाकका कथन ठीक नहीं है क्योंकि किन्हीं किन्हीं कार्य और कारणोंमें तन्तु, पटके समान या मिट्टी घटके समान अभेद भी देखा जाता है तथा प्रदीप और घटके समान कोई व्यंग्य व्यञ्जकोंमें भी पौद्गलिकपनेसे अभेद देखा जाता है यदि आप ऐसा न स्वीकार कर अन्य प्रकार मानेंगे तो शरीररूपकारणको चैतन्य स्वरूपकार्यका उपादानपना होते हुए भी कारकपक्षमें भिन्नतत्त्वपना क्यों नहीं होगा ? अथवा चैतन्यकी देहसे प्रगटता माननेपर भी व्यञ्जकपक्षमें तत्त्वान्तररूपसे भेद क्यों न होगा ? बताओ ! जिससे कि कार्यकारणरूप करके देह और चैतन्यका भेद स्वीकार करनेपर आप चार्वाक हमारे तत्त्वान्तररूपसे भेदको साध्य करनेमें सिद्धसाधन नामका दोष उठा सकें। अर्थात् आपके मतानुसार कार्यकारणरूपसे भेद मानने पर तत्त्वान्तररूपसे भेद सिद्ध करना आपको पहिले इष्ट नहीं था और अब नैयायिकोंका अनुकरण करनेपर तत्त्वान्तररूपसे भेद मानना आपको आवश्यक हुआ। अतः आप हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष नहीं उठा सकते हैं प्रत्युत आपके ऊपर अपसिद्धान्त दोष है।

देहस्य च गुणत्वेन बुद्धेर्या सिद्धसाध्यता ।
भेदे साध्ये तयोः सापि न साध्वी तदसिद्धितः ॥ १३६ ॥

चैतन्यको शरीरका गुण माननेपर भेद साध्य करनेमें गुणगुणी भावसे भेद इष्ट होनेका जो चार्वाकोंके द्वारा सिद्धसाध्यतारूप दोष उठाया जाता है वह भी अच्छा नहीं है क्योंकि देह और चैतन्यका गुणगुणिभावसे भेद होना सिद्ध नहीं होता है अर्थात् शरीरका गुण चैतन्य सिद्ध नहीं हो सकता है अतः चैतन्यको देहका गुणपन साधनेमें हेतुकी असिद्धि है।

कथं देहगुणत्वेन बुद्धेरसिद्धिर्यतो बुद्धिदेहयोर्गुणगुणिभावेन भेदसाधने सिद्धसाधनमसाधीयः स्यादिति ब्रूमहे ।

चार्वाक कहते हैं कि चैतन्यको देहका गुणपना कैसे असिद्ध है ? बताओ जिससे कि बुद्धि और देहका गुणगुणिरूपसे भेद स्वीकार करनेपर हमारी तरफसे दिया गया सिद्धसाधन दोष अधिक चोखा न होवे। इस चार्वाकके कटाक्षपर अब हम जैन इस प्रकार आरोपसहित बोलते हैं। सुनिये:—

न विग्रहगुणो बोधस्तत्रानध्यवसायतः ।
स्पर्शादिवत्स्वयं तद्वदन्यस्यापि तथा गतेः ॥ १३७ ॥

शरीरका गुण चैतन्य नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन शरीरमें जैसे विना किसी खटकाके हमको अपने आप स्पर्श, रूप, गंध आदिका निर्णय होरहा है (दृष्टांत) वैसा शरीरमें चैतन्यके रहनेका निर्णय नहीं है (हेतु) यदि किसीके गुणको दूसरेका मान लेंगे तो उसी तरह अन्य घट, पट आदिकका गुण भी चैतन्य उस प्रकार सिद्ध हो जावेगा। तथा गंधगुण जलका और वायुका रूपगुण भी बोला जावेगा जो कि आप चार्वाकको या नैयायिकको अभीष्ट नहीं है।

न हि यथेह देहे स्पर्शादय इति स्वस्य परस्य वाध्यवसायोऽस्ति तथैव देहे बुद्धिरिति येनासौ देहगुणः स्यात्।

जैसे कि इस देहमें स्पर्श, रूप, रस और गंध गुण विद्यमान हैं इस प्रकार हमको और दूसरोंको निश्चय हो रहा है। उसी तरह "देहमें चैतन्य है" ऐसा निर्णय हमको और दूसरोंको नहीं होता है जिससे कि वह चैतन्य देहका गुण माना जावे। प्रतीतियोंसे बाधित होरहे पदार्थको कोई नहीं मानता है।

प्राणादिमति काये चेतनेत्यस्त्येवाध्यवसायः कायादन्यत्र तदभावादिति चेत् न तस्य बाधकसद्भावात्सत्यतानुपपत्तेः। कथम्—

यदि चार्वाक यों कहें कि "प्राणस्वरूप श्वास उच्छ्वास लेना, बोलना, चेष्टा करना, पढना, पढाना आदिसे सहित होरहे शरीरमें चेतना विद्यमान है इस प्रकारका निर्णय सबको हो रहा है। और प्राण आदिसे युक्त देखे गये शरीरसे अतिरिक्त घट, पट आदिकमें उस चेतनाका अभाव प्रतीत हो रहा है। इस कारण शरीरमें ही चेतना मानना चाहिये"। ग्रंथकार कहते हैं कि यह चार्वाकोंका मंतव्य ठीक नहीं है क्योंकि शरीरमें चेतना है ऐसे भ्रांत ज्ञानका बाधक प्रमाण विद्यमान है अतः उस ज्ञानको प्रामाणिकपना सिद्ध नहीं हैं। वह कैसे? सो सुनिये।

तद्गुणत्वे हि बोधस्य मृतदेहेऽपि वेदनम्।
भवेत्त्वगादिवद्बाह्यकरणज्ञानतो न किम्॥ १३८॥

यदि चैतन्यको उस भौतिकदेहका ही गुण मानोगे तो मृतशरीरमें भी चैतन्यका ज्ञान होना चाहिये। जैसे मुर्दा शरीरमें स्पर्शन आदिक इंद्रियोंसे स्पर्श, रूप आदिकका ज्ञान हो रहा है उसी प्रकार बहिरंग इंद्रियोंसे जन्य हुये ज्ञानके द्वारा हम तुमको मृतशरीरमें चैतन्यका ज्ञान भी क्यों नहीं होता है? बताओ, क्योंकि आपके मतमें चैतन्य भी रूपरसके समान शरीरका गुण है और वे बहिरंग इंद्रियोंसे ग्राह्य हैं।

बाह्येन्द्रियज्ञानग्राह्यो बोधोऽस्तु देहगुणत्वात् स्पर्शादिवद्विपर्ययो वा।

उक्त अनुमानकी व्याख्या करते हैं कि चैतन्य भी (पक्ष) बहिरङ्ग इंद्रियोंसे जन्य ज्ञानके द्वारा ग्राह्य हो जाओ (साध्य , क्योंकि आप चार्वाकोंके मतानुसार वह शरीरका गुण है (हेतु) जैसे कि शरीरके गुण स्पर्श, रूप, रस ये बहिरंग इंद्रियोंसे जाने जाते हैं (अन्वयदृष्टांत) दूसरी बात यह है कि अथवा विपरीत (उल्टा) हो जावे अर्थात् देहका गुण चैतन्य जैसे बहिरङ्ग इंद्रियोंसे नहीं जाना जाता है । उसी प्रकार देहके गुण माने गये स्पर्श, रूप आदिक भी बहिरङ्ग इंद्रियोंसे नहीं जाने जावें किंतु ऐसा नहीं देखा जाता है । अतः चार्वाकके हेतु में अन्यथानुपपत्ति गुण नहीं है जो कि हेतुका प्राण है ।

न च बोधस्य बाह्यकरणज्ञानवेद्यत्वं दृष्टमितीष्टं वा संशयानुत्पत्तिप्रसंगात्नापि स्पर्शादेरबाह्यकरणज्ञानवेद्यत्वमित्यतिप्रसङ्गविपर्ययौ देहगुणत्वं बुद्धेर्बाधेते ।

चैतन्यका बाह्य इंद्रियजन्य ज्ञानसे जाना गयापन आज तक न तो देखा गया है और न अनुमान आदि प्रमाणोंसे इष्ट किया है । यदि ऐसा सिद्ध हो गया होता तो चैतन्यको देहका गुण होनेमें किसीको संशय ही उत्पन्न नहीं हो जानेका प्रसंग आता, अर्थात् सभी बाल गोपाल झट चैतन्यको देहका गुण निर्णय कर लेते। अतः चैतन्यको बहिरंग इंद्रियोंसे जाननेका अतिप्रसंग होना मति मानो, और यह विपर्यय भी नहीं मानो कि स्पर्श आदिक गुण भी चैतन्यके समान बहिरंग इंद्रियजन्य ज्ञानोंसे जानने योग्य नहीं हैं । इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों अतिप्रसंग और विपर्यय दोष होना बुद्धिको देहके गुणपनेका बाधन कर रहे हैं । अतः " देहमें बुद्धि है " इस ज्ञानको बाधक प्रमाण उत्पन्न होनेसे सत्यता सिद्ध नहीं होती है तथा च शरीरका गुण चैतन्य नहीं है । यह हमारा प्रतिज्ञावाक्य सिद्ध हुआ ।

सूक्ष्मत्वान्न क्वचिद्बाह्यकरणज्ञानगोचरः ।
परमाणुवदेवायं बोध इत्यप्यसंगतम् ॥ १३९ ॥
जीवत्कायेऽपि तत्सिद्धेरव्यवस्थानुषङ्गतः ।
स्वसंवेदनतस्तावद्बोधसिद्धौ न तद्गुणः ॥ १४० ॥

जैनोंने कहा था कि यदि चैतन्य शरीरका गुण है तो स्पर्श, रूप आदिके समान बहिर्भूत इंद्रियोंके द्वारा ग्राह्य होना चाहिये । इस पर हम चार्वाकोंका कहना है कि अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे परमाणु और उसके रूप, रस आदि गुणोंके समान यह चैतन्य कहीं भी बहिरंग इन्द्रियोंसे जन्य हुये ज्ञानद्वारा गृहीत नहीं होता है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार चार्वाकोंका कहना भी स्वकीयमतके निर्वाह करनेकी संगतिसे रहित हैं क्योंकि यदि चैतन्यको परमाणुके समान अत्यंत छोद्य मानोगे तो जीवित हो रहे शरीरमें भी चैतन्यको सिद्ध करनेकी व्यवस्था नहीं बन सकनेका

प्रसंग होगा और जब कि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे तो चैतन्यकी सिद्धि हो रही है, ऐसी दशामें वह चैतन्य शरीरका गुण सिद्ध नहीं हो पाता है कारण कि भौतिकशरीरके एक भी गुणका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं होता है ।

न क्वचिद्बोधो बाह्यकरणज्ञानविषयः प्रसज्यतां देहगुणत्वात् तस्य देहारम्भकपरमाणुरूपादिभिर्व्यभिचाराचेषां बहिःकरणत्वाविषयत्वेऽपि देहगुणत्वस्य भावात् । न च देहावयवगुणा न भवन्ति सर्वथावयवावयविनोर्भेदाभावादित्यसङ्गतम् ।

उक्त वार्तिकोंका भाष्य करते हैं कि देहका गुण होनेसे कहीं भी चैतन्यको बहिरङ्ग इन्द्रियजन्य ज्ञानोंके द्वारा ग्राह्यपनेका प्रसङ्ग नहीं होगा क्योंकि जो जो देह के गुण हैं, वे वे बहिरङ्ग इन्द्रियोंसे ग्राह्य हैं। इस व्याप्तिसे युक्त होरहे उस हेतुका शरीरको बनानेवाले परमाणुओंके रूप, रस आदि गुणोंसे व्यभिचार हो जाता है । देखिये, उन परमाणुओंके रूप आदि गुणोंमें बहिरङ्ग इंद्रियोंसे ग्राह्यपना न होते हुए भी शरीरका गुणपना हेतु विद्यमान है । देहके अवयव माने गये परमाणुओंके जो गुण हैं वे शरीरके गुण नहीं होते हैं यह नहीं कहना चाहिये क्योंकि अवयव और अवयवीमें सर्व प्रकारोंसे भेद नहीं स्वीकार किया गया है इस प्रकार चार्वाकका कहना पूर्वापरसङ्गतिसे रहित है ।

जीवद्देहेऽपि तत्सिद्धेर्व्यवस्थाभावानुषंगात् । तत्र तद्व्यवस्था हि इंद्रियजज्ञानात्स्वसंवेदनाद्वा ? न तावदाद्यः पक्षो, बोधस्याबाह्यकरणज्ञानगोचरत्ववचनात् द्वितीयपक्षे तु न बोधो देहगुणः स्वसंवेदनवेद्यत्वादन्यथा स्पर्शादीनामपि स्वसंविदितत्वप्रसङ्गात् ।

परमाणुसम्बन्धी रूपके समान यदि चैतन्यको सूक्ष्म अवयवोंका गुण मानोगे तो जीवित शरीरमें भी ज्ञान सिद्ध करनेकी व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसङ्ग आजावेगा । परमाणु चाहे स्वर्गमें हो या सिद्धलोकमें हो उसके गुण बहिरङ्ग इंद्रियोंसे नहीं जाने जाते हैं । उस जीवित शरीरमें उस चैतन्यकी व्यवस्था क्या आप चार्वाक इंद्रियजन्य ज्ञानसे मानोगे अथवा स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे करोगे ? बताओ । उनमें पहिला पक्षग्रहण करना तो ठीक नहीं है क्योंकि चैतन्यको बाह्य इंद्रियजन्य ज्ञान का विषय आपने भी नहीं कहा है और दूसरे पक्षमें तो देहका गुण चैतन्य सिद्ध नहीं होता है । कारण कि वह स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जानने योग्य है । अन्यप्रकारसे यानी यदि देहके गुणोंको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे वेद्य मानोगे तो स्पर्श, रूप आदि गुणोंका भी स्वसंवेदनप्रत्यक्ष होजानेका प्रसंग आवेगा । रूप, रस आदिकका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आज तक किसीको हुआ नहीं है ।

यत्पुनर्जीवत्कायगुण एव बोधो न मृतकायगुणो येन तत्र बाह्येन्द्रियाविषयत्वे जीवत्कायेऽपि बोधस्य तद्विषयत्वमापद्येतेति मतम्, तदप्यसत्, पूर्वोदितदोषानुषङ्गात् ।

जैनोंके दूसरे दोष देनेमें चार्वाकका जो फिर यह मन्तव्य है कि हम चैतन्यको जीवित शरीरका ही गुण मानते हैं, मरे हुए शरीरका गुण नहीं, जिससे कि वहां चैतन्यमें बाह्येन्द्रियोंके द्वारा अग्राह्यता होते हुए जीवित शरीरमें भी ज्ञानको उन बहिरङ्ग इंद्रियोंका विषयपना आपादन किया जाय। भावार्थ—चैतन्यको न हम मृतशरीरका गुण मानते हैं और बहिरङ्ग इंद्रियोंसे ग्राह्य भी नहीं मानते हैं फिर हमारे ऊपर व्यर्थ ही कटाक्ष क्यों किया जाता है ? ग्रंथकार कहते हैं कि चार्वाकोंका जो मंतव्य है वह भी प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि यहां भी पहिले कहे हुए दोषोंका ही प्रसंग आ जाता है अर्थात् चैतन्यकी ज्ञप्ति कैसे भी नहीं हो सकेगी। आप स्वसंवेदन-प्रत्यक्षको मानते नहीं हैं और बहिरंग इंद्रियोंसे चैतन्य जाना नहीं जाता है। फिर चैतन्यके जानेका आपके पास क्या उपाय है ? बताओ !

अभ्युपगम्योच्यते।

चार्वाकके मतको कुछ देरके लिये स्वीकार कर आचार्य कहते हैं कि—

जीवत्कायगुणोऽप्येष यद्यसाधारणो मतः।
प्राणादियोगवन्न स्यात्तदानिन्द्रियगोचरः॥ १४१॥

चार्वाकसे हम पूछते हैं कि यह चैतन्य क्या जीवित शरीरका असाधारणगुण है, या साधारण गुण है ? बताओ। यह चैतन्य यदि प्राणवायु, इन्द्रिय, वचन और आयुष्य कर्मके संयोगके समान जीवितशरीरका ही अन्यमें न मिल सके ऐसा असाधारण गुण माना है तब तो वह चैतन्य अन्तरंग मन इंद्रियसे ग्राह्य नहीं होना चाहिये क्योंकि भौतिकशरीरके असाधारण कहे गये प्राणवायु, उदराग्नि, लार, शुक्र आदिके संयोगरूप गुण अभ्यन्तर मनके द्वारा गृहीत नहीं होते हैं।

जीवत्काये सत्युपलम्भादन्यत्रानुपलम्भान्नायमजीवत्कायगुणोऽनुमानविरोधात् किं तर्हि ? यथा प्राणादिसंयोगो जीवत्कायस्यैव गुणस्तथा बोधोऽपीति चेत्, तद्वदेवेन्द्रियगोचरः स्यात्। न हि प्राणादिसंयोगः स्पर्शनेन्द्रियागोचरः प्रतीतिविरोधात्।

शरीरके जीवित रहनेपर चैतन्य देखा जाता है और इसके अतिरिक्त लोष्ठ या शवमें चैतन्य नहीं देखा जाता है। इस हेतुसे यह चैतन्य मृतकायका गुण नहीं हैं अन्यथा उक्त अनुमानसे विरोध आवेगा, तो क्या है ? इस पर हम चार्वाक कहते हैं कि जैसे प्राण, वचन, हस्त, पित्ताग्नि आदिके संयोग जीवित शरीरकेही गुण हैं उसी प्रकार चैतन्य भी जीवित शरीरका एक असाधारण गुण है। यदि इस प्रकार चार्वाक कहेंगे तो हम जैन कहते हैं कि प्राणवायु, वचन, आदिके संयोगके समान ही चैतन्य भी बाह्य इन्द्रियोंका विषय हो जावेगा मनका विषय

न हो सकेगा। देखो! शरीरके असाधारण गुण जो प्राण आदिकके संयोग माने हैं क्या वे स्पर्शन इंद्रियके विषय नहीं है? किंतु अवश्य हैं।

यदि आप प्राणको स्पर्शन इन्द्रियका और वचनको कर्ण इन्द्रियका विषय न मानोगे तो बाल, गोपाल सबसे जानी गयी प्रतीतिसे विरोध होगा। अर्थात् सब कोई शरीरके गुणोंको स्पर्शन आदिक इंद्रियोंसे जान रहे हैं। नाडी चलना, फेफडाकी गति ये क्रियायें भी चक्षु, और स्पर्शनसे जानी जाती हैं।

कश्चिदाह नायं जीवच्छरीरस्यैव गुणस्ततः प्रागपि पृथिव्यादिषु भावादन्यथात्यन्तासतस्तत्रोपादानायोगाद्गगनाम्भोजवत्, साधारणस्तु स्यात्तद्दोषाभावादिति तदसत्।

यहां कोई कहता है कि यह चैतन्य जीवितशरीरका ही असाधारण गुण नहीं है क्योंकि शरीर बनानेके पूर्व भी घट, पट आदिकोंको बनानेवाले पृथ्वी, जल, तेज और वायु तत्त्वोंमें चैतन्य विद्यमान था अन्यथा यानी यदि ऐसा न माना जावे तो आकाशके कमलके समान अत्यंतरूपसे असत् हो रहे चैतन्यका उन पृथ्वी आदिक तत्त्वोंमें उपादानकारणपना न हो सकेगा उपादान कारणोंमें कार्य शक्तिरूपसे विद्यमान रहते हैं। हां! जीवितशरीरका चैतन्य अन्यस्थानोंमें भी पाया जावे ऐसा साधारण गुण होय तो इसमें कोई दोष नहीं है। बाह्य इंद्रियोंसे ज्ञात हो जानेका वह प्रसङ्ग तो परमाणुगुणोंके ज्ञात न होनेसे निवारित हो जाता है अतः साधारण गुण माननेपर वह दोष नहीं आता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार चार्वाकके एकदेशीयका वह कहना भी असत्य है, प्रशंसनीय नहीं है। कारण कि—

साधारणगुणत्वे तु तस्य प्रत्येकमुद्भवः।
पृथिव्यादिषु किन्न स्यात्स्पर्शसामान्यवत्सदा ॥ १४२ ॥

द्वितीय पक्षके अनुसार यदि चैतन्यको शरीरका साधारण गुण मानोगे तब तो साधारण माने गये स्पर्शके समान अकेले अकेले पृथ्वी, जल, आदिमें क्यों नहीं सर्वदा चैतन्यकी उत्पत्ति होती रहेगी? बताओ अर्थात् स्पर्शके समान घट, पट आदिकोंमें भी चैतन्य पैदा हो जावेगा। नैयायिक और चार्वाकके मतानुसार स्पर्श गुण तो चारों भूतोंका सामान्य है शेष गुण ऐसे नहीं हैं। जलमें गंध नहीं, तेजमें रस, गंध नहीं, वायुमें रूप, रस, गंध तीनों भी नही माने हैं।

जीवत्कायाकारेण परिणतेषु पृथिव्यादिषु बोधस्योद्भवस्तथा तेनापरिणतेष्वपि स्यादेवेति सर्वदानुद्भवो न भवेत् स्पर्शसामान्यस्येव साधारणगुणत्वोपगमात्।

जीवित शरीरके आकार करके परिणामको प्राप्त हुए पृथ्वी आदिकमें जैसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानते हो, वैसे ही जीवित शरीरस्वरूपसे नहीं परिणमे हुए घट, पट आदि पृथिवीमें भी चैतन्य

उत्पन्न हो जावेगा। इस प्रकार सदा ही चैतन्यकी अनुत्पत्ति नहीं हो सकेगी। आपके मतमें सामान्य स्पर्शके समान चैतन्य भी पृथ्वी आदिकोंका साधारणगुण माना गया है। अर्थात् अकेले अकेले, जल, ज्योतिः, वायु, पट, घट, आदिमें चैतन्य सर्वदा उत्पन्न होता रहेगा। सामान्य गुण तो सर्वदा सम्पूर्ण अवस्थाओंमें पाये जाते हैं।

प्रदीपप्रभायामुष्णस्पर्शस्यानुद्भूतस्य दर्शनात् साध्यशून्यं निदर्शनमिति न शङ्कनीयम्, तस्यासाधारणगुणत्वात्साधारणस्य तु स्पर्शमात्रस्य प्रत्येकं पृथिव्यादिभेदेष्वशेषेषूद्भवप्रसिद्धेः।

यदि चार्वाक यों कहें कि जैनोंके कहे गये जो जो पृथिवी आदिकोंका साधारण गुण है वह एक एकमें भी प्रकट होजाता है जैसे कि स्पर्श। इस अनुमानमें दिया गया स्पर्शदृष्टांत तो साध्यसे रहित है क्योंकि दीपककी फैल रही प्रभामें प्रगटरूप नहीं ऐसा उष्णस्पर्श देखा जाता है। अतः प्रगट होकर रहना रूप साध्य दीपकलिकाकी प्रभाके उष्णस्पर्शमें नहीं रहा। ग्रंथकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि दीपककी प्रभाका वह उष्ण स्पर्श असाधारण गुण है। शीत, उष्ण, रूखा, चिकना, हलका, भारी, नरम, कठोर इन स्पर्शके भेदोंमें साधारणपनेसे व्यापक स्पर्शसामान्य तो सम्पूर्ण पृथिवी आदिकोंके प्रत्येक भेद उपभेदोंमें प्रगट होकर प्रसिद्ध हो रहा है। वह स्पर्शसामान्य दीपकी प्रभामें भी है। यहां दीपकमें तो उष्णस्पर्श प्रगट है ही किंतु उसकी तैजस कांतिमें स्पर्श प्रकट नहीं अतः प्रभाके स्पर्शसे दोष दिया है। उसका समाधान होचुका है।

परिणामविशेषाभावात् न तत्र चैतन्यस्योद्भूतिरिति चेत्, तर्हि परिणामविशिष्टभूतगुणो बोध इत्यसाधारण एवाभिमतः, तत्र चोक्तो दोषः, तत्परिजिहीर्षुणावश्यमदेहगुणो बोधोऽभ्युपगन्तव्यः।

यदि चार्वाक यहां यों कहें कि अकेले पृथ्वी आदिकमें चैतन्यकी उत्पत्तिका कारण माना गया विशेषपरिणाम नहीं है। अतः वहां चैतन्यकी उत्पत्ति या प्रकटता नहीं होती है। तब ऐसा कहनेपर तो चार्वाकोंने विलक्षण परिणामोंको धारण करनेवाले भूतोंका गुण चैतन्य माना। इस तरह चैतन्य असाधारण गुण ही इष्ट किया गया और उसमें हम दोष पहिले ही कह चुके हैं अर्थात् घ्राण आदिके संबंध समान चैतन्य भी बहिरङ्ग इंद्रियोंका विषय होजाना चाहिये। उस दोषको दूर करनेकी यदि इच्छा रखते हो तो चैतन्यको देहका गुण नहीं किंतु आत्माका गुण आपको अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

इति न देहचैतन्ययोर्गुणगुणिभावेन भेदः साध्यते येन सिद्धसाध्यता स्यात्, ततोऽनवद्यं तयोर्भेदसाधनम्।

इस प्रकार हम जैनोंने गुण और गुणी स्वरूपसे देह और चैतन्यका भेद नहीं सिद्ध किया है। जिससे कि तुम चार्वाक हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष उठा सको। उस कारण अब तक निर्दोष-

रूपसे यह सिद्ध हो गया कि उन देह और चैतन्यका भिन्नतत्त्वपनेसे भेद है। कार्यकारणभाव या गुणगुणिभाव तथा परिणामपरिणामिभावसे भेद नहीं सिद्ध किया जारहा है। यहांतक पूर्व प्रकरणका थोडा उपसंहार किया है।

किञ्च।

और भी चैतन्य अथवा आत्माको पृथिवी आदि पुद्गलोंसे तथा शरीरसे भिन्न तत्त्वपना सिद्ध करते हैं। सुनिये।

अहं सुखीति संवित्तौ सुखयोगो न विग्रहे।
बहिःकरणवेद्यत्वप्रसङ्गान्नेन्द्रियेष्वपि ॥ १४३ ॥

" मैं सुखी हूं " इस तरहके समीचीनज्ञानमें सुखका सम्बंध शरीरमें नहीं प्रतीत होरहा है। यदि सुखपर्यायका आधार शरीर होता तो बहिरंग इंद्रियोंसे जानेगयेपनका प्रसंग आता है किंतु स्पर्शन चक्षुरादिक इंद्रियोंसे सुख, दुःख आदिक नहीं जाने जाते हैं। तथा वह सुखका अधिकरणपना इंद्रियोंमें भी नहीं देखा जाता है विशेष यह कहना है। क्योंकि पुद्गलकी बनी हुयीं इंद्रियां अतींद्रिय हैं। मुख्य प्रत्यक्षके बिना हम लोग उन इंद्रियोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं। जब इंद्रियां ही अतींद्रिय हैं तो उनके गुण भी अतींद्रिय ही होवेंगे किंतु सुख, दुःख आदिकका प्रत्यक्ष होरहा है अतः वे इन्द्रियोंके गुण नहीं है। घनाङ्गुलके संख्यातवें भाग या असंख्यातवें भाग आत्माके कर्ण, चक्षुः आदि नियत स्थानोंपर इंद्रियपर्याप्तिनामक पुरुषार्थद्वारा आहारवर्गणासे बनायी गयी बाह्य निर्वृत्ति ही इंद्रिय है। शेष बाह्य अंतरंग उपकरण या अभ्यंतर निर्वृत्ति अथवा भावइंद्रियां तो यहां इंद्रिय नहीं मानी गयी हैं। अन्य दर्शनिकोंके यहां भी मिलती जुलती यही इंद्रिय कही गयी है। दूसरी बात यह है कि इंद्रियोंके नष्ट हो जाने पर भी सुख और दुःखका स्मरण होता है। अतः इंद्रियोंका गुण चैतन्य नहीं है।

कर्तृस्थस्यैव संवित्तेः सुखयोगस्य तत्त्वतः।
पूर्वोत्तरविदां व्यापी चिद्विवर्तस्तदाश्रयः ॥ १४४ ॥

जबकि वास्तविकरूपसे सुखका सम्बंध अपने कर्ता (आत्मा) में ही स्थित होकर समीचीन रूपसे ज्ञात होरहा है और शरीर तथा इंद्रियोंमें सुखका सम्बंध होना दूषित होचुका है, इस कारण पूर्व और उत्तरकालमें होने वाले ज्ञानोंमें व्यापक रूपसे रहनेवाले चैतन्यद्रव्यका धाराप्रवाहरूपसे परिणत होरहा चैतन्यसमुदाय ही उस सुखगुणका आधार है। अथवा चैतन्य परिणामोंसे परिणमन करनेवाला आत्मा ही " मैं सुखी हूं " इस ज्ञानका अवलम्ब (विषय) है।

स्याद्गुणी चेत् स एवात्मा शरीरादिविलक्षणः ।
कर्तानुभविता स्मर्तानुसन्धाता च निश्चितः ॥ १४५ ॥

यदि सुखगुणका आधारभूत कोई गुणी द्रव्य मानोगे तो वही आत्मा द्रव्य सिद्ध है । जो कि शरीर, इंद्रिय, विषय और पृथ्वी आदिसे सर्वथा विलक्षण है । वही सुख और ज्ञान आदि-पर्यायोंका कर्ता है, अनुभव करनेवाला है, और स्मरण करनेवाला है, तथा वही आत्मा एकत्व, सादृश्य आदि विषयोंका आलम्बन लेकर स्वकीयपरिणामोंका प्रत्यभिज्ञान करनेवाला है यह सिद्धांत निर्णीत हो गया है। शरीर इंद्रियोंके रूप, रस आदि गुणोंमें उक्त बातें नहीं पायी जाती हैं । न तो वे स्वयं किसीको स्वतंत्रतासे करते हैं तथा न अनुभवन करते हैं और स्मरण, प्रत्यभिज्ञान तो वे क्या करेंगे किंतु उक्त कर्तव्य होते हुए देखे जाते हैं कि मैं अध्ययन करता हूं, सामायिक करता हूं । तथा स्पर्शन इंद्रियसे जाने हुएका चक्षुः इंद्रियसे प्रत्यभिज्ञान होता है । जिसको मैंने छुआ था, उसीको देख रहा हूं । चक्षुःके नष्ट हो जानेपर भी काले नीले रूपका पीछे स्मरण होता है तथा किसी किसीको पहिले जन्मके अनुभूत विषयका जन्मान्तरमें स्मरण हो जाता है । एवं उसी दिनके पैदा हुए बच्चेको स्तनसे निकला हुआ दूध मेरी इष्ट सिद्धिको करनेवाला है यह ज्ञान होता हुआ देखा जाता है । अतः अनेक युक्तियोंसे अनादि अनंत रहनेवाला आत्मा द्रव्य चार्वाकोंको मान लेना चाहिए । निरर्थक आग्रह करना अनुचित है ॥

सुखयोगात्सुख्यहमिति संवित्तिस्तावत्प्रसिद्धा, तत्र कस्य सुखयोगो न विषयस्येति प्रत्येयं। ततः कर्तृरूपः कश्चित्तदाश्रयो वाच्यस्तदभावे सुख्यहमिति कर्तृस्थसुखसंवित्त्यनुपपत्तेः ।

" मैं सुखी हूं " इस प्रकार की प्रतीति तो सुखगुणके आधारपनेसे प्रसिद्ध हो रही है । वहां पहिले यह बात विचारो या निर्णय करो कि वह सुखका योग किसको है ?, घट, पट, खाद्य, पेय, गहना, गृह आदि भोगोपभोगकी सामग्रीरूप विषयमें तो सुखगुण नहीं रहता है अन्यथा चमचा, करछी आदिको सबसे पहिले स्वादका ज्ञान हो जाना चाहिए । रुपयोंकी प्रभुताकी अधिपति शैली हो जावेगी, मद्यसे बोतल नाचती हुयी नहीं देखी गयी है । तथा शरीर, इंद्रियोंका भी गुण सुख नहीं है । इसको भी सिद्ध कर चुके हैं । इस कारण सुखका कर्ता ही कोई उस सुखका आधार कहना चाहिये ।

यदि उस कर्ताको आधार न माना जावेगा तो " मैं सुखी हूं " इस प्रकार मैं स्वरूप कर्तामें रहनेवाले सुखके आगे लगा हुआ मत्वर्थीय " इन् " प्रत्ययका वाच्य अधिकरणस्वरूप

कर्तामें स्थित होकर सुखसंवित्तिकी सिद्धि नहीं हो सकेगी, अत मैं सुखी हूं, मैं ज्ञानी हूं, यहां मैंका वाच्य कर्ता चेतन आत्मा ही ज्ञान, सुखोंका आश्रय है। यह मान लेना चाहिये।

स्यान्मतं पूर्वोत्तरसुखादिरूपचैतन्यविवर्तव्यापी महाचिद्विवर्तः कार्यस्येव सुखादिगुणानामाश्रयः कर्त्ता, निराश्रयाणां तेषामसम्भवात्। निरंशसुखसंवेदने चाश्रयाश्रयिभावस्य विरोधात्तस्य भ्रांतत्वायोगात् बाधकाभावात्तथा स्वयमनिष्टेश्चेति। तर्हि स एवात्मा कर्त्ता शरीरेन्द्रियविषयविलक्षणत्वात्, तद्विलक्षणोसौ सुखादेरनुभवितृत्वात्, तत्स्मर्तासौ तदनुसन्धातृत्वात्, तदनुसन्धातासौ य एवाहं यत् सुखमनुभूतवान् स एवाहं सम्प्रति हर्षमनुभवामीति निश्चयस्यासम्भवद्बाधकस्य सद्भावात्।

किसीका यह मंतव्य भी हो कि " पूर्व और उत्तर कालोंमें होनेवाले सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानस्वरूप चेतनके परिणामोंमें व्याप्त रहनेवाला सबसे बडा चैतन्यका परिणाम ही सुख आदि गुणोंका अधिकरण होकर कर्ता है जैसे कि वह अन्य जन्म मरण करना, अपने योग्य शरीर आदिको बनानारूप कार्योंका कर्ता है। विना आधारके वे सुख आदिक गुण ठहर नहीं सकते हैं। अकर्मक धातुओंकी शयन, लज्जा, वृद्धि, भय, दीप्ति आदि क्रियाएं कर्तामें ही रहती हैं। विना कर्ताके वे कहां रहें? वैसे ही सुख भी कर्ता आत्मामें रहता है "।

" तथा यदि सुखके समीचीन ज्ञानको आधेयपन, क्रियापन और पर्यायपन आदि अंशोंसे रहित माना जावेगा तो इसमें आधार आधेयभाव होनेका विरोध है। इसी कारण सुख आदि गुणोंका आधार वह महाचैतन्य भ्रांतरूप भी नहीं है। क्योंकि उसमें कोई बाधक प्रमाण उत्पन्न नहीं होता है "।

" दूसरी बात यह भी है कि उस महाचैतन्यका भ्रमरूप होना हम या अन्य कोई इष्ट भी नहीं करते हैं " आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे, तब तो वह महाचैतन्य ही (पक्ष) कर्तास्वरूप आत्मा है (साध्य) क्योंकि वह शरीर, इंद्रिय, विषयोंसे सर्वथा भिन्न है (हेतु) इस हेतुको सिद्ध करते है कि आत्मा उन शरीर आदिसे विलक्षण है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह सुख, दुःख और ज्ञानका अनुभवन करनेवाला है (हेतु) इस हेतुको भी फिर साध्य करते हैं कि आत्मा (पक्ष) सुखादिकका अनुभव करनेवाला है (साध्य) क्योंकि पीछे उनका स्मरण करता हुआ देखा जाता है। (हेतु) इस हेतुकी पुष्टि सुनिये कि आत्मा (पक्ष) उन सुखादिकका स्मरण करनेवाला है (साध्य , क्योंकि पीछे उन सुख आदिकोंका प्रत्यभिज्ञान करता हुआ जाना जाता है। (हेतु) इस हेतुका भी पोषण इस प्रकार है कि यह आत्मा (पक्ष) उन सुख आदिकका प्रत्यभिज्ञान करता है (साध्य) क्योंकि जो ही मैं पहिले सुखका अनुभवन कर चुका हूं, वही मैं इस समय सुखजन्य प्रसन्नताका अनुभवन कर रहा हूं (हेतु , ऐसा बाधकोंसे रहित निश्चयज्ञान

विद्यमान है। अनेक सुखोंके समन्वाहार होनेपर पीछे जो प्रसन्नता होती है उसको हर्ष कहते हैं बाधक प्रमाणोंका असम्भव होजानेसे पदार्थका निर्णय हो जाता है। सभी रुपया, गहना, सौंदर्यको कौन दिखाते फिरे ?।

नन्वस्तु नाम कर्तृत्वादिस्वभावश्चैतन्यसामान्यविवर्तः कायादर्थान्तरं सुखादिचैतन्यविशेषाश्रयो गर्भादिमरणपर्यन्तः सकलजनप्रसिद्धत्वात्तत्त्वान्तरम्, चत्वार्येव तत्त्वानीत्यवधारणस्याप्यविरोधात्तस्याप्रसिद्धतत्त्वप्रतिषेधपरत्वेन स्थितत्वात्, न पुनरनाद्यनन्तात्मा प्रमाणाभावादिति वदन्तं प्रति ब्रूमहे।

यहां चार्वाक अब स्मरण और प्रत्यभिज्ञान करनेवाले चिरस्थायी आत्मद्रव्यमें अनुज्ञा करते हुए अपना अंतिम सिद्धांत कह रहे हैं कि जैनोंका माना गया कर्ता, अनुभविता, स्मर्ता और प्रत्यभिज्ञाता आदि वह चैतन्य-सामान्यरूप-परिणामवाला आत्मा शरीरसे भिन्न है, और सुख, ज्ञान, इच्छा आदि विशेष चैतन्योंका आश्रय है। ऐसे स्याद्वादियोंके माने हुये आत्माको हम भी इष्ट कर लेंगे। किंतु वह जन्म-जन्मांतरों तक ठहरनेवाला नहीं है। गर्भसे लेकर मरणपर्यंत ही स्थिर रहता है। गर्भकी आदिमें सर्वथा असत् माने गये चैतन्यका विना उपादान कारणोंके केवल सहकारी कारणोंसे ही शब्दके समान उत्पाद होजाता है और मरणपर्यंत एक दीपकसे उत्तरवर्ती दूसरे दीपकोंके समान उपादान उपादेयभावसे अनेक चैतन्य उत्पन्न होते रहते हैं। अंतमें मरते समय उस चैतन्यका दीपकके बुझनेके समान आमूलचूल सत्का विनाश हो जाता है, यह बात संसारके सर्व ही बालगोपालोंमें प्रसिद्ध है। अत्यंत प्रेमी और लोभी जीव भी मरनेके बाद लौट कर अपने प्रिय पुत्र, स्त्री और धनको नहीं सम्हालते हैं। राजा, महाराजा, सम्राट् भी मरनेके पीछे फिर लौटते हुए नहीं देखे गये हैं। इस कारण गर्भसे मरणपर्यंत ही चेतन आत्मा है। वह पृथिवी आदिकोंसे भिन्न तत्त्व है। उसको हम पांचवां स्वतंत्र तत्त्व इस लिये नहीं कहते हैं कि पृथिवी आदि तत्त्वोंके समान वह अनादि अनंत नहीं है किंतु उस चैतन्यको हम पृथिवी आदिक जड पदार्थोंमें भी गर्भित नहीं करते हैं। अतः एक प्रकारसे थोडी देर ठहरनेवाला वह चैतन्य भिन्न तत्त्व भी है। एतावता " पृथ्वी, अप्, तेज, वायु ये चार ही तत्त्व हैं " इस नियम करनेमें भी कोई विरोध नहीं है। वह चार तत्त्वोंका नियम करना तो सर्वथा प्रसिद्ध नहीं ऐसे आकाश, काल, मन, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, सामान्य, शक्ति, प्रेत्यभाव आदि तत्त्वोंके निषेध करनेमें तत्पर होकर स्थित होरहा है। किंतु फिर गर्भसे मरणपर्यंत ठहरे हुए सम्पूर्ण जीवोंमें प्रसिद्ध होरहे इन चेतन आत्माका वह नियम निषेध नहीं करता है। हां ! अनादिसे अनंत-कालतक माना गया जैनोंका आत्मा कोई तत्त्व नहीं है। ऐसे आत्माको सिद्ध करनेवाला तुम्हारे पास कोई प्रमाण भी नहीं है। इस प्रकार कहते हुए चार्वाकके प्रति अब हम जैन गौरवान्वित होकर अपने इस सिद्धांतको प्रमाणसहित अच्छी तरह स्पष्ट कर कहते हैं।

द्रव्यतोऽनादिपर्यन्तः सत्त्वात् क्षित्यादितत्त्ववत् ।
स स्यान्न व्यभिचारोऽस्य हेतोर्नाशिन्यसम्भवात् ॥ १४६ ॥
कुम्भादयो हि पर्यन्ता अपि नैकान्तनश्वराः ।
शाश्वतद्रव्यतादात्म्यात्कथञ्चिदिति नो मतम् ॥ १४७ ॥

वह आत्मा (पक्ष) द्रव्यरूपकरके अनादि कालसे अनन्त कालतक ठहरनेवाला है (साध्य) क्योंकि वह सत्पदार्थ है (हेतु) जैसे कि चार्वाकोंने पृथ्वी आदि तत्त्वोंको अनादि अनन्त माना है । (अन्वयदृष्टान्त) एकान्तरूपसे नाश होनेवाले पदार्थमें सत्त्व हेतुका विद्यमान रहना सम्भव नहीं है । अतः इस हेतुका कोई व्यभिचार दोष नहीं है अर्थात् एकांतसे सर्वथा नाश होनेवाला कोई पदार्थ संसारमें है ही नहीं, तब वहां सत्त्व हेतु कैसे रहेगा !, जो घट, पट, पुस्तक, गृह आदि पदार्थ नाशको प्राप्त हो रहे देखे जाते हैं वे भी एकांतरूपोंसे नष्ट नहीं हो रहे हैं क्योंकि सर्वथा स्थित रहनेवाले पुद्गलद्रव्यसे उनका कथञ्चित् तादात्म्यसम्बन्ध हो रहा है । इस प्रकार हम स्याद्वादियोंका माना गया सिद्धान्त है । अतः घट आदिकमें सत्त्व हेतु गया और पुद्गलद्रव्यपनेसे अनादि अनंतपनरूप साध्य भी ठहर गया अतः व्यभिचार नहीं है ।

यथा चानादिपर्यन्ततद्विपर्ययरूपता ।
घटादेरात्मनोऽप्येवमिष्टा सेत्यविरुद्धता ॥ १४८ ॥
सर्वथैकान्तरूपेण सत्त्वस्य व्याप्त्यसिद्धितः ।
बहिरन्तरनेकान्तं तद्व्याप्नोति तथेक्षणात् ॥ १४९ ॥

तथा जैसे घट, पट आदिकोंको द्रव्यार्थिक नयसे अनादि अनंतपना है और पर्यायार्थिक नयसे उससे विपरीत यानी सादि सान्तपना है । वैसे ही आत्माको भी वह अनादि अनंतपन और सादि सांतपन हम इष्ट करते हैं । इस प्रकार हमारा हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है । सर्व प्रकारसे एक ही नित्यपने या अनित्यपने धर्मके साथ सत्त्वहेतुकी व्याप्ति सिद्ध नहीं है । घट, पट आदिक बहिरंग पुद्गल पदार्थ और ज्ञान, इच्छा, सहित आत्मारूप अंतरंग पदार्थोंमें विद्यमान हो रहा वह सत्त्वहेतु नित्य अनित्यरूप अनेकांतधर्मोंके साथ व्याप्ति रखता है । जैसा ही संपूर्ण जनोंको दीख रहा है ।

द्रव्यार्थिकनयादनाद्यन्तः पुरुषः सत्त्वात् पृथिव्यादितत्त्ववदित्यत्र न हेतोरनैकान्तिकत्वं प्रतिक्षणविनश्वरे क्वचिदपि विपक्षेऽनवतारात् ।

उक्त वार्तिकोंका विवरण करते हैं कि वस्तुके नित्य अंशको जाननेवाले द्रव्यार्थिक नयसे आत्मा अनाद्यनंत है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह पृथिवी आदिक तत्त्वोंके समान (दृष्टांत) चिरकालवर्ती होकर सद्रूप है, (हेतु) यहां इस अनुमानमें कहा गया हेतु व्यभिचारी नहीं है। क्योंकि बौद्धोंसे कल्पित किये गये किसी भी प्रतिक्षणमें नष्ट होनेकी टेववाले विपक्षमें सत्त्व हेतु नहीं रहता। भावार्थ—एक क्षणमें नष्ट होनेवाला बौद्धोंका माना गया कोई पदार्थ है ही नहीं, भला खरविषाणमें सत्त्व हेतु कैसे रहेगा ?। वहां हेतु नहीं उतरता है ॥

कुम्भादिभिः पर्यायैरनेकान्त इति चेन्न, तेषां नश्वरैकान्तत्वाभावात्। तेऽपि हि नैकान्तनाशिनः, कथञ्चिन्नित्यद्रव्यतादात्म्यादिति स्याद्वादिनां दर्शनम्, " नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा, क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः " इति वचनात्।

कुछ देरतक ठहरकर नष्ट होनेवाले घट, बिजली, बुदबुद, इंद्रधनुष आदि पर्यायोंसे जैनोंका सत्त्व हेतु व्यभिचारी है। यह चार्वाकोंका कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि उन घट, बिजली आदि का सर्वथा एक अनित्य धर्मके आग्रहसे बौद्ध मतानुसार एक क्षणमें ही नाश नहीं होजाता है। वे बिजली आदि भी एकांत रूपसे नाशस्वभाववाले नहीं हैं क्योंकि वे किसी अपेक्षासे नित्य पुद्गल द्रव्यके साथ स्यात् एकम एक होरहे हैं। भावार्थ—द्रव्यका पर्यायोंसे अभेद है। शक्तिरूपसे पर्यायें द्रव्यमें सर्वदा विद्यमान हैं। यह स्याद्वादियोंका दार्शनिक सिद्धांत है। पूज्यचरण श्रीसमंतभद्र स्वामीने देवागम स्तोत्रमें यों प्रामाणिक वचन कहा है कि स्याद्वादन्यायके नायक तुम अर्हत भगवान्‌के मतमें वे सम्पूर्ण जीव आदिक तत्त्व (पक्ष) कथञ्चित् नित्य ही हैं (साध्य) क्योंकि यह वही है इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानके विषय हैं। (हेतु) यह प्रत्यभिज्ञान यों ही विना किसी कारणके नहीं होजाता है। इस प्रत्यभिज्ञानका कारण वह कालांतरस्थायी द्रव्य ही मूल भित्ति है। इस प्रत्यभिज्ञानका कोई बाधक नहीं है। अतः अन्वयका विच्छेद भी नहीं होता है अथवा द्रव्यरूपसे मध्यमें व्यवधान न होनेके कारण वह एकत्वप्रत्यभिज्ञान समीचीन है।

यदि प्रत्यभिज्ञानका विषय विच्छेदरहित नित्यद्रव्य पदार्थ नहीं माना जावेगा तो बुद्धिका संचार भी न होगा। भावार्थ—अन्वयसहित पूर्वबुद्धिका नाश हो जानेसे दूसरी बुद्धियोंकी उत्पत्ति न हो सकेगी, बुद्धिके पूर्वपरिणाम ही उत्तरपरिणामरूप न हो सकेंगे। तथा सम्पूर्ण पदार्थ एक क्षण ठहरकर द्वितीयक्षणमें नष्ट हो जाते हैं क्योंकि भिन्न भिन्न पर्यायोंका काल न्यारा न्यारा है। जिन भावोंका काल भिन्न भिन्न है वे अवश्य पर्यायदृष्टिसे क्षणिक हैं, यदि कालभेद न माना जावेगा तो भी बुद्धिका दूसरी बुद्धिरूप संचार न होसकेगा, कूटस्थ एकरूप बनी रहेगी सुवर्णके कड़ेको बिगाडकर बरा बनानेमें सुवर्णरूपसे नित्यपना और कड़े, बरा आदिरूपसे अनित्यपना प्रसिद्ध है।

नन्वेवं सर्वस्यानादिपर्यंततासादिपर्यंतताभ्यां व्याप्तत्वात् विरुद्धता स्यादिति चेन्न, आत्मनोऽनेकांतानादिपर्यंततायाः साध्यत्ववचनात्, यथैव हि घटादेरनाद्यनंतेतररूपत्वे सति सत्त्वं तथात्मन्यपीष्टमिति क्व विरुद्धत्वम्।

यहां चार्वाक शंका करते हैं कि इस तरह सम्पूर्ण पदार्थोंके सत्त्वहेतुकी अनादि अनंत और सादि सांतपनेसे व्याप्ति सिद्ध हुयी तो अकेले अनादि अनंत सिद्ध करनेमें दिया गया आप जैनोंका सत्त्व हेतु विरुद्धहेत्वाभास हो जायगा। आचार्य कहते हैं, कि यह तो चार्वाकोंको नहीं कहना चाहिए क्योंकि आत्माको एकांतरूपसे अनादिअनंतता साध्य नहीं कही गयी है। सादि-सांतपना भी साथमें समझना चाहिए, किंतु वह आपको पहिलेसे इष्ट है ही, इस कारण हमने कण्ठोक्तरूपसे साध्यकोटिमें नहीं डाला है। जिस हि प्रकार कि, घट, पट आदिकोंको अनादि अनंत और सादिसांत होनेपर ही सत्त्व रहता है वैसे ही आत्मामें भी अनादि अनंत और सादिसांत होनेपर सत्त्व इष्ट किया है। इस तरह विरुद्ध दोष कहां रहा ? अर्थात् हमारा हेतु विरुद्ध नहीं है—

कथं तर्हि सत्त्वमनेकान्तैकांतेन व्याप्तं येनात्मनोऽनाद्यनन्तेतररूपतया साध्यत्वमिष्यत इति चेत् सर्वथैकांतरूपेण तस्य व्याप्त्यासिद्धेर्बहिरंतश्चानेकांततयोपलम्भात्, अनेकांतं वस्तु सत्त्वस्य व्यापकमिति निवेदयिष्यते।

प्रतिवादी कहता है कि तब तो बताओ कि जैनोंके मतमें सत्त्व हेतु अनेकांत रूप इकले एकांतके साथ व्याप्ति कैसे रखता है ? जिससे कि आत्माको अनादि अनंत और सादि सांतपनेसे साध्यपना आप जैन इष्ट कर सकें। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि चार्वाक ऐसा कहेंगे तो हम उत्तर देते हैं कि अनादि अनंत और सादि सांतमेंसे सर्वथा एक अकेले धर्मके साथ उस सत्त्वहेतुकी व्याप्ति सिद्ध नहीं है। सम्पूर्ण पुद्गल और आत्मसंबंधी बहिरंग अंतरंग पदार्थ अनेक धर्मोंसे विशिष्ट होरहे ही देखे जाते हैं। अतः अनेक धर्मोंसे सहित होरहा द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही सत्त्वहेतुका व्यापक है। इस बातको और भी अधिकरूपसे अग्रिम ग्रंथमें आपसे निवेदन कर देंगे। अनेकांत भी अनेकांत रूप है अर्थात् अर्पितनयसे एकांत भी हमको इष्ट है। "अनेकांतोऽप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः। अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोऽर्पितान्नयात्" ऐसा "बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र" में लिखा है।

बृहस्पतिमतास्थित्या व्यभिचारो घटादिभिः।
न युक्तोऽतस्तदुच्छित्तिप्रसिद्धेः परमार्थतः॥ १५०॥

हमारे कथञ्चित् नित्यपनेको सिद्ध करनेवाला सत्त्व हेतुका बृहस्पतिमतके अनुयायी चार्वाकोंकी परिस्थितिसे घट, पट, आदिकों करके व्यभिचार देना युक्त नहीं है क्योंकि वास्तविकरूपसे देखा जाय तो उक्त युक्तिसे उन घट आदिकोंको कथञ्चित् नित्य अनित्यपनास्वरूप उच्छेद प्रसिद्ध हो रहा है। भावार्थ–घट आदिमें नाशके साथ स्थिति देखी जाती है, मृत्तिकाका अन्वय रहता है, रूपवत्त्व, रसवत्त्व बना रहता है। घटको तोड, फोड, पीस और जला दिया जाय फिर भी परमाणुओंको कोई नष्ट नहीं कर सक्ता है। केवल देशसे देशांतर या-स्थानसे स्थानांतर होता रहता है। असंख्य पदार्थ नष्ट होते रहते हैं पैदा होते हैं। किंतु जगत् का बोझ एक रत्तीभर भी घटता बढता नहीं है। सुकाल दुष्काल पडनेपर भी संसारभरको तोलनेवाले कांटोंकी सुई बालाग्र भी हटती नहीं है।

यतश्चैवं परमार्थतो घटादीनामपि नित्यानित्यात्मकत्वं सिद्धं ततो बृहस्पतिमतानुष्ठानेनापि न सत्त्वस्य घटादिभिर्व्यभिचारो युक्तस्तेन तस्यानेकांतेनाबाधितत्वात्।

जिससे कि इस प्रकार घट आदिकोंको भी वस्तुदृष्टिसे नित्य अनित्य स्वरूपपना सिद्ध हो चुका। तभी तो बृहस्पति ऋषिके मतके अनुसार आचरण करनेसे भी सत्त्व–हेतुका घट आदिकोंसे व्यभिचार देना चार्वाकोंको युक्त नहीं है। उस सत्त्व हेतुकी उन नित्य अनित्यरूप अनेक धर्मोंके साथ व्याप्ति होनेमें कोई बाधा नहीं है।

न च प्रमाणासिद्धेन परोपगममात्रात् केनचिद्धेतोर्व्यभिचारचोदने कश्चिद्धेतुरव्यभिचारी स्यात्। वादिप्रतिवादिसिद्धेन तु व्यभिचारे न सत्त्वं कथञ्चिदनादिपर्यन्तत्वे साध्ये व्यभिचारीति व्यर्थमस्याहेतुकत्वविशेषणं अहेतुकत्वस्य हेतुकत्वे सत्त्वविशेषणवत्।

केवल दूसरोंके मनमाने तत्त्वोंके स्वीकार कर लेनेसे प्रमाणों करके नहीं सिद्ध हुए चाहे किसी भी पदार्थके द्वारा सच्चे हेतुमें यदि व्यभिचार नामक कुचोद्य दिया जावेगा तो ऐसी दशामें कोई भी हेतु अव्यभिचारी न हो सकेगा। वह्निमान् धूमात् " यह प्रसिद्ध हेतु भी सरोवरमें निकलती हुयी भापको धुआं समझनेवाले भ्रांतपुरुषके द्वारा व्यभिचारी बना दिया जा सकेगा। इस पोलको हटानेके लिये वादी और प्रतिवादियोंसे प्रसिद्ध स्थल करके हेतुको व्यभिचार देना न्याय्य होगा, तथा च हमारा इष्ट किया सत्त्वहेतु तो पदार्थोंको कथञ्चित् अनादि अनंत सिद्ध करनेमें व्यभिचारी नहीं है। यों फिर नित्य सिद्ध करनेके लिये इस सत्त्वहेतुमें अहेतुकपनारूप विशेषण देना व्यर्थ है। भावार्थ–नैयायिक, चार्वाक और मीमांसकोंने घट और प्रागभावमें अतिव्याप्तिको दूर करते हुए " सदकारणवन्नित्यं " यह नित्य पदार्थका लक्षण किया है अर्थात् जो सत् विद्यमान होकर अपने बनानेवाले कारणोंसे रहित है, वह नित्य है। घट सत् है, अकारणवान् नहीं क्योंकि

घटको बनानेवाले मट्टी कुम्हार आदि कारण हैं । प्रागभाव अकारणवान् है सत् नहीं अतः नित्यका लक्षण अकारणवान् होकर सत्‌पना माना है । किंतु जब सर्व ही पदार्थ द्रव्य और पर्याय–स्वरूपसे नित्य अनित्य रूप हैं तो अहेतुकत्व विशेषण व्यर्थ पडता है । जैसे कि अकेले अहेतुकपना यानी " नहीं है बनानेवाला कारण जिसका " इस लक्षणसे ही जब नित्य पदार्थ लक्षित हो जावेगा अथवा अहेतुकत्वको हेतु मान लेनेसे ही नित्यपना सिद्ध हो जावेगा तो उसमें सत्त्वविशेषण व्यर्थ है । भावार्थ—दोनोंमेंसे सत्त्व या अहेतुकपना एक ही नित्यपनेका लक्षण माना जावे व्यर्थ दूसरा पुंछल्ला क्यों लगाया जाता है ? ।

प्रागभावेन व्यभिचारः सत्त्वविशेषणेन व्यवच्छिद्यत इति न तद्व्यर्थमिति चेत्, न, सर्वस्य तुच्छस्य प्रागभावस्याप्रसिद्धत्वात्, भावान्तरस्य भावस्य नित्यात्मकत्वाद्विपक्षतानुपपत्तेस्तेन व्यभिचारासम्भवात्, ततो युक्तं सत्त्वस्याविशेषणस्य हेतुत्वमहेतुकत्ववदिति, ततो भवत्येव साध्यसिद्धिः ।

यहां नैयायिक और चार्वाकोंका कहना है कि नित्यके अकेले अहेतुकत्व लक्षण करनेसे प्रागभाव करके व्यभिचार हो जावेगा, देखो प्रागभाव विना किसी कारणसे उत्पन्न हुआ अनादि कालसे चला आरहा है किंतु वह प्रागभाव सांत है कार्यके उत्पन्न होजानेपर नष्ट हो जाता है । अतः वह त्रिकालवर्ती नित्य नहीं है और जब हमने नित्यके लक्षण या हेतुमें सत्त्वरूप विशेषण दे दिया, तब अभावरूप प्रागभावमें अतिव्याप्ति नहीं हुयी। अतः सत्त्वविशेषण देना व्यर्थ नहीं है । आचार्य कहते हैं कि नैयायिकोंका यह कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि बौद्ध, जैन, मीमांसक आदि सबके मतमें धर्म धर्मी, कार्यकारण आदि स्वभावोंसे रहित होरहा ऐसा तुम्हारा माना हुआ उपाख्यारहित तुच्छ प्रागभाव प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं हैं वह अश्वविषाणके समान असत् है । हां पूर्वपर्यायस्वरूप दूसरे भावोंके स्वभाववाला अन्यभावरूप प्रागभाव हम सबने इष्ट किया है । वह प्रागभाव नित्य अनित्यात्मक भी है। हेतु रह गया तो साथ ही साध्य भी ठहर गया अतः यह प्रागभाव तो सपक्ष है इसको विपक्षपना सिद्ध नहीं है । विपक्षमें हेतु रहता तो व्यभिचारकी सम्भावना थी, सपक्ष होरहे उस प्रागभावमें हेतुके रहनेसे व्यभिचार नहीं है प्रत्युत हेतु पुष्ट होगया इस कारणसे अहेतुकत्वविशेषणसे रहित केवल सत्त्वको ही अनादि अनंत सिद्ध करनेमें हेतु बनाना हमारा बहुत ठीक समुचित प्रयत्न है । घटादिक भी द्रव्यरूपसे नित्य हैं । जैसे कि सत्त्वविशेषणसे रहित केवल अहेतुकपना रूप हेतुसे नित्यपना सिद्ध होजाता है । नहीं है हेतु जिसका ऐसे बहुव्रीहि समासमें क प्रत्यय करनेपर पर्युदासवृत्तिसे अहेतुकका अर्थ द्रव्य नित्य ही होता है । समवायी कारण या पूर्व पर्याय पिण्डस्वरूप प्रागभाव भी कथञ्चित् नित्य है । इस प्रकार उस रिक्त सत्त्वहेतुसे प्रकरणमें पडे हुए अनादि अनंतरूप साध्यकी सिद्धि हो ही जाती है ।

साध्यसाधनवैकल्यं दृष्टान्तेऽपि न वीक्ष्यते ।
नित्यानित्यात्मतासिद्धिः पृथिव्यादेरदोषतः ॥ १५१ ॥

सत्त्व हेतुवाले अनुमानमें दिये गये पृथिव्यादि तत्त्वरूप दृष्टांतमें साध्य और साधनसे रहितपना भी नहीं देखा जाता है क्योंकि पृथिवी, जल आदिको निर्दोषरूपसे नित्य अनित्यात्मकपना सिद्ध हो रहा है अथवा " अशेषतः पाठ रक्खा जाय " अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी, घट आदिक पदार्थोंको नित्य अनित्यपना प्रसिद्ध हो रहा है ।

न ह्येकांतानाद्यनन्तत्वमन्तस्तत्त्वस्य साध्यं येन पृथिव्यादिषु तदभावात् साध्यशून्यमुदाहरणम्, नापि तत्र सत्त्वमसिद्धं यतः साधनवैकल्यम्, तदसिद्धौ मतान्तरानुसरणप्रसङ्गात् ।

एक सौ छयालीसवीं वार्तिकमें हम केवल अंतरङ्ग तत्त्व माने गये आत्माको ही एक अनादिअनंतरूप धर्मसे सहितपना साध्य नहीं करते हैं जिससे कि पृथिवी आदिकोंमें उस धर्मके न रहनेसे उदाहरण साध्यसे रहित होजाता । भावार्थ—अपि तु पृथिवी आदिमें भी आत्माके समान अनादि अनंतपना विद्यमान है यों मानते हैं । तथा उन पृथ्वी आदिकोंमें सत्त्व हेतु भी असिद्ध नहीं है । जिससे कि हमारा दृष्टान्त साधनसे रहित हो जाता । दृष्टान्तमें ही जब उन साध्यसाधनकी सिद्धि नहीं हो सकेगी तो हमें दूसरे नैयायिक और चार्वाकोंके मतोंके अनुकूल चलनेका प्रसङ्ग आता अर्थात्—हमको भी आत्माको कूटस्थ नित्य और घट आदिकको सर्वथा अनित्य माननेको बाध्य होना पडता, किन्तु जब हमारा सत्त्वहेतु तथा साध्य दोनों दृष्टान्त और पक्षमें विद्यमान हैं ऐसी दशामें नैयायिक और चार्वाकोंको हमारा सिद्धांत माननेके लिये अगत्या बाध्य होना पडता है ।

ततोऽनवद्यमनाद्यनन्तत्वसाधनमात्मनस्तत्त्वान्तरत्वसाधनवत् ।

उस कारणसे अब तक आत्माको भिन्नतत्त्वपना सिद्ध करनेके समान अनादि अनंतपना सिद्ध करना भी निर्दोषरूपसे सम्पन्न हो चुका है । यहां तक चार्वाकका खण्डन करनेके लिये प्रारम्भ किये गये प्रकरणका उपसंहार कर दिया गया है । श्रीविद्यानन्द स्वामी इसके आगे बौद्धमतका विचार चलाते हैं ।

सत्यमनाद्यनन्तं चैतन्यं सन्तानापेक्षया न पुनरेकान्वयिद्रव्यापेक्षया क्षणिकचित्तानामन्वयानुपपत्तेरित्यपरः सोऽप्यनात्मज्ञस्तदनन्वयत्वस्यानुमानबाधितत्वात् । तथा हि—

यहां नैयायिकोंसे भिन्न दूसरा बौद्धमतानुयायी कहता है कि वह चैतन्य अपने पूर्वापर कालमें होनेवाले परिणामोंकी धाराप्रवाहरूप संतानकी अपेक्षासे ही अनादि कालसे अनंत कालतक

अनुयायी है यह सच है। किन्तु फिर आप जैनोंके मतानुसार ध्रुवरूपसे अन्वय रखनेवाले एक-द्रव्यकी अपेक्षासे चैतन्य अनादि अनंत कालतक ठहरने वाला नहीं है क्योंकि एक क्षणमें उत्पन्न होकर द्वितीय क्षणमें नष्ट होनेवाले विज्ञानरूप आत्माओंका उसी स्वरूपसे अन्वय चलना सत्य सिद्ध नहीं है। जैसे कि गंगाका पानी जलबिन्दुओंका समुदाय है। वहका वही एक बिंदु तो कानपुर, प्रयाग, बनारस, कलकत्ता, आदि देशोंमें अन्वित नहीं है। हां ! धारारूपसे उपचार स्वरूप ध्रुव भले ही कहलो। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों कहनेवाला वह बौद्ध भी आत्मतत्त्वके मर्मको नहीं जाननेवाला है, कारण कि आत्मद्रव्यका पूर्वापर–पर्यायोंमें अन्वय न रहनापनकी इस भविष्य अनुमानसे बाधा आती है। इसी बातको प्रसिद्ध कर कहते हैं। चित्त लगाकर सुनिये।

एकसन्तानगाश्चित्तपर्यायास्तत्त्वतोऽन्विताः।
प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् मृत्पर्याया यथेदृशाः ॥ १५२ ॥

आपके माने गये एक संतानमें प्राप्त हुए चित्त (आत्माके) सम्पूर्ण परिणाम (पक्ष) पर-मार्थरूपसे एक दूसरेमें अन्वित होरहे हैं (साध्य) क्योंकि यह वही है इस प्रकार वे प्रत्यभिज्ञान के विषय हैं। (हेतु) जैसे कि शिवक, स्थास, कोष, कुशूल और घट पर्यायोंमें यह वही मृत्तिका है इस तरह प्रत्यभिज्ञानका विषयपना है। (अन्वय दृष्टांत) भावार्थ—घूमते हुए चाकपर रखे हुए मिट्टीके लोंदेको शिवक कहते हैं और वहां कुलालके हाथसे फैलाई हुयी उस मिट्टीको स्थास कहते हैं। अंगुलियोंसे मिट्टीको किनारेकी ओरसे ऊपरकी तरफ उठानेको कोष कहते हैं और ओखलीके समान किनारोंका ऊपर उठना कुशूल कहलाता है। पीछे ग्रीवा, पेटके बन जाने पर वही मिट्टी घडा बन जाती है। इन संपूर्ण पर्यायोंमें मिट्टीपना स्थिर है। इसी प्रकार बालक, कुमार, युवा, अर्धवृद्ध और वृद्ध अवस्थाओंमें वही एक देवदत्त है। यहांतक कि देव, मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च आदि अनेक जन्मांतरोंमें भी वही देवदत्त की एक आत्मा ओतप्रोत होकर अनुष्ठान कर रही है।

मृत्क्षणास्तत्त्वतोऽन्विताः परस्यासिद्धा इति न मंतव्यं तत्रान्वयापह्नवे प्रतीतिविरोधात्, सकललोकसाक्षिका हि मृद्भेदेषु तथान्वयप्रतीतिः सैवेयं पूर्वं दृष्टा मृदिति प्रत्यभिज्ञानस्या-विसंवादिनः सद्भावात्।

मिट्टीके पूर्व, अपर, कालमें होनेवाले सम्पूर्ण स्थान आदि परिणाम परस्पर (आपस) में वास्तविक रूपसे अन्वित होरहे हैं। यह बात दूसरे विद्वान् यानी बौद्धोंको असिद्ध है यह नहीं मानना चाहिये क्योंकि मिट्टीके उन पूर्व अपर विकारोंमें स्थूल पर्यायरूप मृत्तिकापनसे अन्वय होनेको यदि चुराओगे तो संसारमें प्रसिद्ध होरहीं प्रतीतिओंसे विरोध होगा। मिट्टीकी भिन्न भिन्न

पर्यायोंमें गवाहीरूपसे सम्पूर्ण जनोंके सन्मुख उस प्रकार अन्वयकी प्रतीति हो रही है कि यह वही मिट्टी है, जो हमने पहिले देखी थी। इस प्रकार सफल प्रवृत्तिको करनेवाला अविसंवादी बाधारहित प्रत्यभिज्ञाप्रमाण यहां विद्यमान है। नहीं तो मट्टीका बनाया हुआ घडा चांदीका बन बैठता और चांदीसोनेका कलश तो मट्टीका मटका तैयार हो जाता। गेहूंके आटेकी रोटी चनेकी नहीं बन जाती है यों पहिली पिछली अवस्थाओंमें अन्वय बना रहना अवश्य मानना चाहिये।

सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं नानासन्तानभाविनाम्।
भेदानामिव तत्रापीत्यदृष्टपरिकल्पनम् ॥ १५३ ॥

यहां बौद्ध कहते हैं कि जैसे कभी कभी देवदत्त, जिनदत्त, वीरदत्त आदि भिन्न भिन्न संतानोंमें सदृशताके होनेसे यह वही है, ऐसा उपचारसे एकत्वको जाननेवाला प्रत्यभिज्ञान हो जाता है अथवा नाना मिट्टीके डेलोंमेंसे बदलकर बने हुए घडोंमें भी यह उसी मिट्टीका घडा है। ऐसा एकपनेको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान सादृश्यको कारण मानकर हो जाता है। वैद्यजी यह वही चूर्ण है जो कि कल आपने दिया था, उसी प्रकार एक संतानमें रहनेवाली उन भिन्न पर्यायोंमें भी अधिक सदृशताके बलसे द्रव्यरूपसे अन्वय न माननेपर भी एकत्व प्रत्यभिज्ञान हो जाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि उक्त प्रकारसे बौद्धोंका मानना नहीं देखे हुए पदार्थकी यहां वहांसे गढकर केवल कल्पना करना है।

यथा नानासंतानवर्तिनां मृद्भेदानां सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञायमानत्वं तथैकसन्तानवर्तिनामपीति ब्रुवतामदृष्टपरिकल्पनामात्रं प्रतिक्षणं भूयात्तथा तेषामदृष्टत्वात्।

जिस प्रकार विज्ञानस्वरूप अनेक देवदत्त, जिनदत्तरूप संतानोंमें वर्तनेवाले या खास आदिमें ओतप्रोत रहनेवाली मिट्टीके विशेषोंकी सदृशतासे एकत्व प्रत्यभिज्ञानकी विषयता है। उसी प्रकार एक संतानमें रहनेवाली भिन्न भिन्न ज्ञानपर्यायोंमें भी सदृशताके कारण उपचारसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान हो गया है ऐसे कहनेवाले बौद्धोंको प्रत्येक समयमें नवीन नवीन बदलते हुए तथा नहीं देखे हुए पदार्थकी केवल कल्पना करनेका प्रसंग होगा। क्योंकि जैसे बौद्ध मान रहे हैं उस प्रकार पदार्थोंका क्षणक्षणमें सर्वथा नाश होकर दूसरे सदृश अन्य पदार्थोंका नवीन रीतिसे उत्पाद होना देखा नहीं जाता है।

तदेकत्वमपि न दृष्टमेवेति चेन्नैतत्सत्यम्।

यदि बौद्ध यों कहें कि पूर्व उत्तरवर्ती पर्यायोंमें एकपना भी तो नहीं देखा गया है इस प्रकार यह उनका कहना तो सच्चा नहीं है क्योंकि—यह परार्थानुमान सुनिये।

तदेवेदमिति ज्ञानादेकत्वस्य प्रसिद्धितः ।
सर्वस्याप्यस्खलद्रूपात् प्रत्यक्षाद्भेदसिद्धिवत् ॥ १५४ ॥

संपूर्ण प्राणियोंको समीचीन प्रमाणरूप प्रत्यभिज्ञानसे पूर्व अपर पर्यायोंमें एकपना प्रसिद्ध हो रहा है क्योंकि यह वही है इस प्रकार अविचलित स्वरूप प्रत्यभिज्ञान ठीक है। जैसे कि संशय, विपर्ययसे रहित हो रहे प्रत्यक्षके द्वारा घट, पट आदिकोंमें सबको भेद की सिद्धि होना बौद्ध मानते हैं। भावार्थ—प्रत्यक्षके समान प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है अतः प्रत्यभिज्ञानका विषय एकपना यथार्थ है।

यथैव हि सर्वस्य प्रतिपत्तुरर्थस्य चास्खलितात्प्रत्यक्षाद्भेदसिद्धिस्तथा प्रत्यभिज्ञानादेकत्वसिद्धिरपीति दृष्टमेव तदेकत्वम् ।

जैसे कि प्रमिति करनेवाले सम्पूर्ण जीवोंको संशय, विपर्ययसे रहित हो रहे प्रमाणस्वरूप प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आदिसे भेदकी निश्चयात्मक सिद्धि हो रही है। वैसे ही प्रत्यभिज्ञान और अनुमान आदिसे पूर्व, उत्तर कालमें होनेवाली पर्यायोंमें कथञ्चित् एकपना भी सिद्ध हो रहा है। इस कारण वह एकत्व प्रमाणोंके द्वारा निर्णीत ही है। कल्पना किया हुआ नहीं है।

प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणं संवादनाभावादिति चेत्, प्रत्यक्षमपि प्रमाणं माभूत् तत एव, न हि प्रत्यभिज्ञानेन प्रतीते विषये प्रत्यक्षस्यावर्तमानात्तस्य संवादनाभावो न पुनः प्रत्यक्षप्रतीते प्रत्यभिज्ञानस्याप्रवृत्तेः प्रत्यक्षस्येत्याचक्षाणः परीक्षको नाम ।

यदि बौद्ध यों कहें कि प्रत्यभिज्ञानके विषयमें दूसरे प्रत्यक्ष प्रमाणोंकी प्रवृत्तिरूप संवाद नहीं होनेके कारण हेतु प्रत्यभिज्ञान (पक्ष) प्रमाण नहीं है (साध्य) यों तो बौद्धोंके मतमें प्रत्यक्ष भी प्रमाण न हो सकेगा, क्योंकि उस ही कारणसे, यानी क्षणिकपदार्थको जाननेवाले निर्विकल्पकप्रत्यक्षके विषयमें दूसरे प्रमाणोंका प्रवृत्त होना रूप संवादन नहीं पाया जाता है। आपने माना भी नहीं है तभी तो आपने प्रमेयके भेदसे प्रमाणका भेद माना है। प्रत्यभिज्ञानके द्वारा जाने हुए एकत्वमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति न होनेसे प्रत्यभिज्ञानको तो संवादकपनेका अभाव मान लिया जावे, किंतु फिर प्रत्यक्षसे बढियां जाने हुए स्वलक्षण या क्षणिकत्वमें प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति न होनेसे प्रत्यक्षको संवादकपनेका अभाव न माना जावे, ऐसा कह रहा बौद्ध परीक्षक कैसे भी नहीं कहा जासकता है। वह स्वमंतव्यका कोरा पक्षपाती है।

न प्रत्यक्षस्य स्वार्थे प्रमाणांतरवृत्तिः संवादनम्, किं तर्हि ? अबाधिता संवित्तिरिति चेत् ।

बौद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्षका अपने विषयमें दूसरे प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होना रूप संवादन नहीं माना है तब तो क्या माना है ? सो सुनिये । बाधाओंसे रहित समीचीनज्ञप्ति होजाना ही प्रत्यक्षका संवादन है आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो—

यथा भेदस्य संवित्तिः संवादनमबाधिता ।
तथैकत्वस्य निर्णीतिः पूर्वोत्तरविवर्तयोः ॥ १५५ ॥

जैसे घट, पट, देवदत्त, जिनदत्त आदि विशेषोंको जाननेवाले प्रत्यक्ष प्रमाणमें बाधक प्रमाणोंसे रहित प्रमिति होना स्वरूप ही संवादन माना जाता है वैसे ही शिवक, स्थास आदि या बाल, कुमार, युवा आदि पहिले, पीछे होने वाली अनेक अवस्थाओंमें भी द्रव्यरूपसे एकपनेका निर्णय हो रहा है ।

कथं पूर्वोत्तरविवर्तयोरेकत्वस्य संवित्तिरबाधिता या संवादनमिति चेत्, भेदस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः ।

यदि बौद्ध यों कहें कि पूर्व उत्तरवर्ती भिन्न पर्यायोंमें वर्तनेवाले एकपनेका निर्णय भला बाधारहित होकर कैसे उत्पन्न होगा ? जो कि संवादन कहा जावे ऐसा कहनेपर हम जैन भी बौद्धोंसे पूंछते हैं कि अन्वितरूपसे रहनेवाले पूर्व अपर परिणामोंमें सर्वथा भेदका निर्णय भी बाधारहित कैसे होगा ? बताओ, इस प्रकार हमारा भी प्रश्नरूप कटाक्ष आपके ऊपर समानरूपसे लागू होता है । जैसा कहोगे वैसा सुनोगे ।

तस्य प्रमाणांतरत्वादतद्विषयेण बाधनासम्भवादबाधिता संवित्तिरिति चेत् तदेकत्वस्य प्रत्यभिज्ञानविषयत्वस्याध्यक्षादेरगोचरत्वात्तेन बाधनासम्भवादबाधिता संवित्तिः किन्न भवेत् ?

यदि बौद्ध इस कटाक्षका उत्तर यों देंगे कि वस्तुभूत विशेषस्वरूप भेदोंको जाननेवाला वह प्रत्यक्ष प्रमाण स्वतंत्र न्यारा है । भेदके जाननेमें प्रत्यक्षकी ही प्रवृत्ति है । दूसरे प्रमाण जब भेदको विषय नहीं करते हैं तो भेदको जाननेमें प्रत्यक्षके बाधक क्या हो सकेंगे ? उसको विषय नहीं करनेवाले ज्ञान करके बाधा देना असम्भव है । इस कारण दूसरे प्रमाणोंसे बाधारहित होकर भेदकी भली ज्ञप्ति हो जाती है और प्रत्यक्षप्रमाण संवादी बन जाता है यदि वे ऐसा कहेंगे तब तो हम जैन भी कहते हैं कि नित्यपनेको जाननेवाले प्रत्यभिज्ञानके एकत्वस्वरूप विषयमें भी जब प्रत्यक्ष या स्मरण आदिकी प्रवृत्ति ही नहीं है तो वे एकपनेमें बाधा नहीं दे सकते हैं असम्भव है । तथा च एकत्वका ज्ञान भी बाधारहित क्यों न माना जावे ? अर्थात् प्रत्यभिज्ञान भी संवादयुक्त है ।

कथं प्रत्यभिज्ञानविषयः प्रत्यक्षेणापरिच्छेद्यः ? प्रत्यभिज्ञानेन प्रत्यक्षविषयः कथमिति समानम् ।

बौद्ध प्रश्न करते हैं कि जैनोंने कैसे जाना कि प्रत्यभिज्ञानका विषय प्रत्यक्षके द्वारा नहीं जानने योग्य है यानी नहीं जाना जाता है तो हम जैन भी कहते हैं कि बौद्धोंने कैसे जाना कि प्रत्यक्षका विषय तो प्रत्यभिज्ञानप्रमाणसे नहीं जाना जाता है ? यों यह प्रश्न और उसका उत्तर भी हमारा और तुम्हारा बराबर है ।

तथा योग्यताप्रतिनियमादिति चेत्तर्हि—

बौद्ध कहते हैं कि उस प्रकार भेदके जाननेमें प्रत्यक्षकी ही योग्यता प्रतीति अनुसार नियत हो रही है अतः प्रत्यक्षके विषयमें प्रत्यभिज्ञान नहीं चलता है और प्रत्यभिज्ञानके विषयको प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है । ऐसा कहोगे तब तो ठीक है सुनिये ।

वर्तमानार्थविज्ञानं न पूर्वापरगोचरम् ।
योग्यतानियमात्सिद्धं प्रत्यक्षं व्यावहारिकम् ॥ १५६ ॥
यथा तथैव संज्ञानमेकत्वविषयं मतम् ।
न वर्तमानपर्यायमात्रगोचरमीक्ष्यते ॥ १५७ ॥

जैसे वर्तमान कालके अर्थको विशेषरूपसे जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष उन पूर्व उत्तरवर्ती पर्यायोंको या उनमें रहनेवाले एकत्वको विषय नहीं करता है क्योंकि इंद्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञानकी योग्यता वर्तमान अर्थके जाननेमें ही नियमित है । उस ही प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भी एकत्वको विषय करनेमें नियमित माना है । वह केवल वर्तमान पर्यायको विषय करनेवाला नहीं देखा जाता है । अर्थात् जैसे प्रत्यक्षके विषयमें प्रत्यभिज्ञान बाधा नहीं देता है वैसेही प्रत्यभिज्ञानके विषयमें प्रत्यक्ष भी बाधा नहीं दे सकता है क्योंकि वह उसका विषय नहीं है । जो जिसका विषय ही नहीं है वह उसका साधक या बाधक भी नहीं हो सकता है ।

यद्यद्विषयतया प्रतीयते तत्तद्विषयमिति व्यवस्थायां वर्तमानार्थाकारविषयतया समीक्ष्यमाणं प्रत्यक्षं तद्विषयम्, पूर्वापरविवर्तवर्त्येकद्रव्यविषयतया तु प्रतीयमानं प्रत्यभिज्ञानं तद्विषयमिति को नेच्छेत् ?

जो ज्ञान जिसको विषय करनेवाला परीक्षकजनोंको प्रतीत होवे, वह ज्ञान उस पदार्थको विषय करनेवाला माना जावे, इस प्रकार व्यवस्था माननेपर तो जैसे यह बात आपको इष्ट है कि वर्तमानकालके अर्थोंको उल्लेख करके विषय करता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण बालक, पशु, पक्षियों-

तक देखा जा रहा है। अतः वह प्रत्यक्ष प्रमाण वर्तमान अर्थकोही विषय करता है वैसे ही पूर्व काल और उत्तरकालके पर्यायोंमें होनेवाले द्रव्यरूपसे एकपनेको विषय करता हुये स्वरूप करके जो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण प्रतीत हो रहा है इस कारण प्रत्यभिज्ञानका गोचर एकत्व है इस बातको कौन नहीं इष्ट करेगा ? सर्व ही वादी प्रतिवादी न्याय्य बातको मान लेंगे। यहां यह बात विशेष समझ लेना कि ज्ञानको साकार और दर्शनको निराकार जैन सिद्धांतमें माना है। आकारका अर्थ तो समझ लेना और दूसरोंको समझा देनेकी योग्यता है। या स्वयं विशेषरूपसे प्रतिभासन हो जाना है। ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जिसका निरूपण हो सकता है। सुख, दुःख, इच्छा, सम्यक्त्व, चारित्र, दर्शन, रूप, रस आदिका प्ररूपण या आख्यान नहीं होता है। यदि रूप आदिकको कोई कहेगा तो वह रूपज्ञानको ही कह रहा है। रूपको तो बादमें हम स्वयं श्रुतज्ञानसे जान लेते हैं। यदि रूप या सुखको ज्ञानद्वारा नहीं किंतु सीधा कह दिया जाता तो सुननेवाले सब श्रोताओंको अवश्य रूपज्ञान होजाना चाहिये कोई अवधि न रह सकेगा और सुख के कहनेसे सब सुखी बन जावेंगे किंतु ऐसा नहीं है। वक्ताके शब्दोंसे क्षयोपशमके अनुसार श्रोता ज्ञान पैदा कर लेते हैं। वह ज्ञान उसी समय ज्ञेयोंके जाननेमें अभिमुख हो जाता है अतः समझ लो कि वक्ता अपने ज्ञानका निरूपण करता है तभी तो शिष्यको ज्ञान ही पैदा होता है। ज्ञान और ज्ञेयका घनिष्ठ सम्बंध होनेसे वह निरूपण ज्ञेयका बोला जाता है। ज्ञान और ज्ञेयमें तथा ज्ञान और उसके निरूपणमें बादरायण संबंध है। एक पथिक, किसी महाजनके घर गया। सेठानीने उसे सेठका मित्र समझकर विशेष सत्कार किया और सेठने भी सेठानीके गांवका सम्बंधी समझ आदर किया। बात स्पष्ट होनेपर दोनोंने भी पथिकसे ही पूछा कि हमारे साथ आपके हेलमेल करनेका क्या कारण है ? पथिकने उत्तर दिया कि मेरे, घरके सामने बेरियाका पेड है और आपकी हवेलीके पास भी बदरीवृक्ष है यही हमारा और आपका बादरायण सम्बंध है। "बदरी तरुश्च युष्माकमस्माकं बदरी गृहे। बादरायणसम्बंधो यूयं यूयं वयं वयं" इस तरह अन्वयीपरम्परा सम्बंध होते हैं जैसे कि वाच्यवाचक भाव, प्रतिबिम्बप्रतिबिम्बक भाव आदि—कहां तो सिद्ध भगवान् परम विशुद्ध चेतन पदार्थ हैं और कहां उनका वाचक कण्ठतालु आदि तथा पुद्गल वर्गणाओंसे बनाया गया अशुद्ध जड सिद्ध शब्द है। एवं कहां तो कांच और पारेसे बनाया गया प्रतिच्छाया लेनेवाला दर्पण या कागज स्याही का तसवीर हैं और कहां सदाचारी शरीरधारी देवदत्त चेतनद्रव्य प्रतिबिम्ब्य है। ये सब आकाश पाताल के कुलाठोंको मिलानेके समान योजनायें हैं किंतु कार्यकारी हैं अतः सम्बंध माने गये हैं। साक्षात् सम्बंध तो संयोग, बंधन, और तादात्म्यही हैं अतः साक्षात् रूपसे ज्ञानको और परम्परासे ज्ञेयको समझना तथा समझा सकना ही ज्ञानकी साकारता है और अन्य सब गुण उस अपेक्षासे निराकार माने गये हैं।

यदि आकारका अर्थ लम्बाई, चौडाई, मोटाई मानी जावे तो द्रव्यका जो आकार है। उतना ही उसके गुणोंका भी आकार है। एवं च दर्शन, सुख, चारित्रगुण भी साकार हो जावेंगे,

बौद्ध लोग ही ज्ञानको दर्पणके समान साकार मानते हैं। जैन लोग उन बौद्धोंका खण्डन कर देते हैं। साकार ज्ञान मानने पर कोई सर्वज्ञ न होगा क्योंकि इस समय भूत भविष्यत् पदार्थ ही जब नहीं हैं तो उनका प्रतिबिम्बरूप आकार क्या पडेगा ? तथा स्मरणज्ञान भी न हो सकेगा, प्रतिबिम्ब तो वर्तमान पदार्थोंका पडता है, अविद्यमानोंका नहीं। इत्यादि अन्यत्र विस्तारसे प्रतिपादन हैं।

नन्वनुभूतानुभूयमानपरिणामवृत्तेरेकत्वस्य प्रत्यभिज्ञानविषयत्वेऽतीतानुभूताखिलपरिणामवर्तिनोऽनागतपरिणामवर्तिनश्च तद्विषयत्वप्रसक्तिः, भिन्नकालपरिणामवर्तित्वाविशेषात्, अन्यथानुभूतानुभूयमानपरिणामवर्तिनोऽपि तदविषयत्वापत्तेरिति चेत्, तर्हि साम्प्रतिकपर्यायस्य प्रत्यक्षविषयत्वे कस्यचित्सकलदेशवर्तिनोऽप्यध्यक्षविषयता स्यादन्यथेष्टस्यापि तदभावः, साम्प्रतिकत्वाविशेषात्, तदविशेषेऽपि योग्यताविशेषात् साम्प्रतिकाकारस्य कस्यचिदेवाध्यक्षविषयत्वं न सर्वस्येति चेत्तर्हि—

बौद्ध शंका करते हैं कि भूतकालमें अनुभव किये जा चुके और वर्तमानमें अनुभव किये जा रहे परिणामोंमें ठहरनेवाले एकपनेको यदि प्रत्यभिज्ञानका विषय होना मानोगे तो पूर्वकालसंबंधी अनुभव किये गये सम्पूर्ण परिणामोंमें रहनेवाले और सभी भविष्य परिणामोंमें रहनेवाले अनेक एकत्वोंको भी उस प्रत्यभिज्ञानकी विषयताका प्रसंग आता है, क्योंकि समीपभूत और वर्तमानमें रहनेवाला एकत्व जैसे भिन्नकालके परिणामोंमें वर्तनेवाला है उसीके समान चिरभूत और लम्बा भविष्यत् परिणामोंमें रहनेवाला एकत्व भी है। भिन्नकालके परिणामोंमें रहनेकी अपेक्षासे इनमें कोई अंतर नहीं है। अन्यथा यानी यदि भिन्नकालमें रहनेवाले एकत्वको प्रत्यभिज्ञानका विषय नहीं मानोगे तो जैनोंके मतमें अनुभव किये जा चुके और अनुभवमें आ रहे कतिपय परिणामोंमें रहनेवाला वह एकत्व भी प्रत्यभिज्ञानका विषय न हो सकेगा यह आपत्ति होगी। अब ग्रंथकार कहते हैं कि यदि बौद्ध यों कहेंगे तब तो उनके प्रत्यक्षपर भी यह कटाक्ष हो सकता है कि आप बौद्ध वर्तमान कालकी पर्यायको अल्पज्ञके प्रत्यक्षका विषय मानोगे तो सम्पूर्ण देशोंमें रहनेवाली वर्तमान कालकी पर्यायें भी किसी भी साधारण मनुष्यके प्रत्यक्षका विषय हो जावेंगी। अन्यप्रकारसे यानी यदि वर्तमानकी पर्यायोंको प्रत्यक्षका विषय न मानोगे तो आपका इष्ट किया गया प्रत्यक्ष भी उस वर्तमानकी पर्यायको नहीं जान सकेगा, क्योंकि अनेक देशोंमें रहनेवाली विद्यमान पर्यायोंमें और संमुख रहनेवाली उस पर्यायमें वर्तमान कालमें विद्यमान होनेकी अपेक्षा कोई अंतर नहीं है उस कुछ अंतरके नहीं रहते हुए भी ज्ञानकी विशिष्ट क्षयोपशमसे होनेवाली परिमित शक्तिरूप विशेष योग्यतासे वर्तमानमें सन्मुख पर्याय ही किसीके प्रत्यक्षका विषय है। सम्पूर्ण देशवर्ती वर्तमान कालकी पर्यायें प्रत्यक्षका विषय नहीं हैं। इस प्रकार कहोगे तब तो—हम जैन भी यों कहते हैं उसे दत्तचित्त होकर सुनिये।

यथैव वर्तमानार्थग्राहकत्वेऽपि संविदः ।
सर्वसाम्प्रतिकार्थानां वेदकत्वं न बुद्धयते ॥ १५८ ॥
तथैवानागतातीतपर्यायैकत्ववेदिका ।
वित्तिर्नानादिपर्यन्तपर्यायैकत्वगोचरा ॥ १५९ ॥

जिस ही प्रकार कि वर्तमानकालके अर्थोंकी ग्राहकता होते हुए भी प्रत्यक्ष ज्ञानको सम्पूर्ण देशोंमें रहनेवाले वर्तमान कालके अनेक अर्थोंकी ग्राहकता नहीं समझी जाती है वैसे ही भूत भविष्यत्की कतिपय पर्यायोंमें विद्यमान होरहे एकत्वको जाननेवाला प्रत्यभिज्ञानरूप मतिज्ञान बिचारा अनादि अनंत कालकी पर्यायोंमें ठहरनेवाले एकत्वको विषय नहीं कर सकता है। जितनी शक्ति होगी उतना कार्य किया जा सकेगा।

यथा वर्तमानार्थज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वर्तमानार्थस्यैव परिच्छेदकमक्षज्ञानं तथा कतिपयातीतानागतपर्यायैकत्वज्ञानावरणक्षयोपशमात्तावदतीतानागतपर्यायैकत्वस्यैव ग्राहकं प्रत्यभिज्ञानमिति युक्तमुत्पश्यामः ।

जैसे थोडेसे वर्तमान अर्थोंके ज्ञानको रोकनेवाले ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे वर्तमान कतिपय अर्थोंको ही जाननेवाला इंद्रियों करके जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है उस ही प्रकार भूत, भविष्यत् कालकी कतिपय (कुछ) थोडीसी पर्यायोंमें रहनेवाले एकत्वके ज्ञानका प्रतिबंधक होरहे ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ प्रत्यभिज्ञान भी उतने ही भूत, भविष्यत् कालकी परिमित स्तोक पर्यायोंमें रहनेवाले एकत्वका ही ग्राहक है। इस बातको हम युक्तियोंसे सहित देख रहे है, अनुभव कर रहे हैं। युक्तियोसे सिद्ध होगयी चर्चाको मान लिया करो।

तस्माच्चैकसंतानवर्तिघटकपालादिमृत्पर्यायाणामन्वयित्वसिद्धेर्नोदाहरणस्य साध्यसाधनविकलत्वं, येन चित्तक्षणसंतानव्याप्येकोऽन्वितः पुमान्न सिद्धयेत् ।

उस कारण अब तक सिद्ध हुआ कि एक संतानमें रहनेवाले शिवक, स्थास, कोष, कपाल और घट आदि मिट्टीकी पर्यायोंमें भी मृत्तिकारूपसे ओतप्रोतरूप अन्वय भरा हुआ है। अतः एकसौ बावनवीं कारिकामें दिया गया मृत्पर्यायस्वरूप उदाहरण तो अन्वयसहितपनेरूप साध्यसे और प्रत्यभिज्ञानका विषयपनारूप हेतुसे रहित नहीं है। जिससे कि आत्माके ज्ञानपर्यायोंकी संतानमें व्यापकरूपसे अन्वययुक्त रहनेवाला एक आत्मा सिद्ध न होवे। भावार्थ—" सम्पूर्ण ज्ञान धाराओंमें मोतियोंकी मालामें सूतके समान यह वही आत्मा है " इस अन्वयबुद्धिका जनक एक आत्मा द्रव्य सिद्ध होगया है ऐसे ही निजके सुख, चारित्र, अस्तित्व आदि गुणोंकी पहिली पीछे-पर्यायोंमें आत्मा व्यापक है।

कथमेकः पुरुषः क्रमेणानन्तान् पर्यायान् व्याप्नोति ? न तावदेकेन स्वभावेन सर्वेषामेकरूपतापत्तेः नानास्वरूपैर्व्याप्तानां जलानलादीनां नानात्वप्रसिद्धेरन्यथानुपपत्तेः ।

यहां पर बौद्ध लोग आत्माका नित्यपना उडानेके लिये कटाक्षसहित चौडा पूर्वपक्ष करते हैं कि एक ही आत्मा क्रमसे होनेवाली अनंत भिन्न भिन्न पर्यायोंको कैसे व्याप्त कर लेता है ? बताओ। यदि जैन लोग एक स्वभावके द्वारा आत्माका अनेक पर्यायोंमें व्यापक होजाना मानेंगे वह तो ठीक नहीं है क्योंकि यों तो सम्पूर्ण पर्यायोंको एकपनेकी आपत्तिका प्रसंग होगा। जो एक स्वभावसे रहते हैं वे एक ही हैं। जैसे घट और कलश एकस्वभावसे भूतलमें रहते हैं। इस कारण दोनों घट और कलश एक ही तो हैं। जल, अग्नि आदिको अनेकपदार्थपना तभी प्रमाणोंसे प्रसिद्ध है जब कि वे शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, गीला करना, सुखाना, कम्पन कराना आदि अनेक स्वभावोंसे अपनी अपनी पर्यायोंमें व्याप्त होकर ठहरते हैं। यदि ऐसा नहीं मानकर अन्य प्रकारोंसे माना जावे अर्थात् एकस्वभावके द्वारा भी जल, अग्नि, आदिको अपनी पर्यायोंमें व्यापक मान लिया जावे तो जल, अग्नि वायु, आदिको अनेकपना सिद्ध नहीं हो सकेगा। सर्व एक द्रव्य हो जावेंगे ।

सत्ताद्येकस्वभावेन व्याप्तानामर्थानां नानात्वदर्शनात् पुरुषस्यैकस्वभावेन व्याप्तानामप्यनन्तपर्यायाणां नानात्वमविरुद्धमिति चायुक्तम्, नानार्थव्यापिनः सत्त्वादेरेकस्वभावत्वानवस्थितेः कथमन्यथैकस्वभावव्याप्तं किंचिदेकं सिद्ध्येत् ।

यदि यहांपर नैयायिक या जैन यों कहें कि जैसे सत्ता, द्रव्यत्व आदि एक स्वभावकरके व्याप्त होरहे भी पृथ्वी, जल, वायु आदि अर्थोंका अनेकपन देखा जाता है वैसे ही आत्मत्व या चेतनत्व नामक एकस्वभावसे व्याप्त हुये भी अनंत ज्ञान, सुख आदि पर्यायोंको अनेकपना होनेमें कोई विरोध नहीं है। बौद्ध कहते हैं कि यह भी कहना युक्तियोंसे रहित है क्योंकि अनेक अर्थोंमें व्यापकरूपसे रहनेवाले सत्त्व, द्रव्यत्व, पदार्थत्व आदिको जैनसिद्धान्तमें एकस्वभावपना व्यवस्थापूर्वक सिद्ध नहीं है। वे सत्त्व आदिक अनेक स्वभाववाले होकर ही अनेक पदार्थोंमें ठहर सकते हैं। यदि ऐसा न स्वीकार कर अन्यप्रकारोंसे माना जावेगा तो एकस्वभावसे व्याप्त होरहा कोई एक पदार्थ ही कैसे सिद्ध हो सकेगा ? बताओ। भावार्थ—अबतक एकस्वभावपनेसेही एक पदार्थ होनेकी व्यवस्था है, यही स्याद्वादियोंका भी मत है किन्तु अब आप नैयायिकके मन्तव्यके अनुसार एकस्वभावके द्वारा अनेकपनकी भी सिद्धि करने लगे, सो ठीक नहीं है। यों तो पदार्थके एकत्वकी व्यवस्थाही उठ जावेगी। तथा नैयायिककी मानी गई नित्य, एक, और अनेकोंमें रहनेवाली सत्ताजाति तो अनेक दोषोंसे दूषित है ।

यदि पुनर्नानास्वभावैः पुमाननन्तपर्यायान् व्याप्नुयात्तदा ततः स्वभावानामभेदे तस्य नानात्वम्, तेषामेकत्वमनुषज्येत, भेदे सम्बन्धासिद्धेर्व्यपदेशानुपपत्तिः, संबन्धकल्प-

नायां किमेकेन स्वभावेन पुमान् स्वस्वभावैः संबध्यते नानास्वभावैर्वा ? प्रथमकल्पनायां सर्वस्वभावानामेकतापत्तिः, द्वितीयकल्पनायां ततः स्वभावानामभेदे च स एव दोषः, अनिवृत्त (श्च) पर्यनुयोगः, इत्यनवस्थानात्, कुतोऽनन्तपर्यायव्यापिरात्मा व्यवतिष्ठेतेति केचित्।

अभी तक बौद्ध कहते जा रहे हैं कि द्वितीयपक्ष अनुसार यदि आप जैनजन फिर अनेक स्वभावोंसे अनंत पर्यायोंको आत्मा व्याप्त कर लेगा, ऐसा मानेंगे तो हम बौद्ध पूंछते हैं कि ये अनेक स्वभाव आत्मासे अभिन्न हैं या भिन्न हैं ?

यदि अनेक स्वभावोंका उस आत्माके साथ अभेद मानोगे तो स्वभावोंके समान वह आत्मा भी अनेक हो जावेगी, अथवा आत्माके समान उन स्वभावोंको भी एकपनेका प्रसंग होगा अभेदमें ऐसा ही होता है।

यदि दूसरा पक्ष लोगे यानी उस आत्मासे उसके स्वभावोंको भिन्न मानोगे तो आत्माका और स्वभावोंका संबंध सिद्ध न होगा। संबंध सिद्ध न होनेसे " आत्माके ये स्वभाव हैं। " इस प्रकारके लोकव्यवहारकी व्यवस्था न होसकेगी क्योंकि सह्य और विन्ध्यके समान सर्वथा भेद होनेपर संबंध नहीं बनता है और सह्य पर्वतका यह विन्ध्य पर्वत है इस प्रकार व्यवहार भी नहीं होता है। अतः संबंधवाचक षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त नहीं हो सकती है।

यदि स्वभावोंके साथ आत्माके संबंधकी कल्पना करोगे तो हम पूंछते हैं कि आत्मा क्या अपने अनेक स्वभावोंके साथ एक स्वभावसे सम्बन्धित होगा अथवा अपने अनेक स्वभावोंके साथ अनेक स्वभावोंकरके सम्बद्ध हो ? बताओ यदि पहिले पक्षकी कल्पना करोगे तो आत्माके उन सम्पूर्ण स्वभावोंको पूर्वके समान एकपनेका प्रसंग होता है और दूसरे पक्षकी कल्पनामें नाना स्वभावोंके साथ संबंध करानेवाले उन दूसरे अनेक स्वभावोंका उस आत्मासे अभेद मानोगे तो वही पहिला दोष हो जावेगा अर्थात् या तो वे सब स्वभाव एक हो जावेंगे या आत्मा अनेक हो जावेंगी तथा उन स्वभावोंको आत्मासे भिन्न पडा हुआ मानोगे तो आत्माका स्वभावोंके साथ संबंध सिद्ध न होगा।

यदि पुनः संबंधकी कल्पना करोगे तो फिर एक स्वभावसे या अनेक स्वभावोंसे संबंध माननेके विकल्प उठाये जावेंगे और वे ही पूर्वोक्त दोष आते जावेंगे। इस तरह कटाक्षरूप प्रश्न, उत्तर और विकल्प उठाना नहीं निवृत्त होगा। इस प्रकार मूलपदार्थका क्षय करनेवाला अनवस्था दोष होगा तब जैनोंका अनंत पर्यायोंमें अन्वयरूपसे व्यापक होरहा भला एक आत्मा कैसे व्यवस्थित होगा ? आप जैन उत्तर दीजिये इस प्रकार कोई बौद्ध पण्डित कह रहे हैं।

तेऽपि दूषणाभासवादिनः कथम्—

अब आचार्य कहते हैं कि वे बौद्ध भी सच्चा दोष नहीं दे रहे हैं किंतु उनको दूषणाभास कहनेकी लत पडी हुयी है। सो कैसे? उसको सुनिये—

क्रमतोऽनन्तपर्यायानेको व्याप्नोति ना सकृत्।
यथा नानाविधाकारांश्चित्रज्ञानमनंशकम्॥ १६०॥

बुद्धमतमें जैसे प्रकारता, विशेष्यता, आधेयता, ग्राह्यता, ग्राहकता, आदि अंशोंसे रहित होरहा भी एक चित्रज्ञान नाना प्रकारके नीलाकार, पीताकार, हरिताकारोंको एकसमयमें व्याप्त कर लेता है। वैसे ही एक आत्मा भी क्रमसे होनेवाली अनंत पर्यायोंको एक ही बारमें व्याप्त कर लेता है। अर्थात् आत्मा अनंत भूत, भविष्य, कालकी पर्यायोंमें अन्वितरूपसे विद्यमान है। ऐसा जैन मानते हैं। बौद्धोंका दृष्टांत मिल गया।

चित्रज्ञानमनंशमेकं युगपन्नानाकारान् व्याप्नोतीति स्वयमुपयन् व्याप्नुवन्तमात्मानं प्रतिक्षिपतीति कथं मध्यस्थः? तत्र समाधानाक्षेपयोः समानत्वात्।

धर्मधर्मीभावसे रहित हो रहा एक निरंश चित्रज्ञान एक समयमें अनेक आकारोंको व्याप्त कर लेता है। इस बातको बौद्ध स्वयं स्वीकार कर रहा है किंतु क्रमसे होनेवाली अनंत पर्यायोंमें व्याप रहे आत्माका खण्डन करता है। ऐसा कहनेवाला बौद्ध पक्षपातरहित होकर न्याय करनेवाला मध्यस्थ कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं, जो चित्रज्ञानमें समाधान करोगे वैसा ही आत्माकी व्यापकताका समाधान हो जावेगा और अपनी पर्यायोंमें आत्माके अन्वित रहनेपर जो दोषारोपण करोगे, वही दोष समानरूपसे वहां चित्रज्ञानमें भी लागू होगा, कारण कि यहां चित्रज्ञान-रूप दृष्टांत सम है।

नन्वनेकोऽपि चित्रज्ञानाकारोऽशक्यविवेचनत्वादेको युक्त इति चेत्—

यहां ननुका अर्थ यह है जैसे कि कोई अनिर्णीत अपराधी जजके सम्मुख प्रश्नकर्ता बनकर अपने दोषके निवारणार्थ उत्तरकालके फलका उद्देश्य रखकर समाधानरूप निर्दोषताका बखान करता है वैसेही शङ्काकारका वेष धारण कर बौद्ध कहते हैं कि नील, पीत आदि नाना आकार अनेक ही हैं। फिर भी उन आकारोंका पृथग्भाव नहीं किया जासकता है। अतः उन आकारोंसे मिलकर बना हुआ एक चित्रज्ञान मानना युक्त है आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो—

यद्यनेकोऽपि विज्ञानाकारोऽशक्यविवेचनः।
स्यादेकः पुरुषोऽनन्तपर्यायोऽपि तथा न किम्॥ १६१॥

यद्यपि चित्रज्ञानके अनेक आकार हैं किंतु उनका पृथक्करण नहीं हो सकता है। अतः यदि उन अनेक आकारवाले ज्ञानोंको एक माना जावेगा तो उसी प्रकार अनंत पर्यायोंमें रहनेवाला आत्मा भी पृथक् न कर सकनेके कारण एक क्यों न माना जावे न्याय समान होना चाहिये।

क्रमभुवामात्मपर्यायाणामशक्यविवेचनत्वमसिद्धमिति मा निश्चैषीः यस्मात्—

बौद्धोंके प्रति आचार्य कह रहे हैं कि क्रम क्रमसे होने वाली आत्माकी पर्यायोंका पृथक् न कर सकनापन असिद्ध है। इस प्रकार निश्चय न कर बैठना, जिस कारणसे कि—

यथैकवेदनाकारा न शक्या वेदनान्तरम्।
नेतुं तथापि पर्याया जातुचित्पुरुषान्तरम् ॥ १६२ ॥

जिस प्रकार एक विज्ञानकी लडीके आकार दूसरे ज्ञानमें ले जानेको अशक्य हैं तैसे ही देवदत्तकी आत्माके सुख, दुःख आदि पर्याय भी दूसरे यज्ञदत्तकी आत्मामें कभी नहीं प्राप्त किये जा सकते हैं अतः अशक्यविवेचनत्व हेतु दोनोंमें रह गया।

ननु चात्मपर्यायाणां भिन्नकालतया वित्तिरेव शक्यविवेचनत्वमिति चेत्तर्हि चित्रज्ञानाकाराणां भिन्नदेशतया वित्तिर्विवेचनमस्तीत्यशक्यविवेचनत्वं माभूत् तथाहि—

बौद्ध अनुनय करते हैं कि एक आत्माकी नाना ज्ञान, सुख, आदि पर्यायोंकी भिन्न भिन्न कालमें वृत्ति होकर प्रतीति हो जाना ही उनका पृथग्भाव कर सकना है। यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तब तो चित्रज्ञानके आकारोंका भी भिन्न भिन्न देशमें हुये रूपसे वेदन होना ही पृथक् कर सकना है। इस तरह चित्रज्ञानके आकारोंमें भी पृथक् न कर सकनापन न होगा, सो ही स्पष्ट कर अगिली वार्तिकमें कहते हैं—

भिन्नकालतया वित्तिर्यदि तेषां विवेचनम्।
भिन्नदेशतया वित्तिर्ज्ञानाकारेषु किन्न तत् ॥ १६३ ॥

यदि भिन्न भिन्न कालमें वर्त रहे रूपसे ज्ञप्ति होना ही आत्माकी पर्यायोंका पृथग्भाव करना है तो भिन्न देशोंमें रहना रूपसे जानना ही क्यों नहीं चित्रज्ञानके आकारोंका पृथक् कर सकना माना जाता है ? बताओ। भिन्ना भिन्ना देशा येषां ते भिन्नदेशास्तेषां भावो भिन्नदेशता, तया भिन्नदेशतया, यों निरुक्ति करना।

न हि चित्रपटीनिरीक्षणे पीताद्याकाराश्चित्रवेदनस्य भिन्नदेशा न भवन्ति ततो बहिस्तेषां भिन्नदेशताप्रतिष्ठानविरोधात्।

किसी उद्यान या महलके प्रतिबिम्बित या चित्रित अनेक रंगवाले चित्रपटको देखनेपर उस चित्रज्ञानके पीत, नील आदिक आकार भिन्न भिन्नदेशमें वृत्ति रखनेवाले नहीं हैं यह नहीं कहना। अन्यथा उस चित्रपट (तसवीर) से बाहिर रखे हुए वास्तविक प्रतिबिम्बक बगीचे या महलके उन नील, पीत आदिक आकारोंका भिन्नदेशवृत्तिरूपमें प्रतिष्ठित रहनेका विरोध हो जावेगा। अर्थात् वे एक ही ज्ञानमें भिन्न भिन्नदेशोंमें रहते हुए दीख रहे हैं क्योंकि बगीचेमें अनेक आकार या रंगवाले फल, फूल, वृक्ष, बेल आदि भिन्न भिन्न देशोंमें विद्यमान हैं। तभी तो उनका प्रतिबिम्ब चित्रमें वैसा पड गया है।

न ह्यभिन्नदेशपीताद्याकारानुकारिणश्चित्रवेदनाद्भिन्नदेशपीताद्याकारो बहिरर्थश्चित्रः प्रत्येतुं शक्योऽपीताकारादपि ज्ञानात्पीतप्रतीतिप्रसंगात् ।

एक ही देशमें पीत, नील आदिक आकारका निरूपण करनेवाले चित्रज्ञानसे भिन्न देशवर्ती पीत आदिक आकारवाले बहिरंग इन्द्रधनुष, चितकबरी गाय, ततैया, तितली आदि अर्थ चित्र विचित्र नहीं समझे जा सकते हैं, अन्यथा पीतका आकार न लेनेवाले ज्ञान से भी पीतकी समीचीन ज्ञप्ति होजानेका अतिप्रसंग आजावेगा। भावार्थ—ज्ञानके आकारोंमें भिन्नदेशता है तभी तो बहिरंग विषयोंमें भिन्नदेशपना निर्णय किया जाता है। इस कारण ज्ञानके आकारोंमें भिन्न भिन्न देशोंमें रहनापन सिद्ध हुआ। ऐसी दशामें आत्माके समान ज्ञानके आकारोंमें भी पृथक् न कर सकनापन नहीं है। अब आप बौद्ध एक चित्रज्ञानका क्या उपाय रचेंगे ? बताओ।

पीताकारादिसंवित्तिः प्रत्येकं चित्रवेदना ।
न चेदनेकसन्तानपीतादिज्ञानवन्मतम् ॥ १६४ ॥

देवदत्त, जिनदत्त आदिकी अनेक भिन्न सन्तानोंमें होनेवाले और नील, पीत, हरित आदिकको जाननेवाले एक एक ज्ञानव्यक्ति जैसे चित्रज्ञान नहीं है उसी प्रकार एक ज्ञानमें होनेवाले नील, पीत आदि आकार भी अकेले अकेले चित्रज्ञान नहीं है किन्तु एक ज्ञानके समुदित आकारोंका चित्र बन जाता है यदि बौद्धोंका यह मंतव्य है तब तो—

चित्रपटीदर्शने प्रत्येकं पीताकारादिवेदनं न चित्रज्ञानं क्रमाद्भिन्नदेशविषयत्वात्तादृग्ज्ञानेऽनेकसंतानपीतादिज्ञानवदिति मतं यदि ।

उक्त कथनको बौद्ध अनुमान बना कर कहते हैं कि अनेक रंगवाले चित्रको देखनेपर पीत, हरित, नील आदिक आकारको जाननेवाले अनेक आकारके ज्ञानमेंसे एक आकारवाला प्रत्येक प्रत्येक ज्ञानांश चित्रज्ञान नहीं है क्योंकि वे ज्ञान क्रमसे भिन्न भिन्नदेशोंमें विद्यमान रहनेवाले नील, पीत आदिकको विषय करते हैं। जैसे कि देवदत्त, जिनदत्त आदिक भिन्नसंतानोंके उस प्रकारके

नील, पीत आदिक आकारवाले ज्ञान अकेले अकेले चित्रज्ञान नहीं हैं उन भिन्न भिन्नसंतानके ज्ञानोंका समुदाय नहीं होपाता है किंतु एकज्ञान समुदित आकारोंसे मिश्रित होगा तब तक चित्र कहा जावेगा। इस प्रकार यदि आप बौद्धोंका मत है तो सुनिये।

सह नीलादिविज्ञानं कथं चित्रमुपेयते।
युगपद्भाविरूपादिज्ञानपंचकवत्त्वया ॥ १६५ ॥

यदि एक आत्माके क्रमसे होने वाले ज्ञान, सुख आदि पर्यायोंमें एक द्रव्यपनेसे सांकर्यरूप चित्रता नहीं मानते हो तो एक समयमें साथ होते हुए नील, पीत आदिक आकारवाले विज्ञानको चित्रज्ञान कैसे स्वीकार कर सकोगे ? जैसे कि पापड खाते समय एक समयमें रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दके पांचों इंद्रियोंसे अन्य पांच ज्ञान साथ होते हैं। उन पांचोंका मिश्रणात्मक एक चित्रज्ञान तुमने नहीं माना है वैसे ही नील, पीत आदि आकारोंका मिश्रणरूप एक चित्रज्ञान तुमको नहीं मानना चाहिये।

शक्यं हि वक्तुं शष्कुलीभक्षणादौ सहभाविरूपादिज्ञानपञ्चकमिव नीलादिज्ञानं सकृदपि न चित्रमिति, सहभावित्वाविशेषात्।

हम यों अवश्य कह सकते हैं कि कुरकुरी कचौडी खाते समय या रायतेको सपोट कर पीने पर आदि प्रकरणोंमें एक साथ होनेवाले रूप, रस आदिकके पांच ज्ञान जैसे परस्परमें मिलकर एक चित्रज्ञानरूप नहीं बन जाते हैं। उसी प्रकार एक समयमें होनेवाले नील, पीत आदिक आकारवाले ज्ञान भी मिलकर चित्रात्मक एक नहीं हो सकते हैं। भुरभुरी कचौडी खानेमें या अनेक रंगवाले चित्रपटके देखनेमें अनेक आकारवाले ज्ञानोंका साथ होनापन समान है। कोई भी अन्तर नहीं है।

तदविशेषेऽपि पीतादिज्ञानं चित्रमभिन्नदेशत्वाच्चित्रपतङ्गादौ न पुना रूपादिज्ञानपञ्चकं क्वचिदिति न युक्तं वक्तुं तस्याप्यभिन्नदेशत्वात् न हि देशभेदेन रूपादिज्ञानपञ्चकं सकृत् स्वस्मिन् वेद्यते, युगपज्ज्ञानोत्पत्तिवादिनस्तथाभ्युपगमात्।

उस नील, पीत आदि ज्ञान और रूप, रस आदिक ज्ञानको एक कालमें होनेकी अपेक्षासे कुछ अंतर न होते हुए भी अनेक रंगवाले पतङ्गे, तितली, ततैया आदि या चित्रपटके नील, पीत आकारवाले ज्ञानको अभिन्न देशमें होनेके कारण आप चित्रज्ञान कहें किन्तु फिर कहीं कहीं कचौडी, पापड, ताम्बूलके भक्षण करनेपर साथमें होनेवाले रूप आदिकके पांच ज्ञानोंको चित्ररूप न मानें, इस प्रकार आपका पक्षपातसे कहना युक्तियोंसे सहित नहीं है क्योंकि रूप, रस आदिकके

वे ज्ञान भी उस कचौडीस्वरूप अभिन्नदेशमें उत्पन्न हुए हैं । कचौडी खाते समय रूप आदिके पांचों ज्ञान एक समयमें होते हुए आत्मामें जाने जा रहे हैं । उनमें कोई देशका भेद नहीं है । भावार्थ—रूपका ज्ञान किसी पदार्थमें हो और रसका ज्ञान अन्यमें हो, एवं गन्धका ज्ञान तीसरेमें हो, ऐसा नहीं है । जो एकसमयमें अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्ति होना कहते हैं उन्होंने उस प्रकार पांच ज्ञानोंका भिन्न देशमें उत्पन्न होना स्वीकार नहीं किया है किन्तु एकही वस्तुमें एक समयमें अनेक ज्ञान उत्पन्न हो जाते हैं उनकी यों कहनेकी टेव है । इस विषयमें जैनोंका सिद्धान्तमन्तव्य दूसराही है, जो कि अग्रिम प्रकरणमें प्रतीत हो जावेगा । दूसरेके मन्तव्यका खण्डन करते समय पद पद पर अपने घरकी बात कह देना हेकडापन है । संक्षेपमें सिद्धांत यह है कि अनेक पदार्थोंको भिन्न भिन्न रूपसे जानने वाले एक ज्ञानको समूहावलम्बन ज्ञान कहते हैं । कचौडी खाते समय भी क्रम क्रमसे पांच ज्ञान होते हैं । एक समयमें दो उपयोग नहीं हो सकते हैं । दर्शन, ज्ञान या मतिज्ञान श्रुतज्ञान अथवा अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा या रासनप्रत्यक्ष और चाक्षुषप्रत्यक्ष ये हम लोगोंके एक समयमें दो नहीं होते हैं । लब्धिरूप चार ज्ञान भले ही हो जावें । लब्धिरूप ज्ञान प्रमितिका साक्षात् जनक नहीं है । यों तो अंधे मनुष्यके भी लब्धिरूप चाक्षुष प्रत्यक्ष माना है । चित्रपटमें अनेक रंगोंके ज्ञानको एक चित्रज्ञान हम इष्ट करते हैं किन्तु बौद्धोंके सदृश क्षणिक परमाणुरूप विज्ञानके अनेक नील, पीत आकारोंका मिश्रण होकर बने हुए चित्रज्ञानको हम नहीं मानते हैं । एक पदार्थके अनेक ज्ञान होना और अनेक पदार्थोंका एक ज्ञान होना भी हम मानते हैं, तभी तो अंश, उपांशोंको जाननेवाले ध्यान और सर्वज्ञताकी आपत्ति होती है ।

ननु चादेशत्वाच्चित्रचैतसिकानामभिन्नदेशत्वचिंता न श्रेयसीति चेत्, कथं भिन्नदेशत्वाच्चित्रपटीपीतादिज्ञानानां चित्रत्वाभावः साध्यते ? संव्यवहाराच्चेषां तत्र भिन्नदेशत्वसिद्धेः तत्साधने तत एव शष्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानानामभिन्नदेशत्वसिद्धेः, सहभावित्वसिद्धेश्च तद्वत् सकृदपि पीतादिज्ञानं चित्रमेकं माभूत् ।

बौद्ध अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि विज्ञानस्वरूप आत्माके चित्र विचित्र ज्ञानोंका जब देश ही कोई नहीं है क्योंकि वे क्षणिक विज्ञान किसी देशमें रहते हुए हमने नहीं माने हैं तो फिर भिन्नदेशमें रहनेका विचार करना कुछ अच्छा नहीं है । ग्रंथकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम जैन कहते हैं कि आप बौद्धोंने चित्रपटके नील, पीत आदिक ज्ञानोंको भिन्न देशमें रहनेके कारण चित्रपनेका अभाव क्यों सिद्ध किया है ? बताओ, आप तो भिन्नदेशपना मानते ही नहीं है ।

यदि आप बौद्ध लोकके समीचीन व्यवहारसे उन ज्ञानोंमें भिन्नदेशपना या अभिन्न देशपना मानोगे और जहां भिन्न देशपनेका व्यवहार सिद्ध नहीं है वहां उससे चित्रज्ञानपनेका साधन

करोगे तो उस ही से मुरमुरी (खस्ता) कचौडी खानेपर होनेवाले रूप आदिकके पांचों ज्ञानोंमें भी अभिन्नदेशपना सिद्ध है और इसी कारण साथमें होनापन सिद्ध है तो इस हेतुसे रूप आदिकके पांचों ज्ञानोंका मिलकर एक चित्रज्ञान क्यों न हो जावे। अथवा रूप आदिक पांच ज्ञान जिस प्रकार न्यारे न्यारे हैं, उसीके समान एक समय होनेवाले, नील, पीत आदिकके ज्ञान भी न्यारे न्यारे होंगे। एक चित्रस्वरूप न हो सकेंगे।

यदि पुनरेकज्ञानतादात्म्येन पीताद्याभासानामनुभवनात्तद्वेदनं चित्रमेकमिति मतम्, तदा रूपादिज्ञानपञ्चकस्यैकसन्तानात्मकत्वेन संवेदनादेकं चित्रज्ञानमस्तु।

यदि बौद्ध मतानुयायिओ, फिर तुम्हारा यह मंतव्य होय कि नील, पीत आदिक आकार-स्वरूप प्रतिभासोंका एक ज्ञानमें तादात्म्य रूपसे अनुभव होरहा है इस कारण उस ज्ञानको हम एक चित्रज्ञान मानते हैं, तब तो रूप, रस आदिकके पांच ज्ञानोंका भी एक संतानरूप तादात्म्यसे वेदन होरहा है अतः वे पांचों ज्ञान भी एक चित्रज्ञानरूप हो जाओ, चित्रपना बनानेके लिये दोनों स्थलोंमें तादात्म्य सम्बंध एकसा है।

तस्यानेकसन्तानात्मकत्वे पूर्वविज्ञानमेकमेवोपादानं न स्यात्।

यदि रूप, रस आदिकके पांच ज्ञानोंको अनेक संतानस्वरूप मानोगे ऐसा होते संते तो पहिलेका एक विज्ञान ही उनका उपादान कारण न हो सकेगा, अर्थात् जैसे देवदत्त, जिनदत्तके अनेक ज्ञानोंका उपादान कारण उनके पूर्वकालमें होनेवाले ज्ञान हैं। विवक्षित आत्माके एक ज्ञान-रूप उपादान कारणसे नाना आत्माओंका ज्ञान उपादेय नहीं हो पाता है। वैसेही एक आत्मामें रूप ज्ञानकी संतान पृथक् चल रही है। रसज्ञानकी संतानधारा भिन्न रूपसे प्रचलित होरही है। गंध-ज्ञानकी संतति न्यारी बह रही है। स्पर्शज्ञान स्वतंत्र होकर अपने उपादान उपादेयोंकी धाराओंमें परिणत है। इसी तरह श्रोत्रजन्य शब्द प्रत्यक्षकी अन्वयसंतति अलग हो रही है। इस प्रकार आप बौद्धोंके मानने पर रसज्ञानको गंधज्ञानकी और रूपज्ञानको रसज्ञानकी उपादान कारणता जो प्रसिद्ध हो रही है सो न बनेगी। बौद्धमतसे गंधज्ञानका पूर्वकाल सम्बंधी गंधज्ञान ही उपादान कारण होगा, तथा च आत्मामें अनेक उपादानकारण होने योग्य ज्ञानगुणोंके माननेका प्रसङ्ग आता है। जो कि सिद्धांतसे विरुद्ध है।

पूर्वानेकविज्ञानोपादानमेकरूपादिज्ञानपञ्चकमिति चेत्, तर्हि भिन्नसन्तानत्वात्त-स्यानुसन्धानविकल्पजनकत्वाभावः।

यदि बौद्ध लोग आत्मामें एक समयमें अनेकज्ञानकी धाराएं चलती हुयी स्वीकार करोगे अर्थात् कचौडी खाते समय पांच रूप आदि ज्ञानोंके पूर्ववर्ती पांच ज्ञानोंको उपादान कारण मानोगे

तो पूर्ववर्ती रूपज्ञानसे उत्तरमें रूपज्ञान होता है । इसी प्रकार दूसरे रसज्ञानसे रस आदिका ज्ञान होना समझ लेना चाहिये तब तो देवदत्त, जिनदत्तकी संतानोंके समान भिन्न संतान हो जानेसे उन ज्ञानोंके द्वारा परस्परमें प्रत्यभिज्ञान रूप विकल्पोंको उत्पन्न करना न बन सकेगा, जैसे जिनदत्तके देखे हुए को देवदत्त स्मरण नहीं कर सकता है और न प्रत्यभिज्ञान कर सकता है । वैसे ही स्पार्शन प्रत्यक्षसे जाने हुए का चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञान न कर सकेगा और घ्राणज प्रत्यक्षसे जाने हुएका रासनप्रत्यक्ष अनुव्यवसाय न कर सकेगा, किंतु अनुसंधान ऐसा होता है कि जो मैंने छुआ था, उसीको देख रहा हूं, जिसको सूंघा था, उसीका स्वाद लेरहा हूं, इस प्रकार भिन्न इंद्रियोंसे जाने हुए विषयका दूसरी इंद्रियोंसे अनुसंधान हो रहा देखा जाता है । अतः एक आत्मामें ज्ञानकी अनेक संतानें मत मानो ।

पूर्वानुसन्धानविकल्पवासना तज्जनिकेति चेत् , कुतोऽहमेवास्य द्रष्टा स्प्रष्टा घ्राता स्वादयिता श्रोतेत्यनुसन्धानवेदनम् ? रूपादिज्ञानपञ्चकानन्तरमेवेति नियमः सम्भाव्यताम् ।

बौद्ध कहते हैं कि हम लोग स्मरण और प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण नहीं मानते हैं । जैसे अनेक मिथ्याज्ञान आत्मामें पहिलेसे बैठी हुयीं झूंठी अविद्यारूप वासनाओंसे उत्पन्न हो जाते हैं । उसी प्रकार वे स्मरण, प्रत्यभिज्ञान भी अपनी पूर्ववर्ती अविद्यास्वरूप मिथ्याविकल्पोंकी वासनासे स्वप्न ज्ञानोंके सदृश उत्पन्न हो जाते हैं । और रूप, रस आदिक ज्ञानोंका उपादान कारण भी पूर्ववर्ती ज्ञान नहीं है किंतु मिथ्या वासनाएं उनकी जनक हैं । ग्रंथकार कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो रूप आदिकके पांच ज्ञानके अव्यवहित उत्तरकालमें ही नियमसे ऐसा होना कैसे सम्भावित होगा ? कि जो ही मैं इस पदार्थको देखता हूं सो ही मैं छू रहा हूं और वही मैं सूंघ रहा हूं । इसका स्वाद लेरहा हूं और उसको सुनता चला आरहा हूं बताओ । किंतु इस प्रकार अनुसन्धान स्वरूप ज्ञान होते हैं अतः इनका कारण वस्तुभूत ज्ञान मानना चाहिए ।

यदि झूंठी वासनाओंसे अनुसन्धान ज्ञान हुये माने जावेंगे तो एक ही आत्मामें उनके ठीक ठीक उत्पन्न होनेका नियम नहीं सम्भव होगा । भावार्थ—मिथ्यासंस्कारोंसे प्रत्यभिज्ञान होने लगेंगे तो अंटसंट चाहे जब हो जावेंगे । देश, काल और द्रव्यके नियतपनेसे नहीं होंगे । परंतु नियतरूपसे होरहे देखे जाते हैं ॥

तस्य तद्वासनाप्रबोधकत्वादिति चेत्, कुतस्तदेव तस्याः प्रबोधकम् ? तथा दृष्टत्वादिति चेन्न, अन्यथा दर्शनात्, प्रागपि हि रूपादिज्ञानपञ्चकोत्पत्तेरहमस्य द्रष्टा भविष्यामीत्याद्यनुसन्धानविकल्पो दृष्टः ।

अनुसन्धानके नियम करनेका बौद्ध यदि यह उत्तर देंगे कि मैं जिसको देखता हूं, उसीको छूता हूं, सूंघता हूं, इस अनुसन्धानके नियम करानेवाली मिथ्यासंस्कार रूप वासना आत्मामें न्यारी

पडी हुयी हैं। वे रूप आदिकके पांच ज्ञान उस वासनाको प्रबुद्ध करा देते हैं। इस जगी हुयी वासना उस अनुसन्धानको उत्पन्न कर देती है, ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि क्या कारण है जिससे कि वे पांच ज्ञान ही अनुसन्धान करानेवाली उस वासनाका प्रबोध करते हैं। चाहे कोई भी ज्ञान झूंठी वासनाको क्यों नहीं जगा देता है ? बताओ इसके उत्तरमें बौद्ध यों कहे कि उस प्रकार होता हुआ कार्य देखा गया है। सो कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि दूसरे प्रकारोंसे भी कार्य होना देखा गया है, जब कि रूप आदिक पांच ज्ञानोंकी उत्पत्तिके पहिले भी मैं इस पदार्थका देखनेवाला, चखनेवाला, होऊंगा, इत्यादि प्रकारके प्रत्यभिज्ञानरूप विकल्प होना देखा जा रहा है।

सत्यं दृष्टः, स तु भविष्यद्दर्शनाद्यनुसन्धानवासनात एव, तत्प्रबोधकश्च दर्शनाद्यभिमुखीभावो न तु रूपादिज्ञानपञ्चकमिति तदुत्पत्तेः पूर्वमन्यादृशानुसन्धानदर्शनात्तासां नियमप्रतिनियतानुसन्धानानां प्रतिनियतवासनाभिर्जन्यत्वात्तासां च प्रतिनियतप्रबोधकप्रत्ययायत्तप्रबोधत्वादिति चेत्, कथमेवमेकत्र पुरुषे नानानुसन्धानसन्ताना न स्युः ? ।

बौद्ध कहते हैं कि रूप आदिक पांच ज्ञानोंके पूर्वमें अनुसंधान होना आपने देखा है सो ठीक है। हम भी कहते हैं कि आपने अवश्य देखा होगा, किंतु उस अनुसन्धानका कारण ज्ञान नहीं है। वह विकल्पज्ञान तो उपादान कारणके बिना ही भविष्यमें देखने, सूंघने, चाटनेके अनुसन्धानको उत्पन्न करनेवाली दुष्कर्मजनित दूसरी वासनाओंसे ही उत्पन्न हुआ है, आत्मामें बैठी हुयी उन वासनाओंका जगानेवाला कारण तो देखने, सूंघने, सुननेके लिए सन्मुख होनापन है किंतु रूप आदिके ज्ञान उन वासनाओंके प्रबोधक नहीं हैं। इसी प्रकार उनकी उत्पत्तिके पहिले भी दूसरे प्रकारके प्रत्यभिज्ञान होते हुए देखे जाते हैं। उन अनुसन्धानोंको नियम करके रूप रस आदिकमें ही नियमित करना पूर्वकी नियत हुयी वासनाओंसे जन्य हैं और वे पूर्वकी वासनाएं उनके जगानेवाले नियमित ज्ञानोंके वशमें पडकर प्रबुद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार मिथ्याज्ञान और वासना तथा उनके प्रबुद्ध होनेकी नियत व्यवस्था है। आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो इसी प्रकार एक आत्मामें अनुसंधानोंकी अनेक संतानें कैसे न होंगी ? बताओ। अर्थात् अपने वासनाओंके नियमित होरहे अनेक ज्ञानोंसे ही उत्तरवर्ती अनेक ज्ञान होते हुये माने हैं तथा च देवदत्तके देखे हुए का जिनदत्तको जैसे स्मरण, प्रत्यभिज्ञान नहीं होता है वैसे ही चाक्षुष ज्ञानसे जाने हुए का स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये। यह उक्त दोष तुम्हारे ऊपर अब भी लागू है।

प्रतिनियतत्वेऽप्यनुसन्धानानामेकसन्तानत्वं विकल्पज्ञानत्वाविशेषादिति चेत्, किमेवं रूपादिज्ञानानामेतन्न स्यात् ? करणज्ञानत्वाविशेषात्।

आप बौद्ध देखने, सूंघनेके अनुसंधानोंके नियत होनेपर भी एकसंतानपना है क्योंकि वे सूंघने, स्वाद लेनेका अनुव्यवसाय करनेवाले प्रत्यभिज्ञान सभी एकसे विकल्पज्ञान हैं कोई अंतर

नहीं है, यदि ऐसा कहोगे तो इस प्रकार कचौडी खाते समय होने वाले रूप, रस आदिकके ज्ञानोंको भी एक संतानपना क्यों न हो जावे क्योंकि ये भी सम्पूर्णज्ञान प्रमितिके उत्पादक करणज्ञानपना बहिरंग इंद्रियोंसे जन्य होनेके कारण अंतररहित समान हैं फिर इनकी न्यारी न्यारी संतान क्यों मानी जारही है ? ।

संतानांतरकरणज्ञानैर्व्यभिचार इति चेत्, तथापि संतानांतरविकल्पज्ञानैः कुतो न व्यभिचारः ?

सौगत कहते हैं कि बहिरंग इंद्रियजन्य ज्ञान या प्रमाजनक प्रमाणज्ञान तो देवदत्त, जिनदत्त, और इंद्रदत्तकी इंद्रियोंसे होनेवाले ज्ञान भी हैं । एतावता क्या उन ज्ञानोंकी भी एक संतान हो जावेगी ? तुम्ही कहो, आप जैनोंका इंद्रियजन्य ज्ञानपना या करणज्ञानपना हेतु तो संतानांतरोंके प्रमितिजनक प्रमाण ज्ञानों करके व्यभिचारी है । ग्रंथकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो तुम्हारा भी विकल्पज्ञानपना हेतु क्यों नहीं व्यभिचारी होगा ? क्योंकि देवदत्त, इंद्रदत्त आदि भिन्न चित्तोंमें भी देखने सूंघनेके अनेक कल्पनात्मकज्ञान होरहे हैं । इन करके बौद्धोंका हेतु अनैकांतिक हेत्वाभास है ।

एकसामग्र्यधीनत्वे सतीति विशेषणाच्चेत् समानमन्यत्र ।

यदि आप बौद्ध एक सन्तानपनको सिद्ध करनेके लिये बोले गये अपने विकल्प ज्ञानपन हेतुमें एक सामग्रीके वश होते हुए यह विशेषण लगा दोगे तो व्यभिचार दोष दूर हो जावेगा । किन्तु उसीके समान एक सामग्रीके अधीन इस विशेषणसे अन्य स्थलपर हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञानपने या प्रमाणज्ञानपन हेतुमें भी व्यभिचार निराकृत हो जावेगा, क्योंकि दूसरे सन्तानोंके देखने सूंघनेके अनुसन्धान तो भिन्न सामग्रीसे उत्पन्न होते हैं, एक सामग्रीके अधीन नहीं हैं, उसी प्रकार भिन्न आत्माओंके इन्द्रियजन्य ज्ञान भी एक सामग्रीके अधीन नहीं हैं सबके क्षयोपशम, इन्द्रिय, आत्माएं, भिन्न है ।

तथाक्षमनोज्ञानानामेकसन्तानत्वमेकसामग्र्यधीनत्वे सति स्वसंविदिति कुतस्तेषां भिन्नसन्तानत्वम् येन रूपादिज्ञानपञ्चकस्य युगपद्भाविनः पूर्वैकविज्ञानोपादानत्वं न सिद्ध्येत् । तत्सिद्धौ च तस्यैकसन्तानात्मकत्वादेकत्वमिति सूक्तं दूषणं नीलाद्याभासमेकं चित्रज्ञानमिच्छतां रूपादिज्ञानपञ्चकमप्येकं चित्रज्ञानं प्रसज्येतेति ।

तथा एक बात यह भी है कि एक सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाले विकल्पज्ञानोंकी जैसे आप बौद्ध एकसंतान मानते हैं उसी प्रकार पांच बहिरिन्द्रियोंसे जन्य और मनसे जन्य ज्ञानोंकी भी एकज्ञान सन्तान मान लो, इंद्रियजन्य ज्ञान और मानस ज्ञानोंकी भिन्न संतान आप मान भी कैसे

सकते हैं ? क्योंकि वे ज्ञान एक सामग्रीके अधीन होते हुए स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय हैं। जिस कारणसे कि उनको उसका उपादान कारणपना नहीं सिद्ध हो पाता अर्थात् इंद्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्षको एक संतानपना सिद्ध होगया तो रसना इंद्रिय, चक्षु इंद्रियसे एक ही समयमें होनेवाले रूप आदिकके पांचों ज्ञानोंको भी एक संतानपना सिद्ध हो ही जाता है ? इस प्रकार पूर्वसमयवर्ती कोई भी एक रासनप्रत्यक्ष या चाक्षुष प्रत्यक्ष उत्तर कालमें होनेवाले स्पार्शन प्रत्यक्ष या घ्राणज प्रत्यक्षका उपादान कारण क्यों न सिद्ध होगा ? बताओ और जब पूर्व उत्तरवर्ती चाहे किन्हीं भी ज्ञानोंमें वह उपादान उपादेय भाव सिद्ध हो गया तब तक संतानस्वरूप हो जानेसे उन रूप रस आदिकके पांच ज्ञानोंमें कथञ्चित् द्रव्यदृष्टिसे एकपना भी सिद्ध हो जाता है। इस लिये हमने बहुत अच्छा दूषण कहा था कि बौद्ध लोग नील पीत आदिकके आभासोंको मिलाकर यदि एक चित्रज्ञान बनाना चाहते हैं तो उनको कचौडी खाते समय होनेवाले रूप आदिकके पांच ज्ञानोंका भी मिश्रण कर एक चित्रज्ञान बन जानेका प्रसंग आवेगा। इस प्रकार आपके ऊपर लगाये गये दोषको पुष्ट करनेवाला प्रकरण समाप्त होता है।

चित्राद्वैताश्रयाच्चित्रं तदप्यस्त्विति चेन्न वै।
चित्रमद्वैतमित्येतदविरुद्धं विभाव्यते ॥ १६६ ॥

इष्टापत्ति करते हुए बौद्ध कहते हैं कि हम घट, पट आदिक पदार्थ या देवदत्त, जिनदत्त तथा जड, चेतन सब पदार्थोंको चित्रज्ञानस्वरूप ही मानते हैं। संसारमें चित्रज्ञानरूप ही एक पदार्थ है और कुछ भी नहीं है। इस कारण चित्राद्वैतका आश्रय कर लेनेसे रूप आदिकके पांच ज्ञानोंका भी मिलकर वह एक चित्रज्ञान बन जाओ। अच्छी बात है। इसमें हमारे ऊपर कुछ भी दोष नहीं है प्रत्युत गुण ही है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंको चित्रज्ञानका ही एकांत रूप अवधारण करना उचित नहीं है क्योंकि विचार करनेपर चित्र और अद्वैत ये दोनों निश्चयसे अविरुद्ध सिद्ध नहीं होते हैं किंतु विरुद्ध ही हैं। अद्वैतका अर्थ शुद्ध एक है और चित्र अनेकोंसे मिलकर बनता है। चित्र और अद्वैत शब्दमें समास होनेकी सामर्थ्य ही नहीं है। जैसे कि पण्डित और मूर्ख शब्दका समास नहीं होता है। यों शब्दशक्तिका कुछ भी विचार नहीं कर चाहे जो अनर्गल कह बैठो, कोई रोकता नहीं है। परामर्श करोगे तो पता चल जायगा।

चित्रं ह्यनेकाकारमुच्यते तत्कथमेकं नाम ? विरोधात्।

जब कि अनेक आकारोंसे युक्त होरहे को चित्र कहते हैं इसकारण वह चित्र भला अद्वैत यानी एक कैसे हो सकता है ? क्योंकि चित्रविचित्रपनेका एकपनेके साथ विरोध है।

तस्य जात्यन्तरत्वेन विरोधाभावभाषणे।
तथैवात्मा सपर्यायैरनन्तैरविरोधभाक् ॥ १६७ ॥

चित्र न तो एक है और न अनेक है किन्तु एक और अनेकसे न्यारी तीसरी ही जातिवाला पदार्थ है। अतः एकपने और चित्रपनेमें कुछ भी विरोध नहीं है, जैसे कि स्याद्वादियोंके मतमें कथञ्चित् भेदका कथञ्चित् अभेदसे विरोध नहीं है। बौद्धोंके इस प्रकार भाषण करनेपर तो हम जैन भी कहते हैं कि उसही प्रकार एक आत्मा भी अपनी अनन्त पर्यायोंके साथ रहकर अविरोधको धारण करता है। भावार्थ—अपनेसे सर्वथा विपरीतके साथ विरोध हो सकता है। जैसे घट और घटाभावका, सर्वज्ञता और अज्ञताका, रूपरहित और रूपसहितपनेका, एवं जीवोंमें बद्ध और मुक्तका तथा केवलज्ञान और क्षायोपशमिक ज्ञानका विरोध होना सम्भव है क्योंकि इन उक्त दोंके जोडोंमेंसे एकका निषेध करनेपर दूसरेका विधान या दूसरेका निषेध करनेपर पहिलेका विधान अवश्य हो जाता है। अतः दोका तुल्यबलवाला विप्रतिषेध होनेपर विरोध माना गया है किंतु जहां तीन चार कोटियां हो सकती हैं वहां विरोध होवे, यह एकांत नहीं हो सकता है। कथञ्चित् एकपनेका कथञ्चित् अनेकपना भाई है। हां! सर्वथा अनेकपना विरोधी है। स्याद्वाद सिद्धांतमें तीसरी अवस्था माननेपर पूर्वके प्रकृत दोमें विरोध नहीं सिद्ध हो सकता है। जैसे बाजीगरके द्वारा स्त्री या पुरुषसंबंधी प्रश्न करनेपर चतुर बालक अपनेको पुरुष होनेका उत्तर देता है और मूर्ख, पण्डितपनेका प्रश्न करनेपर पण्डित होनेका उत्तर देता है, एवं मनुष्य और पशुमेंसे एकके पूंछनेपर स्वयंको मनुष्य मानता है। किंतु नारकी या स्त्री तथा घोडा या हाथी इन दोनोंमेंसे तुम कौन हो? ऐसा पूंछनेपर कुशल बालक दोनोंका निषेध कर देता है क्योंकि वह बालक उक्त दोनों अवस्थाओंसे भिन्न तीसरी जातिवाली अवस्थाको धारण करता है। तुम मनुष्य है? या जीव है, अथवा पञ्चेन्द्रिय है? एवं त्रस है? ऐसा प्रश्न करनेपर चारोंका विधिस्वरूप उत्तर दे देता है। अतः अनेक पर्यायोंके साथ एक आत्माके रहनेका कोई विरोध नहीं है।

नैकं नाप्यनेकम्, किं तर्हि? चित्रं चित्रमेव, तस्य जात्यन्तरत्वादेकत्वानेकत्वाभ्यामित्यविरुद्धं चित्राद्वैतसंवेदनमात्रं बहिरर्थशून्यमित्युपगमे, पुंसि जात्यन्तरे को विरोधः? सोऽपि हि नैक एव, नाप्यनेक एव, किं तर्हि? स्यादेकः स्यादनेक इति, ततो जात्यन्तरं तथा प्रतिभासनादन्यथा सकृदप्यसंवेदनात्, इति नात्मनोऽनन्तपर्यायात्मता विरुद्धा चित्रज्ञानस्य चित्रतावत्।

सौगत बोल रहे हैं कि चित्रज्ञान न तो एक है और न अनेक ही है तो क्या है? ऐसा पूंछने पर हम बौद्ध कहते हैं कि वह चित्रज्ञान चित्रस्वरूप ही है। एकपन और अनेकपनसे भिन्न तीसरी ही चित्रत्वजातिवाला वह चित्रज्ञान है। इस प्रकार चित्र और अद्वैत शब्दका समास भी हो जावेगा और बहिरंग घट, पट आदि भेदोंसे सर्वथा रहित होरहे केवल अकेले चित्रज्ञानका संवेदन भी बिना विरोधके हो जावेगा। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा स्वीकार करेंगे तो आत्मामें भी तीसरी जातिका स्वभाव मानने पर क्या विरोध है? कहो तो सही। वह आत्मा भी न

तो एक ही है और न निश्चयसे अनेक ही है तब तो क्या है ? सो उत्तर सुनिये, कथञ्चित् द्रव्यरूपसे आत्मा एक है और पर्यायरूपसे आत्मा स्यात् अनेक है । उन सर्वथा एकांतोंसे भिन्न तीसरी एकानेकात्मकत्वजातिके स्वभावसे ही आत्माका प्रतिभास होरहा है । अन्य दूसरे एकांतप्रकारोंसे एक बार भी आत्माका वेदन नहीं हुआ है । इस कारण एक आत्माको अनंतपर्यायस्वरूपपना विरुद्ध नहीं है । जैसे कि बौद्धोंके चित्रज्ञानको अनेक नील, पीत आदिक आकारोंसे सहित होकर चित्र विचित्रपना विरुद्ध नहीं है । अब तक आत्माका अनंत पर्यायोंमें व्याप्त होना सिद्ध करनेके लिये " क्रमतोऽनंतपर्यायात् " इस एक सौ साठमीं कारिकामें उदाहरणरूप दिये गये चित्रज्ञानको घटित करके अनंत सहभावी और क्रमभावी पर्यायोंमें रहनेवाला एक अखण्ड आत्मा द्रव्य सिद्ध कर दिया है ।

भ्रान्तेयं चित्रता ज्ञाने निरंशेऽनादिवासना-
सामर्थ्यादवभासेत स्वप्नादिज्ञानवद्यदि ॥ १६८ ॥
तदा भ्रान्तेतराकारमेकं ज्ञानं प्रसिद्ध्यति ।
भ्रान्ताकारस्य चाऽसत्त्वे चित्तं सदसदात्मकम् ॥ १६९ ॥
तच्च प्रबाधतेऽवश्यं विरोधं पुंसि पर्ययैः ।
अक्रमैः क्रमवद्भिश्च प्रतीतत्वाविशेषतः ॥ १७० ॥

बौद्ध कहते हैं कि वास्तवमें ज्ञान हमारे यहां कार्यता, कारणता, ग्राह्यता, ग्राहकता, आभास और आभासीपन आदि अंशोंसे रहित माना गया है । स्वप्न देखते समय या सन्निपात होनेपर तथा अधिक मादकवस्तुओं आदिका उपभोग करनेपर विना कारण केवल अनादिकालके मिथ्यासंस्कारोंकी शक्तिसे यों ही झूंठे अनेक आकारवाले ज्ञान प्रतिभासित होते जाते हैं । उसी प्रकार जागते हुए भी आत्मामें अनादिकालसे बैठे हुए कुत्सित संस्कारोंके बलसे ज्ञानोंमें चित्र विचित्र आकार ज्ञात हो जाते हैं । वस्तुतः ज्ञानमें चित्रपन यह भ्रमरूप है । अब आचार्य कहते हैं कि यदि शुद्ध संवेदनाद्वैतवादी बौद्धोंका यह मत है तब तो एक ज्ञानमें स्वयं झूंठे आकारोंके प्रतिभास करनेकी अपेक्षासे भ्रान्तपना आया और अपनेको ग्रहण करनेकी अपेक्षासे अभ्रांतपना आया । इस प्रकार एक ज्ञानमें मिथ्याज्ञान और प्रमाणपन यों दो विरुद्ध आकार प्रसिद्ध हुए । चलो एक आत्माको अनेकपर्यायोंमें व्यापक होकर रहनेका यही दृष्टांत सही ।

यदि भ्रांत आकारको वन्ध्यापुत्रके समान असत् मानोगे तो भी ज्ञानमें स्वकी अपेक्षा विद्यमानता और भ्रांत आकारोंकी अपेक्षासे अविद्यमानता रह गयी अतः एक ज्ञान सदात्मक और असदात्मक होगया । तथा यों तो वही दृष्टांत एक आत्मामें अनेक पर्यायोंके साथ रहनेके विरोधको

अबाध्य बाधा दे रहा है । जैसे ज्ञानमें सत् असत्पना आपको प्रतीत होरहा है वैसे ही आत्माका क्रमसे रहित होकर साथ ठहरनेवाले गुणस्वरूप-पर्यायों तथा क्रमसे होनेवाले मतिज्ञान, सुख, आदि पर्यायोंके साथ रहना भी समानरूपसे प्रतीत होरहा है कोई अंतर नहीं है । पर्यायका सिद्धांतलक्षण अखण्डद्रव्यके अंशोंकी कल्पना करना है । आत्माके सुख, चारित्र, चेतना, अस्तित्व, वस्तुत्व आदिक तीनों कालमें ध्रुव रहनेवाले सहभावी गुणरूप अंश है और श्रुतज्ञान, इच्छा, उत्साह, दुःख, प्रतिक्षणपरिणति, लम्बाई, चौडाई आदि क्रमसे होने वाली अर्थपर्यायें और व्यंजनपर्यायें उत्पादविनाशवाले अंश हैं ।

चित्राद्वैतमपि माभूत् संवेदनमात्रस्य सकलविकल्पशून्यस्योपगमादित्यपरः। तस्यापि किमभ्यारोप्यमाणो धर्मः कल्पना, मनोविकल्पमात्रं वा, वस्तुनः स्वभावो वा ? प्रथमद्वितीयपक्षयोः सिद्धसाधनमित्युच्यते—

यहां बौद्धका कोई एक देशमतानुयायी न्यारा विद्वान् यों कह रहा है कि चित्राद्वैत भी मत हो, हम वैभाषिक तो सम्पूर्ण संकल्प विकल्पोंके कल्पित हुये आकारोंसे रहित होरहे केवल शुद्ध ज्ञानको ही स्वीकार करते हैं । आचार्य कहते हैं कि उस एकदेशीसे हम पूंछते हैं कि आप कल्पनाओंसे रहित शुद्ध ज्ञान मानते हैं । यहां आप कल्पनाका क्या अर्थ करते हैं ? बताओ वस्तुमें जो धर्म विद्यमान नहीं है उस धर्मका थोडी देरके लिये वस्तुमें आरोप करना कल्पना माना है ? या दरिद्रोंके मनोरथसमान मनके केवल संकल्पविकल्पोंको कल्पना इष्ट किया है ? अथवा वस्तुकी स्वभावकल्पना है ? । पहिले और दूसरे पक्षमें सिद्धसाधन दोष है यानी पहिली दो कल्पनाओंसे रहित हो रहेको हम भी समीचीन ज्ञान मानते हैं । इसी बातको वार्त्तिकों द्वारा कहते हैं—सावधान होकर सुनिये ।

निश्शेषकल्पनातीतं संचिन्मात्रं मतं यदि ।
तथैवान्तर्बहिर्वस्तु समस्तं तत्त्वतोऽस्तु नः ॥ १७१ ॥
समस्ताः कल्पना ह्रीमा मिथ्यादर्शननिर्मिताः ।
स्पष्टं जात्यन्तरे वस्तुन्यप्रबाधं चकासति ॥ १७२ ॥
अनेकान्ते ह्यपोद्धारबुद्ध्योऽनेकधर्मगाः ।
कुतश्चित्सम्प्रवर्तन्तेऽन्योन्यापेक्षाः सुनीतयः ॥ १७३ ॥

यदि बौद्ध यह मानेंगे कि आरोपित धर्म और मानसिक संकल्परूप सम्पूर्ण कल्पनाओंसे रहित हो रहा अकेला ज्ञान ही केवल तत्त्व है तो उसी प्रकार हम स्याद्वादियोंके मतमें भी अंतरंग

आत्माएं और बहिरंग घट, पट आदिक सम्पूर्ण वस्तुएं परमार्थरूपसे उन दो कल्पनाओंसे रहित सिद्ध हो जाओ। देखो ये झूठ मूठ अनेक प्रकारकी सम्पूर्ण कल्पनाएं नियम करके अतत्त्वश्रद्धानके वशसे गढ ली जाती हैं। क्योंकि जब कल्पनाओंसे रहित और अनेक स्वभाववाले तथा अनेकांतपनेकी भिन्नजातिसे युक्त होरहे वस्तुका (में) बाधारहित स्पष्टरूपसे प्रकाशन हो रहा है। ऐसा होते संते तो अपरमार्थभूत धर्मोंकी कल्पना करना मिथ्यात्वपिशाचसे ग्रसित हुये जीवका बहक जाना मात्र है। सम्पूर्ण पदार्थ वास्तविक अनेक–धर्मस्वरूप हैं। उनमें मिथ्यादृष्टिजनोंकी अनेक कल्पित धर्मोंको आश्रय करनेवाली वस्तुसे पृथग्भूत कल्पनाबुद्धियें किसी भी मिथ्यात्व कर्मके उदयसे हुयीं खूब प्रवर्त रही हैं। जगत्‌में अनेक कुमत छा रहे हैं, कोई वादी कहता है कि आत्मा अनित्य ज्ञानस्वरूप है। कोई आत्माको नित्य मानता है। कोई एक और कोई अनेक, एवं अंशोंसे रहित और सहित आदि धर्मोंकी गढंत ढाक रहे हैं किंतु ये सब मिथ्याज्ञानजनित कुनय हैं। यदि ये ही धर्म वस्तुकी भित्ति पर परस्परकी अपेक्षा रखते हुए माने जावें तो वे वचन या ज्ञान सुनय हो जाते हैं। क्योंकि अनेक धर्मवाली वस्तुमेंसे पृथक् पृथक् मानकर एक एक धर्मको विवक्षावश समीचीन कल्पनासे न्यारा न्यारा जाना है। एकसे दूसरेको अलग कर अनेक धर्मोंको विषय करनेवालीं सुनयें विवक्षावश जीवोंके अच्छी तरह वर्त रहीं हैं।

यस्मान्मिथ्यादर्शनविशेषवशान्नित्याद्येकान्ताः कल्पनाः स्पष्टं जात्यन्तरे वस्तुनि निर्बाधमवभासमाने तत्त्वतो न सन्तीति स्वयमिष्टम्, यतश्चानेकान्ते प्रमाणतः प्रतिपन्ने कुतश्चित्प्रमातुर्विवक्षाभेदादपोद्धारकल्पनानि क्षणिकत्वाद्यनेकधर्मविषयाणि प्रवर्तन्ते परस्परापेक्षाणि सुनयव्यपदेशभाञ्जि भवन्ति।

जिस कारणसे कि सर्वथा एकांतोंसे रहित कथञ्चित् अनेक एकांतस्वरूप अनेकांतात्मक वस्तुका बाधारहित जब विशदरूपसे प्रतिभास हो रहा है ऐसा होते सन्ते तो एकांत, विपरीत, मिथ्यादर्शनकी या गृहीतमिथ्यात्वविशेषकी पराधीनतासे उत्पन्न हुए नित्य अनित्य आदि धर्मोंके आग्रहरूप कल्पित किये जारहे एकांत वास्तविक रूपसे नहीं हैं। यह बात स्वयं इष्ट हो जाती है। और भी यह बात है कि जब कि प्रमाणोंसे अनेकांत सिद्ध हो रहा है प्रतीत भी कर लिया है तो प्रमिति करनेवाले किसी भी आत्माकी विवक्षाके भेदसे वस्तुमें न्यारे न्यारे पृथक् कर माने गये क्षणिकत्व, नित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व धर्मोंको विषय करनेवाले भी ज्ञान प्रवर्तित होते हैं। वे सभी धर्म परस्परमें अपेक्षा रखनेवाले हैं। जब उन धर्मोंकी समीचीन कल्पनाएं परस्परमें अपेक्षा रखती हैं तब तो वे सुनय इस नामसे व्यवहारको धारनेवाली कही जाती हैं।

तस्मादशेषकल्पनातिक्रान्तं तत्त्वमिति सिद्धं साध्यते नहि कल्प्यमाना धर्मास्तत्त्वं तत्कल्पनमात्रं वा, अतिप्रसंगात् तेनान्तर्बहिश्च तत्त्वं तद्विनिर्मुक्तमिति युक्तमेव।

उस कारण हमारे यहां सम्पूर्ण मिथ्याकल्पनाओंसे अतिक्रांत होरहा तत्त्व सिद्ध है। आप बौद्ध पंडितों दो कल्पनाओंसे रहित ज्ञानतत्त्वको सिद्ध करते हो। इस प्रकार आप सिद्धका ही साधन कर रहे हो। यह तुम्हारे ऊपर सिद्धसाधन दोष हुआ। कोरी कल्पनाओंसे जाने जारहे धर्म अथवा वे केवल कल्पनाएं वास्तविक तत्त्व नहीं हो सकते हैं क्योंकि अतिप्रसंग हो जावेगा। यानी मूछोंमें लगी लौनीवाले पुरुषकी गड़ंत या छोकरोंके मनमें राजा हो जानेकी कल्पना भी वस्तुको स्पर्श करनेवाली हो जावेगी। उस कारण आत्मा, ज्ञान, सुख आदि अंतरङ्ग तत्त्व या घट, पट, पाषाण आदि सम्पूर्ण बहिरंग पदार्थ उन दो कल्पनाओंसे सर्वाङ्गरहित हैं। यह बात युक्तियोंसे सहित ही है।

तृतीयपक्षे तु प्रतीतिविरोधः कथम्—

यदि तीसरा पक्ष लोगे यानी वस्तुके स्वभावोंको कल्पना मानोगे तब तो ऐसी कल्पनाओंसे रहित ज्ञानको इष्ट करनेपर तुमको लोकप्रसिद्ध प्रतीतियोंसे विरोध होगा। यह कैसे ? सो सुनिये।

परोपगतसंवित्तिरनंशा नावभासते।
ब्रह्मवत्तेन तन्मात्रं न प्रतिष्ठामियर्ति नः॥ १७४॥

जैसे ब्रह्माद्वैतवादियोंका माना हुआ आधेयता, आधारता, कार्यता, कारणता और ग्राह्यता, ग्राहकता आदि अंशोंसे रहित एक परब्रह्म प्रतिभासित नहीं होता है। उसीके सदृश अन्य बौद्धोंके द्वारा स्वीकार किया गया संवेद्य संवेदक और इन स्वभावरूप अंशोंसे रहित हो रहा केवल शुद्ध ज्ञान भी नहीं प्रतिभासित होता है। इस कारण कोरा शुद्ध ज्ञानाद्वैत तत्त्व भी हमारे सन्मुख प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं कर सकता है।

वस्तुनः स्वभावाः कल्पनास्ताभिरशेषाभिः सुनिश्चितासम्भवद्बाधाभी रहितं संविन्मात्रं तत्त्वमिति तु न व्यवतिष्ठते तस्यानंशस्य परोपवर्णितस्य ब्रह्मवदप्रतिभासनात्।

इस वार्त्तिककी टीका यों है कि, तीसरे पक्षके अनुसार यदि वस्तुके स्वभावोंको कल्पना मानोगे तो सम्पूर्ण बाधक प्रमाणोंके नहीं सम्भव होनेका अच्छी तरहसे निश्चय कर लिया है जिनका ऐसी उन स्वभावरूप सम्पूर्ण कल्पनाओंसे रहित केवल संवेदन ही तत्त्व सो इस तरह व्यवस्थित नहीं हो पाता है। क्योंकि बौद्धोंके द्वारा माना गया स्वभाव और विशेषणरूप अंशोंसे रहित उस संवेदनका ब्रह्माद्वैतके समान प्रतिभास नहीं होता है और वस्तुभूत कल्पनायें निर्बाध्य होकर पदार्थोंमें दीख रही हैं।

नानाकल्पैकं प्रतिभासनमपि विरोधादसदेवेति चेत्—

यदि बौद्ध यों कहें कि अनेक आकारवाला स्याद्वादियोंका एक प्रतिभासन भी तो नहीं दीखता है क्योंकि एकमें अनेकपनेका विरोध है । अतः नाना आकारवाला एक पदार्थ भी घोडेके सींगसमान असत् ही हैं । जैनोंके ऊपर ऐसा आक्षेप करनेपर तो—आचार्यमहाराज आदेश करते हैं कि—

नानाकारस्य नैकस्मिन्नध्यासोऽस्ति विरोधतः ।
ततो न सत्तादित्येतत्सुस्पष्टं राजचेष्टितम् ॥ १७५ ॥
संवेदनाविशेषेऽपि द्वयोः सर्वत्र सर्वदा ।
कस्यचिद्धि तिरस्कारे न प्रेक्षापूर्वकारिता ॥ १७६ ॥

विरोध दोष हो जानेके कारण एक पदार्थमें अनेक आकारोंकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है । इस कारण वह पदार्थ सत् रूप नहीं है । यों इस प्रकार बौद्धोंका कहना तो सर्वथा स्पष्टरूपसे उच्छृङ्खल राजाओंकी सी चेष्टा करना है । जैसे मनचले उद्दण्ड राजा, महाराजा लोग अपनी मनमानी आज्ञा चलाते हैं । कोई विचारशील मन्त्री यदि तर्क, सुमन्त्रणा, युक्तियोंसे श्रेष्ठ मार्ग सुझाता है तो वे उसके साथ विरोध करते हैं । उसी प्रकार बौद्धोंकी राजाज्ञा चल रही है । जबकि ज्ञानमें अनेक आकार और एकपना इन दोनोंका सब स्थान और सब कालमें जब अंतररहित समानरूपसे संवेदन हो रहा है तो उन दोनोंमेंसे चाहे किसीका स्वीकार और दूसरे किसी एक का तिरस्कार करनेपर बौद्धोंका विचारपूर्वक कार्य करना नहीं कहा जा सकता है । न्यायोचित प्रसङ्गोंमें पक्षपात नहीं करना चाहिये ।

नानाकारस्यैकत्र वस्तुनि नाध्यासो विरोधादिति ब्रुवाणो नानाकारं वा तिरस्कुर्वीतैकत्वं वा ? नानाकारं चेत्सुव्यक्तमिदं राजचेष्टितम्, संविन्मात्रवादिनः स्वरुच्या संवेदनमेकमनंशं स्वीकृत्य नानाकारस्य संवेद्यमानस्यापि सर्वत्र सर्वदा प्रतिक्षेपात्, तस्य प्रेक्षापूर्वकारित्वायोगात् ।

" एक पदार्थमें अनेक आकारोंके स्थित रहनेका निश्चय नहीं है क्योंकि विरोध है " इस प्रकार आटोपसहित कहता हुआ बौद्ध उन दोनोंमेंसे नाना आकारोंका खण्डन करता है ? अथवा क्या वस्तुमेंसे एकपन धर्मको निकाल कर फैंकना चाहता है ? बतावे ।

पहिला पक्ष होनेपर यदि नाना आकारोंका खण्डन करेगा तब तो यह सबके सन्मुख खुल्लम खुल्ला राजाओंकीसी चेष्टा करना है क्योंकि शुद्ध संवेदनके अद्वैतको कहनेवाले बौद्धने अपनी रुचिसे मनमाने निरंश एक संवेदनको स्वीकार कर ज्ञानमें जाने आ रहे भी और सब देश तथा सब

कालमें होनेवाले अनेक आकारोंका खण्डन किया है। जो वादी सब देशकालमें अनुभव किये गये अंशोंका खण्डन करता है उसको विचारपूर्वक कार्य करनेवालापन नहीं बनता है। और दूसरे पक्षके अनुसार एकपनेका खण्डन तो आप कर नहीं सकते हैं अन्यथा अपसिद्धान्त हो जावेगा।

तस्मादबाधिता संवित्सुखदुःखादिपर्ययैः।
समाक्रान्ते नरे नूनं तत्साधनपटीयसी ॥ १७७ ॥

उस कारण हर्ष, विषाद, ज्ञान, इच्छा आदि पर्यायोंसे पूर्णरूपसे ठसाठस व्याप्त होरहे एक आत्मामें बाधारहित प्रत्यभिज्ञान हो रहा है। अतः वह ज्ञान निश्चयसे पुरुषमें उन अनेक आकारोंको सिद्ध करनेके लिये बहुत अच्छा दक्ष है। श्रेष्ठ प्रमाणसे वस्तुतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है।

न हि प्रत्यभिज्ञानमतिः सुखदुःखादिपर्यायात्मके पुंसि केनचिद्बाध्यते यतस्तत्साधनपटीयसी न स्यात्। ततो नाशेषस्वभावशून्यस्य संविन्मात्रस्य सिद्धिस्तद्विपरीतात्मप्रतीत्या बाधितत्वात्।

सुख, दुःख आदि अनेक पर्यायोंके साथ तादात्म्यसम्बन्ध रखनेवाले एक आत्मामें उत्पन्न हुआ प्रत्यभिज्ञानस्वरूप मतिज्ञान किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं होता है। जिससे कि अनेक गुण, पर्याय, धर्मोंमें ये व्यापक हो रहे उस एक वस्तुके सिद्ध करनेमें बहुत बढिया कुशल न होता। उस कारण तृतीयपक्षके अनुसार बौद्धोंके द्वारा माना गया कल्पनाका अर्थ ठीक नहीं है। यों सम्पूर्ण स्वभावोंसे रहित होरहा शुद्ध संवेदन सिद्ध नहीं हो पाता है क्योंकि तुम्हारे माने गये संवेदनके सर्वथा विपरीत ऐसे अनेक धर्मात्मक आत्माओंकी प्रमाणसिद्ध प्रतीति करके तुम्हारा मन्तव्य बाधित हो जाता है।

नीलवासनया नीलविज्ञानं जन्यते यथा।
तथैव प्रत्यभिज्ञेयं पूर्वतद्वासनोद्भवा ॥ १७८ ॥
तद्वासना च तत्पूर्ववासनाबलभाविनी।
सापि तद्वदिति ज्ञानवादिनः सम्प्रचक्षते ॥ १७९ ॥
तेषामप्यात्मनो लोपे सन्तानान्तरवासना।
समुद्भूता कुतो न स्यात् संज्ञाभेदाविशेषतः ॥ १८० ॥

बौद्ध कहते हैं कि जैसे नीलका विकल्पज्ञान आत्मामें बैठे हुए कुत्सित संस्कारोंसे उत्पन्न हो जाता है वैसे ही जैनोंका यह प्रत्यभिज्ञान भी उसको बनानेवाले पूर्वके संस्कारोंसे उत्पन्न हो जाता

है और वे वासनाएं भी उनके पहिलेके संस्कारोंके बलसे उत्पन्न हो चुकी हैं और वे संस्कार भी पहिलेके मिथ्याज्ञानजनित संस्कारोंसे उत्पन्न हुए थे, इस प्रकार उस अनादिमिथ्यादृष्टिके समान वे वासनाएं भी धाराप्रवाहसे अनादिकालकी लग रहीं हैं। इस प्रकार ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध यों ही जीव या स्वप्नज्ञानका दृष्टांत देकर शुद्धज्ञानका भले प्रकार निरूपण करते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उन बौद्धोंके यहां भी एक अन्वित आत्माके लोप करनेपर यह दोष आता है कि भले प्रकार जगायीं गयीं देवदत्तरूप–संतानकी वासनाएं दूसरे यज्ञदत्तको प्रत्यभिज्ञान, स्मरण, आदि मिथ्याज्ञान उत्पन्न करा देनेमें क्यों नहीं कारण हो जाती हैं ? बताओ, क्योंकि आपके मतमें देवदत्तकी वासनाएं जैसे अतिनिकट किन्तु नहीं मिले हुए क्षणिक विज्ञानोंकी पङ्क्तिरूप देवदत्तसे भिन्न हैं। वैसे ही क्षणिक विज्ञानधारास्वरूप यज्ञदत्तसे भी भिन्न हैं। एक ही प्रकारकी शास्त्राकार मुद्रित पुस्तकोंके न्यारे न्यारे पत्र उसी प्रकारकी किसी भी दूसरी पुस्तकमें पलटे जा सकते हैं। इसी प्रकार बौद्धोंके मतमें देवदत्त, यज्ञदत्त, की आत्माएं अन्वित एक नहीं हैं किंतु न्यारी न्यारी बालुके कणोंके समान न्यारे न्यारे ज्ञानोंका समुदाय है। अतः वासनाओंका संकररूपसे कार्यकारणभाव होनेका दूषण लागू होता है। दोनों संतानोंका भिन्न प्रत्यभिज्ञान भी एकसा है कोई अंतर नहीं है।

यथा नीलवासनया नीलविज्ञानं जन्यते तथा प्रत्यभिज्ञेयं तदेवेदं तादृशमेतदिति वा प्रतीयमाना प्रत्यभिज्ञानवासनयोद्भाव्यते न पुनर्बहिर्भूतेनैकत्वेन सादृश्येन वा येन तद्ग्राहिणी स्यात्। तद्वासना कुत इति चेत्, पूर्वतद्वासनातः, सापि पूर्वस्ववासनाबलादित्यनादित्वाद्वासनासन्ततेरयुक्तः पर्यनुयोगः कथमन्यथा बहिरर्थेऽपि न सम्भवेत् ? तत्र कार्यकारणभावस्यानादित्वात्पर्यनुयोगे पूर्वापरवासनानामपि तत एवापर्यनुयोगोऽस्तु। कार्यकारणभावस्यानादित्वं हि यथा बहिस्तथान्तरमपीति न विशेषः केवलं बहिरर्थोऽनर्थः परिहृतो भवेत् अशक्यप्रतिष्ठत्वात्तस्येति ज्ञानवादिनः।

संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध कहते हैं कि जैसे नीलकी वासनासे नीलविज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार यह वही है या यह उसके सदृश है इस प्रकार अनुभवद्वारा जाने गये ये प्रत्यभिज्ञान भी उन प्रत्यभिज्ञानकी वासनाओंसे उत्पन्न कराये जाते हैं। सौत्रान्तिकोंके मतमें ही ज्ञानके विषय कहे गये बहिरंग एकत्व अथवा सादृश्य पदार्थ प्रत्यभिज्ञानोंके कारण माने गये हैं हम योगाचारोंके यहां ज्ञानका कारण विषय नहीं है। एकत्व या सादृश्य करके प्रत्यभिज्ञान नहीं उपजाता है जिससे कि प्रत्यभिज्ञान अपने उन कारणोंको विषय करनेवाला माना जावे।

यदि कोई हम बौद्धोंसे पूंछे कि वे वासनायें कहांसे आयी ? तो हम कहेंगे कि उससे भी पहिले की वासनाओंसे प्रकृत वासनायें पैदा हुयीं हैं और वे भी पहिले की वासनायें उससे भी पहिलेकी अपनी वासनाओंके बल बूतेसे उत्पन्न हुयी हैं। इस प्रकार वासनाओंकी सन्तति अनादि

से चल रही है। अतः वासनाओंकी उत्पत्तिका प्रश्नरूप कटाक्ष करना हमारे ऊपर युक्त नहीं है अन्यथा यदि ऐसे ही कुत्सित कटाक्ष करते रहोगे तो घट, पट आदिक बहिरंग अर्थोंमें भी जैनधर्मवालोंके ऊपर हमारा कटाक्ष क्यों नहीं सम्भव होगा ? अर्थात् घटका कारण माना गया कुलाल कहांसे आया ? यदि कुलालके बापसे कुलालकी उत्पत्ति मानोगे तो बताओ ? कुलालका बाप कहांसे आया ? कुलालके बाबासे उसकी उत्पत्ति मानोगे तो अनवस्थादोष होगा। यदि वहां कार्यकारणभावको अनादि मानकर प्रश्नोंके अवसरको टाल दोगे तो हम बौद्ध भी पहिले पीछे होनेवाली वासनाओंके ऊपर भी चले हुए प्रश्नोंकी भरमारको हटा देवेंगे कोई कुचोद्य नहीं होओ। जैसे बहिरंग घट, पट, मृत्तिका, कपास, आदिका कार्यकारणभाव अनादिकालसे चला आ रहा है वैसे ही अंतरङ्गके विज्ञान पदार्थ और वासनाओंमें भी अनादिकालसे धाराप्रवाहरूप कार्यकारणभाव विशेषताओंसे रहित होकर चला आ रहा है। अंतर केवल इतना ही है कि बहिरंग घट, पट आदिक पदार्थ वास्तविक नहीं हैं, प्रयोजनसाधक भी नहीं हैं। अतः ज्ञानाद्वैतवादी हम उनका परित्याग कर देते हैं क्योंकि उन बहिरंग पदार्थोंकी प्रमाणोंके द्वारा व्यवस्थिति होना शक्य नहीं है। यहां तक ज्ञानाद्वैतवादी कह रहे हैं।

तेषामपि नेयं प्रत्यभिज्ञा पूर्वस्ववासनाप्रभवा वक्तुं युक्तान्वयिनः पुरुषस्याभावात्, संतानांतरवासनातोऽपि तत्प्रभवप्रसंगात्तन्नानात्वाविशेषात् ।

अब आचार्य कहते हैं कि उनका भी यह कहना युक्त नहीं है कि यह प्रत्यभिज्ञा अपने पहिलेकी वासनाओंसे पैदा हुयी है, क्योंकि देखनेवाला और वही स्मरण, प्रत्यभिज्ञान करनेवाला इतने लम्बे काल तक अन्वितरूपसे रहता हुआ एक आत्मा तुमने माना नहीं है तो फिर यह देवदत्तके प्रत्यभिज्ञानकी वासना है, यह यज्ञदत्तके ज्ञानकी है, ऐसा नियम कैसे कर सकोगे ? बताओ। यदि यों ही अंटसंट कार्यकारणभाव माना जावेगा तो दूसरे देवदत्त, गुरुदत्त आदि संतानोंकी वासनाओंसे भी प्रकृत जिनदत्तको उस प्रत्यभिज्ञानके हो जानेका प्रसंग आवेगा। जिस प्रकार चांदीका रुपया सराफ, सुनार, बजाज, जमीदार और राजा इन सबका हो जाता है, वैसे ही भिन्न भिन्न संतानियोंसे न्यारी न्यारी पडी हुयीं वासनायें भी चाहे जिस संतानकी होजानेमें कोई अंतर नहीं रखती हैं। भेद सर्वत्र छा रहा है, ऐसी दशामें चाहे जिसकी वासनाओंसे किसीको भी ज्ञान उत्पन्न हो जावेगा। उन वासनाओंका तो सब जीवोंके साथ समानरूपसे भेद है फिर अनेक संतानोंमें अंतररहित भिन्न भिन्न पडी हुई वासनाओंके नियत करानेका उत्तर आपके पास क्या है ? बताओ।

सन्तानैकत्वसंसिद्धिर्नियमात्स्त कुतो मतः ।
प्रत्यासत्तेर्न सन्तानभेदेऽप्यस्याः समीक्षणात् ॥ १८१ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि हमारे यहां एक संतानकी भले प्रकार सिद्धि है जैसे कि आप जैनोंके यहां एक अखण्ड आत्मद्रव्यकी नियत अनादि अनंत पर्यायोंमें धारा बह रही है। अतः

चाहे जिस व्यक्तिकी वासनाएं अन्य दूसरे किसीके प्रत्यभिज्ञानका हेतु नहीं हो सकेंगी, इस पर आचार्य पूंछते हैं कि आप बौद्धोंने एक संतानपनेको किस नियमसे माना है ? बताओ। एकदेशमें सम्बन्ध होनेसे या एक कालमें वृत्ति होनेसे तो नियम बन नहीं सकता है क्योंकि भिन्नसंतानोंमें भी यह देश और कालकी प्रत्यासत्ति बढिया देखी जाती है। भावार्थ—जैसे देवदत्तरूप सन्तानके आगे पीछे होनेवाले पर्यायरूप सन्तानिएं जिस स्थानमें हैं उसी देशमें यज्ञदत्त, जिनदत्तरूप सन्तानोंकी पर्यायें भी चल रही हैं। एवं जिस समयमें देवेदत्तकी सन्तानीरूप पर्यायें उत्पन्न हो रही हैं, उसी समय जिनदत्त, इन्द्रदत्तकी भी पर्यायें उत्पन्न हो रही हैं। क्या एक ही समयमें जौंहरीकी दुकानमें आये हुए मोती चाहे जिन भिन्न भिन्नमालाओंमें नहीं पिरोये जा सकते हैं ! अर्थात् कोई भी मोती किसी भी मालामें पिरोया जा सकता है। वैसे ही समानदेश और एक कालमें होनेवाले यज्ञदत्त, देवदत्तके भिन्न भिन्न परिणाम चाहे जिस सन्तानमें ढुलकाये जा सकते हैं तथा च विवक्षित एक सन्तानकी ठीक ठीक सिद्धि नहीं हुयी। व्यभिचार या अतिप्रसंग दोष आता है। जिन जीवोंमें ज्ञान या सुख आदि समान देखे जाते हैं उनमें भावप्रत्यासत्ति है यह माननेपर भी व्यभिचार होगा। यों क्षेत्रप्रत्यासत्ति, कालप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति तो सन्तानके एकपनका नियम नहीं करा सकती है। एक द्रव्यप्रत्यासत्ति (सम्बन्धा) ही शेष रह जाती है। वही एक सन्तानकी नियामिका हम जैनोंको इष्ट है। क्षणिकवादी अनादि अनंत कालीन, द्रव्यको मानते नहीं है।

व्यभिचारविनिर्मुक्तकार्यकारणभावतः ।
पूर्वोत्तरक्षणानां हि सन्ताननियमो मतः ॥ १८२ ॥
स च बुद्धेतरज्ञानक्षणानामपि विद्यते ।
नान्यथा सुगतस्य स्यात्सर्वज्ञत्वं कथञ्चन ॥ १८३ ॥

आप बौद्ध यदि व्यभिचारदोषसे सर्वथा रहित हो रहे कार्यकारणभावसे ही पूर्व उत्तरवर्ती संतानियोंके संतान (लडी) हो जानेका नियम मानोगे तब तो वह निर्दोष कार्यकारणरूप संबंध इन बुद्ध सर्वज्ञ और देवदत्त, यज्ञदत्तके ज्ञानक्षणोंका भी विद्यमान है। बौद्धोंका मंतव्य है कि जो ज्ञानका कारण होता है वही ज्ञानसे जाना जाता है। बुद्धदेव सबको जाननेवाले सर्वज्ञ हैं। बुद्धके ज्ञानमें देवदत्त जिनदत्तके अनेक ज्ञानसंतानिएं भी विषय हो रहे हैं। अतः बुद्धज्ञानके अनेक ज्ञानसंतानीरूप जिनदत्त यज्ञदत्त भी कारण हुए, जैसे बुद्धदेवके पूर्वकालमें होनेवाले अपने परिणाम कारण हैं वैसे ही जिनदत्त, यज्ञदत्तके ज्ञान स्वलक्षण परिणाम भी बुद्धज्ञानमें कारण हैं। अन्यथा यानी यदि जिनदत्त यज्ञदत्तके विज्ञान बुद्धज्ञानके कारण न होते तो बुद्ध उन ज्ञानोंको नहीं जान सकते थे। एवं बुद्धको किसी प्रकार भी सर्वज्ञता नहीं प्राप्त हो सकती थी, किंतु आपने बुद्धको

सर्वज्ञ माना है तथा च व्यभिचारदोषसे रहित कार्यकारणसंबंध सुगतके ज्ञान और संसारी जीवोंके ज्ञानमें भी विद्यमान है। यों तो कार्यकारणरूप दोनों संतानी ज्ञानोंकी धारामें मिल जानेसे सुगत और संसारी जीवोंकी भी एक संतान बन बैठेगी, जो कि तुमको भी इष्ट नहीं ॥

संतानैक्यात्पूर्ववासना प्रत्यभिज्ञाया हेतुर्न संतानांतरवासनेति चेत्, कुतः संतानैक्यम् ? प्रत्यासत्तेश्चेत्, साप्यव्यभिचारी कार्यकारणभाव इष्टस्ततो बुद्धेतरक्षणानामपि स्यात्, न च तेषां स व्यभिचरति बुद्धस्यासर्वज्ञत्वापत्तेः। सकलसत्त्वानां तदकारणत्वे हि न तद्विषयत्वं स्यान्नाकारणं विषय इति वचनात् ।

उक्त कारिकाओंका विवरण करते हैं कि संतान एक है इस कारण देवदत्तकी पूर्ववासनाएं ही देवदत्तमें होनेवाले प्रत्यभिज्ञानका कारण बनेंगी। जिनदत्त, यज्ञदत्त आदि दूसरी भिन्नसंतानोंकी वासनाएं देवदत्तके प्रत्यभिज्ञानका कारण नहीं हो पाती हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि तुम बौद्ध ऐसा कहोगे तो जैन हम पूछते हैं कि संतानका एकपन किससे सिद्ध करोगे ? बताओ, अन्वितद्रव्यको नहीं माननेवालों पर यही कठिन प्रश्न है। यदि किसी विशेष एक सम्बंधसे संतान की एकता मानोगे तो दैशिक सम्बंध, कालिक सम्बंध, और भावप्रत्यासत्ति के अतिरिक्त आपने वह सम्बंध भी व्यभिचाररहित कार्यकारणभाव ही इष्ट किया है किंतु उस सम्बंधसे तो बुद्ध और संसारीजीवोंके ज्ञानसंतानियोंकी भी एक संतान बन जावेगी, क्योंकि बुद्धज्ञान और उसके ज्ञेय संसारी जीवोंके ज्ञानक्षणोंमें कार्यकारणभाव सम्बंध विद्यमान है। उनका वह सम्बंध व्यभिचारदोषयुक्त भी नहीं हैं, यदि ऐसा होता यानी इतर जीवोंके ज्ञान बुद्धज्ञानके कारण न बनते तो आपके बुद्ध भगवान् सर्वज्ञ ही नहीं होने पाते, अर्थात् आपके मतानुसार विज्ञानरूप सम्पूर्णजीव सुगतज्ञानके कारण हैं। यदि वे कारण न होते तो सुगत उनको अपने ज्ञानका विषय नहीं कर पाते, क्योंकि आपका सूत्रवचन है कि " नाकारणं विषयः " जो ज्ञानका कारण नहीं है। वह ज्ञानका विषय भी नहीं है।

सकलसत्त्वचित्तानामालम्बनप्रत्ययत्वात् सुगतचित्तस्य न तदेकसन्तानतेति चेन्न, पूर्वस्वचित्तैरपि सहैकसन्तानतापायप्रसक्तेस्तदालम्बनप्रत्ययत्वाविशेषात् ।

बौद्ध कहते हैं कि ज्ञानके कारण तीन प्रकारके होते हैं। उपादानकारण, निमित्तकारण और अवलम्ब कारण। उनमें पूर्वक्षणवर्ती ज्ञानपरिणामको उत्तरक्षणवर्ती ज्ञानका उपादान कारण माना है। इंद्रियां, प्रकाश, हेतु, अविद्याक्षय, आदि निमित्तकारण हैं और ज्ञानका जानने योग्य विषय उसका अवलम्बकारण है। अवलम्बकारण कारककारणोंके समान प्रेरक नहीं है। जैसे बादल या शाखाओंमें द्वितीयाके चंद्रमाको देखो ! यहां बादल या वृक्षकी शाखा उस चंद्रमाके ज्ञानमें केवल अवलम्बकारण है। प्रधानकारण पूर्वज्ञान और इंद्रियां ही हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके

विज्ञान भी सुगतज्ञानके अवलम्बन कारण हैं। जैसे बुड्ढे मनुष्यको गमन करानेमें लठियाका सहारा है। चलनेकी प्रेरकशक्ति तो बूढेमें विद्यमान है वैसे ही घटका अवलम्ब लेकर घटज्ञान होजाता है उपादान कारणोंके साथ एकसंतान होनेका नियम है। उन अवलम्ब कारणोंकी कार्यके साथ एक संतान बन जाना नहीं होता है। अतः बुद्धदेवकी संसारीजीवोंके साथ एक संतान नहीं है। आचार्य बोलते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो ज्ञानके विषय होवेंगे उनको केवल अवलम्ब (सहारा) देनेवाला कहोगे और उनके साथ ज्ञानकी एक संतान न मानोगे तो बुद्धके स्वकीयज्ञानोंके साथ भी सुगतकी एकसंतान होजाना न बन सकेगा, कारण कि इतर पदार्थोंके समान सुगतके पूर्वज्ञानक्षण भी सुगतज्ञानमें विषय पड चुके हैं। अतः वे अवलम्ब कारण हैं कोई अंतर नहीं है। अन्यथा सुगत अपने पूर्ववर्ती ज्ञानोंको न जान सकेगा तथा च फिर भी बुद्धको सर्व पदार्थोंका ज्ञातापन न हुआ।

समनन्तरप्रत्ययत्वात् स्वपूर्वचित्तानां तेनैकसंतानतेति चेत्, कुतस्तेषामेव समनन्तरप्रत्ययत्वं न पुनः सकलचित्तानामपीति नियम्यते? तेषामेकसंतानवर्तित्वादिति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः, सत्येकसंतानत्वे पूर्वापरसुगतचित्तानामव्यभिचारी कार्यकारणभावस्तस्मिन्सति तदेकसंतानत्वमिति।

सुगतके पूर्वज्ञानक्षणोंमें जैसे आलम्बन कारणपन है। उसी प्रकार अव्यवहित पूर्ववर्ती होनेके कारण उपादानकारणपन भी है। उस कारण सुगतका अपने सम्पूर्ण पूर्वचित्तक्षणोंके साथ एक संतापनपना बन जावेगा। ग्रंथकार कह रहे हैं कि यदि आप बौद्ध ऐसा कहेंगे तो हम पूंछते हैं कि जब अव्यवहित पूर्ववर्ती होकर जैसे सुगतके पूर्वज्ञानक्षण कारण बन गये हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके ज्ञान भी नियमसे व्यवधानरहित पूर्वक्षणवर्ती होकर बुद्धज्ञानके कारण बने हैं। तो फिर उन सुगतके क्षणोंको ही अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती होनेके कारण उपादानता मानी जावे किन्तु फिर सम्पूर्ण प्राणियोंके चित्तोंकी भी उपादानता न मानी जावे। इस प्रकार पक्षपातग्रस्त आप कैसे नियम कर सकते हैं? यदि आप इसका उपाय यह करें कि वे सुगतके पूर्वउत्तरवर्ती ज्ञानरूपक्षण एक सन्तानमें पडे हुए हैं। अतः उनकाही परस्परमें कार्यकारणपन है। संसारी जीवोंके चित्तोंके साथ व्यवधानरहित कारणपना नहीं है ऐसा बौद्धोंके कहनेपर तो यह वही प्रसिद्ध अन्योन्याश्रय दोष है। जब एक सन्तानपन सिद्ध हो जावे, तब तो सुगतके आगे पीछे होनेवाले चित्तोंकाही व्यभिचाररहित कार्य कारणभाव सिद्ध होवे और जब सुगतचित्तोंकाही वह अव्यभिचारी कार्यकारण भाव सिद्ध हो चुके, तब कहीं उनहीमें एक संतानपना सिद्ध होवे, इस प्रकार परस्परमें एकको दूसरेका आसरा पकडनेके कारण परस्पराश्रय दोष हुआ। ताली गृहके भीतर रह गई और विना तालीकेही ताला बाहरसे लगा दिया। अब गुजराती ताला कब खुले? जब ताली मिल आवे और ताली कब मिले? जब ताला खुल जाय। यही दशा यहां हुई।

ततः पूर्वक्षणाभावेऽनुत्पत्तिरेवोत्तरक्षणस्याव्यभिचारी कार्यकारणभावोऽभ्युपगन्तव्यः। स च स्वचित्तैरिव सकलसत्त्वचित्तैरपि सहास्ति सुगतचित्तस्येति कथं न तदेकसंतानापत्तिः ?

उस कारण इस दोषको हटानेके लिये आपको यही उपाय अङ्गीकृत करना पड़ेगा कि पूर्ववर्ती पर्यायरूप क्षणोंके विना उत्तरवर्ती पर्यायोंकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है। यही व्यभिचारदोषरहित कार्यकारणभाव है। इससे अन्योन्याश्रय दोषका तो वारण हो गया क्योंकि आप बौद्धोंने एकसंतानपनेसे कार्यकारणभाव नहीं माना है अन्वयव्यतिरेकसे माना है। किंतु वह कार्यकारणभाव तो सुगतके चित्तका अपने पूर्व उत्तरभावी चित्तोंके समान सम्पूर्ण जीवोंके विज्ञानोंके साथ भी है। फिर यों सुगतकी और उन इतर जीवोंकी एकसंतान हो जानेका प्रसंग क्यों नहीं आवेगा ? इस प्रसंगका वारण आप नहीं कर सके।

स्वसंवेदनमेवास्य सर्वज्ञत्वं यदीष्यते।
संवेदनाद्वयास्थानाद्गता संतानसंकथा ॥ १८४ ॥

बौद्ध कहते हैं कि संसारी जीवोंके ज्ञानोंकी सुगतज्ञानोंके साथ एक संतान न बन जावे, इस लिए इस सुगतकी सर्वज्ञताका हम यह अर्थ इष्ट करते हैं कि बुद्ध भगवान् अपनी संतानोंको ही जानते हैं। घट, पट आदिक या देवदत्त, यज्ञदत्तके ज्ञानोंको नहीं जानते हैं। संसारी जीवोंको जाननेके कारण ही संतानसंकर होनेका प्रसंग आया था किंतु हमने चोरकी नानीको हटा दिया। " न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी " अब आचार्य कहते हैं कि यदि तुम ऐसा इष्ट करोगे तो अकेले ज्ञानके अद्वैतकी श्रद्धा हो जानेके कारण संतानकी समीचीन कथा करना तो उड़ा दिया गया, फिर आप पूर्वके कथनानुसार संतानकी एकतासे प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होनेके लिए वासनाओंका नियम कैसे कर सकोगे ? बताओ। यों तो देवदत्त, जिनदत्तकी संतान कहना तथा सर्वज्ञ मानना यह आपका ढकोसला निकला।

न ह्यद्वये संतानो नाम लक्षणभेदे तदुपपत्तेः, अन्यथा सकलव्यवहारलोपात् प्रमाणप्रमेयविचारानवतारात् प्रलापमात्रमवशिष्यते।

विचारो तो सही कि सर्वथा अद्वैत या अभेद माननेपर भला संतान कैसे बनती है ? भिन्न भिन्न लक्षणवाले अनेक संतानियोंके होनेपर उस संतानकी सिद्धि मानी गयी है। अन्यथा यानी यदि आप स्थास, कोष, कुशूल आदि संतानियोंकी या बाल्य, कुमार, युवा, वृद्ध अवस्थारूप संततियोंकी एक मृत्तिका या देवदत्तरूप संतान न मानेंगे तो लोकप्रसिद्ध सम्पूर्ण व्यवहारोंका लोप हो जावेगा। लेना, देना, अपराधीको दंड मिलना, मातृपुत्रव्यवहार या पतिपत्नीभाव सब नष्ट हो जावेंगे। यहांतक कि यह प्रमाण है और यह उस प्रमाणसे जाना गया प्रमेय है ये विचार भी न हो सकेंगे।

संसारमें केवल बकवादपना छा जावेगा। समीचीन व्यवहार कोई भी शेष न रहेगा। प्रश्नकर्ता, उत्तरदाता, वाद, संवाद, पुण्यक्रियायें करना आदि कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

अभ्युपगम्य वाऽव्यभिचारि कार्यकारणभावं सुगतेतरसन्तानैकत्वापत्तेः सन्ताननियमो निरस्यते। तत्त्वतस्तु स एव भेदवादिनोऽसम्भवी केषांचिदेव क्षणानामव्यभिचारीकार्यकारणभाव इति निवेदयति—

बौद्धोंने प्रथम तो अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचारसे रहित कार्यकारणभावको स्वीकृत किया है और जब हमने बुद्धसन्तान तथा संसारीजीवोंकी संतानके एक हो जानेकी आपत्तिका प्रसंग दिया। तब इस दोषके डरसे संतानके नियमका खण्डन कर दिया है यह बौद्धोंकी व्यर्थ बकवाद है। वास्तवमें विचारा जाय तो पूर्व उत्तरवर्ती पर्यायोंमें सर्वथा भेदको कहनेवाले बौद्धके वह कार्यकारणभाव बनना ही असम्भव है। जब कि स्थाससे कोष भिन्न है और कुशूल भी भिन्न है तब कुशूलका कारण कोष ही क्यों है ? स्थास क्यों नहीं ? तन्तु भी कारण क्यो नहीं है ? बताओ। इस प्रकार किन्हीं एक विवक्षितपर्यायोंमें ही व्यभिचाररहित कार्यकारणभाव नहीं संभवता है ; आचार्यमहाराज इसी बातको बौद्धोंके प्रति निवेदन करते हैं।

कथञ्चाव्यभिचारेण कार्यकारणरूपता।
केषाञ्चिदेव युज्येत क्षणानां भेदवादिनः ॥ १८५ ॥

पूर्व, अपर, कालमें होनेवाली स्वलक्षण पर्यायोंका सर्वथा भेद मानते रहनेकी टेववाले बौद्धके मतमें किन्हीं विशिष्ट पर्यायोंका ही परस्परमें व्यभिचारदोषरहित कार्यकारणस्वरूपपना कैसे युक्त हो सकता है ? बताओ, यानी नहीं, क्योंकि घट, पट, पुस्तक आदि तथा देवदत्त, जिनदत्त आदि की पर्यायें अपनी अपनी पूर्व उत्तरवर्ती पर्यायोंसे और अन्य द्रव्योंकी दूसरी पर्यायोंसे एकसा भेद रखती हैं। सभीमें सर्वथा भेद रहनेके कारण नियम करनेवाला कोई नहीं है।

कालदेशभावप्रत्यासत्तेः कस्यचित्केनचिद्भावाद्भावेऽपि व्यभिचारान्न भेदैकांतवादिनामव्यभिचारी कार्यकारणभावो नाम, तथाहि—

यद्यपि किन्हीं किन्हीं पर्यायोंमें पूर्ववर्ती पर्यायसे उत्तरवर्ती पर्यायका अव्यवहित उत्तरकालमें होनारूप कालिकसम्बंध है जोकि कार्य और कारणोंके लिये उपयुक्त है। तथा किन्हीं पूर्व उत्तर पर्यायोंका एक देशमें ठहरनारूप दैशिक सम्बन्ध है। एवं लम्बाई चौडाई की समानता या ज्ञान, सुख, दुःख आदिक की समानता होनेसे किन्हीं किन्हीं पर्यायोंमें भावरूपसम्बंध भी है। तथापि उक्त तीनों सम्बंधोंका व्यभिचार देखा जाता है। विवक्षितकार्यके पूर्वसमयमें अन्य भी अनेकपर्यायें हैं उस देशमें भी अन्य कई पर्यायें उपस्थित हैं। एकसा ज्ञान या सुख भी अनेक व्यक्तियोंमें

देखा जाता है इस कारण सर्वथा भेदका एकांत माननेवाले बौद्धोंके मतमें व्यभिचाररहित कार्यका-रण भाव कैसे भी नहीं बनता है। इसी बातको प्रसिद्ध कर कहते हैं—द्रव्यप्रत्यासत्तिको नहीं मानकर व्यर्थ चाहे जितना भटकते फिरो।

कालानन्तर्यमात्राच्चेत्सर्वार्थानां प्रसज्यते।
देशानन्तर्यतोऽप्येषा किन्न स्कन्धेषु पंचसु ॥ १८६ ॥
भावाः सन्ति विशेषाच्चेत् समानाकारचेतसाम्।
विभिन्नसन्ततीनां वै किं नेयं सम्प्रतीयते ॥ १८७ ॥

यदि केवल कालके अव्यवहितपनेसे पूर्वपर्यायको उत्तरपर्यायका कारण मानोगे तो घटके पूर्व समयका परिणाम उसके अनन्तर उत्तरकालमें होनेवाले ज्ञान, सुख, पट, पुस्तक आदि सभीका उपादानकारण बन जावेगा अथवा पटका पूर्वकालवर्ती परिणाम उत्तरकालमें होनेवाले घटका उपादान कारण हो जानेका प्रसङ्ग आवेगा, इस प्रकार आगे पीछे होनेवाले सम्पूर्ण अर्थोंको सबके उपादान उपादेयपनेका अतिप्रसंग दोष आता है। यदि आप देशके व्यवधानसे रहित पर्यायोंमें परस्पर कार्यकारणभाव मानोगे तो भी एक देशमें रखे हुए रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार इन पांच स्कन्धों में भी यही परस्पर कार्यकारणभाव क्यों न हो जावे? क्योंकि इन सबका देश अभिन्न है। वायु, घाम, आकाश और धूल का भी आपसमें कार्यकारणभाव हो जाना चाहिये। एक आका-शके प्रदेशपर छहों द्रव्य विद्यमान हैं क्षेत्रप्रत्यासत्ति होजानेका कारण उनका भी उपादान उपादे-यपना हो जावेगा, जो कि आपको इष्ट नहीं है।

यदि आप विशेष (खास) भावप्रत्यासत्तिसे किन्हीं विशिष्टपर्यायोंमें ही कार्यकारण भावका नियम मानोगे तब तो एक घटको ही समान आकारधारी अपने अपने भिन्न भिन्न ज्ञानोंसे जानने-वाले देवदत्त, जिनदत्तके ज्ञानोंमें भी यह कार्यकारणभाव क्यों नहीं देखा जाता है? परस्परमें भला जिन जिन संतानोंका ज्ञान, सुख, दुःख समान है तथा जो घट, पट आदिके रूप, रस लम्बाई चौडाई आदिमें एकसे प्रतीत हो रहे हैं उनमें भी भावरूपसे संबंध विद्यमान है। अतः उनमें भी एक दूसरेकी यह कार्यताकारणता बन बैठेगी, जो कि सभीको अनिष्ट है। कार्यकारणभावकी नियत हो रही प्रक्रियाका लोप हो जावेगा।

यतश्चैवमव्यभिचारेण कार्यकारणरूपता देशानन्तर्यादिभ्यो नैकसन्तानात्मकत्वा-भिमतानां क्षणानां व्यवतिष्ठते तस्मादेवमुपादानोपादेयनियमो द्रव्यप्रत्यासत्तेरेवेति परिशेषसिद्धं दर्शयति,—

जिस कारणसे उक्त कथनानुसार यों अव्यवहितकाल, देशका अभेद और पर्यायोंकी समानता आदि स्वरूप देश, काल, भाव प्रत्यासत्तियोंसे एकसंतानरूप मानी गयी स्वलक्षणपर्यायोंका भी परस्परमें व्यभिचाररहित कार्यकारणभाव व्यवस्थित नहीं हो पाता है इस कारणसे ही तो इस प्रकार द्रव्यप्रत्यासत्तिसे ही उपादान उपादेयका नियम परिशेषन्यायसे सिद्ध है। पर्यायोंमें परस्पर चार प्रकारके संबंध हैं। उनमें क्षेत्र, काल और भाव इन तीन संबंधोंमें तो व्यभिचार दोष आता है। शेष रह गया द्रव्यसंबंध, उसीसे उपादान उपादेयकी व्यवस्था ठीक बैठेगी। इसी बातको स्वयं आचार्य महाराज दिखलाते हैं—

एकद्रव्यस्वभावत्वात्कथञ्चित्पूर्वपर्ययः।
उपादानमुपादेयश्चोत्तरो नियमात्ततः, ॥ १८८ ॥

उस द्रव्यप्रत्यासत्ति अनुसार एक अखण्ड अन्वित द्रव्यका स्वभाव होनेके कारण पूर्वकालमें होनेवाली पर्याय तो किसी अपेक्षासे उपादान कारण हैं और उससे उत्तरकालमें होनेवाली पर्याय नियमसे उपादेय है। देवदत्त जिनदत्तका अखण्ड जीवद्रव्य उसकी हर्ष, विषाद, आदि और पूर्व उत्तर जन्मोंकी असंख्य पर्यायोंमें अन्वितरूपसे व्यापक है और पुद्गलद्रव्य अपने मिट्टी, अन्न, खात आदि अवस्थाओंमें अनादिसे अनंत कालतक ओतप्रोत देखा जा रहा है। वस्तुके प्रमाणोंसे प्रतीत होरहे इन स्वभावोंमें कुचोद्यरूप तर्कणायें नहीं चलती हैं। सिंधुनदीकी धार गंगाकी धारमें अन्वित नहीं हो सकती है। जिनदत्तकी कुमार अवस्था देवदत्तकी वृद्ध अवस्थामें संकलित नहीं की जा सकती है। इसी कारण सिद्ध भगवान्के केवलज्ञान आदि गुण सिद्धलोकमें विद्यमान कार्माण-वर्गणाओंके रूप, रस, आदिकके साथ एकीभावको प्राप्त नहीं हो सकते हैं और सिद्धक्षेत्रमें विद्यमान वातकायके जीवोंमें लगे हुये कुमतिज्ञानके साथ भी तदात्मक नहीं होते हैं क्योंकि प्रत्येक द्रव्यका अपनी पर्यायोंके साथ ही अभेदसम्बन्ध है॥

विवादापन्नः पूर्वपर्यायः स्यादुपादानं कथञ्चिदुपादेयानुयायिद्रव्यस्वभावत्वे सति पूर्वपर्यायत्वात्, यस्तु नोपादानं स नैवं यथा तदुत्तरपर्यायः, पूर्वपूर्वपर्यायः कार्यश्च आत्मा वा तदुपादेयाननुयायिद्रव्यस्वभावो वा सहकार्यादिपर्यायो वा।

प्रतिवादीके विचारमें पड़ा हुआ कोई भी पूर्वकालमें रहनेवाला विवक्षित पर्याय (यह पक्ष है) कथञ्चित् उपादानकारण है (यह साध्य है) क्योंकि किसी अपेक्षासे उपादेय पर्यायोंके पीछे पीछे चलनेवाले द्रव्यका स्वभाव होते संते वह पूर्वकालकी पर्याय है (यह हेतु है) जो उपादान कारण नहीं है। वह तो इस प्रकार उपादेयके अनुयायी द्रव्यका स्वभाव होता हुआ पूर्वपर्यायस्वरूप भी नहीं है। जैसे कि उससे भी उत्तरकालोंमें होनेवाली पर्याय (व्यतिरेक दृष्टांत) अर्थात् विवक्षित

पर्यायके उपादानकारण भविष्यमें होनेवाले परिणाम नहीं हैं। अथवा पूर्वपर्यायसे भी पहिले कालमें होनेवाला चिरतरभूतपूर्वका पर्याय जैसे उपादानकारण नहीं है अथवा स्वयं कार्य जैसे अपना उपादानकारण नहीं है। अथवा जो विवक्षित उपादेयोंमें अनुयायी न रहते हुए द्रव्योंके स्वभावोंको धारण करनेवाले दूसरे उदासीन आत्मा जैसे उपादानकारण नहीं हैं अथवा इंद्रियां, हेतु, शब्द आदिक सहकारी कारणोंकी पर्याय जैसे उपादानकारण नहीं हैं। तभी तो ये पूर्वोक्त दृष्टांत उत्तरवर्ती उपादेयोंमें अन्वय रखनेवाले द्रव्यके स्वभाव होकर पूर्वपर्यायस्वरूप नहीं हैं (ये सब व्यतिरेक दृष्टांत हैं) इस अनुमानमें उपनय और निगमन सुलभरीतिसे बनाये जा सकते हैं।

तथा विवादापन्नस्तदुत्तरपर्याय उपादेयः कथञ्चित्पूर्वपर्यायानुयायिद्रव्यस्वभावत्वे सत्युत्तरपर्यायत्वात्। यस्तु नोपादेयः स नैवं यथा तत्पूर्वपर्यायः, तदुत्तरोत्तरपर्यायो वा, पूर्वपर्यायाननुयायिद्रव्यस्वभावो वा, तत्स्वात्मा वा, तथा चासाविति नियमात्, ततः सिद्धमुपादानमुपादेयश्च, अन्यथा तत्सिद्धेरयोगात्।

उपादान उपादेयभावको पुष्ट करनेके लिये दूसरा अनुमान यह है कि विचारकालमें प्राप्त हुयी उस पदार्थ की उत्तर कालकी पर्याय (पक्ष) उपादेय है (साध्य) क्योंकि पूर्वपर्यायोंमें कथञ्चित् अन्वय रखनेवाले द्रव्यका स्वभाव होती हुयी वह उत्तरपर्याय है (हेतु)। जो कोई उपादेय नहीं है, वह इस प्रकार कहे हुए हेतुसे युक्त भी तो नहीं है। जैसे कि उससे भी पहिले कालमें रहनेवाली पर्याय उपादेय नहीं है अथवा उस उत्तरपर्यायसे भी चिरभविष्यकालमें होने वाली उत्तर उत्तर पर्याय जैसे उपादेय नहीं है, अथवा इसकी पूर्वपर्यायोंमें अन्वय न रखनेवाला स्वभाववान् उदासीन दूसरा आत्मा, या पूर्वकी सभी पर्यायोंमें अन्वय रखनेवाला उस द्रव्यका निज आत्मा यानी स्वयं अकेला वही द्रव्य जैसे उपादेय नहीं है अथवा स्वयं उत्तरपर्याय ही अपना उपादेय नहीं है तभी तो पूर्वोक्त ये दृष्टांत विवक्षित पूर्वपर्यायोंमें अन्वय रखनेवाले द्रव्यके स्वभाव नहीं हैं और उत्तरपर्याय भी नहीं हैं (ये व्यतिरेकदृष्टांत है)। और उस प्रकार व्याप्तिसे युक्त हो रहे इस हेतुको धारनेवाला वह पक्ष है अर्थात् पूर्वपर्यायोंमें अनुयायी द्रव्यका स्वभाव होकर उत्तर पर्यायपनेसे युक्त उत्तर पर्याय है (यह उपनय है)। इस प्रकार नियमसे उत्तरपर्याय उपादेय है (निगमन)। उस कारण अब तक उक्त दो अनुमानोंसे उपादान उपादेयभाव सिद्ध हुआ द्रव्यप्रत्यासत्तिके अतिरिक्त दूसरे प्रकारोंसे उन उपादान उपादेयोंकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

एकसन्तानवर्तित्वात्तथानियमकल्पने।
पूर्वापरविदोर्व्यक्तमन्योन्याश्रयणं भवेत्॥ १८९॥
कार्यकारणभावस्य नियमादेकसन्ततिः।
ततस्तन्नियमश्च स्यान्नान्यातो विद्यते गतिः॥ १९०॥

पूर्व कालवर्ती और उत्तरकालवर्ती पर्यायस्वरूपज्ञानोंका एक संतानमें रहना होनेसे उस प्रकार कार्यकारणभावके नियमकी कल्पना करोगे तो स्पष्टरीतिसे बौद्धोंके ऊपर अन्योन्याश्रय दोष लागू होगा, क्योंकि कार्यकारणपनेका जब नियम हो जावेगा तब उससे पूर्वकथनानुसार एक संतानपनेका निर्णय हो सकेगा, और जब एक संतानपनेका निर्णय हो जावे तब उससे आपके इस समयके कथनानुसार वह कार्यकारणभावका निर्णय हो सकेगा। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग आपके पास नहीं है, जिसकी कि आप बौद्ध शरण ले सकें। कार्यकारणभावके लिये द्रव्यप्रत्यासत्तिकी ही शरण लेना अनिवार्य होगा अन्य उपाय नहीं हैं ॥

संतानैक्यादुपादानोपादेयताया नियमे परस्पराश्रयणात्सैव माभूदित्यपि न धीरचेष्टितम्, पूर्वापरविदोस्तत्परिच्छेद्ययोर्वा नियमेनोपादेयतायाः समीक्षणात् तदन्यथानुपपत्त्या तद्व्याप्येकद्रव्यस्थितेरिति तद्विषयं प्रत्यभिज्ञानं तत्परिच्छेदकमित्युपसंहरति ॥

बौद्ध कहते हैं कि संतानकी एकतासे उपादान उपादेयपनेका नियम माना जावेगा तब तो अन्यन्योश्रय दोष लगता है इस कारण हम शुद्ध ज्ञानाद्वैतवादी उस उपादान उपादेयभावको ही नहीं मानेंगे। इसपर आचार्य कहते हैं कि दोषोंसे भयभीत होकर अपने मन्तव्यको छोड देना भी धीर वीर पुरुषोंका कार्य नहीं है यह तो अज्ञानी बालकोंकी चेष्टा है। जब कि पहिले और उसके अव्यवहित पीछेके ज्ञानोंमें तथा उन ज्ञानोंके द्वारा जानने योग्य स्थास, कोष, या बरा, खडुआ आदिमें नियमसे उपादान उपादेय भाव अच्छी तरहसे देखा जा रहा है। इस कारण वह कार्यकारणभाव एक द्रव्यमें तादात्म्यसम्बन्धसे रहनेपनके बिना असिद्ध है। इस अविनाभावके बलसे सिद्ध होता है कि उन पूर्वउत्तर कालवर्ती अनेक ज्ञानोंमें व्यापकरूपसे रहनेवाला गंगानदीके समान एक अन्वितद्रव्य है और उन ज्ञानोंके द्वारा जानने योग्य मृत्तिका, सुवर्ण आदिके पूर्व उत्तर कालमें होनेवाले स्थास, कोष, खडुआ, बाजू, बरा, ठुस्सी, सतलडो आदि पर्यायोंमें भी अन्वितरूपसे व्यापक एक द्रव्य व्यवस्थित है इस प्रकार उस एक द्रव्यको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान उस ध्रुवरूपसे व्यापक हो रहे अखण्ड द्रव्यको जान लेता है। इस ढंगसे उक्तप्रकरणका आचार्य महाराज संकोच करते हैं।

तस्मात्स्वावृतिविश्लेषविशेषवशवर्तिनः ।
पुंसः प्रवर्तते स्वार्थैकत्वज्ञानमिति स्थितम् ॥ १९१ ॥
सन्तानवासनाभेदनियमस्तु क लभ्यते ।
नैरात्म्यवादिभिर्न स्याद्येनात्मद्रव्यनिर्णयः ॥ १९२ ॥

इस कारणसे यह बात स्थिररूपसे सिद्ध हो चुकी कि बाल्य, कुमार और युवा अवस्थामें व्यापक रहनेवाला वही एक मैं हूं। तथा स्थास, कोष, कुशूल और घट अवस्थाओंमें वही एक मृत्तिका है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान अपनेको रोकनेवाले ज्ञानावरणकर्मसंबंधी विलक्षण वियोग स्वरूप क्षयोपशमके अधीन रहनेवाले पुरुषोंके अपने और एकत्वरूप अर्थको विषय करनेवाले होकर प्रवर्त रहे हैं। यह बात निर्णीत हो चुकी है, आप बौद्ध जन तो एक आत्मद्रव्यको स्वीकार नहीं करते हैं प्रत्युत नैरात्म्यभावनाके अभ्यास करते समय आत्माके अहं भाव और ममभावका आप त्याग कराते हैं। इस प्रकारके आत्मतत्त्वको नहीं माननेकी टेववाले बौद्धोंके मतमें भिन्न भिन्न संतानोंका नियम और भिन्न भिन्न वासनाओंका नियम तो भला कहां मिलेगा? जिस नियमसे कि आत्मद्रव्यका निर्णय न हो सके। अर्थात् नियमव्यवस्था देखी जाती है विशेष संतानमें ही। विशिष्ट वासनाका उद्बोध माननेपर वहीं प्रत्यभिज्ञान होता है। अतः एक अखण्ड आत्मा द्रव्य सिद्ध हुआ। नैरात्म्यवादी बौद्धों करके कोई संतानका नियम नहीं किया जा सका।

तस्मान्न द्रव्यनैरात्म्यवादिनां सन्तानविशेषाद्वासनाविशेषाद्वा प्रत्यभिज्ञानप्रवृत्तिस्तन्नियमस्य लब्धुमशक्तेः।

इस कारणसे अखण्ड अन्वित आत्मा द्रव्यकी शून्यताको माननेवाले बौद्धोंके यहां संतान-विशेषसे या वासनाविशेषसे पूर्वापरपर्यायोंमें रहनेवाले एकत्वको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि यह देवदत्तकी ही संतान है या यह देवदत्तमें ही ज्ञान कराने वाली वासना है। वह वासना भी पूर्वकी नियत वासनाओंसे या नियत ज्ञानोंसे प्रबुद्ध होती है। इत्यादिरूपसे वह नियम करना एक आत्मद्रव्यको माने विना कैसे भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

किं तर्हि? पुरुषादेवोपादानकारणात् स एवाहं तदेवेदमिति वा स्वार्थैकत्वपरिच्छेदकं प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्तते स्वावरणक्षयोपशमवशादिति व्यवतिष्ठते, तस्माच्च मृत्पर्यायाणामिवैकसन्तानवर्तिनां चित्पर्यायाणामपि तत्त्वतोऽन्वितत्वसिद्धेः सिद्धमात्मद्रव्यमुदाहरणस्य साध्यविकलतानुपपत्तेः।

तब तो प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति कैसे होवेगी? सो तुम बौद्ध सुनो! पूर्व उत्तर पर्यायोंके उपादान कारण होरहे एक आत्मा द्रव्यसे ही जो ही मैं बाल्य अवस्था में था, वही मैं कुमार अवस्थामें हूं, अथवा जो ही स्थास अवस्थामें मृत्तिका है वही कुशूलपर्यायमें मिट्टी है इत्यादि प्रकार आत्मा और बहिरंग अर्थोंके एकत्वको जाननेवाले प्रत्यभिज्ञान प्रवर्त रहे हैं। उक्त सम्पूर्ण अवस्थायें ज्ञानावरणके विशिष्ट क्षयोपशमकी अधीनतासे आत्मामें व्यवस्थित बन रही हैं और इस कारणसे अब तक सिद्ध हुआ कि जैसे मृत्तिका की शिवक, छत्र, स्थास, कोष, कुशूल और घट

आदि पर्यायोंमें उपादान होकर मृत्तिका ओतप्रोत प्रविष्ट हो रही है। वैसे ही आत्मा रूप एक संतानमें रहने वाले सुख, दुःख, घटज्ञान, पटज्ञान आदि पर्यायोंमें भी वास्तविक रूपसे आत्माका ओतप्रोत होकर अन्वितपना सिद्ध है। इस कारण अब तक आत्मद्रव्य सिद्ध हो चुका। एकसौ साठवीं वार्तिकमें दिये गये चित्रज्ञानस्वरूप उदाहरणमें अनेक अंशोंमें अन्वितरूपसे व्यापक रह-ज्ञापन रूप साध्य रह गया, अतः उस उदाहरणको साध्यसे रहितपना सिद्ध नहीं होता है। बौद्धोंके घरका उदाहरण मिल जानेसे प्रकृत साध्य की सिद्धि भले प्रकार हो जाती है। अब नैयायिकोंके साथ शास्त्रार्थ छिडता है।

सिद्धोऽप्यात्मोपयोगात्मा यदि न स्यात्तदा कुतः।
श्रेयोमार्गप्रजिज्ञासा खस्येवाचेतनत्वतः ॥ १९३ ॥

नित्य और अनेक पर्यायोंमें व्यापक हो रहा उपयोगस्वरूप आत्मा सिद्ध भी हो गया किंतु यदि नैयायिक लोग आत्माको ज्ञान और दर्शन स्वरूप न मानेंगे तब उस आत्माके कल्याणमार्गको जाननेकी अभिलाषा कैसे होगी ? क्योंकि नैयायिकोंके मतमें आत्मा आकाशके समान अचेतन माना है। भावार्थ—जैसे चेतनास्वरूप न होनेके कारण आकाशके मोक्षमार्गको जाननेकी इच्छा नहीं होती है। उसी प्रकार स्वयं अचेतन जीवात्माके भी मोक्षमार्ग जाननेकी इच्छा नहीं हो सकेगी, जो ज्ञान और इच्छासे तदात्म नहीं है वह मोक्षमार्गको नहीं जानना चाहेगा।

येषामात्मानुपयोगस्वभावस्तेषां नासौ श्रेयोमार्गजिज्ञासा वाचेतनत्वादाकाशवत्।

जिन नैयायिक और वैशेषिकोंके यहां आत्मा उपयोग स्वरूप नहीं माना गया है उनके वह मोक्षमार्गको जाननेकी अभिलाषा भी नहीं हो सकेगी क्योंकि आत्मा तो आकाशके समान स्वयं अचेतन है।

नोपयोगस्वभावत्वं चेतनत्वं किन्तु चैतन्ययोगतः, स चात्मनोऽस्तीत्यसिद्धमचेतनत्वं न साध्यसाधनायालमिति शंकामपनुदति—

नैयायिक कहते हैं कि जैनोंके समान हम उपयोगके साथ तादात्म्यसंबंध रखनेवालेको चेतन नहीं मानते हैं किंतु बुद्धिरूप चैतन्यके समवायसंबंधसे आत्माका चेतन हो जाना मानते हैं। वह ज्ञानका समवाय आत्माके विद्यमान है। इस कारण आपका दिया गया अचेतनत्व हेतु आत्मारूप पक्षमें न रहनेके कारण असिद्ध हेत्वाभास है। वह साध्य माने गये, मोक्षमार्ग जाननेकी अभिलाषाके अभावको साधनेके लिए समर्थ नहीं है। इस प्रकार नैयायिकोंकी शंका अर्थात् जैनोंका समाधान करनेके लिए रखी हुयी हृदयकी शल्यका अब आचार्यमहाराज निराकरण करते हैं।

चैतन्ययोगतस्तस्य चेतनत्वं यदीर्यते ।
खादीनामपि किं न स्यात्तद्योगस्याविशेषतः ॥ १९४ ॥

चैतन्यके संबंधसे वह आत्मा चेतन है यदि नैयायिक ऐसा निरूपण करेंगे तो उस चैतन्यका समवाय तो आकाश, काल आदिकोंके भी समानरूपसे विद्यमान है। फिर आकाश आदिकोंको चेतनपना क्यों नहीं हो जाता है ? बताओ, ।

पुंसि चैतन्यस्य समवायो योगः स च खादिष्वपि समानः, समवायस्य स्वयमविशिष्टस्यैकस्य प्रतिनियमेहत्वभावादात्मन्येव ज्ञानं समवेतं नाकाशादिष्विति विशेषाव्यवस्थितेः ।

जो ही चैतन्यका पुरुषमें समवाय नामका सम्बन्ध है वही समवाय आकाश, काल आदिकोंमें भी कुछ अन्तर न रखता हुआ समानरूपसे विद्यमान है क्योंकि नैयायिकोंने वास्तविकपनेसे एकही समवायसम्बन्ध इष्ट किया है। विशेषताओंसे रहित वही एक समवाय अपने आप इस प्रत्येकके लिये नियमकी व्यवस्थाका हेतु नहीं हो सकता है कि "आत्मामें ही ज्ञान समवायसंबंधसे वर्तेगा आकाश आदिकोंमें नहीं," जब कि समवाय एक ही है और वह भी सर्वथा भिन्न पडा हुआ है। ऐसी दशामें उक्त प्रकार विशेषरूपसे व्यवस्था नहीं हो सकती है।

मयि ज्ञानमितीहेदं प्रत्ययानुमितो नरि ।
ज्ञानस्य समवायोऽस्ति न खादिष्वित्ययुक्तिकम् ॥ १९५ ॥

नैयायिक कहते हैं कि " यहां यह है " इस प्रकारकी प्रतीति तो सम्बन्धको सिद्ध करती है। मुझ आत्मामें यह ज्ञान है इस आकारवाले प्रत्ययसे भी आत्मामें ही ज्ञानके समवायका अनुमान किया जाता है। परंतु आकाश, काल आदिकमें ज्ञानके समवायका अनुमान नहीं हो सकता है क्योंकि आकाश और ज्ञानका सप्तमी विभक्तिसे युक्त पदके साथ आकांक्षा रखनेवाला प्रथमा विभक्ति युक्त वाक्य बनता नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका कहना युक्तियोंसे रहित है। श्रवण कीजिये,

यथेह कुण्डे दधीति प्रत्ययात्र तत्कुण्डादन्यत्र तद्दधिसंयोगः शक्यापादनस्तथेह मयि ज्ञानमितीहेदं प्रत्ययान्नात्मनोऽन्यत्र खादिषु ज्ञानसमवाय इत्ययुक्तिकमेव यौगस्य ।

इस वार्तिकका विवरण यों है कि " इस कुण्डमें दही है । " ऐसी प्रतीति होनेके कारण उस कुण्डके अतिरिक्त दूसरे स्थानोंमें उस दहीके संयोगके प्रसङ्गका आपादन जैसे नहीं दिया जा सकता है वैसे ही " यहां मुझमें ज्ञान है " इस प्रकारके " यहां यह है " इस संबंधके निरू-

एक प्रत्ययसे आत्माके अतिरिक्त आकाश आदिकोंमें भी ज्ञानका समवायसंबंध नहीं बन पाता है। इस प्रकार नैयायिकोंका कहना युक्तियोंसे शून्य ही है। योगदर्शन और न्यायदर्शन ये दोनों स्वतंत्र मत हैं किंतु पदार्थनिरूपण करनेकी परिपाटी बहुभागमें दोनोंकी समान है। अतः नैयायिकको यौग भी कह देते हैं, न्यायका अभिमान करनेवालोंको पक्षपातयुक्त निरूपण नहीं करना चाहिये। हां तो अब समाधान सुनिये।

खादयोऽपि हि किं नैव प्रतीयुस्तावके मते।
ज्ञानमस्मास्विति क्वात्मा जडस्तेभ्यो विशेषभाक् ॥ १९६ ॥

गुण, गुणी और समवायका सर्वथा भेद माननेवाले तुम नैयायिकोंके मतमें आकाश, काल आदि द्रव्य भी क्यों नहीं ऐसा समझ लेवें कि ज्ञान नामक गुण हम आकाश, काल, दिशाओं आदि में समवाय सम्बन्धसे रहता है। इस प्रकार तुम्हारा जड आत्मा उन आकाश आदिकोंसे अंतर रखनेवाला रहा कहां? अर्थात् ज्ञानके सम्बन्ध होनेके पूर्व आत्मा और आकाश आदि एकसे हैं। जडपने और ज्ञानरहितपनेसे उनमें कोई विशेषता नहीं है।

खादयो ज्ञानमस्मास्विति प्रतियन्तु स्वयमचेतनत्वादात्मवत्। आत्मानो वा मैवं प्रतीयुस्तत एव खादिवदिति।

आकाश, काल आदिक भी (पक्ष) यह समझ लेवें कि ज्ञान हममें समवायसम्बन्धसे वर्तता है (साध्य) क्योंकि जैसे आत्मा (दृष्टान्त) अपने स्वाभाविकरूपसे अचेतन हैं (हेतु) वैसे ही आकाश, काल आदि भी स्वयं अपने डीलसे अचेतन हैं। अथवा स्वयं गांठके अचेतन होनेके कारण आकाश, काल, आदिक तुम्हारे मतानुसार जैसे यह नहीं समझते हैं कि ज्ञानगुण हममें समवेत है वैसे ही उसीसे इसी प्रकार स्वयं अचेतन होनेके कारण आत्मा भी यों नहीं प्रतीति करे कि ज्ञान मुझमें समवायसम्बन्धसे रहता है। मेघ जैसे दरिद्र, धनवान्, मूर्ख, पण्डित तथा राजा आदिके घरमें समानरूपसे बरसता है वैसे ही लक्षण भी पक्षपातरहित वर्तना चाहिये।

जडात्मवादिमते सदपि ज्ञानमिहेदमिति प्रत्ययः प्रत्यात्मवेद्यो न ज्ञानस्यात्मनि समवायं नियमयति विशेषाभावात्।

जो नैयायिक सर्वथा भिन्न माने गये चेतनागुणके समवायसे आत्माका चेतन होना स्वीकार करते हैं, स्वरूपसे आत्मा भी घट,पट आदिके समान जड है यों बोलनेकी टेव रखते हैं। उनके मतमें प्रत्येक आत्मासे जानने योग्य यह बुद्धि भलेही हो जावे कि मुझ आत्मामें यह ज्ञान वर्तता है किन्तु यह होती हुयी बुद्धि भी आत्मामें ही ज्ञानके समवायका नियम नहीं करा सकती है क्योंकि आकाश घट, पट आदि जड पदार्थोंसे ज्ञानके समवाय होनेकी आत्मामें कोई विशेषता नहीं है।

नन्विह पृथिव्यादिषु रूपादय इति प्रत्ययोऽपि न रूपादीनां पृथिव्यादिषु समवायं साधयेद्यथा खादिषु, तत्र वा सर्वं साधयेत् पृथिव्यादिष्विवेति न कचित्प्रत्ययविशेषात्कस्यचिद्व्यवस्था किञ्चित्साधर्म्यस्य सर्वत्र भावादिति चेत् ।

नैयायिक स्वपक्षका अवधारण कर उत्तर देते हैं कि यों तो यहां पृथ्वी, जल और तेजमें रूप है, पृथ्वीमें गंध है, तेजोद्रव्यमें ऊष्णस्पर्श है इत्यादिक प्रत्यय भी पृथिवी आदिकोंमें रूप आदिकोंके समवायको सिद्ध न करा सकेंगे। जैसे कि वे आकाश, काल, आदिकोंमें रूप आदिकोंके समवायको नहीं सिद्ध कराते हैं। अथवा वे प्रत्यय जैसे " पृथ्वी आदिकोंमें रूप आदिक हैं " इस प्रकारकी समझ करा देते हैं वैसे ही वहां आकाश, काल आदिकोंमें भी रूप, रस आदिकका सद्भाव साध कर उनके समवायका बोध करा देवें। ऐसी पोलसे तो किसी भी विशेष प्रत्ययसे कहीं भी किसी धर्मके रहनेकी व्यवस्था न हो सकेगी, क्योंकि किसी न किसी धर्मकी अपेक्षासे चाहे जिसमें सदृशपना सर्वत्र विद्यमान है। देवदत्तके पास धन है, पुस्तक है देवदत्तका यज्ञदत्तसे मनुष्यपनेकी अपेक्षा समानधर्मसहितपना भी है। देवदत्तसे रुपया, पुस्तक, गृह भिन्न भी है फिर देवदत्तके उन रुपया पुस्तकोंसे यज्ञदत्त धनवान् और पुस्तकवान् क्यों नहीं बन जाता है ? द्रव्यपन और सत्पना तो समान धर्म सर्वत्र सुलभ है। कहीं किसीसे किसीकी धर्मव्यवस्था माननेपर आत्मामें ज्ञानके समवायकी भी व्यवस्था बन जावेगी फिर यह टंटा क्यों खडा किया जाता है ? अब आचार्य कहते हैं कि यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तो—

सत्यं, अयमपरोऽस्य दोषोऽस्तु, पृथिव्यादीनां रूपाद्यनात्मकत्वे खादिभ्यो विशिष्टतया व्यवस्थापयितुमशक्तेः ।

ठीक है अर्थात् जब तक मैं उत्तर नहीं देता हूं तब तक ठीक है। उत्तर देनेपर तो तुम्हारे कटाक्षके जीर्ण वस्त्रके समान सैकडों टुकडे हो जावेंगे। नैयायिकोंने कहा था " कि पृथ्वी आदिकोंमें रूप आदिकोंके रहनेका भी नियम न हो सकेगा " यह सर्वथा सत्य है। जो पृथ्वी आदि द्रव्योंको रूप, रस, गंध आदिकसे तादात्म्यसंबंध रखते हुए नहीं मानता है उसके मतमें यह दूसरा दोष भी लागू होता है। जैसे " आत्मामें ही ज्ञानका समवाय रखनेके लिये आकाश आदिकोंसे कोई विशेषता नहीं है वैसे ही पृथ्वी, जल, और तेजमें ही रूप है तथा पृथ्वीमें ही गंध है " ऐसी व्यवस्था करनेके लिये आकाश आदिकोंसे विशिष्टताको रखता हुआ कोई नियम भेदवादी नैयायिक नहीं कर सकते हैं। चतुर्वेदी षड्वेदी होनेके लिये चले थे किंतु द्विवेदी ही रह गये नैयायिकोंने एक दोषवारण करनेका प्रयत्न किया था किंतु दूसरा और भी दोष उनके गले लगा।

स्यान्मतम् ! आत्मानो ज्ञानमस्मास्विति प्रतियन्ति आत्मत्वात् ये तु न तथा ते नात्मानो यथा खादयः आत्मानश्चैतेऽहंप्रत्ययग्राह्यास्तस्मात्तथेत्यात्मत्वमेव खादिभ्यो

विशेषमात्मानं साधयति पृथिवीत्वादिवत् । पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादियोगाद्धि पृथिव्यादयस्तद्वदात्मत्वयोगादात्मान इति । तदयुक्तम्, आत्मत्वादिजातीनामपि जातिमदनात्मकत्वे तत्समवायनियमासिद्धेः ।

सम्भव है कि नैयायिकोंका यह मत होवै वह भी होने दो कि " ज्ञान हममें समवायसम्बन्धसे रहता है इस प्रकार जीवात्माएं ही समझती हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे आत्मा हैं (हेतु) जो पदार्थ तो अपनेमें उसप्रकार ज्ञानकी वृत्तिताको नहीं समझते हैं वे जीवात्माएं भी नहीं हैं। जैसे आकाश, काल, घट आदिक जड पदार्थ है (व्यतिरेक दृष्टान्त) में मैं इस आकारके ज्ञानद्वारा ये आत्मा ग्रहण किये जा रहे हैं (उपनय) तिस कारणसे ज्ञान हममें रहता है । इसकी वे दृढ प्रतिपत्ति कर लेते हैं (निगमन) ऐसे पांच अवयववाले अनुमानसे आत्मत्व—हेतुके द्वारा आत्माओंकी आकाश, काल आदिकोंसे विशेषता सिद्ध हो जाती है " जैसे कि पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, आदि जातिओंके द्वारा पृथिवी आदिक द्रव्य उन आकाश आदिकोंसे न्यारे न्यारे सिद्ध कर दिये जाते हैं । देखिये जब कि पृथिवीत्वजातिके सम्बन्धसेही पृथिवीको पृथिवीपना माना है । एवं जलत्वके योगसे जलको, जलद्रव्य इष्ट किया है यों नियमितजातियोंके सम्बन्ध हो जानेके कारण द्रव्योंमें संकरपना नहीं आ पाता है । वैसे ही आत्मत्वजातिके योगसे आत्मद्रव्य भी स्वतंत्र निराले सिद्ध हैं। यहांतक नैयायिक कह चुके । अब ग्रन्थकार कहते हैं कि इस तरह नैयायिकोंका वह प्रतिपादन करना युक्तिशून्य है कारण कि आत्मत्व, पृथिवीत्व, जलत्व, वायुत्व आदि जातियोंको भी उन जातिवाले आत्मा, पृथिवी, जल, वायु, आदिके साथ तदात्मक स्वरूप नहीं मानोगे तो आत्मासे सर्वथा भिन्न स्वीकार किये गये आत्मत्वका आत्मामें ही समवायसम्बन्ध होवे और उस जलत्वजातिका जलद्रव्यमें ही समवाय होवे इस प्रकारके नियम नहीं बन सकेंगे, क्योंकि न्यायमतानुसार पृथिवी पृथिवीत्व, आत्मा आत्मत्व, जल जलत्व ये सब जाति और व्यक्तियां परस्परमें सर्वथा भिन्न मानी गयी हैं । ऐसी दशामें पृथिवीत्व जाति आत्मा जलको छोडकर पृथिवी द्रव्यमें ही चिपक जाय, उसका नियामक क्या है ? बताओ तथा आत्मत्वजाति इन पृथिवी, आकाशकी उपेक्षा कर आत्मद्रव्यमेंही समवेत हो जावे यह नियम बतानेका तुम्हारे पास क्या उपाय है ? जबतक आप पृथिवी पृथिवीत्वका और आत्मा आत्मत्वका तादात्म्यरूप एकीभाव नहीं मानोगे तबतक ज्ञान और ज्ञानवान्के समान जाति और जातिमान्की व्यवस्था भी न बन सकेगी ।

प्रत्ययविशेषात्तत्सिद्धिरिति चेत्, स एव विचारयितुमारब्धः परस्परमत्यन्तभेदाविशेषेऽपि जातितद्वतामात्मत्वजातिरात्मनि प्रत्ययविशेषमुपजनयति न पृथिव्यादिषु पृथिवीत्वादिजातयश्च तत्रैव प्रत्ययमुत्पादयन्ति नात्मनीति कोऽत्र नियमहेतुः ?

यदि नैयायिक यों कहें कि आत्मामें ही आत्मत्वजातिके रहनेका विशेषरूपसे ज्ञान हो रहा है। एवं जलमें ही जलत्वजातिकी वृत्तिताका बढिया ज्ञानविशेष हो रहा है। इस कारण आत्मद्रव्यमें आत्मत्वजातिके और जलद्रव्यमें जलत्वजातिके समवायका वह नियम सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार उत्तर कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि वही तो विचार करनेके लिये प्रकरण आरम्भ किया गया है अर्थात् आत्मामें ही आत्मत्वजातिके रहनेका विशेष ज्ञान किस कारण होता है ? और वही उत्तर दिया जा रहा है। यह तो वैसा ही न्याय हुआ कि हमने पूंछा, यह घोडा क्यों है ? उत्तर दिया कि क्योंकि यह घोडा है। जब कि जाति और उससे सहित जातिवालोंमें परस्पर अंतररहित सर्वथा भेद विद्यमान है तो भी वह भिन्न पडी हुयी आत्मत्वजाति " आत्मामें रहती है " इस ज्ञानविशेषको तो पैदा करे और पृथिवी, जल, आदिकमें आत्मत्वके रहनेका ज्ञान न करावे इसका क्या कारण है ? बताओ। एवं पृथिवीत्व, जलत्व आदि जातियां भी उन्हीं पृथिवी, जल आदिमें ही उन ज्ञानविशेषोंको यानी पृथिवीमें पृथिवीत्व रहता है इन ज्ञानोंको पैदा करावें, किंतु आत्मामें पृथिवीत्वके रहनेका ज्ञान न करावें इसमें नियम करानेवाला हेतु तुम्हारे पास क्या है ? उसे बतलाओ।

समवाय इति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः सति प्रत्ययविशेषे जातिविशेषस्य जातिमति समवायः सति च समवाये प्रत्ययविशेष इति।

विशेष नियम करनेका हेतु यदि आप नैयायिक या वैशेषिक समवायसम्बन्ध मानोगे तब तो यह वही अन्योन्याश्रय दोष हुआ क्योंकि समवायसम्बन्ध भी तुम्हारे मतमें भिन्न पडा रहता माना गया है। अतः समवायसम्बन्धके नियम करानेके लिये ज्ञानविशेषकी आवश्यकता पडेगी। तथा च पृथिवीमें पृथिवीत्वका ही विशेषज्ञान होनेपर तो विशेष जाति पृथिवीत्वका उस जातिवाली पृथिवीमें समवायसम्बन्ध सिद्ध होवे और जब पृथिवी पृथिवीत्वका ही समवायसम्बन्ध सिद्ध हो जावे तब पृथिवीमें पृथिवीत्वके रहनेका ज्ञानविशेष सिद्ध होवे ऐसे अन्योन्याश्रय दोषवाले कार्य सिद्ध नहीं होते हैं। नैयायिक और वैशेषिकका इस विषयमें एक ही मत है। अतः हम किसी भी शब्दद्वारा पूर्वपक्षीका यहां उल्लेख कर देते हैं।

प्रत्यासत्तिविशेषादन्यत एव तत्प्रत्ययविशेष इति चेत्, स कोऽन्योऽन्यत्र कथंचित्तादात्म्यपरिणामादिति स एव प्रत्ययविशेषहेतुरेषितव्यः, तदभावे तद्घटनाज्जातिविशेषस्य क्वचिदेव समवायासिद्धेरात्मादिविभागानुपपत्तेरात्मन्येव ज्ञानं समवेतमिहेदमिति प्रत्ययं कुरुते न पुनः खादिष्विति प्रतिपत्तुमशक्तेर्न चैतन्ययोगादात्मनश्चेतनत्वं सिद्ध्येत् यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात्।

यदि अन्योन्याश्रय दोषका वारण करनेके लिये किसी न्यारे दूसरे ही विशेषसम्बंधसे उस विशिष्ट ज्ञानके होनेका नियम करोगे, तब तो वह विशेषसम्बंध कथंचित् तादात्म्यसम्बंध -रूप

परिणामके अतिरिक्त और दूसरा क्या हो सकेगा ? तुम ही समझ लो इस कारण वह विशेषसम्बंध ही ज्ञानविशेषका कारण तुमको इष्ट करना चाहिये। उस तादात्म्यसम्बंधके न माननेपर विशिष्ट आत्मद्रव्यमें ज्ञानके रहनेका या पृथिवीमें पृथिवीत्वकी वृत्तिताके उन ज्ञानविशेषोंका होना नहीं घटता है। नैयायिकमतमें जाति और समवायको भी इनके आधारोंसे सर्वथा भिन्न माना गया है। अतः उस भिन्न पडे हुए जातिविशेषका किसी विशेषद्रव्यमें ही समवाय सम्बंध सिद्ध नहीं हो पाता है। जब आत्मत्व और पृथिवीत्वका नियमित समवायसम्बंध सिद्ध नहीं है तो यह आत्मा है, यह पृथिवी है, यह आकाश है, इत्यादि द्रव्योंके विभाग सिद्ध न होवेंगे, ऐसी दशामें आत्मामें ही ज्ञान समवायसंबंधसे रहता है ऐसा " यह यहां है " इत्याकारक ज्ञान आत्मामें ही ज्ञानके समवायको सिद्ध करे, किंतु फिर आकाश, काल, आदिकमें ज्ञानके समवायको सिद्ध न करे, यह भी नहीं समझा जा सकता है। अतः नैयायिकोंका चैतन्यके सम्बंधसे आत्माको चेतनपना सिद्ध नहीं हो सकता है, जिससे कि श्रेयोमार्ग की अभिलाषाके अभावको सिद्ध करनेमें हमारी ओरसे नैयायिकोंके प्रति दिया गया अचेतनत्व हेतु असिद्ध होवे, अर्थात् नैयायिकोंकी मानी हुयी आत्मामें अचेतन हो जानेके कारण मोक्षमार्गकी अभिलाषा होना नहीं बनता है।

प्रतीतिः शरणं तत्र केनाप्याश्रीयते यदि।
तदा पुंसश्चिदात्मत्वं प्रसिद्धमविगानतः ॥ १९७ ॥
ज्ञाताहमिति निर्णीतेः कथञ्चिच्चेतनात्मताम्।
अन्तरेण व्यवस्थानासम्भवात् कलशादिवत् ॥ १९८ ॥

यदि किसी भी नव्य नैयायिक या प्राचीन नैयायिकके द्वारा लोकप्रसिद्ध प्रतीतियोंकी शरण लेनेका सहारा लिया जावे, तब तो आत्माको चेतनस्वरूपपना निंदारहित निर्दोषरूपसे प्रसिद्ध है। मैं ज्ञाता हूं इस प्रकारके निर्णय कथंचित् चेतनस्वरूप आत्माको माने विना व्यवस्थित नहीं होते हैं। जैसे कि जड घट, पट, आदिक " मैं ज्ञाता हूं " " मैं चेतन हूं " ऐसा निर्णय नहीं कर सकते हैं, किंतु आत्मा " मैं ज्ञ हूं " ऐसा निर्णय कर रहा है। यह बात अनेक जीवोंमें स्वयं प्रसिद्ध हो रही है। ऐसी प्रतीतिसिद्ध बातको मान लेना चाहिये।

प्रतीतिविलोपो हि स्याद्वादिभिर्न क्षम्यते न पुनः प्रतीत्याश्रयणम्, ततो निःप्रतिद्वन्द्वमुपयोगात्मकस्यात्मनः सिद्धेर्न हि जातुचित्स्वयमचेतनोऽहं चेतनायोगाच्चेतनोऽचेतने च मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति ज्ञाताहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः।

बालगोपालों तकमें भी प्रसिद्ध होरहीं प्रतीतियोंका लोपना तो हम स्याद्वादियोंके द्वारा कैसे भी सहन नहीं किया जा सकता है। हां ! फिर प्रतीतिओंके अवलम्ब लेनेका हम लोप नहीं करते

हैं। उस कारणसे प्रतीतिके अनुसार उपयोगस्वरूप आत्माकी सिद्धि बाधारहित हो रही है। इस प्रकारकी प्रतीति कभी आज तक नहीं हुयी कि " मैं स्वयं तो मूलमें अचेतन हूं और चेतना बुद्धिके समवायसे चेतन हो जाता हूं, हां अचेतन होरहे मुझमें चेतनाका समवायसंबंध हो जाता है। " किंतु इसके विपरीत " मैं चेतन हूं " ऐसी प्रतीति हो रही है तथा " मैं ज्ञाता हूं " ऐसी ज्ञातापन और अहंपनेकी आत्मारूप समान अधिकरणमें ठहरे रहनेरूपसे प्रतीति हो रही है। इससे भी आत्मा स्वयं चेतन सिद्ध हो जाता है। चेतनपन, ज्ञातापन, अहंपन ये तीनों एक ही आत्मा नामक अधिकरणमें निवास करते हैं।

भेदे तथा प्रतीतिरिति चेन्न कथञ्चित्तादात्म्याभावे तददर्शनात् यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद् दृष्टा न पुनस्तात्त्विकी।

यदि यहां नैयायिक यों कहें कि इस प्रकार समान अधिकरणपना तो भिन्न दो पदार्थोंमें हो रहा प्रतीत होता है। जैसे कि कम्बल नीला है , फूल सुगंध युक्त है। यहां कम्बल और नील का भेद है, सुगन्धसे फूल भिन्न है, ऐसे ही आत्मा ज्ञाता है। यहां भी भेद होनेपर ही समान अधिकरणपनेकी प्रतीति हो सकती है। निरुक्ति यों है कि समान है अधिकरण जिन दो, तीन, आदि पदार्थोंका उन पदार्थोंको समानाधिकरण कहते हैं और उनका भाव समानाधिकरणता बोली-जाती है। आचार्य कह रहे हैं कि यह नैयायिकका कहना तो ठीक नहीं। है क्योंकि कथञ्चित्ता-दात्म्यसम्बंधके बिना ठीक समानाधिकरणता नहीं देखी जाती है। कम्बल और नीले रङ्गका तथा फूल और सुगंधका अभेद होनेपर ही समान अधिकरणपन है। सर्वथा भिन्न ठहर रही अयोध्या और गिरनार पर्वतमें सामानाधिकरण्य नहीं है। यद्यपि कहीं कहीं भेद होनेपर भी समान अधिक-रणकी प्रतीति देखी गयी है। जैसे कि 'यष्टिः पुरुषः' लठियावाले पुरुषको लठिया कह देना, अथवा टोपीवाले और इक्केवालेको टोपी या इक्कासे पुकारना होता है इत्यादि, किंतु यहां भेद होते संते केवल व्यवहारसे समानाधिकरणप्रतीति इष्ट की है। हां फिर परमार्थरूपसे लकडी और लकडी-वालेमें समानाधिकरणता नहीं देखी गयी है। लठियाका अधिकरण पुरुष है और पुरुषका अधिकरण भूतल है। यों तो 'अग्निर्माणवकः' चंचल क्रोधी बालकको अग्नि कह देते हैं। बोझ ढोनेवाले पल्लेदारको बैल कह देते हैं 'गौर्वाहीकः' यह सब उपचार है। अतः कथञ्चित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होरहे पदार्थमें समानाधिकरणत्व माना गया है। आत्मा और ज्ञानमें द्रव्यरूपसे अभेद है और पर्याय, पर्यायीपनसे भेद है। यही तो समानाधिकरण होनेका प्राण है॥

तथा चात्मनि ज्ञाताहमिति प्रतीतिः कथञ्चिच्चेतनात्मतां गमयति, तामन्तरेणानुपपद्यमानत्वात् कलशादिवत्। न हि कलशादिरचेतनात्मको ज्ञाताहमिति प्रत्येति।

हां तो उस कारणसे आत्मामें " मैं ज्ञाता हूं " ऐसी प्रतीति हो रही है वह कथञ्चित् चेतनात्मकताको सिद्ध । देती है क्योंकि आत्माको वैसा चेतनस्वरूप माने बिना वह प्रतीति होना

नहीं बन सकता है। जैसे घट, पट आदिकमें वैसी ज्ञप्ति नहीं होती है। वे घट, पट आदिक स्वयं चेतन न होनेके कारण " हम ज्ञाता हैं " ऐसी प्रतीति नहीं करते हैं ॥

चैतन्ययोगाभावादसौ न तथा प्रत्येतीति चेत्, चेतनस्यापि चेतनायोगाच्चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेर्निरस्तत्वात् ।

यदि नैयायिक यों कहें " कि चैतन्यका संबंध होनेके कारण वे घट, पट आदिक अपनेको ज्ञातापनकी वैसी प्रतीति नहीं करते हैं किंतु आत्मा चैतन्यके योगसे ज्ञातापनेकी प्रतीति कर लेता है " ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि चेतन आत्माके भी चेतन्यगुणके समवायसंबंधसे मैं चेतन हूं ऐसी प्रतिपत्ति होनेका हम खण्डन कर चुके हैं। चैतन्यके संबंधसे चैतन्यवान् प्रतीति भले ही हो जाय किंतु " चेतन हूं " यह प्रतीति नहीं होती है। फिर आप बार बार उसी बातको क्यों दुहराते हैं। वावदूकता अच्छी नहीं लगती है।

ननु च ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदोऽन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनतद्वतोर्भेदाभावानुषङ्गादिति कश्चित् तदसत् ।

नैयायिक सशंक स्वपक्षका अवधारण करते हुए कहते हैं कि मैं ज्ञानवाला हूं, इस प्रकारके निर्णयसे तो आत्मा और ज्ञानमें भेद प्रतीत हो रहा है। मतुप् प्रत्यय भेदमें हुआ करता है। यदि ऐसा न मानकर अन्य प्रकार मानोगे तो देवदत्त धनवाला है, इस प्रतीतिसे भी धन और धनवान्का भेद नहीं हो सकनेका प्रसंग आवेगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई एक नैयायिक कह रहा है। उसका वह कहना प्रशंसनीय नहीं है। जब कि—

ज्ञानवानहमित्येष प्रत्ययोऽपि न युज्यते ।
सर्वथैव जडस्यास्य पुंसोऽभिमनने तथा ॥ १९९ ॥

सर्वथा भेद होनेपर तो मतुप् प्रत्यय भी नहीं उतरता है। तभी तो विन्ध्यपर्वतवान् सह्य पर्वत है या पुष्पवान् आकाश है, ये प्रयोग सत्य नहीं माने गये हैं। यदि इस आत्माको सर्व प्रकारसे ही जड है यों आग्रहसहित माना जावेगा। वैसे तो मैं ज्ञानवान् हूं यह उस प्रकारकी प्रतीति होना भी युक्तिपूर्ण नहीं है।

ज्ञानवानहमिति नात्मा प्रत्येति जडत्वैकांतरूपत्वात् घटवत्, सर्वथा जडश्च स्यात् आत्मा ज्ञानवानहमिति प्रत्येता च स्याद्विरोधाभावादिति मा निर्णैषीस्तस्य तथोपपत्त्यसम्भवात् । तथाहि—

" मैं ज्ञानवान् हूं " इस बातको आत्मा नहीं जान सकता है क्योंकि न्यायमतमें घटके समान आत्माको एकांतरूपसे जडस्वरूप माना गया है। वैशेषिकोंने आत्मामें आत्मत्वजाति और

ज्ञानगुणका समवाय तो पीछे हुआ माना है, फिर मूलमें घटके समान आत्मा जड ही ठहरा, तुम नैयायिक ऐसा निर्णय नहीं कर लेना कि आत्मा सर्वप्रकारसे जड भी बना रहे और " मैं ज्ञानवान् हूं " इस बातको भी समझ लेवे, क्योंकि हम भेदवादियोंका मंतव्य है कि जड होनेमें और समझनेवाला होनेमें कोई विरोध नहीं है। आचार्य कह रहे हैं कि उस आत्माको उस प्रकार नैयायिकोंके यहां निर्णय करनेकी उपपत्ति होना नहीं सम्भव है। इसी बातको प्रसिद्ध कर कहते हैं जड आत्मा तदात्मक प्रमाण द्वारा स्व को ज्ञानवान् पनेकी प्रतीति नहीं कर सकता है॥

ज्ञानं विशेषणं पूर्वं गृहीत्वात्मानमेव च।
विशेष्यं जायते बुद्धिर्ज्ञानवानहमित्यसौ ॥ २०० ॥
तद्गृहीतिः स्वतो नास्ति रहितस्य स्वसंविदा।
परतश्चानवस्थानादिति तत्प्रत्ययः कुतः ॥ २०१ ॥

विशिष्ट बुद्धिके उत्पन्न होनेके प्रथम विशेषण और विशेष्यके जाननेकी आवश्यकता है। " घटवान् भूतल है " यह प्रत्यय घट विशेषण और भूतल विशेष्यके ग्रहण करनेपर होता है " विशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसंबंधविषया " विशिष्ट बुद्धि होनेका यही क्रम है। प्रकृतमें ज्ञानविशेषणको पहिले ग्रहण कर और आत्मा स्वरूप विशेष्यको ग्रहण कर ही " मैं ज्ञानवान् हूं " इस प्रकारकी वह बुद्धि उत्पन्न होसकती है। अब उस ज्ञानका ग्रहण आत्माके अपने आपसे तो होता नहीं है, क्योंकि आपने आत्मा और ज्ञानको स्वसंवेदनसे रहित हो रहा माना है। नैयायिकोंने आत्माका वेदन, और ज्ञानका ज्ञान, स्वसंवेदनसे अपने आप होना इष्ट नहीं किया है, ऐसी दशामें जिस ज्ञानसे आत्मा विशिष्ट हो रहा है, उस ज्ञानको ज्ञानके अतिरिक्त कौन जानेगा? यदि दूसरे ज्ञानसे विवक्षित ज्ञानका ज्ञान होना मानोगे तो अनवस्था दोष आवेगा। क्योंकि दूसरे ज्ञानको तीसरे ज्ञानसे, और तीसरेको चौथे ज्ञानसे, जाननेपर आकांक्षा बढती ही जावेगी। " नाज्ञातं ज्ञापकं नाम " जो स्वयं ज्ञात नहीं हुआ है, वह दूसरे प्रमेयका ज्ञापक नहीं हो सकता है। ऐसी अवस्थामें उस ज्ञानरूपविशेषणकी प्रतीति कैसे होवेगी? बताओ। जिससे कि ज्ञान और आत्माका ग्रहण होकर पैदा होनेवाली " मैं ज्ञानवान् हूं " यह विशिष्टबुद्धि उत्पन्न हो सके।

येषां नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति मतं श्वेताच्छ्रुते बुद्धिरिति वचनात्तेषां ज्ञानवानहमिति प्रत्ययो नागृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते, स्वमतविरोधात्।

जिन नैयायिकोंका यह माना हुआ सिद्धांत है कि विशिष्टका ज्ञान तब उत्पन्न होता है, जब कि पूर्वमें विशेषण और विशेष्य दोनोंको जान लिया जाय, तथा विशेष्यज्ञान तब होगा जब

कि विशेषणका ग्रहण कर लिया जावे, विना विशेषणके ग्रहण किये विशेष्यमें बुद्धि नहीं हो पाती है। उनके यहां ऐसा कहा है कि धौला कपडा है यह बुद्धि धौलेरूपको पहिले जानकर होती है, भूरेसे भूरेमें ज्ञान होता है। उन नैयायिकोंके मतमें " मैं ज्ञानवान् हूं " ऐसी प्रतीति भी ज्ञान नामक विशेषणके और आत्मास्वरूप विशेष्यके न ग्रहण करनेपर कभी नहीं उत्पन्न हो सकती है। यदि विशेषण और विशेष्यके ग्रहण बिना भी विशिष्टबुद्धिकी उत्पत्ति मानोगे तो नैयायिकोंके अपने मतसे विरोध हो जावेगा ॥

गृहीते तस्मिन्नुत्पद्यते इति चेत्, कुतस्तद्गृहीतिः ? न तावत्स्वतः स्वसंवेदनानभ्युपगमात्, स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा प्रयुज्यते नान्यथा संतानांतरवत्। परतश्चेत्तदपि ज्ञानांतरं विशेष्यं नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यमिति ज्ञानान्तरात्तद्ग्रहणेन भाव्यमित्यनवस्थानात्कुतः प्रकृतप्रत्ययः ? ॥

यदि नैयायिक यों कहेंगे कि उस ज्ञानस्वरूप विशेषणके ग्रहण करनेपर विशिष्टबुद्धि पैदा होती है तब तो तुम बतलाओ कि उस ज्ञानका ग्रहण किससे होगा ? ज्ञानका ग्रहण अपने आप स्वयं तो हो नहीं सकता है क्योंकि आपने आत्मा और ज्ञानका अपने आप अपनेको जाननेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं किया है। यदि ज्ञान और आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मानते होते तब उन दोनोंका वह स्वतः ग्रहण होना कह सकते थे, अन्यथा नहीं कह सकते हो। दूसरे प्रकारोंसे भेदवादियोंके मतमें संतानांतरोंके समान ज्ञान और आत्माका ग्रहण नहीं हो पाता है। भावार्थ— जैसे देवदत्तके ज्ञानका यज्ञदत्त प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है या देवदत्तकी आत्माका यज्ञदत्त प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है। उसीके सदृश देवदत्त भी अपने ज्ञान और आत्माको नहीं जान पावेगा।

यदि दूसरे ज्ञानसे ज्ञान और आत्माका ज्ञान होना मानोगे तो वह दूसरा ज्ञान भी विशेष्य है उसमें ज्ञानत्व विशेषण है। दूसरा ज्ञान भी अपने ज्ञानत्व विशेषणको जबतक नहीं जानेगा, तबतक प्रकृतज्ञानको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। यहां भी दूसरा ज्ञान और उसके ज्ञानत्वको जाननेके लिये तीसरे, चौथे, पांचमे ज्ञान होते रहने चाहिये। इस प्रकार अनवस्था होती है। भला ऐसी दशामें प्रकरणमें प्राप्त होरहे विशेषण रूप पहिले ज्ञानका ग्रहण कैसे होवेगा ? बताओ तो सही। भित्तिके विना कहां तक कल्पित चित्रोंको लिखोगे।

नन्वहंप्रत्ययोत्पत्तिरात्मज्ञप्तिर्निगद्यते।
ज्ञानमेतादिति ज्ञानोत्पत्तिस्तज्ज्ञप्तिरेव च ॥ २०२ ॥
ज्ञानवानहमित्येष प्रत्ययस्तावतोदिता।
तज्ज्ञानवेदनेप्येवं नानवस्थेति केचन ॥ २०३ ॥

इस पर नैयायिक अनुनयसहित उत्तर देना चाहते हैं कि मैं मैं इस प्रकारके ज्ञानका उत्पन्न हो जाना ही आत्मारूप विशेष्यका ग्रहण कहा जाता है और यह ज्ञान है, इस प्रकार ज्ञानका उत्पन्न हो जाना ही उस विशेषणस्वरूप ज्ञानका ग्रहण समझा जाता है। उतने मात्रसे " मैं ज्ञानवान् हूं " इस प्रकारका यह विशिष्ट प्रत्यय उत्पन्न हो जाना कहा गया है। भले ही उन ज्ञानोंका अपने आप वेदन न होवें तो भी हमारे ऐसा कहनेपर अनवस्था दोष नहीं सम्भावित है इस प्रकार कोई एक नैयायिक कह रहे हैं। भावार्थ—मैं और ज्ञानवाला हूं इन दो ज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जानेसे ही आकांक्षा शांत होजाती है। ज्ञापकपक्षमें अनवस्था दोष लगता है। कारक पक्षमें बीजाङ्कुरके समान अनवस्था हो जानेको दोष नहीं माना गया है। यहां कार्यकारणभाव नहीं चल रहा है।

ज्ञानात्मविशेषणविशेष्यज्ञानाहितसंस्कारसामर्थ्यादेव ज्ञानवानहमिति प्रत्ययोत्पत्ते-र्नानवस्थेति केचिन्मन्यन्ते।

कभी पहिले समयोंमें ज्ञानको विशेषण और आत्माको विशेष्य समझ लिया था, उसका संस्कार आत्मामें रक्खा हुआ है। उस संस्कारके बलसे ही " मैं ज्ञानवाला हूं " ऐसा निर्णय उत्पन्न हो जाता है। हमारे ऊपर अनवस्था दोष नहीं है। ऐसा भी कोई एक नैयायिक मान रहे हैं।

तेऽपि नूनमनात्मज्ञा ज्ञाप्यज्ञापकताविदः।
सर्वं हि ज्ञापकं ज्ञातं स्वयमन्यस्य वेदकम् ॥ २०४ ॥

वे नैयायिक भी निश्चयसे आत्माको नहीं जान पाते हैं और ज्ञाप्यज्ञापकभावके तत्त्वको भी नहीं समझते हैं जब कि सभी दार्शनिक इस बातको मानते हैं कि जो कोई भी ज्ञापक होगा वह जाना गया होकर ही दूसरेको समझानेवाला होता है। जैसे कि धूम हेतु वह्निका ज्ञापक है। वह चाक्षुषप्रत्यक्षसे ज्ञात होकर ही अन्य वह्निको समझाता है। तथा वास्तविक रूपसे ज्ञापक हेतु ज्ञात है वह स्वयं ज्ञात होकर ही अपने ज्ञेयकी ज्ञप्ति कराता है। जिसको आजतक स्वयं जाना नहीं है, उसका संस्कार भी कहांसे आवेगा ! पहिले कभी ज्ञानसे गृहीत हो चुके विषयकी ही तो धारणा कर सकते हो।

विशेषणविशेष्ययोर्ज्ञानं हि तयोर्ज्ञापकं तत्कथमज्ञातं तौ ज्ञापयेत्। कारकत्वे तद-युक्तमेव, तदिमे तयोर्ज्ञानमज्ञातमेव ज्ञापकं ब्रुवाणा न ज्ञाप्यज्ञापकभावविद इति सत्यमनात्मज्ञाः।

ज्ञानरूप विशेषणका और आत्मस्वरूप विशेष्यका ज्ञानही उन ज्ञान और आत्माका ज्ञापक माना गया है तो उन दोनोंका वह ज्ञान स्वयं अज्ञात होकर उन ज्ञान और आत्माको कैसे समझा देवेगा ! बतलाइये।

यदि आप ज्ञापकपक्ष न मानकर कारकपक्ष लोगे सो तो वह युक्तियोंसे रहित ही है। भला कहीं ज्ञान और ज्ञेयके प्रकरणमें क्या कोई कारकपक्ष लेता है ? आप स्वयं विचारो। अग्निका धूम हेतु ज्ञापक है किन्तु कारकपक्षमें तो धूमका ही अग्नि कारक हेतु है। उस कारण ये नैयायिक लोग विशेष्य विशेषण के ज्ञानको अज्ञात हुये को ही ज्ञापक कह रहे हैं। अतः ये ज्ञेय ज्ञापक-भावको न समझते हुए अवश्य ही आत्माको जाननेवाले नहीं हैं यह बात सर्वथा सच्ची है। इनके यहां ज्ञान अपनेको नहीं जानता है और आत्मा का स्वयंको नहीं जान पाता है।

स्यान्मतम्, विशेषणस्य ज्ञानं न ज्ञापकं नापि कारकं लिङ्गवच्चक्षुरादिवच्च, किं तर्हि ? ज्ञप्तिरूपं फलम्। तच्च प्रमाणाज्ज्ञातं चेत्तावतैवाकांक्षाया निवृत्तिः फलपर्यन्तत्वात्तस्या, विशेष्यज्ञानस्य ज्ञापकं तदित्यपि वार्तं तस्य तत्कारकत्वात्।

नैयायिकोंका यह मत भी होवे कि धूम हेतु जैसे वह्निका ज्ञापक हेतु है वैसे विशेषणका ज्ञान ज्ञापक हेतु नहीं है और चक्षु, पुण्य, पाप, आलोक आदि जैसे चाक्षुषप्रत्यक्षके कारक हेतु हैं वैसे विशेषणका ज्ञान कारक हेतु भी नहीं है। तो क्या है ? सो सुनो! हम विशेषणके ज्ञानको ज्ञप्तिस्वरूप फल मानते हैं। विशेषणके साथ इन्द्रियोंके सन्निकर्ष हो जानेको प्रमाण मानते हैं। उसका फल विशेषणका ज्ञानरूप प्रमा उत्पन्न हो जाना है। एवं वह ज्ञप्तिरूपी फल भले ही प्रमाणसे नहीं भी ज्ञात हो किन्तु प्रमाणसे उत्पन्न है। इतनेसे ही आकांक्षाकी निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् तीसरे, चौथे, पांचवें, ज्ञानोंके उठानेकी आवश्यकता नहीं होती है। जिससे कि अनवस्था होवे। जब तक फल प्राप्त नहीं होता है तब तक प्रमाणोंसे ज्ञात करते रहनेकी वह आकांक्षा रहती है किंतु ज्ञप्तिरूप फलके उत्पन्न होते ही ज्ञानोंके जाननेकी आकांक्षा दूर हो जाती है। अतः वह नहीं जाना हुआ भी फलरूप विशेषणज्ञान अपने विशेष्यके ज्ञानका ज्ञापक हेतु हो जाता है। ग्रंथकार कह रहे हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका कहना भी कोरी बकवाद है। क्योंकि आपने अपने दर्शनशास्त्रमें विशेषणके ज्ञानको विशेष्य ज्ञानका कारक हेतु इष्ट किया है। और अब फंस कर अनुपाय दशामें ज्ञापक हेतु स्वीकार कर रहे हैं। यह अपसिद्धांत नहीं तो क्या है ?।

प्रमाणत्वात्तस्य ज्ञापकं तदित्यप्यसारं साधकतमस्य कारकविशेषस्य प्रमाणत्ववचनात्।

प्रतिवादी कहता है कि विशेषणका ज्ञान यद्यपि विशेषणके साथ हुये इंद्रियोंके सन्निकर्ष रूप प्रमाणका फल है किंतु विशेष्यकी ज्ञप्तिका कारण भी है। अतः वह विशेषणज्ञान प्रमाण हो जानेके कारण विशेष्यका ज्ञापक हेतु हो जाता है। यह भी नैयायिकोंका कहना निस्सार है क्योंकि प्रमितिको अत्यंत प्रकृष्टरूपसे साधनेवाले विशेष कारकको आपने प्रमाण होना कहा है। आपके मतसे तो विशेष्यके साथ इंद्रियोंका सन्निकर्ष ही विशेष्यकी ज्ञप्तिका जनक हो रहा प्रमाण हो सकता है। विशेषणज्ञान नहीं।

नहि विशेषणज्ञानं प्रमाणं विशेष्यज्ञानं तत्फलमित्यभिदधानस्तत्तस्य ज्ञापकमिति मन्यते । किं तर्हि ? विशेष्यज्ञानोत्पत्तिसामग्रीत्वेन विशेषणज्ञानं प्रमाणमिति, तथा मन्यमानस्य च कानवस्था नामोति । तदेतदपि नातिविचारसहम्, एकात्मसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्यमर्थज्ञानमिति सिद्धान्तविरोधात्, यथैव हि विशेषणार्थज्ञानं पूर्वं प्रमाणफलं प्रतिपत्तुराकाङ्क्षानिवृत्तिहेतुत्वान्न ज्ञानान्तरमपेक्षते तथा विशेष्यार्थज्ञानमपि विशेषणज्ञानफलत्वात्तस्य ।

जैनोंके प्रति पुनः नैयायिक कहते हैं कि विशेषणके ज्ञानको प्रमाण और विशेष्यके ज्ञानको उसका फल यों कहनेवाला नैयायिक वह विशेषणज्ञान उस विशेष्यका ज्ञापक है ऐसा नहीं मान रहा है तो क्या मानता है ? इसका उत्तर सुनिये ! विशेष्यज्ञानकी उत्पत्तिमें एक विशेषणज्ञान भी कारणसामग्रीमें पडा हुआ है अतः सामान्य कारण होते हुए भी विशेषणज्ञान प्रमाण है । इस प्रकार ऐसे माननेवाले हम नैयायिकोंके ऊपर अनवस्थादोष भला कहा हुआ ? आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वह नैयायिकका कहना भी परीक्षारूप विचारको अधिक सहन नहीं कर सकता है । क्योंकि नैयायिकोंका सिद्धांत है कि घट आदिक अर्थोंका ज्ञान उसी एक आत्मामें समवायसम्बंधसे रहनेवाले अव्यवहित द्वितीय क्षणवर्ती ज्ञानके द्वारा ग्राह्य हो जाता है । जब कि नैयायिक विशेषणज्ञानको विशेष्यज्ञानका कारण मानते हैं और कारण अव्यवहित पूर्व समयमें रहता है । ऐसी दशामें कार्य और कारणरूप दोनों ज्ञान अंधेरेमें पडे हुए हैं । जिस समय आप विशेष्यज्ञान होना मानते हैं उस समय तो विशेषण ज्ञानको जाननेवाले द्वितीय ज्ञानके उत्पन्न हो जानेका अवसर है । अतः उक्त सिद्धांतसे विरोध आया, और जैसे ही विशेषणरूप अर्थका ज्ञान पहिले विशेषण और इंद्रियके सन्निकर्षरूप प्रमाणका फल हो चुका है, वह ज्ञाताकी आकांक्षाओंकी निवृत्तिका हेतु हो जानेसे दूसरे ज्ञानोंकी अपेक्षा नहीं करता है, वैसे ही विशेष्यरूप अर्थका ज्ञान भी उस विशेषणज्ञानरूप प्रमाणका फल हो जानेके कारण अपने जाननेमें दूसरे ज्ञानोंकी अपेक्षा न करेगा । ऐसा माननेपर अनवस्था दोष तो हट गया किंतु आपका वह सिद्धांत कहां रहा कि पहिला ज्ञान दूसरे ज्ञानसे अवश्य जाना जाता है । विशेष यह है कि नैयायिक लोग बीचमें पडे हुए विशेषणज्ञानको दण्ड आदिक विशेषणोंके साथ हुए चक्षुरादिक इंद्रियोंके सन्निकर्षका प्रमाणरूप फल मानते हैं और भविष्यमें होनेवाले विशेष्यज्ञानका कारण मानते हुए विशेषणज्ञानको प्रमाण भी मानते हैं,

यदि पुनर्विशेषणविशेष्यार्थज्ञानस्य स्वरूपापरिच्छेदकत्वात्स्वात्मनि क्रियाविरोधादपरज्ञानेन वेद्यमानतेष्टा तदा तदपि तद्वेदकं ज्ञानमपरेण ज्ञानेन वेद्यमिष्यतामित्यनवस्था दुःपरिहारा ।

यदि नैयायिक फिर यों कहेंगे कि विशेषणरूप अर्थ और विशेष्यरूप अर्थका ज्ञान अपने स्वरूपका ज्ञापक नहीं है क्योंकि जानने रूप क्रियाका जानना रूप स्वमें ही होनेका विरोध है ।

जैसे कितनी भी पैनी तलवार क्यों न हो, अपनेको स्वयं नहीं काटती है। कैसा भी सीखा हुआ नटका छोकरा हो, वह आप ही अपने कंधे पर नहीं चढ जाता है। भक्षण रूप क्रिया स्वयं अपना भक्षण नहीं कर सकती है। इसी प्रकार ज्ञान स्वयं अपनेको नहीं जान सकता है। अतः ज्ञानका जाना गया पना हम दूसरे ज्ञानसे इष्ट करते हैं। वादी आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंके कहनेपर तो अनवस्था होती है। क्योंकि जो ज्ञान पहिले ज्ञानका ज्ञापक है वह तीसरे ज्ञानसे जाना गया होना चाहिये और वह तीसरा चौथे ज्ञानसे परिच्छेद्य होना चाहिये तब कहीं पहिला ज्ञान जाना जा सकता है। इस अनवस्थाका परिहार करना आपके लिये अत्यंत कठिन पड गया है। आपने अपनेमें स्वयं क्रियाका विरोध दिया था सो ठीक नहीं है। देखो! अग्नि स्वयं अपनेको जला देती है। मेथीका शाक अपनी गर्मीसे अपने आप झुलस जाता है। दीपक, सूर्य स्वयं अपना प्रकाश करते हैं! अच्छा अध्यापक स्वयं अपनेको पढाता है, तभी तो अपने नवीन उत्पन्न किये अनुभवोंको पुस्तकमें टिप्पण कर लेता है। अनेक वैद्य स्वयं अपने आप चिकित्सा कर लेते हैं। निश्चय नयसे सम्पूर्ण पदार्थ अपनेमें स्वयं आप व्यवस्थित हो रहे हैं। वास्तवमें क्रियावान् और क्रियामें ही क्रिया रहती हैं। अतः जानना रूप ज्ञानक्रिया भी ज्ञानमें आनंदके साथ रह सकती है। नटके छोराकी पीठकी हड्डी मुडती नहीं, अतः वह अपने कंधेपर नहीं बैठ पाता है। गोह, गिलहरी, बिच्छु, सांप अपने पिछले भागको कंधोपर धर सकते हैं। पैनी कैंचीको लाली जोरसे चलाया जाय तो स्वयं अपनेको काट डालती है। दृष्टांतोंसे तत्त्व निर्णय नहीं होता है। जगतमें उदाहरण सभी प्रकारके मिल जाते हैं। सज्जनोंको सज्जनोंके और दुर्जनोंको दुर्जनोंके दृष्टान्त भरे पडे हैं।

नन्वर्थज्ञानपरिच्छेदे तदनन्तरज्ञानेन व्यवहर्तुराकांक्षाक्षयादर्थज्ञानपरिच्छित्तये न ज्ञानांतरापेक्षास्ति, तदाकांक्षया वा तदिष्यत एव। यस्य यत्राकांक्षाक्षयस्तत्र तस्य ज्ञानांतरापेक्षानिवृत्तेस्तथा व्यवहारदर्शनात्ततो नानवस्थेति चेत्, तर्ह्यर्थज्ञानेनार्थस्य परिच्छित्तौ कस्यचिदाकांक्षाक्षयात्तज्ज्ञानापेक्षाऽपि माभूत्।

अनवस्था दोषके परिहारके लिये नैयायिक अनुनयसहित प्रयत्न करते हैं कि पहिले अर्थज्ञानको जाननेमें उपयोगी उसके अव्यवहित उत्तरवर्ती दूसरे ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। बस! उस दूसरे ज्ञानसे ही ज्ञाता व्यवहारीकी अकांक्षा निवृत्त हो जाती है। अतः उस दूसरे ज्ञानको जाननेके लिए तीसरे चौथे ज्ञानोंकी अपेक्षा नहीं होती है। ऐसा कौन ठलुआ बैठा है! जो व्यर्थ ही अपने ज्ञानको जाननेकी इच्छाओंको बढाता रहे। हां! यदि कोई उन तीसरे चौथे ज्ञानोंके जाननेकी इच्छा करेगा तो हम उन चौथे, पांचमे ज्ञानोंका उत्पन्न होना इष्ट करते ही हैं। जिस व्यक्तिको जहां कहीं जाकर आकांक्षाकी निवृत्ति हो जावेगी उस व्यक्तिके वहां तकके ज्ञापक कई ज्ञान मान लेवेंगे और तैसा व्यवहार भी हो रहा देखा जाता है। जैन लोगोंको भी ज्ञानोंके जाननेकी आकांक्षा होनेपर सौ और पांच सौ तक भी ज्ञान मानने पडेंगे। अन्य कोई उपाय नहीं हैं, फलमुख गौरवमें

दोष नहीं माना गया है । इस कारणसे हमारे ऊपर अनवस्था दोष नहीं है । क्योंकि कहीं न कहीं आकांक्षा शांत हो ही जावेगी। आचार्य कहते हैं कि यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तब तो पहिले अर्थ ज्ञानकरके अर्थकी ज्ञप्ति हो जानेपर इतनेसे ही किसी एककी आकांक्षा शांत हो जावे यों तो पहिले ज्ञानको जाननेके लिए दूसरे ज्ञानकी भी अपेक्षा न होवे, क्योंकि जहां आकांक्षा टूट जावेगी, वहीं आप दूसरे ज्ञानोंका उत्पन्न होना रोक देते हैं। ऐसी दशामें अर्थका ज्ञान अव्यवहित उत्तरवर्ती ज्ञानसे ग्राह्य है इस आपके ही सिद्धांतसे आप नैयायिकोंको विरोध बना रहा ॥

तथेष्यत एवेति चेत्, परोक्षज्ञानवादी कथं भवता अतिशय्यते ? ।

नैयायिक कहते हैं कि हम ऐसा इष्ट करते ही हैं, अर्थात् यदि आकांक्षा न होवे तो पहिले ज्ञानको जाननेके लिए भी दूसरा ज्ञान नहीं उठाया जाता है । स्वयं अन्धेरेमें पडा पहिला घटज्ञान ही घटको जान लेता है, भविष्यमें घटज्ञानको जाननेके लिए किसी ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। इस पर तो आचार्य कहते हैं कि ऐसी दशामें ज्ञानको परोक्ष माननेवाले मीमांसकोंके साथ आपकी क्या कैसी विशेषता रही ? बतलाइए ? भावार्थ— मीमांसक भी पहिले ज्ञान आदि सब ज्ञानोंका प्रत्यक्ष होना नहीं मानते हैं । परोक्षज्ञानद्वारा ही घट आदिकका प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हैं। यदि किसीको ज्ञानके जाननेकी आकांक्षा हो जावे तो ज्ञानजन्य ज्ञाततासे ज्ञानका अनुमान होना मीमांसक इष्ट करते हैं, वैसा ही परोक्षपन आप मान रहे हैं, अतः मीमांसक और आपके मन्तव्यमें कोई अतिशय नहीं रहा । पहिले ज्ञानको दोनोंने परोक्ष मान लिया है ।

ज्ञानस्य कस्यचित्प्रत्यक्षत्वोपगमादिति चेत्, यस्याप्रत्यक्षतोपगमस्तेन परिच्छिन्नोऽर्थः कथं प्रत्यक्षः ? सन्तानान्तरज्ञानपरिच्छिन्नार्थवत् ।

नैयायिक बोलते हैं कि मीमांसकोंसे हमारे मन्तव्यमें यह अधिक अतिशय है कि हम किसी किसी ज्ञानका दूसरे ज्ञानोंसे प्रत्यक्ष होना मान लेते हैं किन्तु मीमांसक तो किसी भी ज्ञानका प्रत्यक्ष होना नहीं मानते हैं । ज्ञानोंके प्रत्यक्ष हो जानेके भयसे वे सर्वज्ञको भी नहीं स्वीकार करते हैं। घट, पट, पुस्तक आदिकका प्रत्यक्ष भले ही हो जावे किन्तु इनको जाननेवाले ज्ञानोंका तथा मनु, जैमिनि, भट्ट, प्रभाकरोंको भी अपने ज्ञानोंका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है । हां ! इच्छा होनेपर वे उन ज्ञानोंका अनुमान कर लेते हैं । हम नैयायिक तो घटके ज्ञानका दूसरे ज्ञानसे प्रत्यक्ष होना और सर्वज्ञके ज्ञानका सर्वज्ञके दूसरे ज्ञानसे प्रत्यक्ष होना मानते हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि आप नैयायिक ऐसा कहोगे तो जाननेकी आकांक्षा न होनेपर जिस ज्ञानका आपने प्रत्यक्ष होना नहीं माना है, उस ज्ञानसे जाने गये अर्थका प्रत्यक्ष कैसे होगा ? बताओ । जैसे कि अन्य संतान माने गये देवदत्तके द्वारा जाने जाचुके अर्थका जिनदत्त ज्ञान नहीं कर सकता है, क्योंकि जिनदत्तको देवदत्तके ज्ञानका स्वयं प्रत्यक्षज्ञान नहीं है । उसी प्रकार स्वयं देवदत्तके ज्ञानका देवदत्तको

जब प्रत्यक्ष नहीं है तो देवदत्त अपने उस अप्रत्यक्षज्ञानद्वारा अर्थका प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है ? यानी नहीं ।

प्रत्यक्षतया प्रतीतेरिति चेत्, तर्ह्यप्रत्यक्षज्ञानवादिनोऽपि तत एवार्थः प्रत्यक्षोऽस्तु तथा चानर्थिका सर्वज्ञज्ञानस्य ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वकल्पना ।

अप्रत्यक्ष ज्ञानसे भी अर्थका प्रत्यक्ष हो जानेपनेसे प्रतीति होना देखा जाता है । अतः पहिले अप्रत्यक्ष ज्ञानसे भी अर्थका प्रत्यक्ष हो जाना बन जावेगा। यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तब तो ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं कहनेवाले मीमांसकके भी उसी अप्रत्यक्ष ज्ञानसे अर्थका प्रत्यक्ष करना हो जाओ। और वैसा हो जानेपर फिर सर्वज्ञके ज्ञानको दूसरे ज्ञानसे प्रत्यक्षकी नैयायिककी कल्पना व्यर्थ पडेगी । नैयायिकोंने ईश्वरके दो ज्ञान माने हैं । एकके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष करता है । और दूसरे ज्ञानसे उस ज्ञानका प्रत्यक्ष कर लेता है। किंतु जब नैयायिक अप्रत्यक्ष ज्ञानसे ही अर्थका प्रत्यक्ष हो जाना मानते हैं तो स्वयं अप्रत्यक्ष भी अकेला ईश्वरका ज्ञान चराचर जगत्का प्रत्यक्ष कर लेवेगा, प्रत्यक्ष द्वारा सर्वको जानना स्वरूप सर्वज्ञत्वको रक्षित करनेके लिये प्रथम ज्ञानका ज्ञानान्तरसे प्रत्यक्ष होते रहनेकी कल्पना व्यर्थ है । हिंदुस्तानके एक महाराजा विलायतसे बढिया गाय लाये जो कि प्रतिदिन छः घडी दूध देती थी। उसको गर्भिणी करने और नस्लको ठीक रखनेके लिये सदृढ सांड भी लाना पडा, जिसका उपयोग वर्षमें मात्र एक दिन, और दैनिक व्यय गायसे भी अत्यधिक । मितव्ययीको ऐसा अपव्यय खटकता है । यों ईश्वरमें दूसरे ज्ञानको माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

यत्र यथा प्रतीतिस्तत्र तथेष्टिर्न पुनरप्रतीतिकं किञ्चित्कल्प्यत इति चेत्, स्वार्थसंवेदकताप्रतीतितो ज्ञानस्य तथेष्टिरस्तु ।

नैयायिक कहते हैं कि जहां जैसा अवसर देखा जाता है वहां वैसे ही पैंतरा बदल दिये जाते हैं । जिस प्रकारसे जहां अर्थोंके और ज्ञानोंके प्रत्यक्ष होनेकी प्रतीति होती दीखे वहां वैसा ही हम इष्ट कर लेते हैं । हां, फिर जो कभी प्रतीतिमें नहीं आता है ऐसे किसी भी पदार्थकी हम कल्पना नहीं करते हैं । सर्वज्ञज्ञानको जाननेके लिये दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता है किन्तु संसारी जीवोंके किसी किसी ज्ञानमें ज्ञानान्तरकी अकांक्षा नहीं होती है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे, तब तो प्रत्येक ज्ञानको अपने और अर्थके बढिया ज्ञापकपनेकी प्रतीति हो रही है । तो इस कारण फिर ज्ञानको उसप्रकार अर्थ और अपना दोनोंका परिच्छेदी क्यों न मान लो ! समीचीन प्रतीतिके अनुसार तो आपको चलना चाहिये । वैसा इष्ट करनेको आप स्वीकार भी कर चुके हैं ।

ज्ञाने स्वसंवेदकताप्रतीतेः स्वात्मनि क्रियाविरोधेन बाधितत्वान्न तथेष्टिरिति चेत्, का पुनः स्वात्मनि क्रिया विरुद्धा परिस्पन्दरूपा धात्वर्थरूपा वा ? प्रथमपक्षे तस्या द्रव्यवृत्तित्वेन ज्ञाने तदभावात्, धात्वर्थरूपा तु न विरुद्धैव भवति तिष्ठतीत्यादिक्रियायाः स्वात्मनि प्रतीतेः । कथमन्यथा भवत्याकाशं, तिष्ठति मेरुरित्यादि व्यवहारः सिद्धयेत् ?

प्रतिवादी कहता है कि ज्ञानरूप स्वात्मामें जाननारूप क्रियाके विरोध करके ज्ञानमें स्वसंवेदकताकी प्रतीति जैनोंकी बाधित हो जाती है अर्थात् ज्ञानमें अपने आप जाननेकी क्रिया होनेका विरोध है । इस कारण ज्ञानमें स्व को वेदक माननेकी प्रतीतिमें बाधा उपस्थित है । अतः उस प्रकार अपनेको और अर्थको जाननेवाला ज्ञान हम इष्ट नहीं करते हैं । ज्ञान केवल अर्थको ही जानता है ऐसा कहनेवाले नैयायिकोंसे तो पूंछते हैं कि फिर भला कौनसी क्रिया अपने आप अपनी आत्मामें रहनेका विरोध कर रही है ? बताओ, क्या हलनचलनरूप क्रिया अपने स्वरूपमें नहीं रहती है ? अथवा स्था, अस्, वृधु, चकास्, आदि धातुओंके स्थित रहना, या विद्यमान रहना या बढना, प्रकाशित होना आदि अर्थरूप क्रिया अपनी आत्मामें नहीं रहती हैं ? उत्तर कहिये ।

यदि पहिला पक्ष लोगे तो वह हलनचलनरूप क्रिया आपके और हमारे मतानुसार द्रव्योंमें रहती मानी गयी है । ज्ञानमें उसकी सत्ता ही असम्भव है । हां दूसरा पक्ष लेने पर धातुओंके अर्थरूप क्रियाएं तो विरुद्ध नहीं होती हैं । देखिये, गृह ठहरा हुआ है, देवदत्त बढ रहा है, दीपक प्रकाश रहा है आदि धात्वर्थरूप क्रियाएं अपनी आत्मामें ही होती हुयीं जानी जाती हैं । यदि ऐसा न स्वीकार कर अन्य प्रकार मानोगे तो बताओ कि आकाश है, मेरु ठहर रहा है, वायु बह रही है, जिनदत्त जाग रहा है, इत्यादि व्यवहार किस प्रकार सिद्ध होते ? वस्तुतः क्रिया और क्रियवान्का अभेद है । क्रियावान्में ठहर रही क्रिया स्वयं क्रियामें ही पायी जाती है । विरोध नहीं है ।

सकर्मिका धात्वर्थरूपापि विरुद्धा स्वात्मनीति चेत्, तर्हि ज्ञानं प्रकाशते चकास्तीति क्रिया न स्वात्मनि विरुद्धा ?

प्रतिवादी कहता है कि अकर्मक धातुओंकी क्रियाएं अपने अभिन्न कर्तामें भले ही विरुद्ध न हों क्योंकि उनको दूसरा कोई शरण नहीं है किंतु क्रिया स्वयंमें नहीं ठहर पायेगी । तद्वत् सकर्मक धातुओंकी अर्थरूप क्रियाएं भी तो अपनी आत्मामें रहनेका अवश्य विरोध करती हैं । जैसे देवदत्त भातको पकाता है । यहां पकानारूप क्रिया स्वयं अपनेमें या देवदत्तमें नहीं रहती है किंतु कर्ता और क्रिया इन दोनोंसे सर्वथा भिन्न हो रहे भातरूप कर्ममें ठहरती है । ऐसे ही देवदत्त भातको खा रहा है वहां खानारूप क्रिया भी स्वयं अपने आपमें नहीं रहती है । ऐसे ही ज्ञान ज्ञानको जानता है । यह सकर्मक क्रिया भी अपने आपमें नहीं रह सकती है । आचार्य कहते हैं कि यदि

नैयायिक ऐसा कहेंगे तब तो प्रकाशन और प्रतिभासनरूप क्रियाएं तो अकर्मक हैं, तथा च ज्ञान प्रकाश रहा है, ज्ञान प्रतिभास रहा है, दीप प्रकाश रहा है ये अकर्मक क्रियाएं तो ज्ञानकी स्वात्मामें बिना विरोधके ठहर जावेंगी। अभेदपक्षमें ठीक व्यवस्था बन जाती है। वस्तुव्यवस्था और नय पद्धतिपर लक्ष्य रक्खो।

ज्ञानमात्मानं जानातीति सकर्मिका तत्र विरुद्धेति चेन्न, आत्मानं हन्तीत्यादेरपि विरोधानुषङ्गात्।

ज्ञान अपनेको जान रहा है, ऐसी सकर्मक ज्ञाधातुकी क्रिया तो ज्ञानमें विरुद्ध ही है, यह आप प्रतिवादी जन नहीं कहना। क्योंकि यों तो देवदत्त अपने आपको मारता है, इंद्रदत्त अपने आपको जीवित रखता है, द्रव्य अपनेको त्रिकालमें विद्यमान रखता है इत्यादि क्रियाओंका भी अपने साथ विरोध करनेका प्रसङ्ग होगा, जो कि आपको भी इष्ट नहीं है।

कर्तृस्वरूपस्य कर्मत्वेनोपचारान्नात्र पारमार्थिकं कर्मेति चेत्, समानमन्यत्र, ज्ञाने कर्तरि स्वरूपस्यैव ज्ञानक्रियायाः कर्मतयोपचारात्।

प्रतिवादी कहता है कि देवदत्त अपनी हिंसा कर रहा है या अपनेको जीवित रखता है। यहां वास्तविक रूपसे देवदत्त स्वयं कर्म नहीं है किंतु कर्तारूप देवदत्तको उपचारसे कर्म होजावे करके कह दिया गया है। अब आचार्य कहते हैं कि यदि तुम नैयायिक ऐसा कहोगे तो दूसरी जगह हम भी ऐसा ही समानरूपसे कह सकते हैं अर्थात् ज्ञान अपनेको जानता है यहां भी कर्ताको ही गौणपनसे कर्म बना दिया गया है। ज्ञानरूप कर्तामें आपको ही जानने रूप क्रियाका कर्मपना व्यवहृत कर लिया गया है। वास्तवमें देखा जाय तो ज्ञान अपनेको मुख्य रूपसे जानता है, विषयका जानना तो उसका गौण कार्य है। दीपक और सूर्यका मुख्य कर्तव्य स्वप्रकाशन है पदार्थोंका प्रकाशन होजाना तो उनका बिना प्रयत्नके छोटा कार्य है।

तात्त्विकमेव ज्ञाने कर्मत्वं प्रमेयत्वात्तस्येति चेत्, तद्यदि सर्वथा कर्तुरभिन्नं तदा विरोधः, सर्वथा भिन्नं चेत्कथं तत्र ज्ञानस्य जानातीति क्रिया स्वात्मनि स्याद्येन विरुध्येत? कथमन्यथा कटं करोतीति क्रियाऽपि कटकारस्य स्वात्मनि न स्याद्यतो न विरुध्यते।

जैन कहते हैं कि ज्ञानमें तो कर्मपना वास्तविकरूपसे ही है क्योंकि वह प्रमितिरूपक्रियाका कर्म है। तभी तो आपके मतानुसार वह स्वयं अपना प्रमेय हो सकता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम पूंछते हैं कि वह कर्मपना यदि कर्तासे सर्वथा अभिन्न है तब तो नैयायिकोंको अपने मतसे विरोध हुआ क्योंकि भेदवादी नैयायिकोंके मतमें एक ही पदार्थमें कर्तापन और कर्मपन नहीं माना गया है।

यदि कर्मको कर्तासे सर्वथा भिन्न मानोगे तो ज्ञानकी जाननारूप क्रिया वहां स्वात्मामें कैसे पायी गयी ? बताओ। जिससे कि स्वात्मामें क्रियाके रहनेका विरोध बने। अन्यथा यों तो सकर्मक धातुओंकी चटाईको बना रहा है, यह क्रिया भी चटाई बनानेवालेकी स्वात्मामें कैसे न रहेगी ? जिससे कि विरोध न हो सके। भावार्थ— सर्वथा भेदपक्षमें तो पद पद पर क्रियाका विरोध हो जावेगा। संसारका कोई भी कार्य न हो सकेगा। सब स्थानोंमें अपनेसे अपना विरोध छा जावेगा। एकांत भेदपक्षमें इस कार्यका यह कर्ता है, इस क्रियाका यह कर्ता है ऐसा व्यवहार भी न हो सकेगा।

कर्तुः कर्मत्वं कथञ्चिद्भिन्नमित्येतस्मिंस्तु दर्शने ज्ञानस्यात्मनो वा स्वात्मनि क्रिया दूरोत्सारितैवेति न विरुद्धतामधिवसति।

यदि जैनोंके सदृश कर्तासे कर्मपना कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है इस प्रकारका सिद्धांत मानोगे तब तो ज्ञानका या आत्माका अपनी आत्मामें क्रिया करना दूर फेंक दिया गया ही है। अर्थात् ज्ञान अपनेको जानता है, वहां ज्ञानमें ज्ञप्ति, ज्ञापक और ज्ञेय अंश न्यारे न्यारे हैं। संवेद्य, संवेदक और संवित्ति इन तीनों अंशोंके पिण्डको ज्ञान माना है। अतः जानना ज्ञप्ति अंशमें हो रहा है। जाना-गयापन ज्ञेय अंशमें हो रहा है और जाननेका कर्ता ज्ञापक अंश है। इसप्रकार कोई भी विरुद्धपनेको प्राप्त नहीं होता है॥

ततो ज्ञानस्य स्वसंवेदकताप्रतीतेः स्वात्मनि क्रियाविरोधो बाधकः प्रत्यस्तमितबाधकप्रतीत्यास्पदं चार्थसंवेदकत्ववत्स्वसंवेदकत्वं ज्ञानस्य परीक्षकैरेष्टव्यमेव।

इस कारणसे अब तक सिद्ध हुआ कि ज्ञान स्वका वेदन करता है ऐसी प्रतीति हो रही है। अतः अपनी आत्मामें अपनी क्रियाका होना विरुद्ध है इस प्रकारका बाधक दोष पहिली निर्बाध प्रतीतिके अनुसार स्वयं बाधित हो जाता है। जो बाधक स्वयं बाध्य होनेका स्थान है वह प्रतीतिसिद्धविषयोंमें क्या बाधा देगा ? यदि नैयायिक परीक्षा करके पदार्थोंकी व्यवस्था मानेंगे तो ज्ञान जैसे अर्थको जानता है उसी प्रकार अपनेको जानता है। यह भी नैयायिकोंको अच्छी तरह इष्ट कर लेना चाहिए। परीक्षकोंको यह बात अभीष्ट करनी पडती है कि ज्ञानका स्वसंवेदकपना चारों ओरसे नष्ट कर दिये गये हैं, बाधक जिनके ऐसी प्रतीतिओंका स्थान है। इससे अधिक क्या कहा जावे ?

प्रतीत्यननुसरणेऽनवस्थानस्य स्वमतविरोधस्य वा परिहर्तुमशक्तेः।

यदि नैयायिक लोग प्रमाणसिद्ध प्रतीतियोंके अनुसार नहीं चलेंगे, किन्तु अवसरके अनुसार पैंतरा बदलेंगे तो उन्हें ज्ञानोंको ज्ञानन्तरोंसे जानते जानते अनवस्था दोष अवश्य लगेगा।

और सर्वथा भेदपक्ष माननेवाले नैयायिकको कर्ता और कर्मके अभेद माननेपर अपने मतसे विरोध भी ठन जावेगा। तथा च यह अपसिद्धान्त दोष हुआ। इन दोनोंका परिहार. नैयायिक नहीं कर सकते हैं।

ततो न जडात्मवादिनां ज्ञानवानहमिति प्रत्ययो ज्ञाताहमिति प्रत्ययवत् पुरुषस्य ज्ञानविशिष्टस्य ग्राहकः।

उस कारण ज्ञानसे भिन्न अतएव जडरूप आत्माको माननेवाले नैयायिकोंके यहां "मैं ज्ञानवाला हूं" इस प्रकारकी प्रतीति तो ज्ञानसहित आत्माको ग्रहण करानेवाली नहीं है। जैसे कि मैं ज्ञाता हूं यह प्रतीति आकाश, काल आदिकको छोडकर आत्माको ही ज्ञानसहितपना सिद्ध नहीं करा सकती है।

किं चाहंप्रत्ययस्यास्य पुरुषो गोचरो यदि।
तदा कर्ता स एव स्यात् कथं नान्यस्य सम्भवः॥ २०५॥

दूसरा दोष यह भी है कि मैं मैं इस प्रतीतिका विषय यदि आत्मा माना जावेगा तो वह प्रमेय हो जावेगा, क्योंकि जो प्रतीतिका विषय होता है वह पदार्थ प्रमा करनेके योग्य प्रमेय होता है, तब तो वही आत्मा भला कर्ता कैसे हो सकेगा? आप नैयायिकोंके मतसे प्रमेय और प्रमाता दोनों एक पदार्थ नहीं हो सकते हैं। एक आत्माके स्थानपर दूसरा आत्मा विद्यमान नहीं है जिससे कि एक आत्मा प्रमेय होवे और दूसरा आत्मा प्रमाता सम्भव हो सके। अन्य आत्माके यह बात नहीं सम्भवती है।

कश्चास्याहंप्रत्ययस्य विषय इति विचार्यते। पुरुषश्चेत् प्रमेयः प्रमाता न स्यात्। न हि स एव प्रमेयः स एव प्रमाता, सकृदेकस्यैकज्ञानापेक्षया कर्मत्वकर्तृत्वयोर्विरोधात्।

यहां और भी कहना है कि मैं को जाननेवाले इस ज्ञानका विषय क्या है? इस बातका विचार करते हैं। यदि मैं के ज्ञानका विषय आत्मा माना जावेगा ऐसा कहनेपर तो वह आत्मा जानने योग्य प्रमेय हो जावेगा। जाननेवाला प्रमाता न हो सकेगा। वही आत्मा प्रमेय हो जावे और वही आत्मा प्रमाता भी हो जावे, ऐसा तो हो नहीं सकता है। क्योंकि नैयायिकोंके मतसे एक समय एक ज्ञानकी अपेक्षासे एक आत्माको प्रमितिक्रियाका कर्मपना और कर्तापनका विरोध है। नैयायिकोंने किसी प्रकरणमें प्रमिति, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये चार ही भिन्न भिन्न तत्त्व माने हैं। एक में दूसरेका सांकर्य नहीं माना है।

ततोऽन्यः कर्तेति चेन्न, एकत्र शरीरे आनेकात्मानभ्युपगमात्, तस्याप्यहंप्रत्ययविषयत्वेऽपरकर्तृपरिकल्पनानुषङ्गादनवस्थानादेकात्मज्ञानापेक्षायामात्मनः प्रमातृत्वानुपपत्तेश्च नान्यः कर्ता सम्भवति यतो न विरोधः।

उस प्रमेयरूप आत्मासे प्रमातारूप कर्ता यदि भिन्न मानोगे सो यह तो ठीक नहीं है क्योंकि नैयायिकोंने एक शरीरमें अनेक आत्माएं नहीं स्वीकार की हैं। यदि एक शरीरमें दूसरा आत्मा मानोगे तो वह आत्मा भी " मैं मैं " इस ज्ञानका विषय होवेगा। अतः प्रमेय हुआ। तथा च उस आत्मा प्रमेयके लिए तीसरे कर्तारूप प्रमाता आत्माकी कल्पना करनी पडेगी। तीसरा आत्मा भी अहं ज्ञानसे जाना जावेगा। उस प्रमेयके लिये भी चौथा न्यारा प्रमाता आत्मा कल्पित करना पडेगा। ऐसा करते करते अनवस्था दोष हो जानेका प्रसङ्ग आवेगा। तथा जिस समय आत्मा स्वयं जाना जा रहा है उस एक आत्माको अपने ज्ञानकी अपेक्षासे प्रमातापन बन नहीं सकता है। उस समय तो वह प्रमेय है। दूसरा कोई आत्मा वहां सम्भवता नहीं है जो कि कर्ता बन जावे। और जिससे कि विरोध होना टल सके। भावार्थ—एक आत्मामें कर्ता और कर्मपनेका विरोध रहेगा ही, यह नैयायिकोंके लिये विषम समस्या उपस्थित है।

स्वस्मिन्नेव प्रमोत्पत्तिः स्वप्रमातृत्वमात्मनः।
प्रमेयत्वमपि स्वस्य प्रमितिश्चेयमागता ॥ २०६ ॥

अपनी आत्माकी प्रमितिका अपनेमें ही उत्पन्न हो जाना अपना प्रमाणपन है एवं आत्माके स्वकी प्रमितिका कर्तापन है, और वहीं अपनेको जानना प्रमेयपना भी है, तथा जानना यही अपनी प्रमिति भी हुयी इस तरह एक ही आत्मामें तीनों या चारों धर्म आगये यही तो जैनसिद्धांत है।

यथा घटादौ प्रमितेरुत्पत्तिस्तत्प्रमातृत्वं पुरुषस्य, तथा स्वस्मिन्नेव तदुत्पत्तिः स्वप्रमातृत्वं, यथा च घटादेः प्रमितौ प्रमेयत्वं तस्यैव, तथात्मनः परिच्छित्तौ स्वस्यैव प्रमेयत्वम्, यथा घटादेः परिच्छित्तिस्तस्यैव प्रमितिस्तथात्मनः परिच्छित्तिः स्वप्रमितिः प्रतीतिबलादागता परिहर्तुमशक्या।

इस वार्तिकका भाष्य यों है कि जैसे घट, पट आदिकको विषय करनेवाली प्रमितिका उत्पन्न हो जाना ही आत्माको उसका प्रमातापन है वैसी ही अपने आप में ही अपनी प्रमितिकी उत्पत्ति हो जाना आत्माका अपना प्रमातापन है। और जैसे अपनी प्रमिति होने पर घट आदिकको प्रमेयपना है वैसे ही आत्माकी ज्ञप्ति होनेपर स्वयं उस आत्माको ही प्रमेयपना है। तीसरे जैसे घट, पट आदिकी समीचीन ज्ञप्ति होजाना ही उनकी प्रमिति है तैसे ही आत्माकी ज्ञप्ति भी आत्माकी प्रमिति है। यह बात प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतियोंके बलसे प्राप्त हो जाती है। इसका कोई निवारण नहीं कर सकता है। द्रव्यार्थिक नयसे चारों धर्म एक आत्मामें संघटित हैं।

तथा चैकस्य नानात्वं विरुद्धमपि सिद्ध्यति।
न चतस्रो विधास्तेषां प्रमात्रादिप्ररूपणात् ॥ २०७ ॥

यों प्रतिपादन करनेपर इस कारण प्रसिद्ध हुआ कि एक पदार्थमें भी विरुद्ध अनेक स्वभाव सिद्ध होजाते हैं वास्तवमें वे विरुद्ध नहीं हैं, केवल ऊपरी दृष्टिसे विरुद्ध सरीखे दीखते हैं। अतः उन प्रमाता आदि यानी प्रमाता, प्रमिति, प्रमेय और प्रमाण यों निरूपण करनेसे चार भेद नहीं करने चाहिये। भावार्थ—जिनका परस्परमें सांकर्य हो जाता है उनमें तत्त्वभेद नहीं होता है। यहां भी प्रमाण प्रमेय हो जाता है। प्रमाता भी प्रमेय बन जाता है। प्रमिति भी प्रमाणस्वरूप है। अतः नैयायिकोंको प्रमाता आदि चार तत्त्व मानना युक्त नहीं है। हां सापेक्ष चार धर्म कह सकते हो।

प्रमात्रादिप्रकाराश्चत्वारोऽप्यात्मनो भिन्नास्ततो नैकस्यानेकात्मकत्वं विरुद्धमपि सिद्ध्यतीति चेत् न, तस्य प्रकारान्तरत्वप्रसङ्गात्।

अब नैयायिक कहते हैं कि प्रमाता, प्रमिति, प्रमाण और प्रमेय ये चारों ही भेद आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। इस कारणसे एकको अनेक विरुद्ध भी धर्मोंका तादात्म्यपना सिद्ध नहीं हो पाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह उनका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस आत्माको न्यारा पांचवां भेद बननेका प्रसंग आता है। भावार्थ—जब कि आत्मासे वे चार तत्त्व भिन्न हैं तो आत्मा अवश्य ही उनमेंसे प्रमाता, प्रमेय आदि किसीमें गर्भित न होकर पांचवा तत्त्व हुआ, आपके तत्त्वोंकी चारसंख्याका व्याघात हुआ।

कर्तृत्वादात्मनः प्रमातृत्वेन व्यवस्थानात् न प्रकारान्तरत्वमिति चेत्, केयं कर्तृता नामात्मनः?

आत्मा तो कर्ता है इस कारण वह प्रमातारूपसे व्यवस्थित है। यों पांचवा भिन्न प्रकार होनेका प्रसंग नहीं आता है। यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तो बताओ! आत्माकी यह कर्तृता विचारी क्या वस्तु है?।

प्रमितेः समवायित्वमात्मनः कर्तृता यदि।
तदा नास्य प्रमेयत्वं तन्निमित्तत्वहानितः॥ २०८॥
प्रमाणसहकारी हि प्रमेयोऽर्थः प्रमां प्रति।
निमित्तकारणं प्रोक्तो नात्मैवं स्वप्रमां प्रति॥ २०९॥

प्रमितिको समवायसंबंधसे धारण कर लेना यदि आत्माका कर्तापन है तब तो इस आत्माको प्रमेयपना नहीं आ सकता है, क्योंकि प्रमेय होनेमें कारण प्रमितिक्रियाका निमित्त कारणपना है। जब कि आत्मा समवायिकारण बन गया तो प्रमेय बननेके कारण उस निमित्तपनेकी हानि हो गयी। प्रमितिक्रिया करनेमें जो अर्थ प्रमाणका सहकारी कारण होता है वह प्रमेय कहा

जाता है, किंतु इस प्रकार नैयायिकोंने आत्माको अपनी प्रमितिके प्रति निमित्तकारण बिलकुल नहीं कहा है, अतः इस प्रकार आत्मामें अपना प्रमेयपना और प्रमातापन नहीं बन सकता है ।

प्रमीयमाणो ह्यर्थः प्रमेयः प्रमाणसहकारी प्रमित्युत्पत्तिं प्रति निमित्तकारणत्वादिति ब्रुवाणः कथमात्मनः स्वप्रमितिं प्रति समवायिनः प्रमातृतामात्मसात्कुर्वतः प्रमेयत्वमाचक्षीत विरोधात् । न चात्मा स्वप्रमां प्रति निमित्तकारणं समवायिकारणत्वोपगमात् ।

जो अर्थ निश्चयसे प्रमाणके द्वारा जाना जा रहा है वह प्रमेय है क्योंकि प्रमितिकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण हो जानेसे वह प्रमाणका सहकारी है । इस प्रकार कहनेवाला नैयायिक आत्माको प्रमेय भला कैसे कह सकता है ? क्योंकि आत्मा अपनी प्रमितिके प्रति समवायीकारण हो गया है । अतः प्रमातापनेको आत्माने अपना अधीन स्वभाव कर लिया है । जो प्रमितिका समवायी कारण बन चुका है वह उसीका निमित्तकारण भला कैसे बन सकता है । क्योंकि विरोध है । और आत्मा अपनी प्रमितिके प्रति निमित्तकारण भी तो नहीं है । क्योंकि आपने पहिलेसे ही आत्माको समवायी कारण मान लिया है ।

यदि पुनरात्मनः स्वप्रमितिं प्रति समवायित्वं निमित्तकारणत्वं चेष्यतेऽर्थप्रमितिं प्रति समवायिकारणत्वमेव तदा साधकतमत्वमप्यस्तु, तथा च स एव प्रमाता, स एव प्रमेयः, स एव च प्रमाणमिति कुतः प्रमातृप्रमेयप्रमाणानां प्रकारान्तरता नावतिष्ठेत ? ।

यदि आप वैशेषिक फिर यों इष्ट करें कि आत्मा अपनी प्रमितिके प्रति समवायी कारण है और निमित्तकारण भी है किंतु अन्य घट, पट आदिक पदार्थोंकी प्रमितिके प्रति समवायी कारण ही है, तब तो आप आत्माको अपनी प्रमितिका प्रकृष्टकारक रूप करण हो जाना भी मान लेवें । तथा च सिद्ध हुआ कि वही आत्मा प्रमाता है और वही प्रमेय है, एवञ्च वही प्रमाण भी है । इस प्रकार जब तीनों एक हो गये तो प्रमाता, प्रमेय और प्रमाणोंको तत्त्वभेद नहीं होते हुए भिन्न प्रकारपना कैसे नहीं व्यवस्थित हो सकता है ? भावार्थ— प्रमाण, प्रमेय, आदि न्यारे न्यारे तत्त्व नहीं हैं । विशेष्यसे अभिन्न हो रहे मात्र विशेषण हैं ॥

कर्तृकारकात् करणस्य भेदान्नात्मनः प्रमाणत्वमिति चेत्, कर्मकारकं कर्तुः किमभिन्नं यतस्तस्य प्रमेयत्वमिति नात्मा स्वयं प्रमेयः ।

स्वतंत्र कर्ता कारकसे करण कारक सर्वथा भिन्न होता है, अतः आत्माको प्रमितिका करणरूप प्रमाणपना नहीं है । ऐसा यदि कहोगे तो क्या आप नैयायिकके मतमें कर्तासे कर्म कारक अभिन्न है ? जिससे कि आप उस आत्माको प्रमेयपना सिद्ध कर देवें । यों भेद माननेपर आत्मा स्वयं प्रमेय भी नहीं हो सकता है । तथा च आत्माका प्रमेयपना भी गांठका चला गया । आपने गौतमसूत्रके

अनुसार आत्माको प्रमेय कहा है । " आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् " प्रथम अध्याय सूत्र ९ ॥

नरान्तरप्रमेयत्वमनेनास्य निवारितम् ।
तस्यापि स्वप्रमेयत्वेऽन्यप्रमातृत्वकल्पनात् ॥ २१० ॥
बाध्या केनानवस्था स्यात्स्वप्रमातृत्वकल्पने ।
यथोक्ताशेषदोषानुषङ्गः केन निवार्यते ॥ २११ ॥

इस उक्त कथनसे इस प्रकृत आत्माका दूसरे आत्माके द्वारा जाना गयापन भी निवारण कर दिया गया है । क्योंकि उस अन्य आत्माको भी स्वके प्रमेय करनेमें तीसरे चौथे आदि निराले निराले प्रमाता आत्माओंकी कल्पना करनी पडेगी, इस प्रकार अनवस्था होना किसके द्वारा रोका जावेगा ?

यदि आत्मा अपना प्रमेय स्वयं हो जाता है और आत्मा अपने जाननेमें स्वयं प्रमाता बन जाता है, ऐसी कल्पना करोगे तो ठीक पहिले कहे हुए सम्पूर्ण दोषोंके प्रसङ्गको कौन रोक सकेगा ? भावार्थ—भेदवादीको वे ही दोष पुनः लागू हो जावेंगे ।

विवक्षितात्मा आत्मान्तरस्य यदि प्रमेयस्तदास्य स्वात्मा किमप्रमेयः प्रमेयो वा ? अप्रमेयश्चेत् तदात्मान्तरस्य प्रमेय इति पर्यनुयोगस्यापरिनिष्ठानादनवस्था केन बाध्यते ? प्रमेयश्चेत् स एव प्रमाता स एव प्रमेय इत्यायातमेकस्यानेकत्वं विरुद्धमपि परमतसाधनं, तद्वत् स एव प्रमाणं स्यात् साधकतमत्वोपपत्तेरिति पूर्वोक्तमखिलं दूषणमशक्यनिवारणम् ।

विवक्षामें पडा हुआ देवदत्त स्वरूप आत्मा यदि दूसरे अन्य आत्मा यज्ञदत्तसे जानने योग्य है तो बताओ, इस यज्ञदत्तको अपनी आत्मा क्या अप्रमेय है ? या प्रमेय है ? यदि स्वयं अप्रमेय है अर्थात् दूसरेसे जानी जावेगी तब तो न्यारे यज्ञदत्तकी आत्माको जाननेके लिये तीसरे जिनदत्तकी आत्मा प्रमाता माननी पडेगी। फिर जिनदत्तकी आत्मा भी स्वयं अपनेको न जान सकेगी। अतः उसके जाननेके लिये चौथे इंद्रदत्तकी आत्मा प्रमाता कल्पित की जावेगी। तब कहीं वह प्रमेय होगी। यों वह इंद्रदत्तकी आत्मा भी स्वयं प्रमेय न होगी। उसके लिये भी अन्य आत्माओंकी कल्पना करते करते प्रश्नरूप आकांक्षाएं बढती चली जावेंगी। कहीं भी उक्त प्रश्नरूप विषय समाप्त न होगा। अतः अनवस्था दोष होनेमें कौन बाधा दे सकता है ?

द्वितीय पक्षके अनुसार यदि देवदत्तकी आत्माको स्वयं अपना प्रमेय मानोगे अर्थात् दूसरे, तीसरेकी आवश्यकता न होगी तो वही आत्मा प्रमाता हुआ और वही प्रमेय हो गया। इस

प्रकार एक पदार्थके विरुद्ध सरीखे दीखते हुए अनेक धर्मोंका भी आपको मानना प्रतीतिबलसे प्राप्त हो गया और यों एक वस्तुमें अनेक धर्मोंको माननेवाले दूसरे जैनोंके उत्कृष्ट स्याद्वादसिद्धांत-मतकी भी सिद्धि हो गयी। जैसे एक आत्मा प्रमाता और प्रमेय दोनों बन जाता है उसीके समान अपनी प्रमितिमें साधकतम हो जानेके कारण वही आत्मा प्रमाण भी बन जावेगा। अतः नैयायिकोंके ऊपर पूर्वमें कहे गये अनवस्था और अपने सिद्धांतसे विरोध आदि सम्पूर्ण दोष लागू होंगे। उन दोषोंका निवारण कैसे भी नहीं हो सकता है।

स्वसंवेद्ये नरे नायं दोषोऽनेकान्तवादिनाम्।
नानाशक्त्यात्मनस्तस्य कर्तृत्वाद्यविरोधतः ॥ २१२ ॥
परिच्छेदकशक्त्या हि प्रमातात्मा प्रतीयते।
प्रमेयश्च परिच्छेद्यशक्त्याकांक्षाक्षयात्स्थितिः ॥ २१३ ॥

हम स्याद्वादी जन आत्माको स्व के द्वारा वेद्य मानते हैं। अतः अनेकांतवादियोंके ऊपर उक्त दोष नहीं आता है जब कि आत्मा ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूप अनेक शक्तियोंके साथ तादात्म्य रखता है तो उसको ज्ञप्तिका ज्ञातापन, ज्ञेयपन और कारणपना आदि माननेमें कोई भी विरोध नहीं है। आत्मा पदार्थोंको स्वतंत्र रूपसे जानता है अतः परिच्छेदकशक्तिके द्वारा वह निश्चयसे प्रमाता है। और स्वयं अपनेको जानता हुआ भी प्रतीत हो रहा है अतः वह परिच्छेद्यस्वभावसे प्रमेय भी है। और जैसे अग्नि अपने दाहपरिणामसे जलाती है वैसे ही आत्मा अपने सच्चे ज्ञानपरिणामसे जानता है अतः आत्मा प्रमाणस्वरूप भी है। बस, इतनेसे ही आकांक्षाएं निवृत्त हो जाती हैं। इस कारण अनेकांतमतमें अनवस्था दोष नहीं आता है। यदि किसी व्यक्तिने इच्छावश आत्माको जाननेके लिये दूसरा ज्ञान भी उत्पन्न किया हो वह अभ्यासदशाका ज्ञान स्वयं प्रत्यक्षरूप है। अतः दूसरी कोटिपर ही अन्य आकांक्षा न होनेके कारण जिज्ञासुओंकी स्थिति हो जावेगी। जिसको आकांक्षा उत्पन्न नहीं हुयी है, उसके लिये पहिला ज्ञान ही पर्याप्त है ॥

ननु स्वसंवेद्येऽप्यात्मनि प्रमातृत्वशक्तिः प्रमेयत्वशक्तिश्च परिच्छेदकशक्त्यान्यया परिच्छेद्या, सापि तत्परिच्छेदकत्वपरिच्छेद्यत्वशक्तिः परया परिच्छेदकशक्त्या परिच्छेद्येत्यनवस्थानमन्यथाद्यशक्तिभेदोऽपि प्रमातृत्वप्रमेयत्वहेतुर्माभूत् इति, न स्याद्वादिनां चोद्यम्। प्रतिपत्तुराकांक्षाक्षयादेव क्वचिदवस्थानसिद्धेः। न हि परिच्छेदत्वादिशक्तिर्यावत्स्वयं न ज्ञाता तावदात्मनः स्वप्रमातृत्वादिसंवेदनं न भवति येनानवस्था स्यात्। प्रमातृत्वादिस्वसंवेदनादेव तच्छक्तेरनुमानान्निराकांक्षस्य तत्राप्यनुपयोगादिति युक्तमुपयोगात्मकत्वसाधनमात्मनः।

स्याद्वादियोंके ऊपर नैयायिक कटाक्षसहित शंका उठाते हैं कि आप आत्माको अपने आप जानने योग्य भले ही मानें तो भी तीन स्वभाववाले उस आत्मामें प्रमातापने और प्रमेयपनेकी शक्तिको स्वयं परिच्छेदकशक्तिसे अतिरिक्त मानी गयी दूसरी परिच्छेदकशक्तिसे ज्ञेय मानोगे और वह आत्माकी ज्ञेयपनेकी परिच्छेद्यपन शक्ति भी तीसरी परिच्छेदकशक्तिसे जानी जावेगी और तीसरी परिच्छेदक शक्ति न्यारी चौथी शक्तिसे जानी जावेगी। क्योंकि जाननेके कारण जो आत्माके स्वभाव होंगे, वे अभिन्न होनेके कारण ज्ञेय होते चले जावेंगे। इस तरहसे अनवस्था दोष तुम्हारे ऊपर भी आता है।

यदि शक्तियोंको जाननेके लिये परिच्छेदकशक्तियां नहीं मानोगे तो आदिकी भी प्रमातापन और प्रमेयपनकी भिन्न दो शक्तियां क्यों मानते हो ? तब तो ये दो शक्तियां एक आत्मामें प्रमातापन और प्रमेयपन इन दो धर्मोंकी कारण न हो सकेंगी। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका तर्क स्याद्वादियोंके ऊपर नहीं चलता है, क्योंकि जाननेवाले प्रतिपत्ताकी आकांक्षाओंके निवृत्त हो जानेसे ही कहीं भी दूसरी, तीसरी, कोटि पर स्थिति हो जाना सिद्ध है। हम ऐसा नहीं मानते हैं कि परिच्छेदकपनेकी या परिच्छेद्यपने आदिकी शक्ति जबतक अन्यके द्वारा स्वयं ज्ञात न होगी तब तक अपने प्रमातापन या प्रमेयपन आदिका ज्ञान ही नहीं होता है जिससे कि अनवस्था दोष हो जावे। किंतु हम यह मानते हैं कि आत्माने अपनेको अपने आप जान लिया। जैसे अग्नि दाह-परिणाम करके अपनेको जला रही है। दीपक स्वयंको अपनी प्रभासे प्रकाशित कर रहा है आदि इस कार्यसे ही उन दोनों तीनों, शक्तियोंका अनुमान हो जाता है। शक्तियां सम्पूर्ण अतीन्द्रिय होती हैं। अतः सामान्य जीवोंको उनका अनुमान ही हो सकता है प्रत्यक्ष नहीं। हां, जिस ज्ञाताको शक्तियोंके जाननेकी आकांक्षा नहीं हुयी है उसको उन शक्तियोंका अनुमान करना भी व्यर्थ पडता है। शक्तियोंके ज्ञानका कोई उपयोग नहीं, यहां कारकपक्ष है। शक्तियां नहीं भी ज्ञात होकर कार्योंको कर देती हैं। इस प्रकार स्वयं ज्ञानदर्शनोपयोग स्वरूप आत्माकी युक्तियोंसे सिद्धि कर दी गयी है। आत्माका लक्षण उपयोग ही है, यह समुचित है। यहांतक नैयायिकोंके साथ विचार किये गये प्रकरणकी समाप्ति कर अब मीमांसकोंके साथ विचार चलाते हैं।

कर्तृरूपतया वित्तेरपरोक्षः स्वयं पुमान्।
अप्रत्यक्षश्च कर्मत्वेनाप्रतीतेरितीतरे ॥ २१४ ॥

भट्ट, प्रभाकर, मुरारि ये तीनों मीमांसक करणज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं। भट्ट-मतानुयायी आत्माका प्रत्यक्ष मानते हैं और प्रभाकर फलज्ञानका प्रत्यक्ष मानते हैं। यहां प्रकरणमें नैयायिकोंसे न्यारे किन्हीं अन्य मीमांसकोंका कहना है कि कर्तारूपसे आत्माका स्वयं ज्ञान होता है। इस कारण आत्मा परोक्ष नहीं है, और कर्मरूपसे आत्माकी प्रतीति नहीं होती है। इस कारण

आत्मा प्रत्यक्ष भी नहीं है । ऐसा कुछ जैन सिद्धान्तका अनुसरण, और कुछ आक्षेप करते हुए कोई मीमांसक कहते हैं ।

सत्यमात्मा संवेदनात्मकः स तु न प्रत्यक्षः कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात्। न हि यथा नीलमहं जानामीत्यत्र नीलं कर्मतया चकास्ति तथात्मा कर्मत्वेन । अप्रतिभासमानस्य च न प्रत्यक्षत्वम् , तस्य तेन व्याप्तत्वात् ।

स्याद्वादियोंसे मीमांसक कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है । यह आपका कहना सच है किन्तु वह आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है । क्योंकि कर्मपनेसे आत्माकी प्रतीति नहीं होती है । जैसे मैं नीले कम्बलको जान रहा हूं यों यहां नीले कम्बलका कर्मपनेसे प्रतिभास हो रहा है उस प्रकार आत्माका कर्मपनेसे प्रतिभास नहीं होता है । भावार्थ—जाननारूप क्रियाका आत्मा कर्ता है, कर्म नहीं है , जो प्रतिभासनक्रियाका कर्म नहीं है, वह प्रत्यक्ष ज्ञानका कर्म या विषय भी नहीं है क्योंकि उस प्रतिभासन क्रियाके कर्म होनेके साथ उस प्रत्यक्षज्ञानके विषय होनेकी व्याप्ति है । प्रतिभास्यपना व्यापक है और प्रत्यक्ष विषयपना व्याप्य है ।

आत्मानमहं जानामीत्यत्र कर्मतयात्मा भात्येवेति चायुक्तमुपचरितत्वात्तस्य तथा प्रतीतेः। जानातेरन्यत्र सकर्मकस्य दर्शनादात्मनि सकर्मकत्वोपचारसिद्धेः, परमार्थतस्तु पुंसः कर्मत्वे कर्ता स एव वा स्यादन्यो वा ? न तावत्स एव विरोधात्। कथमन्यथैकरूपतात्मनः सिद्ध्येत्, नानारूपत्वादात्मनो न दोष इति चेत् न अनवस्थानुषङ्गात्। केनचिद्रूपेण कर्मत्वं केनचित्कर्तृत्वमित्यनेकरूपत्वे ह्यात्मनस्तदनेकं रूपं प्रत्यक्षमप्रत्यक्षं वा ? प्रत्यक्षं चेत्कर्मत्वेन भाव्यमन्येन तत् कर्तृत्वेन, तत्कर्मत्वकर्तृत्वयोरपि प्रत्यक्षत्वे परेण कर्मत्वेन कर्तृत्वेन चावश्यं भवितव्यमित्यनवस्था ।

मीमांसक ही कह रहे हैं कि आत्माको " मैं जानता हूं यों ऐसे प्रयोगमें कर्मरूपसे आत्मा प्रतिभासित हो जाता ही है । " यह जैनोंका कहना भी अयुक्त है । कारण कि मैं आत्माको जान रहा हूं, यह उस आत्माकी इस प्रकारकी प्रतीति तो उपचरित है । वही स्वयं कर्तारूपसे जाने और स्वयं कर्मरूपसे अपनेको जाने यह कैसे सम्भव है ? आत्माश्रय दोष आता है ; जाननारूप क्रिया अन्य घट, पट, पुस्तक आदिमें सकर्मक होकर देखी जाती है । इससे आत्मामें भी ज्ञानक्रियाके सकर्मकपनेका आरोप कर लेना सिद्ध है । वास्तविकरूपसे यदि आत्माको ज्ञानक्रियाका कर्म मानोगे तो ऐसी दशामें उस ज्ञानक्रियाका कर्ता वही आत्मा होगा या कोई दूसरा आत्मा कर्ता माना जावेगा ? बताओ, पहिला पक्ष तो ठीक नहीं है। क्योंकि यदि उसी आत्माको कर्ता मानोगे तब तो विरोध है । एक ही आत्मा कर्ता और कर्मपनेरूप होकर विरुद्धस्वभावोंको धारण नहीं कर सकता है । अन्यथा आत्माको एकधर्मस्वरूपपना कैसे सिद्ध होगा ? जो कि हम मीमांसकोंको इष्ट है ।

यदि जैन लोग आत्माके अनेक स्वभाव मानते हैं अतः कर्ता और कर्म हो जानेमें कोई दोष नहीं है। यों कहेंगे, तो यह जैनियोंका कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एकमें अनेक धर्म माननेसे अनवस्था दोष हो जानेका प्रसङ्ग आवेगा। देखिये आप किसी एक स्वरूपसे आत्माको कर्म कहोगे और अन्य किसीरूपसे आत्माको कर्तापन मानोगे। इस प्रकार अनेकस्वरूप माननेपर हम जैनियोंसे पूंछते हैं कि भाइयो! वे आत्माके अनेक धर्म प्रत्यक्षित हैं अथवा अप्रत्यक्षित हैं? बताओ। प्रथम पक्ष अनुसार यदि उन आत्माके धर्मोंका प्रत्यक्ष होना मानोगे तब तो वे धर्म अवश्य कर्म होने चाहिए और उन धर्मोंका प्रत्यक्ष करनेवाला कर्ता भी न्यारा होना चाहिए। तथा यदि उन न्यारे अनेक कर्तृत्व, कर्मत्व धर्मोंका भी प्रत्यक्ष होना स्वीकार करोगे तो फिर उन धर्मोंमें भी न्यारे न्यारे कर्मपन और कर्तापन धर्म अवश्य स्वीकार करने पड़ेंगे, उन कर्मत्व और कर्तृत्व धर्मोंका भी प्रत्यक्ष होना मानोगे। क्योंकि वे जैन मतानुसार आत्मासे अभिन्न हैं तो उनके लिये भी तीसरे चौथे न्यारे कर्मत्व कर्तृत्व धर्म अवश्य ही होंगे। इस प्रकार ऊंट की पूंछमें ऊंटके समान अनवस्था हो जावेगी। दूर जाकर भी कहीं ठहरना नहीं हो सकेगा।

तदनेकं रूपमप्रत्यक्षं चेत्, कथमात्मा प्रत्यक्षो नाम ? पुमान् प्रत्यक्षस्तत्स्वरूपं न प्रत्यक्षमिति कः श्रद्दधीत ?

यदि जैनजन उन अनेक धर्मोंका नहीं प्रत्यक्ष होना मानेंगे तो उन धर्मोंसे अभिन्न आत्माका कैसे प्रत्यक्ष हो सकेगा? आत्माका प्रत्यक्ष होना माना जावे और उसके तदात्मक धर्मोंका प्रत्यक्ष होना न माना जावे इस प्रकार कौन परीक्षक श्रद्धान कर सकता है? भावार्थ—ऐसी बातोंका कोरे भक्तजन भले ही श्रद्धान कर लेवें, मीमांसा करनेवाले परीक्षक श्रद्धा नहीं करेंगे। अर्धजरतीय दोषका प्रसङ्ग आ जावेगा।

यदि पुनरन्यः कर्ता स्यात्तदा स प्रत्यक्षोऽप्रत्यक्षो वा ? प्रत्यक्षश्चेत् कर्मत्वेन प्रतीयमानोऽसाविति न कर्ता स्याद्विरोधात् कथमन्यथैकरूपतात्मनः सिद्ध्येत् ? नानारूपत्वादात्मनो न दोष इति चेन्न, अनवस्थानुषङ्गात्, इत्यादि पुनरावर्तत इति महच्चक्रकम्।

जैन लोग फिर दूसरे पक्षके अनुसार यदि उस आत्माको जाननेके लिये अन्य आत्माको कर्ता मानेंगे तो बताओ! वह दूसरा आत्मा प्रत्यक्ष है अथवा अप्रत्यक्ष? अर्थात् उस आत्माका प्रत्यक्ष होना है या नहीं। यदि दूसरे आत्माका प्रत्यक्ष होना मानोगे तब तो वह कर्मपनेसे जाना जा रहा है। इस कारण कर्ता न हो सकेगा। क्योंकि एक वस्तुमें कर्तापन और कर्मपनका विरोध है। अन्यथा यानी यदि विरोध न मानोगे तो आत्माका एकरूपपना कैसे सिद्ध हो सकेगा? बताओ।

यदि जैन लोग यह कहें कि आत्मा अनेक धर्मस्वरूप है अतः कर्तापन और कर्मपन दोनों एक आत्मामें रह सकते हैं कोई दोष नहीं आता है। मीमांसक कहते हैं कि यह कहना भी ठीक

नहीं है। क्योंकि अनवस्था दोष आजावेगा। अर्थात् किसी स्वभावसे कर्तापन और अन्य स्वभावसे कर्मपना माननेपर और पुनः उनके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष आदिका प्रश्न उठाते उठाते उन्हीं चोद्योंकी फिर भी बार बार आवृत्ति होगी। इस प्रकार जैनियोंके ऊपर बडा भारी अनवस्थागर्भित चक्रक-दोष हो जानेका प्रसङ्ग आवेगा। तीन चार उत्तर प्रश्नोंके घुमाते रहनेसे चक्रक दोष लगता है और इनकी आकांक्षा बढती जानेसे अनवस्था चालू रहती है॥

तस्याप्रत्यक्षत्वे स एवास्माकमात्मेति सिद्धोऽप्रत्यक्षः पुरुषः। परोक्षोऽस्तु पुमानिति चेन्न, तस्य कर्तृरूपतया स्वयं संवेद्यमानत्वात्। सर्वथा साक्षादप्रतिभासमानो हि परोक्षः परलोकादिवन्न पुनः केनचिद्रूपेण साक्षात्प्रतिभासमान इत्यपरोक्ष एव आत्मा व्यवस्थितिमनुभवति इति केचित्।

इस द्वितीयपक्षके अनुसार अभीतक मीमांसक ही कहे जाते हैं कि उक्त दोषोंको दूर करनेके लिये जैनलोग यदि उस आत्माका प्रत्यक्ष होना नहीं मानेंगे, तब तो वही हम मीमांसक लोगोंका माना हुआ भी आत्मा है। इस प्रकार मीमांसकोंके अनुसार अप्रत्यक्ष आत्मा सिद्ध हुआ।

यदि कोई आत्माको सर्वथा परोक्ष होना ही स्वीकार करे यों तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस आत्माका कर्तापन धर्मसे स्वयं अपनेमें प्रत्यक्षरूप संवेदन किया जा रहा है। जो वस्तु सभी प्रकारोंसे साक्षात् प्रत्यक्षस्वरूप प्रतिभासित नहीं होती है, वह परोक्ष मानी जाती है। जैसे कि आकाश, परमाणु, परलोक, पुण्य, पाप आदि हैं। इनकी ज्ञप्ति अपौरुषेय वेदसे हो सकती है, किंतु जो फिर किसी भी एक अंशसे प्रत्यक्षरूप जानी जा रही है, वह सर्वथा परोक्ष नहीं हो सकती है। आत्माका कर्तारूपसे प्रत्यक्ष हो रहा है, इस कारण परोक्षपनेसे रहित ही आत्मा कथञ्चित् प्रत्यक्ष रूप व्यवस्थित होनेका अनुभव करता है। इस प्रकार बडी देरसे कोई एक मीमांसक अपने मतकी पुष्टि कर रहे हैं। यह मीमांसक आत्माका कर्तारूपसे प्रत्यक्ष होना इष्ट करते हैं॥

तेषामप्यात्मकर्तृत्वपरिच्छेद्यत्वसम्भवे।
कथं तदात्मकस्यास्य परिच्छेद्यत्वनिह्नवः॥ २१५॥

अब ग्रंथकार कहते हैं कि उन मीमांसकोंके मतमें भी आत्माके कर्तापनेका जब परिच्छेद्यपना (जाना गयापन) सम्भव हो रहा है, ऐसी दशामें उस कर्तापनेसे अभिन्न हो रहे इस आत्माको परिच्छित्तिके कर्म बननेका कैसे छिपाना हो सकता है? भावार्थ—मीमांसक आत्माको ज्ञप्तिका कर्म नहीं बनने देते हैं किंतु जब उन्होंने आत्माकी कर्तृता ज्ञेय मानी है तो कर्तृतासे अभिन्न मानी गयी आत्माको भी ज्ञप्तिका कर्म मानना आवश्यक हुआ।

कर्तृत्वेनात्मनः संवेदने तत्कर्तृत्वं तावत्परिच्छेद्यमिष्टमन्यथा तद्विशिष्टतयास्य संवेदनविरोधात्, तत्सम्भवे कथं तदात्मकस्यात्मनः प्रत्यक्षत्वनिह्नवो युक्तः।

है, जिसके कि छिपानेपर हमको प्रतीतियोंसे विरोध होवे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तो हम स्याद्वादी पूंछते हैं कि इस अवसरमें आप कर्तृताकी परिच्छित्ति कैसे करेंगे ? बताओ, जिस कर्तृत्वको आप सर्वथा कर्म नहीं बनने देते हैं, आत्माके उस कर्तृत्वधर्मकी प्रतीति कैसे भी न हो सकेगी।

तस्य कर्तृतयैवेति चेत्, तर्हि कर्तृता कर्ता न पुनरात्मा, तस्यास्ततो भेदात्। न ह्यन्यस्यां कर्तृतायां परिच्छिन्नायामन्यः कर्ता व्यवतिष्ठतेऽतिप्रसङ्गात्।

आत्मा कर्मस्वरूप नहीं है किन्तु कर्ता है। अतः उस आत्माकी कर्तृत्वपनेसे जो प्रतीति है, वही कर्तृत्वकी परिच्छित्ति है। आप प्राभाकर यदि ऐसा कहोगे तब तो कर्तृत्वधर्म ही कर्ता बन बैठा, फिर आत्मा तो कर्ता नहीं हुआ। क्योंकि उस कर्तृत्वधर्मसे वह आत्मा भिन्न पड़ा है। कर्तापनसे कर्तृत्वधर्म जाना जावे और तैसा हो चुकनेपर उससे सर्वथा भिन्न माना गया आत्मा कर्ता हो जावे यह बात व्यवस्थित नहीं हो सकती है। अति प्रसङ्ग हो जावेगा। अर्थात् यों तो चाहे जो कोई किसीका कर्ता बन जावेगा। कार्यको कोई अन्य पुरुष करे और परितोष लेनेके लिये उनसे भिन्न मनुष्य हाथ पसार देवें ऐसी अव्यवस्था हो जावेगी।

नन्वात्मा धर्मी कर्ता कर्तृतास्य धर्मः कथञ्चित्तदात्मा,तत्रात्मा कर्ता प्रतीयत इति स एवार्थः सिद्धो धर्मिधर्माभिधायिनोः शब्दयोरेव भेदात्ततः कर्तृता स्वरूपेण प्रतिभाति न पुनरन्यया कर्तृतया, यतः सा कर्त्री स्यात्। कर्ता चात्मा स्वरूपेण चकास्ति नापरास्य कर्तृता यस्याः प्रत्यक्षत्वे पुंसोऽपि प्रत्यक्षप्रसङ्ग इति चेत्। तर्ह्यात्मा तद्धर्मो वा प्रत्यक्षः स्वरूपेण साक्षात्प्रतिभासमानत्वान्नीलादिवत्। नीलादिर्वा न प्रत्यक्षस्तत एवात्मवत्।

सशङ्क स्वपक्षका अवधारण करते हुये मीमांसक कहते हैं कि कर्तृत्वधर्मसे सहित हो रहा धर्मी आत्मा कर्ता है और आत्मासे कथञ्चित् तादात्म्यसंबंध रखता हुआ कर्तृत्व इस आत्माका धर्म है। वहां आत्मा कर्ता प्रतीत होरहा है इस प्रकारकी प्रतीतिका विषयभूत अर्थ वह आत्मा ही सिद्ध हुआ। केवल धर्मी और धर्मके कहनेवाले आत्मा और कर्तृत्वशब्दोंमें ही भेद है। अर्थमें कोई भेद नहीं है। तिस कारण आत्मरूपसे ही कर्तृता प्रतीत हो रही है किंतु फिर जैनोंके पूर्व कटाक्षके अनुसार आत्मासे भिन्न कही गयी कर्तृता करके वह नहीं जानी जा रही है। जिससे कि वह कर्तृता ही ज्ञप्तिकी कर्त्री बन बैठती। तथा कर्ता आत्मा भी अपने रूपसे ही प्रकाशित हो रहा है। इस आत्माकी कर्तृता भी आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है, जिसके कि प्रत्यक्ष हो जाने पर आत्माको भी प्रत्यक्षपनेका प्रसंग हो जाता। आचार्य कहते हैं कि यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तब तो आत्मा अथवा उसका धर्म कर्तृत्व इन दोनोंका प्रत्यक्ष हो जावेगा। क्योंकि अपने रूपसे स्पष्ट होकर उनका प्रतिभासन होरहा है, जैसे कि नील, घट, पट आदिका प्रत्यक्ष हो रहा है। अथवा यदि अपने

रूपसे प्रतिभास होनेवालोंका भी प्रत्यक्ष न मानोगे तो तिस ही कारण आत्माके समान नील कम्बल, घट, पट आदिका भी प्रत्यक्ष होना मत मानो। न्याय्य मार्ग समान होना चाहिये।

नीलादिः प्रत्यक्षः साक्षात् क्रियमाणत्वादिति चेत्, तत एवात्मा प्रत्यक्षोऽस्तु।

नील, घट, पट, आदि बहिरङ्ग पदार्थ तो प्रत्यक्षके विषय हैं क्योंकि उनका विशदरूपसे प्रतिभासन किया जारहा है। यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तो तिस ही कारण आत्माका भी प्रत्यक्ष होना मान लो। क्योंकि आत्माका भी विशदरूपसे प्रतिभास किया जा रहा ही है।

कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वान्न प्रत्यक्ष इति चेत् व्याहतमेतत्, साक्षात्प्रतीयमानत्वं हि विषयीक्रियमाणत्वम्, विषयत्वमेव च कर्मत्वम्, तच्चात्मन्यस्ति कथमन्यथा प्रतीयमानतास्य स्यात्।

प्रति उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे कर्ममें यक् विकरण कर कृदन्तमें शानच् प्रत्यय करके प्रतीयमान शब्द प्रगट होता है। प्रतीति क्रियाके घट, पट, आदिक कर्म हैं। अतः प्रतीयमान होनेके कारण वे प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकरणमें विषयिज्ञानका प्रत्यक्षत्व धर्म इन घट पट आदि विषयोंमें उपचारसे आरोपित कर दिया गया है। प्रतिवादी कहता है कि कर्मपनेसे आत्मा कभी प्रतीत नहीं होता है इस कारण प्रत्यक्ष नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तो ऐसा कहनेमें व्याघातदोष आता है। जैसे कोई पुरुष अपनेको वन्ध्याका पुत्र कहे या चिल्लानेवाला अपनेको मौनव्रती कहे। उसीके सदृश यहां वदतो व्याघात दोष हैं। पहिले मीमांसकोंने कहा था कि आत्मा कर्तारूपसे प्रतीत हो रहा है इस ही से आत्मा प्रतीतिका कर्म बन जाता है। फिर वे कर्मपनेका निषेध कैसे कर सकते हैं ? जो प्रत्यक्षसे प्रतीयमान है, वह प्रत्यक्ष प्रमाणसे अवश्य विषय किया जा रहा है। ज्ञप्तिका विषयपन ही कर्मपना है और वह आत्मामें विद्यमान है। यदि यह बात न मानकर अन्य प्रकार मानी जावेगी तो इस आत्माका प्रतीतिद्वारा विषय करना भला कैसे हो सकेगा ? आप मीमांसक स्वयं सोचो तो सही।

नात्मा प्रतीयते स्वयं किंतु प्रत्येति सर्वदा न ततो प्रतीयमानत्वाच्चस्य कर्मत्वसिद्धिरसिद्धता साधनस्येति चेत्, सर्वथाऽप्रतीयमानत्वमसिद्धं कथञ्चिद्वा ? न तावत्सर्वथा, परेणापि प्रतीयमानत्वाभावप्रसंगात्। कथञ्चित्पक्षे तु नासिद्धं साधनम्, तथैवोपन्यासात्।

मीमांसक कहते हैं कि आत्मा प्रतीत नहीं होता है किंतु सर्वदा प्रतीतिको करता है, यों कर्ता है, उस कारणसे प्रतीतिका कर्म बनाकर कह देनेसे आत्माको कर्मपनेकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः जैनोंका प्रतीयमानत्व हेतु असिद्ध हो गया यानी आत्मारूपी पक्षमें नहीं रहा। आचार्य कहते हैं कि यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तो हम पूंछते हैं कि आत्माको सर्वथा किसी भी प्रकारसे प्रतीय-

मान नहीं मानते हुये असिद्ध कह रहे हो ? या कथञ्चित् प्रतीयमान नहीं मानते हो ? बताओ, यदि पहिला पक्ष लोगे यानी सर्व प्रकारसे आत्माकी प्रतीति नहीं होती है तब तो दूसरोंके द्वारा अनुमान, आगम प्रमाणोंसे भी आत्माकी प्रतीति न हो सकेगी । आत्माको ज्ञान केनेके अभावका प्रसङ्ग आवेगा । यदि दूसरा पक्ष लोगे तो यानी कथञ्चित् आत्माकी प्रतीति नहीं होती है अर्थात् किसी अपेक्षासे आत्माकी प्रतीति हो रही है । तब तो हमारा हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि हमने भी आत्माको उस ही प्रकार कथञ्चित् प्रत्यक्ष होनेका ही प्रकरण डाला है । आत्माकी अनेक अर्थपर्यायोंका तो सर्वज्ञके सिवाय किसीको ज्ञान होता ही नहीं है । अतः अनेक अंशोंमें आत्मा छद्मस्थोंके द्वारा अप्रत्यक्ष है ।

स्वतः प्रतीयमानत्वमसिद्धमिति चेत्, परतः कथं तत्सिद्धम् ? विरोधाभावादिति चेत्, स्वतस्तत्सिद्धौ को विरोधः ? कर्तृत्वकर्मत्वयोः सहानवस्थानमिति चेत्, परतस्तत्सिद्धौ समानम् ।

आप मीमांसक आत्माको अपने आपसे प्रतीत हो जानेका कर्मपना असिद्ध है । यदि ऐसा कहोगे तब तो हम पूंछते हैं कि दूसरोंके द्वारा प्रतीत होनेका वह कर्म बन जाना कैसे सिद्ध है ? बतलाइये ।

यदि आप कहें कि दूसरेके द्वारा प्रतीत होनेमें और कर्म बननेमें कोई विरोध नहीं है । इस कारण आत्मा दूसरोंके ज्ञानका विषयभूत कर्म बन सकता है । ऐसा कहनेपर हम जैन कहते हैं कि स्वतः अपने आप उस आत्माके कर्म सिद्ध हो जानेमें कौनसा विरोध आता है ? बताओ । कर्तापन और कर्मपन साथ रहकर एक जगह नहीं ठहर सकते हैं, इस प्रकार सहानवस्था नामका विरोध है, यदि ऐसा कहोगे तो दूसरोंके द्वारा आत्माके जाननेकी सिद्धि होनेपर भी वैसा ही सहानवस्थान दोष समान रूपसे लगता है । जैसे कि एक पुद्गलमें उष्णस्पर्श और शीतस्पर्शका एक समयमें रहना विरुद्ध है । किसी देवदत्त जिनदत्तकी अपेक्षासे ये दोनों अविरुद्ध नहीं होसकते हैं । वैसे ही यदि दूसरे मनुष्योंके द्वारा जाननेपर आत्मा कर्म न बन सकेगा, तब तो दूसरे जीवोंसे अनुमान, आगम, प्रमाणोंके द्वारा भी आत्मा क्यों जाना जावेगा ? आत्मा अप्रमेय तो नहीं है ।

यदैव स्वपर्ययं प्रत्येति तदैव परेणानुमानादिनात्मा प्रतीयत इति प्रतीतिसिद्धत्वान्न सहानवस्थानविरोधः स्वयं कर्तृत्वस्य परकर्मत्वेनेति चेत्, तर्हि स्वयं कर्तृत्वकर्मत्वयोरप्यात्मानमहं जानामीत्यत्र सहप्रतीतिसिद्धत्वाद्विरोधो माभूत् । न चात्मनि कर्मप्रतीतिरुपचरिता, कर्तृत्वप्रतीतेरप्युपचरितत्वप्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुं दहत्यग्निरिन्धनमित्यत्र क्रियायाः कर्तृसमवायदर्शनात्, जानात्यात्मार्थमित्यत्रापि जानातीति क्रियायाः कर्तृसमवायोपचारः ।

जिस ही समय आत्मा अपने आप घट, पट आदि अर्थोंको जान रहा है उसी समय दूसरे पुरुषोंसे अनुमान, अर्थापत्ति और आगमप्रमाणद्वारा जाना जा रहा है । यह प्रतीतियोंसे प्रसिद्ध है । इस कारण स्वयं कर्ता भी आत्माका दूसरोंके ज्ञानका कर्म हो जानेसे सहानवस्थान-नामका विरोध नहीं है । जो देवदत्त घट, पट आदिकके जाननेका स्वयं कर्ता है वही जिनदत्त, इन्द्रदत्तके अनुमान, अर्थापत्तिरूप ज्ञानोंका जानने योग्य कर्म भी है । यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तब तो स्वयं अपने जाननेका कर्ता और कर्म होनेमें भी आत्माका कोई विरोध नहीं होवे । क्योंकि मैं देवदत्त अपनी आत्माको स्वयं जान रहा हूं, मैं जीवित हूं, मैं स्वस्थ हूं, मैं विचारशाली हूं, इत्यादि प्रतीतियोंमें आत्मा स्वयं कर्ता और कर्म रूपसे साथ साथ सिद्ध हो रहा है । आप मीमांसक यों न कहना कि आत्मामें कर्मपनेकी प्रतीति होना व्यवहारसे आरोपित है, वास्तविक नहीं । ऐसा कहनेपर तो आत्मामें कर्तापनकी प्रतीतिका भी आरोपितपना होनेका प्रसंग आता है । हम भी यों कह सकते हैं कि इंधनको अग्नि जला रही है । प्रतीतिमें दाहक्रियाका अग्निरूप-कर्तामें समवाय सम्बन्ध देखा जा रहा है । उसके अनुसार अर्थको आत्मा जान रहा है । यहां भी जानना रूप क्रियाका आत्मा-कर्तामें समवायसम्बन्धसे आरोप कर लिया जाता है । क्योंकि स्वात्मामें क्रियाका ठीक ठीक रहना तो नहीं सम्भव है । अतः कर्तापनका उपचार मान लिया गया है ।

परमार्थतस्तु तस्य कर्तृत्वे कर्म स एव वा स्यादन्यो वार्थः स्यात् ? स एव चेद्विरोधः कथमन्यथैकरूपतात्मनः ? नानारूपत्वात्तस्यादोष इति चेन्न, अनवस्थानात् ।

यदि मीमांसक वास्तविक रूपसे उस आत्माको कर्ता मानेंगे तो हम पूंछते हैं कि वे किसको कर्म कहेंगे । क्या वह आत्मा ही जाननेका कर्म है अथवा क्या अन्य कोई पदार्थ कर्म होगा ? बताओ । यदि उस आत्माको ही कर्म कहोगे तब तो विरोध है । कर्तापन और कर्मपन ये दोनों धर्म आपके सिद्धान्तानुसार एक आत्मामें एक ही समय ठहर नहीं सकते हैं अन्यथा यानी इस ढंगसे अन्य प्रकार अनुसार यदि दोनों धर्मोंका एक आत्मामें ठहरना मानोगे तो आपके माने गये आत्माका एक ही धर्मसे सहितपना कैसे बनेगा ? कहिये ।

यदि मीमांसक यों कहें कि हम उस आत्माके एक समयमें अनेक धर्म मान लेवेंगे । अतः कोई दोष नहीं है । सिद्धांती कहते हैं कि सो तो आप नहीं मान सकते हैं क्योंकि आपके ऊपर अनवस्था दोष आता है । जब आत्मा अपनेको जानेगा, तब अपने कर्तापन और कर्मपन धर्मको अवश्य जानेगा । उन धर्मोंके भी तीसरे कर्तापन धर्मको जानेगा । तब तीनों कर्म हो जावेंगे । यहां भी कर्तापन और कर्मपनका प्रश्न उठाया जावेगा । अतः आत्मासे अभिन्न अनेक धर्मोंकी दृष्टि बढ जानेके कारण अनवस्था हो जावेगी । इस तरहसे आपके पदार्थकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी ।

यदि पुनरन्योऽर्थः कर्म स्यात्तदा प्रतिभासमानोऽप्रतिभासमानो वा ? प्रतिभासमानश्चेत् कर्ता स्यात्ततोऽन्यत्कर्म वाच्यम्, तस्यापि प्रतिभासमानत्वे कर्तृत्वादन्यत्कर्मेत्यनवस्थानान्न क्वचित्कर्मत्वव्यवस्था ।

यदि फिर आप मीमांसक दूसरा पक्ष ग्रहण करोगे ? यानी अन्य पदार्थ कर्म है, तब तो हम पूंछते हैं कि प्रतिभास करनेवाले पदार्थको कर्म कहोगे ? या नहीं जाननेवाले पदार्थको कर्म कहदोगे ? बतलाइये। यदि प्रतिभास करनेवालेको कर्म कहोगे, तब वह कर्ता भी होगा ? कर्तामें शानच् प्रत्यय किया गया है। तब तो उससे न्यारा कर्म दूसरा कहना पडेगा। क्योंकि आपके मतमें कर्ता और कर्म एक पदार्थ माने नहीं गये हैं और फिर उस दूसरे भिन्न कर्मको भी प्रतिभास करने वाला मानोगे तो वह फिर कर्ता बन बैठेगा। तथा च उससे भी न्यारा कर्म तीसरा ही मानना पडेगा। वह तीसरा भी कर्म प्रतिभासमान माना जावेगा तो चौथे भिन्न कर्मकी आवश्यकता होगी। इस तरह अनवस्था हो जावेगी। कहीं भी ठीक ठीक कर्मपनेकी व्यवस्था न हो सकेगी।

यदि पुनरप्रतिभासमानोऽर्थः कर्मोच्यते तदा खरशृंगादेरपि कर्मत्वापत्तिरिति न किञ्चित्कर्म स्यादात्मवदर्थस्यापि प्रतिभासमानस्य कर्तृत्वसिद्धेः ।

दूसरे विकल्पके दूसरे विकल्पके अनुसार फिर यदि आप नहीं प्रतिभास होरहे अर्थको कर्म कहोगे, तब तो गधेके सींग, बन्ध्यापुत्र आदि असत्पदार्थोंको भी कर्मपनकी आपत्ति हो जावेगी। इस प्रकार कोई भी पदार्थ कर्म नहीं बन पायेगा। क्योंकि आत्माके समान अर्थ भी प्रतिभास रहे हैं। अतः अर्थोंको भी कर्तापन सिद्ध हो जावेगा। कर्मपना नहीं आ सकेगा।

यदि पुनरर्थः प्रतिभासजनकत्वादुपचारेण प्रतिभासत इति न वस्तुतः कर्ता तदात्मापि स्वप्रतिभासजनकत्वादुपचारेण कर्ताऽस्तु विशेषाभावात् ।

फिर यदि मीमांसक यों कहेंगे कि प्रतिभासक्रियाका कर्ता मुख्यरूपसे आत्मा ही है। प्रतिभासका जनक हो जानेके कारण उपचारसे अर्थप्रतिभासक्रियाका कर्ता आरोपित कर दिया जाता है। वास्तवमें अर्थ कर्ता नहीं है। तब तो हम जैन भी कह सकते हैं कि अपने प्रतिभासका जनक होनेसे आत्मा भी उपचारसे ही कर्ता होओ, परमार्थसे नहीं। जैसे प्रतिभासका जनक आत्मा है, वैसे ही प्रतिभासका जनक अर्थ भी है, कोई अन्तर नहीं है, तो फिर आत्माको ही कर्ता बनानेका पक्षपात क्यों किया जावे ?

स्वप्रतिभासं जनयन्नात्मा कथमकर्तेति चेदर्थः कथम् ? जडत्वादिति चेत्तत एव स्वप्रतिभासं माजीजनत् । कारणान्तराज्जाते प्रतिभासेऽर्थः प्रतिभासते न तु स्वयं प्रतिभासं जनयतीति चेत्, समानमात्मनि । सोऽपि हि स्वावरणविच्छेदाज्जाते प्रतिभासे विभासते न तन्निरपेक्षः स्वप्रतिभासं जनयतीति ।

अपने प्रतिभासको ठीक तरहसे उत्पन्न करता हुआ आत्मा भला अकर्ता कैसे हो सकता है ? ऐसा मीमांसकोंके कहनेपर हम जैन पूंछते हैं क्यों जी ? अपने प्रतिभासको पैदा करता हुआ अर्थ भी अकर्ता कैसे हो सकता है ? बताओ। यदि तुम यों कहोगे कि अर्थ जड है अतः ज्ञप्तिरूप प्रतिभासका वह जनक नहीं है। इस प्रकार बतानेपर तो हम कहते हैं कि उस ही कारणसे वह अर्थ अपने प्रतिभासको नहीं उत्पन्न करे अर्थात् प्रतिभासका वह अर्थ कारण भी न बन सकेगा क्योंकि वह जड है। यदि फिर आप यह कहोगे कि दूसरे इंद्रिय, पुण्य, पाप, आदि अन्य कारणोंसे प्रतिभासके उत्पन्न हो जाने पर अर्थप्रतिभासता है किंतु वह स्वयं अपने प्रतिभासको उत्पन्न नहीं कराता है। ऐसा कहनेपर तो आत्मामें भी वही बात समानरूपसे लागू हो जाती है कि वह आत्मा भी अपने ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे प्रतिभासके उत्पन्न हो जाने पर स्वयं प्रकाशित हो जाता है। उन क्षयोपशम, मन आदि कारणोंकी नहीं अपेक्षा कर अपने प्रतिभासको नहीं उत्पन्न कराता है। यहां तक परपक्षनिराकरण-पूर्वक अपना सिद्धांत पुष्ट कर दिया है ॥

तदेवमात्मनः कर्तृत्वकर्मत्वापलापवादिनौ नान्योन्यमतिशय्येते ।

इस कारण अबतक विनिगमनाविरहसे यह जाना गया कि इस प्रकार आत्माके कर्तृत्वका और आत्माके कर्मत्वका अपलाप करनेवाले दोनों वादी परस्परमें एक दूसरेसे कोई अधिक नहीं है। चमत्कारी आत्माके कर्तृत्व और कर्मत्वको न माननेवाले बौद्ध और मीमांसकोंमें एक भी रत्ती नहीं चढती है। दोनों ही लोकप्रसिद्ध आत्माके कर्तृत्व और कर्मत्वको सिद्ध करनेवाली प्रतीतिओंका तिरस्कार कर रहे हैं।

ये तु प्रतीत्यनुसरणेनात्मनः स्वसंविदितात्मत्वमाहुस्ते करणज्ञानात्फलज्ञानाच्च भिन्नस्याभिन्नस्य वा भिन्नाभिन्नस्य वा ।

जो भेद वादी प्रतीतिके अनुसार चलनेके कारण आत्माको स्वके द्वारा विदित होजानारूप स्वसंविदित कहते हैं, उनसे तो हम जैन पूंछते हैं कि वे प्रमाणात्मक करणज्ञानसे और ज्ञप्तिस्वरूप फलज्ञानसे भिन्न होरहे आत्माको या अभिन्न कहे गये आत्माको अथवा सर्वथा भिन्नाभिन्न माने-गये आत्माको स्वसंविदितपना कह रहे है ? स्पष्ट कर बतलावें।

भिन्नस्य करणज्ञानात्फलज्ञानाच्च देहिनः ।
स्वयं संविदितात्मत्वं कथं वा प्रतिपेदिरे ॥ २१९ ॥

तीन पक्षोंमेंसे यदि पहिला पक्ष लोगे तो करणज्ञान और फलज्ञानसे सर्वथा भिन्न कह दिये गये आत्माका अपने ही द्वारा संविदित स्वरूपपना वे कैसे समझ सकते हैं ? कहो, जो आत्मा ज्ञानोंसे

सर्वथा भिन्न है वह अपना स्वयं वेदन कैसे कर सकता है? कोई युक्ति नहीं है। सूर्यको प्रकाशसे सर्वथा भिन्न माननेपर सूर्यका अपनेको प्रकाश करना कैसे भी नहीं बन सकता है।

यद्धि सर्वथा सर्वसाद्वेदनाद्भिन्नं तन्न स्वसंविदितं यथा व्योम तथात्मतत्त्वं श्रोत्रियाणामिति कथं तत्तस्येति संप्रतिपन्नाः।

ऐसा नियम है कि जो वस्तु सम्पूर्ण ज्ञानोंसे सर्वथा भिन्न है वह स्वसंवेदी नहीं हो सकती है, जैसे कि आकाश। इसी प्रकार प्राभाकर, मीमांसकोंने आत्मतत्त्वको ज्ञानसे भिन्न मान रखा है। ऐसी दशामें भला यों उस आत्माके उस स्वसंविदितपनेको भी वे कैसे समझ सकते हैं? अर्थात् कैसे भी नहीं। काजलको कालापनसे यदि भिन्न मान लिया जावे तो काजल काला नहीं जाना जा सकता है।

यदि हेतुफलज्ञानादभेदस्तस्य कीर्त्यते।
परोक्षेतररूपत्वं तदा केन निषिध्यते ॥ २२० ॥
परोक्षात् करणज्ञानादभिन्नस्य परोक्षता।
प्रत्यक्षाच्च फलज्ञानात्प्रत्यक्षत्वं हि युज्यते ॥ २२१ ॥

यदि प्रमाणरूप करणज्ञान और ज्ञप्तिरूप फलज्ञानसे आत्माका अभेद कहोगे तो आत्माको परोक्षपना और प्रत्यक्षपना किसके द्वारा रोका जावेगा? अर्थात् कोई निषेध नहीं कर सकता है। मीमांसकोंने प्रमाणात्मक करणज्ञानको परोक्ष माना है और ज्ञप्तिस्वरूप फलज्ञानको प्रत्यक्ष माना है। तथा च परोक्ष प्रमाणज्ञानसे अभिन्न माने गये आत्माको परोक्षपन हो गया और प्रत्यक्ष कहे गये फलज्ञानसे अभिन्न आत्माको नियमतः प्रत्यक्षपना भी युक्तियों करके ठीक प्राप्त हो गया।

परोक्षात् करणज्ञानात् फलज्ञानाच्च प्रत्यक्षादभिन्नस्यात्मनो न परोक्षता, अहमिति कर्तृतया संवेदनान्नापि प्रत्यक्षता, कर्मतया प्रतिभासाभावादिति न मन्तव्यम्, दत्तोत्तरत्वात्।

परोक्ष करणज्ञानसे और प्रत्यक्ष फलज्ञानसे तादात्म्य सम्बंध रखते हुए आत्माको सर्व प्रकारसे परोक्षपना नहीं आता है प्रभाकर ऐसा विश्वास रक्खें। तथा मैं जानता हूं, मैं देखता हूं, इस प्रकार कर्तारूपसे आत्माका प्रत्यक्ष संवेदन भी हो रहा है। अथवा मीमांसक यों कहें कि परोक्ष करणज्ञानसे और प्रत्यक्ष फलज्ञानसे अभिन्न हो रहे आत्माका भले ही परोक्षपना न होवे, क्योंकि मैं हूं ऐसा कर्तास्वरूपसे संवेदन हो रहा है किंतु एतावता आत्मा प्रत्यक्ष भी तो सिद्ध नहीं हो पाता है। क्योंकि आत्माका कर्मरूपसे ग्रंथकार कहते हैं कि प्रतिभास नहीं होता है। यह मीमांसकोंको नहीं मानना चाहिये। क्योंकि इसका उत्तर हम पहिले दे चुके हैं। आत्मा अपनेको जाननेमें कर्म होकर किसी अंशसे प्रत्यक्षका विषय हो जाता है।

तथैवोभयरूपत्वे तस्यैतद्दोषदुष्टता ।
स्याद्वादाश्रयणं चास्तु कथञ्चिदविरोधतः ॥ २२२ ॥

इस ही प्रकार तृतीयपक्षके अनुसार उस आत्माको करणज्ञान और फलज्ञानसे सर्व प्रकार करके भेद और अभेद यों उभयरूप माना जावेगा । ऐसी दशामें तो एकांतरूपसे भेद या अभेद पक्षके सदृश इनके उभयपक्षमें भी इन्हीं दोषोंसे दूषित होनेका प्रसंग है । इस दोषके निवारणार्थ यदि सर्वथा उभय पक्ष न मानकर कथञ्चित् भेद अभेदको स्वीकार करोगे, तब तो स्याद्वाद सिद्धांतका ही सहारा ले लिया समझो । क्योंकि प्रमाणज्ञान और प्रमितिरूप ज्ञानसे आत्माका कथञ्चित् भेद और किसी अपेक्षासे अभेदको अवलम्ब करनेपर कोई विरोध नहीं है ।

सर्वथा भिन्नाभिन्नात्मकत्वे करणफलज्ञानादात्मनस्तदुभयपक्षोक्तदोषदुष्टता, कथञ्चिद्भिन्नात्मकत्वे स्याद्वादाश्रयणमेवास्तु विरोधाभावात् ।

करणरूप प्रमाणज्ञान और फलस्वरूप प्रमितिज्ञानसे आत्माको सर्वथा भिन्न या अभिन्नस्वरूप माना जावेगा तब तो पूर्वमें भेद और सर्वथा अभेदके एकांत पक्षोंमें कहे गये उन दोषोंसे दूषित होना पडेगा । प्रत्येक एकान्तमें जो जो दोष आते हैं, उन दोनों एकांतोंके मिलनेपर भी उभय पक्षमें वे सभी दोष आ जाते हैं । हां, कथञ्चित् भिन्न और अभिन्न स्वरूप माननेपर तो अनेकांत मतका आश्रय करना ही हुआ। क्योंकि उन दोनों एकांतोंसे कथञ्चित् भेद या अभेद निराली तीसरी ही अवस्था है । अतः उन दोनों एकान्तोंके दोष कथञ्चित् पक्षमें लागू नहीं होते हैं । दो है अवयव जिसके उसको उभय कहते हैं । उभ शब्दका अर्थ दो है और उभय शब्दका अर्थ दोका मिलकर बना हुआ एक न्यारा पदार्थ है । तभी तो व्याकरणमें उभ शब्दको द्विवचनान्त माना है । और उभय शब्दको एकवचन स्वीकार किया है । कहीं कहीं उभय शब्दका बहुवचन भी इष्ट किया है । परस्परमें सर्वथा विरुद्ध ऐसे दो पदार्थोंका एकीभावरूप मिश्रण नहीं हो सकता है । दूध या पानी तथा दूध और बूरेका एकीकरण हो जाता है । दूध और पारेका मिश्रण नहीं होता है । अतः सर्वथा भेद अभेदका भी उभय बनना शब्दशास्त्र और अर्थशास्त्रसे अनुचित है किन्तु कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेदका विरोध न होनेके कारण संकलन हो जाता है । अतः प्रमाणदृष्टिसे आत्माके साथ करणज्ञान और फलज्ञानका कथञ्चित् भेद और अभेद मानना न्याय्य है । एक देवदत्तमें पितापन, पुत्रपन, माननापन, मायापन, आदि धर्मोंके समान अपेक्षाभेदसे भेद और अभेदमें कोई विरोध नहीं आता है ।

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणायाः शक्तेः करणज्ञानरूपायाः द्रव्यार्थाश्रयणादभिन्नस्यात्मनः परोक्षत्वम्, स्वार्थव्यवसायात्मकाच्च फलज्ञानादभिन्नस्य प्रत्यक्षत्वमिति स्याद्वादा-

श्रयणे न किंचिद्विरोधमुत्पश्यामः सर्वथैकान्ताश्रयणे विरोधात् । तस्मादात्मा स्यात्परोक्षः स्यात्प्रत्यक्षः ।

अपने नियत ज्ञानको रोकनेवाले ज्ञानावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकको उदयप्रकारका फल न देते हुये झड जानारूप क्षय तथा भविष्यमें उदय आनेवाले ज्ञानावरण कर्मोंका सत्तामें अवस्थित बने रहना स्वरूप उपशम और देशघाती प्रकृतियोंके उदय होनेपर जो आत्मामें विशुद्धि होती है, उसको लब्धि कहते हैं । लब्धिरूप शक्तिको प्राप्त करनेमें भविष्यमें आनेवाले कर्मोंके उपशमकी इसलिये आवश्यकता है कि अपकर्षण न हो सके या उदीरणाके द्वारा वे कर्म उदयावलीमें न आ जावें तथा देशघाती प्रकृतियोंके उदय बने रहनेसे चार क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें परिपूर्णता या पूरी स्पष्टता नहीं होने पाती है । सर्वघातिप्रकृतियोंका उदयाभावी क्षय तो ज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण है ही, ऐसे क्षयोपशम स्वरूप जाननेकी शक्तिको अन्तरंग करणात्मक ज्ञान कहते हैं । द्रव्यार्थिक नयका आसरा लेकर विचारा जावे तो वह लब्धि और आत्मा अभिन्न हैं । इस कारण छद्मस्थ जीवोंको लब्धिरूप करणज्ञान जब परोक्ष है तो उससे अभिन्न आत्मा भी परोक्ष सिद्ध हुआ । और अपना तथा अर्थका निश्चय करनेवाले फलज्ञानका प्रत्यक्ष होता है तो उस उपयोग स्वरूप फलज्ञानसे अभिन्न माने गये आत्माका भी प्रत्यक्षपना सिद्ध हुआ । इसपर स्याद्वाद-मतका सहारा लेनेसे तो हमको कोई भी विरोध नहीं दीख रहा है । हां, सर्वथा एकान्तका अव-लम्ब लेनेपर नैयायिक और बौद्धोंको विरोध दोष लगेगा । उस कारणसे अबतक सिद्ध हुआ कि क्षयोपशम- स्वरूप लब्धिसे अभिन्न हो रहा आत्मा कथञ्चित् परोक्ष है और उपयोगस्वरूप आत्माका प्रत्यक्ष भी होता है । यों अपेक्षासे कथञ्चित् लगा कर आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध हुआ ।

प्रभाकरस्याप्येवमविरोधः किं न स्यादिति चेत् न, करणफलज्ञानयोः परोक्षप्रत्य-क्षयोरव्यवस्थानात् । तथाहि—

प्रभाकर मीमांसक कहते हैं कि स्याद्वादियोंके समान हमारे मतमें भी आत्माके प्रत्यक्षपने और परोक्षपनेका इस प्रकार अविरोध क्यों न हो जावे ? आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि मीमांसकोंके द्वारा माने गये करणज्ञानका परोक्षपना और फलज्ञानका प्रत्यक्षपना युक्ति-योंसे व्यवस्थित नहीं हो पाता है। भावार्थ—प्राभाकरोंसे माना गया करणज्ञान परोक्ष सिद्ध नहीं है । उसका सब जीवोंको स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष हो रहा है । यद्यपि लब्धिरूप ज्ञान परोक्ष है किंतु उसको प्राभाकर इष्ट नहीं करते हैं। प्रभाकर जिस फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना मानते हैं, वह करणज्ञानसे सर्वथा सिद्ध होकर व्यवस्थित होता नहीं है । इसी बातको स्पष्टतासे दिखलाते हैं—

प्रत्यक्षेऽर्थपरिच्छेदे स्वार्थाकारावभासिनि ।
किमन्यत्करणज्ञानं निष्फलं कल्प्यतेऽमुना ॥ २२३ ॥

अपना और अर्थका उल्लेख कर प्रकाशित होनेवाले अर्थज्ञानका यदि प्रभाकर प्रत्यक्ष होना मान रहे हैं तो इस ज्ञानसे भिन्न एवं दूसरा करणज्ञान व्यर्थ ही प्रभाकरद्वारा क्यों कल्पित किया जा रहा है ? जिसकी कि कोई आवश्यकता नहीं। यह वार्तिक भट्ट और प्रभाकर दोनोंके लिये कही गयी है ॥

अर्थपरिच्छेदे पुंसि प्रत्यक्षे स्वार्थाकारव्यवसायिनि सति निष्फलं करणज्ञानमन्यच्च फलज्ञानं, तत्कृत्यस्यात्मनैव कृतत्वादिति तदकल्पनीयमेव।

जब भट्टमतानुयायी मीमांसक अर्थको जाननेवाले एवं स्वको तथा अर्थको उल्लेखसहित समझने और समझानेवाले आत्माका यदि प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हैं, तब आत्मा ही अर्थोंका परिच्छेद कर लेता है, तो ऐसी दशामें करणज्ञान और उससे भिन्न एक फलज्ञान इन दोनोंका स्वीकार करना व्यर्थ है, क्योंकि उनसे होनेवाले कार्यको आत्मा ही कर देता है। इस कारण प्रमाणज्ञान और फलज्ञानकी कल्पना ही मीमांसकोंको नहीं करनी चाहिये।

स्वार्थव्यवसायित्वमात्मनोऽसिद्धं व्यवसायात्मकत्वात्तस्येति चेत् न, स्वव्यवसायिन एवार्थव्यवसायित्वघटनात्। तथा ह्यात्मार्थव्यवसायसमर्थः सोऽर्थव्यवसाय्येवेत्यनेनापास्तम्, स्वव्यवसायित्वमन्तरेणार्थव्यवसितेरनुपपत्तेः कलशादिवत्।

मीमांसक कहते हैं कि उस आत्माका स्वरूप ही निश्चयात्मक है। अतः निश्चय कर लेनेवालापन आत्माका स्वभाव नहीं है, तभी तो वह स्वका निश्चय नहीं कर पाता है। अतः अपनेको और अर्थको निश्चय करनेवालापन आत्माके सिद्ध नहीं है जोकि जैन कह रहे हैं। आचार्य समझाते हैं कि यह उनका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अपना निश्चय करनेवाले पदार्थके ही अर्थका व्यवसायीपन घटित होता है यह स्पष्ट है। इस कथनसे किसीका यह मंतव्य भी खण्डित हो जाता है कि " आत्मा अर्थके निश्चय करनेमें समर्थ है, अतः वह अर्थको ही निश्चयकर जान सकता है स्व को नहीं " क्योंकि अपना निश्चय किये विना अर्थका निश्चय करना सिद्ध नहीं होता है। जैसे घट, पट आदिक अपनेको नहीं जानते हैं। तभी तो वे किसी अर्थका निश्चय नहीं कर सकते हैं।

सत्यपि स्वार्थव्यवसायिन्यात्मनि प्रमातरि प्रमाणेन साधकतमेन ज्ञानेन भाव्यम्। करणाभावे क्रियानुपपत्तेरिति चेत् न, इन्द्रियमनसोरेव करणत्वात्।

मीमांसक कहते हैं कि अच्छी बात है। अपनेको और अर्थको निश्चय करनेवाला प्रमाता आत्मा सिद्ध हुआ ऐसा होनेपर फिर भी ज्ञप्तिक्रियाका साधकतम यानी प्रकृष्ट उपकारक प्रमाण ज्ञान अवश्य होना चाहिये। क्योंकि करणके विना क्रिया हो नहीं सकती है। अतः हमारा करणज्ञान मानना व्यर्थ नहीं हुआ। ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञप्ति

क्रियाका आत्मा कर्ता है और चक्षुरादिक इंद्रियां तथा मन साधकतम करण विद्यमान हैं ही। मीमांसकोंका इनसे भिन्न परोक्षज्ञानको करण मानना फिर भी निष्प्रयोजन है।

तयोरचेतनत्वादुपकरणमात्रत्वात् प्रधानं चेतनं करणमिति चेत् न, भावेन्द्रियमनसोः परेषां चेतनतयावस्थितत्वात्। तदेव करणज्ञानमस्माकमिति चेत्, तत्परोक्षमिति सिद्धं साध्यते। लब्ध्युपयोगात्मकस्य भावकरणस्य छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात्, तज्जनितं तु ज्ञानं प्रमाणभूतं नाप्रत्यक्षं स्वार्थव्यवसायात्मकत्वात्, तच्च नात्मनोऽर्थान्तरमेवेति स एव स्वार्थव्यवसायी यदीष्टस्तदा व्यर्थं, ततोऽपरं करणज्ञानं फलज्ञानं च व्यर्थमनेनोक्तं तस्यापि ततोऽन्यस्यैवासम्भवात्।

मीमांसक कहते हैं कि बहिरंग इंद्रियां और मन वे तो अचेतन हैं। इस कारण करणके समीपवर्ती या सहायक उपकरण हो सकते हैं। प्रधान करण तो चेतन ज्ञान ही है। श्रीविद्यानन्द आचार्य समझाते हैं कि मीमांसकोंका यह भी कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि तुमसे भिन्न वादी जैनोंके मतमें, भावस्वरूप इंद्रिय और मनको चेतनात्मक रूपसे व्यवस्थित माना गया है। यहां मीमांसक यदि यों कहें कि वे ही लब्धिरूप इंद्रियां हमारे मतमें करणज्ञान इष्ट की गयी हैं, तब तो हम जैन कहेंगे कि उन लब्धिरूप इंद्रियोंको यदि आप परोक्ष सिद्ध करते हैं तो आपके ऊपर सिद्धसाधन दोष है। लब्धिरूप ज्ञान उपयोग तो आत्माका अंतरङ्ग अतीन्द्रिय परिणाम है। वह आत्माकी भावशक्ति ही ज्ञानका अभ्यंतर करण है। सर्वज्ञके अतिरिक्त छद्मस्थ जीवोंको उस लब्धिरूप ज्ञानशक्तिका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। लब्धिको भले ही आप मीमांसक परोक्ष मानें, हम भी मानते हैं। सिद्ध पदार्थोंको क्यों साध्य किया जाता है। ऐसी बातें सुननेके लिये किसके पास अवसर है। अतः सिद्धसाधन दोष हुआ। हां! उस लब्धिसे उत्पन्न हुआ प्रमाणभूत ज्ञान तो अप्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि उस ज्ञानका स्वरूप अपना और अर्थका निश्चय करना है और वह ज्ञान आत्मासे सर्वथा भिन्न ही होय यों भी नहीं। ऐसा होनेपर वह आत्मा ही स्व और अर्थका निश्चय करनेवाला यदि मान लिया गया तब तो उस आत्मासे भिन्न एक करणज्ञान मानना व्यर्थ ही है। इस उक्त कथनसे करणज्ञानके समान फलज्ञानका भी व्यर्थ होना कह दिया गया है। क्योंकि वह फलज्ञान भी उस आत्मासे सर्वथा भिन्न नहीं सम्भव है। उन दोनोंका कार्य अकेला आत्मा ही साध लेता है।

अथवा प्रत्यक्षेऽर्थपरिच्छेदे फलज्ञाने स्वार्थाकारावभासिनि सति किमतोऽन्यत्करणं ज्ञानं पोष्यते निष्फलत्वात्तस्य।

अब तक आत्माका प्रत्यक्ष होना माननेवाले कुमारिलभट्टके सम्प्रदायानुसार इस वार्तिक कारिकाका अर्थ किया अर्थात् अपनेको और अर्थको जाननेवाले आत्माका जब विशदरूपसे प्रत्यक्ष होना मानते हो तो उससे भिन्न करणज्ञान और फलज्ञानको स्वीकार करना मीमांसकोंका व्यर्थ है।

अब उसी कारिकाका द्वितीय अर्थ प्राभाकर मीमांसकोंके प्रति घटाते हैं कि अथवा स्वयंको और अर्थको प्रत्यक्ष करनेवाले अर्थज्ञप्तिरूप फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना जो प्रभाकर इष्ट कहते हैं। तब अकेले फलज्ञानसे ही अर्थकी परिच्छित्ति होना सिद्ध है ऐसा होनेपर इस फलज्ञानसे भिन्न एक निराला प्रमाणस्वरूप करणज्ञान क्यों पुष्ट किया जाता है ? क्योंकि बीचका वह प्रमाणज्ञान मानना सर्वथा व्यर्थ है।

तदेव तस्य फलमिति चेत्, प्रमाणादभिन्नं भिन्नं वा ? यद्यभिन्नं प्रमाणमेव तदिति कथं फलज्ञाने प्रत्यक्षे करणज्ञानमप्रत्यक्षम् ? भिन्नं चेन्न करणज्ञानं प्रमाणं स्वार्थव्यवसायादर्थान्तरत्वात् घटादिवत्। कथञ्चिदभिन्नमिति चेन्न सर्वथा करणज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं विरोधात्, प्रत्यक्षात्फलज्ञानात् कथंचिदभिन्नत्वात्।

प्राभाकर कहते हैं कि जैसे कि काठका फटनारूप क्रियाका करण कुठार है। कुठारके बिना छेदनारूप क्रिया किसकी कही जावे ? उसी प्रकार अर्थज्ञप्तिरूप-क्रिया बिना करणके नहीं हो सकती है। इस कारण प्रमाणज्ञान मानना आवश्यक है, तभी तो उस प्रमाणज्ञानका फल वही अर्थज्ञप्ति कही जाती है। जैसे वेगके साथ उठना और गिरनारूप क्रियाओंसे युक्त कुल्हाडीका फल काठका फट जाना है। आचार्य कहते हैं कि यदि प्राभाकर ऐसा कहेंगे तब तो हम पूंछते हैं कि वह अर्थज्ञप्तिरूपी फल प्रमाणसे भिन्न है या अभिन्न है ? बताओ।

यदि फलको प्रमाणसे अभिन्न मानोगे तब तो वह फल प्रमाणरूप ही हो गया। भला ऐसी दशामें फलज्ञानका तो प्रत्यक्ष माना जावे और उससे अभिन्न करणज्ञानका प्रत्यक्ष न माना जावे यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् प्रमाणका भी प्रत्यक्ष होना प्राभाकरोंको मानना पडेगा।

द्वितीय पक्षके अनुसार यदि प्रमाणसे फलज्ञानको भिन्न मानोगे, तब तो करणज्ञान प्रमाण न बन सकेगा। क्योंकि अपने और अर्थके निश्चय करनेवाले फलज्ञानसे वह प्रमाणज्ञान सर्वथा भिन्न माना गया है। जैसे फलज्ञानसे सर्वथा भिन्न हो रहे घट, पट आदिक तटस्थ पदार्थ प्रमाण नहीं बनते हैं वैसे ही भिन्न उदासीन पडा हुआ करणज्ञान भी प्रमाण न हो सकेगा। उक्त दोनों दोषोंके निवारणके लिये यदि प्रमाण और फलज्ञानका कथञ्चित् अभेद मानोगे, तब तो करणज्ञान सर्वथा ही अप्रत्यक्ष न हो सकेगा। अभेदपक्ष लेनेपर फलज्ञानका प्रत्यक्षपना धर्म करणज्ञानमें भी प्रविष्ट हो जावेगा। फलज्ञानमें प्रत्यक्षत्व माना जावे और उससे अभिन्न प्रमाणज्ञानमें अप्रत्यक्षपना माना जावे यह बात विरुद्ध है हो नहीं सकती। प्रत्यक्ष होनेवाले फलज्ञानसे कथञ्चित् अभिन्न हो रहा प्रमाण भी प्रत्यक्षविषय हो जावेगा। अर्थात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे प्रमाण जान लिया जावेगा।

कर्मत्वेनाप्रतिभासमानत्वात्करणज्ञानमप्रत्यक्षमिति चेन्न, करणत्वेन प्रतिभासमानस्य प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः, कथञ्चित्प्रतिभासते च कर्म च न भवतीति व्याघातस्य प्रतिपादितत्वात्।

मीमांसक कहते हैं कि जाननारूप क्रियाका जो कर्म होता है उसका प्रत्यक्ष होना हम इष्ट करते हैं। किंतु करणज्ञानको ज्ञप्तिक्रियाका कर्मपना नहीं प्रतिभासित हो रहा है। वह तो करण है। इस कारण प्रमाणज्ञानका प्रत्यक्ष होना नहीं माना जाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि यह कोई राजाकी आज्ञा नहीं है कि जो ज्ञप्तिक्रियाका कर्म न होगा, उसका प्रत्यक्ष भी न हो सकेगा। उक्त नियमका भट्टके मतमें आत्मासे और प्राभाकरके मतमें फलज्ञानसे व्यभिचार होता है क्योंकि आत्मा तो ज्ञप्तिका कर्ता है और फलज्ञान स्वयं क्रिया है। इन दोनोंमेंसे कर्म कोई नहीं है फिर भी इनका प्रत्यक्ष हो जाना माना है, अतः प्रमाणज्ञानका कारणपनेसे प्रतिभास होते हुए भी प्रत्यक्ष होना बन सकता है, कोई बाधा नहीं है। ज्ञान अन्य पदार्थोंका प्रकाश तो करे और वह स्वयं किसी भी प्रकारसे ज्ञप्तिक्रियाका कर्म न हो सके इस बातमें व्याघात दोष है। इसको हम पूर्वमें कह चुके हैं। कथञ्चित् प्रतिभासता है और कर्म नहीं होता है यह बोलना ही पूर्वापर विरुद्ध है। भावार्थ—जो ज्ञान पदार्थोंका प्रतिभास करता है वह अपनेको जानता हुआ अंशरूपसे ज्ञप्तिक्रियाका कर्म भी हो सकता है। कोई क्षति नहीं है। प्रदीप दृष्टान्त विद्यमान है।

कथञ्चायं फलज्ञानं कर्मत्वेनाप्रतिभासमानमपि प्रत्यक्षमुपयन् करणज्ञानं तथा नोपैति न चेद्व्याकुलान्तःकरणः।

हम अन्य परीक्षकोंके सम्मुख घोर गर्जना करते हुए प्राभाकरोंके प्रति कटाक्ष करते हैं कि वह प्राभाकर कर्मपनेसे नहीं भी प्रतिभासित हो रहे ऐसे फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना कैसे मान लेते हैं ? बताओ, ज्ञप्तिक्रियाके नहीं कर्म बने हुए भी फलज्ञानको प्रत्यक्षविषय मानता है और ज्ञप्तिक्रियाके करणको कर्म न होनेके कारण फलज्ञानके समान प्रत्यक्षगोचर नहीं मानता है। क्यों जी ; इसका अन्तःकरण क्या घबडाया हुआ नहीं है ? यह अवश्य व्याकुल है। ऐसी औंधी बाते तो आपेसे रहित मनुष्य कहा करते हैं। दार्शनिकोंको अयुक्त पक्षपात नहीं करना चाहिये।

फलज्ञानं कर्मत्वेन प्रतिभासत एवेति चेत् न, फलत्वेन प्रतिभासनविरोधात्।

पुनः प्राभाकर कहते हैं कि फलज्ञानका ज्ञप्तिक्रियाके कर्मपनसे प्रतिभास हो रहा ही है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि जिसका कर्मपनेसे प्रतिभास न हो रहा है, आपके मतानुसार उसका फलपनेसे प्रतिभास होनेका विरोध है। भावार्थ—एकांतवादियोंके मतमें जो कर्म है वह फल नहीं हो सकता है। स्याद्वादसिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं है।

ननु च प्रमाणस्य परिच्छित्तिः फलं सा चार्थस्य परिच्छिद्यमानता, तत्प्रतीतिः कर्मत्वप्रतीतिरेवेति चेत् किं पुनरियं परिच्छित्तिरर्थधर्मः ? तथोपगमे प्रमाणफलत्वविरोधोऽर्थवत् प्रमातृधर्मः सेति चेत् कथं, कर्मकर्तृत्वेन प्रतीतेः।

प्राभाकर अपनी पहिली शंका करते हुए अनुनय करते हैं कि प्रमाणका फल ज्ञप्ति होना है और वह ज्ञप्ति तो अर्थका जाना जा रहापन है। उस परिच्छित्तिक्रियाके द्वारा जाने गयेपनकी प्रतीतिको ही ज्ञप्तिक्रियाके कर्मपनेकी प्रतीति कहते हैं। इस कारण फलरूप परिच्छित्तिको कर्मपना भी बन जाता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि फिर यों बताओ कि यह ज्ञप्ति क्या अर्थका धर्म है? या आत्माका धर्म है? यदि आप अर्थकी ज्ञप्तिको इस प्रकार घट, पट आदि अर्थोंका स्वभाव मानेंगे तब तो घट या उसके रूप, रस आदि अर्थोंके समान वह प्रमाणका फल न हो सकेगी, विरोध है। अर्थके धर्म तो प्रमाणके फल नहीं हो सकते हैं अन्यथा चेतनके फल काला, नीला, शीत, उष्ण भी हो जावेंगे।

यदि अर्थकी उस ज्ञप्तिको प्रमाता–आत्माका धर्म मानोगे, तब तो वह अर्थकी ज्ञप्ति भला कर्म कैसे हो सकेगी? क्योंकि कर्तापनेसे उसकी प्रतीति हो रही है। कर्ताके धर्मोंका कर्मपनेके साथ विरोध है।

न कर्मकारकं नापि कर्तृकारकं परिच्छित्तिः क्रियात्वात्, क्रियायाः कारकत्वायोगात्। क्रियाविशिष्टस्य द्रव्यस्यैव कारकत्वोपपत्तेरिति चेत्, तर्हि न फलज्ञानस्य कर्मत्वेन प्रतीतिर्युक्ता, क्रियात्वेनैव फलात्मना प्रतीतिरिति न प्रत्यक्षत्वसम्भवः करणज्ञानवदात्मवद्वा।

पुनः साकुल होकर प्राभाकर कहते हैं कि परिच्छित्ति न तो कर्मकारक है और न कर्ता कारक है, क्योंकि वह तो क्रिया है। क्रिया कारक थोडी ही होती है। किंतु क्रियासहित हो रहे कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण स्वरूप द्रव्यको ही कारकपना युक्तियोंसे सिद्ध है। आचार्य समझाते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तब तो फलज्ञानकी कर्मपनेसे प्रतीति होना युक्त नहीं है। आपने जो पहिले कहा था कि फलज्ञानकी कर्मपनेसे प्रतीति होती है, उस कथनको आप लौटा लीजियेगा। आपके वर्तमान कथनके अनुसार फलस्वरूप करके अर्थज्ञप्तिकी क्रियापनसे ही सब जीवोंको प्रतीति हो रही है। ऐसी दशामें तो फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना नहीं सम्भव है। जैसे कि आपके यहां प्रमाणज्ञानका और आत्माका कर्म न हो सकनेके कारण प्रत्यक्ष होना नहीं माना गया है, उसी प्रकार क्रिया हो जानेके कारण फलज्ञानका भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। क्रियासे सहित पदार्थको कर्मकारक कहते हैं। स्वयं क्रिया तो कर्मकारक कैसे भी नहीं हो सकती है। अतः क्रियाका प्रत्यक्ष न हो सकेगा।

तस्यापि च परोक्षत्वे प्रत्यक्षोऽर्थो न सिद्ध्यति।
ततो ज्ञानावसायः स्यात् कुतोऽस्यासिद्धवेदनात् ॥ २२४ ॥

करणज्ञान और आत्माके समान यदि उस फलज्ञानका भी प्रत्यक्ष होना न मानेंगे अर्थात् आप फलज्ञानका भी परोक्ष होना स्वीकार करेंगे तो घट, पट आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष होना नहीं

सिद्ध होता है और जिस ज्ञानका प्रत्यक्ष होना ही असिद्ध है, उस ज्ञानसे अपने या दूसरे ज्ञानका निर्णय भी कैसे हो सकेगा ? आप ही कहिये । जो स्वयं अंधगर्तमें पडा हुआ है, वह दूसरे ज्ञेय और ज्ञानोंका प्रकाशन कैसे कर सकता है ? कथमपि नहीं ॥

फलज्ञानमात्मा वा परोक्षोऽस्तु करणज्ञानवदित्ययुक्तमर्थस्य प्रत्यक्षतानुपपत्तेः प्रत्यक्षां स्वपरिच्छित्तिमधितिष्ठन्नेव ह्यर्थः प्रत्यक्षो युक्तो नान्यथा, सर्वस्य सर्वदा सर्वथार्थस्य प्रत्यक्षत्वप्रसंगात् ।

अर्थपरिच्छित्तिरूप फलज्ञान और प्रमाता आत्मा भी प्रमाणात्मक करणज्ञानके समान परोक्ष रहो । अर्थात् तीनोंका स्वसंवेदनसे या ज्ञानांतरसे प्रत्यक्ष न होओ । इस प्रकार मीमांसकोंका कहना भी युक्तिशून्य है। क्योंकि ऐसा माननेपर पदार्थोंका प्रत्यक्ष होना नहीं सिद्ध हो पाता है । जो रंग स्वयं पीला नहीं है या पीला करनेकी नैमित्तिक शक्तिसे युक्त नहीं है, वह वस्त्रको पीला नहीं कर सकता है । अपनेको जाननेवाले ज्ञानकी प्रत्यक्षात्मक परिच्छित्ति पर आरूढ होता हुआ ही पदार्थ निश्चय कर प्रत्यक्षविषय ठीक ठीक युक्तिपूर्ण कहा जाता है । दूसरे प्रकार उपाय नहीं है अर्थात् जो अपने विषयी ज्ञानकी प्रत्यक्षरूप ज्ञप्ति होनेपर आरूढ नहीं है उसका प्रत्यक्ष होना मानना अयुक्त है । यदि अपने ज्ञानकी प्रत्यक्षता किये बिना पदार्थोंका प्रत्यक्ष हो जाना मान लिया जावे तो सब जीवोंको सम्पूर्ण कालके सभी प्रकारसे अर्थोंका प्रत्यक्ष होनेका प्रसंग आ जावेगा । भावार्थ— ज्ञानमें प्रत्यक्षताके बिना लाये पदार्थोंका प्रत्यक्ष करना माना जावे तो सम्पूर्ण जीव सर्वज्ञ बन जावेंगे क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंकी ज्ञप्तिके अप्रत्यक्षरूप अंधेरेमें सुलभतासे सम्पूर्ण जीव बैठे हुए हैं । उनको पदार्थोंका प्रत्यक्ष करना बिना परिश्रमके प्राप्त हो जावेगा । अन्य आत्माओंके ज्ञानोंका भले ही हमको प्रत्यक्ष न होय फिर भी उन ज्ञानोंसे हमें उनके देखे हुये सभी पदार्थोंका प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये ।

तथात्मनः परोक्षत्वे सन्तानान्तरस्येवार्थः प्रत्यक्षो न स्यादन्यथा सर्वात्मान्तरप्रत्यक्षः सर्वस्यात्मनः प्रत्यक्षोऽसौ किं न भवेत् ? सर्वथा विशेषाभावात् ।

उस प्रकार आत्माका प्रत्यक्ष न मानकर आत्माका परोक्ष ज्ञान होना इष्ट करोगे तो अन्य दूसरी सन्तानात्मक आत्माओंके समान प्रकृत आत्माको भी सन्मुख पदार्थका प्रत्यक्ष न हो पावेगा । यदि अन्य प्रकारसे मानोगे यानी देवदत्तको अपनी आत्माके परोक्ष होनेपर भी पदार्थोंका प्रत्यक्ष करना मानोगे तो संपूर्ण दूसरे जिनदत्त, यज्ञदत्त, पशु, पक्षियोंकी भिन्न आत्माओंके द्वारा जाने गये विषयोंका भी देवदत्तको प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये । तथा देवदत्तसे जाने हुए अर्थका अन्य इन्द्रदत्त आदि सम्पूर्ण आत्माओंको वह प्रत्यक्ष क्यों नहीं होवेगा ? जब कि सम्पूर्ण आत्मा और उनके ज्ञान सर्वथा परोक्ष ही हैं तो ऐसी दशामें सभी प्रकारोंसे विशेष अन्तर डालनेका कोई

कारण नहीं दीखता है जिससे कि विवक्षित आत्मा ही उन पदार्थोंको जान सकें। दूसरे भिन्न आत्माएं न जानने पावें। एक स्थानपर अनेक अन्धे मनुष्य बैठे हुए हैं उनको काले, पीले, नीले रंगोंके तारतम्यसे पदार्थोंका विभाग करना अशक्य है। या तो सभी अन्धे काले, नीले, पीले सभी पदार्थोंको एकसा जानेंगे और परस्परमें एक दूसरेके ज्ञानोंका साङ्कर्य हो जायेगा। या एक भी अन्धा किसी भी पदार्थको नहीं जान पावेगा क्योंकि परस्परमें कोई अन्तर नहीं है।

ततश्चाप्रत्यक्षादर्थात् न कुतश्चित् परोक्षज्ञाननिश्चयोऽस्य वादिनः स्यात् येनेदं शोभेत ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छतीति।

इस कारण अर्थका प्रत्यक्ष होना जब अलीक हो गया तो ऐसे किसी भी अप्रत्यक्ष अर्थसे इस मीमांसक वादीको परोक्ष ज्ञानकी सत्ताका निर्णय किसी भी अनुमानसे न हो पावेगा। जिससे मीमांसकोंका यह कहना शोभा देता कि " पदार्थोंके ज्ञान हो जानेपर अनुमानसे बुद्धिका ज्ञान कर लिया जाता है। " जब ज्ञानका ही निर्णय नहीं है तो ज्ञानके विषय और ज्ञातपदार्थकी ज्ञातता-रूप हेतुका निर्णय कैसे होगा ? और बिना हेतुज्ञानके बुद्धिरूप साध्यका अनुमान कैसे हो सकता है ? कथमपि नहीं। यहां यह अन्योन्याश्रय दोष भी है कि ज्ञानका ज्ञान हो जावे तब विषयमें ज्ञातता प्रतीत होवे और ज्ञातताके जाननेपर ज्ञानका अनुमान हो सके।

नाप्यसिद्धसंवेदनात्पुरुषात्तन्निश्चयो यतोऽनवस्था न भवेत्, तल्लिंगज्ञानस्यापि परोक्षत्वे अपरानुमानान्निर्णयात्तल्लिंगस्याप्यपरानुमानादिति।

और नहीं सिद्ध है ज्ञान जिसका ऐसे आत्मासे भी आपके उस परोक्ष ज्ञानकी सत्ताका निर्णय नहीं हो सकता है जिससे कि अनवस्था दोष न होवे। भावार्थ—अज्ञात अप्रत्यक्ष आत्मासे परोक्ष ज्ञानका निर्णय करनेपर अनवस्था दोष अवश्य लगता है। क्योंकि ज्ञानको अनुमानसे सिद्ध करनेमें जो हेतु दिया गया है उस हेतुके ज्ञानको भी आप परोक्ष मानेंगे तब तो उस हेतुके ज्ञानका भी दूसरे अनुमानसे निर्णय किया जावेगा। एवञ्च दूसरे अनुमानमें पडे हुए हेतुका ज्ञान भी तीसरे अनुमानसे जाना जावेगा। तीसरा हेतुज्ञान चौथे अनुमानसे इस प्रकार अनवस्थाव्याघ्री प्रकृत परोक्षज्ञानकी सिद्धिको खा जावेगी। ज्ञापकपक्षमें हेतुको बिना जाने हुए साध्यका निर्णय हो पाता नहीं है। अतः ज्ञानको जाननेकी आकाक्षायें शांत नहीं होवेंगी, बढती ही जावेंगी।

स्वसंवेद्यत्वादात्मनो नानवस्थेति चेत् न, तस्य ज्ञानासंवेदकत्वात्, तत्संवेदकत्वे वार्थसंवेदकत्वं तस्य किन्न स्यात्।

यदि आप मीमांसक यों कहें कि हम आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना मानते हैं। ऐसे स्वसंवेद्य आत्मासे ज्ञानका अनुमान कर लेवेंगे। आकांक्षायें शांत हो जानेके कारण अनवस्था नहीं

हो पावेगी। ऐसा कहना तो ठीक नहीं जचता है। क्योंकि आपने उस आत्माको ज्ञानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करनेवाला नहीं माना है। जो ज्ञानका स्वसंवेदन करता है, वही स्वका संवेदन कर पाता है। किन्तु जो ज्ञानका वेदक नहीं है, वह अपना भी संवेदक नहीं है। यदि आत्माको उस ज्ञानका संवेदक मानोगे तो ऐसी दशामें उस आत्माको अर्थका संवेदकपना भी क्यों नहीं होगा ?। भावार्थ— आत्मा और ज्ञान दोनों ही सूर्यके समान स्वको और परको प्रकाश करनेवाले पदार्थ हैं। वे स्वको और अर्थको अवश्य जानते हैं। आत्मा और ज्ञानका परोक्ष मानना अतीव प्रकाशमान दीपकका उस कोठरीमें छिपाना है, जिसमें रखी हुयी उससे प्रकाशित छोटी सुई तकको हम देख रहे हैं।

स्वतोऽर्थान्तरं कथञ्चिद् ज्ञानमात्मा संवेदयते न पुनरर्थमिति किंकृतोऽयं नियमः ?

अपनेसे किसी अपेक्षा करके भिन्न माने गये ज्ञानको आत्मा बढिया जान लेता है। किंतु फिर अपनेसे सर्वथा भिन्न हो रहे अर्थको नहीं जान पाता है ऐसा यह नियम किसने किया है? बताओ तो सही क्या सूर्य अपनी किरणोंका प्रकाश करें और गृह, नदी, पर्वत आदिका प्रकाश न करे ? ऐसे थोथे नियम बनाना क्या न्याय्य है ? अर्थात् नहीं।

संवेदयमानोपि ज्ञानमात्मा ज्ञानान्तरेण संवेदयते स्वतो वा ? ज्ञानान्तरेण चेत्, प्रत्यक्षेणेतरेण वा ? न तावत् प्रत्यक्षेण, सर्वस्य सर्वज्ञानस्य परोक्षत्वोपगमात्। नापीतरेण ज्ञानेन सन्तानान्तरज्ञानेनेव तेन ज्ञातुमशक्तेः। स्वयं ज्ञातेन चेत् ज्ञानान्तरेण स्वतो वा ? ज्ञानान्तरेण चेत् प्रत्यक्षेणेतरेण वेत्यादि पुनरावर्तत इति चक्रकमेतत्।

आपने आत्माको ज्ञानका ही संवेदन करनेवाला माना है। इस पर हम जैन आपसे पूंछते हैं कि ज्ञानको संवेदन करनेवाला भी वह आत्मा क्या दूसरे ज्ञानसे प्रकृतज्ञानका संवेदन करता है ? या स्वयं अपने द्वारा ही ज्ञानको जान लेता है ? बतलाइये। यदि दूसरे अन्यज्ञानसे इस ज्ञानका जानना मानोगे तो यहां प्रश्न करेंगे कि वह दूसरा ज्ञान क्या स्वयं प्रत्यक्षस्वरूप है ? या परोक्षरूप ? जिस करके ज्ञान जान रहा है। कहिये, प्रथम विकल्प अनुसार यदि दूसरे स्वयं प्रत्यक्ष हो रहे ज्ञानसे प्रकृतज्ञानका जानना मानोगे सो तो ठीक नहीं है, कारण कि आपको अपसिद्धांत दोष होगा क्योंकि आपने सभी आत्माओंके सम्पूर्ण ज्ञानोंको परोक्ष स्वीकार किया है। द्वितीय पक्षके अनुसार यदि न्यारे परोक्षज्ञानसे ज्ञानका जानना इष्ट करोगे तो अन्यसंतान आत्माओंके ज्ञान करके जैसे उन आत्माओंसे जाने हुए पदार्थोंका हम ज्ञान नहीं कर सकते हैं क्योंकि उन आत्माओंके ज्ञानोंका हमको प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। उसी प्रकार हमारे उस परोक्षज्ञानसे भी हम ज्ञान, घट आदि तत्त्वोंको जान नहीं सकते हैं।

यदि आप मीमांसक आद्यमें उठाये गये द्वितीय विकल्पके अनुसार स्वयं जाने हुए परोक्ष-ज्ञानसे आत्माको ज्ञानका जानना इष्ट करोगे तब तो हम पुनः प्रश्न उठावेंगे कि द्वितीय ज्ञानको

आत्माने जान लिया, वह ज्ञानांतरसे जाना या स्वही करके जाना ? बताओ। यहां भी आप पूर्वमें कहे हुए के सदृश तृतीयज्ञानसे द्वितीयज्ञानका जानना मानोगे तो हम पुनः विकल्प उठावेंगे कि वह तृतीय ज्ञान प्रत्यक्षरूप है या परोक्षस्वरूप है ? कहिये। इस प्रकारसे बार बार चक्कर देकर पुनः उन्हीं विकल्पोंकी आवृत्ति की जावेगी, अतः वह आपके ऊपर यह चक्रकदोष हुआ, ज्ञानांतर या स्वतः तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष और स्वयंज्ञात इन तीनोंका चक्कर देकर अनवस्थागर्भित चक्रकदोष है।

स्वतो ज्ञानमात्मा संवेदयते स्वरूपवदिति चेत् तथैव ज्ञानमर्थं स्वञ्च स्वतः किं न वेदयते ? यतः परोक्षज्ञानवादो महामोहविजृम्भित एव न स्यात्।

आत्मा जैसे अपने स्वरूपको अपने आप जान लेता है वैसे ही ज्ञानका भी अपने आपसे संवेदन कर लेता है। यदि मीमांसक आप ऐसा कहोगे तब तो उस ही प्रकार ज्ञान भी अपनेको और बहिरङ्गपदार्थोंको अपने आपसे क्यों नहीं जान लेवेगा ? जिससे कि मीमांसकोंके द्वारा ज्ञानका सर्वथा परोक्ष माननेका उठाया हुआ और पक्षपरिग्रहको कह रहा पूर्वपक्ष गाढ मोहांधकारका ही विकार न कहा जावे। अर्थात् जैसे आत्मा अपनेको और ज्ञानको जान लेता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपनेको और अर्थको स्वशक्तिसे जान लेता है। मीमांसकोंका हठसे ज्ञानको परोक्ष कहते जाना केवल अपने आगमकी मिथ्याश्रद्धाका कुफल है। ज्ञानका स्वभाव सूर्यके समान स्व और परका प्रकाश करना है। मिथ्याज्ञान भी स्वको जाननेमें प्रमाणरूप है। क्योंकि वह सबके स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे स्वयं अपने आपको जान रहा है। बहिरङ्ग विषयके न ग्रहण करनेकी अपेक्षासे सीपमें चांदीके ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहा है " भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः " श्रीसमंतभद्राचार्य महाराज संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल इन सम्पूर्ण ज्ञानोंको स्वांशके ग्रहण करनेमें प्रमाणस्वरूप मानते हैं। झूंठ बोलनेवाला यदि अपनेको असत्य बोलनेवाला कहे तो वह उस अंशमें सत्य वक्ता ही है। अतः ज्ञानके परोक्षपनेका आग्रह छोडकर मीमांसकोंको ज्ञानका प्रत्यक्ष स्वरूपस्वसंवेदन होना अभीष्ट करना चाहिये। अलं वावदूकतया।

कथञ्चात्मा स्वसंवेद्यः संवित्तिर्नोपगम्यते।
येनोपयोगरूपोऽयं सर्वेषां नाविगानतः॥ २२५॥

आत्मा स्वयं स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जानने योग्य है, यह प्रमिति क्यों नहीं स्वीकार की जाती है ? जिससे कि सम्पूर्ण वादी प्रतिवादियोंको निर्दोषपनेसे यह आत्मा ज्ञानोपयोगस्वरूप सिद्ध न हो सके। भावार्थ— स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे आत्मा उपयोगस्वरूप सिद्ध हो जाता है।

कुतः पुनरुपयोगात्मा नरः सिद्ध इति चेत्—

फिर आत्मा उपयोगस्वरूप भला किस ढंगसे सिद्ध किया गया है ? बताओ, जो कि तीसरी वार्तिकमें कहा है, पूंछनेपर आचार्य महाराज उत्तर देते हैं—

कथञ्चिदुपयोगात्मा पुमानध्यक्ष एव नः ।
प्रतिक्षणविवर्तादिरूपेणास्य परोक्षता ॥ २२६ ॥

हम स्याद्वादियोंके मतमें आत्मा किसी अपेक्षासे सर्व अंगोंमें उपयोगस्वरूप है अतः वह आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है । भावार्थ— जैसे कपूरमें या कस्तूरीमें रूप, रस और स्पर्शके होते हुए भी गन्धकी प्रधानतासे उनको गंध द्रव्य कहा जाता है । वैसेही आत्मामें अस्तित्व, द्रव्यत्व, चारित्र आदि गुणोंके रहते हुए भी चेतनागुणका विशेषरूपसे समन्वय होनेके कारण आत्माको ज्ञान, चैतन्य-स्वरूप और स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे गम्य इष्ट किया जाता है । आत्माके गुणोंमें स्वपर–प्रकाशक और उल्लेख करनारूप साकार होनेके कारण चेतनागुण प्रधान है । क्योंकि आत्माके सम्पूर्ण गुण और पर्यायोंमें चेतना ओतप्रोत होकर अन्वित हो रही है । सुखको चेतते हैं । उत्साहको जान रहे हैं चारित्रको चेत रहे हैं इस प्रकार अनेक गुणोंमें संवेतनका अनुबन्ध हो रहा है, चेतनाकी ज्ञान और दर्शन पर्यायोंमें अतिप्रकाशमान होनेके कारण ज्ञानपर्याय मुख्य मानी गयी है तथा ज्ञानकी विशेष प्रत्यक्ष परोक्ष अनेक पर्यायोंमें प्रत्यक्षको प्राधान्य दिया गया है । उस प्रत्यक्षज्ञानसे आत्माका तादात्म्यसंबंध है । अतः आत्मा प्रत्यक्षरूप उपयोगात्मक है तथा आत्मा स्वयं अपने डीलसे स्वयं प्रत्यक्ष हो रहा है । प्रत्यक्ष माननेमें अन्य भी उपपत्तियां हैं । तथा प्रत्येक समयमें होने वाले परि-णाम, स्वभाव और विभाव आदि स्वरूपोंसे यह आत्मा परोक्ष स्वरूप भी है । प्रत्येक क्षणमें होने वाली सूक्ष्म अर्थपर्यायोंका सर्वज्ञके अतिरिक्त संसारी जीव प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं । अग्निकी दाहकत्व, पाचकत्व शक्तियोंका उत्तरकालमें होनेवाले वस्त्रदाह या ओदनपाक द्वारा जैसे अनुमान कर लिया जाता है वैसे ही आत्माके अनेक गुण, स्वभाव और अर्थपर्यायोंका अनुमान कर लिया जाता है । असंख्य पर्यायोंको तो सर्वज्ञोक्त आगमसे ही हम लोग जान पाते हैं । हमारा प्रत्यक्ष और हेतु-वाद सूक्ष्म अर्थपर्यायोंमें पहाडसे सिर टकरानेके समान व्यर्थ हो जाता है । अतः आत्मा अनेक अंशोंमें स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे ज्ञेय न बन सकनेके कारण परोक्षस्वरूप भी है । हम कहांतक कहें, आत्माके कतिपय अंश तो हम लोगोंके ज्ञेय ही नहीं हैं । सर्वज्ञको छोडकर कोई भी जीव आत्माके उन अनभिलाप्य अंशोंको प्रत्यक्ष और परोक्षज्ञानसे भी नहीं जान पाता है फिर भी अंश और अंशीके अभेद होनेके कारण पूरा आत्मा प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे दो व्यवहारोंमें नियमित कर दिया जाता है ।

स्वार्थाकारव्यवसायरूपेणार्थालोचनमात्ररूपेण च ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकः पुमान् प्रत्यक्ष एव तथा स्वसंविदितत्वात् । प्रतिक्षणपरिणामेन, स्वावरणक्षयोपशमविशिष्टत्वेना-

संख्यातप्रदेशत्वादिना चानुमेयः, प्रवचनसमधिगम्यश्चात्यन्तपरोक्षरूपेणेति निर्णेतव्यं बाधकाभावात् ।

इस वार्तिकका भाष्य यों है कि अपना और बहिरङ्ग पदार्थोंका समझने और समझाने योग्य उल्लेख कर निश्चय करनारूप ज्ञानसे तथा पदार्थोंका केवल सत्तारूप आलोचन करनेवाले दर्शनसे आत्मा ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग–स्वरूप होता हुआ स्वयं प्रत्यक्ष ही है । क्योंकि ज्ञान और दर्शनसे आत्मा सभीको अपने आप उस प्रकार विदित हो रहा है । तथा प्रत्येक समयमें होनेवाले पर्यायोंसे आत्मा अनुमानका विषय है क्योंकि अनुमानके बिना एक समयमें हुए उन विशेष परिणामोंको हम न्यारे न्यारे नहीं जान सकते हैं । हां ! उनका सच्चे हेतुसे अनुमान कर लिया जाता है । अपने ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंके क्षयोपशमसे सहित आत्मा है इस स्वरूप करके भी आत्माका अंश अनुमानसे जाना जाता है । जैसे कि उत्तम रंगीला चित्र देखनेसे भित्तिकी स्वच्छताका अनुमान कर लेते हैं । उसीके सदृश ज्ञान, दर्शन, उत्साह, भोग, उपभोग करना इन क्रियाओंसे इनके अपना अपना आवरण करनेवाले कर्मोंका क्षयोपशम अनुमित कर लिया जाता है । एवं आत्माके असंख्यात प्रदेशीपन, ऊर्ध्वगौरव स्वभाव, पर्याप्ति, योग आदि भावोंका भी उत्तरकालके फलरूप कार्योंको जानकर उस रूपसे अनुमान कर लिया जाता है । अतः उक्त स्वभावोंसे आत्मा अनुमेयस्वरूप भी है । एवञ्च आत्मा आगमगम्य भी है । क्योंकि आत्माके ज्ञान आदि गुणोंके अविभाग प्रतिच्छेद,अगुरुलघुगुण, भव्यत्व, अभव्यत्व, अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, यथाख्यात चारित्र ये सर्वही आत्माके धर्म श्रीजिनेन्द्र देव करके कहे हुए आगमसे जाने जाते हैं । इस प्रकार आत्मा किसी अपेक्षासे प्रत्यक्षगोचर है और एक अपेक्षासे अनुमानविषय है तथा अत्यन्त परोक्ष माने गये धर्मोंसे आगमगम्य है, ऐसा निर्णय करना चाहिये । इसमें कोई बाधा नहीं दे सकता है । जिसका तर्क या हेतुसे ज्ञान किया जाता है ऐसे पर्वतमें रहनेवाली अग्नि या जलकी प्यासको दूर करनेकी शक्ति और अग्निको बुझानेकी शक्ति आदि ये पदार्थ परोक्ष कहे जाते हैं किन्तु जिन पदार्थोंके जाननेके लिये इन्द्रियां, मन, हेतु, तर्क, दृष्टान्त, सादृश्य आदि कारण नहीं हैं, उन आकाश, कालाणु, धर्मद्रव्य, अविभागप्रतिच्छेद आदिको अत्यन्त परोक्ष कहते हैं, वे पदार्थ आप्तके कहे हुए आगमसे ही जाने जाते हैं, फिर भी अनेक भाव छूट जाते हैं । सर्वज्ञ ही उनका प्रत्यक्ष कर सकते हैं, अन्य जीव नहीं । यहांतक मीमांसक प्रतिवादियोंको समझाया गया है । अब सांख्य मतानुयायीके साथ विचार चलाते हैं ।

स्वरूपं चेतना पुंसः सदौदासीन्यवर्तिनः ।
प्रधानस्यैव विज्ञानं विवर्त इति चापरे ॥ २२७ ॥
तेषामध्यक्षतो बाधा ज्ञानस्यात्मनि वेदनात् ।
भ्रान्तिश्चेन्नात्मनस्तेन शून्यस्यानवधारणात् ॥ २२८ ॥

आत्मा ज्ञानोपयोग स्वरूप है यह बात सांख्यको सह्य नहीं है। अतः वे कहते हैं कि सदा उदासीनरूपसे वर्तनेवाले आत्माका स्वभाव चेतना करना तो ठीक है। किंतु विज्ञान तो प्रकृतिका ही परिणाम है। इस प्रकार जो अन्य कपिल मतानुयायी मानते हैं उनके मंतव्यमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही बाधा आती है। क्योंकि आत्मामें ज्ञानका समीचीन वेदन हो रहा है। अतः ज्ञान आत्माका विवर्त है, जड प्रकृतिका परिणाम ज्ञान नहीं है।

यदि कापिल यों कहें कि प्रकृतिके कर्तापन आदि परिणाम आत्मामें प्रतिफलित हो जाते हैं और आत्माके चेतन, भोक्तापन आदि स्वभाव भ्रमवश प्रकृतिमें जाने जाते हैं। प्रकृति और आत्माका संसर्ग होनेके कारण प्रकृतिका ही ज्ञानपरिणाम आत्मामें विदित हो जाता है। उस ज्ञानको आत्माका समझ लेना यह भ्रांति है, वस्तुतः ज्ञान प्रकृतिमें ही है। आचार्य कहते हैं कि यह कापिलोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस ज्ञानसे रहित होरहे आत्माका कभी निर्णय नहीं किया गया है। सर्वदा आत्मा ज्ञानसहित ही प्रतीत हो रहा है यदि एक बार भी आत्मा ज्ञानरहित प्रतीत हो गया तो स्फटिकमें जपाकुसुमसे आई हुई ललाईके समान आत्मामें भी प्रकृतिके ज्ञानका आरोप करना मान लिया जाता, किंतु ऐसा नहीं है। जैसे जपाके फूलमें ललाई उसीके घरकी है। उसी प्रकार ज्ञान गुण भी आत्माका गांठका है बाहिरसे आया हुआ नहीं है।

यथात्मनि चैतन्यस्य संवेदनं मयि चैतन्यं, चेतनोऽहमिति वा तथा ज्ञानस्यापि मयि ज्ञानं, ज्ञाताहमिति वा प्रत्यक्षतः सिद्धेर्यथोदासीनस्य पुंसश्चैतन्यं स्वरूपं तथा ज्ञानमपि, तत्प्रधानस्यैव विवर्तं ब्रुवाणस्य प्रत्यक्षबाधा।

जैसे आत्मामें चेतनपनेका संवेदन हो रहा है कि मेरेमें चैतन्य है अथवा मैं चेतन हूं, इस कारण आत्मा चेतन माना जाता है। उसी प्रकार आत्मामें ज्ञानका भी संवेदन हो रहा है कि मुझमें ज्ञान है अथवा मैं स्वयं ज्ञाता हूं यह भी प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध हो रहा है। अतः आत्माको ज्ञानस्वरूप भी मान लेना चाहिये और जैसे सांसारिकविषयोंसे उपेक्षा करनेवाले उदासीन पुरुषका स्वरूप चैतन्य है, उसी प्रकार उदासीन पुरुषका ही ज्ञान भी स्वभाव है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होनेपर भी उस ज्ञानको सत्त्वरजस्तमोगुणरूप प्रकृतिका ही पर्याय कहनेवाले सांख्यको प्रत्यक्षप्रमाणसे ही बाधा आ रही है।

ज्ञानस्यात्मनि संवेदनं भ्रांतिरिति चेन्न, स्यादेवं यदि ज्ञानशून्यस्यात्मनः कदाचित्संविदभ्रांता स्यात्।

आत्मामें ज्ञानका संवेदन होना भ्रान्तिरूप है यह कापिलोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार यह बात तब हो सकती थी यदि किसी भी समय मूलरूपसे ज्ञानरहित

आत्माका भ्रान्तिरहित संवेदन हुआ होता, किन्तु इसके विपरीत ज्ञानसहित आत्माका सर्वदा ही अभ्रान्त प्रतिभास हो रहा है ।

सर्वदा ज्ञानसंसर्गादात्मनो ज्ञानित्वसंवित्तिरिति चेत्—

ज्ञानपर्यायवाली . प्रकृतिसे आत्माका सदासे संसर्ग हो रहा है अतः संसर्गसे दूसरेमें भी गुण और दोष हो जाया करते हैं । इस रीतिके अनुसार आत्माके ज्ञानीपनकी ज्ञप्ति हो रही है । वास्तवमें आत्मा ज्ञानी नहीं है यदि सांख्य ऐसा कहेंगे यों तो—

औदासीन्यादयो धर्माः पुंसः संसर्गजा इति ।
युक्तं सांख्यपशोर्वक्तुं ध्यादिसंसर्गवादिनः ॥ २२९ ॥

जो सांख्य पशुके समान आत्माको नहीं जानता है या अपनी गांठकी वस्तुको अपनी नहीं कह रहा है तभी तो वह आत्मामें बुद्धि, सुख, इच्छा, कर्तापन, परिणाम आदि धर्मोंको आत्माके स्वभाव स्वीकार नहीं करता है । कापिलोंके मतमें प्रकृतिके संबंधसे हो जाते हुए बुद्धि, सुख, दुःख आदिक धर्म आत्मामें कहे जाते हैं यों उस सांख्यको पुरुषके उदासीनता, भोक्तापन, चैतन्य आदि धर्म भी प्रकृतिके संसर्गसे उत्पन्न होकर प्रकृतिकी ओरसे आये हुए औपाधिक भाव ही कहना युक्त होगा । आत्मामें इन चार धर्मोंका भी व्यर्थ क्यों बोझ लादा जाता है ? भावार्थ—उदासीनता आदि धर्म भी आत्माकी गांठके नहीं ठहरेंगे । जिसको बाहरसे ऋण या भीख मांगनेकी टेव पड गयी है वह सब कुछ दूसरोंसे मांग सकता है ।

ज्ञानसंसर्गतो ज्ञानी, सुखसंसर्गतः सुखी पुमान्न तु स्वयमिति वदतः सांख्यस्य पशोरिवात्मानमप्यजानतो युक्तं वक्तुमौदासीन्यस्य संसर्गादुदासीनः पुरुषः, चैतन्यसंसर्गाच्चेतनो, भोक्तृत्वसंसर्गाद्भोक्ता, शुद्धिसंसर्गाच्च शुद्ध इति, स्वयं तु ततो विपरीत इति विशेषाभावात् । न हि तस्यानवबोधस्वभावतायां प्रमाणमस्ति ।

प्रकृतिके बने हुए ज्ञानके संबंधसे आत्मा ज्ञानवान् है तथा सत्त्वगुणकी प्रधानता लेकर परिणत हुयी प्रकृतिके सुखरूप विवर्तका संसर्ग हो जानेके कारण आत्मा सुखी हो जाता है किंतु वस्तुतः स्वभावसे आत्मा सुखी और ज्ञानी नहीं है । इस प्रकार पशुके समान आत्मतत्त्वको न जानकर कहनेवाले सांख्यको यों भी कहना उचित है कि अन्य किसीकी उदासीनताके संबंधसे आत्मा उदासीन है । दूसरेके चैतन्यके योगसे आत्मा चेतन है । किसीके भोक्तापनकी उपाधि लग जानेसे आत्मा भोक्ता बन गया है । एवं आकाशके सन्निहित होनेके कारण उसकी शुद्धिके संबंध हो जानेसे आत्मा शुद्ध हो गया है । परमार्थसे स्वयं तो उसके विपरीत है । अर्थात् न तो

उदासीन है और न चेतन, भोक्ता तथा शुद्ध है। यों आत्मामें जैसे ज्ञान, प्रसाद आदि स्वयं उसके घरके नहीं माने जाते हैं, वैसे ही उदासीनता आदि भी आत्माके स्वभाव नहीं मानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान, कर्तापन, आदि धर्मोंसे उदासीनता, भोक्तृता आदि स्वभावोंमें कोई अंतर नहीं है। जिससे कि कतिपय धर्म तो आत्मामें निजके मान लिये जावे और मन माने कुछ धर्म प्रकृतिकी ओरसे आये हुए माने जावें। यह " अर्धजरतीय " न्यायका अपेडपना अच्छा नहीं है। यदि सांख्य जन परीक्षक मनुष्योंके समान विचार करेंगे तो वे इस बातका निर्णय कर लेवेंगे कि आत्मा, ज्ञान, सुख--स्वरूप है, उस आत्माके अज्ञान, असुख और अकर्ता स्वभाव माननेमें या ज्ञान और सुखको आत्माके गुण न होनेमें कोई भी प्रमाण नहीं है। न अवबोधः स्वभावो यस्यासौ अनवबोधस्वभावस्तस्य भावः अनवबोधस्वभावता, यों विग्रह करना।

सदात्मानवबोधादिस्वभावश्चेतनत्वतः।
सुषुप्तावस्थवन्नायं हेतुर्व्याप्यात्मवादिनः ॥ २३० ॥

सांख्य अनुमान बनाकर कहते हैं कि सर्वदासे ही आत्मा अज्ञानस्वभाव और असुखस्वभाववाला है। (प्रतिज्ञा) अर्थात् ज्ञान, सुख आदिक आत्माके स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि आत्मा चेतन है। (हेतु) जैसे कि गहरी नींदकी अवस्थामें सोये हुए पुरुषके ज्ञान और सुख कुछ भी नहीं प्रतीत हो रहे हैं। (अन्वयदृष्टांत) इसी प्रकार जागृत अवस्थामें भी आत्मा ज्ञान, सुख स्वभाववाला नहीं है। भावार्थ—आत्माके ज्ञान, सुख स्वभाव होते तो सोते समय अवश्य जाने जाते, द्रव्य अपने स्वभावोंको कभी छोडता नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कापिलोंका दिया गया यह हेतु अच्छा नहीं है। आत्माको व्यापक माननेवाले सांख्योंका चेतनत्वहेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

स्वरूपासिद्धो हि हेतुरयं व्यापिनमात्मानं वदतः कुतः—

आत्माको सर्व व्यापक कहनेवाले सांख्य मतके एकदेशीय वादियोंके मतमें यह हेतु निश्चय कर पक्षमें न रहनेके कारण स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, वह कैसे है ? सो सुनो !

जीवो ह्यचेतनः काये जीवत्वाद्बाह्यदेशवत्।
वक्तुमेवं समर्थोऽन्यः किं न स्याज्जडजीववाक् ॥ २३१ ॥

अनुमान बनाकर हम जैन भी आपके ऊपर अनिष्ट आपादन करते हैं कि शरीरमें भी जीव (पक्ष) निश्चयसे अचेतन है। (साध्य) जीव होनेसे, (हेतु) जैसे कि शरीरके बाहिर देशमें जीव अचेतन है। (दृष्टांत) इस प्रकार भी दूसरा कोई वादी कहनेको समर्थ हो सकता है तथा

च यों जीवको सर्वथा जड हो जानेका सिद्धांतवचन क्यों न हो जावे ? आप उत्तर क्या दोगे। भावार्थ—कायमें भी जीव अचेतन हो जायगा।

कायाद्बहिरचेतनत्वेन व्याप्तस्य जीवत्वस्य सिद्धेः कायेऽप्यचेतनत्वसिद्धिरिति नानवबोधादिस्वभावत्वे साध्ये चेतनत्वं साधनमसिद्धस्यासाधनत्वात्।

देश देशांतरोंमें रहनेवाले सम्पूर्ण मूर्तद्रव्योंसे आत्मा संयोग रखता है इस कारण शरीरसे बाहिर घट, पट आदिकोंमें जीवत्व हेतुको अचेतनत्व साध्यके साथ व्याप्ति रखनेवाला सिद्ध कर लिया है। वह जीवत्व हेतु विवादग्रस्त शरीरमें रहनेवाली आत्मामें भी देखा जाता है अतः अचेतनत्वसाध्यको सिद्ध कर देवेगा। इस प्रकार आत्मा अचेतन सिद्ध हो जाता है। ऐसी दशामें आत्माके ज्ञान, सुख स्वभावरहित होना साध्यको सिद्ध करनेमें दिया गया चेतनत्व हेतु अच्छा हेतु नहीं है, किंतु उक्त अनुमानसे आत्माको अचेतन बन जानेके कारण आत्मामें चेतनत्व हेतुके न रहनेसे वह असिद्ध हेत्वाभास है। स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास तो साध्यका साधक नहीं होता है।

शरीराद्बहिरप्येष चेतनात्मा नरत्वतः।
कायदेशवदित्येतत्प्रतीत्या विनिवार्यते ॥ २३२॥

जैसे घट आदिको दृष्टांत कह कर शरीरमें भी आत्माको आप अचेतन सिद्ध करते हैं वैसे ही शरीरको दृष्टांत लेकर घट आदिक में भी आत्मा सचेतन क्यों न माना जावे अर्थात् आत्माको चेतन सिद्ध करनेके लिये यह अनुमान हम कहेंगे कि शरीरसे बाहिर घट, पट आदिमें भी विद्यमान यह आत्मा चेतन है, क्योंकि वह आत्मा है। जैसे कि शरीरदेशमें विद्यमान आत्मा चेतन है। इस प्रकार यह कापिलोंका अनुमान तो प्रसिद्ध प्रतीतिसे रोक दिया जाता है।

काये चेतनत्वेन व्याप्तस्य नरत्वस्य दर्शनात्ततो बहिरप्यात्मनश्चेतनत्वसिद्धेर्नासिद्धं साधनमिति न मन्तव्यं प्रतीतिबाधनात्। तथाहि—

सांख्यका मंतव्य है कि शरीरमें रहनेवाले आत्मारूप दृष्टांतमें चेतनत्व साध्यके साथ व्याप्ति रखता हुआ आत्मत्व हेतु देखा गया है, इस कारण शरीरसे बाहिर घट, पट, पर्वत आदिमें भी रहनेवाले आत्माको चेतनापना सिद्ध हो जावेगा। अतः हमारा आत्माको अज्ञानस्वभाव सिद्ध करनेमें दिया गया चेतनत्व हेतु असिद्ध नहीं है। ग्रंथकार कह रहे हैं कि इस प्रकार कापिलोंको नहीं मानना चाहिये क्योंकि घट, पट, पर्वत आदिकोंमें आत्माकी सत्ता मानना प्रतीतिसे बाधित है। इसी बातको स्पष्ट कर दिखलाते हैं—सावधान होकर सुनिये।

तथा च बाह्यदेशेऽपि पुंसः संवेदनं न किम्।
कायदेशवदेव स्याद्विशेषस्याप्यसम्भवात् ॥ २३३ ॥

यदि आत्माको सर्वत्र पर्वत आदिकोंमें इस प्रकार व्यापक स्वीकार करोगे, तब तो शरीरसे बाहिर घट, पट, नदी, पर्वत आदि देशोंमें भी आत्माका संवेदन क्यों नहीं होता है ? जैसा ही कि शरीरदेशोंमे हो रहा है। शरीरमें रहनेवाली और पर्वत आदिकमें रहनेवाली उस आत्मामें कोई विशेषता तो सम्भव है नहीं फिर क्यों नहीं बाहिर देशोंमें आत्माका स्वसंचेतन (ज्ञान) होता है ? बतलाइये ।

यस्य हि निरतिशयः पुरुषस्तस्य कायेऽन्यत्र च न तस्य विशेषोऽस्ति यतः काये संवेदनं न ततो बहिरिति युज्यते ।

जिस कापिलके यहां पुरुषको अखण्ड, कूटस्थ, सब स्थानोंमें एकसा माना गया है आत्माके किसी भी अंशमें कोई अतिशय घटता बढता नहीं है । उसके उस मतानुसार शरीरमें और घट, पट, पर्वत आदिमें एकस्वरूप रहनेवाली उस आत्माकी कोई विशेषता तो है नहीं, जिस विशेषतासे कि आत्माका शरीरमें तो वेदन होवे और उससे बाहिर घट आदिकमें आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना युक्तिसहित न बन सके। या तो दोनों स्थलोंमें आत्माका ज्ञान होगा या दोनोंमेंसे कहीं भी उस आत्माका संचेतन (ज्ञान) न हो सकेगा । न्यायोचित अभियोगको झेलना चाहिये ।

कायाद्बहिरभिव्यक्तेरभावात्तदवेदने ।
पुंसो व्यक्तेतराकारभेदाद्भेदः कथं न ते ॥ २३४ ॥

यदि आत्माको व्यापक माननेवाले सांख्य यों कहें कि शरीरसे बाहिर आत्मा विद्यमान तो है किंतु वह प्रगट नहीं हो सका है । इस कारण तिरोभूत आत्माका शरीरके बाहिर संवेदन नहीं होता है । ऐसा कहनेपर तुम्हारे (आपके मतमें आत्माका प्रगट आकार और अप्रगट आकारके भेदसे भेद क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात्—एक ही आत्मा तिरोभूत और आविर्भूत दो स्वभाववाली मानी गयी जो कि आत्माके एक स्वभाव कूटस्थपनका विघातक है ।

कायेऽभिव्यक्तत्वात् पुंसः संवेदनं न ततो बहिरनभिव्यक्तत्वादिति ब्रुवाणः कथं तस्यैकस्वभावतां साधयेत्, व्यक्तेतराकारभेदाद्भेदस्य सिद्धेः ।

शरीरमें आत्मा प्रकट हो गयी है इस कारण आत्माका संवेदन हो जाता है किन्तु उस शरीरसे बाहिर पर्वत आदिमें आत्मा लकडीमें अग्निके समान प्रगट नहीं है, अतः आत्माका ज्ञान नहीं हो पाता है । इस प्रकार कहनेवाला सांख्य उस आत्माके एकस्वभावपनेको कैसे सिद्ध कर सकेगा ? क्योंकि शरीरमें व्यक्त और पर्वत आदिकोंमें उससे भिन्न अव्यक्त आकारके भेदोंसे वह एक आत्मा भिन्न दो स्वभाववाला सिद्ध हुआ जाता है अथवा दो विरुद्धस्वभावोंसे आत्माका भेद सिद्ध हो जावेगा । भावार्थ—प्रत्येक आत्मा दो हो जावेंगे ।

यत्र व्यक्तसंसर्गस्तत्रात्मा संवेद्यते नान्यत्रेत्यप्यनेनापास्तम् । निरंशस्य क्वचिदेव व्यक्तसंसर्गस्येतरस्य वा सकृदयोगात् ।

जहां आत्मामें अव्यक्त मानी गयी प्रकृतिके विवर्तस्वरूप हो रहे शरीर, इन्द्रिय, मन, पुण्य और श्वास आदि व्यक्त पदार्थोंका सम्बन्ध हो रहा है वहां आत्माका संवेदन हो जाता है किन्तु जहां शरीर आदि व्यक्तपदार्थोंका संसर्ग नहीं है वहां अन्य स्थानोंमें आत्माका ज्ञान नहीं होता है । ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार किसीका कहना भी इस पूर्वोक्त कथनसे खण्डित कर दिया गया है क्योंकि जब आपके मतमें आत्मा अंशोंसे रहित माना है तो आत्माके खण्ड, खण्ड देश ही नहीं बन सकते हैं । ऐसी दशामें कहीं शरीरके निकटवाली उसी आत्मामें शरीरके साथ ही आत्माका संसर्ग और कहीं कहीं पर्वत आदिके पास उसी आत्मामें ही व्यक्तशरीरका नहीं संसर्ग यों एक समयमें उक्त दोनों विरुद्धस्वभाव बन नहीं सकते हैं । अंशोंसे रीते हो रहे पदार्थके युगपद् कहीं किसीका सम्बंध अथवा कचित् असम्बंध हो जानेका योग नहीं है ।

सकृदेकस्य परमाणोः परमाण्वन्तरेण संसर्गे क्वचिदन्यत्र चासंसर्गे प्रतिपद्यत इति चेत् न, तस्यापि क्वचिद्देशे सतो देशान्तरे च तदसिद्धेः ।

कापिल कहते हैं कि देखो ! अंशरहित भी एक परमाणुका दूसरे परमाणुसे संसर्ग और उसी समय किसी दूसरे देशमें अन्य परमाणुओंका असंसर्ग इस प्रकारके दो विरुद्धस्वभाव परमाणुमें जाने जा रहे हैं । यदि एक परमाणु सर्वांगरूपसे दूसरे परमाणुसे चिपक जाता तो परमाणुके बराबर ही द्यणुक हो जाता, यहांतक कि मेरु और सरसों दोनों ही एक बराबर हो जाते, अतः परमाणुका दूसरे परमाणुसे एकदेशमें संसर्ग और दूसरे देशमें असंसर्ग अवश्य मानना पडेगा । जैसे निरंश एक परमाणु संसर्ग और असंसर्ग दोनों स्वभावोंको एकसमयमें धारण करलेता है, वैसे ही निरंश आत्मा भी व्यक्तके संसर्ग और असंसर्ग इन दो स्वभावोंको धारण कर लेवेगा । आचार्य कहते हैं कि यह कापिलोंका कहना ठीक नहीं है क्योंकि वास्तवमें विचारा जावे तो परमाणु भी निरंश नहीं है । बरफीके समान छह पहलोंको धारण करनेवाले परमाणुके शक्तिकी अपेक्षासे छह अंश हैं । प्रत्यक्षमें बरफीकी चकतीके आठ कौने दीखते हैं किंतु वह स्थूल है । कोनोंसे दूसरी बरफीके कोने भले ही मिलजावें किंतु अन्य बरफी की पूरी भींत नहीं मिड सकती है । कोनोंको दृष्टांत न समझना क्योंकि परमाणुसे छोटा कोई अंश नहीं है । किंतु पैलोंको परमाणुके अंशोंका दार्ष्टान्त मान लेना । बरफी की चौरस भीतें छह हैं वे ही उसके अंश हैं । यदि बरफीके सभी ओर अन्य बरफियां रख दी जावें तो बरफीकी एक एक ओर की भीतों को छूती हुयीं छह बरफियां संसर्ग करेंगी, इसी प्रकार अत्यंत छोटे परमाणुके चारों दिशा और ऊपर, नीचे, इस प्रकार छह परमाणुएं भिन्न अंशोंमें सम्बन्धित हो जावेंगे । तभी मेरु और सरसोंकी समानताका दोषप्रसंग भी निवृत्त हो सकेगा ।

जैन सिद्धांतमें परमाणुको बरफीके समान षट्कोण माना है, तभी तो लोक कालाणुओंसे ठसा ठस भरा है। परमाणुओंको गोल नहीं मानना अन्यथा गोलके बीचमें खाली स्थान छूट जायगा। अधोलोकके सात राजूसे मध्य लोकमें आनेपर या मध्य लोकसे ब्रह्म स्वर्गके किनारे किनारे आनेपर वातवलयोंमें परमाणुओंके कोने निकलते रहेंगे। कोई भी रंदा उन कोनोंको चीकना सुथरा नहीं कर सकता है। क्योंकि परमाणुयें नौकीली अखंड द्रव्य है। परमाणु एकांतरूपसे निरंश नहीं है। निरंश पदार्थमें दो विरुद्ध धर्म एक समयमें नहीं रहते हैं। अतः किसी देशमें विद्यमान हो रहे उस परमाणुका भी अन्य दूसरे देशोंमें वह ठहरना सिद्ध नहीं होता है। इसलिये निरंश व्यापक आत्माके दो विरुद्ध धर्मोंको स्वीकार करनेमें परमाणुका दृष्टांत सम नहीं है विषम है। भावार्थ—आत्मा, परमाणु, दोनों ही सांश होकर तो संसर्ग होजाने या असंसर्ग होजाने को धारण कर सकती है। अन्यथा उपाय नहीं है।

गगनवत्स्यादिति चेत् न, तस्यानन्तप्रदेशतया प्रसिद्धस्य तदुपपत्तेरन्यथात्मवदघटनात्।

यदि कापिल यों कहें कि जैसे अंशोंसे रहित हो रहा आकाश अनेक पदार्थोंसे संसर्ग रखता हुआ व्यापक है, वैसे ही निरंश आत्मा भी व्यापक हो जावेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी तो ठीक नहीं है, क्योंकि वह आकाश अनंत प्रदेशवाला प्रसिद्ध है। तभी तो एक आकाशका उन अनेक देशोंमें रहनापन युक्तियोंसे सिद्ध हो जाता है। अन्यथा यानी यदि आकाश अनंतप्रदेशी नहीं माना जावेगा तो आत्माके समान आकाशका भी अनेक देशवर्ती पदार्थोंसे संबंध होना न बन सकेगा। समझ लीजिये।

नन्वेकं द्रव्यमनन्तपर्यायान्सकृदपि यथा व्याप्नोति तथात्मा व्यक्तविवर्तशरीरेण संसर्ग क्वचिदन्यत्र वाऽसंसर्ग प्रतिपद्यत इति चेन्न, वस्तुनो द्रव्यपर्यायात्मकस्य जात्यन्तरत्वात्, व्याप्यव्यापकभावस्य नयवशात्तत्र निरूपणात्, नैवं नानैकस्वभावः पुरुषो जात्यन्तरतयोपेयते निरतिशयात्मवादविरोधादिति।

सांख्य पुनः समदृष्टांत ढूंढनेका प्रयत्न करते हुए स्वपक्षका अवधारण करते हैं कि जैसे जैनोंके मतमें एक द्रव्य एक समयमें भी अनंत पर्यायोंको व्याप्त कर लेता है वैसे ही एक आत्मा व्यक्त पर्यायस्वरूप शरीरके साथ संसर्गको और कहीं दूसरे पर्वत आदि स्थानोंमें असंसर्गको धारण कर लेता है। आचार्य प्रतिपादन करते हैं कि कापिलोंका इस प्रकार कहना ठीक नहीं है क्योंकि स्याद्वादसिद्धांतमें द्रव्य और पर्यायसे तादात्म्य रखनेवाली वस्तुको द्रव्य और पर्यायसे तीसरी ही न्यारी जातिवाला कथंचित् भेद अभेद स्वरूप करके तदात्मक हो रहा पदार्थ स्वीकार किया है ऐसी वस्तुमें नयोंके द्वारा विवक्षित धर्मोंके वशसे वहां व्याप्यव्यापकभावका कथन कर दिया जाता है। भावार्थ—पर्यायोंसे द्रव्य भिन्न नहीं है। पर्यायोंके समुदायको ही द्रव्य कहते हैं। वस्तुमें अनेक

स्वभाव हैं। अतः उन कथञ्चित् भिन्न स्वभावोंसे नित्य द्रव्यरूप अंशोंमें तथा अनित्य पर्यायरूप अंशोंमें वस्तु व्यापक रह जाता है। एक द्रव्य अनेक स्वभावोंसे अपनी अनंत पर्यायोंमें विद्यमान है। किंतु इसीके सदृश आपने अनेक एक एक स्वभावोंको धारण करनेवाला पुरुष तो एक और अनेकपनेसे तीसरी जातिसहितपनेसे नहीं माना है। यदि आप सांख्य भी हम जैनोंके समान आत्माको कथञ्चित् भिन्न और अभिन्न या एक, अनेक स्वरूप मान लेवेंगे तब तो आपके माने हुए आत्माके कूटस्थपनका विरोध हो जावेगा। जो बाहिरसे अतिशयोंको नहीं लेता है और अन्य निमित्तोंसे अपने कुछ स्वभावोंको नहीं छोडता है, अनाधेयाप्रहेयातिशय ऐसा कूटस्थ निरतिशय आत्मा आपने इष्ट किया है किंतुं अनेकांतमतमें आत्माको परिणामी नित्य माना है। वह अपने कतिपय स्वभावोंको छोड देता है और कतिपय स्वभावोंको ग्रहण भी कर लेता है। ऐसा आत्मा परिशेषमें आपको अवश्य मानना पडेगा। यों अपने आत्माको अतिशयरहित माननेके सिद्धांतसे विरोध हो जावेगा।

कायेऽभिव्यक्तौ ततो बहिरभिव्यक्तिप्रसक्तेः सर्वत्र संवेदनमसंवेदनं नो चेत् नानात्वापत्तिर्दुःशक्या परिहर्तुम्। ततो नैतौ सर्वगतात्मवादिनौ चेतनत्वमचेतनत्वं वा साधयितुमात्मनः समर्थौ यतोऽसिद्धं साधनं न स्यात्।

यदि आप सांख्य पंडित शरीरमें आत्माकी अभिव्यक्ति हो जाना मानोगे तो उस शरीरके बाहिर घट, घटी, किवाड आदिमें भी आत्माके प्रकट होनेका प्रसंग आता है, क्योंकि आत्मा सब स्थानोंमें एकसा होकर व्यापक है। अतः या तो सभी स्थानोंमें आत्माका ज्ञान होना चाहिये अथवा कहीं भी आत्माका ज्ञान नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा न मानकर शरीरमें ही आत्माका वेदन मानोगे और घट, कडाही आदिमें आत्माका वेदन न मानोगे, तब तो एक आत्माको अनेकपनेका प्रसंग आता ही है। जिस दोषका कि कोई कठिनतासे भी परिहार नहीं कर सकता है। एक निरंश आत्मा कहीं प्रकट है और अन्यत्र अप्रकट है ऐसी दशामें वह आत्मा अवश्य दो हैं, अथवा विरुद्ध दो स्वभावोंवाला है। इस कारणसे अबतक सिद्ध हुआ कि आत्माको सर्वत्र व्यापक माननेवाले ये दोनों सांख्य और नैयायिक आत्माके चेतनपनेको या अचेतनपनेको सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं है। कपिलमतानुयायी आत्माको स्वभावसे चेतन मानते हैं किन्तु पूर्वोक्त कथनसे उनके व्यापक आत्माका चेतनपना सिद्ध नहीं हो सका है। नैयायिक आत्माको स्वभावसे अचेतन मानते हैं, किंतु चेतनागुणके समवायसे चेतन हो जाना इष्ट करते हैं। यों सम्पूर्ण मूर्तद्रव्योंसे संयोग रखनेवाले व्यापक माने गये आत्माका चेतन सिद्ध करना अशक्य है। जिससे कि आत्माको चेतनपना सिद्ध करनेके लिये दोसौ बत्तीसवीं वार्तिकमें दिया गया आत्मत्व हेतु असिद्ध न होवे। अर्थात् आत्मत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास ही है। जब कापिलोंके यहां चेतनत्वकी सिद्धि न हो सकी तो चेतनत्व हेतुसे आत्माका अज्ञान और असुखस्वभाव भी कैसे सिद्ध हो सकते हैं ?

स्याद्वादिनः सांख्यस्य च प्रसिद्धमेव चेतनत्वं साधनमिति चेन्नानवबोधाद्यात्मकत्वेन प्रतिवादिनश्चेतनत्वस्येष्टेस्तस्य हेतुत्वे विरुद्धसिद्धेर्विरुद्धो हेतुः स्यात् ।

सांख्य कहते हैं कि स्याद्वादी और हम सांख्योंके मतमें आत्माका चेतनपना प्रसिद्ध ही है । अतः चेतनत्व हेतु समीचीन है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कापिलोंका कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि प्रतिवादी कापिलोंने अज्ञान, असुख और अकर्त्ता आदि स्वरूप करके आत्माके चेतनपनेको इष्ट किया है । और उस ज्ञानरूपसे प्रसिद्ध होरहे चेतनपनेको आप हेतु मानेंगे तो उस हेतुसे आपके मन्तव्यके विरुद्ध ज्ञानी आत्माकी सिद्धि हो जावेगी । अथवा चेतनत्व हेतु आपके माने हुए साध्यरूप अज्ञान, असुख स्वभावोंसे विरुद्ध समझे गये ज्ञान, सुखस्वभावोंके साथ व्याप्ति रखता है । इस कारण चेतनत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जावेगा । भावार्थ—आपने चेतनत्वको अज्ञानी आत्माका धर्म माना है और वास्तवमें आत्मा ज्ञानवान् है । अतः हम अपने जैनमतानुसार आपके चेतनत्व हेतुको सिद्ध मान लेवेंगे तो पूर्वोक्त असिद्ध दोषका निवारण तो हो जावेगा, किन्तु दूसरा विरुद्ध दोष आपके चेतनत्व हेतुमें आजावेगा ।

साध्यसाधनविकलश्च दृष्टान्तः सुषुप्तावस्थस्याप्यात्मनश्चेतनत्वमात्रेणानवबोधादिस्वभावत्वेन चाप्रसिद्धेः । कथम्—

और आपका दिया गया गाढ निद्रामें सोता हुआ मनुष्यरूपी दृष्टांत तो ज्ञानी सुखी होनेके कारण अज्ञान, असुख स्वभावरूप साध्यसे रहित है और पूर्वमें कहे हुए अनुसार आपकी व्यापक आत्मामें चेतनपना सिद्ध नहीं हो सका है । अतः गहरा सोता हुआ मनुष्य चेतनपना रूप साधनसे भी रहित है । जिस दृष्टांतमें साध्य और साधन ये दोनों ही नहीं रहते हैं, उसको आपने अन्वय दृष्टांत कैसे प्रयुक्त किया है ?, जब कि आप गाढ सोते हुए आत्माको सामान्य चेतनापनेसे और अज्ञान असुख स्वभावीपनेसे प्रसिद्ध नहीं कर सके हैं । वस्तुतः विचारा जाय तो सोता हुआ वह आत्मा भी ज्ञानसुखस्वभाववाला है । सो कैसे ? वह सुनिये ।

सुषुप्तस्यापि विज्ञानस्वभावत्वं विभाव्यते'।
प्रबुद्धस्य सुखप्राप्तिस्मृत्यादेः स्वप्नदर्शिवत् ॥ २३५ ॥

विचार कर देखा जाय तो गहरे सोते हुए मनुष्यके भी विज्ञान और सुख स्वभावसहितपना सिद्ध हो जाता है । जैसे कि सोते समय स्वप्न देखनेवाले पुरुषके सुख और ज्ञान होते हुए अनुभवमें आरहे हैं, उसीके सदृश गहरी नींद लेकर पुनः अच्छा जगे हुए मनुष्यके भी सुखकी प्राप्ति और नींदमें भोगे हुए सुखका स्मरण तथा चार छह दिन पहिले शयनकी अवस्थामें उत्पन्न हुए सुखका आजके शयनसुखके साथ सादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि हो रहा देखा जाता है । अतः

सिद्ध है कि गाढ सोती हुयी अवस्थामें भी ज्ञान और सुख विद्यमान था। तभी तो जागते समय उसका प्रतिफलस्वरूप सुख और ज्ञानकी लहरें उठ रही हैं। सुखके उत्पन्न हो जानेपर कुछ देर पीछे तक भी सुखास्वादनकी स्मृतिलहरें उठती रहती हैं। सोकर उठनेपर भी वैसे ही सुखके पीछे होनेवाले अनुवेदनोंका अनुभव हो रहा है। सोती हुयी अवस्थामें संकल्प विकल्प रूप जो स्वप्न आते रहते हैं, उसको स्वप्न अवस्था कहते हैं और स्वप्नरहित सुखपूर्वक गहरी नींद लेनेको आत्माकी सुषुप्तावस्था कहते हैं।

स्वप्नदर्शिनो हि यथा सुप्तप्रबुद्धस्य सुखानुभवनादिस्मरणाद्विज्ञानस्वभावत्वं विभावयन्ति तथा सुषुप्तस्यापि सुखमतिसुषुप्तोऽहमिति प्रत्ययात्। कथमन्यथा सुषुप्तौ पुंसश्चेतनत्वमपि सिद्धयेत् प्राणादिदर्शनादिति चेत्—

स्वप्न देखनेवाले पुरुषके सोकर उठे पीछे जागृतदशामें होनेवाले सुखके अनुभव आदिका स्मरण करनेसे स्वप्नदर्शी आत्माका विज्ञान, सुख, स्वभावसहितपना जैसे अनुमित किया जाता है वैसे ही स्वप्नरहित गाढ सोते हुए मनुष्यके भी मैंने बहुत देरसे सुखपूर्वक अधिक शयन किया ऐसी प्रतीति होनेसे गहरी अवस्थामें भी आत्माके ज्ञान और सुखकी सिद्धि कर ली जाती है। यदि ऐसा न स्वीकार कर अन्य प्रकार माना जावेगा तो सोती हुई अवस्थामें मनुष्यके चेतनपना भी आप कैसे सिद्ध कर सकोगे? सुख, ज्ञान आदिका संवेदन करना ही तो चेतना है, बताओ। यदि प्राणवायु लेना, नाडीका चलना, आंखोंको मीचे रहनेका आभ्यन्तर प्रयत्न करना, मलमूत्र धारे रहना, मांस, रक्तमें दुर्गन्ध न आकर ताजा बनाये रखना, आदि क्रियाओंसे सोते हुए पुरुषकी चेतनाका साधन (अनुमान) करोगे यों तो—

यथा चैतन्यसंसिद्धिः सुषुप्तावपि देहिनः।
प्राणादिदर्शनात्तद्वद्बोधादिः किन्न सिद्धयति ॥ २३६ ॥
जाग्रतः सति चैतन्ये यथा प्राणादिवृत्तयः।
तथैव सति विज्ञाने दृष्टास्ता बाधवर्जिताः ॥ २३७ ॥

जैसे श्वासोच्छ्वास चलना आदिके देखनेसे गाढ सोती हुयी अवस्थामें भी आत्माके चेतनपनेकी बढिया सिद्धि मानते हो। भावार्थ—उन क्रियाओंसे जीवित रहनेके स्वभावका पता चलता है, उसीके समान सोते हुए और जागते हुए आत्माके स्वभाव जाने जा रहे ज्ञान, सुख, कर्तापन आदि क्यों नहीं सिद्ध हो जावेंगे? दूसरी युक्ति यह है कि जागते हुए पुरुषके चैतन्यके होनेपर ही जैसे श्वासोच्छ्वास चलना, आखोंका खोलना मींचना, उठना, बैठना, शब्द बोलना आदि प्रवृत्तियां देखी जाती हैं, वैसे ही जागते हुए मनुष्यके विशेष ज्ञानके होनेपर ही वे प्रवृत्तियां देखी जाती हैं।

ज्ञानके द्वारा उन प्रवृत्तियोंके होनेमें कोई बाधक नहीं है। यों वे वृत्तियां भी बाधारहित होनेके कारण समीचीन हैं। भावार्थ—सोते हुए मनुष्यके जैसे चेतनपनेके कार्योंको आप मानते हैं वैसे ही ज्ञानके द्वारा होते हुये कार्योंको भी आत्माके कार्य मानो। वस्तुतः चेतनपने और ज्ञानमें कुछ अंतर नहीं है।

वीरणादौ चैतन्याभावे प्राणादिवृत्तीनामभावनिश्चयान्निश्चितव्यतिरेकाभ्यस्ताभ्यः सुषुप्तौ चैतन्यसिद्धिरिति चेत्।

सांख्य कहते हैं कि कोरीके द्वारा तन्तुओंको स्वच्छ सुथरा करनेके लिये खसके बने हुए कूंचेमें या तुरी, वेमा आदिमें चैतन्यके न होनेपर श्वासोच्छ्वास लेना, नाडी चलना आदि प्रवृत्तियोंके अभावका निश्चय हो रहा है। इस कारण निश्चित कर लिया है साध्यके विना हेतुका अभाव जिनका ऐसी व्यतिरेकव्याप्तिवाली उन श्वासोच्छ्वास आदिकी प्रवृत्तियोंसे गाढ सोती हुयी अवस्थामें चैतन्यकी सिद्धि अनुमानसे कर ली जाती है, किंतु ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो पाती है, क्योंकि चैतन्यके साथ ही प्राणवायु चलने आदिकी व्याप्ति है। अब आचार्य बोलते हैं कि यदि सांख्य ऐसा कहेंगे तो—

प्राणादयो निवर्तन्ते यथा चैतन्यवर्जिते।
वीरणादौ तथा ज्ञानशून्येऽपीति विनिश्चयः॥ २३८॥

हम वैसे ही व्यतिरेकको ज्ञानके साथ घटाते हैं। सुनिये! जैसे चैतन्यसे रहित खसके कूंचे, तुरी, तन्तु आदिमें श्वासोच्छ्वास चलना, नाडीकी गति, अवयवोंका फडकना आदि कर्म निवृत्त होजाते हैं वैसे ही उन कूंचे, तुरी आदिमें ज्ञानरहित होनेपर भी प्राण आदिक की निवृत्ति होनेका विशेष निश्चय हो रहा है, अतः वे ज्ञानके भी कार्य सिद्ध हुए। भावार्थ—ज्ञान और चैतन्य दो पदार्थ नहीं है, आत्माके एक ही गुण हैं। शब्दका भेद है, अर्थभेद नहीं। चेतना तीनों कालोंमें रहनेवाला गुण हैं और ज्ञान उसकी अभिन्न पर्याय है। अतः अन्वयव्यतिरेक द्वारा जो चैतन्यकी व्याप्ति श्वास लेने आदिके साथ बनाई है वह ज्ञानकी भी समझनी चाहिये। ज्ञान आत्माका परिणाम है प्रकृतिका नहीं।

न हि चेतनत्वे साध्ये निश्चितव्यतिरेकाः प्राणादिवृत्तयो न पुनर्ज्ञानात्मकतायामिति शक्यं वक्तुम्, तदभावेऽपि तासां वीरणादावभावनिर्णयात्। चैतन्याभावादेव तत्र ता न भवंति न तु विज्ञानाभावादिति कोशपानं विधेयम्।

आत्माके चेतनपनेको साध्य करनेपर श्वासोच्छ्वास आदि प्रवृत्तियोंका व्यतिरेक निश्चय होता हो जावे और आत्माको ज्ञान-स्वरूप सिद्ध करनेपर, प्राण, अपान आदि प्रवृत्तियोंके व्यतिरेकका

तुरी आदिमें निश्चय न होवे, यह पक्षपातवाला नियम नहीं कह सकते हो, क्योंकि साध्यके न होने पर हेतुके न रहनेको अथवा कारणके न होनेपर कार्य उत्पन्न न होनेको व्यतिरेक कहते हैं । प्रकरण में चैतन्यके समान उस ज्ञानके भी न होनेपर उन श्वासोच्छ्वास आदि प्रवृत्तियोंके अभावका निश्चय हो रहा है । यदि सांख्य यह आग्रह करें कि उन तुरी, कूंचा आदिमें चेतनापना न होनेके कारण ही वे श्वास आदि प्रवृत्तियां नहीं होपाती हैं । किन्तु जैन लोग जो ज्ञानके अभाव होनेसे वहां उन प्रवृत्तियोंका निषेध कर रहे हैं सो तो नहीं है ।

इस प्रकार कापिलोंका कथन करना विना युक्तियोंके अपने कदाग्रह करनेकी सोगन्ध खा लेना है । अथवा अहिफेन खाकर बौराया हुआ पुरुष जैसे अपनी मनमानी हांकता रहता है वैसे ही ये सांख्य प्राण आदिकोंको विज्ञानका कार्य न मानकर केवल चैतन्यसे होना मान रहे हैं । वास्तवमें विचारा जाय तो वे विज्ञानके कार्य सिद्ध होते हैं । ज्ञानपर्यायसे परिणत होकर ही चैतन्य गुण कुछ कार्य कर सकेगा ।

सत्यम्, विज्ञानाभावे ता न भवन्ति, सत्यपि चैतन्ये मुक्तस्य तदभावादित्यपरे, तेषां सुषुप्तौ विज्ञानाभावसाधनमयुक्तम्, प्राणादिवृत्तीनां सद्भावात्, तथा च न सोदाहरणमिति कुतः साध्यसिद्धिः ।

यहां सांख्यमतके एकदेशीय कोई कहते हैं कि जैनियोंका कहना सत्य है । विज्ञानके हीन होनेपर श्वासोच्छ्वास आदिकी वे प्रवृत्तियां नहीं होती हैं, तभी तो मुक्तजीवोंके चैतन्यके होनेपर भी उन प्राण आदि प्रवृत्तियोंका अभाव है । यदि चैतन्यके कार्य प्राणादि माने जावें तो मोक्ष अवस्थामें भी श्वास लेने आदिका प्रसंग आवेगा । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई दूसरे वादी कह रहे हैं । श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाओंको ज्ञानके होनेपर मानना तो मुखप्रदेशमें अमृत लगे हुए घटके समान सुंदर प्रतीत होता है, किंतु मोक्ष अवस्थामें ज्ञान, सुखका न मानना पेटमें विष भरे हुए घटके समान अग्राह्य है । और उन एकदेशीय कापिलोंके यहां गहरी सोती हुयी अवस्थामें विज्ञानका अभाव सिद्ध करना तो युक्त नहीं पडेगा । क्योंकि सोते हुए मनुष्यके श्वासोच्छ्वास लेना, नाडी चलना, पाचकक्रिया होना आदि प्रवृत्तियां विद्यमान हैं । तब तो आत्मामें ज्ञान, सुख स्वभावके निषेध सिद्ध करनेके लिये दिया गया वह सोती हुयी अवस्थाका दृष्टांत नहीं बन सकेगा । इस कारण साध्यकी सिद्धि भला कैसे होगी ? बताओ । भावार्थ—कपिलके शिष्योंके कथनानुसार ही सोती हुयी अवस्थामें ज्ञान, सुख, वाले आत्माको बना कर जागते हुए, तथा स्वप्न लेते हुए और मोक्ष प्राप्त करनेपर भी आत्मामें ज्ञान सुख स्वभावोंकी सिद्धि हो जाती है । अतः दो सौ तीसवीं कारिकामें दिया गया सांख्योंका अनुमान सिद्ध नहीं हुआ ।

सुखबुद्ध्यादयो नात्मस्वभावाः स्वयमचेतनत्वाद्रूपादिवदित्यनुमानादिति चेत्, कुतस्तेषामचेतनत्वसिद्धिः ?

अब सांख्यजन अपने प्रकृतको सिद्ध करनेके लिए दूसरा अनुमान उठाते हैं कि सुख, बुद्धि, प्रसन्नता, कर्तापन, आदि परिणाम (पक्ष) आत्माके स्वभाव नहीं हैं (साध्य) क्योंकि वे सुख आदिक स्वयं अचेतन हैं (हेतु) जैसे कि रूप, रस, आदि गुण अचेतन होनेके कारण आत्माके स्वभाव नहीं हैं । (अन्वयदृष्टांत) अब आचार्य कहते हैं कि आप सांख्य इस अनुमानसे यदि अपने साध्यकी सिद्धि करोगे तो हम पूंछते हैं कि उन सुख आदिकोंमें आपने अचेतनपने हेतुकी सिद्धि किससे की है? बताओ । अन्यथा आपका अचेतनत्वहेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जायगा ।

सुखबुद्ध्यादयो धर्माश्चेतनारहिता इमे ।
भंगुरत्वादितो विद्युत्प्रदीपादिवदित्यसत् ॥ २३९ ॥
हेतोरात्मोपभोगेनानेकांतात्परमार्थतः ।
सोऽप्यनित्यो यतः सिद्धः कादाचित्कत्वयोगतः ॥ २४० ॥

ये सुख, ज्ञान, उत्साह, अभिमनन, आदिक धर्म (पक्ष) चेतनासे रहित हैं (साध्यदल) क्योंकि ये सुख आदिक थोडी देरतक ठहरकर नष्ट हो जाते हैं । या कारणोंके द्वारा किये गये कार्य हैं अथवा उत्पत्तिमान् हैं आदि (इत्यादि ज्ञापक हेतु हैं) जो कार्य हैं, उत्पत्तिवाले हैं, और थोडी देर ठहरते हैं, वे अवश्य अचेतन हैं, जैसे कि बिजली; दीपकलिका, बुदबुदा, इन्द्रधनुष आदि पदार्थ अचेतन हैं । (अन्वयव्याप्तिपूर्वक दृष्टांत) । ग्रंथकार कहते हैं कि यह सांख्योंका अनुमान समीचीन नहीं है, क्योंकि कृतकत्व, भंगुरत्व आदि हेतुओंका आत्माके उपभोगसे व्यभिचार हो जाता है, सांख्योंने वास्तविकरूपसे आत्माके उपभोगको कभी कभी होनारूप क्रियाके संबंधसे अनित्य सिद्ध किया है । सांख्यमतमें इंद्रियोंके द्वारा रस आदिकका ज्ञान होनेपर आत्मासे उसका उपभोग होना माना है । और वह उपभोग करना तो आत्माका स्वभाव है ही ऐसी दशामें कदाचित् होने-वालेपनके योगसे आत्माके भोगमें जब कि अनित्यपना सिद्ध हो गया और उस भोगमें अचेतनपन साध्य न रहा अतः आपके कृतकत्व, उत्पत्तिमत्त्व और भंगुरत्व ये तीनों हेतु व्यभिचार दोषवाले हो गये । यों सांख्योंका निरूपण प्रशस्त नहीं है ।

पुरुषानुभवो हि नश्वरः कादाचित्कत्वाद्दीपादिवदिति परमार्थतस्तेन भंगुरत्वमनैका-न्तिकमचेतनत्वे साध्ये ।

जब कि आत्माके द्वारा प्राकृतिक हर्ष, अभिमान, अध्यवसाय, आदिकोंका भोग करना निश्चयरूपसे नाश होनेवाला है, क्योंकि वह भोग कभी हुआ करता है, जैसे दीपकलिका नाश-स्वभाववाली है । इस अनुमानसे वास्तवमें भोगको क्षणध्वंसीपना सिद्ध हो जाता है । अतः अचेतनत्व साध्यको सिद्ध करनेमें दिया गया भंगुरत्व हेतु इस आत्मसंबंधी भोगसे व्यभिचारी है ।

कादाचित्कः कुतः सिद्धः पुरुषोपभोगः स्वसद्भावादिति चेत्—

जैनोंने पुरुषके भोगको नश्वरत्व सिद्ध करनेके लिये कभी कभी होनापन हेतु दिया था। हम सांख्य पूंछते हैं कि जब आत्मा सर्वदा विद्यमान रहता है तो आत्माका उपभोग कभी कभी होवे, यह बात आपने किस प्रमाणसे सिद्ध कर लीनी है। समझाइये। आचार्य कहते हैं कि यदि सांख्य ऐसा कहेंगे तो—

कादाचित्कः परापेक्षासद्भावाद्विभ्रमादिवत् ।
बुद्ध्यध्यवसितार्थस्य शब्दादेरुपलम्भतः ॥ २४१ ॥
परापेक्षः प्रसिद्धोऽयमात्मनोऽनुभवोऽञ्जसा ।
परानपेक्षितायां तु पुंदृष्टेः सर्वदर्शिता ॥ २४२ ॥

हम जैन दूसरा अनुमान करते हैं कि वह पुरुषका भोग कभी कभी होनेवाला है (प्रतिज्ञा) क्योंकि भोगको दूसरेकी आकांक्षा करनेका सद्भाव बना रहता है। (हेतु) जैसे चकाचौंध, कामल, चाकचक्य आदि दोषोंसे भ्रांतिज्ञान, संशयज्ञान कभी कभी होते हैं, वैसे ही बुद्धिके द्वारा निश्चित किये हुए शब्द, रूप, रस आदि विषयोंका आत्माको भोग होना देखा जाता है। इस कारण यह आत्माका अनुभव परकी अपेक्षा रखनेवाला स्पष्ट अभ्रांतरूपसे प्रसिद्ध है। यदि पुरुषको चेतना करने या उपभोग करनेमें बुद्धिके अध्यवसायकी अपेक्षा हुई न मानोगे तो आत्मा सर्वदर्शी और सर्वभोक्ता बन जावेगा। किसीके साथ दूरपना और अन्य किसीके साथ समीपपना तो रहा नहीं, आत्मा सर्वत्र व्यापक है ही।

परापेक्षितया कादाचित्कत्वं व्याप्तम्, तेन चानित्यत्वमिति तत्सिद्धौ तत्सिद्धिः। परापेक्षिता पुरुषानुभवस्य नासिद्धा, परस्य बुद्ध्यध्यवसायस्यापेक्षणीयत्वात्, बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयत इति वचनात्। परानपेक्षितायां तु पुरुषदर्शनस्य सर्वदर्शितापत्तिः, सकलार्थबुद्ध्यध्यवसायापायेऽपि सकलार्थदर्शनस्योपपत्तेरिति योगिन इवायोगिनोऽ मुक्तस्य च सार्वज्ञमनिष्टमायातम्।

वार्तिकोंका भाष्य यों हैं कि दूसरे कारणोंकी अपेक्षा रखनेवालापन हेतु व्याप्य है और कभी कालमें उत्पन्न होनापन साध्य व्यापक है। इस कारण परापेक्षीपनसे कादाचित्कपना व्याप्त हो रहा है। अर्थात् जहां जहां परापेक्षीपना है, वहां वहां कादाचित्कपना भी अवश्य विद्यमान है और इस साध्यको जब हेतु बना लिया तो उस कादाचित्कपन हेतुसे अनित्यपना साध्य अविनाभाव रखता है अर्थात् जहां जहां कादाचित्कपना है, वहां वहां अनित्यपना भी अवश्य है। भङ्गुरका और अनि-

त्वका एक ही अर्थ है। इस प्रकार उस अनित्यपनेकी सिद्धि होनेपर आपके भङ्गुरत्व हेतुसे पुरुषके उस भोगमें अचेतनपना सिद्ध हो जाता है, जो कि आपको अनिष्ट है। अतः सुख आदिकको अचेतनपना सिद्ध करनेमें दिया गया आपका भंगुरत्व हेतु व्यभिचारी है। पुरुषके उपभोगरूप पक्षको (में) परकी अपेक्षा रखनापन हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि आत्माका भोग अपनी उत्पत्तिमें बुद्धिके द्वारा किये गये निर्णयरूप दूसरे कारणकी अपेक्षा करता है आपके सांख्यदर्शनका वाक्य है कि "बुद्धिसे निर्णीत किये गये अर्थको ही आत्मा अनुभव करता है"। यदि पुरुषकी चेतना करनेमें दूसरे कारणकी अपेक्षा न मानी जावेगी तो आत्माको सर्व पदार्थोंकी चेतनारूप अनुभव करनेका प्रसंग आवेगा। आत्मा सबका द्रष्टा बन जावेगा क्योंकि सकल पदार्थोंका बुद्धिके द्वारा निर्णय न करनेपर भी आपके कथनानुसार सकलपदार्थोंका अनुभव या दर्शन करना बन जाता है। इस कारण सम्प्रज्ञात योगवाले सर्वज्ञोंके समान सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योगसे होरहे मुक्त जीवोंके अथवा साधारण संसारी जीवोंके भी सर्वज्ञपना प्राप्त हो जावेगा, जो कि आप सांख्योंको इष्ट नहीं है। पतञ्जलि दर्शन भी इस बातको इष्ट नहीं करता है।

सर्वस्य सर्वदा पुंसः सिद्ध्युपायस्तथा वृथा।
ततो दृग्बोधयोरात्मस्वभावत्वं प्रसिद्ध्यतु ॥ २४३ ॥
कथञ्चिन्नश्वरत्वस्याविरोधान्नर्यपीक्षणात्।
तथैवार्थक्रियासिद्धेरन्यथा वस्तुताक्षतेः ॥ २४४ ॥

जब कि बिना उपायके ही सम्पूर्ण जीव सर्वज्ञ हो जावेंगे तैसा होनेपर तो सब कालमें सम्पूर्ण जीवोंको सिद्धिके कारण दीक्षा, तपस्या, योग, तत्त्वज्ञान आदि उपायोंका अवलम्ब करना निष्फल है। उस कारणसे हमारा कहना ही प्रसिद्ध हो, जाओ कि चैतन्य और ज्ञान दोनों ही आत्माके स्वभाव हैं, दोनों अभिन्न है। और जो आत्माको ज्ञानस्वरूप माननेसे आत्माकी अनित्यताके प्रसंगका भय लगा हुआ है। वह भय भी आप सांख्योंको हृदयसे निकाल देना चाहिये। क्योंकि घटके समान आत्मामें भी किसी अपेक्षासे अनित्यपनेका कोई विरोध नहीं है। आत्मासे तादात्म्यसम्बन्ध रखनेवाले परिणामोंका कथञ्चित् उत्पाद और विनाश माना है। इस प्रकार होनेपर ही तो आत्मामें अर्थक्रियाकी सिद्धि देखी जाती है। आत्माकी अर्थक्रिया यही है कि मतिज्ञानका नाश और श्रुतज्ञानका उत्पाद होवे तथा बाल्य अवस्थासे कुमार अवस्था, और कुमार अवस्थाका विनाश होकर युवा अवस्थाका उत्पाद होवे। इत्यादि अर्थक्रियाएं यदि आत्मामें नहीं मानी जावेंगी तो अन्य प्रकारोंसे आत्माका वस्तुपन नष्ट हो जावेगा। भावार्थ—अर्थक्रियाओंके बिना आत्मा वस्तु न ठहर सकेगा। एककल्पित पदार्थ मान लिया जावेगा। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" यह

अखण्ड सिद्धान्त है। द्रव्यत्वगुण और कालाणुयें प्रत्येक वस्तुको प्रतिक्षण नवीन पर्यायोंको धारनेके लिये उत्तेजित करते रहते हैं।

सर्वस्य सर्वज्ञत्वे च वृथा सिद्ध्युपायः साध्याभावात्। सिद्धिर्हि सर्वज्ञता मुक्तिर्वा कुतश्चिदनुष्ठानात्साध्यते ? तत्र न तावत्सर्वज्ञता तस्याः स्वतः सिद्धत्वात्। नापि मुक्तिः सर्वज्ञतापाये तदुपगमात्तस्य चासम्भवात्। परानपेक्षितायाः सर्वदर्शितायाः परानिवृत्तावपि प्रसक्तेः।

सदा सब जीवोंको सुलभतासे ही जब सर्वज्ञपना प्राप्त हो गया तो सिद्धिका तपस्या, उपवास, वैराग्य आदिके द्वारा उपाय करना व्यर्थ है। क्योंकि मोक्षमें हमको सर्वज्ञताके अतिरिक्त कोई अन्य साधने योग्य कार्य करना नहीं है। आप कापिलोंसे हम पूंछते हैं कि जिस सिद्धिको आप भेदविज्ञान, तपस्या, पुण्यकर्मका अनुष्ठान आदि किन्हीं उपायोंसे साधते हैं, वह सिद्धि आपके यहां क्या मानी गयी है ? बताओ। केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंका एक समयमें प्रत्यक्ष करना सिद्धि है ? अथवा ज्ञान, सुख आदिकका नाश होकर आत्माका स्वरूपमें स्थित रहनारूप मोक्षको आप सिद्धि मानते हैं। कहिये। उन उक्त दोनों पक्षोंमें पहिली सर्वज्ञतारूप सिद्धि मानना तो ठीक नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञता तो तपस्या, पुण्यकर्म आदि उपायोंके बिना ही अपने आप सुलभतासे सिद्ध हो जाती मान ली गयी है। आपके मतमें सर्वज्ञपना प्रकृतिका धर्म है और प्रकृतिका आत्मासे संसर्ग हो रहा है। बुद्धिसे निर्णय किये जा चुकनेपर अनुभव करनेका झगडा अभी आपने निकाल ही दिया है।

दूसरे पक्षके अनुसार आत्माकी मोक्ष हो जानेको सिद्धि मानेंगे, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि आपने असंप्रज्ञात योगसे प्रकृतिकी ओरसे आई हुई सर्वज्ञताका नाश हो जाने पर द्रष्टा, चेतयिता, आत्माकी उस स्वरूपमें स्थितिको मोक्ष माना है। किंतु जब सर्वज्ञता आत्माको स्वतः सिद्ध प्राप्त हो गयी है तो उसका नाश करना सम्भव नहीं है। सबको देखनेवाली सर्वज्ञताको जब दूसरे कारण कहे गये बुद्धिके अध्यवसायकी अपेक्षा ही नहीं है तो प्रकृतिकी बनी हुयी बुद्धिका मोक्ष अवस्थामें निवारण या अनिवारण होनेपर भी सर्वज्ञताके अक्षुण्ण बने रहनेका प्रसंग विद्यमान है। भावार्थ— सर्वज्ञता अब आत्मासे दूर नहीं हो सकती है। क्योंकि दर्शनके समान ज्ञान भी आत्माका स्वभाव है स्वभावमें परकी अपेक्षा नहीं मानी गयी है।

स्यान्मतम् न बुद्ध्यध्यवसितार्थालोचनं पुंसो दर्शनं तस्यात्मस्वभावत्वेन व्यवस्थितत्वादिति तदपि नावधानीयम्, बोधस्याप्यात्मस्वभावत्वोपपत्तेः। न ह्यहंकाराभिमतार्थाध्यवसायो बुद्धिस्तस्याः पुंस्वभावत्वेन प्रतीतेर्बाधाभावात् इति दर्शनज्ञानयोरात्मस्वभावत्वमेव प्रसिद्ध्यतु विशेषाभावात्।

भले ही आप सांख्योंका यह भी मन्तव्य होवे कि बुद्धिके द्वारा निर्णीत किये गये अर्थका आलोचन करना पुरुषका चैतन्य करना नहीं है। क्योंकि अर्थका वह संचेतन करना या दर्शन करना तो आत्माका स्वभाव है, यह प्रमाणोंसे सिद्ध कर दिया गया है। आचार्य कहते हैं कि सो वह मन्तव्य भी सांख्योंको अपने चित्तमें नहीं विचारना चाहिये, क्योंकि ऐसा माननें पर तो ज्ञानको भी आत्माका स्वभाव होना सिद्ध हो जाता है। दर्शन और ज्ञान एक ही थैलीके चट्टे बट्टे हैं। सम्पूर्ण विषयोंका मैं ही भोक्ता हूं, मेरे सिवाय कोई इनका अधिकारी नहीं है ऐसा अभिमानरूप " मैं मैं " इस प्रकार आत्मगौरव के साथ आत्माका अर्थनिर्णय करना तो जड प्रकृतिकी बनी हुयी बुद्धि नहीं है। प्रत्युत वह बुद्धि चेतन आत्माका स्वभाव है। ऐसा स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे प्रतीत हो रहा है। इस प्रतीतिका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इस प्रकार दर्शन और ज्ञान दोनों उपयोगोंको आत्माका स्वभावपना ही प्रसिद्ध होता है, सो आप मानलो। दर्शनको आत्माका स्वभाव माना जावे और ज्ञानको प्रकृतिका धर्म कहा जावे आपके इस कथनमें कोई विशेषता नहीं पायी जाती है।

ननु च नश्वरज्ञानस्वभावत्वे पुंसो नश्वरत्वप्रसंगो बाधक इति चेत् न, नश्वरत्वस्य नरेऽपि कथञ्चिद्विरोधाभावात्, पर्यायार्थतः परपरिणामाक्रान्ततावलोकनात्। अपरिणामिनः क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेर्वस्तुत्वहानिप्रसंगान्नित्यानित्यात्मकत्वेनैव कथञ्चिदर्थक्रियासिद्धिरित्यलं प्रपञ्चेन। आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकस्य प्रसिद्धेः।

शंकाकारकी मुद्रा बनाकर स्वपक्षका अवधारण करते हुए सांख्यज्ञानको आत्माका स्वभाव सिद्ध करनेवाली प्रतीतिमें बाधक उपस्थित करते हैं कि यदि उत्पाद विनाश होनेकी टेव रखनेवाले ज्ञानको आत्माका स्वभाव होना माना जावेगा तो आत्मासे अभिन्न माने गये ज्ञानके समान आत्माको भी नाशशील होनेका प्रसंग होवेगा। यही आत्माको ज्ञानस्वभाव सिद्ध करनेवाली प्रतीतिका बाधक है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि कथञ्चित् नाश होनापने–स्वभावका आत्मामें भी कोई विरोध नहीं है। पर्यायार्थिक नयसे वही एक आत्मा भिन्न भिन्न दूसरी अनेक पर्यायोंमें व्याप्त होता हुआ देखा जा रहा है। आत्मा द्रव्य नित्य है। उसकी अभिन्न पर्यायें उत्पाद विनाशशाली हैं। एक ज्ञान नष्ट होता है, दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है। युवावस्था नष्ट होती है और वृद्धावस्था उत्पन्न होती है। मनुष्यपर्यायका नाश होकर देवपर्याय उत्पन्न हो जाती है। यदि आत्माको कूटस्थ अपरिणामी माना जावेगा तो उसकी क्रमसे होनेवाली और साथ होनेवाली अनेक अर्थक्रियाएं नहीं बन सकेंगी। इस कारण अर्थक्रियाके बिना आत्माका वस्तुपना ही नष्ट हो जावेगा। यह वस्तुत्वकी हानिका प्रसंग न होवे, इसलिये कथञ्चित् नित्य और अनित्य स्वरूपपनेसे ही आत्माके देखना, जानना, भोगना आदि अर्थक्रियाओंकी सिद्धि हो सकती है। आत्माको ज्ञानस्वभाव

सिद्ध करनेमें अच्छा विचार हो चुका । अब पुनः पुनः आप सांख्य ज्ञानस्वभावका खण्डन-करनेकेलिये जो युक्तियां देते हैं, वे निस्तत्त्व, पुनरुक्त और पोच हैं । अतः अधिक प्रपञ्च बढानेसे आपका कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा । आत्माके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग दोनोंही आत्मीय स्वभाव हैं । प्रतिवादियोंका प्रत्याख्यान करते हुए अबतक यह बात विस्तारके साथ सिद्ध हो चुकी हैं ।

संसारव्याधिविध्वंसः क्वचिज्जीवे भविष्यति ।
तन्निदानपरिध्वंससिद्धेर्ज्वरविनाशवत् ॥ २४५ ॥
तत्परिध्वंसनेनातः श्रेयसा योक्ष्यमाणता ।
पुंसः स्याद्वादिनां सिद्धा नैकान्ते तद्विरोधतः ॥ २४६ ॥

ग्रंथके आदिमें तीसरी वार्तिकद्वारा पहिले सूत्रकी प्रवृत्तिका कारण उपयोगस्वरूप और कल्याणमार्गसे भविष्यमें संसर्ग करनेवाले आत्माकी समझनेकी इच्छा होना बतलाया गया है। तिनमें पहिला यानी आत्माको ज्ञानस्वभाववाला सिद्ध कर दिया जा चुका है । अब आत्माका कल्याणमार्गसे संबंध हो जानेकी जिज्ञासाको अनुमानद्वारा सिद्ध करते हैं । किसी न किसी विवक्षित आत्मामें संसारके सर्वदुःखोंका विनाश हो जावेगा (प्रतिज्ञा) क्योंकि आदिकारण ज्ञानावरण आदि कर्मोंका रत्नत्रयसे प्रागभावका असमानकालीन परिक्षय होना सिद्ध हो रहा है । (हेतु) जैसे कि ज्वरांकुश, कुटकी, चिरायता आदिसे ज्वरके कारणोंके नाश हो जानेपर जड-सहित ज्वरका नाश हो जाता है । (अन्वयदृष्टांत) इस कारण उस संसारकी व्याधियोंके नाश हो जानेसे आत्माका कल्याण मार्गसे भविष्यमें सम्बन्धित हो जाना सिद्ध हो जाता है । स्याद्वादियोंके मतमें परिणामी आत्माके यह बात बन जाती है । नित्य एकांत या अनित्य एकांतमें पहिलेके दुःखी आत्माका वर्तमानमें सुखी हो जानापन नहीं बनता है क्योंकि विरोधदोष आता है । जिस सांख्यके मतमें कूटस्थ नित्य आत्मा माना है वह सर्वदा एकसा ही रहेगा । बौद्धमतमें प्रतिक्षण बदलता ही रहेगा । जो दुःखी था वही सुखी न हो सकेगा । दुःख एकका है तत्त्वज्ञान दूसरेको, और मोक्ष तीसरेको होगी । तथा च एकांतवादियोंको जैनमतानुसार परिणामी नित्य आत्माके माननेपर अपने मंतव्योंसे विरोध हो जावेगा ।

सत्यप्यात्मोपयोगात्मा न श्रेयसा योक्ष्यमाणः कश्चित् सर्वदा रागादिसमाक्रान्तमानसत्वादिति केचित्सम्प्रतिपन्ना तान्प्रति तत्साधनमुच्यते ।

आत्मा ज्ञानदर्शनोपयोगस्वरूप होकर विद्यमान रहता है । ऐसा होते हुए भी कोई आत्मा मोक्षमार्गसे सम्बन्धित हो जासके, यह जैनोंका सिद्ध करना ठीक नहीं है । क्योंकि सभी आत्माओंके

अन्तःकरण राग, द्वेष, मोह आदिकसे सदा ही भरे रहते हैं। जिन आत्माओंका मन क्रोध, प्यार, मूढतासे परिपूर्ण हो रहा है वे दूषित आत्मायें भला मोक्षमार्गसे कैसे तदात्मक बन सकेंगे, इस प्रकार कोई कोई प्रतिवादी समझ बैठे हैं। उनके प्रति जीवोंका मोक्षमार्गमें लग जानेको सिद्ध करनेवाला हेतुसहित अनुमान कहा जाता है।

श्रेयसा योक्ष्यमाणः कश्चित् संसारव्याधिविध्वंसित्वान्यथानुपपत्तेः। श्रेयोऽत्र सकलदुःखनिवृत्तिः, सकलदुःखस्य च कारणं संसारव्याधिस्तद्विध्वंसे कस्यचित्सिद्धं श्रेयसा योक्ष्यमाणत्वम्, तल्लक्षणकारणानुपलब्धेः।

कोई आत्मा (पक्ष) कल्याणमार्गसे युक्त होनेवाला है (साध्य) क्योंकि संसाररूप व्याधियोंका नाश करनेवालापन हेतु इस साध्यके बिना अन्यप्रकार बन नहीं सकता है। भावार्थ—संसारके दुःखोंका नाशकपना-हेतु मोक्षमार्गसे युक्त होनेवाले साध्यके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखता है। इस अनुमानमें कल्याणका अर्थ शारीरिक, मानसिक, चेतन, अचेतनकृत और कर्मकृत सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति हो जाना है तथा सम्पूर्ण दुःखोंका कारण जीवका पञ्च-परावर्तनरूपसे संसरण करना—स्वरूप व्याधि है। उसके कारण मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम और कषाय है। संसारके इन प्रधान कारणोंका सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रसे जब नाश कर दिया जाता है तो संसाररूप व्याधिका भी नाश हो जाता है। और उस संसाररूप—व्याधिके नष्ट हो जानेपर किसी आत्माका सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्तिरूप कल्याणसे संयुक्त हो जाना भी सिद्ध हो जाता है। उस संसारव्याधिरूप कारणकी अनुपलब्धि हो जानेसे कल्याणमार्गसे लग जानारूप साध्यकी सिद्धि हो जाती है। पहिले अनुमानमें कारणके नाशसे संसारव्याधिस्वरूप—कार्यका नाश सिद्ध किया है। यहां क्षयका अर्थ निषेध किया जावे तो हेतु अविरुद्धकारणानुपलब्धि—स्वरूप है। अथवा क्षयको भावकार्य माना जावे तो अविरुद्धकारणोपलब्धिरूप हेतु है। और दूसरे अनुमानमें व्याधि-ध्वंस—हेतुसे कल्याणसम्बन्धीपना सिद्ध किया है, यह हेतु विरुद्ध कारणानुपलब्धि रूप है। यदि ध्वंसको भावरूप माना जावे तो पूर्ववत् अविरुद्धकारणोपलब्धि स्वरूप है।

न च संसारव्याधेः सकलदुःखकारणत्वमसिद्धं जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्। पारतन्त्र्यं हि दुःखमिति। एतेन सांसारिकसुखस्य दुःखत्वमुक्तं स्वातन्त्र्यस्यैव सुखत्वात्।

संसाररूपी रोगको सकल दुःखोंका कारणपना असिद्ध नहीं है क्योंकि कर्मोंके आधीन चारों गतियोंमें परिभ्रमण करनारूप—संसार ही जीवकी परतन्त्रताका कारण है और पराधीनता ही निश्चयसे दुःख है। इस प्रकार संसाररूप—रोग ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण सिद्ध हुआ। इस समर्थनसे संसारमें होनेवाले इंद्रियजन्य क्षणिक सुखोंको दुःखपना कह दिया गया है। क्योंकि वास्तवमें स्वतं-

श्रताको ही सुख माना गया है। इंद्रियजन्य स्पर्श, रस आदिकके सुख स्वतंत्र नहीं है, पराधीन हैं। पराधीन अवस्थामें भला सुख कहां ? । वे कल्पितसुख क्षणिक हैं, बाधासहित हैं, विपक्ष-सहित भी हैं।

शक्रादीनां स्वातन्त्र्यसुखमस्त्येवेति चेन्न, तेषामपि कर्मपरतन्त्रत्वात् ।

यहां कोई दोष उठाता है कि इंद्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती, भोगभूमियां तथा राजा, महाराजाओं आदिको स्वाधीनतारूप सुख है ही। आचार्य समझाते हैं कि यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे सभी शुभ और अशुभ कर्मोंसे परतंत्र हो रहे हैं, जकडे हुए हैं। भावार्थ—हम समझते हैं कि हम स्वतंत्रतासे खा रहे हैं, भोग भोग रहे हैं, पढा रहे हैं, गाना गाते या सुन रहे हैं, हंस रहे हैं, आनंद कर रहे हैं, किंतु इन सम्पूर्ण क्रियाओंमें स्वतंत्रता तो अत्यल्प है और कर्मोंकी पराधीनता ही बहुभाग प्रधान कारण है। इस जीवको कर्मके उदयसे स्त्रीका शरीर मिलता है, तब पुरुषसे रमण करनेके भाव होते हैं और पुरुषका शरीर मिलनेपर पुंवेदका उदय होनेसे पुरुषोचितभाव होते हैं। स्वर कर्मके उदय होनेपर तथा भाषावर्गणाके आ जानेपर गाना गाया जाता है। हास्य कर्मका उदय होनेपर हंसता है। बाल्यावस्थामें खेलने, कूदनेके परिणाम होते हैं। आत्माको सिंहका शरीर मिलने पर क्रूरता, शूरताके भाव हो जाते हैं। बकरीके शरीरमें भय, पत्ता खाना, मैं मैं शब्दसे रोना, आदि विकार होते हैं। कोई पशु या स्त्री अपने हठसे मनुष्य बननेका पुरुषार्थ करे, वह सब व्यर्थ है। अभिप्राय यह है कि जितना कुछ हम पुरुषार्थपूर्वक कार्य करना समझ रहे हैं, उनमें कर्मोंकी प्रेरणाका हाथ अधिक है। चिरकालका तीव्र रोगी एक पलमें नीरोग होनेका यदि प्रयत्न करे तो वह प्रयत्न निष्फल हो जावेगा। सामायिकको छोडकर आत्माके यश, काम, अर्थका उपार्जन, चलना आदि व्यापारोंमें, कठपुतलियोंके नचानेमें बाजीगरके समान पुण्य, पाप, कर्म ही प्रयोक्ता माना गया है। अतः सम्राट् आदिकोंका सुख पराधीन होनेसे वास्तविक सुख नहीं है। वेदनाका प्रतीकार मात्र है, बहुभाग दुःखसे ही मिश्रित है। एक जैन कविने ठीक कहा है कि " न कोऽपि कस्यापि सुखं ददाति न कोऽपि कस्यापि ददाति दुःखम् ॥ परो ददातीति कुबुद्धिरेषा स्वकर्मसूत्र-ग्रथितो हि जीवः ॥ " न तो कोई भी किसीको सुख देता है और न कोई किसी जीवको दुःख ही देता है। जो मनुष्य यह कहता है कि अमुक हमको सुख देता है। यह हमको दुःख देता है यह सब कुबुद्धि है क्योंकि यह संसारी जीव अपने अपने कर्मसूत्रोंसे गुथा हुआ है।

निराकांक्षतात्मकसन्तोषरूपं तु सुखं सांसारिकं, तस्य देशमुक्तिसुखत्वात् । देशतो मोहक्षयोपशमे हि देहिनो निराकाङ्क्षता विषयरतौ नान्यथातिप्रसंगात् ।

इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंकी आकाक्षांओंसे रहित जो संतोषसुख है, वह तो संसारका सुख नहीं है किन्तु एकदेशमोक्षका सुख है। अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कर्मोंका

उदय न होनारूप एकदेश कर्मोंकी मोक्ष हो जानेपर वह संतोषामृतसुख आत्मामें स्वभावसे प्रगट हो जाता है। मोहनीयकर्मका कुछ अंशोंसे क्षयोपशम हो जानेपर ही विषयोंकी आसक्ति में आत्माके वीतरागता उत्पन्न होजाती है। संसारके संकल्पविकल्पोंसे रहित वीतरागी होनेका अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है। अन्यथा एकेन्द्रियजीवोंको भी संन्तोषी वीतरागी बननेका अतिप्रसंग हो जावेगा। यदि नदीस्नान, बाल मुंडाना आदि बहिरंग क्रियाओंसे वीतरागी साधु बन सकें तो मच्छली, मेंढक, मेड आदि भी प्रधान वीतरागी बन जावेंगे।

तदेतेन यतिजनस्य प्रशमसुखमसांसारिकं व्याख्यातम्। क्षीणमोहानां तु कात्स्र्न्यतः प्रशमसुखं मोहपरतन्त्रत्वनिवृत्तेः।

इस कारण इस उक्त कथनसे छठवें, सातवें आदि गुणस्थानवाले मुनि ऋषियोंको जो प्रकृष्ट शान्तिस्वरूप सुख है, वह संसारसम्बन्धी नहीं है। यह बात भी समझा दी गयी है और जिनका मोहनीय कर्म सर्वथा बन्ध, उदय और सत्त्वपनेसे क्षयप्राप्त हो गया है। उन बारहवे गुणस्थानवाले निर्ग्रन्थ और तेरहवेंवाले स्नातक साधुओंके तो सम्पूर्णरूपसे आत्मीय स्वाभाविक प्रशान्तिका सुख है। क्योंकि मोहनीय कर्मकी पराधीनता सर्वथा नष्ट हो गयी है। तभी तो आत्माका स्वाभाविक सुख गुण व्यक्त हो गया है। जीवन्मुक्ति है ही, परममुक्ति भी अब दूर नहीं है।

यदपि संसारिणामनुकूलवेदनीयप्रातीतिकं सुखमिति मतम्, तदप्यभिमानमात्रम् पारतन्त्र्याख्येन दुःखेनानुषक्तत्वात्तस्य तत्कारणत्वात् कार्यत्वाच्चेति न संसारव्याधि-र्जातुचित्सुखकारणं येनास्य दुःखकारणत्वं न सिद्ध्येत्।

जो भी संसारी जीवोंके सातावेदनीयका उदय होनेपर अपनी अनुकूल प्रतीतिके अनुसार वैभाविक आनंदका अनुभवन करनारूप सुख प्रतीत हो रहा है यह मंतव्य है, वह भी केवल अभिमान करना मात्र है; क्योंकि वास्तवमें संसारी जीवोंको अभीतक ठीक सुखका अनुभव ही नहीं हुआ है। मिश्रीके रससे लिपटी हुयी छुरीको चाटनेके समान या दादको खुजानेके समान सांसारिक सुखका अनुकूलवेदन हो रहा है, किंतु ये सब सुखाभास हैं। वे परतंत्रतानामक—दुःखसे भरपूर होकर सन रहे हैं क्योंकि वे सब माने हुए सुख बिचारे कर्मोंकी अधीनतारूप कारणोंसे ही तो उत्पन्न हुए हैं और पीछेसे पराधीन कर देना भी उन सुखोंका कार्य है। भावार्थ—दुःखसे ही वे सुख उत्पन्न हुए हैं और भविष्यमें भी दुःखकार्यको उत्पन्न कर देते हैं। एक मनुष्यको लाल मिर्च खाना अच्छा लगता है। किसीको दूसरोंके पीटनेमें आनंद आता है, वह दुःखका कार्य और दुःखका कारण भी है। यही दूध पीना, भोजन करना, भोग करना आदि सुखाभासोंमें भी समझ लेना। इस प्रकार संसाररूपव्याधि कभी सुखका कारण नहीं हो सकती है। जिससे कि संसार-

रोगको दुःखकारणपना सिद्ध न होवे । अर्थात् संसारकी व्याधि, आधि, उपाधियां अनेक दुःखोंके कारण हैं । जो जीव व्याधियोंका नाश कर देता है, वह सुखके मार्गमें लग जाता है ।

तद्विध्वंसः कथमिति चेत्, क्वचिन्निदानपरिध्वंससिद्धेः । यत्र यस्य निदानपरिध्वंसस्तत्र तस्य परिध्वंसो दृष्टो यथा क्वचिज्ज्वरस्य । निदानपरिध्वंसश्च संसारव्याधेः शुद्धात्मनीति कारणानुपलब्धिः । संसारव्याधेर्निदानं मिथ्यादर्शनादि, तस्य विध्वंसः सम्यग्दर्शनादिभावनाबलात् क्वचिदिति समर्थयिष्यमाणत्वान्न हेतोरसिद्धता शङ्कनीया ।

उन व्याधियोंका ध्वंस कैसे होगा ? ऐसा पूंछनेपर तो हम उत्तर देते हैं कि किसी न किसी निकटभव्य आत्मामें (पक्ष) व्याधियोंके प्रधानकारणोंका नाश सिद्ध हो चुका है (साध्य) । जहां जिस कार्यके आदिकारणका पूर्ण क्षय हो जाता है । वहां उस कार्यका नाश हो जाना देखा गया है । जैसे कि ज्वरके कारण वात, पित्त, कफके दोषोंका विनाश हो जानेपर किसी रोगीमें ज्वरका नाश हो जाता है, या अग्निके प्रकर्ष होनेपर जैसे शीतस्पर्शका नाश हो जाता है (व्याप्ति पूर्वक अन्वय दृष्टांत) इसीके सदृश संसाररोगके निदानका क्षय शुद्ध आत्मामें विद्यमान है । (उपनय) इस प्रकार कारणकी अनुपलब्धिसे कार्यका अभाव जान लिया जाता है । (निगमन) संसारव्याधिके प्रधानकारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका यथायोग्य परिपालन और पूर्णताकी भावना भावनेकी सामर्थ्यसे उन मिथ्यादर्शन आदिकोंका बढिया नाश किसी एक मुमुक्षु आत्मामें हो जाता है । इस बातका भविष्यमें अच्छी तरहसे समर्थन कर देनेवाले हैं । अतः कल्याणमार्गसे युक्त होना नामक साध्य करनेमें दिये गये व्याधिविध्वंसकपना हेतुके असिद्धतादोषकी आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि किसी निकटभव्य जीव आत्मारूप पक्षमें यह हेतु विद्यमान है ।

सरसि शंखकादिनानैकान्तिकोऽयं हेतुः, स्वनिदानस्य जलस्य परिध्वंसेऽपि तस्यापरिध्वंसादिति चेन्न तस्य जलनिदानत्वासिद्धेः । स्वारम्भकपुद्गलपरिणामनिदानत्वात् शंखकादेस्तत्सहकारिमात्रत्वाज्जलादीनाम् । न हि कारणमात्रं केनचित्कस्यचिन्निदानमिष्टं नियतस्यैव कारणस्य निदानत्वात् । न च तन्नाशे कस्यचिन्निदानिनो न नाश इत्यव्यभिचार्येव हेतुः कथंचन संसारव्याधिविध्वंसनं साधयेद्यतस्तत्परिध्वंसनेन श्रेयसा योक्ष्यमाणः कश्चिदुपयोगात्मकात्मा न स्यात् ।

यहां कोई शंका करते हैं कि आप कार्यके नाशको सिद्ध करनेवाला निदानध्वन्सरूप यह जैनोंका हेतु तो तालाबमें रहनेवाले शंख, सीप आदिसे व्यभिचारी है, क्योंकि शंख, सीपोंका प्रधानकारण जल है किंतु अपने निदान माने गये जलके सर्वथा सूख जानेपर भी उन शंख और सीपोंका नाश नहीं हो जाता है । वे सूखे तालाबमें बेखटके पडे रहते हैं । आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो

ठीक नहीं है। क्योंकि उन शंख, सीपों आदिका प्रधानकारण जलको मानना सिद्ध नहीं है। शंख आदिकोंका प्रकृष्ट कारण अपने बनानेवाले पुद्गलकी वर्गणास्वरूप पर्यायें हैं अर्थात् शंख आदिक द्वीन्द्रिय जीवोंके योगोंसे आकर्षित हुयीं आहार वर्गणाओंसे शंखका पौद्गलिक शरीर बना है। जल, कीच, शैवाल आदि तो उसके केवल सहकारी कारण हैं। उनमें शंखशरीरके योग्य आहारवर्गणायें अधिक हैं। किसी भी कार्यके सम्पूर्ण ही कारणोंको या चाहे किसी सामान्यकारणको निदान मान लेना किसी भी वादीने इष्ट नहीं किया है। अनेक कारणोंमेंसे किसी विशेष उपयोगी नियत कारणको ही निदानरूपकारण माना गया है और ऐसे प्रधानकारणके नष्ट हो जानेपर किसी भी निदानसे होनेवाले कार्यका नाश न होवे यह नहीं है। इस कारण हमारा हेतु व्यभिचार दोषसे रहित ही है, वह संसारव्याधिके नाशकपनेको क्यों नहीं सिद्ध करावेगा ? जिससे कि उस व्याधिके नाश करनेसे कोई न कोई ज्ञानोपयोगस्वरूप आत्मा भविष्यमें कल्याणसे युक्त न हो सके। भावार्थ— निदानध्वंसरूप निर्दोषहेतुसे मिथ्यादर्शन आदि व्याधियोंका ध्वंस सिद्ध होता है और व्याधियोंके ध्वंसकपने हेतुसे किसी आत्माका मोक्षमार्गमें लग जाना ज्ञात हो जाता है।

निरन्वयविनश्वरं चित्तं श्रेयसा योक्ष्यमाणमिति न मन्तव्यम्, तस्य क्षणिकत्वविरोधात्।

प्रत्येक क्षणमें अन्वयसहित नष्ट होकर नहीं ध्रुवपनेको रखता हुआ क्षणिकचित्त मोक्षमार्गसे युक्त हो जावेगा। इस प्रकार बौद्धोंको नहीं मानना चाहिये, क्योंकि जो कल्याणसे युक्त होनेवाला है उसको क्षणिकपनेका विरोध है। अर्थात् बिजली चमकनेके समान किसीको क्षणमात्रमें तो हितमार्ग प्राप्त नहीं होता है किंतु पहिलेसे ही नाना प्रयत्न करने पडते हैं। तब कहीं बडी देरमें सुधरते सुधरते आत्माके अनेक परिणामोंके बाद कल्याणमार्ग मिलता है। बौद्धोंके माने हुए सर्वथा क्षणिक विज्ञानरूप आत्माकी कल्याणमार्गमें नियुक्ति नहीं बन सकती है।

संसारनिदानरहिताच्चित्ताच्चित्तान्तरस्य श्रेयःस्वभावस्योत्पद्यमानतैव श्रेयसा योक्ष्यमाणता, सा न क्षणिकत्वविरुद्धेति चेन्न, क्षणिकैकान्ते कुतश्चित्कस्यचिदुत्पत्त्ययोगात्।

बौद्ध कहते हैं कि सातिशय मिथ्यादृष्टिके जैसे चरम मिथ्यादर्शनके उत्तरक्षणमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है, बारहवें गुणस्थानकी अन्तिम अल्पज्ञतासे तेरहवेंके आदिमें सर्वज्ञता उत्पन्न हो जाती है, जैनोंके यहां चौदहवें गुणस्थानके अन्तसमयकी असिद्धतासे दूसरे क्षणमें आत्माकी सिद्ध अवस्था बन जाती है. वैसे ही संसारके आदिकारण मानी गयी अविद्या और तृष्णासे रहित हो गये पहिले चित्तसे कल्याणस्वभाववाले दूसरे चित्तका उत्पन्न हो जाना ही कल्याणमार्गके साथ भावी नियुक्तपना है। वह नियुक्ति हमारे माने हुए क्षणिकपनेसे विरुद्ध नहीं पडती है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वथा क्षणिकत्वपक्षका एकान्त

माननेपर किसी भी कारणसे किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। बिजली और दीपकलिका भी कई क्षणतक ठहरती हैं, तभी पदार्थोंका प्रकाशन कर पाती हैं। एकक्षणमें पैदा होकर झटही नष्ट हो जानेवाली पर्यायको आत्मलाभ करनेका भी अवसर नहीं मिलता है। जिसने आत्मलाभ ही नहीं किया है, वह अर्थक्रिया भी क्या करेगा और बिना अर्थक्रियाके वस्तुपना ही नहीं ठहरता है।

सन्तानः श्रेयसा योक्ष्यमाण इत्यप्यनेन प्रतिक्षिप्तम्, सन्तानिव्यतिरेकेण सन्तानस्यानिष्टेः, पूर्वोत्तरक्षणा एव ह्यपरामृष्टभेदाः सन्तानस्स चावस्तुभूतः कथं श्रेयसा योक्ष्यते?।

बौद्ध कहते हैं कि जैसे हिंसककी एकसमयकी पर्याय हिंसा नामक लम्बे कर्मको नहीं करती है, किंतु हिंसक आत्माकी अनेकपर्यायें हिंसाकार्यमें लगी हुयी हैं। वैसे ही विज्ञानकी अकेली क्षणिक पर्याय कल्याणमार्गमें नहीं लगती हैं किंतु भूत, भविष्यत् कालकी अनेक पर्यायोंकी लडीरूपसंतति कल्याणसे संयुक्त हो जावेगी। आचार्य कह रहे हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी इस पूर्वोक्तकथनसे खण्डित हो जाता है। यदि आप क्षणिकपर्यायोंमें अन्वितरूपसे रहनेवाला एक संतान मानते होते, तब तो आपका कहना ठीक हो सकता था किंतु आप बौद्धोंने क्षणिक संतानियोंसे अतिरिक्त एक संतान कोई इष्ट किया नहीं है। आपका ग्रंथ है कि " पूर्वोत्तर क्षणोंमें होनेवाले संपूर्ण पर्याय वास्तवमें एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं "। भ्रांतिके वश उन पर्यायोंमें यदि भेदका विचार न किया जावे तो वे अनेक परिणाम ही संतानरूप कल्पित कर लिये जाते हैं। और यथार्थमें वह संतान वस्तुभूत नहीं हैं। आप बौद्ध किसी भी वास्तविक संबंधको नहीं मानते हैं तो पूर्वापरकालभावी परिणामोंका कालिकसंबंध काहेको मानने लगे। भला ऐसी अपरमार्थरूप संतान कल्याण मार्गके साथ कैसे संयुक्त हो सकेगी? अर्थात् आपका माना गया तुच्छसंतान कल्याणमार्गी नहीं बन पाता है।

प्रधानं श्रेयसा योक्ष्यमाणमित्यप्यसम्भाव्यम्, पुरुषपरिकल्पनविरोधात्। तदेव हि संसरति तदेव च विमुच्यत इति किमन्यत्पुरुषसाध्यमस्ति? प्रधानकृतस्यानुभवनं पुंसः प्रयोजनमिति चेत्, प्रधानस्यैव तदस्तु। कर्तृत्वात्तस्य तन्नेति चेत्, स्यादेवं यदि कर्तानुभविता न स्यात्।

सांख्य कहते हैं कि सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूप प्रकृति ही मोक्षमार्गसे युक्त होनेवाली है। ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार कापिलोंका मन्तव्य भी सम्भवने योग्य नहीं है। क्योंकि यदि प्रकृतिका ही मुक्तिमार्गमें प्रवेश माना जावेगा तो आत्मतत्त्वकी कल्पना करनेका विरोध आता है। जब कि प्रकृति ही संसारमें संसरण करती है और वह प्रकृति ही विशेषरूपसे मोक्षको प्राप्त करती है। ऐसा सिद्धांत करनेपर फिर आत्माके द्वारा साध्य करनेके लिये कौन दूसरा कार्य अव-

शिष्ट रह जाता है ? जिसके लिये कि पच्चीसवां तत्त्व आत्मा माना जा रहा है। यदि आप सांख्य यों कहेंगे कि प्रधानके द्वारा किये गये कार्योंका भोग करना आत्माका साध्य प्रयोजन है। यों तब तो हम जैन कहते हैं कि प्रकृतिके बने हुए उन सुख, दुःख, अहंकार, रासनप्रत्यक्ष आदिका भोग करना भी प्रकृतिका ही कर्तव्य मान लो, जो करे सो ही भोगे। यदि सांख्य यों कहेंगे कि वह प्रकृति तो कार्योंकी करनेवाली है, अतः वह भोगनेवाली नहीं हो सकती है, ऐसा सांख्योंका कहना तो जब हो सकता था कि यदि कार्य करनेवाला उस कार्यका भोक्ता न होता। किंतु सामायिक, स्वाध्याय, अध्ययन करनेवाले और अपनी अंगुलीमें सुईको चुभानेवाले मनुष्य उनका सुख दुःखरूपी-फल स्वयं भुगत रहे हैं। यद्यपि कुम्हार अपने बनाये हुए सम्पूर्ण घडोंसे ठण्डा पानी नहीं पीता है और सूचीकार अपने बनाये गये सम्पूर्ण वस्त्रोंको नहीं पहिनता है, फिर भी वे लोग अपने बनाये हुए कतिपय घट, पटोंका उपभोग करते ही हैं। तथा अतिरिक्त घट, पटोंका अन्य पुरुषोंसे परितोष प्राप्त कर उसका पूर्णरूपसे उपभोग करते हैं। उपभोग करना अनेक प्रकारका है। परोपकारी सज्जन भी निस्वार्थ सेवा कर आत्मीय कर्तव्यके सुख, शांति, लाभको भोग रहे हैं। सेवावृत्ति यानी सेवा करके आजीविका करना निकृष्ट कर्म है, किंतु सेवाधर्म पावन कार्य है। जो अपराध करता है उसीको दण्ड भोगना पडता है और तपस्वी जीव ही मुक्तिके शाश्वत आनंदका भोग करते हैं। कर्तापन और भोक्तापनका सामानाधिकरण्य है अन्यथा भुजिक्रियाका कर्ता भी भोक्ता न बन सकेगा।

द्रष्टुः कर्तृत्वे मुक्तस्यापि कर्तृत्वप्रसक्तिरिति चेत्, मुक्तः किमकर्तेष्टः ?।

चेतना करनेवाले या देखा करनेवाले द्रष्टा आत्माको यदि कर्ता माना जावेगा तो मुक्त जीवोंको भी कर्तापनका प्रसंग आवेगा। मोक्षमें बैठे हुए उनको भी कुछ न कुछ काम करना पडे तो वे कृतकृत्य कैसे माने जावेंगे ? यदि सांख्य ऐसा कहेंगे तो हम पूंछते हैं कि आपने मुक्त जीवोंको क्या अकर्ता माना है ? भावार्थ—वास्तवमें सिद्धांत तो यही ठीक है कि मुक्त जीव भी अपनी सुख, चैतन्य, सत्ता, वीर्य, क्षायिक दर्शन आदि अर्थक्रियाओंको करते रहते हैं, तभी तो वे वस्तुभूत होकर अनंतकाल तक मोक्षमें स्थित रहते हैं। उत्पाद व्यय ध्रौव्य उनके होते रहते हैं। अर्थक्रियाकारित्व वस्तुका लक्षण है। स्वपरादानापोहनव्यवस्था सबको करनी पडती है। सोता या मूर्च्छित मनुष्य भी रक्त मांस आदिको ठीक बनाये रखता है, ताकि मृतके समान दुर्गंध न आ सके। स्वात्मनिष्ठा बनी रहे, कर्म बंध नहीं हो सके, क्षायिक ज्ञान, चारित्र, सम्यक्त्व, द्रव्यत्वकी परिणतियां मुक्तोंमें सर्वदा होती रहती हैं। हां, लौकिक आजीविका, दान, भोजन, शयन, अध्ययन, स्नान, पूजन, आदि कृत्योंको वे कर चुके हैं। उन्हे अब करने नहीं हैं। अतः वे कृतकृत्य कह दिये जाते हैं किंतु अन्य मुक्तोपयोगी कार्योंको तो वे अनुक्षण करते ही रहते हैं। सिद्ध निठल्ले नहीं बैठे हैं।

मोक्ष अवस्था कोई बेहोशी, या मूर्छित या प्रदीपनिर्वाण, सारिखी नहीं है। परंतु सदा चैतन्यमय सुख, ज्ञान, अनुभाव, वस्तुत्व, द्रवण आदि परिणतियों स्वरूप हैं।

विषयसुखादेरकर्तैवेति चेत्, कुतः स तथा ? तत्कारणकर्मकर्तृत्वाभावादिति चेत्, तर्हि संसारी विषयसुखादिकारणकर्मविशेषस्य कर्तृत्वाद्विषयसुखादेः कर्ता स एव चानुभविता किन्न भवेत् ?।

यदि सांख्य यों कहें कि मुक्तजीव विषयोंसे उत्पन्न हुए सुख और क्रोध, राग, शरीर, इंद्रिय, शब्द, रस आदिकोंका अकर्ता ही है। इस पर तो हम जैन पूंछते हैं कि आपने कैसे जाना कि वह मुक्तजीव उस प्रकार शरीर, सुख आदिकका कर्ता नहीं है ? बताओ।

यदि आप सांख्य यों कहें कि मुक्तजीवोंमें उन शरीर, शब्द, सुख, दुःख आदिको बनानेके कारण पुण्य–पापकर्मोंका कर्तापन नहीं है, अतः शरीर आदि या सुख आदिको नहीं बना पाता है। कारणके विना कार्य नहीं हो सकता है। पुण्य, पाप के बिना अकेले आत्मासे भी शरीर आदि नहीं बनते हैं। ऐसा कहने पर तो आपके कथनसे ही यह बात निकल पडती है कि संसारी जीवको शरीर, घट, विषयसुख, क्रोध आदिके कारण माने गये विशिष्ट पुण्यपापोंका कर्तापन है जिस कारण संसारी जीव विषयसुख आदिका करनेवाला कर्ता है, तब तो वही उनका अनुभव करनेवाला भोक्ता भी क्यों नहीं होगा ? अर्थात् वही आत्मा भोक्ता भी है, कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अधिकरण समान है।

संसार्यवस्थायामात्मा विषयसुखादितत्कारणकर्मणां न कर्ता चेतनत्वान्मुक्तावस्थावदित्येदपि न सुन्दरम्, स्वेष्टविघातकारित्वात्, कथम् ? संसार्यवस्थायामात्मा न सुखादेर्भोक्ता चेतनत्वान्मुक्तावस्थावदिति स्वेष्टस्यात्मनो भोक्तृत्वस्य विघातात्।

सांख्य कहते हैं कि संसारमें प्रकृतिके साथ संसरण करनेवाली दशामें भी आत्मा विषय, सुख, दुःख आदिक और उनके कारण पुण्य पाप कर्मोंका करनेवाला नहीं है। क्योंकि आत्मा सदा द्रष्टा, चेतन है जैसे कि मुक्त अवस्थामें विषयसुख, पुण्य आदिकका कर्ता नहीं है। इस प्रकार सांख्योंका यह कहना भी सुंदर नहीं है क्योंकि अपने इष्टसिद्धांतका ही विघात करनेवाला है। कैसे है ? सो सुनो! हम भी कटाक्षरूप अनुमान प्रमाण देते हैं कि, संसरण करनेकी दशामें आत्मा सुख, दुःख, शरीर आदिका भोगनेवाला नहीं है क्योंकि वह चेतन है। जैसे कि मोक्ष अवस्थामें विषयसुख आदिका नहीं भोगनेवाला आत्मा आपने माना है। इस प्रकार आप सांख्योंके स्वयं इष्ट किये गये भोक्तापनका भी विघात हुआ जाता है। पक्ष या प्रतिपक्षको पुष्ट करनेवाले अनुमान बनाये जासकते हैं।

प्रतीतिविरुद्धमिष्टविघातसाधनमिति चेत्, कर्तृत्वाभावसाधनमपि, पुंसः श्रोता घ्राताहमिति स्वकर्तृत्वप्रतीतेः ।

सांख्य कहते हैं कि हमारे इष्टका विघात सिद्ध करना आप जैनियोंको प्रामाणिक प्रतीतिओंसे विरुद्ध पडेगा, क्योंकि संसार अवस्थामें आत्माका सुख, दुःख आदिकोंको भोगना सर्वको अनुभूत हो रहा है; इस प्रकार स्याद्वादी भी स्वीकार करते हैं। अब आचार्य बोलते हैं कि यदि आप सांख्य ऐसा कहेंगे तो तदनुसार हम भी कहते हैं कि सांख्योंको संसार अवस्थामें आत्माके कर्तापनका अभाव सिद्ध करना भी प्रतीतिओंसे विरुद्ध पडेगा। क्योंकि मैं शब्दोंका श्रवण करनेवाला हूं, गंधको सूंघ रहा हूं, मैं पदार्थोंका दर्शन करता हूं, मैं आत्मध्यान करता हूं, इस प्रकार आत्माके कर्तापन की परीक्षकोंको प्रतीति हो रही है।

श्रोताहमित्यादिप्रतीतेरहंकारास्पदत्वादहंकारस्य च प्रधानविवर्तत्वात्प्रधानमेव कर्तृ तथा प्रतीयत इति चेत्, तत एवानुभवितृ प्रधानमस्तु। न हि तस्याहंकारास्पदत्वं न प्रतिभाति शब्दादेरनुभविताहमिति प्रतीतेः सकलजनसाक्षिकत्वात् ।

यदि सांख्य यों कहें कि मैं सुनता हूं, चखता हूं इत्यादिक प्रतीतियां तो अहंकारके साथ संबंध रखती हैं और वह मैं मैं करनारूप अहंकार तो त्रिगुणात्मक प्रकृतिका परिणाम है। इस कारण प्रकृति ही कर्तापनसे प्रतीत हो रही है, आत्मा नहीं, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि इसी कारणसे अनुभव करनेवाली भी प्रकृतिको ही मानलो, क्योंकि भोग करनेवालेके भी साथमें मैं लगा हुआ है। भोक्ताको अहंकारका समभिव्याहार नहीं प्रतीत होता है। यह नहीं समझना। मैं आत्मा शब्दका आनंद भोग रहा हूं, रसका अनुभव कर रहा हूं, मैं द्रष्टा हूं, मैं भोक्ता हूं इत्यादि प्रतीतियां सम्पूर्ण मनुष्योंके सन्मुख जानी जा रही हैं। बाल, वृद्ध, परीक्षक, सभी इस बातके साक्षी (गवाह) हैं।

भ्रान्तमनुभवितुरहंकारास्पदत्वमिति चेत्, कर्तुः कथमभ्रान्तम् ? तस्याहंकारास्पदत्वादिति चेत्, तत एवानुभवितुस्तदभ्रांतमस्तु ।

भोक्ता आत्माको अहंकारका समानाधिकरण जानना आपका भ्रमरूप है। सांख्योंके ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि क्योंजी ! कर्ताको अहंकारका एकार्थपना कैसे प्रामाणिक मान लिया जावे ? बताओ। इसको भी भ्रांत कहिये। यदि आप कहो कि वह कर्ता तो अहंकारका स्थान है ही, इस कारण प्रधानरूप कर्ताको अहंकारका स्थान मानना प्रमाणरूप है। इसपर हम भी कहते हैं कि उसी कारणसे भोक्ताको भी अहंपना अभ्रांत मान लिया जावे। भोक्ताके साथ भी अहंकारका बाधारहित उल्लेख होता है।

तस्यौपाधिकत्वादहंकारास्पदत्वं भ्रांतमेवेति चेत्, कुतस्तदौपाधिकत्वसिद्धिः ?।

उस भोक्ता आत्माको अहंकारके साथ एकार्थपना तो प्रकृतिकी उपाधि लग जानेके कारण भ्रांत ही है जैसे कि टेसूके फूलके संबंधसे कांचमें ललाई आ जाती है। यदि आप कापिल ऐसा कहोगे तब तो बताओ कि तुमने आत्माके अहंपनेको बाहिरसे आया हुआ औपाधिक भाव कैसे सिद्ध किया है ? ।

पुरुषस्वभावत्वाभावादहंकारस्य तदास्पदत्वं पुरुषस्वभावस्यानुभवितृत्वस्यौपाधिकमिति चेत्, स्यादेवं यदि पुरुषस्वभावोऽहंकारो न स्यात्।

सांख्य कहते हैं कि गर्वके साथ यह कहना कि मैं ज्ञाता हूं, मैं कर्ता हूं, मेरे शरीर, धन आदिक हैं, इत्यादि अहंपनेके और मेरेपनेके भाव आत्माके नहीं हैं, किंतु आत्माका स्वभाव तो अनुभवन करना है। इस कारण भोक्ता चेतयिता स्वरूप आत्माके अहंकारके साथ समानाधिकरणपना प्रकृतिकी उपाधिसें प्राप्त हुआ धर्म है। आत्माकी गांठका नहीं। ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार सांख्योंका कहना तब हो सकता था, यदि पुरुषका स्वभाव अहंकार न होता, किंतु मैं मैं इस प्रतीतिके उल्लेख करने योग्य आत्मा ही है। अतः अहंकार पुरुषका स्वभाव है।

मुक्तस्याहंकाराभावादपुरुषस्वभाव एवाहंकारः, स्वभावो हि न जातुचित्तद्वन्तं त्यजति, तस्य निःस्वभावत्वप्रसंगादिति चेन्न, स्वभावस्य द्विविधत्वात्, सामान्यविशेषपर्यायभेदात्। तत्र सामान्यपर्यायः शाश्वतिकः स्वभावः, कादाचित्को विशेषपर्याय इति न कादाचित्कत्वात्पुंस्यहंकारादेरतत्स्वभावता ततो न तदास्पदत्वमनुभवितृत्वस्यौपाधिकम्, येनाभ्रांतं न भवेत् कर्तृत्ववत्।

सांख्य कहते हैं कि पुरुषका स्वभाव अहंकार नहीं हो सकता है, क्योंकि मुक्तजीवोंके अहंकार सर्वथा नहीं है। यदि अहंकार आत्माका स्वभाव होता तो मोक्ष अवस्थामें भी अवश्य पाया जाता, कारण कि स्वभाव कभी भी उस स्वभाववान्‌को नहीं छोडता है। यदि स्वभाव अपने तदात्मक भावतत्त्वोंको छोड देते होते तो वह वस्तु विचारी स्वभावोंसे रहित हो जाती, तथाच अश्वविषाणके समान असत् बन बैठती, अतः अहंकार आत्माका तदात्मक स्वभाव नहीं है। अब आचार्य सिद्धांतकी प्रतिपत्ति कराते हैं कि उनका यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि सामान्यपर्याय और विशेषपर्यायके भेदसे स्वभाव दो प्रकारके होते हैं। तिनमें सामान्यपर्यायरूप स्वभाव तो अनादि कालसे अनंत काल तक सर्वदा वस्तुमें ठहरता है। जैसे कि जीवद्रव्यमें चेतना और पुद्गलमें रूप, रस आदिक। तथा विशेषपर्याय नामक स्वभाव तो द्रव्यमें कभी कभी हो जाते हैं। इस कारण सादि सांत हैं जैसे जीवके क्रोध, मतिज्ञान, आदिक स्वभाव हैं और पुद्गलके कालापन, मीठापन आदि। इसी प्रकार आत्माके अहंकार, अभिलाषा आदिक कर्मोदयजनित स्वभाव हैं। अतः आत्मामें कभी कभी होनेकी अपेक्षासे इन अहंकार आदिको उस आत्माके स्वभाव न मानना ठीक

नहीं है। औपशमिक आदि पांचों प्रकारके भाव आत्माके तदात्मक तत्त्व हैं। उस कारण सिद्ध हुआ कि भोग या अनुभवन करनेवाले आत्माका उस अहंकारके साथ एकार्थपना अन्यद्रव्यसे आया हुआ औपाधिक भाव नहीं हैं किंतु आत्माके घरका है। जिसके कि कर्तापनके समान अहंकारीपन भी निर्बाध होकर आत्माका स्वभाव न बने। अर्थात् प्रकरणमें अहंकारका अर्थ अभिमान करना ही नहीं है, किंतु आत्मगौरव और आत्मीय सत्ताके द्वारा होनेवाला मैं का स्वसंवेदन करना है। मैं केवलज्ञानी हूं, मैं क्षायिक सम्यग्दृष्टि हूं, मैं सिद्ध हूं, मैं मार्दव गुणवाला हूं, इस प्रकारका वेदन मुक्त जीवोंके भी विद्यमान है। मोक्ष अवस्थामें इच्छा नहीं है, ज्ञान और प्रयत्न हैं। इच्छा मोहका कार्य है, किंतु ज्ञान और यत्न तो चैतन्य, वीर्य, इन आत्मगुणोंकी पर्यायें हैं।

न चाभ्रान्ताहंकारास्पदत्त्वाविशेषेऽपि कर्तृत्वानुभवितृत्वयोः प्रधानात्मकत्वमयुक्तम्, यतः पुरुषकल्पनमफलं न भवेत्, पुरुषात्मकत्वे वा तयोः प्रधानपरिकल्पनम्। तथाविधस्य चासतः प्रधानस्य गगनकुसुमस्येव न श्रेयसा योक्ष्यमाणता।

मैं कर्ता हूं, मैं चेतयिता भोक्ता हूं इस प्रकार कर्तापन और भोक्तापनको भ्रांतिरहित अहंकारके समानाधिकरणकी समानता होनेपर भी दोनोंको प्रकृतिस्वरूप ही आपादन करना अयुक्त नहीं है जिससे कि सांख्योंके यहां आत्मतत्त्वकी कल्पना करना व्यर्थ न होवे। अथवा उन दोनोंको यदि पुरुषस्वरूप मान लिया जावे तो तेईस परिणामवाले प्रकृतितत्त्वकी भूमिका सहित कल्पना व्यर्थ न होवे। भावार्थ—कर्तापन और भोक्तापन एक ही द्रव्यमें पाये जाते हैं। अतः प्रकृति और आत्मामेंसे एक ही तत्त्व मानना चाहिये, आत्मा मानना तो अत्यावश्यक है। हम और तुम आत्मा ही तो हैं। तब आपका अहंकार, सुख, दुःख परिणतिसे परिणामी माना गया प्रधान ही आकाशके फूलके समान असत् पदार्थ हुआ, उस असत् पदार्थका कल्याणमार्गसे भविष्यमें युक्त होनापन नहीं बन सकता है।

पुरुषस्य सास्तु इति चेन्न, तस्यापि निरतिशयस्य मुक्तावपि तत्प्रसंगात्, तथा च सर्वदा श्रेयसा योक्ष्यमाण एव स्यात्पुरुषो न चाऽऽयुज्यमानः।

वह कल्याण मार्गसे युक्त होनेका अभिलाषीपना आत्माके मान लिया जावे, इस प्रकार सांख्योंका कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि कापिलोंने पुरुषको कूटस्थ नित्य माना है। आत्मामें कोई धर्म या अतिशय घटते बढते नहीं है। वैसे वे ही स्वभाव सदा बने रहते हैं।

यदि पुरुषकी कल्याणमार्गसे भाविनी अभिलाषुकता मानोगे तो मोक्षमें भी भविष्यमें कल्याण मार्गसे युक्त हो जानेकी उस अभिलाषाके विद्यमान रहनेका प्रसंग होगा। क्योंकि आपका आत्मा सर्वदा एकसा रहता है। तब तो आत्मा मोक्षमार्गका सदा अभिलाषी ही बना रहेगा। सब ओरसे कल्याणमार्गमें लग जाना और लग चुकनापन कभी नहीं पाया जा सकेगा। दीर्घ संसारीका कल्याण

मार्गसे नहीं लगनापन भी नहीं बनेगा। आत्माको कूटस्थ नित्य माननेमें यह बडी आपत्ति है कि जो पुंछल्ला लग गया, वह टल नहीं सकता है। हां, आत्मा कुछ अतिशयोंको छोडे और अन्योंके ग्रहण करे तब तो योक्ष्यमाण, युज्यमान, युक्त होना या नहीं युज्यमान ये बन सकते हैं। अन्यथा नहीं।

पूर्वं योक्ष्यमाणः पश्चात्तेनायुज्यमान इति चायुक्तम्, निरतिशयैकान्तत्वविरोधात्।

पहिली अवस्थामें आत्मा कल्याणमार्गसे भावी युक्त होनेवाला है और पीछे वर्तमानमें उस कल्याणसे संयुक्त हो जाता है, यह कहना भी युक्ति रहित है। क्योंकि आत्मा ज्ञातापन, कर्तापन भविष्यमें लगनापन, वर्तमानमें लगचुकनापन, आदि अतिशयोसे रहित कोरा कूटस्थ है। अर्थात् कुछ चमत्कारोंको आगे पीछे लेता छोडता नहीं है। इस कदाग्रहरूप एकान्त मन्तव्यसे आपका विरोध होगा। भावार्थ—आत्माको परिणामी नित्य मानना पडेगा ऐसा माननेपर आपके पुरिखाजन स्वमतबाह्य समझकर आपसे विरोध ठान लेवेंगे।

स्वतो भिन्नैरतिशयैः सातिशयस्य पुंसः श्रेयसा योक्ष्यमाणता भवत्विति चेन्न, अनवस्थानुषङ्गात्। पुरुषो हि स्वातिशयैः सम्बध्यमानो यदि नानास्वभावैः सम्बध्यते, तदा तैरपि सम्बध्यमानः परैर्नानास्वभावैरित्यनवस्था। स तैरेकेन स्वभावेन सम्बध्यते इति चेत् न, अतिशयानामेकत्वप्रसंगात्। कथमन्यथैकस्वभावेन क्रियमाणानां नानाकार्याणामेकत्वापत्तेः पुरुषस्य नानाकार्यकारिणो नानातिशयकल्पना युक्तिमधितिष्ठेत्।

सांख्य कहते हैं, कि हम आत्माको कूटस्थ नित्य मानते हैं किंतु स्वयं आत्मासे सर्वथा भिन्न माने गये अतिशयोंसे आत्माको अतिशयसहित भी मान लेते हैं। जैसे कि छडी, टोपी, कडे, कुण्डलसे सहित देवदत्त है। ऐसे अतिशयवान् आत्माको कल्याणमार्गसे भावी कालमें सहितपना हो जावेगा और वर्तमान तथा भूतकालकी युक्तता भी बन जावेगी। आचार्य कहते हैं कि यह सांख्योंका विचार भी ठीक नही है, क्योंकि अनवस्था दोषका प्रसंग आता है। सुनिये, आत्मा अपने सर्वज्ञपन, उदासीनता, नित्यता, होनेवाली कल्याणमार्गसे युक्तता आदि अतिशयोंके साथ संबंध करता हुआ यदि अनेक स्वभावोंसे सम्बन्धित होगा, तब तो संबंध करानेवाले उन स्वभावोंके साथ भी उनसे भिन्न अनेक स्वभावोंसे सम्बन्धित होगा और उन तीसरे अनेक स्वभावोंको धारण करनेके लिये आत्माको चौथे न्यारे अनेक स्वभावोंकी आवश्यकता होगी। चौथोंको स्थापन करनेके लिये पांचमे स्वभावोंकी आकांक्षा होगी। इस तरह अनवस्था हुयी। यदि वह आत्मा अनेक अतिशयोंको धारण करनेवाले अनेक स्वभावोंके साथ एक ही स्वभावसे सम्बन्धित हो जाता है, यह कथन भी तो ठीक नहीं है। क्योंकि एक स्वभावसे रहनेवाले उन अनेक अतिशयोंको और स्वभावोंको एकपनेका प्रसंग हो जावेगा। अन्यथा यानी यदि ऐसा न स्वीकार कर अन्यप्रकार माना जावेगा तो एक स्वभाव

द्वारा किये गये नाना कार्योंको एकपनेकी आपत्ति हो जानेके डरसे नाना कार्य करनेवाले पुरुषके नाना अतिशयोंकी कल्पना करना कैसे युक्तियोंपर आरूढ होगा ? बताओ। भावार्थ—एक स्वभावसे जैसे अनेक अतिशय धारण कर लिये जाते हैं, वैसे ही एक स्वभावसे आत्मा अनेक कार्योंको भी कर सकेगा। तीसरी कोटीपर एक स्वभाव माननेकी अपेक्षा सीधे दूसरी कोटीपर ही एक स्वभाव माननेमें लाघव है। सिद्धान्त यह है कि कारणके एक स्वभावसे एक ही कार्य होसकता है, दो कार्योंके लिये दो स्वभाव चाहिये। दूध पीना, पेडा जीमना, खीचडी सपोटना, रोटी रोंधना, कचौडी खाना, चना चबाना, सुपारी खुरचना इन सब क्रियाओंमें दांतोंके प्रयत्न न्यारे न्यारे हैं। यदि कोई जवान सेखी से कहे कि मैं एक ही प्रयत्नसे इन सबको खा लेता हूं तो वह झूंठा है। वह केवल एक एक ही पदार्थको खारहा है। यही तो जैन (स्याद्वाद) सिद्धान्तकी महत्ता है। " यावन्ति कार्याणि तावन्तः स्वभावभेदाः " यह अकलङ्कसिद्धान्त है।

स्वातिशयैरात्मा न सम्बन्ध्यत एवेति चासम्बन्धे तैस्तस्य व्यपदेशाभावानुषंगात्। स्वातिशयैः कथंचित्तादात्म्योपगमे तु स्याद्वादसिद्धिः इत्यनेकान्तात्मकस्यैवात्मनः श्रेयोयोक्ष्यमाणत्वं न पुनरेकान्तात्मनः सर्वथा विरोधात्।

आप सांख्य यदि अपने भिन्न अतिशयोंके साथ आत्मा सम्बन्ध ही नहीं करता है, इस कारण उन स्वभाव और अतिशयोंके साथ यदि उस आत्माका सम्बन्ध न मानोगे तो " ये अतिशय आत्माके हैं " इस व्यवहारके अभाव हो जानेका प्रसंग आता है। जैसे कि सह्यका विन्ध्य है, यह व्यवहार नहीं होता है। क्योंकि स्वस्वामिसम्बन्धके बिना तो देवदत्तके कटक, कुण्डल हैं, यह व्यवहार भी नहीं होता है। यदि आप सांख्य अपने अतिशयोंके साथ आत्माका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करोगे, तब तो स्याद्वाद सिद्धान्तकी ही सिद्धि हो गयी। इस प्रकार अनेक धर्मस्वरूप एक आत्माके ही भविष्यमें कल्याणसे लगजानापन बनता है। किन्तु फिर सर्वथा कूटस्थ नित्य या क्षणिक अनित्यरूप एक धर्मवाले आत्माके कल्याणमार्गकी अभिलाषा और कल्याणमें संलग्न हो जाना एवं कल्याणको प्राप्तकर चुकना नहीं बन सकते हैं। क्योंकि एकान्त पक्षोंमें अनेक प्रकारोंसे विरोध आता है। यहांतक कि अपने ही से अपना विरोध हो जाता है।

कालादिलब्ध्युपेतस्य तस्य श्रेयःपथे बृहत्—
पापापायाच्च जिज्ञासा संप्रवर्तेत रोगिवत् ॥ २४७ ॥

काललब्धि, आसन्नभव्यता, कर्मभारका हलका हो जाना कषायोंकी मन्दता आदि कारणोंसे–सहित आत्माके अधिक स्थिति अनुभागवाले ज्ञानावरण आदि दुष्कर्मोंके क्षयोपशम होजानेसे मोक्षमार्गको जाननेकी इच्छा भले प्रकार प्रवृत्त होती है। जैसे कष्टसाध्य चिररोगवाले

दुःखित जीवके नीरोग होजानेके उपायोंको जाननेकी अभिलाषा उत्पन्न होजाती है। सन्निपात या रोगके तीव्रवेग अथवा आयुष्यका अंत निकट होनेपर रोगको दूर करनेकी कारणभूत इच्छा नहीं पैदा होती है। भाग्यमें टोटा बदा होनेकी अवस्थामें नफाके प्रकरण पर माल खरीदनेकी इच्छा नहीं उपजती है।

श्रेयोमार्गजिज्ञासोपयोगस्वभावस्यात्मनः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य कस्यचित्कालादिलब्धौ सत्यां बृहत् पापापायात् सम्प्रवर्तते श्रेयोमार्गजिज्ञासात्वात् रोगिणो रोगविनिवृत्तिजश्रेयोमार्गजिज्ञासावत् ।

करुणाकर आचार्य इसी अनुमानको भाष्य द्वारा स्पष्ट करते हैं कि कल्याणमार्गको जाननेकी इच्छा (पक्ष) ज्ञानोपयोग स्वरूप और कल्याणसे युक्त होनेवाले किसी एक आत्माके काललब्धि, देशनालब्धि, सुकुल, योग्यदेश, शील, विनयाचार आदिके प्राप्त होनेपर बडे ज्ञानावरण आदि पापोंके उपशम, क्षयोपशम हो जानेसे अच्छी तरह प्रवर्तती है (साध्य) मोक्ष मार्गको जाननेकी अभिलाषापन होनेसे (हेतु) जैसे कि रोगीके रोगकी निवृत्ति होनेपर पीछे उत्पन्न होनेवाले नीरोगता रूप कल्याणमार्गके जाननेकी इच्छा पहिले रोगअवस्थामें हो जाती है।

न तावदिह साध्यविकलमुदाहरणं, रोगिणः स्वयमुपयोगस्वभावस्य रोगविनिवृत्तिजश्रेयसा योक्ष्यमाणस्य कालादिलब्धौ सत्यां बृहत्पापापायात् संप्रवर्तमानायाः श्रेयोजिज्ञासायाः सुप्रसिद्धत्वात्, तत्त एव न साधनविकलं श्रेयोमार्गजिज्ञासात्वस्य तत्र भावात्।

प्रथम इस बातको विचार लो कि इस अनुमानमें दिया गया दृष्टांत तो साध्यसे रहित नहीं है। क्योंकि रोगी स्वयं ज्ञानस्वरूप है और रोगकी भली प्रकार निवृत्तिसे उत्पन्न हुए स्वस्थपनेके कल्याणमार्गसे भविष्यमें लग जानेवाला भी है। उस रोगीके काललब्धि, सद्वैद्यकी प्राप्ति, आयुष्यकर्म, रोगका भोग करचुकना आदि कारणोंके मिलनेपर असाता वेदनीय आदि बडे पापोंके नाश हो जानेसे प्रवर्तित होती हुयी कल्याणमार्गके जाननेकी इच्छा अच्छी तरह प्रसिद्ध हो रही है। उस ही कारणसे वह उदाहरण विचारा हेतुसे रहित भी नहीं है। क्योंकि रोगीके कल्याणमार्गकी उस इच्छामें कल्याणमार्गका जिज्ञासापन विद्यमान है।

निरन्वयक्षणिकचित्तस्य संतानस्य प्रधानस्य वाऽनात्मनः श्रेयोमार्गजिज्ञासेति न मंतव्यमात्मन इति वचनात्तस्य च साधितत्वात् ।

बौद्धके माने हुए अन्वयरहित होकर क्षणमें नष्ट होनेवाले आत्मभिन्न चित्तके अथवा पूर्व उत्तरक्षणोंके भेदका परामर्श नहीं कर उन चित्तोंकी संतानरूप धाराके या कापिलोंके माने गये त्रिगुणस्वरूप प्रधानके जो कि आत्मा नहीं है मोक्षमार्गकी जिज्ञासा होती है, यह नहीं मानना

चाहिये। क्योंकि उक्त तीनों ही पदार्थ जीव-द्रव्य-स्वरूप आत्मा पदार्थ नहीं हैं और हमने आत्माके मोक्षमार्गकी जिज्ञासा होना कहा है और उस परिणामी नित्य-आत्मद्रव्यको हम सिद्ध भी कर चुके हैं।

जडस्य चैतन्यमात्रस्वरूपस्य चात्मनः सेत्यपि न शंकनीयमुपयोगस्वभावस्येति प्रतिपादनात् तथास्य समर्थनात्।

नैयायिककी मानी हुयी ज्ञानसे भिन्न जडरूप आत्माके या सांख्यकी केवल चैतन्यरूप आत्माके कल्याणमार्गको जाननेकी वह इच्छा होती है, यह भी शंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि हमने अनुमानमें उपयोग स्वभाववाली आत्माके जिज्ञासा होना बतलाया है। उस प्रकार अनादिसे अनंत काल तक चैतन्यसे अन्वित इस आत्माका हम युक्तियोंसे समर्थन कर चुके हैं। आत्मा सामान्यविशेष धर्मस्वरूप है। आत्माका दर्शनोपयोग सामान्यरूपसे पदार्थोंका संचेतन करता है और विशेषरूपसे ज्ञानोपयोग वेदन करता है। ये दोनों आत्माके स्वात्मभूत परिणाम हैं।

निःश्रेयसेनासंपित्स्यमानस्य तस्य सेति च न चिन्तनीयम्, श्रेयसा योक्ष्यमाणस्येति निगदितत्वात् तस्य तथा व्यवस्थापितत्वात्।

तथा कल्याणमार्गसे नहीं सम्पन्न होनेवाले उस आत्माके वह जिज्ञासा हो जाती है, यह भी नहीं विचारना चाहिये। क्योंकि कल्याणमार्गसे युक्त होनेवाले ऐसा विशेषण हमने अनुमानमें कह रखा है। उस आत्माका उस प्रकार कल्याणसे युक्त होना भी हम निर्णीत कर चुके हैं।

कालदेशादिनियममन्तरेणैव सेत्यपि च न मनसि निधेयम्, कालादिलब्धौ सत्यामित्यभिधानात्तथा प्रतीतेश्च।

विशिष्ट काल और नियतदेश तथा कार्यहानि आदि नियमोंके बिना ही आत्माके कल्याणमार्गको जाननेकी वह इच्छा हो जाती है, यह भी मनमें नहीं विचार करना चाहिये। क्योंकि काललब्धि, सुदेश, सुकुलत्व आदि की प्राप्ति हो जानेपर, ऐसा हमने कहा है और उस प्रकार प्रतीत भी हो रहा है। विना देश, कालकी योग्यताके आम फलते नहीं, ज्वर भी दूर नहीं होता है। यहांतक कि प्रत्येक कार्यमें देश, काल, सम्पत्तिकी आवश्यका देखी जा रही है।

बृहत्पापापायमन्तरेणैव सा सम्प्रवर्तेत इत्यपि माभिमंस्त, बृहत्पापापायात्तत्संप्रवर्तनस्य प्रमाणसिद्धत्वात्।

बडे पापोंके दूर हुए विना ही वह जिज्ञासा भली भान्ति प्रवृत्त हो जाता है। यह भी ऐंठ सहित नहीं मानना चाहिये। क्योंकि तीव्र अनुभाग और दीर्घ स्थितिवाले पापोंके नाश हो जानेसे ही शुभमार्गके जाननेमें बढिया प्रवृत्ति करना प्रमाणोंसे सिद्ध हो रहा है। तीव्र दुष्कर्मका उदय रहता है, उस समय तो मैं कौन हूं? कहांसे आया हूं? कहां जाऊंगा? क्या मेरा स्वभाव

है, इत्यादि बातोंके जाननेकी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदिक जीवोंके इच्छा ही नहीं होती है। किन्तु कर्मोंका मन्द उदय होनेपर ही मैं कौन हूं? मेरा धर्म क्या है? स्वभाव प्राप्त करनेका निमित्त क्या है? ऐसी इच्छाएं संज्ञी जीवोंके होती हुयीं देखी जा रही हैं।

नहि कचित्संशयमात्रात् कचिज्जिज्ञासा, तत्प्रतिबन्धकपापाक्रान्तमनसः संशयमात्रेणावस्थानात्।

किसी पदार्थमें केवल संशय हो जानेसे ही किसी आत्मामें जिज्ञासा होती हुयी नहीं देखी गयी है, क्योंकि जिस जीवका अंतःकरण कल्याणमार्गका प्रतिबंध करनेवाले पापोंसे घिर रहा है, वे जीव केवल संशयको लेकर बैठे रहेंगे। तीव्र पापका उदय होनेपर उनके संशयकी निवृत्ति भी नहीं हो सकती है, कल्याणमार्गको जाननेकी इच्छा होना तो बहुत दूर है।

सति प्रयोजने जिज्ञासा तत्रेत्यपि न सम्यक्, प्रयोजनानन्तरमेव कस्यचिद्व्यासंगतस्तदनुपपत्तेः।

किसी पदार्थके प्रयोजन होनेपर उस पदार्थमें जाननेकी इच्छा आत्माके उत्पन्न हो जाती है, यह कहना भी समीचीन नहीं है। क्योंकि किसी पदार्थका प्रयोजन होनेपर उसके अव्यवहित उत्तर कालमें ही यदि किसी एक पुरुषका चित्त इधर उधर कार्यान्तरमें लग जावे, यों तो वह जिज्ञासा नहीं बन सकती है। जैसा कि प्रायः देखा जाता है कि प्रयोजन होनेपर भी यदि चित्तवृत्ति अन्यत्र चली जावे तो उसके जाननेकी इच्छा नहीं होने पाती है। अतः जिज्ञासाका प्रयोजन होना अव्यभिचारी कारण नहीं है। पराधीन सेवक, पशु, पक्षियोंमें प्रयोजन होनेपर भी जाननेकी इच्छा नहीं होपाती है। प्रयोजन नहीं होनेपर भी ठल्लुआ पुरुषोंके जिज्ञासायें उपजती रहती हैं।

"दुखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ" इति केचित्, तेऽपि न न्यायवादिनः सर्वसंसारिणां तत्प्रसंगात्, दुःखत्रयाभिघातस्य भावात्।

आध्यात्मिक आधिदैविक, और आधिभौतिक तीन दुःखोंसे पीडित होजानेसे उन दुःखोंका नाश करनेवाले कारणोंके जाननेकी इच्छा उत्पन्न होती है। शारीरिक दुःखका रसायन जडी बूटी आदिके सेवनसे और मानस दुःखोंका सुंदर स्त्री, खाना पीना आदिसे तथा आधिभौतिक दुःखका नीतिशास्त्रके अभ्याससे या उपद्रवरहित स्थानपर रहने आदिसे उच्छेद हो जायगा ऐसी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि एकांतरूपसे अनन्तकाल तकके लिये दुःखोंका उच्छेद करना हमको आवश्यक है जो रसायान आदि कारणोंसे नहीं हो सकता है। इस प्रकार कोई कपिलमतानुयायी कह रहे हैं वे भी न्यायपूर्वक कहनेवाले नहीं हैं। यों तो सम्पूर्ण संसारी जीवोंके उस जिज्ञासाके होनेका प्रसंग आता है। क्योंकि तीनों दुःखोंसे पीडित होना

सबके विद्यमान है तथा च सभी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदिक जीव मुक्तिमार्गकी जिज्ञासावाले या मुक्तिमार्गमें लगे हुए दीखना चाहिये। केवल भव्य ही मुक्तिमार्गमें लगे हुए क्यों दीखते हैं ?।

आम्नायादेव श्रेयोमार्गजिज्ञासेत्यन्ये, तेषा–" मथातो धर्मजिज्ञासे " ति सूत्रेऽथशब्दस्यानन्तर्यार्थे वृत्तेरथेदमधीत्याम्नायादित्याम्नायादधीतवेदस्य वेदवाक्यार्थेषु जिज्ञासाविधिरवगम्यत इति व्याख्यानम्, तदयुक्तम्, सत्यप्याम्नायश्रवणे तदर्थावधारणेऽभ्यासे च कस्यचिद्धर्मजिज्ञासानुपपत्तेः। कालान्तरापेक्षायां तदुत्पत्तौ सिद्धं कालादिलब्धौ तत्प्रतिबन्धकपापापायाच्च श्रेयःपथे जिज्ञासायाः प्रवर्तनम्।

अनादि कालसे आये हुए वेदवाक्योंसे ही मोक्षमार्गके जाननेकी इच्छा होती है। इस प्रकार अन्य मीमांसक कह रहे हैं। उनके यहां भी मीमांसादर्शनके " इसके अनन्तर यहांसे धर्मके जाननेकी इच्छा है, " इस सूत्रका जो यह व्याख्यान किया गया है कि अथ शब्दकी व्यवधान रहित उत्तर क्षणमें होनेवाले अर्थमें वृत्ति है। प्रारम्भमें इस वेदको पढकर अर्थात् वेदवाक्योंकी धारासे इस प्रकार पढलिया है वेद जिसने, उस पुरुषके वेदवाक्यके वाच्यार्थोंमें जाननेकी इच्छा का विधान जाना जाता है, वह व्याख्यान करना अयुक्त हो जावेगा। भावार्थ—वेद पढनेके बाद इच्छा होती बतायी है और आप पूर्व आम्नात वेदसे ही इच्छा होना मान बैठे हैं। हम देखते हैं कि परिपाटीसे प्राप्त वेदका श्रवण करते हैं और उसके अर्थका भी निर्णय करते हैं। ज्ञान और क्रियाका अभ्यास भी करते हैं। ऐसा होनेपर भी किसी किसी पुरुषके धर्म की जिज्ञासा नहीं होने पाती है।

यदि मीमांसक यों कहेंगे कि तत्काल जिज्ञासा भले ही न हो किंतु सुनते निर्णय करते और अभ्यास करते करते कुछ काल बीत जानेपर विशिष्ट कालकी सहकारिताकी अपेक्षा होनेपर वह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, ऐसा माननेसे तो हमारी बात सिद्ध हुयी। काल, देश आदिकी प्राप्ति होनेपर और उसके प्रतिबंधक पापोंके दूर हो जानेसे कल्याणमार्गमें जिज्ञासाकी प्रवृत्ति करना बना।

संशयप्रयोजनदुःखत्रयाभिघाताम्नायश्रवणेषु सत्स्वपि कस्यचित्तदभावादसत्स्वपि भावात् कदाचित्संशयादिभ्यस्तदुत्पत्तिदर्शनाच्चेषां तत्कारणत्वे लोभाभिमानादिभ्योऽपि तत्प्रादुर्भावावलोकनात्तेषामपि तत्कारणत्वमस्तु नियतकारणत्वं तु तज्जनने बृहत्पापापायस्यैवांतरंगस्य कारणत्वं बहिरंगस्य तु कालादेरिति युक्तम्, तदभावे तज्जननानीक्षणात्।

अब तक जो जिज्ञासाकी प्रवृत्तिके कारण बतलाये हैं, उनमें अन्वय व्यभिचार व्यतिरेक व्यभिचार दोनों ही दोष आते हैं। संशय और प्रयोजन तथा तीनों दुःखोंसे ताडन एवं आम्नायका

सुनना, इन कारणोंके होनेपर भी किसी किसीके वह जिज्ञासा नहीं होपाती है। यह अन्वय व्यभिचार है और उक्त चार कारणोंके न होते हुए भी कचित् जिज्ञासा होना देखा जाता है। यह व्यतिरेकव्यभिचार है।

यदि आप यों कहेंगे कि कभी कभी कालमें संशय आदि कारणोंसे भी उस जिज्ञासाकी उत्पत्ति देखी जाती है। अतः उनको उस जिज्ञासाका कारण मानेंगे तब तो लोभ, अभिमान, ईर्ष्या, कीर्तिकी अभिलाषा, लौकिक ऋद्धि सिद्धियोंकी प्राप्ति आदि कारणोंसे भी उस जिज्ञासाका उपजना देखा जाता है। अतः उन लोभादिकोंको भी उस जिज्ञासाका कारणपना मान लो। वास्तवमें ये संशयादिक और लोभ आदिक अनियत कारण हैं। उस जाननेकी इच्छाको उपजानेमें अन्वय व्यतिरेकके नियमसे कार्यको करनेवाले अंतरंग कारण तो बडे पापोंका नाश होना ही है। अर्थात् ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम और दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम आदि ही जिज्ञासाको पैदा करनेमें आभ्यंतर कारण है और जिज्ञासा उत्पन्न करनेमें नियमयुक्त बहिरंगकारण काल, देश, सुकुलता, शुद्धता आदिक हैं। यह सिद्धांत तो युक्तियोंसे पूर्ण है। क्योंकि उन कारणोंके बिना उस जिज्ञासाका उत्पाद होना नहीं देखा जाता है।

कालादि न नियतं कारणं बहिरंगत्वात् संशयलोभादिवदिति चेन्न, तस्यावश्यमपेक्षणीयत्वात्, कार्यान्तरसाधारणत्वात्तु बहिरंगं तदिष्यते, ततो न हेतोः साध्याभावेऽपि सद्भावः संदिग्धो निश्चितो वा, यतः संदिग्धव्यतिरेकता निश्चितव्यभिचारिता वा भवेत्।

आक्षेपकर्ता कहता है कि काल, देश, आदि भी अन्वय व्यतिरेकके नियमको लेकर नियत कारण नहीं हैं, क्योंकि वे कार्यके बहिर्भूत अङ्ग हैं। जैसे कि संशयादिक और लोभ आदिक नियत कारण नहीं हैं। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिमें उन काल आदिकी अवश्य अपेक्षा होती है। दूसरे कार्योंमें भी तो साधारण होकर वे सहायक हो रहे हैं। अतः उनको बहिरंगकारण माना जाता है। इसलिए साध्यके न रहनेपर भी हेतुके सद्भावका संदेह नहीं है, जिससे कि व्यतिरेकव्यभिचारका संशय भी हो सके। और साध्यके न रहनेपर हेतुके सद्भावका निश्चय भी नहीं है, जिससे कि निश्चयसे व्यभिचार दोष हो जावे। भावार्थ—काल आदि बहिरंग कारणोंके साथ भी जिज्ञासाका समीचीन व्यतिरेक बन जाता है। जो कि कार्यकारणभावका प्रयोजक है। अतः विपक्षमें वृत्तिपनके संशय और निश्चय करनेसे आनेवाले व्यभिचार दोष यहां नहीं हैं।

ननु च स्वप्रतिबंधकाधर्मप्रक्षयात्कालादिसहायादस्तु श्रेयःपथे जिज्ञासा, तद्वानेव तु प्रतिपाद्यते इत्यसिद्धम्। संशयप्रयोजनजिज्ञासाशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासतद्वचनवतः प्रतिपाद्यत्वात्। तत्र संशयितः प्रतिपाद्यस्तत्त्वपर्यवसायिना प्रश्नविशेषेणाचार्यं प्रत्युपसर्पकत्वात्,

नाव्युत्पन्नो विपर्यस्तो वा तद्विपरीतत्वाद्बालकवद्दस्युवद्वा । तथा संशयवचनवान् प्रतिपाद्यः स्वसंशयं वचनेनाप्रकाशयतः संशयितस्यापि ज्ञातुमशक्तेः ।

यहां किसीकी लम्बी चौडी शंका है कि अपने प्रतिबंधक पापोंके अच्छी तरह नाश हो जानेसे और काललब्धि आदिकी सहायतासे कल्याण मार्गमें जाननेकी इच्छा भले ही हो किंतु उस जाननेकी इच्छावाला पुरुष ही तो उपदेष्टाके द्वारा प्रतिपादित किया जाता है । इस प्रकार जैनोंका कहना तो सिद्ध नहीं है । क्योंकि संशय, प्रयोजन, जाननेकी इच्छा, शक्यकी प्राप्ति, और संशयको दूर करना, इनसे युक्त तथा इनके प्रतिपादक वचनोंको बोलनेवाला पुरुष ही प्रतिपादित किया जाता है । प्रतिपाद्य शिष्यके उक्त दश विशेषणोंको शंकाकार इसप्रकार स्पष्ट करते हैं कि जिस शिष्यको संशय उत्पन्न हो चुका है, वही गुरुओंके द्वारा समझाने योग्य है । क्योंकि संशयालु पुरुष ही तत्त्वनिर्णय करानेवाले विशेष प्रश्नसे प्रतिपादक आचार्यके निकट उत्कण्ठा सहित होकर जाया करता है । जो अज्ञानी, मूर्ख, व्युत्पत्तिरहित है, वह समझाया नहीं जा सकता है । जैसे कि दो महीनेका बालक, अथवा जो मिथ्या अभिनिवेशसे विपर्ययज्ञानी हो रहा है, वह भी उपदेश सुननेका पात्र नहीं है । क्योंकि वह शिष्यके लक्षणसे विरहित है, जैसे कि चोर डाकू आदि । भावार्थ- दोषोंकी तीव्रता होनेपर इनको सत्यव्रत, अचौर्य, आदिका उपदेश देना व्यर्थ पडेगा तथा अपने संशयको कथन करनेवाले वचनोंको बोलनेवाला प्रतिपाद्य होता है । जो प्रश्नकर्ता अपने संशयको वचनोंके द्वारा प्रगट नहीं कर रहा है, ऐसी अवस्थामें संशय उत्पन्न हुए पुरुषको प्रतिपादक जान नहीं सकता है तो वह समझावेगा किसको ? । यदि दिव्यज्ञानी आचार्यने प्रश्नकर्ताका संशय निमित्तज्ञानसे जान भी लिया फिर भी अलड शिष्यके प्रति उत्तर कहना अनुचित है । इसमें ज्ञानकी अविनय होती है । अतः अपने संशयको विनयपूर्वक कहता हुआ शिष्य ही उपदेश्य है ।

परिज्ञातसंशयोपि वचनात् प्रयोजनवान् प्रतिपाद्यो न स्वसंशयप्रकाशनमात्रेण विनिवृत्ताकांक्षः, प्रयोजनवचनवांश्च प्रतिपाद्यः, स्वप्रयोजनं वचनेनाप्रकाशयतः प्रयोजनवतोऽपि निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

पूर्वपक्षी कह रहा है कि जिस शिष्यका वचनके द्वारा संशय जान भी लिया जावे किंतु उस शिष्यको किसी कार्यकी सिद्धिका प्रयोजन है, तब तो वह समझाया जावेगा, अन्यथा नहीं समझाया जावेगा । अपने संशयको केवल प्रकाशन करके ही जो शिष्य आकांक्षाओंसे रहित हो जाता है, वह गुरुके समझाने योग्य नहीं है । भावार्थ – प्रश्नकर्ता जब उत्तर सुननेके लिए उत्कण्ठित नहीं है, ऐसी दशामें गुरुका प्रयत्न व्यर्थ जावेगा ! किसी शिष्यको प्रयोजन है और उस प्रयोजनका अपने वचन द्वारा गुरुके सन्मुख प्रतिपादन कर रहा है, तब तो वह प्रतिपादन करनेके लिए गुरुकी कृपाका पात्र बनेगा । किंतु जो अपने प्रयोजनको वचनोंसे प्रकाशित नहीं कर रहा है, वह प्रयोजन-

वान् होता हुआ भी प्रयोजन सहितपनेसे निश्चय नहीं किया जा सकता है। प्रयोजनका कथन करनेसे विनयीपन भी व्यक्त होता है, कोरे ऐंठूके प्रति यदि समीचीन ज्ञान उपदिष्ट किया जावेगा तो ऐसी दशामें ऐंठूके ज्ञानावरण कर्मका बन्ध होगा। प्रकृष्ट विद्वान् भी अपने गौरवयुक्त पूज्य ज्ञानको यों ही व्यर्थ फैंकते नहीं फिरेंगे।

तथा जिज्ञासावान् प्रतिपाद्यः प्रयोजनवतो निश्चितस्यापि ज्ञातुमनिच्छतः प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्, तद्वानपि तद्वचनवान् प्रतिपाद्यते, स्वां जिज्ञासां वचनेनानिवेदयतस्तद्वत्तया निर्णेतुमशक्तेः।

और जाननेकी इच्छावाला शिष्य ही समझाया जाता है। शिष्य प्रयोजनवान् है, ऐसा निश्चित भी हो चुका है, किंतु गुरुजीसे तत्त्वोंको नहीं जानना चाहता है, वह चेला हितैषी गुरुके द्वारा भी नहीं समझाया जा सकता है। अमृतस्वरूप ज्ञानका व्यर्थ उपयोग करना अनुचित है। तथा उस जाननेकी इच्छावाला होता हुआ भी उस जाननेकी इच्छाको विनीत वचनोंसे कहेगा, तब तो गुरु उसको शिक्षण देंगे, किंतु जो अपनी जिज्ञासाको वचनोंके द्वारा गुरुजीके सन्मुख निवेदन नहीं कर रहा है, वह जिज्ञासावान्पनेसे निर्णीत भी नहीं किया जा सकता है और उद्दण्ड अभिमानीको उपदेश देनेसे फल भी क्या निकलेगा? ऐसे आत्माभिमानियोंमें अवधि ज्ञानीका वह उपदेश स्फुरायमाण भी न होगा। शिष्यकी विनययुक्त जिज्ञासामें उसके वचनोंसे ही व्यक्त होनी चाहिए। तभी शिष्यकी आत्मामें कोमलता, धर्मोपदेश, और मोक्षमार्गपरिणतियां उपजेंगी।

तथा जिज्ञासुर्निश्चितोऽपि शक्यप्राप्तिमानेव प्रतिपादनायोग्यस्तत्त्वमुपदिष्टं प्राप्तुमशक्नुवतः प्रतिपादने वैयर्थ्यात्, स्वां शक्यप्राप्तिं वचनेनाकथयतस्तद्वत्तेन प्रत्येतुमशक्तेः शक्यप्राप्तिवचनवानेव प्रतिपाद्यः।

अभीतक पूर्वपक्ष ही चल रहा है कि वह शिष्य जिज्ञासु है। यह गुरुने निर्णय भी कर-लिया है, फिर भी उपदिष्ट पदार्थको प्राप्ति कर सकनेवाला ही प्रतिपादन करने योग्य है। गुरुके द्वारा उपदेश दिये गये तत्त्वको जो प्राप्त नहीं कर सकता है, कन्धा डाले हुए बैलके समान जो कार्य करनेमें अधीर होगया है, उसको तत्त्वका प्रतिपादन करना व्यर्थ जावेगा। उग्रवीर्य रसायन साधारण पुरुषको नहीं किंतु उसको झेलने वाले समर्थ पुरुषको ही वह दी जाती है। जो कमर कस कर तत्त्वप्राप्ति करनेके लिये समर्थ भी है किंतु अपनी सामर्थ्यका वचनसे निरूपण नहीं कर रहा है, उसके सन्नद्धपनेको प्रतिपादक नहीं जान सकता है। जो शक्य प्राप्तिमान्पने करके नहीं जानागया है वह शिक्षण देने योग्य नहीं हैं। अतः बोलनेकी अवज्ञासे भयभीत शिष्यको उपदेश सुननेकी योग्यता नहीं है। तथा च उपदिष्ट पदार्थके प्राप्तिकी सामर्थ्यको वचनोंसे कहनेवाला ही सत्पुरुष शिक्षाके योग्य है। गुरुजीको शिष्यका उपकार करना है। स्वमुखसे उन वचनोंको कहरहे विद्यार्थीके क्षयोपशम, विनय, ग्राह्यता पात्रता गुण, विकसित होते हैं।

तथा संशयव्युदासवान् प्रतिपाद्यः सकृत्संशयितोभयपक्षस्य प्रतिपादयितुमशक्तेः संशयव्युदासवानपि तद्वचनवान् प्रतिपाद्यते, किमयमनित्यः शब्दः किं वा नित्य इत्युभयोः पक्षयोरन्यतरत्र संशयव्युदासस्यानित्यः शब्दस्तावत्प्रतिपाद्यतामिति वचनमन्तरेणावबोद्धुमशक्यत्वादिति केचित्, तान् प्रतीदमभिधीयते ।

और भी अपने संशयको दूर करनेवाला पुरुष ही समझाने योग्य है । जिसने एक समयमें दोनों ही पक्षोंका संशय कर रखा है, उसको छोडता नहीं है, वह समझाया नहीं जा सकता है । ज्ञानको ग्रहण करनेवाला समझाया जाता है । मूर्ख रहनेवाला नहीं । संशयको निवारण करनेवाला भी यदि उस संशय दूर करनेको वचनसे बोलेगा, तब तो समझा दिया जावेगा । अन्यथा नहीं । जैसे कि यह शद्व क्या अनित्य है ? अथवा क्या नित्य है ? इन दोनों पक्षोंमेंसे किसी एक पक्षमें संशयको दूर करनेकेलिये पहिले आप शब्दकी अनित्यताको समझा दीजिये । इस प्रकारके वचनके विना आचार्य उसके अभिप्रायको समझ नहीं सकते हैं । यहांतक १ संशय, २ संशयवचन, ३ प्रयोजन, ४ प्रयोजनवचन, ५ जिज्ञासा, ६ जिज्ञासावचन, ७ शक्यप्राप्ति, ८ शक्यप्राप्तिवचन, ९ संशयव्युदास, १० संशयव्युदासवचन । इन दश धर्मोंसे युक्त शिष्य ही गुरुके द्वारा समझाने योग्य है, ऐसा कोई शंकाकार पूर्वपक्ष कह रहे हैं । उनके प्रति आचार्यके द्वारा छोटी बूटीके समान यह उत्तर कहा जाता है—दत्तचित्त होकर सुनिये ।

तद्वानेव यथोक्तात्मा प्रतिपाद्यो महात्मनाम् ।
इति युक्तं मुनीन्द्राणामादिसूत्रप्रवर्तनम् ॥ २४८ ॥

यथा उक्त गुणोंवाला, कल्याण मार्गकी जिज्ञासासे युक्त और निकट भविष्यमें कल्याणमें लगनेवाला उपयोग स्वरूप आत्मा ही गुरुस्वरूप महान् आत्माओंके द्वारा समझाने योग्य है । इस प्रकार मुनियोंमें परम ऐश्वर्यको धारण करनेवाले गणधरदेव और उमास्वामीका पहिला " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस सूत्रका प्रवर्तन युक्त है ।

यः परतः प्रतिपद्यमानश्रेयोमार्गः स श्रेयोमार्गप्रतिपित्सावानेव, यथातुरः सद्वैद्यादिभ्यः प्रतिपद्यमानव्याधिविनिवृत्तिजश्रेयोमार्गः परतः प्रतिपद्यमानश्रेयोमार्गश्च विवादापन्नः कश्चिदुपयोगात्मकात्मा भव्य इति । अत्र न धर्मिण्यसिद्धसत्ताको हेतुरात्मनः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्योपयोगस्वभावस्य च विशिष्टस्य प्रमाणसिद्धस्य धर्मित्वात्तत्र हेतोः सद्भावात्, तद्विपरीते त्वात्मनि धर्मिणि तस्य प्रमाणबाधितत्वादसिद्धिरेव ।

जो शिष्य दूसरेके द्वारा मोक्षमार्गको जान रहा है, वह अवश्य कल्याणमार्गको जाननेकी अभिलाषासे सहित ही है । जैसे नीरोग होनेका अभिलाषी क्लेशित रोगी विचारा श्रेष्ठवैद्य, मंत्रवित्,

तांत्रिक आदि द्वारा रोग दूर होनेसे उत्पन्न होनेवाले कल्याणके मार्गको जान रहा है। अतः ज्ञात (अनुमित) किया जाता है कि रोगीको कल्याणमार्गके जाननेकी इच्छा अवश्य है। विवादमें प्राप्त हुआ कोई उपयोग स्वरूप भव्य आत्मा दूसरोंके द्वारा मोक्षमार्गको जान रहा है। उस कारण वह कल्याणमार्गको समझनेकी इच्छावाला है। इस पांच अवयववाला अनुमानके पक्षमें हेतुकी सत्ता असिद्ध है, यह नहीं कहना। क्योंकि अतिशीघ्र कल्याणके साथ युक्त होनेवाले ज्ञान उपयोग स्वरूप विलक्षण आत्माकी प्रमाणोंसे सिद्धि हो चुकी है। यहां उस आत्माको धर्मी बनाया गया है, उसमें हेतु विद्यमान रहता है। हां, उक्त आत्मासे भिन्न प्रकार नैयायिक, कापिलोंके द्वारा माने गये आत्मारूपी धर्मीमें तो उस हेतुका रहना प्रमाणोंसे बाधित है। यदि उनके माने गये आत्मामें साध्यकी सिद्धि की जावेगी तो हेतु अवश्य असिद्ध हेत्वाभास हो ही जावेगा। इसको हम भी कहते हैं।

नहि निरन्वयक्षणिकचित्तसन्तानः, प्रधानम् अचेतनात्मा, चैतन्यमात्रात्मा वा परतः प्रतिपद्यमानश्रेयोमार्गः सिद्धयति; तस्य सर्वथार्थक्रियारहितत्वेनावस्तुत्वसाधनात्। नापि श्रेयसा शश्वदयोक्ष्यमाणस्तस्य गुरुतरमोहाक्रान्तस्यानुपपत्तेः।

बौद्धोंकी मानी गयी अन्वयरहित केवल एक क्षणमें रहकर दूसरे क्षणमें विनष्ट होनेवाले चित्तोंकी अवस्तु रूप सन्तान, या कापिलोंकी मानी हुयी सत्त्वरजस्तमोगुणरूप प्रकृति अथवा वैशेषिक और नैयायिकोंसे माना गया चेतनासे भिन्न स्वयं अचेतन स्वरूप आत्मा और ब्रह्माद्वैतवादियोंसे स्वीकृत केवल चैतन्यरूप आत्मा, ये चारों प्रकारके आत्मा तो दूसरे गुरुओंसे कल्याणमार्गको जाननेवाले सिद्ध नहीं होते हैं। कारण कि उक्त प्रकारके वे चारों ही आत्माएं सर्व प्रकारसे अर्थक्रियाओंसे रहित हैं। इस कारण उनको वस्तुपना सिद्ध नहीं होता है। इस बातको हम पहिले कह चुके हैं। और जो आत्मा सर्वदा कल्याणमार्गसे युक्त होनेवाला ही नहीं है, वह भी दूसरे हितोपदेष्टाओंसे मोक्षमार्गको समझ नहीं सकता है। क्योंकि उसके ऊपर बडे भारी मोहनीय कर्मके उदयोंका आक्रमण हो रहा है। ऐसे दूरभव्य या तीव्रमोहीके प्रति कल्याणमार्गका प्रतिपादन करना प्राकृतिक नियमसे ही नहीं बन सकता है।

स्वतः प्रतिपद्यमानश्रेयोमार्गेण योगिना व्यभिचारी हेतुरिति चेत् न, परतो ग्रहणात्। परतः प्रतिपद्यमानप्रत्यवायमार्गेणानैकान्तिक इति चायुक्तम्, तत्र हेतुधर्मस्याभावात्। तत एव न विरुद्धो हेतुः, श्रेयोमार्गप्रतिपित्सावन्तमन्तरेण क्वचिदप्यसम्भवात्। इति प्रमाणसिद्धमेतद्वानेव यथोक्तात्मा प्रतिपाद्यो महात्मनाम्, नातद्वान्‌ यथोक्तात्मा वा तत्प्रतिपादने सतामप्रेक्षावत्त्वप्रसंगात्।

स्वयं अपने आप जान लिया है मोक्षमार्ग जिन्होंने ऐसे प्रत्येक बुद्ध मुनिराज अथवा केवलज्ञानी जिनेंद्र देवसे प्रकृत हेतु व्यभिचारी है, ऐसा तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि हमने हेतुके

शरीरमें परतः ऐसा विशेषण दे रखा है। जो दूसरोंसे मोक्षमार्गको समझता है वह जिज्ञासावान् अवश्य है। जहां अभीष्ट हेतु ठहर जायगा, वहां साध्य अवश्य पाया जावगा। पुनः इस अनुमानमें व्यभिचार उठाया जाता है कि दूसरेसे पापमार्गको जाननेवाले पुरुषसे हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि दूसरेसे पापका उपदेश सुननेवाले पुरुषमें हेतु रह जाता है और मोक्षमार्गकी जिज्ञासा रूप साध्य नहीं रहता है। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि पापमार्गको जाननेवालेमें हमारे माने गये मोक्षमार्गको समझनारूप हेतु स्वरूप धर्मका अभाव है। भावार्थ–हेतुके शरीरमें भीतर पडा हुआ मोक्षमार्गको समझनारूपी धर्म वहां नहीं घटता है। उसी कारणसे हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। क्योंकि कल्याणमार्गकी जिज्ञासावाले जीवके विना दूसरोंसे मोक्षमार्गको समझनेवालापन कहीं भी नहीं सम्भवता है। अर्थात् व्यभिचार दोषके दूर हो जानेसे ही प्रायः विरुद्ध दोष दूर हो जाता है। विरुद्ध और व्यभिचार दोष दोनों भाईके समान हैं। साध्याभाववान्में हेतुका न रहनारूप अन्वयव्याप्तिको व्यभिचार दोष बिगाड देता है और साध्यभावके व्यापकीभूत अभावका प्रतियोगीपन हेतुमें रहना रूप व्यतिरेकव्याप्तिको विरुद्धदोष बिगाड देता है, इतना ही अंतर है। कहीं व्यभिचारके स्थल और विरुद्धके स्थलोंमें भी अंतर पड जाता है। इस कारण यह साधन या अनुमान दूसरे प्रमाणोंसे सिद्ध है। अतः उस कल्याणमार्गकी जिज्ञासावाला और काललब्धि आदिसे युक्त ज्ञानोपयोगी आत्मा ही महात्मा गुरु लोगोंको समझाने योग्य है। जो जिज्ञासावान् नहीं है अथवा जो पूर्वमें कहे गये अनुसार पापभार और मोहभारसे रहित होकर कल्याणसे युक्त होनेवाला चेतनस्वरूप आत्मा नहीं है, वह उपदेशका भी पात्र नहीं है। ऐसे मोही, दूर भव्य अथवा अभव्योंको भी यदि मोक्षमार्गका प्रतिपादन किया जावेगा तो प्रतिपादक गुरु सज्जनोंको विचारशालीपन न होनेका प्रसंग आता है। भावार्थ–पात्रका विचार न कर जो ऊबरवपनके समान उपदेश दे रहे हैं, वे प्रेक्षावान् नहीं हैं। जिनवाणीकी भी तो प्रतिष्ठा रखनी है।

परमकरुणया कांश्चन श्रेयोमार्गं प्रतिपादयतां तत्प्रतिपित्सारहितानपि नाप्रेक्षावत्त्वमिति चेन्न, तेषां प्रतिपादयितुमशक्यानां प्रतिपादने प्रयासस्य विफलत्वात्, तत्प्रतिपित्सामुत्पाद्य तेषां तैः प्रतिपादनात् सफलस्तत्प्रयासः इति चेत्, तर्हि तत्प्रतिपित्सावानेव तेषामपि प्रतिपाद्यः सिद्धः।

अत्यंत बडी हुयी दयासे उस जिज्ञासासे रहित और मोही भी किन्ही किन्ही जीवोंके प्रति कल्याणमार्गको प्रतिपादन करनेवाले हितैषी गुरुओंको अविचारवान्पनेका प्रसंग नहीं होता है। यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि जो जीव शक्तिहीन हैं, उपदेष्टाओंके द्वारा समझानेके लिए समर्थ नहीं हैं, जो समझना भी नहीं चाहते हैं; उनको प्रतिपादन करनेमें वक्ताका परिश्रम व्यर्थ पडेगा।

हां, यदि आप यों कहे कि उन जीवोंको कल्याणमार्गके समझनेकी इच्छाको उत्पन्न कराकर उन हितैषियोंके द्वारा प्रतिपादन करनेसे वक्ताका वह प्रयत्न सार्थक हो जावेगा, ऐसा कहो तब तो

उस हितमार्गको समझनेकी इच्छा युक्त जीव ही हितैषी उन वक्ताओंको भी समझाने योग्य विद्यार्थी सिद्ध हुआ। वही तो हम कह रहे हैं।

तद्वचनवानेवेति तु न नियमः सकलविदां प्रत्यक्षत एवैतत्प्रतिपित्सायाः प्रत्येतुं शक्यत्वात्। परैरनुमानाद्वास्य विकारादिलिंगजादाप्तोपदेशाद्वा तथा प्रतीतेः।

शंकाकार अनुज्ञा करनेवालेने पूर्वपक्षमें यह कहा था कि जिज्ञासाको वचन द्वारा प्रकाशित करनेवाला ही प्रतिपाद्य होता है। उनका यह नियम तो ठीक नहीं है, क्योंकि केवलज्ञानी सर्वज्ञोंको प्रत्यक्ष ज्ञानसे ही शिष्योंकी इस जिज्ञासाका निर्णय करलेना शक्य है और दूसरे वक्ता या आचार्य और विद्वान् गुरुजन इस प्रतिपाद्यके विकार, जाननेकी चेष्टा, प्रश्न पूंछनेके लिये आना, आदि हेतुओंसे उत्पन्न हुए अनुमान प्रमाणसे जिज्ञासाको समझ सकते हैं। अथवा सत्यवक्ताओंके उपदेशसे भी इस प्रकार जिज्ञासाओंका आगमज्ञानसे जानना प्रतीत हो रहा है कि अमुक पुरुष कुछ पूंछना चाहता है। महाराजजी! इसको समझा दीजियेगा।

संशयतद्वचनवांस्तु साक्षान्न प्रतिपाद्यस्तत्त्वप्रतिपित्सारहितस्य तस्याचार्यं प्रत्युपसर्पणाभावात्, परम्परया तु विपर्ययतद्वचनवानव्युत्पत्तितद्वचनवान् वा प्रतिपाद्योस्तु विशेषाभावात्, यथैव हि संशयतद्वचनानन्तरं स्वप्रतिबन्धकाभावात्तत्त्वजिज्ञासायां कस्यचित्प्रतिपाद्यता तथा विपर्ययाव्युत्पत्तितद्वचनानन्तरमपि।

शंकाकारके पांच युगलोंमें से पहिले युगलका विचार हो चुका। अब दूसरे युगमका परीक्षण करते हैं। संशयवान् और उस संशयको प्रकाश करनेवाले वचनोंसे युक्त पुरुष तो संशय और संशय वचनको कारण मानकर अव्यवहित रूपसे प्रतिपाद्य नहीं है। भावार्थ—प्रतिपाद्य बननेमें साक्षात् कारण जिज्ञासा है। संशय और उसके वचन तो परम्परासे भले ही प्रतिपाद्यपनेमें उपयोगी हो जावें, जो संशय और उसके वचनको कहनेवाला है, किंतु समझनेकी अभिलाषा नहीं रखता है, वह जीव आचार्य महाराजके पास पूंछनेके लिये उत्कण्ठासहित गमन ही नहीं करता है।

हां, यदि संशय और उसके वचनको परम्परासे कारण मानना इष्ट कर लोगे, तब तो विपर्ययज्ञान और उसके वचनसे युक्त अथवा अज्ञानी (नासमझ) और उसका शब्दसे निरूपण करनेवाला जीव भी प्रतिपाद्य बन जाओ। क्योंकि परम्परासे कारण बननेकी अपेक्षासे तीनों मिथ्या ज्ञानोंमें कोई अंतर नहीं है। जिस ही प्रकार संशय और उसके वचनके उत्तर कालमें जिज्ञासाके अपना प्रतिबंध करनेवाले ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम और मोहनीय कर्मके मंद उदय होनेसे तत्त्वोंकी जिज्ञासाके उत्पन्न होजानेपर ही किसी किसी जीवको प्रतिपाद्यपना आता है, वैसे ही विपर्यय, अज्ञान और उनके वचनके उत्तर कालमें भी जिज्ञासाके उत्पन्न होनेपर किसीको प्रतिपाद्यपना बन जाता है।

विपर्यस्ताव्युत्पन्नमनसां कुतश्चिददृष्टविशेषात् संशये जाते तत्त्वजिज्ञासा भवतीति चायुक्तम्, नियमाभावात्, न हि तेषामदृष्टविशेषात्संशयो भवति न पुनस्तत्त्वजिज्ञासेति नियामकमस्ति ।

यदि शंकाकार स्वपक्षका अवधारण करता हुआ यों कहें कि जिज्ञासा तो अव्यहित पूर्ववर्ती कारण है किन्तु जिज्ञासाके ठीक प्रथम यदि कोई प्रतिपाद्यपनेकी पात्रताका कारण है तो वह संशय ही है। जो विपर्ययज्ञानी या अज्ञ मूढमनवाले जीव हैं, उनको अज्ञान या विपर्ययके पीछे एक पुण्यविशेषसे संशयके उत्पन्न हो जानेपर ही तत्त्वोंकी जिज्ञासा होजाती है। अतः जिज्ञासाके पूर्ववर्ती संशयको कारण मानलो ! विपर्यय और अज्ञानको कारण न मानो। आचार्य कहते हैं कि यह शंकाकारका कहना युक्त नहीं है। क्योंकि विपर्यय और अज्ञानके पीछे संशय होकर ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है। उन विपर्ययज्ञानी और अज्ञानियोंको बादमें विशेष पुण्यसे संशय तो हो जावे, परंतु फिर अनंतर कालमें जिज्ञासा न होवे यह एकांत ठीक नहीं है। भावार्थ—पुण्यसे एकदम सीधे जिज्ञासा तो न होवे किंतु संशय हो जावे इसका कोई नियम करनेवाला नहीं है। विपर्ययज्ञानके अव्यवहित उत्तर कालमें भी तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है बहुतसे विपरीतज्ञानवाले या अव्युत्पन्न जीव जिज्ञासा रखकर गुरुके पास गये और तत्त्वज्ञान लेकर लौटे। शास्त्रोंमें ऐसे कतिपय दृष्टांत हैं।

तत्त्वप्रतिपत्तेः संशयव्यवच्छेदरूपत्वात् संशयितः प्रतिपाद्यत इति चेत्, तर्ह्यव्युत्पन्नो विपर्यस्तो वा प्रतिपाद्यः संशयितवत्, तत्त्वप्रतिपत्तेरव्युत्पत्तिविपर्यासव्यवच्छेदरूपत्वस्य सिद्धेः संशयव्यवच्छेदरूपत्ववत् संशयविपर्ययाव्युत्पत्तीनामन्यतमाव्यवच्छेदे तत्त्वप्रतिपत्तेर्यथार्थतानुपपत्तेः यथा वाऽविद्यमानसंशयस्य प्रतिपाद्यस्य संशयव्यवच्छेदार्थं तत्त्वप्रतिपादनमफलम्, तथैवाविद्यमानाव्युत्पत्तिविपर्ययस्य तद्व्यवच्छेदार्थमपि यथा भविष्यत्संशयव्यवच्छेदार्थं तथा भविष्यदव्युत्पत्तिविपर्ययव्यवच्छेदार्थमपि इति तत्त्वप्रतिपित्सायां सत्यां त्रिविधः प्रतिपाद्यः, संशयितो विपर्यस्तबुद्धिरव्युत्पन्नश्च ।

यदि आप शंकाकार अनुनयसहित यह कहेंगे कि तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति करना संशयका निवृत्त होना स्वरूप है। इस कारण जिस पुरुषको संशय उत्पन्न हो गया है, वही पुरुष प्रतिपादित किया जाता है। भावार्थ—तत्त्वप्रतिपत्तिका कारण यदि संशय न होता तो उससे संशय दूर कैसे किया जाता ? । ऐसा कहनेपर तब तो हम कहेंगे कि यों संशयित पुरुषके समान ही अज्ञानी और विपर्ययज्ञानी भी समझना जा सकता है। तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति जैसे संशय दूर होना रूप है वैसे ही अज्ञान दूर होना और विपर्यय दूर होना रूप भी सिद्ध है। अज्ञान तीन माने गये हैं। चांदीमें रांग या चांदीका संशय करनेवाले पुरुषका संशय जैसे चांदीके निर्णयसे दूर हो जाता है, वैसे ही चांदीका निर्णय कर

देखनेपर निपट अज्ञानी गंवारका अथवा चांदीको रांग समझनेवाले विपर्यय ज्ञानीका अज्ञान और विपर्ययज्ञान भी अव्यवहित उत्तर कालमें निवृत्त हो जाता है । संशय, विपर्यय और अज्ञान इन तीनोंमेंसे किसी एकका भी निराकरण न होनेपर तत्त्वोंकी प्रतिपत्तिको यथार्थपना सिद्ध नहीं है । अकेले विपर्ययज्ञानका या औदयिक अज्ञानभावके होनेपर उन अकेलोंका भी निराकरण हो जावेगा। तब भी तत्त्वोंका निर्णय ठीक ठीक माना गया है । तत्त्वज्ञानसे वर्तमानके सर्व ही कुज्ञानोंका नाश हो जाता है, चाहे एक हो या तीनों होवें । तथा जिस प्रतिपादन करने योग्य शिष्यके संशय विद्यमान नहीं है, उसके प्रति संशय दूर करनेके लिये कहा गया तत्त्वोंका निरूपण जैसे व्यर्थ है, उस ही प्रकार जिस प्रतिपाद्यके अज्ञान और विपरीतज्ञान विद्यमान नहीं हैं, उसके लिये भी अज्ञान और विपर्ययके निरासार्थ तत्त्वनिरूपण करना निरर्थक है । और यदि आपका जैसे यह विचार है कि किसी तत्त्वप्रतिपत्तिने वर्तमान संशयका नाश न भी किया हो किंतु उसने भविष्य कालमें होने वाले संशयोंका नाश अवश्य किया है, वैसे ही हम भी कह सकते हैं कि वर्तमान कालमें होने वाले अज्ञान और विपर्ययका नाश भले ही किसी निर्णयने न किया हो, किंतु भविष्य कालमें अज्ञान और विपर्यय न उत्पन्न हो सकें, इसके लिये भी तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति करना सफल है । सर्वथा नवीन माने गये किसी क्षेत्र, जिनालय, नदी, पर्वत, समुद्र या विद्वान्‌के देखनेपर मूल या वर्तमानके संशय और विपर्ययका निवारण नहीं होता है । हां ! वर्तमानके अज्ञानका नाश अवश्य हो जाता है । और भविष्यके संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानका निराकरण होजाता है । इस प्रकार शिष्यको तत्त्वोंके समझनेकी अभिलाषा होनेपर तीनों ही प्रकारके शिष्य वक्ताके द्वारा समझाने योग्य हैं । चाहे वे तत्त्वोंमें संशय करनेवाले हों या विपर्यय ज्ञानी हों और भले ही वे कोरे अव्युत्पन्न मूर्ख अज्ञानी हों। योग्य प्रतिपादक गुरु तीनोंको समानरूपसे तत्त्वोंका निर्णय करा देवेगा ।

प्रयोजनशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासतद्वचनवान् प्रतिपाद्य इत्यप्यनेनापास्तम्, तत्प्रतिपित्साविरहे तस्य प्रतिपाद्यत्वविरोधात् । सत्यां तु प्रतिपित्सायां प्रयोजनाद्यभावेऽपि यथायोग्यं प्रतिपाद्यत्वप्रसिद्धेस्तद्वानेव प्रतिपाद्यते । इति युक्तं परापरगुरूणामर्थतो ग्रन्थतो वा शास्त्रे प्रथमसूत्रप्रवर्तनम्, तद्विषयस्य श्रेयोमार्गस्य परापरप्रतिपाद्यैः प्रतिपित्सितत्वात् ।

पहिले शंकाकारने यह कहा था कि प्रयोजनवान् और प्रयोजनको प्रतिपादन करनेवाला, तथा तत्त्वोंको प्राप्त कर सकनेवाला और इस प्रमेयको बोलनेवाला, एवं संशयको दूर करनेवाला और संशय दूर करनेको कहनेवाला ही सज्जन प्रतिपाद्य होता है, इन तीन युगलोंकी भी शिष्य बननेमें आवश्यकता है । ग्रन्थकार कह रहे हैं कि यह भी शंकाकारका कहना पूर्वोक्त इसी कथनसे खण्डित हो जाता है । क्योंकि तत्त्वोंको जाननेकी इच्छाके बिना उक्त तीनों युगलोंके होने पर भी उस शिष्यको प्रतिपाद्यपनेका विरोध है और समझनेकी इच्छा होनेपर तो प्रयोजन आदि तीन युगलोंके न होनेपर भी योग्यताके अनुसार प्रतिपाद्यपना जगतमें प्रसिद्ध हो रहा है । अतः

संशय आदि चार युगलोंमें अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार दोष आते हैं। इस कारण उस तत्त्वोंके जाननेकी इच्छावाला ही विद्वान् वक्ताके द्वारा समझाया जाता है। इस प्रकार पर (उत्कृष्ट) गुरु अर्हन्तोंने और अपर–गुरु गणधर आदिकोंने अर्थकी और ग्रंथ रचनाकी अपेक्षासे शास्त्रके आदिमें पहिले " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " सूत्रका प्रवर्तन किया है, वह युक्त ही है। क्योंकि उन गुरुओंके द्वारा प्रतिपादित किये हुए सूत्रका मोक्षमार्ग रूपी विषय उन उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट शिष्यों करके समझनेके लिये इच्छित हो रहा है। विनीतोंमें प्रधान गणधर महाराज तीर्थङ्करोंके उत्कृष्ट शिष्य हैं। और आरातीय विद्वान् अपर शिष्य हैं। इन सबको मोक्षमार्गको जाननेकी बलवती अभिलाषा हो रही है। तभी तो अर्थरूपसे श्री अर्हन्तके द्वारा और गणधर, धरसेन, भूतबलि पुष्पदंत, उमास्वामी आदिके द्वारा ग्रंथरूपसे उक्त सूत्र प्रवर्तित हो रहा है यानी गुरुशिष्य परिपाटीसे आम्नायपूर्वक चला आ रहा है।

ननु निर्वाणजिज्ञासा युक्ता पूर्वं तदर्थिनः।
परिज्ञातेऽभ्युपेयेऽर्थे तन्मार्गो ज्ञातुमिष्यते ॥ २४९ ॥

यहां शंका है कि उस मोक्षके अभिलाषी शिष्यकी पहिले मोक्षको जाननेकी अभिलाषा करना युक्त है। वह सहसा मोक्षमार्गको क्यों जानना चाहता है ? । बात यह है कि पहिले प्राप्त करने योग्य पदार्थका निर्णय हो जानेपर पीछे उसके मार्गको जानना नियमके अनुसार इष्ट किया है।

यो येनार्थी स तत्प्रतिपित्सावान् दृष्टो लोके, मोक्षार्थी च कश्चिद्भव्यस्तस्मान्मोक्षप्रतिपित्सावानेव युक्तो न पुनर्मोक्षमार्गप्रतिपित्सावान्, अप्रतिज्ञाते मोक्षे तन्मार्गस्य प्रतिपित्साऽयोग्यतोपपत्तेरिति मोक्षसूत्रप्रवर्तनं युक्तं तद्विषयस्य बुभुत्सितत्वान्न पुनरादावेव तन्मार्गसूत्रप्रवर्तनमित्ययं मन्यते ।

शङ्काकारकी ओरसे कही गयी आक्षेपक वार्तिकका भाष्य यों है कि संसारमें जो जीव जिस पदार्थके साथ अभिलाषा रखता है, वह उसके जाननेकी इच्छावाला देखा गया है। कोई निकट भव्यजीव मोक्षका अभिलाषी है। उस कारणसे मोक्षके जाननेकी इच्छावाला होना ही युक्त है। परंतु मोक्षमार्गके जाननेकी इच्छा रखनेवाला होना तो उचित नहीं है। मोक्षके सर्वथा न जानचुकनेपर उसके मार्गके जाननेकी इच्छाकी योग्यता ही नहीं बन सकती है। इस कारण सर्वज्ञको मूल मानकर धाराप्रवाहसे मोक्षके प्रतिपादक सूत्रका प्रवर्तन होना युक्त है। क्योंकि उस सूत्रसे मोक्षरूपी विषयका जानना अभीष्ट हो रहा है। परन्तु फिर आदिमें ही उस मोक्षके मार्गको समझानेवाले सूत्रका प्रचलित रहना नहीं हो सकता है। इस प्रकार यह शंकाकार मान रहा है। अब आचार्य समाधान करते हैं कि:—

तत्र प्रायः परिक्षीणकल्मषस्यास्य धीमतः ।
स्वात्मोपलब्धिरूपेऽस्मिन् मोक्षे सम्प्रतिपत्तितः ॥ २५० ॥

वह शंकाकारका कहना ठीक नहीं है । कारण कि जिस बुद्धिमान् शिष्यके बहुलताकरके कर्मोंका भार कुछ नष्ट हो गया है, इस बुद्धिमान् शिष्यको निज शुद्ध स्वात्माकी उपलब्धि होना-रूप इस मोक्षमें भले प्रकार ज्ञप्ति हो रही है, भावार्थ—आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाना रूप मोक्षका सामान्यपनेसे इन सब पर अपर शिष्योंको ज्ञान है । अतः मोक्षकी जिज्ञासा नहीं हुयी किंतु मोक्षमार्गको समझनेकी ही शिष्योंको अभिलाषा है ।

न हि यत्र यस्य सम्प्रतिपत्तिस्तत्र तस्य प्रतिपित्सानवस्थानुषंगात् सम्प्रतिपत्तिश्च मोक्षे स्वात्मोपलब्धिरूपे प्रकृतस्य प्रतिपाद्यस्य प्रायशः परिक्षीणकल्मषत्वात्, सातिशयम-ज्ञत्वाच्च। ततो न तदर्थिनोपि तत्र प्रतिपित्सा तदर्थित्वमात्रस्य तत्प्रतिपित्सया व्याप्त्य-सिद्धेः सति विवादेऽर्थित्वस्य प्रतिपित्साया व्यापकत्वमिति चेन्न, तस्यासिद्धत्वात् न हि मोक्षेऽधिकृतस्य प्रतिपत्तुर्विवादोऽस्ति ।

जिस विषयमें जिसको भले प्रकार ज्ञप्ति हो रही है, उस विषयमें उसको जाननेकी इच्छा नहीं होती है । यदि जाने गये विषयमें भी जिज्ञासाएं होने लगे तो ज्ञात हो चुके विषयमें फिर जिज्ञासा हो जावेगी एवं चर्वितचर्वण या पिष्टपेषणके समान अनवस्थाका प्रसंग होगा । प्रक-रणमें पडे हुए सभी वादी, प्रतिवादी, और निकट भव्य इन शिष्योंको स्वात्माकी परिप्राप्ति हो जाना स्वरूप मोक्षमें सामान्यपनेसे प्रायः करके ज्ञप्ति हो रही है । क्योंकि उनके ज्ञानावरण कर्मोंके कुछ सर्वघाती स्पर्द्धकोंका और अज्ञान, व्यामोह, करनेवाले पापोंका कतिपय अंशोंसे नाश हो गया है । तथा वे निकटभव्य चमत्कारसहित बुद्धिसे युक्त भी है । उस कारण उस मोक्षके अभि-लाषी भी जीवकी उस मोक्षके जाननेमें इच्छा नहीं हो पाती है । किसी पदार्थके प्राप्त करनेकी अर्थिता मात्रसे उसके ही जाननेकी अभिलाषा होनेकी व्याप्ति सिद्ध नहीं है । जैसे कि मोदकको प्राप्त करना है, किंतु घृत, चना आदिके जाननेकी अभिलाषा होती है । तीव्र मायाचारीको धन प्राप्त करना है और पहिलेसे अन्य अन्य पदार्थोंकी अभिलाषायें करता है । अतः जिसको प्राप्त करना है, उसीकी अभिलाषा होवे यह व्याप्ति बिगड जाती है ।

यदि शंकाकार यों कहे कि प्राप्तव्य अर्थके विवाद होनेपर उसके अर्थीपनका प्रतिपित्सासे व्यापकपना अवश्य है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कह सकते हो, क्योंकि यह व्याप्ति तो ठीक है । किंतु प्रकरणमें विवाद होनेपर वह विशेषण सिद्ध (घटित) नहीं हो पाता है । क्योंकि अधिकार या प्रकरणमें प्राप्त समझनेवाले प्रतिपाद्योंको मोक्षके स्वरूपमें विवाद नहीं है, सर्व ही मोक्षको स्वीकार करते हैं ।

नाना प्रतिवादिकल्पनाभेदादस्त्येवेति चेत्—

सांख्य, नैयायिक, मीमांसक, वेदांती, बौद्ध आदि अनेक प्रतिवादियोंकी मोक्षके लक्षणमें नाना कल्पनाएं हैं, अतः भिन्न भिन्न कल्पनायें होनेसे मोक्षके स्वरूपमें भी विवाद है ही। फिर पहिली व्याप्तिके अनुसार मोक्षको क्यों नहीं पूंछा जा रहा है ? यदि शंकाकार ऐसा कहेंगे तो हम जैन कहते हैं कि:—

प्रवादिकल्पनाभेदाद्विवादो योपि सम्भवी ।
स पुंरूपे तदावारपदार्थे वा न निर्वृतौ ॥ २५१ ॥

अनेक प्रवादियोंकी कल्पनाओंके भेदसे जो भी मोक्षमें विवाद सम्भव हो रहा है, वह आत्माके स्वाभाविक स्वरूपमें हैं अथवा मोक्षके आवरण करनेवाले कर्म, अविद्या, मिथ्याज्ञान आदि पदार्थोंमें विवाद है, किंतु आत्माकी मोक्ष होनेमें कोई विवाद नहीं है।

स्वरूपोपलब्धिर्निर्वृतिरिति सामान्यतो निर्वृतौ सर्वप्रवादिनां विवादोऽसिद्ध एव, यस्य तु स्वरूपस्योपलब्धिस्तत्र विशेषतो विवादस्तदावरणे वा कर्मणि कल्पनाभेदात्, तथाहि—

प्रभास्वरमिदं प्रकृत्या चित्तं निरन्वयक्षणिकम्, अविद्यातृष्णे तत्प्रतिबन्धिके, तदभावान्निरास्रवचित्तोत्पत्तिर्मुक्तिरिति केषाञ्चित्कल्पना।

आत्माके वास्तविक शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति हो जाना ही मोक्ष है। इस प्रकार सामान्यरूपसे मोक्ष विषयमें सम्पूर्ण मीमांसक, नैयायिक, बौद्ध आदि प्रवादियोंका विवाद करना असिद्ध ही है। हां, तो मोक्षमें आत्माके जिस स्वरूपकी प्राप्ति होती है, उसमें विशेषरूपसे विवाद है अथवा उस आत्माके स्वरूपको रोकनेवाले कर्मोंमें अनेक कल्पनाओंके भेदसे विवाद पड रहा है, इसीको प्रसिद्ध कर दिखलाते हैं—सुनिये।

यह विज्ञानस्वरूप आत्मा या चित्त, स्वभावसे ही अतीव प्रकाशमान है और अन्वयरहित होकर क्षण क्षणमें नष्ट होता रहता है अर्थात् पहिले समयका चित्त सर्वथा नष्ट हो जाता है और दूसरे क्षणमें सर्वथा नवीन दूसरा चित्त उत्पन्न होजाता है। स्वभावसे प्रकाशमान उस चित्तके प्रतिबन्ध करनेवाले अविद्या और तृष्णा हैं। अनित्य, असुख और अनात्मक पदार्थोंमें नित्य, सुख, और आत्मीयपना समझनेको अविद्या कहते हैं तथा सांसारिक आकांक्षाओंको तृष्णा कहते हैं। संसारी जीवोंके विकल्प बुद्धियोंके द्वारा ये दोनों दोष लग रहे हैं। अतः पूर्वकी मिथ्या वासनाओं तथा खोटे संस्कारोंके वश उत्तर कालमें भी आस्रव सहित चित्त उत्पन्न होते रहते हैं। किंतु इन दोनों आवरणोंका जब योगबलसे नाश हो जाता है, तब उससे आस्रव रहित शुद्ध प्रकाशमान क्षणिक चित्तकी उत्पत्ति होते रहनेको मोक्ष कहते हैं। इस प्रकार किन्हीं सौत्रांतिक बौद्धोंकी कल्पना है।

सर्वथा निःस्वभावमेवेदं चित्तम्, तस्य धर्मिधर्मपरिकल्पना प्रतिबन्धिका, तदपक्षया-त्सकलनैरात्म्यं प्रदीपनिर्वाणवत्स्वान्तनिर्वाणमित्यन्येषाम् ।

यह शुद्ध विज्ञानरूप चित्त बिचारा ग्राह्य, ग्राहक, धर्मधर्मी आदि सर्वस्वभावोंसे सर्वथा रहित है । किन्तु संसारी जन धर्म, धर्मी, कार्य, कारण, मेरा, तेरा आदि कल्पनाएं कर लेते हैं । ये कल्पनाएं ही उस निःस्वभाव चित्तकी प्राप्तिमें रोक लगा रही हैं । जब उन कल्पनाओंका तत्त्व-ज्ञानके द्वारा ध्वंस होजाता है, तब उससे सम्पूर्ण स्वभावोंका निषेधरूप अपने कल्पित धर्मोंका दूर होजाना ही मोक्ष है । जैसे कि दीपके बुझनेपर वह दीपककी लौ कहीं दिशा विदिशामें नहीं चली जाती है, केवल स्नेह (तैल) के क्षयसे वहीं शान्त होजाती है, वैसे ही मुक्त अवस्था भी नहीं कुछ रूप पदार्थ है । वहां निज आत्माका अंत होजाता है । इस प्रकार दूसरे वैभाषिक बौद्ध मान रहे हैं ।

सकलागमरहितं परमात्मनो रूपमद्वयम्, तत्प्रतिबन्धिकानाद्यविद्या, तद्विलया-त्प्रतिभासमात्रस्थितिर्मुक्तिरिति परेषाम् ।

सम्पूर्ण आगमोंसे न जाना जावे अर्थात् शब्दोंकी योजनाओंसे रहित हो रहा परमब्रह्मका अद्वैत ही स्वरूप है । उस ब्रह्माद्वैतका प्रतिबंध करनेवाली अनादि कालसे संसारी जीवोंके अविद्या लग रही है । उस अविद्याके नाशसे चैतन्यरूप प्रतिभास सामान्यमें स्थित हो जाना अर्थात् अकेले परमब्रह्ममें लीन होजाना ही मोक्ष है । इस प्रकार अन्य वेदान्तवादियोंका सिद्धांत है ।

चैतन्यं पुरुषस्य स्वं रूपं, तत्प्रतिपक्षः प्रकृतिसंसर्गस्तदपायात् स्वरूपेऽवस्थानं निःश्रेयसमित्यपरेषाम् ।

आत्माका वास्तविक अपना स्वरूप चैतन्य है । संसार अवस्थामें उसकी शत्रुता करनेवाला सत्त्वरजस्तमोगुणरूप प्रकृतिके साथ आत्माका संबंध हो जाना है । तत्त्वज्ञानसे व्यभिचारिणी स्त्रीके समान प्रकृतिका मायावित्व जाननेपर प्रकृति अपने भोग सम्पादनरूप कार्यको पुरुषके प्रति नहीं करती है । तब उस प्रकृतिके संसर्गका नाश हो जानेसे आत्माका चैतन्य, द्रष्टा, उदासीन, रूपमें स्थित हो जाना ही मोक्ष है, इस प्रकार अन्य सांख्योंका मत है ।

सर्वविशेषगुणरहितमचेतनमात्मनः स्वरूपम्, तद्विपरीतो बुद्ध्यादिविशेषगुणसम्बन्ध-स्तत्प्रतिबंधकस्तत्प्रक्षयादाकाशवदचेतनावस्थितिः परा मुक्तिरितीतरेषाम् ।

आत्मामें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, ये चौदह गुण रहते हैं । इनमेंसे पहिलेके नौ विशेष गुण हैं । अर्थात् केवल आत्मद्रव्यमें ही पाये जाते हैं । इन आत्माके सम्पूर्ण विशेषगुणोंसे रहित अचेतन हो जाना

ही आत्माका स्वाभाविक रूप है । उस स्वाभाविक रूपके विपरीत (विरुद्ध) होकर बिगाडनेवाले बुद्धि आदि नौ विशेष गुणोंका आत्माके साथ समवाय संबंध हो जाना है । वह संबंध मोक्षकी प्राप्तिका प्रतिबंध कर रहा है । तत्त्वज्ञानके द्वारा मिथ्याज्ञान, दोष, प्रवृत्ति, जन्म, दुःखके नाश क्रमसे नौ गुणोंके उस संबंधका सदाके लिये नाश हो जानेसे आकाशके समान अचेतन व्यापक आत्माकी स्थिति रहजाना उत्कृष्ट मुक्ति है । इस प्रकार अन्य नैयायिक और वैशेषिकोंका मत है । इनके यहां जीवन्मुक्ति रूप अपर मोक्षमें ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदिका संबंध बना रहता है । ईश्वरमें भी आठ गुण रहते हैं । पहिले नौमेंसे ज्ञान इच्छा और प्रयत्न तथा पांच सामान्य गुण हैं । मुक्तमें ५ पांच सामान्य गुण हैं । मुक्त आत्मासे ईश्वरमें विशेषता है ।

परमानन्दात्मकमात्मनो रूपम्, बुद्ध्यादिसंबंधस्तत्प्रतिघाती, तदभावादानन्दात्मकतया स्थितिः परा निर्वृतिरिति च मीमांसकानाम् ।

उत्कृष्ट आनंद स्वरूप रहना ही आत्माका निज–स्वभाव है, संसार दशामें आत्माके साथ बुद्धि, इच्छा आदिका संबंध उस प्रकृष्ट आनंदका विघात करनेवाला है । अच्छा कर्मकाण्ड करनेपर बुद्धि आदिके संबंधका नाश हो जानेपर आनंद स्वरूपसे नित्य आत्माका स्थित रहना ही उत्कृष्ट मोक्ष है, इस प्रकार मीमांसकोंका कथन है ।

नैवं निर्वृतिसामान्ये कल्पनाभेदो यतस्तत्र विवादः स्यात् । मोक्षमार्गसामान्येऽपि न प्रवादिनां विवादः, कल्पनाभेदाभावात् । सम्यग्ज्ञानमात्रात्मकत्वादावेव तद्विशेषे विप्रतिपत्तेः । ततो मोक्षमार्गेऽस्य सामान्ये प्रतिपित्सा विनेयविशेषस्य माभूत् इति चेत्, सत्यमेतत्, निर्वाणमार्गविशेषे प्रतिपित्सोत्पत्तेः । कथमन्यथा तद्विशेषप्रतिपादनं सूत्रकारस्य प्रयुक्तं स्यात् । मोक्षमार्गसामान्ये हि विप्रतिपन्नस्य तन्मात्रप्रतिपित्सायाम्–' स्ति मोक्षमार्ग ' इति वक्तुं युज्येत, विनेयप्रतिपित्सानुरूपत्वात् सूत्रकारप्रतिवचनस्य ।

ऊपर कहे अनुसार मोक्षके विशेष स्वरूपोंमें ही जैसा बौद्धादिकोंका विवाद है, इस प्रकार मोक्षके सामान्य स्वरूपमें किसीकी कल्पना भिन्न भिन्न नहीं है, जिससे कि वहां विवाद होता । आत्माके स्वाभाविक स्वरूपकी प्राप्तिको मोक्ष सब ही मानते हैं । यहां कोई पूर्वपक्ष करता है कि मोक्षमार्गके भी तो सामान्य स्वरूपमें बौद्ध आदिक प्रवादियोंका विवाद नहीं है । क्योंकि मोक्षमार्गके सामान्यस्वरूपमें भी मीमांसक आदिकोंकी भिन्न भिन्न कल्पनाएं नहीं हैं । हां ! मोक्षमार्गके उस विशेष अंशमें अवश्य झगडा है । कोई अकेले सम्यग्ज्ञानसे ही मोक्ष होना मानते हैं । दूसरे लोग ज्ञान और चारित्रसे ही, एवं तीसरे श्रद्धान और चारित्रसे ही, चौथे अकेले श्रद्धानसे ही मोक्ष होना स्वीकार करते हैं ! इत्यादि प्रकारसे मार्गके विशेष अंशोंमें ही अनेक विवाद हैं । तिस कारण इस विलक्षण शिष्यकी मोक्षमार्गके सामान्यमें भी समझनेकी इच्छा न होवे जैसे कि मोक्ष सामान्यकी

जिज्ञासा नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा पूर्वपक्ष करोगे तो आपका यह कहना ठीक है। वास्तवमें शिष्यकी मोक्षमार्गके विशेषमें ही जाननेकी इच्छा उत्पन्न हुयी है। अन्यथा यदि ऐसा न होता तो सूत्रकार उमास्वामी महाराजका उस रत्नत्रयको विशेष रूपसे मोक्षमार्गका प्रतिपादन करना भला कैसे प्रकृष्ट युक्तियोंसे सहित माना जाता? बताओ। यदि कोई शिष्य सामान्यरूपसे मोक्षमार्गमें विवाद करता पाया जाता है और उस केवल सामान्य मोक्षमार्गको जाननेकी अभिलाषा रखता है। ऐसी दशामें तो सूत्रकारको (कोई न कोई) मोक्षका मार्ग जगत्में है। इसी प्रकार कहना उचित था। क्योंकि शिष्यके जाननेकी इच्छाके अनुसार ही सूत्रकारके उत्तर वचन हुआ करते हैं। फिर जो सूत्रकारने मोक्षमार्गका विशेष रूपसे निरूपण किया है इससे ध्वनित होता है कि मार्ग सामान्यमें कोई विवाद नहीं है। मोक्षमार्गमें हुये विशेष विवादोंकी निवृत्तिके लिये ही प्रथमसूत्र कहा है।

तर्हि मोक्षविशेषे विप्रतिपत्तेस्तमेव कस्मान्नाप्राक्षीत् इति चेत् किमेवं प्रतिपित्सेत विनेयः सर्वत्रैकार्थस्य सम्भवात्। तत्प्रश्नेऽपि हि शक्येत चोदयितुं किमर्थं मोक्षविशेषमप्राक्षीन्न पुनस्तन्मार्गविशेषम्, विप्रतिपत्तेरविशेषादिति।

पुनः शंकाकार कहता है कि तब तो मोक्षमार्गके विशेष अंशके समान मोक्षके विशेष स्वरूपमें भी नाना प्रवादियोंका विवाद हो रहा है। इस कारण उस शिष्यने मोक्षके विशेष स्वरूपको ही सूत्रकारसे क्यों नहीं पूंछा? बताओ। ऐसा कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि वह उमास्वामी महाराजसे प्रश्न करनेवाला शिष्य इस प्रकार मोक्षविशेषके जाननेकी ही इच्छा क्यों करता है? इस प्रकारके कुचोद्य कार्य करना सभी स्थलोंपर सम्भव हैं। देवदत्त मिष्टपदार्थ ही क्यों खाना चाहता है? लवणके व्यञ्जनोंको क्यों नहीं खाता है?। जिनदत्त न्यायसिद्धांतको ही क्यों पढना चाहता है? ज्योतिष, वैद्यक ग्रंथोंको क्यों नहीं पढता है?। पगडीका अभिलाषी टोपी क्यों नहीं लगाता है? आदि अनेक स्थलोंमें अपनी अपनी इच्छाके अनुसार कार्य होते देखे जा रहे हैं। यदि आपके कथनानुसार शिष्य उस मोक्षविशेषका भी प्रश्न कर देता, तब भी आप बलात्कारसे यह कटाक्ष कर सकते थे कि शिष्यने मोक्षविशेषको किस लिये पूंछा, किंतु फिर उस मोक्षके मार्गविशेषको क्यों नहीं पूंछा? क्योंकि मोक्षविशेष और मोक्षके मार्गविशेषमें विवाद होना एकसा है। कोई भी अंतर नहीं है, प्रत्युत मोक्षमार्ग पूर्ववर्ती है। यों अनेक कुत्सित कटाक्ष किये जा सकते हैं जो कि शिष्टोंका मार्ग नहीं है।

ततः कस्यचित्क्वचित् प्रतिपित्सामिच्छता मोक्षमार्गविशेषप्रतिपित्सा न प्रतिक्षेप्तव्या।

इस कारण अबतक निर्णीत हुआ कि किसी भी जीवकी किसी भी विषयमें जाननेकी इच्छा हो जाती है। इस सिद्धांतको यदि आप चाहते हैं तो शिष्यकी मोक्षमार्ग विशेषके समझनेकी इच्छाका खण्डन नहीं कर सकते हैं।

ननु च सति धर्मिणि धर्मचिन्ता प्रवर्तते नासति, न च मोक्षः सर्वथास्ति येन तस्य विशिष्टत्वकारणं जिज्ञास्यत, इति न साधीयः । यस्मात्—

यहां दूसरे प्रकारसे अनुनय पूर्वक आक्षेप उठाया जा रहा है कि धर्मीकी सिद्धि हो जानेपर धर्मोंका विचार करना प्रवर्तित होता है, धर्मीके सिद्ध न होनेपर उसके अंश उपांशरूप धर्मोंका विचार नहीं किया जाता है, जिस कारण कि सर्व प्रकारसे मोक्ष ही सिद्ध नहीं है तो उसके विशेष स्वरूप मोक्षमार्ग नामक कारणकी जिज्ञासा कैसे होवेगी ? अर्थात् मोक्षतत्वकी सिद्धि हो गयी होती तो उसके कारणका विचार करना सुंदर, न्याय्य होता । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है । जिस कारणसे कि—

येऽपि सर्वात्मना मुक्तेरपह्नवकृतो जनाः ।
तेषां नात्राधिकारोऽस्ति श्रेयोमार्गावबोधने ॥ २५२ ॥

जो भी चार्वाक, शून्यवादी आदि जन सभी स्वरूपोंसे मोक्षका खण्डन (छिपाना) कर रहे हैं, उन नास्तिकोंका इस मोक्षमार्गको समझानेवाले प्रकरणमें अधिकार नहीं है । वे इस विद्वत्सभाके सभ्य नहीं हो सकते हैं ।

को हि सर्वात्मना मुक्तेरपह्नवकारिणो जनान्मुक्तिमार्गं प्रतिपादयेत्तेषां तत्रानधिकारात् को वा प्रमाणसिद्धं निःश्रेयसमपह्नुवीत, अन्यत्रप्रलापमात्राभिधायिनो नास्तिकात् ।

ऐसा कौन विचारशील विद्वान् होगा जो कि मोक्षका सभी स्वरूपोंसे निषेध करनेवाले मूर्ख जनसमाजके प्रति मोक्षमार्गका उपदेश देवे । क्योंकि उन जीव, मोक्ष, पुण्य, पाप न माननेवाले दुराग्रहियोंका इस प्रसिद्ध तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथके सुननेमें अधिकार नहीं है । और ऐसा अज्ञ भी कौन होगा, जो प्रमाणोंसे प्रसिद्ध होरहे मोक्षरूप धर्मीका अपह्नव करे, केवल बकवाद करनेवाले नास्तिकोंके अतिरिक्त । भावार्थ—कोरा मूर्ख नास्तिक ही मोक्षका अस्वीकार भले ही करे, विचारशील पण्डित किसी न किसी स्वरूपसे मोक्षको मानते ही हैं ।

कुतस्तर्हि प्रमाणात्तन्निश्चीयत इति चेत्—

क्यों जी ! तब तो किस प्रमाणसे उस मोक्षका निश्चय कर लिया जाता है बतादो न ? आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो सुनो !

परोक्षमपि निर्वाणमागमात्संप्रतीयते ।
निर्बाधाद्भाविसूर्यादिग्रहणाकारभेदवत् ॥ २५३ ॥

समझिये साधारण जीवोंको मोक्षका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है। इस कारण वह मोक्ष परोक्ष है। फिर भी वह मोक्ष बाधारहित आगमप्रमाण द्वारा (हेतु) सम्पूर्ण वादियोंसे अच्छी तरह निर्णीत कर लिया जाता है (प्रतिज्ञा) जैसे कि भविष्य कालमें होनेवाले सूर्य, चंद्रमाके ग्रहण और उनके अनेक भिन्न भिन्न आकारोंका ज्योतिषशास्त्रसे निश्चय कर लिया जाता है (अन्वयदृष्टांत)

परोक्षोऽपि हि मोक्षोऽस्मादृशामागमात्तज्ज्ञैः सम्प्रतीयते यथा सांवत्सरैः सूर्यादिग्रहणाकारविशेषस्तस्य निर्बाधत्वात्, न हि देशकालनरांतरापेक्षयापि बाधातो निर्गतोयमागमो न भवति, प्रत्यक्षादेर्बाधकस्य विचार्यमाणस्यासम्भवात् नापि निर्बाधस्याप्रमाणत्वमास्थातुं युक्तम्, प्रत्यक्षादेरप्यप्रमाणत्वानुषक्तेः।

स्थूल बुद्धि हम सरीखे पुरुषोंको मोक्ष यद्यपि परोक्ष है तो भी उस श्रेष्ठ आगमको जाननेवाले विद्वानोंके द्वारा आगमप्रमाणसे अच्छी तरह मोक्ष जान लिया जाता है। जैसे कि अनेक वर्षोंकी आगे पीछेकी बातोंको बतानेवाले ज्योतिषी विद्वानोंसे सूर्य, चंद्रमाके ग्रहणोंका, लम्बाई, चौडाई, अल्पग्रास, खग्रास, पूर्व दिशासे या पश्चिम दिशासे राहू, केतुके विमानका आना आदि विशेष आकार जान लिया जाता है, क्योंकि वह ज्योतिषशास्त्र बाधारहित होनेसे आगम प्रमाण रूप है। अन्य देश या भिन्न काल अथवा दूसरे मनुष्योंकी अपेक्षासे भी यह आगम बाधाओंसे रहित नहीं है, यह बात नहीं कह बैठना। क्योंकि इस आगमके प्रत्यक्ष, अनुमान प्रत्यभिज्ञा आदि प्रमाण बाधक हैं, यह बात विचार किये जानेपर असम्भव हो जाती है। भावार्थ—इस आगमका कोई प्रमाण बाधक नहीं है। और जो बाधाओंसे रहित है, उसको अप्रमाणपनेकी व्यवस्था करना भी युक्त नहीं है। अन्यथा यदि ऐसी पोल चलेगी तब तो निर्बाध प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंको भी अप्रमाण बन जानेका प्रसंग आवेगा और ऐसी उत्क्रांतिके समयमें प्रमाणाभास रूप ज्ञान प्रमाणताको लूटनेके लिये हाथ फैला देवेंगे।

सूर्यादिग्रहणस्यानुमानात्प्रतीयमानत्वाद्विषमोयमुपन्यास इति चेत् न, तदाकारविशेषलिंगाभावादनुमानानवतारात्, न हि प्रतिनियतदिग्वेलाप्रमाणफलतया सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणेन व्याप्तं किंचिदवगन्तुं शक्यम्।

यहां कोई कहते हैं कि मोक्षको आगमसे जाननेमें आप जैनोंने सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहणका दृष्टांत दिया, किंतु यह कथन करनेवाला आपका दृष्टांत तो विषम है। कारण कि सूर्य, चंद्रमाके ग्रहणोंका हम लोग अनुमान प्रमाणसे निश्चय कर लेते हैं और मोक्षका निर्णय आगमके विना अनुमानसे किसी भी प्रकार नहीं होता है। ग्रंथकार कहते हैं कि सो यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस सूर्य ग्रहणके आकार विशेषोंको जाननेके लिये कोई अविनाभावी हेतु नहीं है। अतः सूर्य ग्रहणके विशेष आकारोंको जाननेके लिये अनुमान प्रमाण नहीं उतरता है। नियत दिशा या

नियत समय अथवा नियत प्रमाण या फलरूपसे सूर्य, चंद्रमाके ग्रहणके साथ व्याप्ति रखता हुआ कोई पदार्थ जाना नहीं जासकता है। अर्थात् सामान्य रूपसे ग्रहणके साथ व्याप्ति रखनेवाला कोई हेतु भले ही मिल जावे, किंतु अमुक दिशासे, अमुक समयमें, इतने परिमाणमें सूर्यग्रहण या चंद्रग्रहण होगा और अमुक राशिवालेको शुभ अथवा अशुभ फलका सूचक होगा, इन विशेष अंशोंके साथ व्याप्ति रखनेवाला हमारे पास कोई हेतु नहीं है। जिसके साथ साध्यकी व्याप्ति समझी जासके। अतः इन विशेष आकारोंके जाननेमें आगम (ज्योतिष शास्त्र) की ही शरण लेनी पडती है। हमने केवल सूर्यग्रहणका दृष्टांत नहीं दिया है, किंतु उसके विशेष आकारको उदाहरण बनाया है।

विशिष्टाङ्कमाला लिंगमिति चेत्, सा न तावत्तत्स्वभावस्तद्वदप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, नापि तत्कार्यं ततः प्राक् पश्चाच्च भावात्।

यदि कोई यों कहे कि ज्योतिषी लोग ग्रहणके समय दिशा आदि निकालनेके लिए गणितसे एक, दो, तीन, चार आदि अङ्कोंके जोड गुणा, भाग करके ठीक प्रमाण निकाल लेते हैं, वह गणितके विशेष अंकोंकी माला ही विशेष आकारोंका ज्ञापक हेतु हो जावेगी। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूछते हैं कि वह अंकमाला स्वभाव हेतु है या कार्यहेतु है ? बताओ। उसको स्वभाव हेतु मानना तो ठीक नहीं है, क्योंकि साध्यरूप विशेष आकारोंका स्वभाव वह अंकमाला होगी तो उस आकार विशेषस्वरूप साध्यके समान प्रत्यक्षसे न जानी जा सकेगी। अर्थात् हेतुको भी अनुमेय होनेका प्रसंग आ जावेगा, और जबतक हेतुका ही प्रत्यक्ष न होगा तो वह साध्यका ज्ञापक कैसे हो सकेगा ? । शिंशपाको प्रत्यक्षसे जाननेपर ही उस स्वभाव हेतुसे वृक्षपनेका अनुमान हो जाता है अथवा उष्णताके प्रत्यक्ष होनेपर अग्निका अनुमान होता है। दूसरे पक्षके अनुसार यदि अंकमालाको उस ग्रहणके विशेष आकारका कार्य मानोगे सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि पट्टीके ऊपर गणितके अंकोंका लिखना ग्रहणके बहुत काल पहिले और बहुतकाल पीछे भी होता है। अनेक वर्षोंके पूर्वमें हुए सूर्य, चंद्रग्रहण भी गणितसे निकालकर बताये जाते हैं तथा दस बीस महीने पहिले ही पञ्चाङ्ग बनाकर सूर्य चंद्रग्रहण बता दिये जाते हैं। किंतु कार्य हेतु तो कारणके अव्यवहित उत्तर कालमें होना चाहिये। बहुत देर पहिले और बहुत देर पीछे होनेवाले ग्रहणोंके आकारोंका कार्य भला अंकमाला कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं।

सूर्यादिग्रहणाकारभेदो भाविकारणं विशिष्टाङ्कमालाया इति चेन्न, भाविनः कारणत्वायोगात् भावितमवत् कार्यकाले सर्वथाप्यसत्त्वादतीततमवत्।

यदि यहां कोई भविष्य कारणवादी बौद्ध मतके अनुसार यों कहे कि भविष्यमें होनेवाले सूर्य चंद्र ग्रहणके आकारोंका भेद ही विशिष्ट अंकमालाका भावी कारण है, अर्थात् जैसे भविष्यमें होनेवाला राज्य पहिलेसे ही हथेलीमें हाथी मछली आदिके चिन्ह बना देता है, वैसे ही पट्टीपर

लिखी गयी ग्रहणज्ञानके उपयोगी संख्याके अक्षरोंकी विलक्षण पंक्तिको भविष्यका सूर्यग्रहण बना देता है, आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि भविष्यमें होनेवाले पदार्थको वर्तमान कार्यका कारणपना सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि जो कारण अत्यंत दूर भविष्यमें होवेंगे, वे पूर्वकालीन पदार्थोंके जनक नहीं हैं। क्योंकि कार्य करनेके समय वे सर्व प्रकारसे विद्यमान नहीं हैं। जो कार्यकालमें रहकर कार्यकी उत्पत्ति करनेमें व्यापार करता है, उसको कारण कहते हैं किंतु जो कार्य कालमें सर्वथा भी नहीं है, वह कारण नहीं है। जैसे कि अत्यंत दूरवर्ती भूतकालमें हो चुका कारण विद्यमानकार्यका जनक नहीं है। भविष्यका शंख राजा, भूतकालके ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीको उत्पन्न नहीं कर सकता है। पडबाबाको नाती उत्पन्न नहीं कर पाता है। और इसी प्रकार बहुत समय पहिले हो चुके त्रिपृष्ठ पीछे होनेवाले लक्ष्मणके जनक नहीं हो सकते हैं। किंतु कार्यके अव्यवहित पूर्व समयमें रहकर कृति करनेवालेको ही कारण माना गया है, बाप शब्दके प्रयोग करानेमें बेटा कारण भी हो सकता है। किंतु यहां व्यपदेशका कारण तो माना जा रहा है, मुख्य कारणका विचार हो रहा है, जो कि पहिले नहीं किंतु अब हो रहे कार्यका सम्पादक है।

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तस्यास्तत्कारणत्वमिति चेन्न, तस्यासिद्धेः। न हि सूर्यादिग्रहणाकारभेदे भाविनि विशिष्टाङ्कमालोत्पद्यते न पुनरभाविनीति नियमोस्ति, तत्काले ततः पश्चाच्च तदुत्पत्तिप्रतीतेः।

उस अङ्कमालाका ग्रहणके आकारविशेषोंके साथ अन्वय और व्यतिरेकका अनुविधान घट जाता है। इस कारण अंकमाला कार्यहेतु हो जावेगी, यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस अन्वयव्यतिरेकका घट जाना सिद्ध नहीं है। सूर्य, चन्द्रमाके ग्रहणका भिन्न भिन्न आकार भविष्यमें होनेवाला है। ऐसा होनेपर ही वह विशिष्ट अंकमाला पट्टीपर लिखी जाकर उत्पन्न होगयी है। किंतु फिर यदि आकारभेद होनेवाला न होता तो ऐसे विशिष्ट अंकोंकी आवली पट्टीपर नहीं उत्पन्न हो सकती थी। इस प्रकारका कोई नियम बनता नहीं है। उस सूर्यग्रहणके कालमें और उससे बहुत पीछे भी लिखने पर पट्टीमें वह अंकमाला उत्पन्न हुयी प्रमाणोंसे देखी गयी है, जो कारण है वह अपने समयमें तो कार्यको पैदा नहीं करता है किंतु उत्तरक्षणमें करता है और बहुत देर पीछे भी कार्यको नहीं करता है। अतः यहां अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार दोष लग जाते हैं।

कस्याश्चिदंकमालायाः स भाविकारणं कस्याश्चिदतीतकारणमपरस्याः स्वसमानकालवर्तिन्याः कारणकार्यमेकसामग्र्यधीनत्वादिति चेत्, किमिन्द्रजालमभ्यस्तमनेन सूर्यादिग्रहणाकारभेदेन, यतोऽयमतीतानागतवर्तमानाखिलांकमालाः स्वयं निर्वर्तयेत्।

वह ग्रहणका आकार भेद किसी किसी अंकमालाका तो भावी कारण है और किसीका भूत कारण है तथा अपने समान कालमें होनेवाली अन्य अंकमालाका वह वर्तमान कारण है। यहां

तीसरे पक्षमें कारणके द्वारा कृति करते हुए कार्यका होना लक्षण घट जाता है। उक्त तीन कालके विशेषणोंसे घिरा हुआ आकार भेद भी उसी एक सामग्रीमें पडा हुआ है। जिस सामग्रीके अधीन होकर अंकमाला उत्पन्न होती है। ऐसा कहनेपर तो हम कहेंगे कि क्या इस सूर्य आदिकके ग्रहण भेदने इंद्रजालका अभ्यास किया है। जिससे कि यह भूतकाल और वर्तमानकालकी होनेवाली सम्पूर्ण संख्या अक्षरोंकी लिपियोंको अपने आप बना देता है। इंद्रजालिया (बाजीगर) ही हस्त कौशलसे या दृष्टिबंधन करके आगे पीछे होनेवालों अनेक वस्तुओंको वर्तमान बनती हुयी दिखा देता है अथवा कार्यकारण भावका भंगकर गेहूं के बीजसे आम्र और बालसे सर्पकी उत्पत्ति कर दिखा देता है। भविष्य कारणसे वर्तमान कार्य करना सुझा देता है। किंतु यह सब धोका है। अव्यवहित पूर्ववर्ती कारणके विना कभी कार्य नहीं होसकता है। यह कार्यकारण भावका नियम अटल है।

कथं वा क्रमाक्रमभाव्यनन्तकार्याणि नित्यैकस्वभावो भावः स्वयं न कुर्यात्, ततो विशेषाभावात्।

बुद्ध सिद्धांतके अनुसार परमार्थभूत पदार्थको शब्द नहीं छूते हैं। इस कारण बौद्ध लोग आगमको प्रमाण नहीं मानते हैं। इसीलिये वे सूर्य, चंद्र ग्रहणके आकार विशेषोंका निर्णय भी अनुमान प्रमाणसे करते हैं तथा भविष्यमें होनेवाले आकार भेद रूप कारणका पट्टीपर लिखी हुयी अक्षर पंक्तिको कार्य मानते हैं। क्योंजी! चिरकालका भूत पदार्थ और दूर भविष्यका पदार्थ भी वर्तमान कार्यका यदि जनक बन जावे तो नित्य कूटस्थ एक स्वभाववाला पदार्थ भी क्रम और युगपत्से होनेवाले अनंत कार्योंको अपने आप क्यों नहीं कर लेवेगा? इस सिद्धांतसे तो कापिलोंके नित्यपनके मंतव्यमें कोई अंतर नहीं है तथा च आपके क्षणिक वादके स्थानपर नित्यवाद भी प्रतिष्ठित हो जावेगा, तब तो अब आप बौद्ध नित्यवादका उक्त कुयुक्ति देकर खण्डन नहीं कर सकेंगे।

भवन् वा स तस्याः कारणम्, उपादानं सहकारि वा? न तावदुपादानं खटिकादिकृतायास्तदुपादानत्वात्, नापि सहकारिकारणमुपादानसमकालत्वाभावात्।

" अस्तुतोष " न्यायसे वह आकारभेद उस पट्टीकी अंकमालाका कारण भी हो जावे, किंतु हम पूंछते हैं कि उस अंकमालाका वह आकारभेद क्या उपादान कारण है या सहकारी कारण है? बताओ। पहिला उपादान कारण तो आप मान नहीं सकते हैं। क्योंकि खडिया, शीशलेखनी, (पेंसिल) मषी, गेरू, आदिसे बनायी गयी अंकमालाका वे खडिया आदि उपादान कारण हैं। वे ही पट्टीपर संख्या अक्षर रूपसे परिणत होते हैं। ग्रहणका आकार भेद तो उपादान कारण नहीं है, खडिया आदिकी बनाई गई बत्तीसे पट्टीपर गणितके अंक लिखे जाते हैं। और अंकमालाका आकारभेद सहकारी कारण भी नहीं हो सकता है। क्योंकि उपादान कारणके कालमें रहकर कार्य

करनेवालेको सहकारी कहते हैं किंतु यह समान कालमें नहीं रहता है। मृत्तिकाके समान कालमें रहते हुए दण्ड, चक्र, कुलाल आदिक तो घटके सहकारी कारण माने गये हैं। किंतु अंकमाला लिखने या छापनेके बहुत देर पीछे ग्रहणका आकारभेद उत्पन्न होता है।

यथोपादानभिन्नदेशं सहकारिकारणं तथोपादानभिन्नकालमपि दृष्टत्वादिति चेत्। किमेवं कस्य सहकारि न स्यात्। पितामहादेरपि हि जनकत्वमनिवार्यं विरोधाभावात्। ततो नांकमाला सूर्यादिग्रहणाकारभेदे साध्ये लिंगं स्वभावकार्यत्वाभावात्।

सौगत कहते हैं कि उपादान होरही मृत्तिका चाकके ऊपर रहती है। मिट्टीसे दो हाथ दूरपर कुलाल रहता है। केवल हाथके सम्बन्धसे मिट्टी और कुलालका एक एक देश नहीं हो जाता है। दण्ड भी मिट्टीसे कुछ दूरपरसे चाकको घुमाता है। इसी प्रकार कपडेके उपादान कारण तन्तुओंसे कोरिया आदि भी भिन्न देशमें रहते हैं। पुण्यवान् जीव कहीं रहता है और तदनुसार कार्य अनेक भिन्न देशोंमें होते रहते हैं। मालव देशमें भाग्यशाली पुरुष हैं, उनके पुण्य से पंजाब और काबुलमें मेवा पकती है, रक्षित होती है और अनेक निमित्तोंसे खिंचकर मालवामें पहुंच जाती है। अतः जैसे उपादान कारणसे भिन्न देशमें रहनेवाला भी सहकारी कारण हो जाता है, वैसे ही उपादान कारणके भिन्न समयमें रहनेवाला भी सहकारी कारण हो जावेगा। देखा भी जाता है कि पहिले अधिक घाम पडनेसे या लुएं और आंधीके चलनेसे भविष्यमें महिने दो महिने में वृष्टि अच्छी होती है। पहिले तीस वर्षके भोगे हुए न्याय्य भोग परिहारविशुद्धि संयमके सहकारी कारण हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध इस प्रकार कहेंगे, तब तो इस ढंगसे कौन किसका सहकारी कारण न हो सकेगा? भावार्थ—भिन्न देश और भिन्न कालके सभी पदार्थ चाहे जिस किसीके निमित्त कारण बन बैठेंगे। पितामह, प्रपितामह, (बाबा, पडबाबा, सडबाबा) आदि भी नियमसे पुत्रके जनक बिना रोकटोकके बन जावेंगे। कोई विरोध न होगा। चाहे किसी देश या किसी भी कालके उदासीन पदार्थ प्रकृतकार्यके नियत कारण बन बैठेंगे। इस कारणसे सिद्ध होता है कि सूर्य आदि ग्रहणके आकार भेदको साध्य करनेमें अंकमाला ज्ञापक हेतु नहीं है। क्योंकि साध्यका अंकमाला स्वभाव नहीं है और कार्य भी नहीं है। आप बौद्धोंने भावको सिद्ध करनेके लिये दो ही प्रकारके हेतु मान रखे हैं।

तदस्वभावकार्यत्वेऽपि तदविनाभावात्सा तत्र लिंगमित्यपरे। तेषामपि कुतो व्याप्तेर्ग्रहः? न तावत्प्रत्यक्षतो, भाविनोऽतीतस्य वा सूर्यादिग्रहणाकारभेदस्यासदाद्यप्रत्यक्षत्वात्, नाप्यनुमानादनवस्थानुषङ्गात्। यदि पुनरागमात्तद्व्याप्तिग्रहस्तदा युक्त्यनुगृहीतात्तदननुगृहीताद्वा? न तावदाद्यः पक्षस्तत्र युक्तेरप्रवृत्तेस्तदसम्भवात्। द्वितीयपक्षे स्वतः सिद्धप्रामाण्यात् परतो वा? न तावत्स्वतः स्वयमनभ्यस्तविषयेऽत्यंन्तपरोक्षे स्वतःप्रामाण्यासिद्धेरन्यथा तदप्रामाण्यस्यापि स्वतः सिद्धिप्रसंगात्।

बौद्धोंके समान वैशेषिक भी प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं। किन्तु वे हेतुके कितने ही भेद मान लेते हैं, उन न्यारे वैशेषिकोंका कहना है कि आकारभेदका अंकमाला स्वभाव न सही और कार्य भी भले ही न होवे। फिर भी उसके साथ अविनाभाव संबंध होनेके कारण वह अंकमाला वहां आकार भेदमें ज्ञापक हेतु हो जाती है, उन वैशेषिकोंके भी इस मन्तव्यपर हम पूंछते हैं कि यहां अविनाभावरूप व्याप्तिका ग्रहण किस प्रमाणसे होता है ? बतलाइये ! प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो व्याप्तिका ग्रहण हो नहीं सकता है। क्योंकि भविष्य और चिर भूतकालमें होनेवाले ग्रहणोंके आकारोंका भेद हम सरीखे चर्मचक्षुवाले पुरुषों आदिके प्रत्यक्षका विषय नहीं है। अतः साध्य और हेतु दोनोंके प्रत्यक्ष किये विना दोनोंमें रहनेवाले अविनाभाव सम्बन्धको हम जान नहीं सकते हैं। और अनुमानसे भी व्याप्तिका ग्रहण हो नहीं सकता है। क्योंकि अनुमानका उत्थान व्याप्तिग्रहणपूर्वक होगा। उस व्याप्तिको जाननेके लिये भी तीसरे अनुमानकी आवश्यकता पडेगी। अतः वह भी चौथे व्याप्तिग्रहणसे उत्पन्न होगा। इस प्रकार आकांक्षाएं बढते रहनेके कारण अनवस्था दोषका प्रसंग आता है। अब आप काणादोंके पास व्याप्तिग्रहणका और कोई उपाय नहीं है।

नैयायिक, सांख्य और मीमांसकोंके बलपर आगमकी प्रमाणताका अनुसरण कर आगमसे व्याप्तिका ग्रहण करना इष्ट करोगे, तब तो हम पूंछते हैं कि युक्तियोंकी कृपासे युक्त हो रहे आगमसे व्याप्तिको जान लोगे ? या युक्तियोंके कृपाभारसे रहित भी आगमसे सम्बन्धका ग्रहण कर लोगे ? बताओ। इन दोनोंमेंसे पहिला पक्ष तो अच्छा नहीं है। क्योंकि अत्यंत परोक्ष विषयको प्रतिपादन करनेवाले उस आगममें युक्तियोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है। मंत्र, तंत्र, सामुद्रिक, ज्योतिष विषयके शास्त्रोंमें वे युक्तियां प्रवृत्त नहीं होती हैं। जब कि अग्निकी उष्णता, आत्माकी चेतनताको विषय करनेवाले प्रत्यक्षोंमें ही युक्ति चलाना पहाडसे माथा टकरानेके समान प्रत्यक्षकी अवज्ञाका कारण होकर व्यर्थ है तो भला आगमसे जानने योग्य कर्म, परमाणु, आकाश, सूर्यग्रहण, बीजाक्षरोंकी शक्ति आदि विषयोंमें भी युक्तियोंका प्रवेश कहां ? अर्थात् नहीं है।

दूसरा पक्षग्रहण करनेपर हम आपसे पूंछते हैं कि उस आगमका प्रमाणपना स्वतः सिद्ध है ? या दूसरे कारणोंसे जाना गया है ? बताइये। मीमांसकोंके अनुसार पहिला स्वतः प्रमाणीकपना तो बन नहीं सकता है। क्योंकि जो विषय हमको स्वयं अभ्यास किये हुए नहीं हैं, उन अत्यन्तपरोक्ष माने गये पुण्य, पाप स्वर्ग आदिके प्रतिपादन करनेमें वेद स्मृति, पुराण आदि ग्रंथोंको स्वतः प्रमाणीकपन सिद्ध नहीं है। अन्यथा प्रमाणताके समान अप्रमाणताकी भी स्वतः सिद्धि हो जानेका प्रसंग आवेगा। ज्ञानमें प्रामाण्यको जो स्वतः अपने आप होना मानते हैं उनको ज्ञानमें अप्रामाण्यका उत्पाद भी स्वतः ही मानलेना पडेगा। तथा च वे व्याप्तिग्रहण करानेवाले शास्त्र अप्रमाण हो जावेंगे।

परतः सिद्धप्रामाण्यादागमात्तद्व्याप्तिग्रह इति चेत्, किं तत्परं प्रवृत्तिसामर्थ्यं बाधकाभावो वा? प्रवृत्तिसामर्थ्यं चेत्, फलेनाभिसम्बन्धः सजातीयज्ञानोत्पादो वा? प्रथमकल्पनायां किं तद्व्याप्तिफलम्? सूर्यादिग्रहणानुमानमिति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः। प्रसिद्धे हि आगमस्य प्रामाण्ये ततो व्याप्तिग्रहादनुमाने प्रवृत्तिस्तत्सिद्धौ चानुमानफलेनाभिसम्बन्धादागमस्य प्रामाण्यमिति।

नैयायिकोंके विचारानुसार आगममें दूसरे कारणोंसे प्रामाण्यकी उत्पत्ति मानी जावेगी और उस आगमसे व्याप्तिका ग्रहण करोगे, यों तो हम जैन पूंछते हैं कि आगममें प्रमाणताका उत्पादक वह परपदार्थ क्या है? बताइये। प्रवृत्तिकी सामर्थ्य है? अथवा क्या बाधक कारणोंका उत्पन्न नहीं होना है? कहिये।

यदि यों कहोगे कि जलको जानकर जलमें स्नान, पान, अवगाहनरूप प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे जलज्ञानमें प्रमाणता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रवृत्ति सामर्थ्यमें भी दो विकल्प हैं। पहिला फलके साथ ज्ञाताका चारों ओर सम्बन्ध होजाना और दूसरा उसी ज्ञेयमें दूसरे सजातीय ज्ञानका उत्पाद हो जाना है?

पहिली कल्पना माननेपर तो आप बतलाओ कि उस व्याप्तिका फल क्या है? जिसके साथ सम्बन्ध करलिया जावे। यदि सूर्य, चंद्र आदिके ग्रहणका अनुमान करना यदि व्याप्तिका फल है, तब तो यह वही अन्योन्याश्रय दोष है। सो इस प्रकार है। उसे सुनिये। आगमको प्रमाणीकपना अच्छा सिद्ध हो जावे, तब तो उस प्रमाणीक आगमसे व्याप्तिग्रहण करते हुए ग्रहणके अनुमान करनेमें प्रवृत्ति होवे, और जब वह अनुमानमें प्रवृत्ति होना सिद्ध हो जावे, तब व्याप्तिके अनुमानरूप फलके साथ सुंदर सम्बंध हो जानेसे प्रवृत्तिसामर्थ्य द्वारा आगमको प्रमाणता आवे।

सजातीयज्ञानोत्पादः प्रवृत्तिसामर्थ्यमिति चेत्, तत्सजातीयज्ञानं न तावत्प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा, अनवस्थानुषङ्गात्, तदनुमानस्यापि व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वात्, तद्व्याप्तेरपि तदागमादेव ग्रहणसम्भवात्तदागमस्यापि सजातीयज्ञानोत्पादादेव प्रमाणत्वाङ्गीकरणात्।

पहिले ज्ञानके विषयसे समानजातिवाले विषयका दूसरा ज्ञान उत्पन्न हो जाना यदि प्रवृत्तिसामर्थ्य है, ऐसा कहने पर तो पूर्वके समान दो पक्ष फिर उठाये जाते हैं कि प्रत्यक्षसे उस सजातीयका ज्ञान करोगे या अनुमानसे। बताओ, प्रत्यक्षसे ज्ञान होना मानोगे तब तो ग्रहणके आकारभेदके सदृश दूसरा पदार्थ प्रत्यक्षका विषय नहीं है। अतः प्रत्यक्षसे सजातीयको नहीं जान सकते हो। और अनुमानसे सजातीयका ज्ञान होना मानोगे तो अनवस्था दोषका प्रसंग आता है। क्योंकि वह अनुमान भी व्याप्तिग्रहण करनेके पीछे उत्पन्न होगा। और उस व्याप्तिका ग्रहण करना भी उस आगमसे ही सम्भव है और उस आगमको भी प्रमाणता सजातीयज्ञानके उत्पादसे ही

स्वीकार की गयी है। इस प्रकार चक्रकगर्भित अनवस्था दोष है। अतः अनुमानसे भी सजातीयका ज्ञान नहीं हो सकेगा।

बाधकाभावः पर इति चेत्, तर्हि स्वतोऽभ्याससामर्थ्यसिद्धाद्बाधकाभावात्प्रसिद्धप्रामाण्यादागमादंकमालायाः सूर्यादिग्रहणाकारभेदेन व्याप्तिः परिगृह्यते न पुनः सूर्यादिग्रहणाकारभेद एव, इति मुग्धभाषितम्, ततो न विषमोऽयमुपान्यासो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरागमात्संप्रत्ययप्रसिद्धेः।

आगमको परके द्वारा प्रमाणपना माननेवाले नैयायिक बाधकोंके नहीं उत्पन्न होनेको पर मानेंगे तब तो यह मानना कुछ अच्छा है, किंतु प्रकृतमें ऐसा कहना भोलेपनेकासा भाषण है। अपने बार बार अभ्यासकी सामर्थ्यसे प्रसिद्ध हुए बाधकोंके रहितपनेसे जान लिया है प्रमाणपना जिसका ऐसे आगमसे अंकमालाकी सूर्य, चंद्र आदि ग्रहणके आकार भेदके साथ व्याप्ति तो ग्रहण करली जाती है, किंतु फिर एकदम सीधे सूर्य, चंद्रग्रहणके आकारोंकाभेद ही नहीं जाना जाता है, ऐसी बातोंको भोली बुद्धिवाला ही कह सकता है; परीक्षक नहीं। भला विचारो तो सही कि जो पुरुष प्रमाणीक आगमके द्वारा पट्टीपर लिखी हुयी अंकमालाकी ग्रहणके आकार भेदोंके साथ व्याप्तिको जान लेवें, किंतु आकारभेदको अन्तरालरहित न जान पावे, यह कहीं हो सकता है? वह आगमके द्वारा ग्रहणके आकारोंको भी अवश्य जान लेवेगा। इस कारण आगमसे परोक्ष भी मोक्षको निर्णय करनेके लिये दिया गया सूर्य आदिक ग्रहणके आकारभेद रूप यह दृष्टांत विषम कथन नहीं है, क्योंकि दृष्टांत ग्रहणका आकारभेद और दृष्टांतका उपमेय मोक्षरूप दार्ष्टान्तिकका प्रमाणीक आगमसे अच्छी तरह निर्णय करना प्रसिद्ध है।

सामान्यतो दृष्टानुमानाच्च निर्वाणं प्रतीयते तथा हि—

मोक्षको आगमसे सिद्ध कर अब अनुमानसे सिद्ध करते हैं। नैयायिकोंने तीन प्रकारके अनुमान माने हैं। १ पूर्ववत्, २ शेषवत् और ३ सामान्यतो दृष्ट। उनके अनुकूल सामान्यतो दृष्ट अर्थात् अन्वयव्यतिरेकी अनुमानसे भी मोक्षकी प्रतीति हो रही है, इसीको स्पष्ट कर वार्तिक द्वारा दिखलाते हैं—

शारीरमानसासातप्रवृत्तिर्विनिवर्तते।
क्वचित्तत्कारणाभावाद् घटीयन्त्रप्रवृत्तिवत्॥ २५४॥

किसी आत्मामें (पक्ष) शरीर संबंधी क्षुधा, शीत, रोग, भय आदि व्याधि और मनः सम्बन्धी राग, द्वेष, चिंता आदि आधियोंकी असाता आकुलतारूप प्रवृत्ति अतिशयपनेसे निवृत्त हो जाती है (साध्यदल) क्योंकि उस असाताके कारण माने गये ज्ञानावरण, वेदनीय आदि

कर्मोंका अभाव हो गया है (हेतु) जैसे कि कुएंमें लटकी हुयी घडोंकी मालाके चले हुए पानी निकालनेवाले यंत्रकी प्रवृत्ति उसके कारण चक्रभ्रमणसे रुक जानेसे निवृत्त हो जाती है (अन्वयदृष्टान्त)

यथा घटीयंत्रस्य प्रवृत्तिर्भ्रमणलक्षणा स्वकारणस्यारगर्तभ्रमणस्य विनिवृत्तेर्निवर्तते तथा कचिज्जीवे शारीरमानससासातप्रवृत्तिरपि चतुर्गत्यरगर्तभ्रमणस्य, तत्कारणं कुत इति चेत्, तद्भाव एव भावाच्छारीरमानससासातभ्रमणस्य, न हि तच्चतुर्गत्यरगर्तभ्रमणाभावे सम्भवति, मनुष्यस्य मनुष्यगतिबाल्यादिविवर्तपरावर्तने सत्येव तस्योपलम्भात्, तद्वत्तिर्यं-क्सुरनारकाणामपि यथा स्वतिर्यग्गत्यादिषु नानापरिणामप्रवर्तने सति तत्संवेदनं इति न तस्य तदकारणत्वम् ।

जैसे छोटे छोटे घडों या घलियोंकी बनी हुयी मालाको एक पहिएपर लटकानेवाले और उस पहिएसे मिडी हुयी लाटको इतर दो पहियोंके द्वारा बैलसे घुमाने योग्य तीन चकवाले यंत्रपर रस्सीके सहारे कुएंमें लटकती हुयी घटमालाकी भ्रमण करना रूप प्रवृत्ति अपने कारण होरहे काटसे संयुक्त गड्ढेमें घूमते हुए चकाके घूमनेकी सर्वथा निवृत्ति हो जानेसे निवृत्त हो जाती है, वैसे ही किसी मुक्तजीवमें शरीरसंबंधी और मनःसम्बन्धी असातारूप दुःखोंकी प्रवृत्ति भी चार गति रूप गड्ढेके पहियेके भ्रमणकी निवृत्ति हो जानेसे निवृत्त हो जाती है। जैसे घटीमालाका घुमानेवाला कारण गड्ढेमें घूमनेवाला चार अरोंसे युक्त चका है, वैसे ही संसारके दुःखोंका कारण चारों गतियोंमें भ्रमण करना है। वह उसका कारण है, यह जैनियोंने कैसे जाना ? ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि यहां अन्वयव्यतिरेक घट जाता है। उस नरक आदि चार गतियोंमें भ्रमण करनेपर ही जीवको शरीर और मनःसंबंधी दुःखोंका परिभ्रमण रूप बार बार आना हो रहा है और उस चतु-र्गति रूप अरहट चकाके भ्रमण न होनेपर वे आधियां और व्याधियां भी जीवके नहीं होने पाती हैं। देखो ! मनुष्योंके मनुष्यगतिमें होनेवाले बालक, कुमार, वृद्ध आदि अवस्थाओंके परावर्तन होने पर ही वे गर्भ, भूख, प्यास, रोग, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदिके दुःख बार बार होते हुए देखे जा रहे हैं। उसीके समान तिर्यञ्चगतिमें छेदन, भेदन, भारवहन, इष्टवियोग, खानपान निरोध, शीत, उष्ण, मच्छर, पराधीनता आदि विपत्तियें तिर्यञ्चके भवोंमें परावर्तन करनेपर ही हुयी हैं। एवं देवोंके भी इष्टवियोग, ईर्ष्याभाव, दूसरेकी अधीनता, माला मुरझाना आदि बाधाएं देवगति, देवआयुष्य, कर्मके वश आत्माके देव शरीरमें ठुस जानेके कारण उत्पन्न हुयी हैं। नारकि-योंके तो दिन रात दुःखोंका भोगना चालू ही रहता है, उन्हें तो एक क्षणको भी दुःख भोगनेसे अवकाश नहीं है। और जैसे अपने पूर्व जन्मोंमें हो चुकी तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति आदिमें अनेक अवस्थाओंके परिवर्तन होनेपर उन दुःखोंका प्रतिकूल संवेदन होता है वैसा सम्पूर्ण संसारी जीवोंमें वेदन हो रहा है। इस कारण उन शरीर संबंधी आदि दुःखोंका उस चतुर्गतिभ्रमणको अकार-णपना नहीं है, अर्थात् चारों गतियोंमें घूमना जीवको अनेक दुःखोंका कारण है।

तन्निवृत्तिः कुत इति चेत्, स्वकारणस्य कर्मोदयभ्रमणस्य निवृत्तेः, बलीवर्दभ्रमणस्य निवृत्तौ तत्कार्यारघट्टभ्रमणनिवृत्तिवत्, न च चतुर्गत्यरघट्टभ्रमणं कर्मोदयभ्रमणनिमित्तमित्यसिद्धं दृष्टकारणव्यभिचारे सति तस्य कदाचिद्भावात्, तस्याकारणत्वे दृष्टकारणत्वे वा तदयोगात् ।

इस चतुर्गतिरूप गर्त चक्रके घूमनेकी निवृत्ति किससे होती है ? बताओ, यदि ऐसा पूछोगे तो उत्तर सुनो । अपने कारण हो रहे कर्मोंके उदयके भ्रमणकी निवृत्ति हो जानेसे चतुर्गतिके भ्रमणकी निवृत्ति हो जाती है, जैसे कि बैलके घूमनेकी निवृत्ति हो जानेपर उसके कार्य माने गये अरहटके भ्रमणकी निवृत्ति हो जाती है । चार गतिरूप चार अरवाले गड्ढेके चक्रभ्रमणका निमित्त कारण कर्मोंके उदयका परिभ्रमण है, यह बात असिद्ध नहीं है । क्योंकि लोकमें देखे गये खाद्य, पेय, पुत्र, धन, स्त्री आदि कारणोंका व्यभिचार हो जानेपर, नहीं देखनेमें आवे ऐसे सूक्ष्म ज्ञानावरण आदि कर्मोंके भ्रमणको ही कारण मानना पडता है । भावार्थ—सांसारिक सुख, दुःखोंका शरीर, पुत्र, धन आदिके साथ अन्वय, व्यतिरेक, नहीं है । अनेक पुरुष दृढशरीर और धनके होते हुए भी दुःखी देखे जाते हैं, और अनेक जीव शरीरसंपत्तिरहित होते हुए भी आनंदमें हैं । दूध यदि सुखका कारण होता तो ज्वरी और श्लेष्म रोगवालेको भी पुष्टिकर होता । विष भी अच्छी तरह प्रयुक्त किये जानेपर असंख्य प्राणियोंको नीरोग कर देता है । तपस्वी साधुओंकी धन, पुत्र आदिमें रुचि नहीं है, वे पत्थरकी शिला, वृक्षोंकी खोहोंमें ही निवास करते हैं । वृद्ध पुरुषको तरुणी विष समान प्रतीत होती है, तरुणको नहीं । शीतकालमें अग्नि अनुकूल हो जाती है । वही ग्रीष्ममें असहपना पैदा करती है । वैशाख और ज्येष्ठमें गर्दभको हर्ष उत्पन्न होता है । ऊंटको नीमके कडुए पत्ते अच्छे लगते हैं, आम्रके नहीं, इत्यादि दृष्टांतोंसे दृष्ट हो रही सामग्रीका लौकिक सुख, दुःखोंसे व्यभिचार देखा जाता है । अतः चतुर्गतिमें भ्रमणरूप आकुलताका कारण पुण्य, पाप, कर्म ही है । पुण्य भी सोनेकी बेडियोंके समान वास्तवमें आकुलताका ही कारण है । दूसरी बात यह है कि तिर्यंच आदि गतिमें होनेवाले भिन्न भिन्न जातिके अनेक दुःखोंको भोगते हुए वे परिभ्रमण कभी कभी होते हैं । भावार्थ—यह जीव कभी तो तिर्यग्गतिके दुःखोंको भोगता है और कभी नरक, मनुष्य, देवोंकी गतियोंमें परिभ्रमण करता है । इस कारण जो कभी होता है, वह परिभ्रमण कारणसहित अवश्य है । यदि उस सद्रूप भावका कारण न मानोगे तो वह नित्य हो जावेगा, उसका कभी कभी होना नहीं बन सकेगा । संसारमें अनेक दुःख प्रवाहरूपसे सर्वदा होते रहते हैं। किन्तु व्यक्तिरूपसे दुःख सादिसान्त हैं । एक दुःखका नाश होना, दूसरेका उत्पाद रहना यह परिभ्रमण होता है । एक समयमें होनेवाले अनेक दुःखोंके समुदायको भी सुखगुणकी एक सङ्कटरूप विभाव परिणति माना है अथवा जिन कण्टक, विष, दुग्ध आदि देखे हुए कारणोंका व्यभिचार हो रहा है, उन्हींको चतुर्गतिके भ्रमणका कारण मान लोगे तो भी नियमपूर्वक कार्य होनेका यह घटन नहीं हो सकेगा ।

तन्निवृत्तिः पुनस्तत्कारणमिथ्यादर्शनादीनां सम्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षभावनासात्मीभावात् कस्यचिदुत्पद्यत इति समर्थयिष्यमाणत्वात् तत्सिद्धिः।

आप फिर पूंछेंगे कि उन कर्मोंके उदयरूप भ्रमणकी निवृत्ति भला किससे होगी ? बताओ। इसका उत्तर यह है कि उन कर्मोंके कारण हो रहे मिथ्यादर्शन, कुज्ञान, कषाय और असंयम आदिके विरोधी माने गये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, और तपःकी आत्माके साथ तादात्म्यसम्बंधसे समरसरूप होनेवाली भावनाके बलसे किसी आत्माके कर्मोंकी निवृत्ति होना उत्पन्न होजाता है, इस बातको हम भविष्यमें समर्थन कर देवेंगे। यों अबतक घटीयंत्रकी प्रवृत्तिके रोकनेका कारण अरहटके भ्रमणकी निवृत्ति है और अरहटके भ्रमणको रोकनेका कारण बैलके घूमनेकी निवृत्ति होना है। दार्ष्टांतमें इसकी सिद्धि इस प्रकार करलेना कि शरीर और मनःसम्बंधी अनेक दुःखोंकी निवृत्तिका कारण चतुर्गतिमें भ्रमणकी निवृत्ति है और चतुर्गतिके भ्रमणकी निवृत्तिका कारण ज्ञानावरण आदि कर्मोंके उदय परिभ्रमणकी निवृत्ति है और ज्ञानावरण आदि कर्मोंका नाश तो रत्नत्रय या चार आराधनाओंसे होजाता है।

प्रकृतहेतोःकुम्भकारचक्रादिभ्रान्त्यानैकान्तः, स्वकारणस्य कुम्भकारस्य व्यापारस्य निवृत्तावपि तदनिवृत्तिदर्शनात्, इति चेत्—

कोई शंका करता है कि कारणके भ्रमणकी निवृत्ति होजानेसे कार्यके भ्रमणकी निवृत्तिको सिद्ध करनेवाले प्रकरणमें प्राप्त हुये हेतुका कुम्हारके चक्र आदिकी भ्रांतिसे व्यभिचार है। क्योंकि देखा जाता है कि चक्रके अपने घूमनेका कारण माने गये कुलालके हस्तव्यापारकी निवृत्ति होजाने पर भी वह चक्रका घूमना निवृत्त नहीं होता है। भावार्थ—कुम्हारके एक बार घुमानेपर पांच या दश पल पीछेतक भी चाक घूमता रहता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि—

न कुम्भकारचक्रादिभ्रांत्यानैकान्तसम्भवः।
तत्कारणस्य वेगस्य भावे तस्याः समुद्भवात् ॥ २५५ ॥

कुम्हारके चक्र या बच्चोंके खेलनेका भौंरा आदिके भ्रमण द्वारा हमारे कारण निवृत्तिरूप हेतुका व्यभिचार होना सम्भव नहीं है। क्योंकि उस कुम्हारके चाक और बच्चेके भौंरा घूमनेका कारण उनमें भर दिया गया वेग है। कुम्हार और बच्चेका व्यापार साक्षात् कारण नहीं है। जबतक वेग रहेगा तबतक वह चक्र और भौंराका भ्रमण उत्पन्न होता रहेगा।

न हि सर्वाचक्रादिभ्रान्तिः कुंभकारकरव्यापारकारणिका, प्रथमाया एव तस्यास्तथाभावात्, उत्तरोत्तरभ्रांतेः पूर्वपूर्वभ्रांत्याहितवेगकृतत्वावलोकनात्, न चोत्तरा तद्भ्रांतिः स्वकारणस्य वेगस्याभावे समुद्भवति, तद्भाव एव तस्याः समुद्भवदर्शनात् ततो न तथा हेतोर्व्यभिचारः।

चक्र, भौंरा, चकई, के आगे, पीछे, बीचमें होनेवाले सब ही भ्रमण कुम्हार या बालकके हाथके व्यापारको कारण लेकर ही उत्पन्न हुए हैं, यह नहीं समझना। किंतु सबसे पहिला ही वह भ्रमण इस प्रकार कुम्हारके हाथके व्यापारसे उत्पन्न हुआ है और चाकके आगे आगे भविष्यमें होनेवाले अनेक भ्रमण तो पहिले पहिले भ्रमणोंके द्वारा संस्कार किये गये वेगसे बने हुए देखे जाते हैं। उत्तरकालमें होनेवाला वह चक्रका भ्रमण अपने कारण वेगके न होनेपर बराबर उत्पन्न होजाता है, यह नहीं समझना। क्योंकि उस वेगके होनेपर ही भविष्यके परिभ्रमणोंकी अच्छी उत्पत्ति देखी जाती है। इसकारण उस चक्र आदिके परिभ्रमणसे हमारे हेतुका व्यभिचार दोष नहीं है। भावार्थ—चक्रके पहिले घूमनेका कारण कुम्भकारका हाथ है और दूसरे, तीसरे आदि घूमोंका कारण परम्परासे कुम्भकार, साक्षात्कारण पूर्व घूमोंसे पैदा किया गया वेग है। प्रत्येक घूमके निकल जानेपर पहिले समयोंका वेग न्यून होता आ रहा है। अन्तिम घूममें वह वेग इतना निर्बल पड जाता है या नष्ट हो जाता है जिससे कि उससे आगे चाक या लट्टूमें भ्रमण पैदा नहीं होपाता है। अतः हमारे कार्यकारण भावकी अक्षुण्ण प्रतिष्ठा बनी रही।

पावकापायेपि धूमेन गोपालघटिकादिषूपलभ्यमानेनानैकान्त इत्यप्यनेनापास्तम्।

इन्द्रजालिया या ग्वालेके घडेमें अथवा रेलगाडीके निकलजानेपर मार्गमें धूम विद्यमान है किन्तु उसका कारण अग्नि नहीं है। इत्यादि स्थलोंमें यों अग्निके नहीं रहनेपर भी धूम पाया गया " साध्याभाववद्वृत्तित्वं " अतः यह फिर भी आपका हेतु व्यभिचारी हुआ। इस प्रकार किसीका कथन भी इसी पूर्वोक्त निर्णय कर देनेसे खण्डित हो जाता है। भावार्थ—सबसे पहिला धूम अग्निसे उत्पन्न हुआ है। उसका अग्निके साथ अन्वयव्यतिरेक है। उस धूमको पृथक् करके कहीं रख देनेपर धूमकी उत्तर पर्याय स्वरूप आगे होनेवाले अनेक अन्य धूम तो उस पहिले धूमकी धारासे ही उत्पन्न हुए हैं। तभी तो धूमसे अग्निकी सिद्धि करनेमें धुआंकी अग्निसे चुपटी हुयी मूलरेखाका न टूटना धूमका विशेषण माना गया है। अन्यथा अग्निके विना भी घडेमें बन्दकर कई दिनतक धुंआ ठहर जाता है। वह धूम भी हेतु बन जाता, जो कि इष्ट नहीं है।

शरीरमानसासातप्रवृत्तेः परापरोत्पत्तेरुपायप्रतिषेध्यत्वात्, संचितायास्तु फलोपभोगतः प्रक्षयात्। न चापूर्वधूमादिप्रवृत्तिः स्वकारणपावकादेरभावेऽपि न निवर्तते यतो व्यभिचारः स्यात्।

शरीर और मनकी असाता दुःखरूप प्रवृत्तियोंका उत्तरोत्तर कालमें धाराप्रवाहकरके उत्पन्न हो जाना भी गुप्ति, समिति, धर्म, आचरण आदि उपायोंसे निवृत्त हो जाने योग्य है। भावार्थ—द्रव्यकर्मसे भावकर्म और भावकर्मसे द्रव्यकर्मकी धाराका भविष्यमें बहना तो गुप्ति तप आदि उपायोंसे रोक दिया जाता है। और पहिले सञ्चित कर्मोंके उदय होनेपर होनेवाली असाता-

रूप बाधाओंका तो कर्मोंका फल भोगनेसे सर्वथा नाश होता है। तथा तपस्याके बलसे विना फल भोगे भी सञ्चित कर्मोंका नाश हो सकता है, किन्तु जिन कार्योंका असातारूप फल देना अनिवार्य है उनका फल भोगनेसे ही नाश होगा, चाहे वे तीन कल्याणके धारी तीर्थङ्करके हों, बारहवें गुणस्थानतक कोई संसारीजीव पूर्ण सुखी नहीं हो पाता है। धूमके अपने कारण माने गये अग्नि या पूर्व पूर्व धूम आदिके अभाव होजानेपर भी नये नये धूम आदि की प्रवृत्ति होना निवृत्त नहीं होता है, यह नहीं कहना। अथवा चाक घूमनेके कारण कुलाल या वेगके निवृत्त हो जानेपर भी चाक घूमना बन्द न होवे, यह नहीं समझ बैठना जिससे कि हमारे हेतुमें व्यभिचार हो सके। भावार्थ—कारणके अभावसे दुःखोंका निवृत्त होना सिद्ध हो जाता है। इसमें कोई दोष नहीं है।

अतोऽनुमानतोऽप्यस्ति मोक्षसामान्यसाधनम्।
सार्वज्ञादिविशेषस्तु तत्र पूर्वं प्रसाधितः॥ २५६॥

इस कारण अनुमानसे भी मोक्षसामान्यका साधन हो ही रहा है। मुक्तावस्थामें सर्वज्ञता, अनंतसुख, आठ कर्मोंका क्षय, आदि विशेषताओंको तो हम वहां पहिले प्रकरणोंमें सिद्ध करचुके हैं। यहां कहना पुनरुक्त पडेगा।

न हि निरवद्यादनुमानात् साध्यसिद्धौ संदेहः सम्भवति, निरवद्यं च मोक्षसामान्येऽनुमानं निरवद्यहेतुसमुत्थत्वादित्यतोनुमानात्तस्य सिद्धिरस्त्येव न केवलमागमात्, सार्वज्ञत्वादिमोक्षविशेषसाधनं तु प्रागेवोक्तमिति नेहोच्यते।

असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचार आदि दोषोंसे रहित होरहे अनुमानसे साध्यकी सिद्धि होजाने पर (पुनः) साध्यमें किसी भी प्रकारका सन्देह नहीं सम्भवता है। यहां प्रकृतमें मोक्षसामान्यके सिद्ध करनेमें ऊपर दिया गया अनुमान निर्दोष है। क्योंकि वह अनुमान निर्दोष हेतुओंसे अच्छा उत्पन्न हुआ है। इस कारण इस अनुमानसे उस मोक्षकी सिद्धि हो ही जाती है। केवल आगम प्रमाणसे ही मोक्षकी सिद्धि नहीं है, किंतु अनुमानसे भी मोक्ष सिद्ध है। हां ! मोक्षमें जीव सर्वज्ञ हो जाता है। द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्मोंसे रहित होजाता है इत्यादि मोक्षकी विशेषताओंकी सिद्धिको तो पहिले ही कह चुके हैं। इस कारण यहां नहीं कही जाती है।

तत्सिद्धेः प्रकृतोपयोगित्वमुपदर्शयति;—

इस मोक्षकी अनुमान और आगमसे सिद्धि करनेका इस प्रकरणमें क्या उपयोग हुआ ? इस बातको आचार्य स्वयं संगतिपूर्वक दिखलाते हैं—

एवं साधीयसी साधोः प्रागेवासन्ननिवृतेः।
निर्वाणोपायजिज्ञासा तत्सूत्रस्य प्रवर्तिका॥ २५७॥

इस प्रकार सम्पूर्ण वादियोंके यहां मोक्षकी सामान्य प्रसिद्धि होजाने पर किसी निकट भव्य मोक्षगामी सज्जन शिष्यके पहिलेसे ही मोक्षमार्गके जाननेकी अभिलाषा हो जाती है। वह जिज्ञासा ही प्रथमसूत्रका प्रवर्तन करारही है। यों पहिले सूत्रका अवतार होना पुष्ट किया गया है।

सर्वस्याद्वादिनामेव प्रमाणतो मोक्षस्य सिद्धौ तत्राधिकृतस्य साधोरुपयोगस्वभावस्यासन्ननिर्वाणस्य प्रज्ञातिशयवतो हितमुपलिप्सोः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य साक्षादसाक्षाद्वाप्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थप्रक्षीणकल्मषपरापरगुरुप्रवाहसभामधितिष्ठतो निर्वाणे विप्रतिपत्त्यभावात्तन्मार्गे विवादात् तत्प्रतिपित्साप्रतिबन्धकविध्वंसात्साधीयसी प्रतिपित्सा, सा च निर्वाणमार्गोपदेशस्य प्रवर्तिका।

सम्पूर्ण स्याद्वादसिद्धांतको माननेवाले या सर्व ही श्रेष्ठ वादियोंके मतमें जब अनुमान और आगम प्रमाणसे मोक्ष तत्त्वकी सिद्धि हो चुकी तो उसमें अधिकारको प्राप्त हो रहे साधु पुरुषके मोक्षमें विवाद न होने और मोक्षमार्गमें विवाद हो जानेसे मार्गकी जिज्ञासाके प्रतिबंधक कर्मोंके नाश हो जानेके कारण मार्गको ही जाननेकी इच्छाका होना बहुत अच्छा है। क्योंकि उसका मोक्षमें विवाद नहीं है। उस मोक्षके मार्गमें विवाद पडा हुआ है। जिस भव्यको जिज्ञासा होनेपर मोक्षमार्गका उपदेश दिया गया है, वह ज्ञानोपयोग स्वभाववाला आत्मा है और उसको निकट भविष्यमें मोक्ष होनेवाली है। वह नवीन श्रेष्ठ तर्कणाओंके चमत्कारोंको धारण करनेवाली बुद्धिसे युक्त है, और आत्महितको प्राप्त करना चाहता है। कल्याणमार्गसे युक्त होनेवाला है तथा केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंको जाननेवाले तथा नष्ट हो गये हैं घातिया कर्म जिनके ऐसे उत्कृष्ट गुरु अर्हन्तोंकी सभामें अथवा परोक्ष श्रुतज्ञानसे सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंको जानकर अनेक पापोंका क्षय करनेवाले गणधर आदिक अपर गुरुओंकी प्रवाहित सभामें बैठा हुआ है, और ऐसे शिष्यकी वह प्रबल जिज्ञासा मोक्षमार्गके उपदेशका भले प्रकार प्रवर्तन करानेवाली है।

सत्यामेव तस्यां प्रतिपाद्यस्य तत्प्रतिपादकस्य यथोक्तस्यादिसूत्रप्रवर्तकत्वोपपत्तेरन्यथा तदप्रवर्तनादिति प्रतिपत्तव्यं प्रमाणबलायत्तत्वात्।

ऐसे पूर्वमें कहे विशेषणोंसे युक्त हो रहे शिष्यकी उस प्रसिद्ध जिज्ञासाके होनेपर पहिले कहे गये आप्तके यथा उचित अनेक गुणोंसे युक्त, कर्मरहित, और ज्ञानवान् उसके प्रतिपादक आचार्य महाराजको आदिके सूत्रका प्रवर्तकपना ठीक सिद्ध हो जाता है। अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे मोक्षमार्गके प्रतिपादक उस सूत्रका अर्थरूपसे या ग्रंथरूपसे आज तक प्रवर्तन होना घटित नहीं होता है। यह बात विश्वास पूर्वक समझ लेना चाहिये। इस प्रकार प्रमाणोंकी सामर्थ्यके अधीन पूर्ण विचार हो जानेसे पूर्वमें कही हुयी योग्यताके मिल जानेपर अब आदिके सूत्रका अवतार करना न्याय प्राप्त हो जाता है। एक बार हृदय खोलकर कहिए " जैन धर्मकी जय "।

यहां तकको रचनाका अनुक्रम संक्षेपसे इस प्रकारसे हैं कि सूत्र अवतारकी आदिमें श्री विद्यानंद स्वामीने श्री श्लोकवार्तिक ग्रंथका प्रारम्भ कर मंगलाचरण पूर्वक परमपर गुरुओंका ध्यान करना आवश्यक बतलाया है। इस पर अच्छा खण्डन, मण्डन, करके ग्रंथकी सिद्धिके कारण गुरुओंका ध्यान करते हुए सूत्र, अध्याय आदिका लक्षण किया है। तथा श्लोकवार्तिक ग्रंथको आम्नायके अनुसार आया हुआ बतलाकर साक्षात्फल ज्ञानकी प्राप्ति और परम्परा फल कर्मोंके नाश करनेमें उपयोगी कहा है। अच्छे शास्त्र तो हेतुवाद और आगमवादसे संयुक्त होते हैं।

यह श्लोकवार्तिक ग्रंथ हेतुवादसे पूर्ण है। तर्क वितर्क करनेवाली बुद्धिको धारण करनेवाले विद्वान् इस ग्रंथसे तत्त्वोंको प्राप्त कर लेते हैं। आज्ञाप्रधानी, प्रतिभाशाली, श्रद्धालुओंको जानने योग्य विषय भी इस ग्रंथमें अधिक मिलेंगे। किंतु भोली बुद्धिवाले शिष्योंका इस इस ग्रंथमें प्रवेश होना दुस्साध्य है। वे अन्य उपयोगी ग्रंथोंको पढकर इस ग्रंथके अध्ययन करनेकी योग्यताको पहिले प्राप्त करलें। पीछे तर्कशालिनी बुद्धिके हो जानेपर हेतुवाद और आगमवाद रूप इस ग्रंथका अभ्यास करें। अपनी योग्यताका अतिक्रमण कर कार्य करनेमें सफलता प्राप्त नहीं होती है। श्री विद्यानंद स्वामीने इस ग्रंथकी रचना अतीव प्रकाण्ड विद्वत्ताके साथ की है। अतः बुद्धिशाली शिष्य इस ग्रंथका बहुत विचारके साथ स्वाध्याय करें वे जितना गहरा घुसेंगे उतना गम्भीर प्रमेय पावेंगे।

ग्रंथके आदिमें प्रयोजनको कहनेवाला आगम और परार्थानुमान रूप वाक्य कहना आवश्यक है। मोक्षमार्गके नेता और कर्मरूपी पर्वतके भेत्ता तथा विश्वतत्त्वोंके ज्ञाता ऐसे जिनेंद्र भगवान्के उपदेशक होनेपर मुमुक्षु भव्योंके प्रति यह सूत्र अर्थ रूपसे कहा गया है। उसी आम्नायसे आये हुए सूत्रका श्री उमास्वामी महाराजने प्रतिपादन किया है। यह सूत्ररूपी शब्द तो धाराप्रवाहसे प्रमेयकी अपेक्षा अनादि है, किंतु पर्यायदृष्टिसे सादि है। शब्द पुद्गलकी पर्याय है, अव्यापक है, मूर्त है ऐसे पौद्गलिक सूत्रोंका गूंथना गणधर देवने द्वादशाङ्गमें किया है। विनीत शिष्योंके बिना भगवान्‌की दिव्यध्वनि भी नहीं खिरती है। अत्युपयोगी वस्तु व्यर्थ नहीं जाती, तैसे ही प्रतिपादकोंकी इच्छा होनेपर सूत्र या अन्य आर्ष ग्रंथ प्रवर्तित होते हैं। हिंसा आदि पापोंका निरूपण करनेवाले ग्रंथ प्रामाणिक भी नहीं है। अतः ज्ञानी वक्ता और श्रोताओंके होनेपर समीचीन शास्त्रोंका निर्माण होता है। पहिले सूत्रको आगम और अनुमानरूप सिद्ध करते हुए अपौरुषेय वेदका खण्डन किया है। वीतराग, सर्वज्ञ, आदि हितोपदेशकका निर्णय कर लेनेपर उसके वाक्योंकी अक्षुण्णरूपसे प्रमाणता आजाती है।

मीमांसकोंने सर्वज्ञको नहीं माना है, उनके लिये सर्वज्ञ–सिद्धि सूक्ष्म आदिक अर्थोंके उपदेश करनेकी अपेक्षासे की गई है, जिनको हम श्रुतज्ञानसे जानते हैं, उन पदार्थोंका प्रत्यक्षकर्ता कोई आत्मा अवश्य है। प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणोंसे सर्व पदार्थोंके जाननेवालेको सर्वज्ञ नहीं कहते हैं।

किंतु केवलज्ञानसे एक क्षणमें ही त्रिकाल त्रिलोकके पदार्थोंको जाननेवाला सर्वज्ञ है। सर्वज्ञताका कारण घातिया कर्मोंका क्षय हो जाना है, मूलसहित कर्मोंका क्षय हो जानेपर अर्हन्त देव स्वभावसे ही युगपत् पदार्थोंको जान लेते हैं, प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। अत्यल्प कार्योंमें प्रयत्न उपयोगी होता है। किंतु अनंतानंत कार्य प्रयत्नके विना स्वभावोंसे ही हो जाते हैं। बिना इच्छा और प्रयत्नके दर्पण प्रतिबिम्ब ले लेता है।

संवर और निर्जरासे घातिया कर्मोंका किसी साधुके क्षय हो जाता है। इस कारण मोक्षमार्गका नेता विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता और कर्मोंका क्षय करनेवाला आत्मा ही उन गुणोंकी प्राप्तिके अभिलाषुक जीवोंके द्वारा स्तुत्य है। वे जिनेंद्रदेव तीर्थङ्कर प्रकृतिके उदय हो जानेपर मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं, उपदेशकी धारा अनादि कालसे चली आ रही है। इस प्रकरणपर अकेले ज्ञानसे ही मोक्षको माननेवाले नैयायिक, सांख्य आदिका खण्डन कर रत्नत्रयसे ही मुक्तिकी व्यवस्था मानी है। ज्ञानके समवायसंबंधसे आत्मा ज्ञ नहीं हो सकता है। भिन्न पडा हुआ समवायसंबंध भी किसी गुणीमें किसी विशेष गुणको संबंधित करानेका नियामक नहीं हो सकता है। समवाय संबंध तादात्म्य संबंधसे भिन्न होकर सिद्ध नहीं होने पाता है। नैयायिकोंके ईश्वरके समान बौद्धोंसे माना गया बुद्धदेव भी मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकता है और न मोक्षमार्गका उपदेश देसकता है। निरन्वय क्षणिक अवस्थामें संतान भी नहीं बन पाती है। अन्वय सहित परिणाम माननेपर ही पदार्थोंमें अर्थक्रिया बन सकती है। वचन बोलनेमें विवक्षा कारण नहीं है। तीर्थंकर देव विवक्षाके विना दिव्य ध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं। चित्राद्वैत मतमें भी मोक्ष और मोक्षका उपदेश नहीं बनता है। विज्ञानाद्वैत और ब्रह्माद्वैतकी भी सिद्धि नहीं होसकती है। इस कारण घातिया कर्मोंसे रहित हुआ आत्मा ही उपदेशक है और ज्ञानसे तादात्म्य रखनेवाला विनीत आत्मा उपदेश सुननेका पात्र है। चार्वाकोंके द्वारा मानागया पृथ्वी, अप्, तेज, वायुसे उत्पन्न हुआ आत्मा द्रव्य नहीं है। आत्मा पुद्गलका बना हुआ होता तो बहिरंग इंद्रियोंसे जाना जाता, किंतु आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होरहा है। तथा आत्माका लक्षण न्यारा है और पृथ्वी आदिका लक्षण भिन्न है ; पृथ्वी आदिक तत्त्व आत्माको प्रगट करनेवाले भी सिद्ध नहीं हैं। विना उपादान कारणके माने कारकपक्ष और ज्ञापक पक्ष नहीं चलते हैं। शब्द बिजली आदिके भी उपादान कारण हैं, जो कि स्थूल इंद्रियोंसे नहीं दीखते हैं। पिठी, महुआ आदिकसे मद शक्तिके समान शरीर, इंद्रिय आदिकसे चैतन्य शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती है। शरीरका गुण बुद्धि नहीं है। अन्यथा मृत देहमें भी बुद्धि, सुख, दुःख आदिकका प्रसंग होगा। मैं सुखी हूं, मैं गुणी हूं, मैं कर्ता हूं इत्यादिक प्रतीतियोंसे आत्मा स्वतंत्र तत्त्व सिद्ध होरहा है। जो कि अनादि कालसे अनंत कालतक स्थिर रहनेवाला है। द्रव्यार्थिक नयसे आत्मा नित्य है और पर्यायार्थिक नयसे अनित्य है। इस कारण आत्मा नित्यानित्यात्मक है। चार्वाकका माना गया पक्ष अच्छा नहीं है। बौद्धोंका आत्माको क्षणिक विज्ञानरूप मानना भी ठीक नहीं है। विशेषके

समान सामान्य पदार्थ भी वस्तुमें दीखता है अर्थात् वस्तु भेदाभेदात्मक है । एक आत्मद्रव्य क्रम-भावी और सहभावी पर्यायोंमें व्याप्त होकर रहता है । आत्मा अपने गुण और पर्यायोंको छोडता नहीं है तथा अन्य द्रव्योंके गुण पर्यायोंको लेशमात्र भी छूता नहीं है । बौद्धोंके पास इसका व्यवस्थापक कोई उपाय नहीं है । अवस्तुभूत वासनाओंसे कोई कार्य नहीं होसकता है । एकसंतानपनेको बौद्ध सिद्ध नहीं कर सकते हैं । इस कारण उपयोग स्वरूप आत्मद्रव्यके ही मोक्षमार्गको जाननेकी इच्छा होना सम्भव है । चेतनाके समवाय और ज्ञानयोगसे ज्ञानवान्पनेकी व्यवस्था होने लगे तो आकाश, घट आदि पदार्थ भी ज्ञानवान् हो जावेंगे, कोई रोकनेवाला नहीं है । प्रामाणिक प्रतीतियोंसे आत्माको ही चेतनपना सिद्ध है । आत्मामें रहनेवाला ज्ञान अपनेको स्वयं जानलेता है । उसको जाननेके लिये दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है । इस बातको बहुत युक्तियोंसे आचार्य महाराजने पुष्ट किया है ।

प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति ये चार स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं । प्रमाता भी प्रमेय होजाता है और प्रमाण भी प्रमेय तथा प्रमितिरूप है । अपनी आत्माका स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे ज्ञान होजाता है ।

ज्ञान और आत्मा सभी प्रकारोंसे परोक्ष नहीं हैं । मीमांसकोंको धर्मके प्रत्यक्ष होजाने पर उससे अभिन्न धर्मीका भी प्रत्यक्ष होना अवश्य स्वीकार करना पडेगा ।

प्रमाण ज्ञान और अज्ञाननिवृत्तिरूप फलज्ञान ये दोनों अभिन्न हैं । हां ! प्रमाणज्ञानसे हान, उपादान, बुद्धिरूप फलज्ञान भिन्न है । द्रव्यदृष्टिसे यहां भी अभेद माना जाता है । अतः मीमांसकोंका परोक्षरूपसे माना गया करणज्ञान व्यर्थ पडता है । ज्ञानके परोक्ष होनेपर अर्थका प्रत्यक्ष होना नहीं बन सकेगा, सर्व ही मिथ्या या समीचीन ज्ञान अपने स्वरूपकी प्रमिति करनेमें प्रत्यक्ष प्रमाणरूप हैं । आत्मा उपयोगवान् नहीं, किंतु उपयोगस्वरूप ही है । इस अपेक्षासे प्रत्यक्ष है तथा प्रतिक्षण नवीन नवीन परिणाम, असंख्यातप्रदेशीपना, आदि धर्मोंकरके छद्मस्थोंके ज्ञेय नहीं हैं । अतः परोक्ष भी है ।

आत्मा सांख्योंके मतानुसार, अकर्ता, अज्ञानी, सुखरहित नहीं है । गाढनिद्रामें सोती हुयी आत्माके भी ज्ञान विद्यमान है । मत्त, मूर्छित अवस्थाओंमें भी आत्माके ज्ञान है । ज्ञानके अनित्य होनेसे उससे अभिन्न आत्मद्रव्य भी अनित्य हो जावेगा । इस प्रकारका भय सांख्योंको नहीं करना चाहिए । क्योंकि अनित्य भोग, उपभोगोंके समान ज्ञानसे अभिन्न होता हुआ आत्मा भी नित्यानित्यात्मक है । उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप परिणाम हुए विना पदार्थोंका सत्त्व ही नहीं रह पाता है । यदि अन्वय बना रहे तो नाश होना बहुत अच्छा गुण (स्वभाव) है । इस प्रकार ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगरूप परिणामोंको धारण करनेवाले किसी जीवमें संसारके कारण मोह आदि कर्मोंके नाश हो जानेपर संसारका ध्वंस हो जाता है । जिसका संसार नष्ट हुआ है, उसने पूर्व समयमें

मोक्षमार्गको जाननेकी इच्छा की थी और वह जीव सिद्ध अवस्थामें अनंत काल तक रहेगा। यह व्यवस्था स्याद्वादसिद्धांतमें ही बनती है। अनेक अतिशयोंको छोडना और अनेक चमत्कारोंका धारण करना यह परिवर्तन आत्माको अनेकांत स्वरूप माननेपर सिद्ध हो जाता है, जिस जीवके काललब्धि प्राप्त हो गयी है, कर्मोंका भार लघु हो गया है, उसके मोक्षमार्गको जाननेकी इच्छा हो जाती है। वह विनीत भव्य जीव, महात्मा मुनींद्रपुरुषोंसे उपदेशको प्राप्त कर उसकी साधना करता हुआ इष्ट पदको प्राप्त कर लेता है। जिज्ञासा, संशय प्रयोजन आदिसे विशिष्ट शिष्यको उपदेश दिया जाता है। किंतु उपदेश सुननेवालेके जिज्ञासाका होना अत्यावश्यक कारण है।

आचार्यने मोक्षका कथन न करके मोक्षमार्गका कथन प्रथम क्यों किया? इसपर आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि प्रायः सम्पूर्ण वादियोंके यहां आत्माकी शुद्ध अवस्थाका हो जाना मोक्ष इष्ट किया है। मोक्षको सबने मान्य किया है।

मोक्ष सामान्यके विषयमें विशेष विवाद नहीं है। अर्थात् मोक्षको प्रायः सर्व संप्रदायवाले इष्ट करते हैं। परंतु मोक्षके मार्गके संबंधमें विवाद है। कोई भक्तिसे मुक्ति, और कोई ज्ञानसे मुक्ति और कोई कर्मसे मुक्ति, इस प्रकार एकांतसे मानते हैं। अतः शिष्यको मोक्षमार्गके जाननेकी इच्छा उत्पन्न हुयी है। जो शून्यवादी या उपप्लववादी मोक्षको सर्वथा स्वीकार नहीं करते हैं, उनको इस ग्रंथके अध्ययन अध्यापन करनेमें अधिकार नहींहै। मोक्षको हम आगमसे भी जान लेते हैं। जैसे कि पञ्चाङ्ग द्वारा या गणितके नियमोंसे सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, संक्रांति आदिको जान लेते हैं। आगमको प्रमाण माने विना गूंगे और बोलनेवालेमें कोई अन्तर नहीं है। आगमको प्रमाण माने विना कोई भी प्रकृष्ट विद्वान् नहीं बन सकता है। पेटमेंसे निकलते ही कोई पण्डित नहीं हो जाते हैं। जिन्होंनें जन्म लेते ही श्रुतज्ञानप्राप्त कर लिया है, उन्होंने भी पूर्वजन्ममें आगमका बहुत अभ्यास किया था। " यही मेरे पिता हैं " इस ज्ञानको करनेके लिये आधुनिक युगमें मातृवाक्यके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। नास्तिकोंको भी आगमकी शरण लेनी पडती है। निर्दोष वक्तासे कहा गया आगम प्रमाण है। अनुमान प्रमाणसे भी मोक्ष जाना जा सकता है। अतः निकटभव्य जीवके मोक्षमार्गको जाननेकी उत्कट अभिलाषा होनेपर सूत्रका अवतार करना अत्यावश्यक है। परोपकार करनेवाले आचार्य महाराज अनेक विवादोंका निराकरण करते हुए शिष्यकी अभिलाषाको पूर्ण करनेकेलिये " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस चिन्तामणि-रत्नस्वरूप सूत्रका प्रकाश करते हैं—

सिद्धान्तशास्त्रोदधिसाररत्ना- । त्तत्त्वार्थसूत्रात्स्वपरात्मनीनात् ॥
दृग्बोधवृत्तानि बुधाः प्रपद्य । युञ्जन्तु निर्वाणपथमनेके ॥ १ ॥

सूत्र

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

जीव आदिक तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और तत्त्वोंको कमती, बढती नहीं, किन्तु यथार्थरूपसे जानना सम्यग्ज्ञान है तथा आत्माका अपने स्वभावमें आचरण करना सम्यक्-चारित्र है। प्रतिपक्षी कर्मोंके आघातरहित इन तीनों गुणोंकी तादात्म्य सम्बन्धसे आत्माके साथ एकता हो जाना ही मोक्षका मार्ग है अर्थात् ये तीनों मिलकर मोक्षका एक मार्ग है।

तत्र सम्यग्दर्शनस्य कारणभेदलक्षणानां वक्ष्यमाणत्वादिहोद्देशमात्रमाह:—

उन तीन गुणोंमेंसे पहिले सम्यग्दर्शनके कारण, भेद और लक्षणोंको अग्रिम ग्रन्थमें कहेंगे। यहां केवल नाम कहनेकी परिभाषाको कहते हैं। सुनिये।

प्रणिधानविशेषोत्थद्वैविध्यं रूपमात्मनः।
यथास्थितार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमुद्दिशेत् ॥ १ ॥

स्वच्छ चित्तकी एकाग्रताके विशेषसे उत्पन्न हुआ है दो प्रकारपना जिसमें ऐसा जैसेके तैसे विद्यमान होरहे अर्थोंका श्रद्धान करनारूप आत्माके स्वभावको सम्यग्दर्शन कहना चाहिये।

प्रणिधानं विशुद्धमध्यवसानं, तस्य विशेषः परोपदेशानपेक्षत्वं तदपेक्षत्वं च तस्मा-दुत्था यस्य तत्प्रणिधानविशेषोत्थम्। द्वे विधे प्रकारौ निसर्गाधिगमजविकल्पौ यस्य तद्द्विविधम्, तस्य भावो द्वैविध्यम्, प्रणिधानविशेषोत्थं द्वैविध्यमस्येति प्रणिधानविशेषो-त्थद्वैविध्यम्, तच्चात्मनो रूपम्।

इस कारिकाका समास, तद्धित, वृत्तियोंसे स्पष्ट अर्थ करते हैं—प्रणिधानका अर्थ शुद्ध निर्दोष रूपसे अध्यवसाय करना है। उसकी विशेषता दूसरोंके उपदेशकी अपेक्षा नहीं होनेसे और उन सद्गुरुओंके उपदेशकी अपेक्षा करनेसे दो प्रकार हो जाती है। उस विशेषतासे है उत्पत्ति जिसकी वह "प्रणिधानविशेषोत्थ" हुआ। स्वभावसे उत्पन्न हुए और परोपदेशसे उत्पन्न हुए भेदसे, दो हैं। विध अर्थात् प्रकार जिसके उसको द्विविध कहते हैं। उस द्विविधका जो भाव अर्थात् परिणमन है, वह द्वैविध्य है। प्रणिधान विशेषसे उत्पन्न हुआ है द्वैविध्य इस श्रद्धानका इस कारण यह श्रद्धान प्रणिधानविशेषोत्थद्वैविध्य है ऐसा जो आत्माका स्वरूप है, वह सम्यग्दर्शन है। परोपदेशके अति-रिक्त जिनमहिमदर्शन, देवऋद्धि दर्शन, वेदना, जातिस्मरण, आदि कारणोंको यहां निसर्ग शब्दसे लिया गया है। यदि निसर्गका मूल अर्थ स्वभाव पकडा जाय तो विना कारण सभी जीवोंके सम्यग् दर्शन उपज जानेका प्रसङ्ग आजावेगा।

यथास्थितार्थास्तत्त्वार्थास्तेषां श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिहोद्देश्यं तथैव निर्दोषवक्ष्यमाणत्वात् ।

जिस प्रकार अपने अपने गुण, पर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, अर्थक्रिया आदि धर्मोंसे पदार्थ ठीक स्थित हो रहे हैं, उसी प्रकार वर्तते हुए वे पदार्थ तत्त्वार्थ हैं । उन तत्त्वार्थोंका जो श्रद्धान करना है, इस प्रकरणमें जैन दर्शनकी संकेतप्रणाली (परिभाषा) के अनुसार उसे सम्यग्दर्शनके नामसे कहना चाहिये । क्योंकि उस ही प्रकारसे सम्यग्दर्शनका दोषरहित निरूपण आगे करनेवाले हैं । यहां कर्मधारय, बहुव्रीहि समास और ष्य प्रत्ययके द्वारा सम्यग्दर्शनके नाममात्रकी प्रतिपादक कारिकाका स्पष्टीकरण कर दिया है । जो कि सम्यग्दर्शन शब्दकी निरुक्तिसे ही अर्थ निकला है ।

सम्यग्ज्ञानलक्षणमिह निरुक्तिलभ्यं व्याचष्टे;—

इस प्रकरणमें प्रकृति, धातु, और प्रत्ययसे बने हुए शब्दकी निरुक्तिसे प्राप्त होरहे सम्यग्ज्ञानके लक्षणका व्याख्यान करते हैं—

स्वार्थाकारपरिच्छेदो निश्चितो बाधवर्जितः ।
सदा सर्वत्र सर्वस्य सम्यग्ज्ञानमनेकधा ॥ २ ॥

सब काल, सब देश और सम्पूर्ण व्यक्तियोंको बाधासे रहित होते हुए स्वयं ज्ञानको और अर्थको आकार सहित निश्चित रूपसे जानना सम्यग्ज्ञान है और वह अनेक प्रकारका है । यहां आकारका अर्थ विकल्प करना या स्वपरपरिच्छेद करना है जो कि अन्य गुणोंमें नहीं पाया जाकर ज्ञानगुणमें ही पाया जाता है ।

परिच्छेदः सम्यग्ज्ञानं न पुनः फलमेव ततोऽनुमीयमानं परोक्षं सम्यग्ज्ञानमिति तस्य निराकरणात् ।

अपनी प्रत्यक्षरूप ज्ञप्ति करानेवाले करणरूप ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं किंतु फिर फलरूप ज्ञानको ही सम्यग्ज्ञान नहीं कहते हैं । मीमांसकोंने ज्ञानजन्य ज्ञाततारूप फलसे परोक्ष ज्ञानका अनुमान होजाना माना है । ऐसे उस सर्वथा परोक्ष ज्ञानका जैनियोने निराकरण कर दिया है । जैनोंने स्वांशमें सम्पूर्ण ज्ञानोंका प्रत्यक्ष होना इष्ट किया है । भावार्थ—स्वग्रहणकी अपेक्षा सर्व ही ज्ञान प्रत्यक्ष हैं कोई ज्ञान परोक्ष नहीं है । " भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः " ऐसा श्री समंतभद्राचार्यका प्रमाण वाक्य है ।

स चाकारस्य भेदस्य न पुनरनाकारस्य किञ्चिदिति प्रतिभासमानस्य परिच्छेदः तस्य दर्शनत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ।

और वह घट, पट आदि विशेषरूप आकारका विकल्प करते हुये परिच्छेद करना, सम्यग्ज्ञान है, किंतु फिर बालक या गूंगेके मन्दज्ञानके समान पदार्थोंका कुछ कुछ सामान्य आलोचन

करनेवाले आकाररहित चेतना करनेको सम्यग्ज्ञान नहीं कहते हैं। क्योंकि उस सामान्य आलोचनको आगे ग्रंथमें दर्शनोपयोग रूपसे स्पष्ट कहनेवाले हैं। बालक या गूंगेका देखना, चाखना, भी ज्ञान है। केवल दृष्टांत देदिया है। कुछ है, वह भी अनध्यवसाय ज्ञान है। जो कुछ विकल्प किया जायगा ज्ञान ही पड जायगा। निर्विकल्पक सामान्य आलोचनको दर्शन कहते हैं। वह अवाच्य है।

स्वाकारस्यैव परिच्छेदः सोऽर्थाकारस्यैव वेति च नावधारणीयं तस्य तत्त्वप्रतिक्षेपात्।

कोई बौद्ध मतानुयायी योगाचार कहते हैं कि ज्ञान अपने ही आकारका परिच्छेद करता है, बहिरंग विषयोंको नहीं जानता है, तथा किन्हीं अन्य वादियोंका यह सिद्धांत है कि वह परिच्छेद अर्थोंके आकारका ही है। स्वयं ज्ञानको ज्ञान नहीं जान सकता है। क्योंकि अपनेमें अपने आप क्रिया करनेका विरोध है। बलवान् पुरुष भी ठेलेपर बैठकर स्वयं ठेलेको नहीं ठेल सकता है, चक्षु स्वयं अपनेको नहीं देख सकती है, रसना इंद्रिय स्वयं अपना रस नहीं चखती है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार इन दोनों एकांतोंका निश्चय नहीं कर लेना चाहिये। क्योंकि उस अकेले ज्ञान या ज्ञेयको ज्ञानका वह विषयपना दूर हटा दिया गया है। इस जगत्में अकेला ज्ञान ही तत्त्व है या ज्ञेय ही तत्त्व है, सो नहीं है। क्योंकि दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। इनका अविनाभाव संबंध है, एकका निषेध होनेपर दूसरेका भी निषेध हो जावेगा। तथा च शून्यवाद छाजावेगा। दीपक या सूर्य जैसे अपना और परका प्रकाश करते हैं, वैसे ही ज्ञान भी अपना और परका प्रतिभास करता है, तभी तो कारिकामें अपनेको और अर्थको उल्लेख कर जाननेवाला ज्ञान कहा है। ज्ञानमें अपना और अर्थका विकल्प होता है।

संशयितोऽकिञ्चित्करो वा स्वार्थाकारपरिच्छेदस्तदिति च न प्रसज्यते, निश्चित इति विशेषणात्।

संशयरूपको प्राप्त हुआ अथवा कुछ भी प्रमितिको नहीं करनेवाला ऐसा अनध्यवसाय रूप ज्ञान भी अपने और अर्थके कुछ सच्चे, झूठे, आकारोंको जान रहा है, इसको उस सम्यग्ज्ञानपनेका प्रसंग न हो जावे, इस निमित्तसे सम्यग्ज्ञानके लक्षणमें निश्चय किया गया ऐसा विशेषण दिया है। ऊपर कहे गये संशय और अनध्यवसाय ज्ञान निश्चयरूप नहीं हैं। यों मिथ्याज्ञानोंसे भी स्वपर परिच्छित्ति हो रही मानी गयी है।

विपर्ययात्मा स तथा स्यादिति चेन्न, बाधवर्जित इति वचनात्, बाधकोत्पत्तेः पूर्वं स एव तथा प्रसक्त इति चेन्न, सदेति विशेषणात्।

दो मिथ्याज्ञानोंका तो निश्चित रीतिसे वारण कर दिया। किंतु सीपमें चांदीको जानना यह विपर्ययस्वरूप ज्ञान भी अपनेको और अर्थको जानता है, इस कारण वह भी इस प्रकार सम्यग्ज्ञान हो जावेगा, ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि हमने सम्यग्ज्ञानके लक्षणमें " बाधाओंसे रहित "

ऐसा विशेषण कहा है। सीपमें चांदीको जाननेवाले ज्ञानमें उत्तर कालमें बाधा उत्पन्न हो जाती है कि यह चांदी नहीं है किन्तु सीप है।

यदि यहां कोई इस प्रकार कहें कि सीपमें चांदीका ज्ञान या लेजमें सर्पका ज्ञान भी बाधक प्रमाणोंकी उत्पत्तिके पहिले तो बाधकरहित होकर स्वार्थोंको जानते ही हैं। अतः उन विपर्यय ज्ञानोंको भी उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान बननेका प्रसंग आवेगा, सो यह कटाक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि हमने सम्यग्ज्ञानके लक्षणमें सदा ऐसा पद दे रखा है। इस कारण दोषका वारण हो गया, जो सर्वदा ही बाधाओंसे रहित है, वह सम्यग्ज्ञान होता है। कभी कभी बाधा नहीं होनेका कोई महत्त्व नहीं है। चोर या व्यभिचारी कभी कभी पाप करते हैं, सदा नहीं। किन्तु तादृश भाव बने रहनेसे वे दूषित ही समझे जाते हैं। अणुव्रती नहीं।

क्वचिद्विपरीतस्वार्थाकारपरिच्छेदो निश्चितो देशांतरगतस्य सर्वदा तद्देशमप्राप्नुवतः सदा बाधवर्जितः सम्यग्ज्ञाने भवेदिति च न शङ्कनीयम् सर्वत्रेति वचनात्।

किसी देशमें और अर्थके आकारको परिच्छेद करनेवाला निश्चयात्मक विपरीत ज्ञान हुआ और वह मनुष्य तत्काल देशांतरको चला गया तथा सर्वदा जन्मभर भी वह मनुष्य उस देशमें प्राप्त नहीं हुआ। रेलगाडीमें बैठकर चले जाते हुए देवदत्तको दूरवर्ती कांसोंमें जलका ज्ञान हुआ उस समय उसको जलकी आवश्यकता भी न थी और दौडती हुयी गाडीसे उतरना भी नहीं हो सकता था जिससे कि जलके प्रदेशमें आनेपर उसको बाधकप्रमाण उत्पन्न हो जाता। पश्चात् उसको उस मार्गसे जानेका कोई प्रसंग भी नहीं आया और न देवदत्तने किसीसे उसकी चर्चा ही की, ऐसी दशामें सर्वदा बाधकरहितपना विशेषण भी घट गया। तब तो वह भ्रमज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाना चाहिये। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार भी शंका नहीं करना। क्योंकि हमने सर्वत्र ऐसा लक्षणमें बोला है। इस कारण उस देशमें बाधा भले ही न हो किन्तु दूसरे देशमें आनेकी सम्भावना होनेपर उस व्यक्तिको बाधकप्रमाण अवश्य उपस्थित हो जावेगा। अर्थात् सर्व स्थानोंमें बाधकका अभाव नहीं रहा।

कस्यचिदतिमूढमनसः सदा सर्वत्र बाधकरहितोऽपि सोऽस्तीति तदवस्थोऽतिप्रसङ्गः इति चेन्न, सर्वस्येति वचनात् तदेकमेव सम्यग्ज्ञानमिति च प्रक्षिप्तमनेकस्येति वचनात्।

मनमें अत्यंत मूर्खताके विचार रखनेवाले किसी किसी मोंदू मनुष्यके किसी मिथ्याज्ञानमें सर्व काल और सर्व देशमें बाधकरहितपना भी बन जाता है किसीके जन्मभर और सर्वत्र मिथ्याज्ञान होकर उसमें बाधक ज्ञान नहीं उपज पाता है। इस कारण वह विपर्ययज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जावेगा। इस प्रकार अतिप्रसङ्ग दोष वैसाका वैसा ही तदवस्थ रहा। यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि हमने ज्ञानमें सर्व जीवोंको बाधारहितपना ऐसा विशेषण दिया है। जगके जीवोंको

मींचनेपर सबके लिये अंधेरा नहीं हो सकता है । तथा कोई कोई वादी उस सम्यग्ज्ञानको एक ही प्रकारका मानते हैं । यह मंतव्य भी अनेकधा ऐसा विशेषण कहनेसे खण्डित हो जाता है । भावार्थ—वह सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष, परोक्ष या मति श्रुत आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका है ।

तत्र निश्चितत्वादिविशेषणत्वं सम्यग्ग्रहणाल्लब्धम् । स्वार्थाकारपरिच्छेदस्तु ज्ञानग्रहणात्, तद्विपरीतस्य ज्ञानत्वायोगात् ।

उस मोक्षमार्गके प्रकरणमें प्राप्त हुये सूत्रमें दिये गये सम्यग्ज्ञान शब्दसे ही ऊपर कहा हुआ सम्पूर्ण लक्षण निकल पडता है । निश्चितपना, बाधारहितपना, आदि विशेषण तो ज्ञानके साथ लगे हुए सम्यग्पदके ग्रहणसे प्राप्त हो जाते हैं । और ज्ञान पदके ग्रहण करनेसे तो अपने और अर्थके आकारका परिच्छेद करना, यह अर्थ निकल आता है । जो उस अपने और अर्थके परिच्छेद करनेवाले ज्ञानसे विपरीत हैं । उन घट, पट आदिकोंको ज्ञानपनका योग नहीं है । यहांतक सम्यग्ज्ञान शब्दका अर्थ कर दिया गया है ।

सम्यक्चारित्रं निरुक्तिगम्यलक्षणमाह;—

अब सम्यक्चारित्र शब्दकी निरुक्तिसे ही जाना जावे, ऐसे सम्यक्चारित्रके लक्षणको कहते हैं—

भवहेतुप्रहाणाय बहिरभ्यन्तरक्रिया— ।
विनिवृत्तिः परं सम्यक्चारित्रं ज्ञानिनो मतम् ॥ ३ ॥

सम्यग्ज्ञानी जीवकी संसारके हेतु होरहे मिथ्यादर्शन, अविरति और कषायोंके सर्वथा नाश करनेके लिये बहिरंग और अंतरङ्ग क्रियाओंकी विशेषरूपसे निवृत्ति होजाना ही उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र माना गया है ।

विनिवृत्तिः सम्यक्चारित्रमित्युच्यमाने शीर्षोपहारादिषु स्वशीर्षादिद्रव्यनिवृत्तिः सम्यक्त्वादिस्वगुणनिवृत्तिश्च तन्माभूदिति क्रियाग्रहणम् ।

सम्यक्चारित्रके लक्षणमें विशेष्यदल केवल विनिवृत्ति ही कह दिया जाता तो इष्टदेवीके सन्मुख शिरको काटकर चढा देने या पगडी, मुडासा (मुकुटसा) के उतार कर फेंकनेमें अपने सिर, पगडी आदि द्रव्योंकी निवृत्ति अथवा मिथ्यात्वका उदय आनेपर सम्यक्त्व, प्रशम, आदि गुणोंकी निवृत्ति होजाना भी सम्यक्चारित्र हो जावेगा । वह न होवे इसलिये क्रियाका ग्रहण किया है । भावार्थ—क्रियाओंकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं । द्रव्य और गुणोंकी निवृत्तिको नहीं ।

बहिःक्रियायाः कायवाग्योगरूपायाः एवाभ्यन्तरक्रियाया एव च मनोयोगरूपाया विनिवृत्तिः सम्यक्चारित्रं माभूदिति क्रियाया बहिरभ्यन्तरविशेषणम् ।

शरीरके चलने, फिरने, को अवलम्ब लेकर उत्पन्न हुयी आत्माके प्रदेशकम्परूप काय योग की क्रिया और आद्य शब्द बननेका कारण भाषावर्गणाको अवलम्ब लेकर उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश कम्परूप वचनयोगस्वरूप क्रिया, केवल इन दोनों ही बहिरंग क्रियाओंकी विशेषनिवृत्ति सम्यक्-चारित्र न बनजावे अथवा संचित या उपार्जनीय मनोवर्गणाका अवलम्ब लेकर उत्पन्न हुए आत्मप्र-देशकम्पनरूप मनोयोगस्वरूप केवल अंतरङ्ग क्रियाकी अच्छी निवृत्ति ही चारित्र नहीं बन बैठे, इसलिये क्रियाके बहिरंग और अन्तरंग ये दो विशेषण दिये हैं। भावार्थ—बहिरंग और अन्तरंग दोनों ही क्रियाओंकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं। मन, वचन, कायके त्रियोगकी अशुभ आचरणसे निवृत्तिको सम्यक्चारित्र माना है।

लाभाद्यर्थं तादृशक्रियानिवृत्तिरपि न सम्यक्चारित्रं भवहेतुप्रहाणायेति वचनात्।

कोई ढोंगी लाभ, यश और प्रयोजनको गांठनेके लिये भी वैसी बहिरंग और अन्तरंग क्रियाओंकी निवृत्ति करलेते हैं। सो भी सम्यक्चारित्र नहीं है। क्योंकि चारित्रके लक्षणमें हमने संसारके कारणोंको भले प्रकार नाश करनेके लिये यह वचन कहा है। अर्थलाभ और यशःकी प्राप्ति आदिके लिये किये गये योगनिरोध तो आर्त्त, रौद्र ध्यान बनते हुए दीर्घ संसारके कारण हो जाते हैं। जो संसारके कारण मिथ्यात्व और कषायके नाशके लिये त्रियोगका निरोध है, वही धर्म्य, शुक्ल ध्यान या शुभ और शुद्धपरिणाम होता हुआ संसारका क्षय करदेता है। मायाचार करना अतीव निन्द्य है।

नापि मिथ्यादृशः सा तद्भवति, ज्ञानिन इति वचनात्, प्रशस्तज्ञानस्य सातिशयज्ञा-नस्य वा संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमस्यैव सम्यक्चारित्रत्वप्रकाशनात्, अन्यथा तदाभासत्वासिद्धेः।

वह वैसी क्रियाकी निवृत्ति भी मिथ्यादृष्टी जीवके नहीं हो पाती है। क्योंकि सम्यग्ज्ञानी आत्माकी क्रिया निवृत्तिको सम्यक्चारित्र कहा गया है। जिस आत्माके प्रशंसनीय प्रमाणरूप मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान हैं या अनेक चमत्कारोंको धारण करनेवाला उत्कृष्ट केवलज्ञान है और जो आत्मा संसारके कारणोंको सर्वाङ्ग नष्ट करनेके अर्थ पूर्ण उद्यम कर रहा है, उस ज्ञानवान् आत्माके बहिरङ्ग और अंतरंग क्रियाओंके विशेषरूपसे नाश हो जानेको ही सम्यक्चारित्रपना पूर्वाचार्योंने प्रकाशित किया है, अन्यथा यानी दूसरे प्रकारसे मानोगे तो उस चारित्रका आभासपना सिद्ध हो जावेगा। भावार्थ—मिथ्याज्ञानियोंका चारित्र तो चारित्रसदृश दीखता हुआ चारित्राभास है। उसमें उक्त विशेषण घटित नहीं होते हैं।

सम्यग्विशेषणादिह ज्ञानाश्रयता भवहेतुप्रहाणता च लभ्यते, चारित्रशब्दाद्बहिर-भ्यन्तरक्रियाविनिवृत्तता सम्यक्चारित्रस्य सिद्धा, तदभावे तद्भावानुपपत्तेः।

छोटे सम्यक्चारित्र शब्दसे इतना लम्बा चौडा लक्षणमें कहा गया अर्थ कैसे निकल पडता है ? इस ग्रन्थिको सुलझाते हैं— देखिये, इस सम्यक्चारित्र पदमें पडे हुये सम्यक् इस विशेषणसे दो अर्थ निकलते हैं । एक सम्यक्चारित्रका धारण करनेवाला सम्यग्ज्ञानी जीव ही है, जो कि भले ज्ञानका आधार है तथा दूसरा अर्थ संसारके हेतुओंका नाश करना यह प्रयोजन भी सम्यग्पदसे प्राप्त हो जाता है । और चारित्र शब्दसे बहिरंग और अंतरंग क्रियाओंका विशेषरूपसे निवृत्ति हो जाना अर्थ निकला । इस प्रकार सम्यक्चारित्र शब्दसे उक्त संपूर्ण अर्थ सिद्ध हो जाता है । उन उक्त विशेषणोंके न घटनेपर चाहे जिस क्रिया निरोधको वह सम्यक्चारित्रपना सिद्ध नहीं हो पाता है।

सम्प्रति मोक्षशब्दं व्याचष्टे;—

उद्देश्य दलमें पडे हुए तीनों गुणोंका शब्दशास्त्रके अनुसार निरुक्तिसे सिद्धान्तित अर्थ कर चुके हैं। अब इस समय विधेयदलमें पडे हुए मोक्षमार्गके मोक्षशब्दका श्रीविद्यानंद आचार्य महाराज व्याख्यानरूप अर्थ करते हैं ।

निःशेषकर्मनिर्मोक्षः स्वात्मलाभोऽभिधीयते ।
मोक्षो जीवस्य नाऽभावो न गुणाभावमात्रकम् ॥ ४ ॥

बाहिरसे आये हुए सम्पूर्ण ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोका बंध, उदय, सत्त्वरूपसे अनन्त काल तकके लिये नाशकर स्वाभाविक आत्माके स्वरूपकी प्राप्तिको ही आत्माका मोक्ष कहा जाता है । दीपकके बुझनेके समान मोक्षको माननेवाले माध्यमिक बौद्ध, या शून्यवादियोंके कथनानुसार जीवका सर्वथा अभाव हो जाना, मोक्ष नहीं है। तथा ब्रह्माद्वैतवादियोंके मतानुसार अपनी आत्माका खोज खोजाना भी मोक्ष नहीं है । और नैयायिक, वैशेषिकोंके अनुसार ज्ञान आदि गुणोंका नाश होकर केवल आत्माका जड होकर अस्तित्व रहना भी मोक्ष नहीं है । किंतु परद्रव्यका बंध छूट जानेसे शुद्ध चैतन्य, सुख आदि स्वरूप आत्माके स्वभावोंकी प्राप्ति हो जाना मोक्ष है ।

न कतिपयकर्मनिर्मोक्षोऽनुपचरितो मोक्षः प्रतीयते स निःशेषकर्मनिर्मोक्ष इति वचनात्।

प्रायोग्यलब्धिकी अवस्थामें मिथ्यादृष्टि जीवके भी कर्मभार कमती हो जाता है । सम्यग्दृष्टिके तो कर्मोंका बोझ और भी अधिक लघु हो जाता है तथा क्षपकश्रेणी अथवा बारहवें गुणस्थानके अंतमें तो कई कर्मोंका क्षयतक भी हो जाता है, ऐसे कतिपय (कितने ही) कर्मोंके विनाश हो जानेको मुख्यरूपसे मोक्ष नहीं कहते हैं। यह बात प्रमाणोंसे निर्णीत नहीं है । क्योंकि मोक्षके लक्षणमें हमने " सम्पूर्ण आठ कर्मोंके प्रागभावके समानकाल रहित ध्वंस हो जाना वह मोक्ष है " ऐसा कहा है । उपशमसम्यग्दृष्टि या वेदकसम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व और अनंतानुबंधीके बंधका प्रागभाव विद्यमान है। चार घातिया कर्मोंके नाश हो जाने पर तेरहवे गुणस्थानमें जीवन्मुक्त श्रीअर्हतपरमेष्ठीके अपर मोक्ष प्रतीत हो रहा है । मुख्यरूपसे मोक्ष होना तो श्री सिद्धपरमेष्ठी ही में विद्यमान है ।

नाप्यस्वात्मलाभः स स्वात्मलाभ इति श्रुतेः, प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वथाप्यभावश्चित्तसंतानस्य मोक्षो न पुनः स्वरूपलाभ इत्येतन्न हि युक्तिमत्, तत्साधनस्यागमकत्वात् ।

और आत्माके स्वाभाविक स्वरूपोंका लाभ न होना भी मोक्ष नहीं है । क्योंकि वह प्रसिद्ध मोक्ष अपने आत्मीय स्वभावोंका लाभ होना रूप है, ऐसा आप्तोपज्ञ शास्त्रोंमें वर्णन होता चला आ रहा है । इसपर बौद्धोंका कहना है कि प्रदीपके बुझ जानेपर जैसे कलिकाका कुछ भी भाग अवशेष नहीं बचता है, सभी अंशोंका नाश हो जाता है, ऐसे ही विज्ञानस्वरूप चित्त आत्माकी ज्ञान धाराका सभी प्रकारसे क्षय हो जाना रूप मोक्ष है। किंतु फिर जैनियोंका माना हुआ आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति होना मोक्ष नहीं है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वह बौद्धोंका कहना तो युक्तियोंसे सहित नहीं है । क्योंकि उस आत्मा द्रव्यका सर्व प्रकारसे अभाव हो जाता है । इस बातको सिद्ध करनेवाला कोई साधक प्रमाण नहीं है और जो कुछ ढीला, थोथा, प्रमाण आपने दिया है वह अभाव रूप मोक्षको समझानेवाला प्रमाण नहीं है । उसमें दिया गया आपका हेतु हेत्वाभास है । साध्यका गमक नहीं है ।

नापि बुद्ध्यादिविशेषगुणाभावमात्रमात्मनः सत्त्वादिगुणाभावमात्रं वा मोक्षः, स्वरूपलाभस्य मोक्षतोपपत्तेः, स्वरूपस्य चानन्तज्ञानादिकदम्बकस्यात्मनि व्यवस्थितत्वात् ।

और न केवल नैयायिक, वैशेषिकोंके द्वारा माना गया बुद्धि, सुख, आदि विशेष गुणोंका ध्वंस हो जाना भी आत्माका मोक्ष है । तथा सांख्योंके द्वारा माना हुआ सत्त्व आदि यानी सत्त्व गुण, रजोगुण और तमो गुणका केवल अभाव भी आत्माकी मुक्ति नहीं है। क्योंकि स्वाभाविक रूपकी प्राप्ति होनेको मोक्षपना सिद्ध है । केवल अभावको ही मोक्ष माना जावेगा तो लोष्ठ, भित्ति आदिके भी मोक्ष होनेका प्रसंग हो जावेगा । बुद्धि आदि गुणोंका अथवा सत्त्व आदि गुणोंका ध्वंस कहकर लोष्ठमें अतिव्याप्तिका वारण नहीं कर सकते हो। क्योंकि नैयायिकोंने ध्वंस और अत्यंताभाव दोनोंको ही तुच्छ और स्वभावोंसे रहित अभाव पदार्थ माना है और वास्तवमें मोक्ष तो भावस्वरूप आत्माकी शुद्ध चिदानंद अवस्था है । अनंतज्ञान, अनंतसुख, क्षायिकसम्यक्त्व और अव्याबाध आदि गुणों तथा अहिंसा, क्षमा, उत्तम ब्रह्मचर्य आदि धर्मोंका समुदाय आत्माका स्वरूप है। गुणीसे गुण पृथक् नहीं होते हैं । अतः मोक्ष अवस्थामें स्वाभाविक परिणतिसे युक्त वे गुण आत्मामें व्यवस्थित रहते हैं । अनेक शुद्ध गुणोंसे युक्त आत्मा अनंत कालतक अपने स्वरूपमें विराजमान रहता है ।

नास्ति मोक्षोऽनुपलब्धेः खरविषाणवदिति चेत् न, सर्वप्रमाणनिवृत्तेरनुपलब्धेरसिद्धत्वादागमानुमानोपलब्धेः साधितत्वात्, प्रत्यक्षनिवृत्तेरनुपलब्धेरनैकान्तिकत्वात्, सकलछि-

ष्टानामप्रत्यक्षेष्वर्थेषु सद्भावोपगमात्, तदनुपगमे स्वसमयविरोधात्, न हि सांख्यादिसमयेऽस्मदाद्यप्रत्यक्षः कश्चिदर्थो न विद्यते ।

मोक्ष तत्त्व सर्वथा है ही नहीं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह प्रमाणोंसे नहीं जाना जारहा है (हेतु) जैसे कि गर्दभके श्रृंग (अन्वयदृष्टांत), इस प्रकार कोई शून्यवादी या चार्वाक कहें सो तो ठीक नहीं है। क्योंकि मोक्ष विषयमें सम्पूर्ण प्रमाणोंकी निवृत्ति नहीं देखी जाती है। इस कारण चार्वाकोंका दिया गया अनुपलब्धि हेतु असिद्ध हेत्वाभास है। आगम और अनुमान प्रमाणसे मोक्षकी ज्ञप्ति होनेको हम पहिले सिद्ध कर चुके हैं।

यदि आप मोक्षके निषेध करनेमें प्रत्यक्षप्रमाणकी निवृत्ति होना रूप अनुपलब्धि हेतु देंगे तो अभावको साधनेके लिये दिया गया आपका प्रत्यक्षनिवृत्तिरूप हेतु व्यभिचारी हो जावेगा। क्योंकि सम्पूर्ण सज्जन वादी प्रतिवादियोंने हम लोगोंके प्रत्यक्षसे न जाने जावें ऐसे अनुमेय और आगमगम्य पदार्थोंका भी सद्भाव स्वीकार किया है। जिन पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं होता है यदि उनका सद्भाव न स्वीकार करोगे तो आपको अपने सिद्धांतसे ही विरोध हो जावेगा। सूक्ष्मपरमाणु, दूसरोंकी आत्मायें, आकाश, पुण्य, पाप आदि पदार्थोंको सभी स्वीकार करते हैं। सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध आदिके सिद्धांतोंमें हम लोगोंके प्रत्यक्षसे जाने न जावें ऐसे कोई अर्थ हैं ही नहीं, यह नहीं समझना चाहिये। भावार्थ—सर्व ही सम्प्रदायोंमें और पदार्थविज्ञान (साइन्स) में भी इंद्रियोंके अगोचर होरहे शक्ति, परमाणु आदि अनेक पदार्थ माने गये हैं।

चार्वाकस्य न विद्यत इति चेत्, किं पुनस्तस्य स्वगुरुप्रभृतिः प्रत्यक्षः। कस्यचित्प्रत्यक्ष इति चेत्, भवतः कस्यचित्प्रत्यक्षता प्रत्यक्षा न वा ? न तावत्प्रत्यक्षा, अतीन्द्रियत्वात्, सा न प्रत्यक्षा चेत् यद्यस्ति तदा तयैवानुपलब्धिरनैकान्तिकी, नास्ति चेत् तर्हि गुर्वादयः कस्यचिदप्रत्यक्षाः संतीत्यायातम्, कथं च तैरनैकांतानुपलब्धिर्मोक्षाभावं साधयेद्यतो मोक्षोऽप्रसिद्धत्वाद्यथोक्तलक्षणेन लक्ष्यो न भवेत् ।

यहां कोई कहे कि हम लोगोंके प्रत्यक्षका अगोचर पदार्थ चार्वाकके सिद्धांतमें विद्यमान नहीं है। चार्वाक तो अकेला प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्षके विषय पदार्थोंको ही मानते हैं। इसपर हम जैन पूंछते हैं कि क्या फिर उस चार्वाकको अपने गुरु बृहस्पति या माता, पिता, और बाबा, पडबाबा, इत्यादि पचासों पीढियोंके पुरिखाओंका प्रत्यक्ष है ? बताओ। इस प्रकार प्रत्यक्षके अगोचर पदार्थ भी चार्वाकको मानने पडेंगे। अन्यथा वह माता पिता की उच्च आचरणवाली संतानसे रहित होकर कार्यकारण भावका भंग करनेवाला समझा जावेगा।

यदि चार्वाक यों कहें कि हमको व्यक्तिशः अपने गुरुपरिपाटी या पुरानी पीढियोंके पुरिखाओंका प्रत्यक्ष न सही, किंतु उस कालमें और उस देशमें होनेवाले अनेक प्रत्यक्षकर्ताओंको उनका

प्रत्यक्ष था । इसपर हम जैन पूंछते हैं कि उन पुरिखाओंकी सत्ताको सिद्ध करनेवाला आपके पास कौनसा प्रमाण है ? कहिये न। उस देश और उस कालमें होनेवाले किन्हीं किन्हीं मनुष्योंकी प्रत्यक्षताका आपको प्रत्यक्ष है या नहीं ? बताओ ।

पहिले पक्षके अनुसार उन पुरुषोंका प्रत्यक्ष करना आपको प्रत्यक्षरूपसे नहीं दीख सकता है। क्योंकि अन्य पुरुषोंमें रहनेवाला प्रत्यक्षज्ञान अतीन्द्रिय है । आपकी इन्द्रियोंका विषय नहीं है ।

यदि आपके गुरु, पुरिखाओंको देखनेवाले मनुष्योंके प्रत्यक्ष करनेको वर्तमानमें आप प्रत्यक्ष रूपसे नहीं जानते हैं, यह दूसरा पक्ष लोगे तो वे प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षके विषय आपके पुरिखा यदि विद्यमान हैं, तब तो उस ही प्रकारसे आपका दिया गया प्रत्यक्षनिवृत्तिरूप अनुपलब्धि हेतु व्यभिचारी होगया, और यदि उन पुरुषोंके प्रत्यक्ष करनेको आप प्रत्यक्ष नहीं कर रहे हैं, इस कारण वे नहीं हैं, तब व्यभिचार दोष तो निवृत्त होगया, किंतु आपके गुरु, बाबा, पड़बाबा, फूफा आदि किसीके भी प्रत्यक्षगोचर नहीं हैं, यह कहना प्राप्त हुआ। ऐसी दशामें. उन आपके गुरु माता पिताओंसे व्यभिचार दोषको प्राप्त हुयी अनुपलब्धि (हेतु) मोक्षके अभावको कैसे सिद्ध कर सकेगी? जिससे कि प्रमाणोंसे सिद्ध न होनेके कारण ऊपर कहे हुये लक्षणसे मोक्षरूप तत्त्व लक्ष्य न बनसके। भावार्थ—पूर्व पुरुषोंके समान मोक्ष भी प्रमाणोंसे सिद्ध है और उसका लक्षण सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित होकर स्वाभाविक गुणोंकी प्राप्ति होजाना है ।

कः पुनस्तस्य मार्ग इत्याह;—

मोक्ष शब्दका निर्वचन करचुके, सो चोखा है । फिर उस मोक्षका मार्ग क्या है ?। मार्ग तो नगर, देश, पर्वत आदिकका हो सकता है। स्वरूपप्राप्तिका मार्ग कैसा है ? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य महाराज उसका स्पष्ट उत्तर कहते हैं—

स्वाभिप्रेतप्रदेशाप्तेरुपायो निरुपद्रवः ।
सद्भिः प्रशस्यते मार्गः कुमार्गोऽन्योऽवगम्यते ॥ ५ ॥

अपने अभीष्ट माने गये प्रदेश (स्थान) की प्राप्तिका विघ्नरहित जो उपाय है, सज्जन पुरुषोंसे वही प्रशंसनीय मार्ग कहा जाता है । उससे भिन्न कुमार्ग समझा जाता है । यह मार्गका लक्षण नगरके मार्ग और मोक्षके मार्ग इन दोनोंमें घट जाता है । सत्यार्थ विचारा जाय तो मार्गका लक्षण प्रधानरूपसे मोक्षमार्गमें ही घटित होता है । अन्यत्र उपचरित है ।

न हि स्वयमनभिप्रेतप्रदेशाप्तेरुपायोऽभिप्रेतप्रदेशाप्तेरुपायो वा मार्गो नाम, सर्वस्य सर्वमार्गत्वप्रसङ्गात्, नापि तदुपाय एव सोपद्रवः सद्भिः प्रशस्यते तस्य कुमार्गत्वात्, तथा

च मार्गेरन्वेषणक्रियस्य करणसाधने घञि सति मार्ग्यतेऽनेनान्विष्यतेऽभिमेतः प्रदेश इति मार्गः, शुद्धिकर्मणो वा मृजेर्मृष्टः शुद्धोसाविति मार्गः प्रसिद्धो भवति।

जो स्वयं अपनेको अभीष्ट नहीं है, ऐसे प्रदेशकी प्राप्तिके उपायको अथवा जो हमको तो अभीष्ट नहीं है, किंतु अन्य लोलुपी जनोंको इष्ट है, ऐसे प्रदेशकी प्राप्तिके उपायको हम सच्चा मार्ग नहीं कहते हैं, अन्यथा यों तो सब ही को सर्व विषयोंके मार्गपनेका प्रसंग हो जावेगा। तथा उस इष्टप्रदेशकी प्राप्तिका विघ्नोंसे सहित उपाय ही सज्जन पुरुषोंसे प्रशंसनीय नहीं है, जो उपाय बाधाओंसे सहित है, वह कुमार्ग है। इस प्रकार चुरादि गणकी " मार्ग् अन्वेषणे " इस ढूंढना क्रियारूप अर्थको कहनेवाली मार्ग् धातुसे करणकारक अर्थको साधनेवाली व्युत्पत्तिसे करणमें घञ् प्रत्यय करनेपर मार्ग शब्द निष्पन्न होता है। जिससे अभीष्ट प्रदेश ढूंढा जावे, यह मार्ग शब्दका अर्थ हुआ। अथवा अदादि गणकी " मृज् शुद्धौ " इस शुद्धि क्रियारूप अर्थवाली मृज् धातुसे कर्म में घञ् प्रत्यय करने पर मार्ग शब्द बनता है। इसका अर्थ है कि जो शुद्ध है, यानी कांटा, कङ्कड आदि उपद्रवोंसे रहित है, वह प्रसिद्ध मार्ग होता है।

न चेवार्थाभ्यन्तरीकरणात्सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षमार्ग इति युक्तम्, तस्य स्वयं मार्गलक्षणयुक्तत्वात्, पाटलिपुत्रादिमार्गस्यैव तदुपमेयत्वोपपत्तेर्मार्गलक्षणस्य निरुपद्रवस्य कार्त्स्न्यतोऽसम्भवात्।

श्रीअकलङ्क देवके मतानुसार " मार्ग इव मार्गः " ऐसा इवका अर्थ सादृश्यको अंतरंगमें करके सम्यग्दर्शन आदि मोक्षके मार्ग हैं अर्थात् जैसे कांटा, कङ्करी, पथरी लुटेरे आदि दोषोंसे रहित मार्गके द्वारा मनुष्य नगर, ग्राम, गृह, उद्यान आदि अभीष्ट स्थानको चले जाते हैं, वैसे ही मिथ्यादर्शन, अचारित्र, कुज्ञान आदि दोषोंसे रहित होरहे रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग करके मुमुक्षु जीव मोक्षको चले जाते हैं। अतः रत्नत्रय तो उपमेय है और नगरतक फैला हुआ मार्ग (पक्की सडक) उपमान है, यह कहना युक्त नहीं है। क्योंकि वास्तवमें मार्गके लक्षणसे युक्त वह स्वयं रत्नत्रय ही है। पटना, कालिकाता आदिके मार्गों (आदम सडक) को ही उसका उपमेयपना सिद्ध है। पूर्णरूपसे उपद्रवरहितपना रत्नत्रयमें है और थोडेसे कण्टक, चोर आदिके उपद्रवोंसे रहितपना पटनाको जानेवाली सडकमें है। जिसमें अधिक गुण होते हैं, वह उपमान होता है, जैसे कि चंद्रमा और न्यून गुणवाला उपमेय होता है जैसे मुख। उपमा अलंकारमें स्वच्छ जल उपमान है और मुनिमहाराजका मन उपमेय है, किंतु " मुनिमनसम उज्ज्वलनीर " यहां प्रदीप अलंकारमें मुनिमहाराजका मन उपमान है और जल उपमेय है। वास्तवमें यही ठीक भी है। प्रकरणमें पूर्णरूपसे उपद्रव रहितपना पटना, कानपुरको जाने वाले पंथाओंमें नहीं है। असम्भव है। अधिकारियों द्वारा पूर्ण प्रबंध करनेपर भी कतिपय उपद्रव हैं ही। इसकारण प्रधानपनेसे मोक्षमार्ग ही उपमान है। शेष पंथा

उस मार्गके कुछ थोडेसे सादृश्य मिल जानेसे उपमेय हैं। तभी तो मान्य श्रीअकलङ्कदेवने शुद्धि अर्थवाली मृजि धातुसे बनाये गये मार्ग शब्दमें अस्वरस प्रकट करके अन्वेषण (ढूंढना) अर्थ वाली मार्ग धातुसे मार्ग शब्द निष्पन्न किया है। उन्हें भी मोक्षमार्गको उपमान बनाना अभीष्ट है।

तदेकदेशदर्शनात्तत्र तदुपमानप्रवृत्तेः प्रसिद्धत्वादुपमानं पाटलिपुत्रादिमार्गोऽप्रसिद्धत्वान्मोक्षमार्गोस्तूपमेय इति चेन्न, मोक्षमार्गस्य प्रमाणतः प्रसिद्धत्वात्, समुद्रादेरसिद्धस्याप्युपमानत्वदर्शनात् तदागमादेः प्रसिद्धस्योपमेयत्वप्रतीतेः, न हि सर्वस्य तदागमादिवत्समुद्रादयः प्रत्यक्षतः प्रसिद्धाः।

लोकप्रसिद्ध होरहे उस मार्गका एक देश दीखनेसे वहां मोक्षमार्गरूप उपमेयमें सादृश्यको सूचित करते हुए पटना, मथुरा, आदिके मार्गरूप उपमानकी प्रवृत्ति हो रही है। इस कारण पटना, इंद्रप्रस्थ, कानपुर आदिका मार्ग लोकप्रसिद्ध होनेसे उपमान है और अप्रसिद्ध होनेसे मोक्षमार्ग तो उपमेय है। लोकमें प्रसिद्धको उपमान कहते हैं और अप्रसिद्ध उपमेय कहा जाता है। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार कहोगे सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि मोक्षमार्गकी प्रमाणसे प्रसिद्धि हो रही है, वह लोक प्रसिद्धिसे बढकर है। और अप्रसिद्ध होरहे भी वे समुद्र, पर्वत, बृहस्पति, दुर्ग आदि उपमान होते हुए देखे जाते हैं। जैसे कि यह शास्त्र समुद्रके समान गम्भीर है, यह राजा पर्वतके समान उन्नत है, यह विद्वान् बृहस्पतिके सदृश है, यह प्रासाद गढके समान दृढ है, इत्यादि स्थलों पर जिन मनुष्योंने समुद्र, पर्वत, बृहस्पति, दुर्ग आदिको नहीं भी देखा है, फिर भी उनके सन्मुख ये अप्रसिद्ध पदार्थ उपमान बना लिये जाते हैं और शास्त्र, विद्वान्, कोठी, राजा आदि प्रसिद्धोंको उनका उपमेयपना प्रतीत हो रहा है। प्रसिद्ध आगम, विद्वान् आदिकोंके समान वे समुद्र, राजा आदिक पदार्थ सभी उपमान उपमेय व्यवहार करने वाले प्राणियोंको प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं हैं। फिर भी वे उपमान हैं अर्थात् आगम, विद्वान् आदि उपमेय तो प्रत्यक्षसे प्रसिद्ध होरहे हैं, किंतु समुद्र बृहस्पति, आदि उपमानोंका सभीको प्रत्यक्ष होनेका नियम नहीं है।

समुद्रादेरप्रत्यक्षस्यापि महत्त्वादुपमानत्वं तदागमादेः प्रत्यक्षस्याप्युपमेयत्वमिति चेत्, तर्हि मोक्षमार्गस्य महत्त्वादुपमानत्वं युक्तमितरमार्गस्योपमेयत्वमिति न मार्ग इव मार्गोऽयं स्वयं प्रधानमार्गत्वात्।

समुद्र, पर्वत आदिकोंका यद्यपि सबको प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भी महान्, गम्भीर, उन्नत, होनेके कारण समुद्रादिकोंको उपमानपना है और प्रत्यक्ष होते हुए भी आगम आदिकोंको उनका उपमेयपना है, यदि ऐसा कहोगे तब तो मोक्षमार्गको भी महान्पना हो जानेके कारण उपमानपना मानना युक्त है। शेष अन्य पेशावरसे कलकत्तातक जानेवाले चौडे मार्ग (सडक) को उपमेयपना ठीक है। इस प्रकार नगरको जानेवाले मार्गके समान यह रत्नत्रय भी मोक्षमार्ग है। यों इनके

अर्थ मानेगये सदृशपनेको मध्यमें डालकर मोक्षमार्ग शद्बका समास करना प्रशस्त नहीं है। क्योंकि रत्नत्रय स्वयं प्रधान होकर मोक्षका मार्ग है और इसके उपद्रवरहितपनेका अल्प सादृश्य लेकर नगरके मार्ग भी उपमानसे मार्ग मान लिये जाते हैं। वास्तवमें यही मार्ग आदरणीय है। उपमान है। शेष सडक गली आदि मार्ग तो इस महान् रत्नत्रयके कुछ समान होनेसे उपमेय हैं।

तत्र भेदविवक्षायां स्वविवर्तविवर्तिनोः।
दर्शनं ज्ञानमित्येषः शद्बः करणसाधनः ॥ ६ ॥
पुंसो विवर्तमानस्य श्रद्धानज्ञानकर्मणा।
स्वयं तच्छक्तिभेदस्य साविध्येन प्रवर्तनात् ॥ ७ ॥
करणत्वं न बाध्येत वन्हेर्दहनकर्मणा।
स्वयं विवर्तमानस्य दाहशक्तिविशेषवत् ॥ ८ ॥

उन तीनों रत्नस्वरूप मोक्षमार्गमें दर्शन और ज्ञान ये शब्द तो " दृशिर प्रेक्षणे " और " ज्ञा अवबोधने " इन धातुओंसे साधकतम करण अर्थको साधनेवाले युट् प्रत्यय करके बनाये गये हैं। दृष्टा और ज्ञाता आत्मा परिणामी है और उसके निज परिणाम दर्शन और ज्ञान हैं। यद्यपि परिणामीसे परिणाम सर्वथा भिन्न नहीं है, फिर भी कथञ्चित् भिन्न हैं। इस कारण अपने परिणाम और परिणामीमें भेदकी विवक्षा होनेपर ज्ञाता, दृष्टा, आत्माके दर्शन और ज्ञान करण हो जाते हैं। श्रद्धान और जानना रूप क्रियासे जब आत्मा स्वयं परिणमन कर रहा है, उस समय उस आत्माकी कथञ्चित् भिन्न मानी गयी वह दर्शनशक्ति और ज्ञानशक्ति उस कर्त्ता आत्माकी सहकारिणी होकर प्रवर्तती है। जैसे ईंधनको जलानेवाली अग्निकी दहनशक्तिको दाहक्रियाका करणपना बाधित नहीं है। क्योंकि स्वयं दाहक्रियासे परिणमन करने वाली अग्निका विशेष गुण वह दाहक शक्ति सहकारी कारण हो रही है। वैसे ही स्वयं परिणमन कर रहे आत्मारूपी कर्त्तासे ज्ञानको और दर्शनको कथञ्चित् भेदकी विवक्षा होनेपर करणपना सिद्ध हो जाता है। लोकमें भी देखा गया है कि अपनी शाखाओंके बोझसे वृक्ष टूटता है। अपनी गरमीसे मैंथीका शाक अपने आप झुलस जाता है।

यथा वन्हेर्दहनक्रियया परिणमतः स्वयं दहनशक्तिविशेषस्य तत्साविध्येन वर्तमानस्य साधकतमत्वात् करणत्वं न बाध्यते, तथात्मनः श्रद्धानज्ञानक्रियया स्वयं परिणमतः साविध्येन वर्तमानस्य श्रद्धानज्ञानशक्तिविशेषस्यापि साधकतमत्वाविशेषात्, ततो दर्शनादिपदेषु व्याख्यातार्थेषु दर्शनं ज्ञानमित्येषस्तावच्छद्बः करणसाधनोऽवगम्यते।

जैसे दाहक्रियासे परिणमन करती हुयी अग्निकी विशेष दाहकत्वशक्ति स्वयं उस अग्निकी सहायक होकर वर्त रही है, उस दाहकशक्तिको दाहक्रिया करनेमें प्रकर्षता करके कारण होजानेसे

करणपना बाधित नहीं है, वैसे ही श्रद्धान करना और जाननारूप क्रिया करके स्वयं परिणति करते हुए आत्माके सहकारी कारण बनकर प्रवर्त रहे श्रद्धान और ज्ञान इन दो विशेष गुणोंको भी क्रियासिद्धिमें प्रकृष्ट उपकारकपना है, कुछ भी अंतर नहीं है। इस कारणसे निरुक्ति द्वारा व्याख्यान कर दिये गये हैं अर्थ जिन्होंके, ऐसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि पदोंमेंसे पहिलेके दर्शन और ज्ञान ये शब्द तो व्याकरणकी रीतिसे करणमें युट् प्रत्यय करके साधे गये समझने चाहिये।

दर्शनशुद्धिशक्तिविशेषसन्निधाने तत्त्वार्थान्पश्यति श्रद्धत्तेऽनेनात्मेति दर्शनम्, ज्ञानशुद्धिशक्तिविशेषसन्निधाने जानात्यनेनेति ज्ञानमिति।

मिथ्यात्व कर्मके उदयसे आत्माका सम्यक्त्व गुण अशुद्ध (विभावपरिणत) हो रहा है। दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबंधी कर्मोंके उपशम क्षय और क्षयोपशम होजानेपर वह सम्यग्दर्शन गुण शुद्ध होजाता है। तथा मिथ्यात्व कर्मके उदयकी सहचारितासे ज्ञान गुण अशुद्ध हो रहा था, सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेपर वह ज्ञानगुण भी शुद्ध होजाता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनरूप विशेष गुणकी शुद्धिके निकट तदात्मक परिणाम हो जाने पर आत्मा स्वयं तत्त्वार्थोंको स्वतंत्रतासे देखता है अर्थात् श्रद्धान करता है और सम्यग्दर्शन गुण करके श्रद्धान कर रहा है। इस प्रकार कर्तामें युट् प्रत्यय करने पर आत्मा स्वयं दर्शनरूप है और करणमें युट् प्रत्यय करने पर आत्माका सम्यक्त्व गुण ही सम्यग्दर्शन है। एवं चतुर्थ गुणस्थानसे ऊपर ज्ञानरूप विशेष गुणकी शुद्धताके निकटतम तात्मीभाव हो जानेपर ज्ञानका कर्ता आत्मा ही ज्ञान है और जिससे आत्मा तत्त्वार्थोंको जानता है, वह चेतनागुणकी विशेष आकाररूप ग्रहण करनेकी परिणति भी ज्ञान है, यहांपर ज्ञा धातुसे कर्ता और करणमें युट् प्रत्यय किया है। कर्तामें भी कचित् कचित् युट् प्रत्ययका विधान है अथवा आत्मा जिस शक्ति करके श्रद्धान करे और जाने वह दर्शन तथा ज्ञान है। इस प्रकार करणमें युट् प्रत्यय करके दर्शन, ज्ञान, यों शब्द बनाये गये हैं। यहांतक दर्शन, ज्ञान, शब्दोंकी निरुक्ति कर दी है।

नन्वेवं स एव कर्ता स एव करणमित्यायातं तच्च विरुद्धमेवेति चेत् न, स्वपरिणामपरिणामिनोर्भेदविवक्षायां तथाभिधानात्, दर्शनज्ञानपरिणामो हि करणमात्मनः कर्तुः कथञ्चिद्भिन्नं वन्हेर्दहनपरिणामवत्, कथमन्यथाऽग्निर्दहतीन्धनं दाहपरिणामेनेत्यविभक्तकर्तृकं करणमुपपद्यते।

यहां पूर्वोक्त निर्णयपर शंका है कि इस प्रकार तो वही आत्मा कर्ता और वही करण है, ऐसा अभिप्राय आया। किन्तु यों वह उक्त कथन तो विरुद्ध ही है। जो ही कर्ता है, वही करण नहीं हो सकता है। बढई काठको कुल्हाडेसे छेदता है। यहां तक्षक कर्तासे कुठार करण न्यारा है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारकी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि अपनी पर्याय और

पर्यायवाले परिणामीके भेदकी विवक्षा करनेपर हमारा पूर्वोक्त उस प्रकार कहना है। दर्शन और ज्ञानपरिणाम निश्चयसे करण हैं। वे कर्ता माने गये आत्मासे कथञ्चित् भिन्न हैं। जैसे कि अग्निसे दाहकत्व शक्तिरूप परिणाम किसी अपेक्षासे भिन्न है। कभी कभी मणि, मन्त्र और औषधिके द्वारा अग्निकी दाहकत्व शक्ति नष्ट करदी जाती है। किन्तु अग्निका शरीर पूर्ववत् स्थिर रहता है। तभी तो यह व्यवहार चला आता है कि अग्नि अपनी दाहकत्वशक्तिसे जलाती है। अन्यथा यानी यदि अग्निको दाहकत्व शक्तिसे भिन्न नहीं माना जावेगा तो अग्नि ईंधनको दाह परिणामकरके जलाती है, ऐसा नहीं है, भिन्नकर्ता जिसका ऐसे करणका प्रयोग करना कैसे सिद्ध हो सकता था ? घोडा अपने वेगसे दौडता है, डेल अपने गौरवसे नीचे गिरता है, ऐसे स्थलोंमें भी कर्तासे अभिन्नको ही करणपना माना गया है। घोडेसे वेग और डेलसे भारीपन पृथक् नहीं हैं।

स्यान्मतम्, विवादापन्नकरणं कर्तुः सर्वथा भिन्नं करणत्वाद्भिक्तकरणवदिति। तदयुक्तम्, हेतोरतीतकालत्वात् प्रत्यक्षतो ज्ञानादिकरणस्यात्मादेः कर्तुः कथञ्चिदभिन्नस्य प्रतीतेः। समवायात्तथा प्रतीतिरिति चेन्न, कथञ्चित्तादात्म्यादन्यस्य समवायस्य निराकरणात्। पक्षस्यानुमानबाधितत्वाच्च नायं हेतुः। तथाहि—करणशक्तिः शक्तिमतः कथञ्चिदभिन्ना तच्छक्तित्वात्, या तु न तथा सा न तच्छक्तिर्यथा व्यक्तिरन्या, तच्छक्तिश्चात्मादेः करणशक्तिस्तस्माच्छक्तिमतः कथञ्चिदभिन्ना।

यहां नैयायिकका यह मत भी होवे कि विवादमें पडा हुआ करण कारक तो कर्ता कारकसे सर्वथा भिन्न है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह छह कारकोंमेंसे एक कारक है (हेतु) जैसे कि काष्ठ छेदनका करणकारक कुठार उस कर्ता तक्षकसे सर्वथा भिन्न है (अन्वय दृष्टान्त) ग्रंथकार समझा रहे हैं कि इस प्रकार नैयायिकका वह कहना भी उसी कारणसे अयुक्त है। क्योंकि इस अनुमानमें दिया गया करणत्व हेतु बाधित हेत्वाभास है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञान, दर्शन, गौरव, दाहकत्व आदि करण इन आत्मा लोष्ठ और अग्नि आदिक कर्ताओंसे कथञ्चित् अभिन्न ही प्रतीत हो रहे हैं। अतः प्रत्यक्षप्रमाणसे अभेद ज्ञात होने पर पीछेसे आपका हेतु बोला गया है। साधन कालके व्यतीत हो जानेपर कहे गये बाधित हेत्वाभासको अतीतकाल कहते हैं।

यदि नैयायिक यों कहें कि आत्मासे ज्ञान दर्शन और अग्निसे दाहकपना भिन्न हैं, किंतु समवाय हो जानेके कारण वे उस प्रकार एकमएक अभिन्नसदृश दीख रहे हैं, जैसे कि मिश्रीसे मीठापन अभिन्न दीखता है, उसी प्रकार ज्ञानवान् दर्शनवान् आत्मा समवाय संबंधसे ज्ञाता द्रष्टा रूपसे प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः गुण और गुणी सर्वथा भिन्न हैं। आचार्य कहते हैं कि यह नैयायिकोंका कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि कथञ्चित् तादात्म्य संबंधके अतिरिक्त कोई समवाय संबंध न्यारा है नहीं। नित्य एक और अनेकोंमें विशेषणतासंबंधसे रहनेवाले ऐसे समवायका

खण्डन कर दिया गया है। दूसरा दोष यह है कि आपके दिये हुए अनुमानका प्रतिज्ञावाक्य दूसरे अनुमानसे बाधित हो जाता है। इस कारण आपका यह करणत्व हेतु सद्धेतु नहीं है। किंतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। इसी बातको दिखलाते हैं—करणरूप शक्ति (पक्ष) अपने शक्तिमान्‌से कथञ्चित् द्रव्यरूपसे अभिन्न है (साध्य) उसकी शक्ति होनेसे (हेतु) जो शक्ति अपने शक्तिमान् भावसे उस प्रकार अभिन्न नहीं है, वह तो उसकी शक्ति ही नहीं, जैसे कि अन्य दूसरी व्यक्ति। भावार्थः— सर्वथा भिन्न हो जानेके कारण घटकी शक्ति पट नहीं हो सकती है, अथवा सर्वथा अभेदपक्षवादीके मतानुसार घटकी शक्ति स्वयं घट व्यक्ति नहीं हो सकती है। तभी तो कथञ्चित् द्रव्यदृष्टिसे अभिन्न और पर्यायदृष्टिसे भिन्नको जैनोंने शक्ति पदार्थ माना है। और आत्मा, अग्नि, जल आदिकी यह करणशक्ति भी वैसी ही शक्ति है (उपनय) उस कारण शक्तिमान् आत्मा आदिकोंसे कथञ्चित् अभिन्न ही है (निगमन) इस निर्दोष अनुमानसे नैयायिकोंके पूर्वोक्त अनुमानका हेतु सत्प्रतिपक्ष है।

नन्वेवमात्मनो ज्ञानशक्तौ ज्ञानध्वनिर्यदि ।
तदार्थग्रहणं नैव करणत्वं प्रपद्यते ॥ ९ ॥

यहां कोई शंका करता है कि जैनोंने शक्तियोंको अतीन्द्रिय माना है और स्वार्थाकार-ग्रहणको ज्ञान स्वीकार किया है, इस प्रकार आत्माकी ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जन्य हुयी लब्धिरूप ज्ञानशक्तिमें यदि ज्ञान शब्दकी वृत्ति है, तब तो अर्थग्रहणरूप उपयोगात्मक ज्ञान कथमपि करणपनेको प्राप्त नहीं हो सकता है। भावार्थ—लब्धिरूप करणशक्ति ही करण बनेगी मोक्षमार्गरूपसे माना गया ज्ञान तो अब करण न हो सकेगा। क्योंकि आप इस समय करणकी सिद्धि करते हुए करणशक्ति पर पहुंच गये हैं।

न ह्यर्थग्रहणशक्तिर्ज्ञानमन्यत्रोपचारात्, परमार्थतोऽर्थग्रहणस्य ज्ञानत्वव्यवस्थितेः, तदुक्तमर्थग्रहणं बुद्धिरिति, ततो न ज्ञानशक्तौ ज्ञानशब्दः प्रवर्तते येन तस्य करणसाधनता स्याद्वादिनां सिध्येत्। पुरुषाद्भिन्नस्य तु ज्ञानस्य गुणस्यार्थप्रमितौ साधकतमत्वात् करणत्वं युक्तम्, तथा प्रतीतेर्बाधकाभावात्। भवतु ज्ञानशक्तिः करणं तथापि न सा कर्तुः कथञ्चिदभिन्ना युज्यते।

आत्माकी अर्थोंके ग्रहण करनेकी शक्तिको ज्ञान नहीं कहसकते हैं। सिवाय उपचारके, अर्थात् अवस्तुभूत व्यवहारसे भले ही शक्तिको ज्ञान कहदें। वास्तविकरूपसे अर्थके विशेषाकारोंको ग्रहण करनेवालेको ज्ञानपनेकी व्यवस्था हो रही है। वही हमारे न्यायवार्तिक आदि शास्त्रोंमें ऐसा लिखा हुआ है कि अर्थको ग्रहण करनेवाला गुण बुद्धि है। इस कारणसे ज्ञानशक्तिमें ज्ञान शब्दकी प्रवृत्ति नहीं है, जिससे कि स्याद्वादियोंके मतमें उस ज्ञान शब्दकी करणसाधन युट् प्रत्यय करने-

पर सिद्धि होजाती, अर्थात् करणमें प्रत्यय करनेसे मोक्षमार्गमें पडे हुए ज्ञानका ठीक अर्थ नहीं निकलता है। और हम नैयायिकोंके मतमें तो आत्मासे ज्ञानगुण सर्वथा भिन्न है। इस कारण अर्थकी प्रमिति करनेमें प्रकृष्ट उपकारक साधक हो जानेसे उस भिन्न ज्ञानको कारणपना युक्त है। इसी प्रकार प्रतीति होनेका कोई बाधक प्रमाण भी नहीं है। अस्तु—जैनोंके मतानुसार ज्ञानशक्ति करण भले ही होजाओ, तो भी वह ज्ञानशक्ति कर्तासे कथञ्चित् अभिन्न है। यह तो जैनोंका कहना युक्त नहीं है, क्योंकि—

शक्तिःकार्ये हि भावानां सान्निध्यं सहकारिणः।
सा भिन्ना तद्वतोत्यन्तं कार्यतश्चेति कश्चन ॥ १० ॥

नैयायिक ही कहते जा रहे हैं कि कार्यकी उत्पत्ति करनेमें सहकारी कारणोंकी निकटताको ही हम पदार्थोंकी शक्ति मानते हैं। वह शक्ति उन शक्तियुक्त पदार्थोंसे और कार्यसे सर्वथा भिन्न है, अर्थात् अग्निमें कोई स्वतंत्र दाहकत्व शक्ति नहीं है, किंतु प्रतिबंधकमण्यभाव विशिष्ट अग्निको दाहके प्रति कारणता नियत होजानेसे चंद्रकांतमणिकी सत्तामें अग्नि दाह नहीं कर सकती है, और सूर्यकांत तथा चंद्रकांत मणिके होनेपर या केवल अग्निके होनेपर अग्निदाह कर देती है। कारण कि उत्तेजकाभाव विशिष्ट जो मणि उसका अभाव दाह करनेमें सहकारी कारण माना है, इसी प्रकार मृत्तिकामें घट बननेकी शक्ति भी कुलाल, चक्र, दण्ड आदि सामग्रीका मिल जाना है। इसके अतिरिक्त जैनियोंसे मानी हुयी अतीन्द्रियशक्ति कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकार कोई नैयायिक कह रहा है।

ज्ञानादिकरणस्यात्मादेः सहकारिणः सान्निध्यं हि शक्तिः स्वकार्योत्पत्तौ न पुनस्तद्वत् स्वभावकृता शक्तिमतः कार्याच्चात्यन्तं भिन्नत्वात्तस्या इति कश्चित्।

ज्ञान, दर्शन, आदि हैं कारण जिसके ऐसे आत्मा, अग्नि, आदि पदार्थोंकी अपने कार्योंको उत्पन्न करनेमें सहकारी कारणोंका सान्निध्य ही शक्ति है, किंतु फिर जैनोंकी मानी हुयी उस शक्तिवाले पदार्थोंके स्वभावरूप की गई कोई अतीन्द्रिय शक्ति नहीं है। क्योंकि वह सहकारिओंका मिल जाना रूप शक्ति अपने शक्तिमान् कारणसे और कार्यसे सर्वथा भिन्न है, जैसे मृत्तिकामें घट बननेकी शक्ति दण्ड, चक्र, कुलालरूप ही है। वह शक्ति मृत्तिकासे और घटसे सर्वथा न्यारी है, इस प्रकार यहां तक कोई नैयायिक कह रहा था।

तस्यार्थग्रहणे शक्तिरात्मनः कथ्यते कथम्।
भेदादर्थान्तरस्येव संबन्धात् सोऽपि कस्तयोः ॥ ११ ॥

अब आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि जब शक्तिको शक्तिमान्से सर्वथा भिन्न आप नैयायिकोंने मानी है तो उस आत्माकी अर्थग्रहण करनेमें जो शक्ति है, वह आत्माकी शक्ति कैसे कही

जाती है ? बताओ। क्योंकि दूसरे भिन्न पदार्थोंके समान वह शक्ति भी आत्मासे सर्वथा भिन्न है। जैसे कि सह्य पर्वतकी शक्ति विन्ध्याचल पर्वत नहीं हो सकती है, वैसे ही आत्मासे भिन्न पडी हुई अर्थोंके ग्रहण करनेकी शक्ति भी आत्माकी नहीं मानी जावेगी। यदि भिन्न होते हुए भी विशेष संबंधके वश होकर वह शक्ति आत्माकी हो सकेगी तो बतलाओ कि उन शक्ति और आत्माओंका जोडनेवाला वह विशेषसंबंध भी कौन है ?। भावार्थः—जैसे धन, पुत्र, गृह, आदि भिन्न होते हुए भी देवदत्तके कहे जाते हैं, तद्वत् सहकारी कारणस्वरूप भिन्न शक्तियां भी शक्तिमानोंकी व्यवहृत हो जावेंगी, इस नैयायिकके कथनपर आचार्य पूछते हैं कि वह संबंध कौन है ? स्वस्वामिभाव या जन्यजनकभाव अथवा अन्य कोई है ? सो बताओ !

न ह्यात्मनोत्यन्तं भिन्नार्थग्रहणशक्तिस्तस्येति व्यपदेष्टुं शक्या, सम्बन्धतः शक्येति चेत्, कस्तस्यास्तेन सम्बन्धः ?

आत्मासे अत्यंत भिन्न पडी हुयी अर्थको ग्रहण करनेवाली ज्ञानशक्ति उस आत्माकी है ऐसा आत्मा आत्मीय व्यवहार नहीं किया जासकता है। क्योंकि वन्ध्या और पुत्रके समान बीचमें सर्वथा भेद पडा हुआ है। यदि किसी सम्बन्धसे स्वस्वामिव्यवहार कर सकोगे तो बतलाओ ! अर्थग्रहण शक्तिका आत्माके साथ वह कौनसा सम्बन्ध है ?

संयोगो द्रव्यरूपायाः शक्तेरात्मनि मन्यते।
गुणकर्मस्वभावायाः समवायश्च यद्यसौ ॥ १२ ॥

इस प्रकरणमें वैशेषिकोंकी गृहव्यवस्था यों है कि कार्योंके सहकारी कारण द्रव्य, गुण और कर्म होते हैं। भावकार्योंके उपादान कारण द्रव्य होते हैं और असमवायिकारण गुण और कर्म होते हैं। अतः वैशेषिकोंके मतसे द्रव्यरूप सहकारी कारणोंकी निकटता स्वरूप शक्तिका कार्यके उपादानकारण कहे गये आत्मामें संयोगसम्बंध माना है। क्योंकि आपने द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे संयोगसम्बंध होना इष्ट किया है। तथा चौवीस गुण और पांच कर्मरूप सहकारी कारणोंके सान्निध्य रूप शक्तिका उपादानकारणके साथ वह सम्बंध समवाय माना गया है। आचार्य कह रहे हैं कि यदि आप वैशेषिक ऐसा कहेंगे:—

चक्षुरादिद्रव्यरूपायाः शक्तेरात्मद्रव्ये संयोगः संबन्धोऽन्तःकरणसंयोगादिगुणरूपायाः समवायश्च शब्दादिविषयीक्रियमाणरूपायाः संयुक्तसमवायः सामान्यादेश्च विषयीक्रियमाणस्य संयुक्तसमवेतसमवायादिर्यदि मतः।

उक्त वार्त्तिकका व्याख्यान यों है कि चक्षुः इंद्रिय द्वारा घटका प्रत्यक्ष करनेमें संयोग सन्निकर्ष करणरूप सहकारी कारण है और आत्माका तथा मनका संयोग तो असमवायी कारण होकर

सहकारी कारण है। आत्मा समवायी कारण है; यहां तेजो द्रव्यरूप चक्षुरिन्द्रिय स्वरूप शक्तिका आत्मा द्रव्यमें संयोगसम्बंध हो रहा। इस सम्बंधसे वह चक्षुःशक्ति आत्माकी बोली गयी है। इसी प्रकार जिव्हा, घ्राण आदिके सन्निकर्षोंमें भी लगा लेना, और आत्मा तथा मनका संयोग गुण पदार्थ है, इस शक्तिके साथ आत्माका समवाय सम्बंध है। गुणीमें गुण समवाय सम्बंधसे रहता है, अतः समवायके वश आत्माकी शक्ति आत्ममनःसंयोग कही जाती है। कारिकामें च शब्द पड़ा हुआ है। अतः उक्त दो सम्बन्धोंके अतिरिक्त संयुक्तसमवाय और, संयुक्तसमवेतसमवाय आदि सम्बन्धोंका भी समुच्चय होजाता है। जिस समय आत्मा रूपको जानता है, तब अवलम्ब कारण होकर रूपके ज्ञानमें रूप भी सहकारी कारण है। इसी प्रकार रूपत्व, रसत्व आदि भी अपने ज्ञानोंमें आत्माके सहकारीकारण स्वरूप शक्ति बन जाते हैं। आत्मासे संयुक्त घट है और घटमें समवाय सम्बन्ध से रूप रहता है। अतः आत्माका रूपके साथ संयुक्त समवाय सम्बन्ध है और रूपमें रूपत्व समवाय सम्बन्धसे रहता है। अतः आत्माका रूपत्वके साथ संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध है। नैया-यिकोंने द्रव्यरूप इन्द्रियोंका भी रूप रस, घटत्व तथा रूपत्व, रसत्वके साथ संयुक्तसमवाय और संयुक्त समवेतसमवाय सम्बन्ध होना माना है। ऐसे ही समवाय, समवेतसमवाय और विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध भी शक्ति और शक्तिमान्के योजक हैं, यदि नैयायिक ऐसा मानेंगे—

तदाप्यर्थान्तरत्वेस्य सम्बन्धस्य कथं निजात् ।
सम्बन्धिनोऽवधार्येत तत्सम्बन्धस्वभावता ॥ १३ ॥
सम्बन्धान्तरतः सा चेदनवस्था महीयसी ।
गत्वा सुदूरमप्यैक्यं वाच्यं सम्बन्धतद्वतोः ॥ १४ ॥
तथा सति न सा शक्तिस्तद्वतोत्यन्तभेदिनी ।
सम्बन्धाभिन्नसम्बन्धिरूपत्वात्तत्स्वरूपवत् ॥ १५ ॥

तो भी अपने संबंधीसे इस संबंधको भिन्नपदार्थ माननेपर उसको संबंधस्वरूपपना कैसे निश्चित किया जा सकेगा? बताओ। भिन्न पड़े हुए संबंधसे दो संबंधी सम्बद्ध भी न हो सकेंगे। भावार्थ—आत्मा और चक्षुःका संयोगसंबंध आपने इष्ट किया है। वह संयोग आत्माद्रव्यरूप या चक्षुःद्रव्य रूप तो है नहीं। किंतु नैयायिकोंने उसको स्वतंत्र गुण माना है। ऐसी दशामें सर्वथा भिन्न पदार्थ हो जानेसे " वह संयोग आत्माका है तथा चक्षुःका है " यह निर्णय कैसे किया जावे? यदि दूसरे संबंधोंसे प्रकृत संबंधके स्वस्वामि–व्यवहारका निर्णय करोगे तो बड़ी लम्बी चौडी अन-वस्था होगी। अर्थात् आत्माकी शक्ति चक्षुः है, इसको संयोग संबंधने जताया और वह संयोग चक्षुःका है, इस बातको समवायने बतलाया, क्योंकि संयोगगुण चक्षुः द्रव्यमें समवाय संबंधसे रहता

है और वह संयोगका समवाय है। इस संबंध संबंधीपनेको स्वरूपसंबंधने बतलाया। क्योंकि संयोग गुणमें समवाय स्वरूपसंबंधसे रहता है। किंतु यह स्वरूपसंबंध भी संयोग और समवायके समान अपने संबंधियोंसे सर्वथा भिन्न पडा हुआ है, इसकी संयोजनाके लिये भी अन्य संबंधोंकी वही आकांक्षा होती जावेगी। अतः अनवस्था दोष है। संबंध भी तो उन संबंधिओंका तभी कहा जायगा जब कि संबंध दोनों, तीनों, में संबंधित हो जायगा। इस दोषके परिहारके लिये बहुत दूर भी जाकर आप नैयायिकोंको संबंध और तद्वान् संबंधियोंका एकतारूप तादात्म्य कहना पडेगा। इसके अतिरिक्त आपकी कोई गति नहीं है। उस कारणसे ऐसा होनेपर हमारी मानी हुयी शक्ति भी अपने शक्तिमान्से अत्यंत भिन्न नहीं है। क्योंकि संबंधसे अभिन्न जो संबंधी हैं उन्हीं स्वरूप वह शक्ति है, जैसे कि शक्तिसे शक्तिका स्वरूप भिन्न नहीं है। हम स्याद्वादी शक्ति और शक्तिमान्का कथञ्चित् तादात्म्यसंबंध मानते हैं। जैन सिद्धांतमें दो प्रकारकी शक्तियां मानी गयी हैं। द्रव्यशक्तियां और पर्यायशक्तियां। उनमें द्रव्यशक्तियां तो जीवमें चेतना, सुख, सम्यक्त्व तथा पुद्गलमें रूप, रस आदि हैं। ये शक्तियां अनाद्यनंत हैं और पर्यायशक्तियां सादि सांत हैं। जैसे कि जीवकी योगशक्ति संसार अवस्थामें पायी जाती है, मोक्षमें नहीं। पुद्गलकी चुम्बक अवस्थामें आकर्षणशक्ति है, लोह पर्यायमें नहीं है एवं अग्नि अवस्थामें दाहकत्व, पाचकत्व, शोषकत्व आदि शक्तियां हैं, वही अग्नि, जलरूप या पाषाणरूप हो जावे तो वे शक्तियां नष्ट हो जाती हैं। उन उन पर्यायोंमें दूसरी शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। पर्याय उत्पन्न हो जाने पर भी अनेक शक्तियां निमित्तोंके द्वारा आती जाती रहती हैं, जैसे कि एक औषधि अनुपानके भेदसे अनेक रोगोंका निवारण कर देती है, ये सब पर्यायशक्तियां हैं। प्रकृतमें ज्ञानशक्ति और ज्ञानका भी तादात्म्य संबंध है। इस कारण नैयायिकोंका पूर्वोक्त दोष हमारे ऊपर लागू नहीं होता है।

ननु गत्वा सुदूरमपि सम्बन्धतद्वतोर्नैक्यमुच्यते येनात्मनो द्रव्यादिरूपा शक्तिस्तत्सम्बन्धाभिन्नसम्बन्धिस्वभावत्वादभिन्ना साध्यते, परापरसम्बधादेव संबंधस्य सम्बन्धिताव्यपदेशोपगमात्। न चैवमनवस्था, प्रतिपत्तुराकांक्षानिवृत्तेः क्वचित्कदाचिदवस्थानसिद्धेः प्रतीतिनिबन्धनत्वात्तत्त्वव्यवस्थाया इति परे।

अनवस्था दोषको हटानेके लिये नैयायिक तादात्म्यके अतिरिक्त दूसरा उपाय रचते हैं। वे अपने पक्षका अवधारण कर कहते हैं कि बहुत दूर भी जाकर हम संबंध और उससे सहित हो रहे संबंधियोंका तादात्म्यरूप अभेद नहीं मानते हैं जिससे कि आत्माकी सहकारी कारणरूप द्रव्य, गुण, कर्म, शक्तियां आत्मासे अभिन्न सिद्ध कर दी जावें और उसमें जैन लोग यह हेतु दे सकें कि उनके सम्बन्धसे अभिन्न संबंधियोंके स्वभावरूप वे शक्तियां हैं। भावार्थ— हम शक्ति और शक्तिमान्का अभेद नहीं मानते हैं। किंतु संयोग, समवाय, विशेषता स्वरूप आदि उत्तरोत्तर होनेवाले अनेक संबंधोंसे ही सम्बंधके सम्बधीपनेका स्वस्वामिव्यवहार माना जाता है तथा इस

प्रकार अनवस्था दोष हमारे ऊपर लागू हो जावे सो भी नहीं समझना। क्योंकि समझनेवाले ज्ञाताकी किसी लक्ष्यपर कभी न कभी अवस्थिति हो ही जावेगी। अतः उसकी उत्तरोत्तर सम्बंध कल्पना करनेकी आकांक्षाएं रुक जावेंगी। फिर भी यदि कोई आग्रही अधिक आकांक्षाएं करेगा तो भी सौवीं या पांचसौवीं कोटीपर अवश्य निराकांक्ष हो जावेगा अथवा दयालु ईश्वर उसकी जिज्ञासाओंको आगे नहीं बढने देवेंगे, ऐसे समयपर ईश्वर कृपालुता न दिखलावे तो अनेक जीव भोंकनेवाले उन्मत्त कुत्तेके समान अकालमें मर मिटे होते। देखो, प्रतीतिको कारण मानकर तत्त्वोंकी व्यवस्था मानी जाती है। एक मनुष्य किसीके मा बाप की परम्पराको पूंछते हुए कहीं न कहीं रुद्ध हो ही जाता है। अनवस्थाके डरसे प्रतीतिसिद्ध भिन्न भिन्न तत्त्व तादात्म्यके बहानेसे नहीं टाल दिये जाते हैं। अतः जैनोंको शक्तिसे शक्तिमान्‌का भेद मानना चाहिये, इस प्रकार दूसरे नैयायिक कह रहे हैं।

तेषां संयोगसमवायव्यवस्थैव तावन्न घटते, प्रतीत्यनुसरणे यथोपगमप्रतीत्यभावात्, तथाहि—

इन नैयायिकोंके यहां पहिले तो संयोग और समवायकी व्यवस्था ही नहीं घटती है, प्रतीतिके अनुसार तत्त्वोंकी व्यवस्था मानें यही तो हमको इष्ट है। आपने संयोग और समवायका जैसा स्वरूप माना है। उसके अनुसार उनकी प्रतीति नहीं हो रही है। इसी बातको विशद रूपसे कहते हैं— सो सुनो।

संयोगो युतसिद्धानां पदार्थानां यदीष्यते।
समवायस्तदा प्राप्तः संयोगस्तावके मते ॥ १६ ॥

पृथक् पृथक् आश्रयोंमें रहनेवाले युतसिद्ध पदार्थोंका संयोग सम्बंध होना यदि आप नैयायिक इष्ट करते हैं तो तुम्हारे मतमें समवाय सम्बंधको संयोगपना प्राप्त हो जावेगा।

कस्मात् समवायोऽपि संयोगः प्रसज्यते मामके मते ?

वैशेषिक या नैयायिक पूंछता है कि मेरे मतमें समवाय सम्बंधको भी संयोगपनेका प्रसंग कैसे होगा? आप जैन आचार्य बतलाओ! इस पर आचार्य कहते हैं—

युतसिद्धिर्हि भावानां विभिन्नाश्रयवृत्तिता।
दधिकुण्डादिवत्सा च समाना समवायिषु ॥ १७॥

नैयायिकके मतमें पदार्थोंका भिन्न भिन्न आश्रयोंमें वृत्ति रहना ही युतसिद्धि मानी गयी है, जैसे कि दही और कुण्डीका तथा घट और जलका युतसिद्धि होनेके कारण संयोग सम्बंध है। वही युतसिद्धि तो रूप और रूपवान् तथा अवयव और अवयवी इन माने गये समवायियोंमें भी

समान रूपसे विद्यमान है। भावार्थ—जैसे कुण्ड अपने आधार स्व अवयवोंमें रहता है और दधि भी अपने अवयवोंमें रहता है अथवा घट कपालमें रहता है और जल अपने अवयवोंमें रहता है। यहां जैसे दो आधार हैं और दो आधेय हैं, वैसे ही रूप पटमें रहता है और पट अपने अवयव तंतुओंमें रहता है या कपालोंमें घट रहता है और कपालिकाओंमें कपाल रहते हैं। इन समवाय संबंधवाले सम्बंधियोंमें भी भिन्न भिन्न आश्रयोंमें रहनारूप युतसिद्धि देखी जाती है। अतः गुण, गुणी, क्रिया, क्रियावान्, जाति, जातिमान् इनका भी आधेय और आधारका भिन्न भिन्न अधिकरणोंमें रहनेके कारण संयोग सम्बंध होजाओ।

नन्वयुतसिद्धानां समवायित्वात् समवायिनां युतसिद्धिरसिद्धेति चेत्।

नैयायिक कहते हैं कि अयुतसिद्ध पदार्थोंको ही समवायीपना है। जिन दो आधार आधेय पदार्थोंमेंसे एक पदार्थ भिन्न दूसरेको नहीं आश्रय मानकर ठहर जाता है, उन दो को अयुतसिद्ध कहते हैं। भावार्थ—समवाय सम्बंधवालोंमें आधार आधेय मिलाकर तीन पदार्थ होते हैं और संयोग सम्बंधवालोंमें आधार और आधेय मिलानेसे चार पदार्थ हो जाते हैं। अतः समवायी पदार्थोंकी भिन्न भिन्न आश्रयमें रहना रूप युतसिद्धि सिद्ध नहीं है। अयुतसिद्धि है। आचार्य कहते हैं कि यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तो—

तद्वृत्तिर्गुणादीनां स्वाश्रयेषु च तद्वताम्।
युतसिद्धिर्यदा न स्यात्तदान्यत्रापि सा कथम् ॥ १८ ॥

उन दही, कुंडी, आदि संयोगी पदार्थोंके समान ही गुण, क्रिया, अवयवी, विशेष और सामान्यरूप प्रतियोगियोंकी अपने आधार माने गये गुणी, क्रियावान्, अवयव, नित्य द्रव्य और द्रव्य गुण कर्मरूप अनुयोगियोंमें वृत्ति है और गुणवान् गुणियोंकी अपने आश्रयोंमें वृत्ति हो रही है, ऐसी दशामें भी जब समवायियोंकी आप युतसिद्धि नहीं मानते हैं तो अन्य संयोगियोंमें भी वह युतसिद्धि कैसे मानी जावेगी? अर्थात् नहीं। विश्वासका कारण युतसिद्धिका लक्षण यहां दोनों स्थानपर घट जाता ही है। केवल तीन, चार, पदार्थ कह देनेसे न्यायप्रासका उल्लंघन आप नहीं कर सकेंगे। समवायी पदार्थोंमें भी गहरी गवेषणा करनेपर चार पदार्थ मानने पडेंगे। यद्यपि एक घट अपने रूपकी अपेक्षा आधार है और अपने अवयवोंकी अपेक्षा आधेय है। फिर भी वह आधेयता और आधारता धर्म घटमें न्यारे हैं। अतः शास्त्रमें कहा हुआ युतसिद्धिका लक्षण बराबर समवायियोंमें घट जाता है। प्रभुताशाली राजाकी न्याय आज्ञाका किसीके स्वीकार न करने मात्रसे भंग नहीं हो सकता है।

गुण्यादिषु गुणादीनां वृत्तिर्गुण्यादीनां तु स्वाश्रये वृत्तिरिति कथं न गुणगुण्यादीनां समवायिनां युतसिद्धिः? पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिरिति वचनात्, तथापि तेषां युतसिद्धेरभावे दधिकुण्डादीनामपि सा न स्याद्विशेषलक्षणाभावात्।

गुणी, अवयव, आदिकोंमें गुण, अवयवी आदिकोंकी वृत्ति है और गुणी, क्रियावान् आदिकोंकी तो अपने अधिकरणोंमें वृत्ति है, इस प्रकार समवायसंबंधवाले गुण, गुणी, अवयव, अवयवी आदिकोंकी युतसिद्धि क्यों नहीं मानी जाती है ? आपके शास्त्रमें पृथक् पृथक् आश्रयोंमें आधेय होकर रहनेको युतसिद्धि कहा गया है। उसपर भी उन गुण गुणी आदिकोंकी युतसिद्धिको आप न मानेंगे तो दही और कुण्ड तथा दण्ड और पुरुष आदिकोंकी भी वह युतसिद्धि न हो सकेगी क्योंकि उक्त लक्षणके अतिरिक्त युतसिद्धिका दूसरा कोई विशेष लक्षण आपके पास नहीं है और वह लक्षण संयोगी तथा समवायी पदार्थोंमें समानरूपसे घट जाता है।

लौकिको देशभेदश्चेद्युतसिद्धिः परस्परम् ।
प्राप्ता रूपरसादीनामेकत्रायुतसिद्धता ॥ १९ ॥
विभूनां च समस्तानां समवायस्तथा न किम् ।
कथञ्चिदर्थतादात्म्यान्नाविष्वग्भवनं परम् ॥ २० ॥

शास्त्रमें लिखे हुए लक्षणके अनुसार युतसिद्धिको न मानकर यदि साधारण लोकमें प्रसिद्ध होरहे देशभेदको युतसिद्धि मानोगे अर्थात् लोकमें जिन पदार्थोंका भिन्न भिन्न देशमें रहना प्रसिद्ध हो रहा है, उनका परस्परमें संयोग माना जावेगा और जिन पदार्थोंका साधारण जनताको भिन्न भिन्न देशोंमें रहना ज्ञात नहीं होता है, उनका समवाय मानोगे, ऐसा माननेपर तो रूप, रस या ज्ञान, सुख आदि गुणोंकी भी परस्परमें ऐसी युतसिद्धि न होकर अयुतसिद्धि हो जाना चाहिए। क्योंकि उक्त गुण भी एक द्रव्यमें रहते हैं। घटमें जहां रूप है उसी स्थल पर रस है और आत्मामें जहां ज्ञान है, वहीं पर सुख भी है। अतः भिन्न देश न होनेके कारण इनकी युतसिद्धि न हुई। तब तो रूप और रसका तथा ज्ञान और सुखका समवाय संबंध हो जाना चाहिये। नैयायिकोंने इनका समवाय संबंध माना नहीं है। किंतु एक अर्थमें दोनोंका समवाय होनेके कारण एकार्थसमवाय रूप परम्परासंबंध माना है। तथा उस प्रकार लक्षण करने पर आत्मा, आकाश, काल और दिशा इन सम्पूर्ण व्यापक द्रव्योंका परस्परमें समवायसंबंध क्यों न हो जावे? क्योंकि जहांपर आत्मा है, वहींपर कालद्रव्य है और वहींपर आपने दिशा द्रव्य भी माना है। नैयायिकोंने सबका आधार काल माना है और आकाशमें भी सर्व पदार्थ वृत्त्यनियामक संबंधसे रहते हुए माने हैं। अतः जनताके द्वारा भिन्न भिन्न आश्रयका न प्रतीत होनारूप अयुतसिद्धिका लक्षण यहां घट जाता है। किंतु आपने विभु द्रव्योंका अज (नित्य) संयोग संबंध माना है। किसी किसीने तो नित्य संयोगको इष्ट नहीं किया है। कारण कि जो पदार्थ पहिले प्राप्त न थे, उनका कारणवश मिल जानेका नाम संयोग है। यह अप्राप्तिपूर्वकप्राप्ति रूप संयोगका लक्षण व्यापक द्रव्योंके संयोगमें नहीं घटता है। वे तो सर्वदासे ही

परस्परमें प्राप्त हैं । यदि नैयायिक समवायका लक्षण पृथक् पृथक् न रहना रूप अविष्वग्भाव करेंगे वह भी अर्थके साथ कथञ्चित् तदात्मकपनेके अतिरिक्त कोई अन्य संबंध नहीं है । जैनोंके तादात्म्य-संबंधका ही दूसरा नाम अविष्वग्भाव रख लिया गया है ।

लौकिको देशभेदो युतसिद्धिर्न शास्त्रीयो यतः समवायिनां युतसिद्धिः स्यादित्येतस्मिन्नपि पक्षे रूपादीनामेकत्र द्रव्ये विभूनां च समस्तानां लौकिकदेशभेदाभावाद्युतसिद्धेरभावप्रसंगात् समवायप्रसक्तिः ।

शास्त्रमें लिखे हुए लक्षणके अनुसार भिन्न भिन्न देशमें रहनेको युतसिद्धि हम नहीं मानते हैं । शास्त्र की युतसिद्धि तो समवायियोंमें भी घट जाती है । किंतु साधारण बाल गोपाल भी कुण्डी, बेर या आम, पिटारी आदि में आधार और आधेयोंका देशभेद समझ लेते हैं । ऐसे लोकप्रसिद्ध देशभेद वाले पदार्थोंकी हम युतसिद्धि मानते हैं । शास्त्रके अनुसार भिन्न देशपना मानते होते तब तो समवाय वाले रूप, रूपवान् आदिकोंकी भी युतसिद्धि बन बैठती, इस प्रकार इस नैयायिकके पक्षमें भी रूप, रस, आदिकोंकी एक द्रव्यमें तथा सम्पूर्ण व्यापक द्रव्योंकी साधारण लोक द्वारा माने गये देशभेदके न होनेसे युतसिद्धिके तो अभावका प्रसंग हो जावेगा । किंतु अयुतसिद्धि हो जानेसे रूप, रस आदिकोंका या विभु द्रव्योंका परस्परमें समवाय सम्बंध होजाना चाहिये, जो कि प्रसङ्ग नैयायिकोंको इष्ट नहीं है ।

अविष्वग्भवनमेवायुतसिद्धिर्विष्वग्भवनं युतसिद्धिरिति चेत् , तत्समवायिनां कथञ्चित्तादात्म्यमेव सिद्धं ततः परस्याविष्वग्भवनस्याप्रतीतेः ।

दो सम्बंधियोंके पृथक् पृथक् न होनेको ही अयुतसिद्धि कहते हैं और भिन्न भिन्न हो जानेको युतसिद्धि कहते हैं । जैसे कि अग्निसे उष्णता या घटसे रूप न्यारे नहीं किये जासकते हैं, इस कारण इनका समवाय है और पुरुषसे दण्ड या कुण्डसे बेर अलग किये जासकते हैं । अतः इनमें संयोगका कारण युतसिद्धि है । यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तब तो उन समवायी पदार्थोंका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बंध ही सिद्ध हुआ, उस तादात्म्य सम्बंधसे अतिरिक्त अविष्वग्भाव पदार्थ कोई न्यारा प्रतीत नहीं हो रहा है । अन्धसर्पबिलप्रवेश न्यायसे आपको स्याद्वादसिद्धांतकी ही शरण लेनी पड़ेगी ।

तदेवाबाधितज्ञानमारूढं शक्तितद्वतोः ।
सर्वथा भेदमाहन्ति प्रतिद्रव्यमनेकधा ॥ २१ ॥

गुण, गुणी, आदिकोंका वह कथञ्चित् तादात्म्य सम्बंध होना ही बाधाओंसे रहित होरहे ज्ञानमें आरूढ हो रहा है । वह शक्ति और शक्तिमान्के नैयायिकोंसे माने गये सर्वथा भेदवादको

चारों ओरसे नष्ट करदेता है और प्रत्येक द्रव्यमें वह सम्बंध न्यारा न्यारा होकर अनेक प्रकारका है। भावार्थ—अनेक शक्ति और अनेक शक्तिमानोंके तादात्म्य सम्बंध भी अनेक हैं। आपके कल्पित समवायके समान तादात्म्य सम्बंध एक नहीं है।

कथञ्चित्तादात्म्यमेव समवायिनामेकममूर्तं सर्वगतमिहेदमिति प्रत्ययनिमित्तं समवायोऽर्थभेदाभावादिति मामंस्त, तस्य प्रतिद्रव्यमनेकप्रकारत्वात्, तथैवाबाधितज्ञानारूढत्वात्, मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायतादात्म्यं हि मूर्तिमज्जायते नामूर्तं, अमूर्तद्रव्यपर्यायतादात्म्यं पुनरमूर्तमेव, तथा सर्वगतद्रव्यपर्यायतादात्म्यं सर्वगतम्, असर्वगतद्रव्यपर्यायतादात्म्यं पुनरसर्वगतमेव, तथा चेतनेतरद्रव्यपर्यायतादात्म्यं चेतनेतररूपमित्यनेकधा तत्सिद्धं शक्तितद्वतोः सर्वथा भेदमाहन्त्येव।

यदि नैयायिक यों मान बैठें कि जिसको जैन विद्वान् कथञ्चित् तादात्म्यसंबंध कहते हैं, वही हमारा समवायी पदार्थोंका समवाय एक है, अमूर्त है, सब स्थानोंपर रहता हुआ व्यापक है और "यहां यह है" अर्थात् घटमें रूप है, आत्मामें ज्ञान है। इस प्रकार सप्तम्यन्त और प्रथमांत समभिव्याहारकी प्रतीतियोंका निमित्त है। आप जैन भी अपने कथञ्चित् तादात्म्य संबंधको ऐसा ही मानते होंगे। अतः हमारे समवाय और आपके तादात्म्यमें कोई अर्थका भेद नहीं है, केवल शब्दभेद है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंको नहीं मान बैठना चाहिये। क्योंकि हम तादात्म्यसंबंधको एक नहीं मानते हैं। अनेक संबंधी हो रहे द्रव्योंमें रहनेवाले तादात्म्यसंबंध प्रत्येक द्रव्यमें एक एक होकर रहते हुए अनेक प्रकारके हैं। उस ही प्रकार संबंधोंकी अनेकता बाधारहित ज्ञानोंके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतीतिकी शिखरपर चढी हुयी है। जब मूर्तिवाले द्रव्योंकी पर्याय होकर तादात्म्य संबंध जाना जा रहा है, उस समय वह संबंध मूर्तिमान् ही उत्पन्न हो जाता है, अमूर्त नहीं हैं। जैसे कि घटका और रूपका एवं अग्नि और उष्णताका तादात्म्यसंबंध भी अपने रूप, रस, गंध, स्पर्शवाले संबंधियोंसे अभिन्न होनेके कारण मूर्त हैं, यदि संसारी जीवोंको पुद्गल द्रव्यके बंधकी अपेक्षा मूर्त माना जावेगा तो मूर्त जीवके साथ उसके मतिज्ञान, क्रोध आदिकोंका तादात्म्यसंबंध भी मूर्त है। और जब अमूर्त द्रव्योंकी पर्याय होकर वह तादात्म्यसंबंध उत्पन्न होता है, तब तो फिर वह अमूर्त ही बन जाता है, जैसे कि रूप आदिसे रहित हो रहे आत्मामें ज्ञानका, एवं काल द्रव्यमें अस्तित्व, वस्तुत्वका तादात्म्यसंबंध अमूर्त है। तथा जब सर्वत्र लोकालोकमें या लोकमें व्यापक द्रव्यकी पर्याय होकर तादात्म्य होता है, तब वह तादात्म्य भी सर्व व्यापक है, जैसे कि आकाशका महापरिमाणके साथ या केवलिसमुद्घात करते समय श्री जिनेन्द्रदेवका स्वकीय केवलज्ञान और अनंतसुखके साथ होनेवाला तादात्म्यसंबंध व्यापक है। और सब स्थानोंपर नहीं रहनेवाले व्याप्यद्रव्योंकी पर्याय बनकर उत्पन्न होनेवाला तादात्म्य भी फिर असर्वगत ही होता है। जैसे कि वृक्षकी शाखामें बंदरका तो संयोगसंबंध है किंतु बंदरके साथ संयोगका तादात्म्य है। क्योंकि संयोग दो में या तीन

चार आदिमें रहनेवाला परिणाम है, या धूपघटके ऊपर देशमें उष्णस्पर्शका तादात्म्य अव्यापक है। उसी प्रकार चेतन और जड द्रव्योंका परिणामविशेष हो रहा तादात्म्यसंबंध भी चेतनरूप और जड-स्वरूप है, बद्ध संसारी आत्माके साथ कर्म नोकर्मके संबंधसे हुयी मतिज्ञान, क्रोध, मनुष्यगति, अज्ञान, लेश्या आदि पर्यायोंका तादात्म्यसंबंध चेतन अचेतनस्वरूप है। इस प्रकार वह तादात्म्य-संबंध अनेक प्रकारसे सिद्ध है। नैयायिकोंके मतके अनुसार एक नहीं है और न एकांतसे अमूर्त या सर्वगत है किंतु मूर्त और असर्वगत भी है, द्रव्योंमें अनेक पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं। अतः जिस प्रकारके वे द्रव्य हैं, उसी ढंगके उनके तादात्म्यसंबंध भी हैं, जैसे नैयायिकोंका माना हुआ नित्य, एक हो रहा और अनेकोंमें रहनेवाला सामान्य पदार्थ कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, किंतु पुद्गलका सदृशपरिणामरूप सामान्य पुद्गल तत्त्व है और जीवका समान परिणामरूप जीवत्व जाति जीव तत्त्व है, उसी प्रकार तादात्म्यसंबंध भी कोई स्वतंत्र छठा पदार्थ नहीं है। द्रव्य, गुण और पर्यायोंसे अतिरिक्त चौथा पदार्थ संसारमें कोई नहीं है। जिन द्रव्योंका या भावोंका जो संबंध है, वह उन द्रव्य और उन भावस्वरूप ही है। इस प्रकारका कथञ्चित् तादात्म्यसंबंध नैयायिक द्वारा माने गये शक्ति और शक्तिमान्के सर्वथा भेदको सर्व प्रकारसे नष्ट कर देता ही है। फिर हम अधिक चिंता क्यों करें।

ततोऽर्थग्रहणाकारा शक्तिर्ज्ञानमिहात्मनः।
करणत्वेन निर्दिष्टा न विरुद्धा कथञ्चन ॥ २२ ॥

उस कारणसे आत्माकी विकल्प स्वरूप अर्थग्रहणके संचेतनको धारण करनेवाली शक्ति ही यहां ज्ञान मानी गयी है और वही शक्ति ज्ञप्ति क्रियाका करण होकर कही गयी है किसी भी प्रकारसे वह विरुद्ध नहीं है। अर्थात् ज्ञानका और शक्तिका अभेद है तो प्रमाणज्ञानके समान लब्धि रूप शक्ति भी प्रमितिका करण हो जाती है।

न ह्यन्तरङ्गबहिरंगार्थग्रहणरूपाऽऽत्मनो ज्ञानशक्तिः करणत्वेन कथञ्चिन्निर्दिश्यमाना विरुध्यते, सर्वथा शक्तितद्वतोर्भेदस्य प्रतिहननात्।

ज्ञान, सुख, आत्मा, इच्छा, पीडा आदि अंतरंग पदार्थ और घट, पट, भित्ति आदि बहि-रङ्ग पदार्थोंको ग्रहण करना रूप आत्माकी ज्ञानशक्ति किसी अपेक्षासे करणपने करके कथन कर दी गयी विरोधको प्राप्त नहीं होती है। क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्के सर्वथा भेद माननेके पक्षका हमने खण्डन कर दिया है।

ननु च ज्ञानशक्तिर्यदि प्रत्यक्षा तदा सकलपदार्थशक्तेः प्रत्यक्षत्वप्रसंगादनुमेयत्व-विरोधः। प्रमाणबाधितं च शक्तेः प्रत्यक्षत्वम्, तथाहि—ज्ञानशक्तिर्न प्रत्यक्षासदादेः शक्ति-

त्वात् पावकादेर्दहनादिशक्तिवत्, न साध्यविकलमुदाहरणं पावकादिदहनादिशक्तेः प्रत्यक्षत्वे कस्यचित्तत्र संशयानुपपत्तेः ।

यहां मीमांसकोंका स्वपक्ष अवधारण पूर्वक आक्षेप है कि जैन लोग ज्ञानशक्तिका प्रत्यक्ष होना यदि इष्ट करते हैं, तब तो पदार्थोंकी सम्पूर्ण शक्तियोंके प्रत्यक्ष होजानेका प्रसंग आता है। अतः ये शक्तियां अस्मदादि छद्मस्थोंको अनुमानसे जानने योग्य हैं इस प्रसिद्ध सिद्धांतका विरोध हो जावेगा, तथा अतीन्द्रिय शक्तियोंका प्रत्यक्ष करलेना इस अनुमान प्रमाणसे बाधित भी है। उसी अनुमानको स्पष्टरीत्या कहते हैं कि आत्माकी जाननेकी शक्ति (पक्ष) हम सरीखे चर्मचक्षुवाले पुरुषोंके प्रत्यक्षगोचर नहीं है (साध्य) क्योंकि वह शक्ति है। (हेतु) जैसे कि अग्नि, अन्न, जल आदि की दाहकत्व, पाचकत्व, भूखको दूर करने, प्यासको दूर करनेकी शक्तियां देखी नहीं जासकती हैं, (अन्वय दृष्टांत) किंतु दाह होना, पाक होना, भूख मिटजाना, प्यास दूर होना आदि उत्तरकालवर्ती फलरूप कार्योंसे शक्तियोंका अनुमान करलिया जाता है। अग्निकी दाहकत्वशक्तिरूप उदाहरण यहां प्रत्यक्ष न होना रूप साध्यसे रहित नहीं है, यदि अग्नि, अन्न, जल आदिककी दाहकत्व, क्षुधा निवारकत्व आदि शक्तियोंका प्रत्यक्ष होगया होता तो किसी भी पुरुषको उनमें संशय उत्पन्न होना नहीं बन सकता था। किंतु अनेक कारणोंमें कार्यके उत्पन्न हो सकनेका संशय बना रहता है। अतः प्रतीत होता है कि कारणोंकी शक्तियां प्रत्यक्षप्रमाणका विषय नहीं हैं। अन्यथा सर्व ही औषधि सेवन करने वालोंको नीरोगता प्राप्त हो जाती। सभी कारण अव्यर्थ होजाते।

यदि पुनरप्रत्यक्षा ज्ञानशक्तिस्तदा तस्याः करणज्ञानत्वे प्रभाकरमतसिद्धिः, तत्र करणज्ञानस्य परोक्षत्वव्यवस्थितेः फलज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वोपगमात्, ततः प्रत्यक्षं करणज्ञानमिच्छतां न तच्छक्तिरूपमेषितव्यं स्याद्वादिभिरिति चेत्, तदनुपपन्नम्, एकान्ततोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वस्य करणज्ञानेऽन्यत्र वा वस्तुनि प्रतीतिविरुद्धत्वेनानभ्युपगमात्, द्रव्यार्थतो हि ज्ञानमस्मदादेः प्रत्यक्षं, प्रतिक्षणपरिणामशक्त्यादिपर्यायार्थतस्तु न प्रत्यक्षम्, तत्र स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं स्वसंविदितं फलंप्रमाणाभिन्नं वदतां करणज्ञानं प्रमाणं कथमप्रत्यक्षं नाम ?

यदि फिर जैन लोग ज्ञानशक्तिका प्रत्यक्ष नहीं होता है, ऐसा मानेंगे और उस अप्रत्यक्ष ज्ञानशक्तिको करणरूप ज्ञान मानेंगे तबतो हम प्रभाकर मतानुयायी मीमांसकोंके मतकी सिद्धि हो गयी, क्योंकि वहां मीमांसकोंके मतमें ज्ञप्तिके करणरूप प्रमाणज्ञानको परोक्षपना व्यवस्थित किया है। प्रभाकरोंने ज्ञप्तिरूप फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया है उस कारणसे प्रमितिके करण होरहे प्रमाणज्ञानका प्रत्यक्ष होना चाहने वाले स्याद्वादी जैनोंको वह करणज्ञान शक्तिरूप इष्ट नहीं करना चाहिये। इस प्रकार स्याद्वादियोंको ज्ञानशक्ति और ज्ञानका भेद मानना ही अनुकूल

पडेगा। अब आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार मीमांसक कहेंगे तो उनका वह कहना सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि अस्मदादिकोंको एकांत रूपसे सर्वथा प्रत्यक्ष हो जाना करणज्ञानमें अथवा अन्य घट, पट आदिक वस्तुओंमे भी स्वीकार नहीं किया गया है। पदार्थोंका हम लोगोंको पूर्ण रीतिसे प्रत्यक्ष हो जाना प्रतीतियोंसे विरुद्ध है। प्रसिद्ध माने गये घट, पट आदिकोंका भी हम सर्वाङ्गीण प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं। भीतरका अंश, परलाभाग, सूक्ष्म अर्थपर्यायें और अविभागप्रतिच्छेदोंको हमारी इंद्रियां विषय नहीं कर पाती हैं। मोटे द्रव्य पदार्थकी दृष्टिसे ही ज्ञानका हम लोगोंको प्रत्यक्ष होता है। किंतु सूक्ष्मपर्याय पदार्थोंकी दृष्टिसे प्रत्येक क्षणमें परिणमन करती हुयीं शक्तियां, अविभागप्रतिच्छेद, अगुरुलघु आदिका तो हम लोगोंको प्रत्यक्ष नहीं होता है वे केवल ज्ञानके विषय हैं। उस प्रकरणमें अपना और अर्थका निश्चय करना स्वरूप ज्ञान है फल जिसका, ऐसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय होरहे ज्ञानरूप फलको प्रमाणसे अभिन्न कहने वाले स्याद्वादियोंके मतमें करणरूप प्रमाणात्मक ज्ञान भला अप्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? भावार्थ——फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना मानने पर उससे अभिन्न करणज्ञानका प्रत्यक्ष होना न्यायप्राप्त हो जाता है। प्रभाकर फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना माने और उससे अभिन्न होरहे करण ज्ञानका प्रत्यक्ष न मानें यह कैसे हो सकता है?। यानी अयुक्त है।

न च येनैव रूपेण तत्प्रमाणं तेनैव फलम्, येन विरोधः। किं तर्हि? साधकतमत्वेन प्रमाणं साध्यत्वेन फलम्, साधकतमत्वं तु परिच्छेदनशक्तिरिति प्रत्यक्षफलज्ञानात्मकत्वात् प्रत्यक्षं शक्तिरूपेण परोक्षम्, ततः स्यात् प्रत्यक्षं स्यादप्रत्यक्षमित्यनेकान्तसिद्धिः।

यदि यहां कोई कटाक्ष करे कि जिस ही स्वभावसे ज्ञानमें प्रमाणता है और उस ही स्वभावसे ज्ञानमें फलपना भी मानोगे, तब तो उन दोनों विरुद्ध स्वभावोंका ज्ञानमें रहनेका विरोध होगा, सो यह कटाक्ष ठीक नहीं है। जैन लोग जिस ही स्वभावसे प्रमाणपना मानते हैं, उस ही स्वभावसे फलपना नहीं मानते हैं, जिससे कि विरोध होवे, तब तो क्या मानते हैं? इसका उत्तर सुनिये, प्रमितिक्रियाके प्रति प्रकृष्ट उपकारकपनेसे ज्ञानमें प्रमाणपना है और साधने योग्य प्रयोजनकी अपेक्षासे फलपना है, एक मल्ल अपने शरीरके व्यायामसे उस ही शरीरको पुष्ट करलेता है। शरीरमें पुष्ट करानेकी अंग उपांगोंकी शक्ति भिन्न है और फल रूप पोषण शक्ति निराली है। ज्ञानमें विद्यमान हो रही स्व को और अर्थको परिच्छेदन करनेकी शक्ति को ही करणपना है। वह ज्ञान, करणरूप प्रत्यक्ष प्रमाणस्वरूप है और ज्ञप्ति रूप फलज्ञान स्वरूप भी है। तहां फलज्ञानकी अपेक्षासे वह ज्ञान प्रत्यक्ष है और करणत्व शक्तिके स्वरूपसे वह ज्ञान परोक्ष है। इस कारणसे वह प्रमाणज्ञान किसी अपेक्षासे प्रत्यक्ष है और अन्य अपेक्षासे अप्रत्यक्ष यानी परोक्षरूप भी है। इस प्रकार अनेकांतकी सिद्धि होजाती है। अनेकांतसे तत्त्वकी सिद्धि होरही है। अनेकांतका सर्वत्र साम्राज्य है।

यदा तु प्रमाणाद्भिन्नं फलं हानोपादानोपेक्षाज्ञानलक्षणं तदा स्वार्थव्यवसायात्मकं करणसाधनं ज्ञानं प्रत्यक्षं सिद्धमेवेति न परमतप्रवेशस्तच्छक्तेरपि सूक्ष्मायाः परोक्षत्वात् ।

यहांपर किसीका यह प्रश्न होसकता है, कि अज्ञाननिवृत्तिरूप अभिन्न फलकी अपेक्षासे करणज्ञानमें आपने प्रत्यक्षपना नियत किया, किंतु प्रमाणका त्याज्य पदार्थमें त्याग और ग्रहण करने योग्यमें उपादान तथा उपेक्षणीय पदार्थमें उपेक्षा बुद्धिरूप फल जब अभीष्ट होगा उस समय तो फलका भलें ही प्रत्यक्ष होजाय। किंतु फलसे सर्वथा भिन्न माने गये करण ज्ञानका कैसे भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। इसका समाधान इस प्रकार है कि–जब प्रमाणसे हान उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप भिन्न फल इष्ट किया गया है, तब अपने और अर्थको निश्चय करना स्वरूप और करणमें युट् प्रत्यय करके साधा गया वह ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे प्रत्यक्षरूप सिद्ध ही है। पहिले ज्ञानशक्तिको ही परोक्ष कहा गया था ज्ञानको नहीं। यों भी सर्वथा प्रत्यक्ष मानने पर एकांतपक्ष हो जानेसे स्याद्वादियोंके मतमें अन्य एकान्तवादियोंके मतका प्रवेश नहीं हो सकता है। क्योंकि उस ज्ञानकी सूक्ष्म अतीन्द्रिय शक्तियोंका सर्वज्ञके अतिरिक्त किसीको भी प्रत्यक्ष नहीं होसकता है। अतः वह शक्तिरूप ज्ञान परोक्ष भी है।

तदेतेन सर्वं कर्त्रादिकारकत्वेन परिणतं वस्तु कस्यचित्प्रत्यक्षं परोक्षं च कर्त्रादिशक्तिरूपतयोक्तं प्रत्येयं, ततो ज्ञानशक्तिरपि च करणत्वेन निर्दिष्टा न स्वागमेन युक्त्या च विरुद्धेति सूक्तं ।

उस कारण इस पूर्वोक्त कथनसे यह बात भी निर्णीत हुयी समझनी चाहिए कि कर्ताकारक, कर्मकारक आदिपनेसे परिणमन करती हुयीं सम्पूर्ण वस्तुएं मोठे द्रव्यकी अपेक्षासे ही किसीके भी प्रत्यक्षके विषय हैं। किंतु स्वतंत्ररूप कर्तृत्वशक्ति और बन जानारूप कर्मत्व शक्ति आदि स्वभावोंसे सर्व पदार्थ हम लोगोंको परोक्ष हैं, इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये। सन्मुख खडी हुयी भीतका या चौकीका भी हमको पूर्ण रीतिसे प्रत्यक्ष नहीं है। भावार्थ—घट, पट, भित्ति आदि स्पष्ट प्रत्यक्षके विषय माने गये पदार्थ भी बहुभागोंमें हम लोगोंके प्रत्यक्ष नहीं हैं। इनकी शक्तियों और अविभागप्रतिच्छेदोंका हमको अनुमान और आगमसे ही ज्ञान हो सकता है। उस कारणसे करणपने करके कही गयी आत्माकी ज्ञानशक्ति भी श्रेष्ठ सर्वज्ञोक्त आगम प्रमाणसे और अनुकूल तर्कवाली युक्तिसे सिद्ध है, विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार हमने बहुत अच्छा कहा था कि अपने और अर्थको ग्रहण करनेवाली आत्माकी शक्ति ही ज्ञान है और वह मोक्षका मार्ग है।

आत्मा चार्थग्रहाकारपरिणामः स्वयं प्रभुः ।
ज्ञानमित्यभिसन्धानकर्तृसाधनता मता ॥ २३ ॥

तस्योदासीनरूपत्वाविवक्षायां निरुच्यते ।
भावसाधनता ज्ञानशब्दादीनामबाधिता ॥ २४ ॥

जब आत्मा स्वयं अर्थके सविशेष ग्रहण करनेरूप पर्यायको धारण करनेमें स्वतंत्ररूपसे समर्थ होता है, तब वह ज्ञप्ति क्रियाको बनानेमें एकाग्र लगा हुआ आत्मा ही ज्ञान है । इस प्रकार विवक्षा होनेपर ज्ञान शब्दकी कर्तामें युट् प्रत्यय करके सिद्धि मानी गयी है । और जब उस आत्माके कर्ता, कर्म, करणपनेकी नहीं अपेक्षा कर वह ज्ञप्ति क्रियामें उदासीनरूपसे विवक्षित होता है, उस समय ज्ञान और दर्शन आदि शब्दोंकी भावमें युट् प्रत्यय करके बाधारहित निरुक्ति कर दी जाती है । जाननारूप अपरिस्पंद क्रिया ही ज्ञान है और श्रद्धान करनारूप क्रिया ही दर्शन है । यह भावमें निरुक्ति करनेसे अर्थ निकलता है ।

ननु च जानातीति ज्ञानमात्मेति विवक्षायां करणमन्यद्वाच्यं, निःकरणस्य कर्तृत्वायोगादिति चेन्न, अविभक्तकर्तृकस्य स्वशक्तिरूपस्य करणस्याभिधानात् ।

यहां शंका है कि कर्तामें युट् प्रत्यय करने पर जो अर्थोंको जान रहा है, वह आत्मा ज्ञान है, ऐसी विवक्षा करनेपर आपको कर्तासे भिन्न दूसरा करण कहना पडेगा। बिना करणके कर्ता किसी भी क्रियाको नहीं बनाता है। बसूलाके बिना तक्षक (बढई) काष्ठको छील, खुरच नहीं सकता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि यहां कर्तासे सर्वथा भिन्न नहीं ऐसे अपनी शक्तिरूप करणका कथन किया है। लोहकी लाठ अपने बोझसे स्वयं लचक रही है । वृक्ष अपने बोझसे स्वयं झुक गया है, इन स्थलोंपर कर्तासे अभिन्न भी करण हो जाते हैं ।

भावसाधनतायां ज्ञानस्य फलत्वव्यवस्थितेः प्रमाणत्वाभाव इति चेन्न, तच्छक्तेरेव प्रमाणत्वोपपत्तेः ।

शुद्ध धात्वर्थ रूप अर्थको प्रगट करने वाले भावमें युट् प्रत्यय करके ज्ञान शब्दकी सिद्धि होने पर तो ज्ञानको फलपना व्यवस्थित हो जावेगा। ऐसा होने पर ज्ञानको करणरूप प्रमाणपनेका अभाव है, यह कटाक्ष तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस साधकतमपनेकी शक्तिको ही ज्ञानमें प्रमाणपना सिद्ध किया जा चुका है। ज्ञप्तिक्रियाके प्रतिपादन करते समय भी ज्ञानमें करणपनेकी शक्ति विद्यमान है। तीक्ष्ण तलवार काष्ठको प्रधान रूपसे काट रही है। उस समय पैनापन और काठिन्य शक्ति अप्रगट होकर करणरूपसे काम कर रही है ।

तथा चारित्रशब्दोऽपि ज्ञेयः कर्मानुसाधनः ।
कारकाणां विवक्षातः प्रवृत्तेरेकवस्तुनि ॥ २५ ॥

वैसे ही चारित्र शब्दको कर्ममें "णित्र" प्रत्यय करने पर साधा गया समझ लेना चाहिये। "विवक्षातः कारकप्रवृत्तेः" इस नियमके अनुसार पदार्थमें वक्ताकी इच्छासे अनेक कारकोंकी प्रवृत्ति हो जाती है। भावार्थ—घटको जानता है, घटका ज्ञान करता है और घटमें ज्ञान करता है। यहां ज्ञानक्रियाकी अपेक्षासे घटमें अनेक कारकोंकी प्रवृत्ति हो गयी है, गौसे दूध दुहता है, गौका दूध दुहता है, गौको दुहता है, इसी प्रकार आत्माका पर्याय रूप चारित्र गुण भी कर्ता, कर्म, करणपनेसे साध दिया जाता है। विवक्षा भी कोई झूंठ मूंठ नहीं गढली गयी है। किंतु परमार्थ वस्तुस्वभावोंकी भित्ति पर विवक्षा खडी की गयी है।

चारित्रमोहस्योपशमे क्षये क्षयोपशमे वात्मना चर्यते तदिति चारित्रम्, चर्यतेनेन चरणमात्रं वा चरतीति वा चारित्रमिति कर्मादिसाधनश्चारित्रशब्दः प्रत्येयः।

चारित्रमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके होनेपर आत्माके द्वारा जो चरण (शुभप्रवर्तन अशुभनिवर्तन) किया जाय वह चारित्र है। यह कर्ममें णित्र प्रत्यय करके चारित्र शब्द बनाया गया है अथवा आत्मा जिस करके चरण करे वह भी चारित्र है। यह करण साधन व्युत्पत्ति है। तीसरी निरुक्ति भावसाधनमें इस प्रकार है कि कर्म, कर्ता आदिसे कुछ भी सम्बन्ध न रखते हुए केवल चर्या करना ही चारित्र है। अथवा चौथी निरुक्ति चर गतिभक्षणयोः गति और भक्षण अर्थको कहनेवाली भ्वादि गणकी चर् धातुसे कर्तामें णित्र प्रत्यय करके की गयी है अर्थात् जो स्वतन्त्ररूपसे आचरण करता है, वह आत्मा चारित्ररूप है। इस प्रकार कर्म, करण, भाव, और कर्तामें शब्दशास्त्रसे चारित्र शब्दका साधनकर दिया गया समझलेना चाहिये। भावार्थ—जैन धर्मके अनुसार प्रत्येक वस्तुमें अनेक स्वभाव और परिणाम माने गये हैं। अतः चार क्या, इससे भी अधिक धर्मोंकी योजना एक पदार्थमें बन जाती है। लेज (रस्सी) बैलको बांधती है। लेजसे बैल बांधा जाता है। लेज स्वयं लेजको बांध रही है। लेज स्वयं बंध रही है। एवं देवदत्त घोडेको भगाता है और घोडा देवदत्तको भगाता है; घोडा स्वयं भाग रहा है! और उसपर लदा हुआ देवदत्त भी दौडा जा रहा है तथा देवदत्त स्वयं दौडता है और उसकी टांगोमें फंसे हुए घोडेको देवदत्तके प्रयत्नसे दौडना पडता है। वास्तवमें विचारा जावे तो घोडेकी आत्मामें देशसे देशान्तर होनेकी क्रिया ही भाग रही है, किन्तु उस क्रियाके परिणामी घोडेके शरीर और जीवको भी मालगाडीमें लदे हुए मालके समान भागना पडता है। इस प्रकार स्वतंत्रता और परतंत्रतासे किये गये परिणामोंके अनेक दृष्टांत हैं।

ननु च "भूवादिद्दग्भ्यो णित्र" इत्यधिकृत्य "चरेर्वृत्ते" इति कर्मणि णित्रस्य विधानात्, कर्त्रादिसाधनत्वे लक्षणाभाव इति चेत् न, बहुलापेक्षया तद्भावात्।

यहां पुनः शंका है कि व्याकरण शास्त्रके "भूवादिद्दग्भ्यो णित्र" इस सूत्रका अधिकार लेकर अगले "चरेर्वृत्ते" इस सूत्र करके चर् धातुसे चारित्र अर्थमें कर्मकारकमें णित्र प्रत्ययका

विधान किया है और आपने अभी कर्ता, भाव और करणमें चारित्र शब्दको साधते हुए भी चारित्र शब्दकी निरुक्ति की है। अतः कर्ता आदिमें णित्र प्रत्यय करनेवाले लक्षणसूत्रका जब अभाव है तो आपका चारित्र शब्द कर्ता आदिको कहनेवाला साधु शब्द कैसे हो सकता है ? बताओ। आचार्य कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि बहुलता करके कर्मसे अन्य उन कर्ता आदिमें भी णित्र प्रत्ययका विधान है। कहीं होना, और कहीं न होना, कहींपर विकल्प रूपसे होजाना, क्वचित् रूपांतर बनजाना, इस प्रकार बहुलता अनेक प्रकारकी है। अतः कर्ता आदिमें भी णित्र प्रत्यय होजाना व्याकरणशास्त्रसे उपपन्न है।

एतेन दर्शनज्ञानशब्दयोः कर्तृसाधनत्वे लक्षणाभावो व्युदस्तः, " युड्व्या बहुलं " इति वचनात्, तथा दर्शनाच्च, दृश्यते हि करणाधिकरणभावेभ्योऽन्यत्रापि प्रयोगो यथा निरदन्ति तदिति निरदनम्, स्यंदतेऽस्मादिति स्यंदनमिति।

इस उक्त कथनसे दर्शन और ज्ञान शब्दमें कर्तामें युट् प्रत्यय सिद्ध करनेवाला कोई सूत्र नहीं है, यह कहना भी खण्डित करदिया जाता है। क्योंकि करणके अतिरिक्त प्रायः अन्य कारकोंमें भी युट् प्रत्यय करनेका व्याकरण शास्त्रमें सूत्र कहा है। और वैसा अनेक प्रयोगोंमें देखा भी जारहा है। करण अधिकरण और भावोंसे अतिरिक्त कारकोंमें भी युट् प्रत्ययका प्रयोग देखा गया है। जैसे कि जो नहीं खाया जाता है उसको निरदन कहते हैं। यहां युट् प्रत्यय कर्ममें किया गया है और जिससे चलना होवे, उसको स्यंदन (रथ) कहते हैं। यहां अपादान कारकमें युट् प्रत्यय किया है अथवा जिस द्रवपनेसे (पतलेपन) पानी, तैल आदि पदार्थ बहें, वह स्यंदन गुण है।

कथमेकज्ञानादि वस्तु कर्त्राद्यनेककारकात्मकं विरोधादिति चेन्न, विवक्षातः कारकाणां प्रवृत्तेरेकत्राप्यविरोधात्।

एक ही ज्ञान दर्शन अथवा चारित्ररूप आदि वस्तु कर्ता, कर्म, करण और भावरूप अनेक कारकस्वरूप कैसे बन सकते हैं ? क्योंकि विरोध है। जो ही कर्ता है वह करण कैसे होगा ? या कर्म कैसे हो जावेगा ? यह कटाक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक पदार्थमें भी वक्ताकी इच्छासे अनेक कारकोंकी प्रवृत्ति हो जानेका कोई विरोध नहीं है। बांस नटको धारण करता है और नट बांसको धारण करता है। बांस करके नट लेज पर धरा हुआ है और नट करके बांस धारण किया गया है। नटके लिये बांस है और बांसके लिये नट है। नटसे बांस स्थित है और बांससे नट स्थित है। नटपर बांस है और बांसपर नट है। ये सब केवल शब्दाडम्बर नहीं हैं। किंतु पदार्थोंकी परिणतिके अनुसार भिन्न भिन्न कारकोंमें वक्ताकी इच्छा होना सम्बन्धित है। दालसे रोटीको खाना और रोटीसे दाल खाना भी भिन्न भिन्न परिणामोंपर निर्भर है। बुभुक्षित देवदत्त स्वतंत्र रूपसे दाल और रोटीको खा जाता है। किंतु कभी कभी वही देवदत्त सुंदर सचिक्कण सरस दालसे अधिक रोटियोंको

खाता है और कभी वही देवदत्त सुंदर रोटीसे थोडे स्वादवाली अधिक दालको निबटा लेता है। यथार्थमें विचारा जावे तो भक्षण ही भक्षणको करता है। पूर्व दिनका खाया हुआ अन्न पित्ताग्नि और क्षार रूप परिणत हो चुका है। उसी खानेसे आज खाया जा रहा है। रुग्ण मनुष्यसें प्रयत्न करने पर भी खाया नहीं जाता है। विशेष प्यास लगने पर एक विपलमें लोटाभर पानी खाली कर दिया जाता है। किंतु प्यास न लगने पर एक कटोरा पानी पेटमें पहुंचाना बहुत दृढ गढमें बाहिरसे सेना पहुंचानेके समान दुस्साध्य हो जाता है। विद्यार्थी पढता है और विद्यार्थीको पढना पडता है, इत्यादि अनेक दृष्टांतोंसे कारककी प्रवृत्ति होना विवक्षाके अधीन सिद्ध होती है और चतुर वक्ताकी इच्छा भी पदार्थोंकी विशेष परिणतियोंके आश्रय पर हुयी है। यों ही अंटसंट नहीं उपज गयी है। पदार्थोंकी मूलभूत सामर्थ्यके विना नैमित्तिक परिणति नहीं हो पाती है।

कुतः पुनः कस्येति कारकभावसति विवक्षा कस्यचिदविवक्षेति चेत्—

फिर आप जैन लोग यह और बतलादीजिये कि किसकी विवक्षा किस कारणसे किस कारकपर आरूढ हो जाती है और किस धर्मकी अविवक्षा किससे कब कहां हो जाती है ? ऐसा प्रश्न हो जानेपर आचार्य महाराज उत्तर देते हैं—

विवक्षा च प्रधानत्वाद्वस्तुरूपस्य कस्यचित् ।
तदा तदन्यरूपस्याविवक्षा गुणभावतः ॥ २६ ॥

वस्तुमें अनेक स्वभाव विद्यमान हैं, जिस समय वस्तुके प्रधान होनेके कारण किसी भी एक स्वरूपकी विवक्षा होती है, उस समय वस्तुके अन्य धर्मोंकी गौणरूप होजानेके कारण अविवक्षा होजाती है। भावार्थ—जैसे पुष्प आदि सुगंधित द्रव्यमें गंध गुणकी प्रधानता है। शेष रूप, रस आदिककी अप्रधानता है। इसी प्रकार अस्तित्व धर्मकी विवक्षा होनेपर नास्तित्व आदि धर्म अविवक्षित होजाते हैं और नास्तित्वकी विवक्षा होनेपर अस्तित्व गौण होजाता है। कारकपक्ष और व्यवहारके ज्ञापकपक्ष दोनोंमें वस्तुके स्वभावभूत धर्म कारण होते हैं। वस्तुके सामर्थ्यरूप स्वभावोंसे ही अर्थक्रियायें होती हैं। यह कार्यकारणभाव है और उन स्वभावोंका अवलम्ब लेकर ही व्यवहार किया जाता है, यह ज्ञाप्यज्ञापकभाव है।

नन्वसदेव रूपमनाद्यविद्यावासनोपकल्पितं विवक्षेतरयोर्विषयो न तु वास्तवं रूपं यतः परमार्थसती षट्कारकी स्यादिति चेत्।

यहां बौद्धोंकी शंका है कि वस्तुमें अनेक धर्म नहीं हैं। स्वभावोंसे रहित होकर वस्तु स्वयं निर्विकल्पक है। आप जैनोंने जो धर्म विवक्षा और उससे न्यारी अविवक्षाके विषय माने हैं वे वस्तुके स्वरूप नहीं है। केवल अनादि कालसे लगी हुयी मिथ्या संस्काररूप वासनाओंसे कल्पित किये गये

वे धर्म असत् रूप ही हैं अर्थात् कुछ नहीं हैं । भला ऐसी दशामें जैनियोंका माना गया छह कारकोंका समुदाय परमार्थ रूपसे सद्भूत पदार्थ कैसे हो सकेगा? बताओ । जिससे कि ज्ञानको कर्तापना कर्मपना आदि बन सकें आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो उत्तर सुनिये ।

भावस्य वासतो नास्ति विवक्षा चेतरापि वा ।
प्रधानेतरतापायाद्गगनाम्भोरुहादिवत् ॥ २७ ॥

असत् रूप पदार्थ की विवक्षा नहीं होती है और दूसरी अविवक्षा भी नहीं है । क्योंकि प्रधानपना और गौणपना विद्यमान पदार्थोंमें होता है । असत्के नहीं, जैसे कि आकाशके कमल या बन्ध्यापुत्र आदिमें प्रधानपन या गौणपन अथवा अर्पितपना और अनर्पितपना नहीं बनता है । "गौर्वाहीक" यहां बोझ लादनेवाले मनुष्यमें बैलपनेका उपचार किया जाता है । शशके सींगमें नहीं ।

प्रधानेतरताभ्यां विवक्षेतरयोर्व्याप्तत्वात् पररूपादिभिरिव स्वरूपादिभिरप्यसतस्तदभावात्तदभावसिद्धिः ।

विवक्षा और अविवक्षाकी प्रधानपने और अप्रधानपनेके साथ व्याप्ति है । परद्रव्य क्षेत्र, काल, भाव करके सर्व पदार्थ असत्रूप हैं अर्थात् नास्तित्वधर्मसे युक्त हैं । पररूप आदिकों करके असत् के समान यदि वे अपने स्वरूप आदि स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे भी असत् होवेंगे तो ऐसे अश्वविषाण आदि पदार्थोंकी प्रधानता और अप्रधानता न होनेके कारण विवक्षा और अविवक्षाकी सिद्धि भी नहीं होती है । उस व्यापकके न होनेपर वह व्याप्य भी नहीं रहता है । विवक्षा, अविवक्षा व्याप्य हैं । प्रधानता और अप्रधानता धर्म व्यापक हैं ।

सर्वथैव सतोनेन तदभावो निवेदितः ।
एकरूपस्य भावस्य रूपद्वयविरोधतः ॥ २८ ॥

धर्मोंको असत् रूप माननेवाले बौद्ध हैं और सद्रूप मानने वाले ब्रह्माद्वैतवादी हैं । यदि धर्मोंको सर्वथा ही सद्रूप मान लिया जावे तो भी उस प्रधानता और अप्रधानताका अभाव समझ लेना चाहिये । यह बात उक्त कथनसे निवेदन कर दी गयी है । क्योंकि सर्वथा कूटस्थ एकधर्मस्वरूप पदार्थके प्रधानता और अप्रधानता रूप दोनों धर्मोंका रहना विरुद्ध है । एकमें दो चार धर्म रहें तब तो एक प्रधान, अन्य अप्रधान हो सकते हैं, अन्यथा नहीं ।

न हि सदेकांते प्रधानेतररूपे स्तः । कल्पिते स्त एवेति चेन्न, कल्पितेतररूपद्वयस्य सत्ताद्वैतविरोधिनः प्रसंगात् । कल्पितस्य रूपस्यासत्त्वादकल्पितस्यैव सत्त्वान्न रूपद्वयमिति

चेत्तदसतां प्रधानेतररूपे विवक्षेतरयोर्विषयतामास्कन्दत इत्यायातम्, तच्च प्रतिक्षिप्तम्। स्याद्वादिनां तु नायं दोषः। चित्रैकरूपे वस्तुनि प्रधानेतररूपद्वयस्य स्वरूपेण सतः पररूपेणासतो विवक्षेतरयोर्विषयत्वाविरोधात्।

यदि अद्वैतवादी करके प्रतिभासस्वरूप सम्पूर्ण पदार्थोंका सत्तारूप एकांत माना जावेगा ऐसी दशामें भी प्रधान और दूसरे गौणरूप धर्म वस्तुमें कभी नहीं रह सकते हैं। यदि अद्वैतवादी यों कहें कि वस्तुभूत एक ब्रह्ममें कल्पना किये गये दो धर्म रह ही जाते हैं। सो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि दो धर्मोंका कल्पितपना और उससे न्यारा परब्रह्मका अकल्पितपना ऐसे दोनों स्वभाव तो सत्तारूप अद्वैतवादके विरोधी हैं। अतः आपको द्वैतपनेका प्रसंग आवेगा।

यदि आप विधिवादी यों कहें कि कल्पितस्वभाव तो असत् पदार्थ हैं। किंतु नहीं कल्पना किया गया परब्रह्म ही सत्पदार्थ है। इस कारण हमको वस्तुभूत दो स्वभाव नहीं मानने पडेंगे जिससे कि हमारे अद्वैतका विरोध हो जावे। ऐसा कहनेपर तो यह अभिप्राय आया कि असत्पदार्थोंके प्रधानता और अप्रधानता धर्म इन विवक्षा और अविवक्षाके विषयपनेको प्राप्त होते हैं। सद्वस्तुके नहीं। किंतु इसका खण्डन अभी हम कर चुके हैं अर्थात् बौद्धोंके सन्मुख हमने सिद्ध कर दिया है कि सत्पदार्थोंके ही प्रधानता और अप्रधानता धर्म होते हैं। और स्याद्वादसिद्धांतको माननेवाले हम लोगोंके मतमें तो यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि अनेक चित्र स्वभाववाले एक वस्तुमें प्रधानता और अप्रधानता दो धर्म स्वके स्वरूप करके विद्यमान हैं। और दूसरोंके स्वरूपके करके वे धर्म विद्यमान नहीं हैं। ऐसे वे धर्म विवक्षा और अविवक्षाके विषय हो जाते हैं। कोई विरोध नहीं है, एक ही मनुष्य दूसरे संबंधियोंकी अपेक्षासे पिता, पुत्र और भानजा, मामा आदि बन जाता है। उपयोक्ताओंकी अपेक्षासे दुग्धपदार्थ पोषक, रेचक, और श्लेष्मकर है।

विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि।
सतो विशेषणस्यात्र नासतः सर्वथोदिता॥ २९॥

अनंत धर्मवाले एकधर्मीरूप विशेष्य पदार्थमें विद्यमान ही विशेषणोंमेंसे अभिलाषीको किसी विशेषणकी विवक्षा हो जाती है और उदासीन व्यक्तिको विद्यमान होरहे अन्य विशेष धर्मकी अविवक्षा हो जाती है, सर्वथा असत् धर्मोंकी विवक्षा और अविवक्षा नहीं होती हैं। इस प्रकरणमें श्री समंतभद्र स्वामीने देवागमस्तोत्रमें ऐसा ही कहा है "विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येनन्तधर्मिणि, सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः" यह आप्तमीमांसाकी पैंतीसवीं कारिका है।

न सर्वथापि सतो धर्मस्य नाप्यसतोऽनन्तधर्मिणि वस्तुनि विवक्षा चाविवक्षा च भगवद्भिः समन्तभद्रस्वामिभिरभिहितास्मिन् विचारे, किं तर्हि? कथञ्चित्सदसदात्मनः एव प्रधानतायाः गुणतायाश्च सद्भावात्।

अनन्त धर्मविशिष्ट वस्तुमें न तो सभी प्रकारोंसे सत् होरहे धर्मकी और न सर्व प्रकारसे असत् धर्मकी भी विवक्षा या अविवक्षा होती है । इस विवक्षाके प्रकरणमें विचार होनेपर भगवान् समंतभद्र स्वामीने यही बात कही है । तब तो कैसे धर्म की विवक्षा होती है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि कथञ्चित् सत्रूप और कथञ्चित् असत्रूप तदात्मक धर्म की ही प्रधानता और गौणपन होजानेका सद्भाव है । जगत्में संपूर्ण पदार्थ किसी अपेक्षासे सद्रूप और अन्य अपेक्षासे असत्रूप हैं । अतः उनके धर्म भी वैसे ही हैं । बौद्धोंका माना गया धर्मोंका शून्यवाद और अद्वैतवादियोंका सद्भाववाद प्रमाणपद्धतिसे खण्डित होजाता है । " सर्वं सर्वत्र विद्यते " सभी वस्तुयें सब स्थानोंपर विद्यमान हैं। अंगुलीके अग्रभागपर सौ हाथियोंके झुंड स्थित है, यह सांख्योंका मत भी प्रत्युक्त होजाता है।

कुतः कस्यचिद्रूपस्य प्रधानेतरता च स्याद्येनासौ वास्तवीति चेत्—

क्या कारण है कि वस्तुमें विद्यमान होरहे किसी ही रूपकी तो प्रधानता होती है और विद्यमान अन्य रूपका ही उससे भिन्न गौणपना होजाता है ? बताओ। जिससे कि यह प्रधान गौण व्यवस्था वास्तविक मानी जावे। यदि ऐसा कहोगे तो—आचार्य उत्तर कहते हैं कि—

स्वाभिप्रेतार्थसम्प्राप्तिहेतोरत्र प्रधानता ।
भावस्य विपरीतस्य निश्चीयेताप्रधानता ॥ ३० ॥
नैवातः कल्पनामात्रवशतोऽसौ प्रवर्तिता ।
वस्तुसामर्थ्यसम्भूततनुत्वादर्थदृष्टिवत् ॥ ३१ ॥

इस वस्तुमें इच्छुक जीवके अपने अभीष्ट पदार्थकी समीचीन प्राप्तिके कारण माने गये धर्मकी प्रधानता हो जाती है और उसके प्रतिकूल अपने अनिष्ट पदार्थकी प्राप्तिके कारण होरहे स्वभावकी अप्रधानता हो जाती है, ऐसा निर्णय किया जाय । इस कारण प्रधानता और अप्रधानताकी उस प्रवृत्तिको केवल कल्पनाके अधीन ही नहीं मानना चाहिये। किंतु वस्तुके स्वभावभूत सामर्थ्यसे प्रधानता और अप्रधानताका शरीर ठीक उत्पन्न हुआ है। जैसे कि अर्थका दर्शन वस्तुकी भित्तिपर डटा हुआ है । अर्थात्—बौद्धोंके मतमें वस्तुभूत स्वलक्षण स्वयं कल्पनाओंसे रहित है, तभी तो उसको जाननेवाला प्रत्यक्षप्रमाण भी निर्विकल्पक है । निर्विकल्पक माने गये स्वलक्षणसे जन्य अर्थका दर्शन जैसे निर्विकल्पक है, वैसे ही अनेक प्रधान अप्रधानरूप विद्यमान, विशेषोंकी भित्तिपर ही वक्ताके प्रधानधर्मकी विवक्षा और अप्रधान धर्मकी अविवक्षा हो जाती है। दुग्धमें पोषकत्व, रेचकत्व शक्तियां हैं। तभी तो वह भिन्न भिन्न उदरोंको प्राप्त होकर अपनी शक्तिके वश पोषण, रेचन कर देता है । जैनसिद्धांतमें वस्तुके स्वभावोंको माने विना कोई कार्य नहीं होता हुआ माना है । विद्यार्थीमें अध्ययन करनेकी शक्ति है, उसको निमित्त मानकर अध्यापक पढा सकता है । अन्यथा

चौकी या भींतको भी पढा देवे, इस प्रकार पाठककी अध्यापन शक्तिके वश विद्यार्थी पढ लेता है। अन्यथा वृक्षसे क्यों न पढ लेवे ? हां ! अनेक बातें वृक्ष, भस्म, घूरा, पृथ्वी, बादल आदि पदार्थोंसे भी मनुष्य सीख लेता है, जैसे कि पृथिवीसे क्षमा धारण की, वृक्षसे परोपकारकी, कुत्तेसे अल्प निद्रा लेनेकी शिक्षा ले लेता है। यह भी कार्य पृथिवी आदिकमें निमित्तशक्ति होनेपर ही माना गया है। यदि तीर्थराज सम्मेदशिखरमें भक्त मनुष्यको विशिष्ट पुण्य उत्पन्न करानेकी शक्ति है तो साथमें दुष्टपापी वहां वज्रलेप दुष्कर्मोंको भी बांध लेता है। तलवारसे स्वरक्षा और स्वघात दोनों हो जाते हैं। मेघोंमें श्रृंगारभाव पैदा करानेकी शक्ति है तो किसीको बादल देखकर वैराग्य पैदा करादेनेकी निमित्तशक्ति भी विद्यमान है। अतः ज्ञान, सुख, इच्छा आदि अनेक परिणाम वस्तुके स्वभावोंको अवलम्ब लेकर ही उत्पन्न होते हैं। निमित्तके बिना नैमित्तिक भाव नहीं हो सकता है।

कर्तृपरिणामो हि पुंसो यदा स्वाभिप्रेतार्थसम्प्राप्तेर्हेतुस्तदा प्रधानमन्यदाऽत्वप्रधानं स्यात् तथा करणादिपरिणामोऽपि ततो न प्रधानेतरता कल्पनामात्रात्प्रवर्तितास्या वस्तुसामर्थ्यायत्तत्वादर्थदर्शनवत्।

जिस समय आत्माका कार्य करनेमें स्वतंत्रतारूप कर्तृत्व परिणमन ही अपने अभीष्ट होरहे पदार्थकी प्राप्तिका कारण हो रहा है, उस समय आत्मामें कर्तापन धर्म प्रधान है, उसकी विवक्षा है और दूसरे कर्मत्व, करणत्व, धर्म तो अप्रधान हैं, उनकी विवक्षा नहीं है। उसी प्रकार जब आत्माके क्रिया करनेमें प्रकृष्ट उपकारकरूप करण परिणाम इष्टसिद्धिके कारण हैं। तब करणपना धर्म भी प्रधान होकर विवक्षित है। ऐसे ही कर्मपन और भावको भी समझ लेना। उस कारण प्रधानता और इससे अन्य अप्रधानता केवल कोरी कल्पनासे नहीं प्रवर्त्त रही है। किंतु वस्तुके स्वभावभूत सामर्थ्योंके अधीन होकर प्रवर्त रही है। जैसे कि बौद्धोंके द्वारा माना गया स्वलक्षणका प्रत्यक्षप्रमाण निर्विकल्प पदार्थके अधीन ही उत्पन्न हुआ है, तभी तो वह जाति, नाम, संसर्ग आदिकी कल्पनाओंसे रहित है। चूहोंकी उत्पत्ति चूहोंके वस्तुभूत मा, बापों से है।

नन्वभिप्रेतोर्थो न परमार्थः सन्मनोराज्यादिवत्ततस्तत्सम्प्राप्त्यप्राप्ती न वस्तुरूपे यतस्तद्धेतुकयोः प्रधानेतरभावयोर्वस्तुसामर्थ्यसम्भूतत्वं सिद्ध्यत् तयोर्वास्तवतां साधयेत् इति चेत्, स्यादेवम्, यदि सर्वोऽभिप्रेतोर्थोऽपरमार्थःसन् सिद्ध्येत् कस्यचिन्मनोराज्यादेरपरमार्थत्वसत्त्वप्रतिपत्तेरबाधिताभिप्रायविषयीकृतस्याप्यपरमार्थसत्त्वसाधने चंद्रद्वयदर्शनविषयस्यावस्तुत्वसम्प्रत्ययादबाधिताखिलदर्शनविषयस्यावस्तुत्वं साध्यतामभिप्रेतत्वदृष्टत्वहेत्वोरविशेषात्।

यहां पुनः बौद्धकी शंका है कि अभीलाषी पुरुषको कोई विवक्षित पदार्थ अभीष्ट है यह जैनोंने कहा, किंतु वस्तुतः विचारा जावे तो वह इष्टपदार्थ परमार्थभूत नहीं है। जैसे कि अपने

58

मनमें राजापनकी कल्पना करनेसे कोई यथार्थ राजा नहीं बन जाता है अथवा बच्चोंके खेल अनुसार, या सतरंजकी गोटों सदृश कोई मंत्री, योद्धा आदि नहीं निर्णीत किया जाता है। स्वप्न, नशा आदिमें भी व्यर्थ कल्पनायें उपजती हैं। उस कारण इष्ट अर्थकी अच्छी प्राप्ति करना और अनिष्टकी अप्राप्ति करना भी वास्तविक नहीं है, जिससे कि उन प्राप्ति तथा अप्राप्तिको प्रधानपना और अप्रधानपनेका हेतु मानकर वस्तुओंकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुआ प्रधानता और अप्रधानताका ठीक सिद्ध होता संता उनको वस्तुभूतपना सिद्ध करा देवे। यदि ऐसा कहोगे तो आचार्य कहते हैं कि बौद्धोंकी इस प्रकार शंका तब हो सकती थी, जब कि सम्पूर्ण ही अभीष्ट अर्थ अवस्तुभूत होते हुए सिद्ध हो जाते। किंतु अभीष्ट पदार्थोंमें बहुभाग वस्तुभूत सिद्ध हो रहा है। दूधमें स्वादु रस, अग्निमें दाहकस्वभाव, विषमें मारनेकी शक्ति, अध्यापकमें पढानेकी सामर्थ्य इत्यादि धर्म कल्पित नहीं हैं। किसी एकके मनमें राजा बन जाना या स्वप्नमें राज्य प्राप्ति होना सीपमें रजतका ज्ञान हो जाना आदि कल्पनाओंको अपरमार्थभूत असत् अर्थकी भित्ति पर अवलम्बित समझ कर उसी प्रतिपत्तिके अनुसार यदि बाधारहित इच्छाओंके विषय किये गये परमार्थभूत पदार्थोंको भी असद्भूत असत्रूपपनेकी सिद्धि करोगे, तब तो आंखमें अंगुली लगाके देखनेपर एक चंद्रमामें दो चंद्रमाको विषय करनेवाले प्रत्यक्षको अवस्तुके विषय करनेवाला ऐसा समीचीन निर्णय हो जाने अनुसार ही सम्पूर्ण निर्बाध प्रत्यक्षोंके विषयभूत पदार्थोंको भी अवस्तुपना सिद्ध कर डालो। क्योंकि मनमें राजाकी कल्पनाको दृष्टांत मानकर अभिप्रेतपना हेतु जैसे सम्पूर्ण वस्तुभूत कल्पनाओंमें रह जाता है, वैसे ही चंद्रद्वय दर्शनको उदाहरण मानकर सम्पूर्ण निर्बाध प्रत्यक्षोंके विषयोंमें दृष्टपन हेतु भी अंतररहित विद्यमान है। दूधसे भुरस कर पुनः छाछको भी फूंककर पीना बुद्धिमानी नहीं है। सब ही ज्ञान और कल्पनाएं एकसी नहीं हैं। अनेक वस्तुभूत कल्पनायें हैं, और कुछ अपरमार्थभूत कल्पनायें भी हैं। असत् कल्पनाओंको गढने वाली अवस्तुमें हम विवक्षा और अविवक्षा होनेकी योजना नहीं मानते हैं। सप्तभङ्गी, स्याद्वाद सिद्धांत और व्यवहार नयकी विषय हो रहीं कल्पनायें वस्तुस्वभावोंके अनुसार की गयी हैं।

स्वसम्वेदनाविषयस्य च स्वरूपस्य कुतः परमार्थसत्त्वसिद्धिर्यतः संवेदनाद्वैतं चित्राद्वैतं वा स्वरूपस्य स्वतो गतिं साधयेत्, यदि पुनः स्वरूपस्य स्वतोऽपि गतिं नेच्छेत्तदा न स्वतः संवेद्यते नापि परतोस्ति च तदिति किमश्लीलवचनम्।

आप बौद्धोंने विज्ञानाद्वैतरूप स्वरूपकी अपने आप ही से ज्ञप्ति होना मानी है। यदि स्वरूपका ज्ञान भी मिथ्यावासनाओंसे उत्पन्न होकर अवस्तुको विषय करता हुआ कल्पित बन जावेगा तो स्वसंवेदनप्रत्यक्षके विषय होरहे शुद्ध ज्ञानके स्वरूपकी वस्तुभूत करके विद्यमानपनकी सिद्धि कैसे होगी? जिससे कि आप बौद्धोंके माने हुए संवेदनाद्वैत या चित्राद्वैत स्वरूपकी अपने आप ज्ञप्ति होनेको सिद्ध करादेवे। यदि फिर आप ज्ञानके स्वरूपकी भी अपने आप से ज्ञप्ति होना नहीं

चाहोगे, तब तो आपका वह कहना पाप करनेकी टव पडजानेवाले आग्रही पुरुषके कहनेके समान है कि वह ज्ञानका स्वरूप न तो स्वयं अपनेसे जाना जाता है और न दूसरे ज्ञापकोंसे भी जाना जाता है। किंतु वह है अवश्य। भला, जिसके जाननेका कोई उपाय नहीं है, उसकी सत्ता कैसे मानी जासकती है ? यानी नहीं।

न स्वतः संवेद्यते सम्वेदनं नापि परतः किं तु संवेद्यत एवेति तस्य सत्त्ववचने, न क्रमान्नित्योऽर्थः कार्याणि करोति नाप्यक्रमात्। किं तर्हि ? करोत्येवेति ब्रुवाणः कथं प्रतिक्षिप्यते ? नैकदेशेन स्वावयवेष्ववयवी वर्तते नापि सर्वात्मना किं तु वर्तत एवेति च, नैकदेशेन परमाणुः परमाण्वन्तरैः संयुज्यते नापि सर्वात्मना किं तु संयुज्यत एवेत्यपि ब्रुवन् प्रतिक्षेपार्होऽनेनापादितः।

शुद्धज्ञानरूप संवेदनका स्वयं अपनेसे संवेदन नहीं होता है और न दूसरोंसे भी संवेदन होता है, किंतु उसका सम्वेदन हो ही जाता है। इस प्रकार यदि यों सके साथ उस सम्वेदनकी सत्ताका कथन करोगे तो अनित्यवादी आप बौद्धोंके प्रति नित्यवादी सांख्य भी यह कह सकता है कि कापिलोंके यहां माना गया सर्वथा नित्य अर्थ भी न तो क्रमसे कार्योंको करता है और न अक्रमसे, युगपत् अनेक कार्योंको करता है तब तो क्या है ? इसका उत्तर यों है कि वह नित्यपदार्थ कार्योंको करता ही है। भला, इस प्रकार कहता हुआ सांख्यमतानुयायी आपके द्वारा क्यों खण्डित किया जाता है ? भावार्थ—आप बौद्धोंने नित्यवादका खण्डन करते हुए यह कहा है कि सत्त्वकी व्याप्ति अर्थक्रियाके साथ है और अर्थक्रिया क्रम और यौगपद्यके साथ व्याप्ति रखती है। सांख्योंके स्वीकृत सर्वथा नित्य पदार्थमें क्रम और यौगपद्य नहीं है। इस कारण उन क्रम यौगपद्यसे व्याप्य हो रहे अर्थक्रिया और सत्त्व भी उसमें नहीं है। किंतु अब आप विना हेतुके ही संवेदन होना मानते हैं तो क्रमयौगपद्यके विना नित्य अर्थ भी अनेक कार्योंको करलेगा। तथा च नित्य अर्थकी सत्ता भी सिद्ध हो जावेगी। इसी प्रकार बौद्ध लोग अवयवी द्रव्य भी नहीं मानते हैं। बौद्धोंके यहां क्षणिक परमाणुरूप पदार्थ माने हैं। अवयवीके खण्डनके लिये उन्होंने यह युक्ति दी है कि अपने अवयवोंमें अवयवी यदि एक देश करके वर्तेगा, तब तो पहिले ही से अवयवीमें दूसरे अन्य अवयव (देश) मानने पडेंगे, तभी एक देश कहा जा सकेगा और उन पहिलेके अवयवोंमें भी एकदेश करके रहेगा तो फिर तीसरे अन्य अवयव मानने पडेंगे, ऐसे अनवस्था हो जावेगी। और यदि सर्वांगरूपसे अवयवी एक एक अवयवमें रहेगा तो जितने अवयव हैं, उतने अवयवी पदार्थ हो जावेंगे। अर्थात् जितने सूत (तन्तु) हैं, उतनी संख्यावाले थान बन जावेंगे। तथा परमाणु एकदेश करके दूसरे परमाणुओंसे सम्बद्ध होगी, तब तो परमाणु भी पहिलेसे अनेक देशवाली सांश हो जावेगी, और यदि विवक्षित परमाणु पूर्ण रूपसे दूसरे परमाणुसे मिल जावेगी तो लम्बा चौडा पिण्ड परमाणुके बराबर

हो जावेगा, ऐसी दशामें सुमेरु पर्वत और सरसों भी समान परिमाणवाले हो जावेंगे। किंतु जैसे ऐंठके साथ आप बौद्ध अपने संवेदनको सिद्ध कररहे हैं। उसी प्रकार नैयायिक भी अपने अवयवी पदार्थको सिद्ध करदेवेगा। वह कहता है कि अवयवोंमें अवयवी एकदेश करके भी नहीं वर्तता है, और न सम्पूर्ण अपने देशों करके रहता है, किंतु रहता ही है तथा परमाणु एकदेश करके दूसरे परमाणुओंके साथ संयुक्त नहीं होता है और न अपने सब अंशों करके संयुक्त होता है, किंतु संयुक्त हो ही जाता है, ऐसे बोलनेवाले नैयायिक भी अपाके खण्डन करनेके योग्य नहीं हो सकते हैं, इस उक्त कथन करके बौद्धोंके धूलमें लठिया लगनेके समान सांख्योंकी ओरसे आपादन करनेसे नैयायिकोंका उक्त आपादन भी समझ लेना चाहिये। यानी नैयायिक भी बौद्धके प्रति धोंससे अवयवी या स्कंधको सिद्ध कर देवेगा।

यदि पुनः क्रमाक्रमव्यतिरिक्तप्रकारासम्भवात्ततः कार्यकरणादेरयोगादेवं ब्रुवाणस्य प्रतिक्षेपः क्रियते तदा स्वपरव्यतिरिक्तप्रकाराभावान्न ततः संवेदनं संवेद्यत एवेत्यप्रतिक्षेपार्हः सिद्धयेत्।

यदि फिर बौद्ध समझकर यों कहें कि सांख्योंकी लपड धों धों नहीं चल सकती है। क्योंकि क्रम और अक्रमसे अतिरिक्त कार्योंके कर देनेका या पर्यायोंके प्रगट होने आदिका दूसरा कोई उपाय नहीं सम्भवता है और नित्य पक्षमें कार्यका बनना या प्रगट होना सिद्ध होता नहीं है, इस कारण वस्तुको सर्वथा नित्य कहनेवाले सांख्यका हम खण्डन करते हैं। तब तो हम भी बौद्धोंके प्रति कह सकते हैं कि संवेदनके जाननेका स्वयं और दूसरे ज्ञापकोंके अतिरिक्त तीसरा कोई उपाय नहीं है। ऐसी दशामें आपका संवेदन भी खण्डन करने योग्य नहीं है, यह सिद्ध नहीं हो सकता है। जब कि आप बौद्ध यों कह रहे हैं कि ज्ञान न तो स्वयं जाना जाता है और न दूसरोंसे जाना जाता है। किंतु है ही। इस प्रकार आपकी पोल नहीं चल सकती है। संवेदनकी स्वयंसे ज्ञप्ति मानिये या दूसरोंसे ज्ञप्ति होना मानिये। अन्यथा आपके संवेदनकी सत्ता उठ जावेगी।

सम्वेदनस्य प्रतिक्षेपे सकलशून्यता सर्वस्यानिष्टा स्यादिति चेत्, समानमन्यत्रापि।

सौगत बोले कि संवेदनकी सत्ताका खण्डन करदेनेपर तो सम्पूर्ण पदार्थोंका शून्यपना हो जावेगा, जो कि सम्पूर्ण वादी प्रतिवादियोंको इष्ट नहीं है। क्योंकि घट, पट आदिकी तो स्वयं अपनी सत्ता ही ज्ञानकी भित्तिपर डटी हुयी है। जब ज्ञान ही नहीं है तो संसारमें कोई पदार्थ ही नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो यह उक्त कथन दूसरे पक्षमें भी समान है। भावार्थ—वस्तुमें कर्तापन, करणपनकी प्रधानता और अप्रधानताकी विवक्षा करना भी वस्तुभूत स्वभावोंके अधीन मानना चाहिए। जैसे ज्ञानके माने बिना संसारकी व्यवस्था नहीं हो सकती है, वैसे ही वस्तुओंकी अनेक सामर्थ्य माने विना भी विवक्षा और अविवक्षा होना नहीं

बनता है, जिसका कि होना अत्यावश्यक है। तथा अवयवीके वर्तने और परमाणुओंसे स्कन्ध बन आनेमें भी वही श्रेष्ठ उपाय लग बैठेगा। यों अवयवी और स्कन्धका खण्डन कर देनेपर भी जग प्रसिद्ध शरीर, खाट, फल, गृह, पृथ्वी, सूर्य, नदी, किला, पर्वत आदि पदार्थोंका शून्यपन छा जायगा, जो कि सबको अभीष्ट नहीं पडेगा।

ततः स्वयं संवेद्यस्य दृश्यस्य वा रूपादेः परमार्थसत्त्वमुपयताभिप्रेतस्याप्यव्यभिचारिणस्तत्त्व प्रतिक्षेप्तव्यम्, सर्वथा विशेषाभावात्, परमार्थसत्त्वे च स्वाभिप्रेतार्थस्य सुनयविषयस्य तत्संप्राप्त्यसंप्राप्ती वस्तुरूपे सिद्धे तद्धेतुकयोश्च प्रधानेतरभावयोर्वस्तुसामर्थ्यसम्भूततनुत्वं नासिद्धं यतस्तयोर्वास्तवत्वं न साधयेदिति।

उस कारण स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जाने गये सम्वेदनके विषयभूत स्वलक्षण अथवा निर्विकल्पक दर्शनके विषय रूप, रस, आदिककी परमार्थरूपसे सत्ताको स्वीकार करोगे, तब तो आपके द्वारा समीचीन और व्यभिचार रहित माने गये अपने उस अभीष्ट पदार्थकी भी वस्तुतः सत्ताका खण्डन नहीं करना चाहिये। सभी प्रकारसे आपके और हमारे कथनमें कोई अंतर नहीं है। भावार्थ— आपने निर्विकल्पक संवेदन और उसके विषयभूत स्वलक्षण रूप, रस, आदिकको जैसे इष्ट किया है, वैसे ही इष्टता और अनिष्टताके प्रयोजक वस्तुकी मूलभूत सामर्थ्योंको हम भी मानते हैं। आपको भी भिन्न अनेक कार्योंके अनुरोधसे वे स्वभाव मानने पडेंगे। जब कि समीचीन नयके द्वारा जाने हुए अपने अभीष्ट अर्थकी परमार्थ रूपसे सत्ता सिद्ध हो गयी, तब वैसा होनेपर उस अपने अभीष्टकी समीचीन प्राप्ति और अप्राप्ति भी वस्तुस्वरूप बन गयी और जब यह प्राप्ति और अप्राप्ति वस्तुस्वरूप सिद्ध हो गयी, तब उनके कारण माने गये प्रधानपन और अप्रधानपनके शरीरको भी वस्तुके स्वभावोंसे उत्पन्न होनापन असिद्ध नहीं हुआ, जिस कारणसे कि उन प्रधानता और अप्रधानताको वास्तविकपना सिद्ध न करा सके। अर्थात् वस्तुके आत्मभूत स्वभावोंसे किसी धर्मका प्रधानपन और अन्य धर्मका अप्रधानपन उत्पन्न हुआ है। अतः वे प्रधानता और अप्रधानता कल्पित नहीं हैं। किन्तु वास्तविक हैं। यहांतक यह तत्त्व पुष्ट कर दिया है।

तत्र विवक्षा चाविवक्षा च न निर्विषया येन तद्वशादेकत्र वस्तुन्यनेककारकात्मकत्वं न व्यवतिष्ठेत।

उस वस्तुमें कर्तापन या करणपनकी विवक्षा होना अथवा अविवक्षा होना वस्तुभूतसामर्थ्यको अवलम्ब लेकर है। अपने विषयको नहीं स्पर्श करती हुयीं यों ही विना कारण विवक्षा या अविवक्षा नहीं हो गयी हैं, जिससे कि उस वस्तुभूत सामर्थ्यके वशसे अनेक कारकस्वरूपपना एक वस्तुमें व्यवस्थित न होता। अर्थात् वस्तुकी भिन्न भिन्न अनेक शक्तियोंके बलसे एकमें अनेक कारकपन बन जाता है।

वृक्षस्तिष्ठति कानने कुसुमिते वृक्षं लताः संश्रिताः ।
वृक्षेणाभिहतो गजो निपतति वृक्षाय देह्यञ्जलिं ॥
वृक्षादानय मञ्जरीं कुसुमितां वृक्षस्य शाखोन्नता ।
वृक्षे नीडमिदं कृतं शकुनिना हे वृक्ष किं कम्पसे ॥ १ ॥

वनमें एक वृक्ष है (कर्ता), वृक्षको लता आश्रय कर रही हैं (कर्म), वृक्ष करके टकराया हुआ हाथी गिर पडा (करण), वृक्षके लिये पानी देदो (संप्रदान), वृक्षसे फूलोंको तोड लाओ (अपादान), वृक्षकी शाखायें ऊंची हैं (सम्बन्ध), वृक्षमें पक्षियोंने घोंसला बनाया है (अधिकरण), हे वृक्ष ! तुम क्यों कांप रहे हो (सम्बोधन) । इस उदाहरणमें वृक्षके अनेक स्वभावोंके वश छह कारक बन गये हैं । कहीं कहीं क्रियाका परम्परासंबंध होनेके कारण संबंध और सम्बोधनको भी उपचारसे कारकपना मान लिया गया है । मुख्य रूपसे छह कारक माने गये हैं ।

निरंशस्य च तत्त्वस्य सर्वथानुपपत्तितः ।
नैकस्य बाध्यतेऽनेककारकत्वं कथञ्चन ॥ ३२ ॥

एक बात यह भी है कि बौद्धोंसे माने हुए सर्वथा निरंश तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है । अर्थात् सम्पूर्ण स्वभावोंसे रहित कोई पदार्थ ही संसारमें नहीं है । अनेक धर्मात्मक ही अंतरंग और बहिरंग पदार्थ जगत्में देखे जाते हैं । इस कारण एक द्रव्यको किसी किसी अपेक्षासे अनेक कारकपना बन जाता है । कोई बाधा नहीं है । चेतनश्चेतनं, चेतनेन, चेतनाय, चेतनात्, चेतने चेतयते । यह चेतन आत्मा, चेतनको, चेतन करके, चेतनके लिये, चेतनसे चेतनमें चेतता रहता है ।

नात्मादितत्त्वे नानाकारकात्मता वास्तवी तस्य निरंशत्वात्, कल्पनामात्रादेव तदुपपत्तेरिति न शंकनीयम्, बहिरन्तर्वा निरंशस्य सर्वथार्थक्रियाकारित्वाविरोधात् ।

बौद्ध कहते हैं कि आत्मा, वृक्ष, आदि तत्त्वोंमें अनेक कारक स्वरूपपना वस्तुभूत नहीं है । क्योंकि वे आत्मा आदि पदार्थ सम्पूर्ण शक्ति, स्वभाव और धर्मोंसे रहित होते हुए निरंश हैं । केवल कल्पनासे भले ही वह अनेककारकपना सिद्ध करलो, जैसे कि एक रुपया देवदत्तका है किंतु वह बजाज, सर्राफ, और भृत्यका होजाता है । अतः रुपयेमें मेरा तेरापन सर्वथा कल्पनारूप है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंको शङ्का नहीं करनी चाहिये । क्योंकि घट, रुपया, वृक्ष, आदि बहिरंग पदार्थ और ज्ञान, आत्मा, इच्छा आदि अन्तरंग पदार्थोंको यदि स्वभावोंसे रहित माना जावेगा तो सर्व ही प्रकारसे उनमें अर्थक्रियाको करनापन नहीं बन सकेगा । रुपयेमें भी हमारा तुम्हारापन स्वभाव विद्यमान है । तभी तो अपने रुपयेका स्वामित्व तो गुण है, और दूसरे की चोरी करना दोष है । हमारा रुपया हमारे लिये इष्ट वस्तुकी प्राप्ति करानेवाला है, अन्यथा दूसरे सेठके

रूपयोंसे हम कक्षाधिपति क्यों नहीं बन जाते हैं ? सर्व ही पदार्थ कुछ न कुछ कार्य कर रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ सर्वज्ञ द्वारा कमसे कम अपनी ज्ञप्ति तो करा ही रहा है। यावत्पदार्थोंका यह कार्य तो केवलान्वयी है। अर्थपर्यायों और व्यञ्जन पर्यायोंमें तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, परिणाम होते रहते हैं।

परमाणुः कथमर्थक्रियाकारीति चेन्न, तस्यापि सांशत्वात्। न हि परमाणोरंश एव नास्ति द्वितीयाद्यंशाभावान्निरन्वयत्ववचनात्। न च यथा परमाणुरेकप्रदेशमात्रस्तथात्मादिरपि शक्यो वक्तुं सकृन्नानादेशव्यापित्वविरोधात्।

पुनः सौगत बोले कि देखो, परमाणु अंशोंसे रहित है। फिर भी वह व्यणुक बनाना आदि अर्थक्रियाओंको करता है। यदि आप जैन निरंश पदार्थको अर्थक्रियाका करनेवाला नहीं मानेंगे तो वह परमाणु अर्थक्रियाको कैसे कर सकेगा ? बताओ। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बौद्धोंका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उस परमाणुको भी हम अंशोंसे सहित मानते हैं। एक परमाणुमें रूप रस आदि अनेक गुण हैं और काले, पीले, खट्टे, मीठे आदि अनेक पर्यायें हैं। लम्बाई, चौडाई, मोटाई भी है। व्यणुक, वर्गणा, स्कंध, आदि बननेके वस्तुभूत स्वभाव भी हैं। एक कालाणुमें अनन्त पदार्थोंको वर्तना करानेकी नैमित्तिक शक्ति है। जैसे कि आतप (धूप) में रखा हुआ कोई पदार्थ सूख रहा है, अन्य पदार्थ पक रहा है, तीसरा पदार्थ गीला होजाता है। चौथा पदार्थ कठोर होजाता है। आदि अनेक कार्योंके करनेकी शक्ति आतपमें विद्यमान है। अतः परमाणुके अंश ही नहीं हैं, यह नहीं मानना चाहिये। हां ! जैसे व्यणुक दो परमाणुओंसे बना है। त्र्यणुक तीन परमाणुओंसे या एक व्यणुक और एक परमाणुसे बना है। उस प्रकार परमाणु अपनेसे छोटे अवयवोंके द्वारा निष्पन्न नहीं होता है। तीन लोकमें परमाणुसे छोटा टुकडा न हुआ, न है और न होगा। अतः पुद्गल परमाणुको परम अवयव द्रव्य माना है। एक परमाणुको बनाने वाले उससे छोटे अन्य दूसरे तीसरे आदि अंश नहीं हैं। इस कारण जैन सिद्धांतमें परमाणुओंको अवयवोंसे रहित कह दिया है। किन्तु परमाणुमें स्वभाव गुण और पर्यायोंकी अपेक्षासे तो अनेक अंश विद्यमान है। अखण्ड व्यापक आकाशके उस परमाणुके बराबर अंशको प्रदेश कहते हैं अर्थात् परमाणु आकाशके एक प्रदेशको घेरता है। आकाशके एक प्रदेशमें अवगाहनशक्तिके योगसे अनेक परमाणु समा जाते हैं। किन्तु एक परमाणु आधे प्रदेशपर नहीं बैठ सकता है। अतः आकाशके केवल एक प्रदेशके बराबर जैसे परमाणु हैं, वैसे ही आत्मा, धर्मद्रव्य, स्कंध, आदि पदार्थोंको भी केवल एक प्रदेशमें ही रहने वाले नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उनको एक समयमें अनेक देशोंमें व्यापकरूपसे रहनेका विरोध हो जावेगा, आत्मा, आकाश आदि अखण्डित अनेकप्रदेशी पदार्थ अनेक प्रदेशोंमें व्यापक होकर रहते हुए देखे जाते हैं। विशेष यहां यह है कि परमाणुका आकार शक्ति की अपेक्षासे छह खण्ड रखते हुए छह पैल बरफीके समान है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर

अधोदिशा और ऊर्ध्वदिशासे अन्य छह परमाणुका संयोग या बन्ध हो जाता है। बरफी या ईंटके आठ कोने नहीं पकडता। किन्तु इनकी चौरस सपाट ६ भीतोंको यहां परमाणुके पैलोंका दृष्टान्त कहा है। श्रीवीरनंदी सिद्धांतचक्रवर्तीने आचारसारमें परमाणु और अलोकाकाशको छहः पैलवाला चौरस सिद्ध किया है। ऐसे छह पहलू परमाणुओं या ऐसे असंख्यात प्रदेशोंसे ठसाठस लोकाकाश भरा है।

तस्य विभुत्वान्न तद्विरोध इति चेत्, व्याहतमेतत्। विभुश्चैकप्रदेशमात्रश्चेति न किञ्चित्सकलेभ्योंऽशेभ्यो निर्गतं तत्त्वं नाम सर्वप्रमाणगोचरत्वात् खरशृंगवत्।

यदि यहां नैयायिक यों कहें कि वे आकाश, आत्मा आदि द्रव्य तो सम्पूर्ण मूर्त द्रव्योंके साथ संयोग रखते हुए व्यापक हैं, इस कारण उनको अनेक देशोंमें व्यापकपनेका विरोध नहीं है, ऐसा कहनेपर तो ग्रंथकार कहते हैं कि यह व्याघात दोष हुआ, जैसे कोई अपनेको वन्ध्याका पुत्र कहे, या बहुत चिल्लाकर अपनेको मौनव्रती कहे, अथवा मरनेवालेको " एक लाख रुपया दिया जावेगा " ऐसी घोषणा होनेपर कोई शीघ्र आकर और चिल्लाकर अपनेको मरा हुआ कहकर लाख रुपये मांगे, यहां जैसे आगे पीछेके उद्देश्य विधेयदलोंमें वदतो व्याघात दोष है, वैसा ही आत्मा और आकाशको व्यापक मानकर केवल एक प्रदेशमें रहना मानना या अंशोंसे रहित कहना भी विरुद्ध है। इन हेतुओंसे यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि जगत्में कोई भी पदार्थ या तत्त्व संपूर्ण अंशोंसे रहित नहीं है। जिस पदार्थमें कमसे कम ज्ञेयत्व अथवा प्रमेयत्व धर्म न होगा, वह पदार्थ तो सर्व प्रमाणोंमेंसे किसी एक प्रमाणका भी विषय न हो सकेगा, तथा च गधेके सींगोंके समान वह अंशोंसे रहित माना गया पदार्थ अवस्तु है, असत् है।

यदा त्वंशा धर्मास्तदा तेभ्यो निर्गतं तत्त्वं न किञ्चित्प्रतीतिगोचरतामञ्चतीति सांशमेव सर्वतत्त्वमन्यथार्थक्रियाविरोधात्।

और जब अंश कहनेसे धर्म पकडे जाते हैं, फिर यदि वस्तुओंको निरंश कहोगे, तब तो उन धर्मोंसे रहित होकर कोई भी तत्त्व जगत्में प्रतीतिके विषयपनेको प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि संपूर्ण तत्त्व अंशोंसे सहित ही है। इसके माने बिना अन्य प्रकारोंसे मान लेनेपर अर्थक्रियाका विरोध है अर्थात् स्वभावोंसे रहित होकर कोई भी तत्त्व छोटीसे छोटी भी अर्थक्रियाको नहीं कर सकता है।

तत्र चानेककारकत्वमबाधितमवबुध्यामहे भेदनयाश्रयणात्, तथा च दर्शनादित्रि-ज्ञानानां युक्तं कर्त्रादिसाधनत्वम्।

उपर्युक्त युक्तियोंसे हम पूर्णरीतिसे निर्णय कर लेते हैं कि उन आत्मा, वृक्ष, ज्ञान आदि तत्त्वोंमें अनेक कारकपना बाधाओंसे रहित होकर सिद्ध है। भेदको ग्रहण करनेवाले पर्यायार्थिक

नयका अवलम्ब लेकर ज्ञान, दर्शन आदि तत्त्वोंको अनेक कारकपना युक्त है और वैसा होनेपर दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन शब्दोंका कर्ता आदि यानी कर्ता, कर्म, करण और भावमें युट् या णित्र प्रत्यय करके कृदन्तमें साधन करना हमने बहुत अच्छा कहा था। इस प्रकार शब्दशास्त्रके अनुसार आदि सूत्रमें कहे हुए शब्दोंकी निरुक्ति करके अभीष्ट अर्थको निकालनेका प्रकरण समाप्त हुआ।

पूर्वं दर्शनशब्दस्य प्रयोगोऽभ्यर्हितत्वतः।
अल्पाक्षरादपि ज्ञानशब्दाद्द्वन्द्वोऽत्र सम्मतः ॥ ३३ ॥

व्याकरणशास्त्रके अनुसार " च " के अर्थमें किये गये द्वन्द्वसमासमें थोडे अक्षरवाले शब्दका पहिले प्रयोग होता है अर्थात् जैसे कि एक घडेमें ज्वारके फूला, चना और कङ्कड डालकर हिलादेनेसे अपने स्वभावोंके अनुसार नीचे भागमें कङ्कड, बीचमें चने और ऊपर फूला हो जाते हैं। उसी प्रकार शब्दकी स्वाभाविक शक्तिसे पर्वत और नदीका द्वन्द्वसमास करनेपर पर्वतके पहिले नदी शब्दका प्रयोग हो जावेगा, किंतु अल्पस्वरवाले पदके प्रथम प्रयोगके इस नियमका बाधक दूसरा नियम है कि पूज्यपदार्थका सबसे प्रथम उच्चारण होना चाहिये। ऋषभदेव और गणधरका या महावीर और गौतमका द्वन्द्व समास होनेपर अनेक स्वरवाले पूज्य भगवान्का ही पहिले उच्चारण होगा। इस कारण अल्प अक्षरवाले भी ज्ञान शब्दसे प्रथम पूज्य होनेके कारण दर्शन शब्दका प्रयोग करना ठीक है। इस सूत्रमें उमास्वामी महाराजने जिसमें पूज्य पहिले बोला जाता है ऐसा द्वन्द्वसमास यहां अभीष्ट किया है।

दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्राणीति इतरेतरयोगे द्वन्द्वे सति ज्ञानशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसक्तिरल्पाक्षरत्वादिति न चोद्यम्, दर्शनस्याभ्यर्हितत्वेन ज्ञानात्पूर्वप्रयोगस्य सम्मतत्वात्।

च अव्ययके चार अर्थ हैं। समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार। परस्परमें नहीं अपेक्षा रखनेवाले अनेकोंका एकमें अन्वय होजाना समुच्चय है। घटको लाओ, पटको भी लाओ (घटं पटञ्चानय) यहां च का अर्थ समुच्चय है। गाय, युवा, बालक, राजा, पण्डित और देवोंको भी दिन रात लेजाता हुआ यमराज (आयुष्य कर्मका अन्तिम निषेक) तृप्त नहीं होता है (गां युवानं बालं नृपतिञ्चाहरहर्नयमानो यमस्तृप्तिं न याति) यहां चका अर्थ अन्वाचय है, कतिपयोंमेंसे कोई कोई यों ही प्रसङ्ग प्राप्त होजाय ऐसी दशामें अन्वाचय है। परस्परमें अपेक्षा रखते हुये मिलजाना इतरेतर योग है। तथा (हस्तौ च पादौ च हस्तपादं) हाथ पैर यहां समुदायरूप समाहार द्वन्द्व है। प्रकरणमें पहिले सूत्रका दर्शन और ज्ञान तथा चारित्र इस प्रकार परस्परमें

मिलानेवाले इतरेतर योग द्वन्द्व समासके होनेपर " दर्शनज्ञानचारित्राणि " ऐसा पद बनता है। यहां अल्प अक्षर होनेके कारण ज्ञान शब्दका पूर्वमें निपात हो जानेका प्रसंग आता है यह कटाक्ष रूप चोद्य करना तो ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञानकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनको पूज्यपना है। इस कारण दर्शनका पूर्वमें प्रयोग करना अभीष्ट किया है। यह नियम शब्द शास्त्रमें भी भले प्रकार माना गया है। वैयाकरण, नैयायिक, दार्शनिक, साहित्यवित्, सभी विद्वानोंकी इसमें सम्मति है।

कुतोऽभ्यर्हो दर्शनस्य न पुनर्ज्ञानस्य सर्वपुरुषार्थसिद्धिनिबन्धनस्येति चेत्—

किसीका आक्षेप है कि किस कारणसे ज्ञानकी अपेक्षा दर्शन पूज्य है? सम्पूर्ण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थोंकी सिद्धिके कारण ज्ञानको ही फिर पूज्यपना क्यों नहीं है? बताओ। ऐसी शंका होनेपर आचार्य महाराज उत्तर देते हैं।

ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वादभ्यर्हो दर्शनस्य हि।
तदभावे तदुद्भूतेरभावाद्दूरभव्यवत्॥ ३४॥

ज्ञानके समीचीनपनेका हेतु हो जानेसे दर्शनको ज्ञानकी अपेक्षासे अधिक पूज्यपना है। क्योंकि उस सम्यग्दर्शनके न होनेपर उस सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होने पाती है। जैसे कि अनंत काल तक भी मोक्ष न जानेवाले दूर भव्यके मिथ्याज्ञान होते हुए भी सम्यग्दर्शनके न होनेसे उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञानपना नहीं आता है और निकट भव्यके अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गलपरिवर्तन काल मोक्ष प्राप्तिमें अवशेष रहनेपर सम्यग्दर्शन गुणके प्रगट होते ही उस समयके विद्यमान ज्ञानको समीचीनपनेका व्यवहार हो जाता है। ज्ञानमें यह समीचीनपना कोरी कल्पना नहीं है, किंतु इस सम्यग्ज्ञानके संस्कार वश थोडे ही भवोंमें वह ज्ञानी जीव और पुद्गलके भेदको निरखता हुआ देशसंयम और सकलसंयमको प्राप्त होकर निःश्रेयसको प्राप्त कर लेता है। यदि एक बार भी दर्शन मोहनीयके उपशम या क्षयोपशमके हो जानेपर स्वानुभूतिरूप प्रत्यक्ष हो जावे, अनन्तर भले ही वह जीव मिथ्यादृष्टी बन जावे किंतु उस ज्ञानका संस्कार उत्तरोत्तर ज्ञानकी पर्यायोंमें प्रविष्ट होता हुआ वह संस्कृत मिथ्याज्ञानका कालान्तरमें औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका कारण होकर क्षायिक सम्यग्दर्शनको उत्पन्न कर ही देवेगा। इस हेतुसे नाम कर्मकी प्रकृतियोंमें तीर्थङ्कर प्रकृतिके समान आत्माके अनेक गुणोंमें सम्यग्दर्शन गुण पूज्य माना गया है।

इदमिह सम्प्रधार्यं ज्ञानमात्रनिबन्धना सर्वपुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्ज्ञाननिबन्धना वा? न तावदाद्यः पक्षः, संशयादिज्ञाननिबन्धत्वानुषङ्गात्, सम्यग्ज्ञाननिबन्धना चेत्, तर्हि ज्ञानसम्यक्त्वस्य दर्शनहेतुकत्वात् तत्त्वार्थश्रद्धानमेवाभ्यर्हितम्, तदभावे ज्ञानसम्यक्त्वस्यानुद्भूतेर्दूरभव्यस्येव, न चेदमुदाहरणं साध्यसाधनविकलमुभयोः संप्रतिपत्तेः।

इस प्रकरणमें यह बात विचार करने योग्य है कि आक्षेपकारने जो यह कहा था कि संपूर्ण पुरुषार्थोंकी सिद्धिका कारण ज्ञान है, अतः ज्ञान ही पूज्य होना चाहिये। वहां हम पूंछते हैं कि चाहे किसी भी ज्ञानसामान्यको कारण मान करके पुरुषार्थोंकी सिद्धि हो जाती मानी गयी है ? अथवा संपूर्ण पुरुषार्थोंकी सिद्धिका कारण समीचीन ज्ञान है ? बताओ। इनमें पहिला पक्ष लेना तो अच्छा नहीं है, क्योंकि चाहे जिस ज्ञानसे पुरुषार्थोंकी यदि सिद्धि हो जावेगी, तब तो संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप कुज्ञानोंसे भी धर्म आदिककी प्राप्ति हो जानी चाहिये। किंतु संशय आदिकसे धर्म मोक्ष तो क्या अर्थ और कामकी भी थोडीसी प्राप्ति नहीं हो पाती है। यदि दूसरे पक्षके अनुसार धर्म आदिककी सिद्धिमें समीचीन ज्ञानको कारण मानोगे, तब तो ज्ञानकी समीचीनताका हेतु हो रहा तत्त्वार्थोंका श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन ही पूज्य हुआ। यदि वह सम्यग्दर्शन गुण प्रगट नहीं हुआ होता तो दूरभव्यके ज्ञानके समान निकट भव्यजीवके ज्ञानको भी समीचीनपना प्रकट नहीं हो सकता था। साध्य साधनकी समव्याप्तिवाले इस अनुमानमें दिया गया दूर भव्यरूप दृष्टांत विचारा साध्य और साधनसे रहित नहीं हैं। क्योंकि दूर भव्यमें सम्यग्दर्शनका अभाव है और उसके ज्ञानमें समीचीनपना भी नहीं है। इस कारण सम्यग्दर्शनका न होनारूप साधन तथा ज्ञानके समीचीनपनेके अभावरूप साध्य इन दोनोंकी उस दृष्टांतमें विश्वासपूर्वक प्रतीति हो रही है। अथवा दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां साध्य और साधनको धारते हुये निदर्शन की बढिया ज्ञप्ति हो रही है।

नन्विदमयुक्तं तत्त्वार्थश्रद्धानस्य ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वं दर्शनसम्यग्ज्ञानयोः सहचरत्वात्, सव्येतरगोविषाणवद्धेतुहेतुमद्भावाघटनात्। तत्त्वार्थश्रद्धानस्याविर्भावकाले सम्यग्ज्ञानस्याविर्भावात्तद्धेतुरिति चासंगतं, सम्यग्ज्ञानस्य तत्त्वार्थश्रद्धानहेतुत्वप्रसंगात्। मत्यादिसम्यग्ज्ञानस्याविर्भावकाल एव तत्त्वार्थश्रद्धानस्याविर्भावात्। ततो न दर्शनस्य ज्ञानादभ्यर्हितत्वं ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वाव्यवस्थितेरिति कश्चित्, तदसत्, अभिहितानवबोधात्। न हि सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वाद्दर्शनस्याभ्यर्होऽभिधीयते, किं तर्हि ? ज्ञानसम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात्, पूर्वं हि दर्शनोत्पत्तेः साकारग्रहणस्य मिथ्याज्ञानव्यपदेशो मिथ्यात्वसहचरितत्वेन यथा, तथा दर्शनमोहोपशमादेर्दर्शनोत्पत्तौ सम्यग्ज्ञानव्यपदेश इति।

किसीकी निग्रहार्थ यहां शंका है कि तत्त्वार्थोंके श्रद्धानस्वरूप सम्यग्दर्शनको ज्ञानकी समीचीनताका हेतुपना कहना, यह अयुक्त है। क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों गुण एक साथ प्रगट होते हैं। एक साथ ही सदा रहते हैं। जैसे गौके एक समयमें उत्पन्न होनेवाले वाम और दक्षिण सींगोंमें कार्यकारणभाव नहीं घटता है, वैसे ही साथ उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका कार्यकारणभाव नहीं बनता है। पूर्वक्षणवर्ती कारण होता है और उसके अव्यवहित

उत्तर क्षणमें रहनेवाला कार्य होता है। इस नियमको प्रायः सर्व ही दार्शनिक मानते हैं। यदि आप जैन यों कहें कि सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेके समय ही सम्यग्ज्ञान प्रगट होजाता है। इस कारण वह सम्यग्दर्शन उस ज्ञानका कारण है, यह कहना भी असंगत है। क्योंकि समान कालवालोंका ही कार्यकारणभाव होने लगा तब तो सम्यग्ज्ञान भी सम्यग्दर्शनका कारण बन सकेगा। इस प्रसंगको आप दूर नहीं कर सकते हैं। क्योंकि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिके प्रगट होते समय ही तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना स्वरूप, सम्यग्दर्शन प्रगट होगया है। इस कारणसे दर्शनको ज्ञानसे पूज्यपना सिद्ध नहीं हुआ। दर्शनकी पूज्यतामें दिया गया ज्ञानकी समीचीनताका कारणपन हेतु अच्छे प्रकारसे सिद्ध नहीं हो सका है। उसके स्पष्टीय अर्थकी व्यवस्था नहीं होसकी है। इस प्रकार कोई एक आक्षेपकर्ता कह रहा है। आचार्य कहते हैं कि उसका वह कहना प्रशस्त नहीं है। क्योंकि आक्षेपकने हमारे कहे हुए अभिप्रायको समझा नहीं है। हम सम्यग्दर्शनको सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण हो जानेसे पूज्यपना नहीं कहते हैं। तब तो हम क्या कहते हैं ? उसे पुनः सुनिये। हम यह मानते हैं कि पूर्वसे विद्यमान होरहे ज्ञानको समीचीनपनके व्यवहार करानेमें सम्यग्दर्शन कारण है। आत्मामें चेतनागुण स्वतंत्र है और दूसरा सम्यग्दर्शन गुण भिन्न है। अनादिकालसे बद्ध पुद्गल द्रव्यको निमित्त पाकर गुणोंके अनेक प्रकारसे विपरिणाम होरहे हैं। चेतनागुणका कुमति आदि ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मिथ्याज्ञानरूप परिणमन चला आरहा है। और सम्यक्त्वगुणकी दर्शनमोहनीयके उदयसे मिथ्यादर्शनरूप परिणति होती आरही है। जिस समय करणलब्धि होनेपर दर्शन मोहनीयका उपशम होजानेसे आत्मामें सम्यग्दर्शनका स्वाभाविक परिणाम उत्पन्न होता है, उसी समयका ज्ञानपरिणाम भी समीचीन व्यवहृत हो जाता है। जैसे शुद्ध मजे हुए लोटेमें भरा हुआ कूप-जल शुद्ध है और अशुद्ध वर्तनमें रखा हुआ कूप-जल अशुद्ध है। एवं मिथ्यादृष्टि जीवके सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके प्रथम होनेवाले अर्थोंके विशेष ग्रहणरूप ज्ञानको मिथ्या-दर्शनके साथ रहनेके कारण जैसे मिथ्याज्ञानपनेका व्यवहार किया जाता है, वैसे ही दर्शन मोहनी-यके उपशम या क्षयोपशम आदिसे सम्यग्दर्शनके प्रगट हो जानेपर सम्यग्ज्ञानपनेका व्यवहार हो जाता है। भावार्थ—वास्तवमें देखा जावे तो मिथ्यात्वके उदय होनेपर सम्यग्दर्शन गुणमें मिथ्या स्वादुरूप जैसे मिथ्यापन है, वैसा ज्ञानमें विपरीत स्वादुरूप मिथ्यापन नहीं है। केवल दूसरे विभाव-भावके संसर्गसे मिथ्यापन कह दिया जाता है। वैसे तो इंद्रियोंके काच कामल आदि दोषोंसे ज्ञानमें मिथ्यापन व्यक्त रूपसे सातवें गुणस्थान तक और अव्यक्त रूपसे बारहवें गुणस्थान तक रहता है। पूज्य मुनिमहाराज भी पित्तदोषवश शुक्लको पीला देखते हैं। किंतु वह ज्ञान उनका सम्यग्ज्ञान ही है, और ग्यारह अंगोंका पाठी मिथ्यादृष्टि घटमें घटज्ञान कर रहा है। तब भी वह मिथ्याज्ञान ही है। स्नेहवत्सला माताके पुत्रपर थप्पड मारनेकी अपेक्षा ईर्ष्यालु सपत्नीका खिलाना कहीं बुरा है। ज्ञान वह प्रकाशमान पदार्थ है। जिसमें केवल दूसरी उपाधियोंके वश कुत्सितपना कर दिया जाता है और

चारित्र तथा सम्यक्त्व गुणमें विपरीत रस करा देनेवाली कडवी तुम्बीमें धरे हुये दूधके स्वाद बदल जानेके समान मुख्यरूपसे मिथ्या मोहनपना है ।

नन्वेवं सम्यग्ज्ञानस्य दर्शनसम्यक्त्वहेतुत्वादभ्यर्होस्तु मिथ्याज्ञानसहचरितस्यार्थश्रद्धानस्य मिथ्यादर्शनव्यपदेशात् मत्यादिज्ञानावरणक्षयोपशमान्मत्यादिज्ञानोत्पत्तौ तस्य सम्यग्दर्शनव्यपदेशात् । न हि दर्शनं ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशनिमित्तं न पुनर्ज्ञानं दर्शनस्य सहचारित्वाविशेषादिति चेत् न । ज्ञानविशेषापेक्षया दर्शनस्य ज्ञानसम्यक्त्वव्यपदेशहेतुत्वसिद्धेः । सकलश्रुतज्ञानं हि केवलमनःपर्ययज्ञानवत् प्रागुद्भूतसम्यग्दर्शनस्यैवाविर्भवति न मत्यादिज्ञानसामान्यवद्दर्शनसहचारीति सिद्धं ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वं दर्शनस्य ज्ञानादभ्यर्हसाधनम् । ततो दर्शनस्य पूर्वं प्रयोगः ।

आक्षेपककी यहां पुनः शंका है कि इस प्रकार समानकालवर्ती पदार्थोंमें भी व्यवहार करानेवालोंका यदि कार्यकारणभाव मान लिया जावे तो दर्शनके समीचीनपनेका कारण हो जानेसे सम्यग्ज्ञानको भी अच्छा पूज्यपना हो जाओ। क्योंकि पहिले मिथ्याज्ञानके साथ रहनेवाले अर्थश्रद्धानको मिथ्यादर्शनपनेका व्यवहार था और जब मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशमसे आत्मामें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न हो जाते हैं, तब उस अर्थको श्रद्धान सम्यग्दर्शनपनेका व्यवहार हो जाता है । यहां जैनोंका यह पक्षपात नहीं चल सकेगा कि ज्ञानकी समीचीनताके व्यवहारका कारण सम्यग्दर्शनको तो मान लिया जावे, किंतु फिर सम्यग्दर्शनकी समीचीनताका कारण सम्यग्ज्ञान न माना जावे । जबकि दोनोंमें ही सहचारीपन अंतररहित है । भावार्थ—दर्शनकी समीचीनताका कारण दीख रहा ज्ञान भी पूज्य हो सकता है । यदि टेसूके फूलके सन्निधानसे कांच लाल हो जाता है तो साथमें कांचकी निकटतासे टेसूका फूल भी लावण्ययुक्त हो जाता है । अतः दोनोंमें औपाधिकभाव हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है । क्योंकि विशेषज्ञानोंकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनको ज्ञानकी समीचीनताके व्यवहारका कारणपना सिद्ध है, जैसे कि सम्यग्दर्शनके साथ सामान्य मति ज्ञान या सामान्य श्रुतज्ञान अवश्य रहता है । किंतु किसी विशेषसम्यग्दर्शनके पूर्वमें सम्यग्ज्ञान अवश्य होना ही चाहिये, यह व्याप्ति भी नहीं है । प्रत्युत यह देखा जाता है कि परिपूर्ण द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान उसी जीवके उत्पन्न होगा जिसको कि पूर्वमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो चुका है । जैसे कि केवलज्ञान और मनःपर्ययज्ञान पूर्वके सम्यग्दृष्टि जीवके ही उत्पन्न होते हैं । अतः पूर्ण श्रुतज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, परमावधि, सर्वावधि और केवलज्ञान इन विशेष ज्ञानोंकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शन ही ज्ञानका कारण सिद्ध होता है । सामान्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान आदिके साथ भले ही सम्यग्दर्शनका सहचारीपन हो, किंतु पूर्ण श्रुतज्ञान आदिके पूर्व कालमें सम्यग्दर्शन ही रहता है । इस कारण सिद्ध हुआ कि ज्ञानोंकी समीचीनताका कारण सम्यग्दर्शन ही है ।

अबतक सम्यग्दर्शनको ज्ञानसे पूज्यपना सिद्ध हो चुका, उस कारण दर्शनका ज्ञान शब्दसे प्रथम आदि सूत्रमें प्रयोग किया गया है ।

कश्चिदाह—ज्ञानमभ्यर्हितं तस्य प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तौ भवान्तराभावात्, न तु दर्शनं । तस्य क्षायिकस्यापि नियमेन भवान्तराभावहेतुत्वाभावादिति । सोऽपि चारित्रस्याभ्यर्हितत्वं ब्रवीतु तत्प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तौ भवान्तराभावसिद्धेः ।

कोई फिर यहां कटाक्ष करता है कि दर्शनसे ज्ञान ही पूज्य है । क्योंकि ज्ञानके अत्यधिक प्रकर्षता पर्यन्त प्राप्त हो जानेपर अर्थात् केवलज्ञान हो जानेपर इस जीवकी उसी भवसे मोक्ष हो जाती है । दूसरा भव धारण नहीं करना पडता है । किन्तु सम्यग्दर्शनकी प्रकर्ष सीमातक पहुंचने पर भी यानी क्षायिक सम्यग्दर्शनके उत्पन्न हो जानेपर भी नियमसे दूसरे जन्मोंको धारण न करनेकी हेतुताका अभाव है । कोई क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव भले ही उस जन्मसे मोक्ष प्राप्त करलेवे, किन्तु अन्य क्षायिकसम्यग्दृष्टि श्रेणिक राजाके समान तीसरे भवमें मुक्तिको प्राप्त करेंगे । अथवा मनुष्यायु या तिर्यगायु को बांधकर जिन मनुष्योंने केवली या श्रुतकेवलीके निकट क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है, वे भोगभूमिके सुख भोगकर देव होनेके बाद कर्मभूमिमें मनुष्य होकर मुक्ति लाभ करेंगे । हां, चौथे भवमें मुक्तिको अवश्य प्राप्त कर लेवेंगे । किन्तु पूर्ण प्रत्यक्षज्ञानी तो उसी जन्मसे सिद्ध परमेष्ठी बन जाते हैं । अतः दर्शनसे ज्ञान पूज्य रहा । आचार्य कहते हैं कि ऐसा कटाक्ष करनेवाला वह शंकाकार भी चारित्रको पूज्यपना कहे तो और भी अच्छा है । क्योंकि उस चारित्रकी पूर्णता होनेपर तत्क्षणमें ही मोक्ष हो जाती है । दूसरे भवोंका धारण करना तो क्या, वर्तमान भवका धारण करना भी शीघ्र नष्ट हो जाता है, यह बात सिद्ध है । अतः किसीकी प्रकर्ष सीमासे पूज्यपनेकी व्यवस्था करनेवाला हेतु व्यभिचारी हो गया । अतः आदिके ज्ञानको समीचीनता देनेवाला दर्शन ही पूज्य है । कर्मभूमिके आदिमें लौकिक और धार्मिक व्यवस्थाको अक्षुण्ण बतानेवाले भगवान् ऋषभदेवका पूज्यपना जगत्प्रसिद्ध है । उपज्ञ ज्ञानका कारण अभ्यर्हित होना ही चाहिये ।

केवलज्ञानस्यानंतत्वाच्चारित्रादभ्यर्हो न तु चारित्रस्य मुक्तौ तथा व्यपदिश्यमानस्याभावादिति चेत्, तत एव क्षायिकदर्शनस्याभ्यर्होऽस्तु मुक्तावपि सद्भावात् अनंतत्वसिद्धेः ।

चारित्रकी अपेक्षासे केवलज्ञानको ही पूज्यपना है । क्योंकि केवलज्ञान अनंतकाल तक स्थित रहता है । किंतु चारित्र पूज्य नहीं है, कारण कि मुक्तिमें चारित्रगुणकी विद्यमानताका कथन नहीं किया है । केवलज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व, केवलदर्शन, जीवत्व और सिद्धत्व इन भावोंका ही निरूपण मोक्ष अवस्थामें किया है । सिद्धोंके आठ गुणोंमें भी चारित्रका नाम नहीं है । सिद्धगति १ केवलज्ञान २ केवलदर्शन ३ क्षायिकसम्यक्त्व ४ अनाहार ५ ये पांच मार्गणायें सिद्धोंमें मानी गई हैं । यहां भी चारित्रका कथन नहीं आया है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम कहते हैं

कि उस ही कारणसे क्षायिकसम्यक्त्वको पूज्यपना हो जाओ। क्योंकि मुक्तिमें भी वह विद्यमान है। क्षायिक सम्यग्दर्शनका मोक्ष अवस्थामें अनन्तकालतक ठहरे रहना सिद्ध है।

साक्षाद्भवान्तराभावहेतुत्वाभावाद्दर्शनस्य केवलज्ञानादनभ्यर्हे केवलस्याप्यभ्यर्हो माभूत् तत एव। नहि तत्कालादिविशेषानिरपेक्षं भवान्तराभावकारणमयोगकेवलिचरमसमयप्राप्तस्य दर्शनादित्रयस्य साक्षान्मोक्षकारणत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। ततः साक्षात्परम्परया वा मोक्षकारणत्वापेक्षया दर्शनादित्रयस्याभ्यर्हितत्वं समानमिति न तथा कस्यचिदेवाभ्यर्हव्यवस्था येन ज्ञानमेवाभ्यर्हितं स्यात् दर्शनात्।

क्षायिक सम्यग्दर्शनको अव्यवहित उस ही भवसे जन्मांतर न लेनेकी यानी मोक्ष होनेकी कारणताका अभाव है। इस कारण केवलज्ञानसे सम्यग्दर्शन पूज्य नहीं हो सकता है, ऐसा कहनेपर तो उस ही कारणसे केवलज्ञानको भी पूज्यपना न होगा। भावार्थ—केवलज्ञान भी अव्यवहित उत्तर कालमें मोक्षका सम्पादक नहीं है। काल, पूर्णचारित्र, अघातियोंका नाश आदि उन विशेष कारणोंकी नहीं अपेक्षा करता हुआ वह विचारा केवलज्ञान अन्य जन्म न लेना रूप मोक्षका कारण नहीं होपाता है। किंतु चौदहवें अयोग केवली नामक गुणस्थानके अंतिमसमयमें प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ही अव्यवहित उत्तरकालमें होनेवाली सिद्ध अवस्थारूप परम मुक्तिके साक्षात् कारण हैं। इस स्वरूप करके उक्त बातको हम अग्रिम ग्रंथमें स्पष्ट रूपसे कहनेवाले हैं। उस कारण मोक्षके साक्षात् अर्थात् अव्यवहित कारण होजाने अथवा तीसरा, चौथा शुक्लध्यान या अघाती कर्मोंका क्षय होनेको बीचमें डालकर परम्परासे कारणपनेकी अपेक्षासे दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनोंको पूज्यपना समान है। क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथेसे लेकर सातवें तक किसी भी गुणस्थानमें उपजकर पूर्ण हो जाता है। ज्ञान तेरहवें गुणस्थानके आदि समयमें पूर्ण हो जाता है। और चारित्रगुण बारहवेंकी आदिमें पूर्ण हो जाता है, किंतु मोक्ष होनेमें कमसे कम कई अंतर्मुहूर्त और अधिकसे अधिक कुछ अंतर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व वर्ष अवशिष्ट रह जाते हैं। चौरासी लाख वर्षोंका एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व है। ऐसे एक कोटि पूर्व वर्षोंकी आयु कर्मभूमिमें उत्कृष्ट मानी गयी है। आठ वर्षका मनुष्य मुनि व्रत लेकर कतिपय अंतर्मुहूर्तोंके पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। अतः तीनों ही रत्नोंको अन्य विशेष कारणोंकी अपेक्षा रखते हुए ही मोक्षका कारणपन है। ऐसी दशामें उस प्रकार मोक्षके कारणपनकी अपेक्षासे तीनोंमेंसे किसी एकको ही पूज्यपनेकी व्यवस्था नहीं हो सकती है, जिससे कि ज्ञान ही दर्शनकी अपेक्षासे पूज्य माना जावे।

नन्वेवं विशिष्टसम्यग्ज्ञानहेतुत्वेनापि दर्शनस्य ज्ञानादभ्यर्हे सम्यग्दर्शनहेतुत्वेन ज्ञानस्य दर्शनादभ्यर्होस्तु श्रुतज्ञानपूर्वकत्वादधिगमजसद्दर्शनस्य, मत्यवधिज्ञानपूर्वकत्वान्निसर्गजस्येति

चेन्न, दर्शनोत्पत्तेः पूर्वं श्रुतज्ञानस्य मत्यवधिज्ञानयोर्वा अनाविर्भावात् मत्यज्ञानश्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानपूर्वकत्वात् प्रथमसम्यग्दर्शनस्य, न च तथा तस्य मिथ्यात्वप्रसङ्गः सम्यग्ज्ञान-स्यापि मिथ्याज्ञानपूर्वकस्य मिथ्यात्वप्रसक्तेः।

यहां आक्षेपककी शंका है कि इस प्रकार पूर्ण श्रुतज्ञान या मनःपर्यय ज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञानके कारण बन जानेसे भी दर्शनको ज्ञानकी अपेक्षासे पूज्यपना मानोगे, तब तो विशिष्ट सम्यग्द-र्शनका कारण बन जानेसे भी ज्ञानको दर्शनकी अपेक्षा पूज्यपना मानो। क्योंकि परोपदेशसे उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन श्रुतज्ञानरूप कारणसे उत्पन्न हुआ है और स्वभावसे (परोपदेशातिरिक्त कारणोंसे) होनेवाला सम्यग्दर्शन भी अपनी आत्मामें विद्यमान होरहे मतिज्ञान और अवधिज्ञान रूप कारणसे उत्पन्न हुआ है। अतः फिर भी ज्ञानको पूज्यता आती है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहो सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके पहिले श्रुतज्ञान अथवा मतिज्ञान या अवधिज्ञान ये प्रगट ही नहीं होते हैं। मति, श्रुत और अवधि ये तीनों सम्यग्ज्ञानके भेद हैं। पहिले ही पहिले भव्यजीवको जो सम्यग्दर्शन होता है वह कुमति, कुश्रुत अथवा विभङ्गज्ञान पूर्वक ही होता है। सम्यग्दर्शनके प्रथम होनेवाली ज्ञानकी पर्यायें मिथ्यादर्शनके सहचारी होनेके कारण मिथ्याज्ञान रूप हैं। एतावता कोई यों कहे कि तब तो उस प्रकार मिथ्याज्ञान पूर्वक उत्पन्न हुए उस निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शनको भी मिथ्यापनका प्रसंग आता है, सो कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि यों तो मिथ्याज्ञानपूर्वक हुए सम्यग्ज्ञानको भी मिथ्यापनका प्रसंग हो जावेगा। जब कभी प्रथम ही प्रथम सम्यग्ज्ञान हुआ है, उसके पहिले मिथ्याज्ञान अवश्य था। असिद्ध अवस्थासे ही सिद्ध अवस्था होती है। चौदहवें गुणस्थानके अंतिमसमयवाले सकर्मा जीव ही एक क्षण बाद अकर्मा हो जाते हैं। मूर्ख ही विद्वान् बन जाते हैं। कीचसे कमल होता है और अशुद्ध खातसे शुद्ध अन्न फल आदि उत्पन्न हो जाते हैं। अतः मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान ही कारण मिलनेपर अग्रिम क्षणमें सम्य-ग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप परिणत हो जाते हैं, कोई बाधा नहीं है।

सत्यज्ञानजननसमर्थान्मिथ्याज्ञानात्सत्यज्ञानत्वेनोपचर्यमाणादुत्पन्नं सत्यज्ञानं न मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते मिथ्यात्वकारणादुष्टाभावादिति चेत्, सम्यग्दर्शनमपि तादृशान्मिथ्या-ज्ञानादुपजातं कथं मिथ्या प्रसज्यते, तत्कारणस्य दर्शनमोहोदयस्याभावात्।

देखिये, मिथ्याज्ञान दो प्रकारके हैं। एक उत्तरक्षणमें मिथ्यात्वको पैदा करनेवाले और दूसरे उत्तरक्षणोंमे सम्यग्ज्ञानको पैदा करनेवाले। जो सम्यग्ज्ञानको पैदा करनेवाले हैं उन मिथ्याज्ञानोंको उपचारसे सम्यग्ज्ञानपना माना जाता है। कार्यके धर्म कारणमें आरोपित कर दिये जाते हैं। चौदहवें गुणस्थानकी अन्तिम सकर्म अवस्था भी अकर्मरूप व्यवहृत होती है। पण्डित और वकीलका मूर्ख पिता भी व्यवहारमें पण्डित और कुशल कहा जाता है। अतः सत्य-

ज्ञानके उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रखनेवाले और व्यवहारसे सत्यज्ञानरूप ऐसे मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुआ सत्यज्ञान कभी मिथ्यापनको प्राप्त नहीं हो सकता है। क्योंकि ज्ञानके मिथ्यात्वका कारण माने गये अदृष्टविशेष मिथ्याज्ञानावरण कर्मका उदय उस समय नहीं है। सम्यग्ज्ञानके पूर्व समयमें सम्यग्ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम है और उसके पहिले समयमें मिथ्याज्ञानावरणका क्षयोपशम है। क्षयोपशम ज्ञानका कारण है। अतः मध्यकी अवस्थामें वस्तुतः तो मिथ्याज्ञान है। किंतु वह सम्यग्ज्ञान सरीखा है। इस कारण सम्यग्ज्ञानको एकांत रूपसे मिथ्याज्ञानपूर्वक कहना जैनोंको उचित नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम जैन कहते हैं कि उपचारसे सम्यग्ज्ञान रूप उस मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुये सम्यग्दर्शनको भी मिथ्यापनका प्रसङ्ग कैसे हो जावेगा? बताओ। अर्थात् सम्यग्दर्शनको भी मिथ्यादर्शनपनेका प्रसंग नहीं है, क्योंकि दर्शनमें उस मिथ्यापनेका कारण दर्शनमोहनीय कर्मका उदय है। सो सम्यग्दर्शनके उत्पन्न हो जानेपर रहता नहीं है।

सत्यज्ञानं मिथ्याज्ञानानन्तरं न भवति तस्य धर्मविशेषानन्तरभावित्वादिति चेत्, सम्यग्दर्शनमपि न मिथ्याज्ञानानन्तरभावि तस्याधर्मविशेषाभावानन्तरभावित्वोपगमात्।

सम्यग्ज्ञान तो मिथ्याज्ञानके अनंतर होता ही नहीं है, किंतु वह सम्यग्ज्ञान तो ज्ञानावरणका विशिष्ट क्षयोपशमरूप धर्मको कारण मानकर उत्पन्न होता हुआ स्वीकार किया गया है। यदि ऐसा कहोगे तो हम भी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन गुण भी मिथ्याज्ञानके अनंतर कालमें नहीं होता है। किंतु वह सम्यग्दर्शन तो मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और अनंतानुबंधीरूप विशेष पापोंका उदय न होना रूप अभावको कारण मानकर उत्पन्न हुआ माना है। वस्तुतः विचारा जावे तो सम्यग्दर्शन पर्यायका उपादान कारणरूप पूर्वपर्याय मिथ्यादर्शन ही है और मिथ्याज्ञानका उपादानकारण रूप पूर्वपरिणाम मिथ्याज्ञान है। इसमें भय और लज्जाकी कौनसी बात है? शीत तैलसे उष्ण और चमकती हुयी दीपकलिका बन जाती है तथा दीपकलिकासे ठण्डा और काला काजल बन जाता है। उत्तरपर्यायका उपादान कारण गुण होता है। उस गुणके पूर्व समयवर्ती पर्यायोंमें मिथ्यापन लगा हुआ है। यह मिथ्यापन उत्तर पर्यायोंके उत्पन्न होनेमें प्रयोजक नहीं है। उष्ण कलिकासे ठण्डा काजल होजाता है। यहां उष्णता पर्याय शीतमें कारण नहीं है। कारण तो स्पर्श गुण है। हम क्या करें? उस समय स्पर्श गुणका उष्ण परिणाम था। मूर्खसे पण्डित हो जाता है। यहां पण्डिताईका कारण मूर्खता नहीं है। किंतु चेतनागुण है। उसका पूर्वमें कुज्ञान या अज्ञान परिणाम है। विशिष्ट क्षयोपशम होनेसे वही चेतना गुण पण्डिताई रूप परिणत हो जाता है। तैल भले ही सोनेके पात्रमें हो या मिट्टीके पात्रमें, कलिकाका केवल तैलके साथ उपादान उपादेय भाव है।

मिथ्याज्ञानानन्तरभावित्वाभावे च सत्यज्ञानस्य सत्यज्ञानानन्तरभावित्वं सत्यासत्यज्ञानपूर्वकत्वं वा स्यात्? प्रथमकल्पनायां सत्यज्ञानस्यानादित्वप्रसंगो मिथ्याज्ञानसन्ता-

नस्य चानन्तत्वप्रसक्तिरिति प्रतीतिविरुद्धं सत्येतरज्ञानपौर्वापर्यदर्शननिराकरणमायातम् । द्वितीयकल्पनायां तु सत्यज्ञानोत्पत्तेः पूर्वं सकलज्ञानशून्यस्यात्मनोनात्मत्वानुषङ्गो दुर्निवारस्तस्योपयोगलक्षणत्वेन साधनात् । स चानुपपन्न एवात्मनः प्रसिद्धेरिति मिथ्याज्ञानपूर्वकमपि सत्यज्ञानं किंचिदभ्युपेयम् । तद्वत्सम्यग्दर्शनमपि इत्यनुपालम्भः ।

जो प्रतिवादी सत्यज्ञानको मिथ्याज्ञानके अव्यवहित उत्तर कालमें उत्पन्न होता हुआ नहीं मानेंगे, उनसे हम जैन पूंछते हैं कि सबसे पहिले उत्पन्न हुए सत्यज्ञानको सत्यज्ञानके पश्चात् होता हुआ मानेंगे या सत्यज्ञान और असत्य ज्ञानसे रहित केवल आत्मा ही सत्यज्ञानको उत्पन्न करदेगा, स्वीकार करेंगे ? बताओ । यदि पहिले पक्षकी कल्पना करोगे, तब तो सत्यज्ञानको अनादिपनका प्रसंग आता है । क्योंकि पहिला सत्यज्ञान उसके पहिलेके सत्यज्ञानसे उत्पन्न होगा और वह भी उससे भी पहिलेके सत्यज्ञानसे होगा, इस तरह मिथ्यादृष्टि जीवोंके भी अनादि कालसे सम्यग्ज्ञानके होनेका प्रसंग आता है । तथा दूसरा दोष यह भी होगा कि मिथ्याज्ञानकी सन्तानरूप धाराको अनन्तपनेका प्रसंग हो जावेगा । क्योंकि जैसे सत्यज्ञान ही भविष्यमें सत्यज्ञानको पैदा करते हैं, वैसे ही मिथ्याज्ञान भी भविष्यमें मिथ्याज्ञानको ही पैदा कर सकेंगे । मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञानको उत्पन्न तो कर नहीं सकेगा । अतः कोई भी मिथ्यादृष्टिजीव अनन्त कालतक सम्यग्ज्ञानी नहीं बन सकेगा, इस प्रकार सत्यज्ञान और मिथ्याज्ञानके पूर्व उत्तर कालमें रहना रूप कार्यकारण भावको माननेवाले नैयायिक, जैन आदिके दर्शनोंका खण्डन होना प्राप्त होता है, जो कि प्रमाणसिद्ध प्रतीतियोंसे विरुद्ध है ।

यदि दूसरा पक्ष लोगे यानी सबसे पहिला सम्यग्ज्ञान आत्मामें सत्य और मिथ्या किसी भी ज्ञानसे उत्पन्न नहीं हुआ है, इस कल्पनामें तो सत्यज्ञानकी उत्पत्तिके पहिले संपूर्ण ज्ञानोंसे रहित माने गये आत्माको जडपनेका प्रसंग आता है । जिसको कि आप अत्यंत कष्टसे दूर कर सकेंगे, जब कि उस आत्माका ज्ञान और दर्शनोपयोग स्वरूपसे साधन हो चुका है । अतः ज्ञानोंसे रहित आत्माका वह मानना असिद्ध ही है । क्योंकि सर्वदा किसी न किसी ज्ञानसे युक्त होरहे आत्माकी प्रसिद्धि होरही है । इस कारण सभी प्रतिवादियोंको इसी उपायका अवलम्ब करना पडेगा कि मिथ्यादृष्टि जीवके सबसे पहिले उत्पन्न हुआ कोई कोई सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञानपूर्वक भी है । उसी सत्यज्ञानके समान पहिला सम्यग्दर्शन भी मिथ्याज्ञानपूर्वक होजाता है । इस प्रकार जैनोंके ऊपर कोई भी उलाहना नहीं है ।

क्षायोपशमिकस्य क्षायिकस्य च दर्शनस्य सत्यज्ञानपूर्वकत्वात्सत्यज्ञानं दर्शनादभ्यर्हितमिति च न चोद्यम्, प्रथमसम्यग्दर्शनस्यौपशमिकस्य सत्यज्ञानाभावेऽपि भावात् । नैवं किंचित्सम्यग्वेदनं सम्यग्दर्शनाभावे भवति । प्रथमं भवत्येवेति चेत् न तस्यापि सम्यग्दर्शनसहचारित्वात् ।

किसीका कटाक्ष है कि उपशम सम्यक्त्वके अनन्तर चार अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्वके उपशम होनेपर और सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय होनेपर उत्पन्न हुए क्षयोपशम सम्यक्त्वको और क्षयोपशमके ही अनन्तर होनेवाले क्षायिक सम्यक्त्वको सत्यज्ञानपूर्वकपना ही आप जैनोंने इष्ट किया है। अतः सम्यग्दर्शनसे सत्यज्ञान पूज्य है। क्योंकि सम्यक्त्वका कारण सम्यग्ज्ञान है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकारका कुचोद्य करना ठीक नहीं है। क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टी जीवके करणलब्धिके उत्पन्न होजाने पर उत्पन्न हुए अनन्तानुबन्धी चार और मिथ्यात्व इन पांच प्रकृतियोंका अप्रशस्त प्रशस्त उपशम होनेपर पहिला औपशमिक सम्यक्त्व तो सत्यज्ञानके विना भी उत्पन्न हो जाता है तथा सादि मिथ्यादृष्टिके प्रथमगुणस्थानसे भी सीधा क्षयोपशम सम्यक्त्व हो जाता है। अतः कोई कोई सम्यग्दर्शन तो सत्यज्ञानके पूर्वमें रहे विना भी हो गया। किन्तु इस प्रकार कोई भी सम्यग्ज्ञान ऐसा नहीं है जो कि सम्यग्दर्शनके पूर्ववर्ती रहे विना उत्पन्न हो जावे। यदि आप यों कहें कि पहिला सम्यग्ज्ञान तो सम्यग्दर्शनके पूर्वमें रहे विना ही हो गया है, यह तो ठीक नहीं हैं। क्योंकि पहिले सम्यग्ज्ञानके पूर्वमें सम्यग्दर्शन न सही, किन्तु उसके समान कालमें साथ रहनेवाला सम्यग्दर्शन है ही। यों वह ज्ञान भी सम्यग्दर्शनका सहचारी है।

तर्हि प्रथममपि सम्यग्दर्शनं न सम्यग्ज्ञानाभावेऽस्ति तस्य सत्यज्ञानसहचारित्वादिति न सत्यज्ञानपूर्वकत्वमव्याप्ति दर्शनस्य, सत्यज्ञानस्य दर्शनपूर्वकत्ववत्, ततः प्रकृतं चोद्यमेवेति चेन्न प्रकृष्टदर्शनज्ञानापेक्षया दर्शनस्याभ्यर्हितत्ववचनादुक्तोत्तरत्वात्। न हि क्षायिकं दर्शनं केवलज्ञानपूर्वकं येन तत्कृताभ्यर्हितं स्यात्। अनन्तभवप्रहाणहेतुत्वाद्वा सद्दर्शनस्याभ्यर्हः।

शंकाकारका कटाक्ष करना फिर जम गया कि तब तो पहिला सम्यग्दर्शन भी सम्यग्ज्ञानके बिना नहीं होता है। वह प्रथमोपशमसम्यक्त्व भी सत्यज्ञानका सहचारी है अर्थात् दोनों एक समयमें होते हुए साथ रहते हैं। इस प्रकार आप जैनोंने पूर्वमें यह क्यों कहा था कि कोई कोई सम्यग्दर्शन सत्यज्ञानके बिना भी रह जाता है। किंतु कोई भी सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनके विना नहीं होता है। हम शंकाकार कहते हैं कि साथ रहनेसे ही यदि उसके पूर्वकपना बन जावे, तब तो दर्शनको भी सम्यग्ज्ञानपूर्वकपना बन जावेगा। अतः सत्यज्ञानपूर्वकपना यदि सम्यग्दर्शनका लक्षण कर दिया जावे तो आप जैनोंके कथनानुसार कोई अव्याप्ति दोष नहीं है। जैसे सम्यग्ज्ञानको आप दर्शनपूर्वकपना मानते हैं और उसी कारण दर्शनको ज्ञानसे पूज्य मानते हैं वैसे ही सत्यज्ञान भी सहचारी होनेसे सम्यग्दर्शनके पूर्वमें रहता है। अतः ज्ञान भी पूज्य हो जाओ, हमको आपके उत्तरसे संतोष नहीं है। तिस कारण प्रकरणमें चलाया गया हमारा कटाक्ष तदवस्थ ही रहा। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार चोद्य करना ठीक नहीं। क्योंकि पूर्ण उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी अपेक्षासे कारणताका विचार कर दर्शनको पूज्यपना हमने कहा है और आपकी शंकाका सिद्धांत उत्तर हम पहिले भी संक्षेपमें यही कह चुके हैं। केवलज्ञानके प्रथम

क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न हो चुका है, किंतु क्षायिकसम्यक्त्व केवलज्ञानपूर्वक नहीं है, जिससे कि उस पूर्णदर्शनकी अपेक्षासे किया गया पूर्णज्ञान पूज्य समझा जावे। और दूसरा समाधान यहां यह समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शन ही इस जीवके भविष्य अनंत भवोंके मूलसहित नाशका कारण है। एक बार सम्यग्दर्शनके हो जानेपर अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गल परिवर्तन कालमें अवश्य ही मोक्ष हो जाती है। अनंतानंत भवोंमें परिभ्रमण करनेकी अपेक्षा थोडेसे अनंत असंख्यात संख्यात भवोंमें परावर्तन कर मोक्षमें विराजमान कर देनेका श्रेय सम्यग्दर्शन गुणके ही माथेपर लगा हुआ है। इस सम्यग्दर्शनके बलपर और अनेक गुण भी आत्मामें व्यक्त हो जाते हैं। इस कारण सम्यग्दर्शन ही पूज्य है।

विशिष्टज्ञानतः पूर्वभावाच्चास्यास्तु पूर्ववाक्।
तथैव ज्ञानशब्दस्य चारित्रात्प्राक् प्रवर्तनम् ॥ ३५ ॥

ज्ञानावरण कर्मके क्षय होजानेपर उत्पन्न हुए विलक्षण चमत्कारक क्षायिक ज्ञानसे पूर्वमें रहनेकी अपेक्षासे इस सम्यग्दर्शनका सूत्रमें पहिले बोलना उचित है। तैसे ही आनुषंगिक दोषोंसे भी रहित होरहे परिपूर्ण चारित्रसे ज्ञान शब्दका भी आदि सूत्रमें पहिले प्रयोग करनेमें प्रवर्तना समझलो।

यद्यत्कालतया व्यवस्थितं तत्तथैव प्रयोक्तव्यमार्षान्न्यायादिति क्षायिकज्ञानात्पूर्वकालतयावास्थितं दर्शनं पूर्वमुच्यते, चारित्राच्च समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानलक्षणात् सकलकर्मक्षयनिबन्धनात्ससामग्रीकात् प्राक्कालतयोद्भवत् सम्यग्ज्ञानं ततः पूर्वमिति निरवद्यो दर्शनादिप्रयोगक्रमः।

जो जिस कालमें होता हुआ प्रामाणिक व्यवस्थासे सिद्ध होरहा है, उसका उत्पत्तिके क्रमानुसार वैसे ही प्रयोग करना चाहिये। ऋषियोंके सम्प्रदायसे ऐसा करना ही न्यायमार्ग है। इस कारण क्षायिक केवलज्ञानसे पूर्वकालमें रहनेवाला सम्यग्दर्शन सिद्ध हो चुका है। अतः सूत्रमें दर्शन शब्द पहिले कहा जाता है और चारित्रसे पहिले ज्ञान शब्दका प्रयोग किया है। यद्यपि चारित्र मोहनीय कर्मका क्षय होजानेसे बारहवें गुणस्थानके आदि में ही क्षायिकचारित्र होगया है। किंतु अघातिया कर्मोंके निमित्तसे चारित्रमें आनुषंगिक दोष आरहे हैं। केवलज्ञानमें अघातिया कर्मोंके सन्निधानसे कोई दोष नहीं आते हैं। वह तेरहवेंके आदि में ही अक्षुण्ण परिपूर्ण है। मन, वचन, कायके योगोंकी क्रियाके सर्वथा नष्ट हो जानेपर पीछे उत्पन्न हुआ आत्मनिष्ठारूप चौथे शुक्लध्यानस्वरूप और सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयका कारण तथा केवलिसमुद्घातके द्वारा तीन अघातिया कर्मोंकी आयुःके बराबर अन्तर्मुहूर्त स्थिति कर चुकना आदि सामग्रीसे युक्त होरहे ऐसे चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमें होनेवाले परिपूर्ण चारित्रसे बहुत काल पहिले उत्पन्न हो चुका परिपूर्ण सम्यग्ज्ञान

उस चारित्रसे पहिले कहा जावेगा। इस प्रकार सूत्रमें परिपूर्णताकी अपेक्षासे उत्पन्न हुए दर्शन, ज्ञान और चारित्रके प्रयोग करनेका क्रम सर्वथा दोषोंसे रहित है।

प्रत्येकं सम्यगित्येतत्पदं परिसमाप्यते।
दर्शनादिषु निःशेषविपर्यासनिवृत्तये ॥ ३६ ॥

द्वंद्व समासके आदिमें या अन्तमें अन्य कर्मधारय या बहुव्रीहि तथा तत्पुरुष समासोंके द्वारा मिलाये गये पदोंका द्वन्द्वघटित सर्व ही पदोंके साथ अन्वय हो जाता है। इस सूत्रमें भी दर्शन, ज्ञान और चारित्रका द्वन्द्व समास कर पुनः सम्यक् शब्दके साथ य स (कर्मधारय समास) किया गया है। अतः सम्यग् इस पदको प्रत्येक दर्शन ज्ञान और चारित्र पदोंमें परिपूर्ण रूपसे जोडदेना चाहिये। जिस सम्यक्पद लगानेका यह प्रयोजन है कि उससे संपूर्ण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्रकी निवृत्ति हो जावे। अतः अतिव्याप्ति दोषको दूर करनेके लिये सम्यक्पद अखण्ड रूपसे तीनोंमें अन्वित करदिया जाता है।

सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति प्रत्येकपरिसमाप्त्या सम्यगिति पदं सम्बंध्यते, प्रत्येकं दर्शनादिषु निःशेषविपर्यासनिवृत्त्यर्थत्वात्तस्य। तत्र दर्शने विपर्यासमौढ्यादयो मिथ्यात्वभेदाः शंकादयश्चातीचारा वक्ष्यमाणाः, संज्ञाने संशयादयः, सच्चारित्रे मायादयः, प्रतिचारित्रविशेषमतीचाराश्च यथासम्भविनः प्रत्येयाः, तेषु सत्सु दर्शनादीनां सम्यक्त्वानुपपत्तेः।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इस प्रकार प्रत्येक रत्नमें परिपूर्णरूपसे समाप्तिकर सम्यक् यह पद जोड दिया जाता है। उसका प्रयोजन यह है कि प्रत्येक दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें सम्पूर्ण विपरीतताओंकी निवृत्ति हो जावे अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों रत्न न बन जावें। उन तीनोंमें विपरीतपना इस प्रकार है। प्रथम दर्शनमें तो विपरीतपना यों है कि कुदेव आदिमें देव गुरुपनेकी मूढता करना। ज्ञान, कुल, पूजा आदिका गर्व करना, और एकांत, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान ये पांच प्रकार मिथ्याध्यवसाय करना तथा आगे सातमें अध्यायमें कहे जाने वाले शंका, काङ्क्षा आदि अतीचार ये सब दर्शनके दोष हैं और मिथ्या हैं। अतः सम्यग्दर्शनके सम्यक्पदसे इनका वारण हो जाता है। तथा सम्यग्ज्ञानमें समीचीन पदके लगानेसे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय या विभंग और कुमति, कुश्रुत रूप प्रमाणाभासकी व्यावृत्ति हो जाती है। एवं समीचीन चारित्रमें अनंतानुबंधीके उदयपर होनेवाले मायाचार, क्रोध, ईर्ष्या, आत्मस्वरूपमें चर्या न होना आदि विपर्यास हो सकते थे। तथा प्रत्येक देशचारित्र, सकलचारित्र, अहिंसा महाव्रत, सामायिक आदि विशेष चारित्रोंमें यथायोग्य होने

वाले अतीचार भी चारित्रके विपर्यास हैं एवं कुभेषियोंके पंचाग्नि तप, मुण्डन, जटा रखना, कान फाड लेना आदि भी मिथ्याचारित्र समझ लेने योग्य हैं। उन सबकी निवृत्ति सम्यक् पद देनेसे हो जाती है। तीन मूढता, संशय, माया आदि विपर्यासोंके होनेपर दर्शन, ज्ञान और चारित्रको समीचीनपना सिद्ध नहीं होता है।

तदेवं सकलसूत्रावयवव्याख्याने तत्समुदायव्याख्यानात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गो वेदितव्य इति व्यवतिष्ठते।

तिस कारण इस प्रकार पहिले सूत्रके सम्पूर्ण अवयवोंकी व्याख्या कर देनेपर उन अवयवोंके समुदायरूप सूत्रका भी व्याख्यान हो चुका है। अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन गुणोंकी एकता हो जाना ही मोक्षका मार्ग समझ लेना चाहिये। यहांतक उक्त सिद्धांत व्यवस्थित हो जाता है।

तत्र किमयं सामान्यतो मोक्षस्य मार्गस्त्रयात्मकः सूत्रकारमतमारूढः किं वा विशेषत? इति शंकायामिदमाह।

उक्त सिद्धांत तो हमने मान लिया। किंतु उस सूत्रके प्रकरणमें हमको यह पूंछना है कि यह मोक्षका रत्नत्रयस्वरूप मार्ग सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजके मतमें व्यवस्थित है सो क्या सामान्यरूपसे है अथवा क्या विशेषरूपसे रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है? बताओ। इस प्रकार शंका होनेपर श्री विद्यानंद स्वामी यह वक्ष्यमाण उत्तर कहते हैं।

तत्सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षमार्गो विशेषतः।
सूत्रकारमतारूढो न तु सामान्यतः स्थितः ॥ ३७ ॥
कालादेरपि तद्धेतुसामान्यस्याविरोधतः।
सर्वकार्यजनौ तस्य व्यापारादन्यथास्थितेः ॥ ३८ ॥

वे सम्यग्दर्शन आदि समुदित तीनों गुण तो विशेषरूपसे मोक्षमार्ग हैं। यही सिद्धांत सूत्रकारके मंतव्यमें आरूढ हो रहा है। किंतु सामान्यकारणोंकी दृष्टिसे रत्नत्रयको मोक्षका मार्ग नहीं कहा गया है, यह बात सिद्ध हो चुकी है। यदि सामान्य कारणोंका निरूपण किया जाना इष्ट होता तब तो काल, आकाश आदिको भी उस मोक्षके सामान्यरूपसे मार्गपनेका विरोध नहीं है। जगतके सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्ति होनेमें सामान्यकारण माने गये उन काल आदिका व्यापार होता है, यों निरूपण किये विना भी सामान्य कारणोंकी दूसरे प्रकारसे भी व्यवस्था हो सकती थी। अतः विशेषरूपकर कथन करनेसे प्रतीत होता है कि रत्नत्रय विशेषरूपसे ही मोक्षका मार्ग है। काल आका-

शके अतिरिक्त मनुष्यजन्म, वज्रवृषभनाराच संहनन, ढाई द्वीपक्षेत्र, दीक्षा लेना आदि कारण भी मोक्षके सामान्य कारणोंमें गर्भित हैं। भावार्थ—विशेष रूपसे रत्नत्रय ही मोक्षका मार्ग है यही सूत्रकारकी विवक्षा है।

साधारणकारणापेक्षया हि सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकं मोक्षमार्गमाचक्षाणो न सकलमोक्षकारणसंग्रहपरः स्यात्, कालादीनामवचनात्, न च कालादयो मोक्षस्योत्पत्तौ न व्याप्रियन्ते सर्वकार्यजनने तेषां व्यापारात्। तत्र व्यापारे विरोधाभावात्। यदि पुनः सम्यग्दर्शनादीन्येवेत्यवधारणाभावान्न कालादीनामसंग्रहस्तदा सम्यग्दर्शनं मोक्षमार्ग इति वक्तव्यम्। सम्यग्दर्शनमेवेत्यवधारणाभावादेव ज्ञानादीनां कालादीनां कालादीनामिव संग्रहसिद्धेस्तत्तद्वचनाद्विशेषकारणापेक्षयायं त्रयात्मको मोक्षमार्गः सूत्रित इति बुद्ध्यामहे।

मोक्षके साधारण कारणोंकी अपेक्षा ही रत्नत्रय स्वरूपको मोक्षमार्ग कथन करनेवाला सूत्र सम्पूर्ण मोक्ष कारणोंके संग्रहमें तत्पर नहीं कहा जावेगा। क्योंकि काल, आकाश आदिक भी तो मोक्षके साधारण कारण हैं। उन कारणोंका सूत्रमें कथन नहीं किया गया है। यदि यहां कोई यह कह बैठे कि काल आदिक तो मोक्षकी उत्पत्तिमें कुछ भी व्यापार नहीं करते हैं। अतः मोक्षके सामान्य कारणको निरूपण करनेवाले सूत्रमें काल आदिकका कथन नहीं किया है। आचार्य कहते हैं कि किसीका यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उन व्यवहार काल, आकाश, कालपरमाणु, आदिका सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्तिमें व्यापार हो रहा है। अतः उस मोक्षरूप कार्यकी उत्पत्तिमें भी काल आदिकके व्यापार होनेमें कोई विरोध नहीं है। यदि शंकाकार पुनः यह कहे कि काल आदिकोंका भी असंग्रह न होगा। क्योंकि सूत्रकारने सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्षके मार्ग हैं, ऐसा नियम तो किया नहीं है। अतः काल, आकाश आदिका भी संग्रह हो जाता है। इसपर हम जैन कहते हैं कि तब तो मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन है, इतना ही कह देना चाहिये। सम्यग्दर्शन ही मार्ग है, ऐसा नियम तो किया ही नहीं है। इस ही कारणसे काल आदिकोंके समान ज्ञान, चारित्रका भी संग्रह होना सिद्ध हो जावेगा। किन्तु सम्यग्दर्शन मोक्षका मार्ग है, ऐसा संक्षिप्त कथन नहीं किया है। तिस कारण हम यों समझते हैं कि उन विशेषकारणोंकी अपेक्षासे ही यह रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग है, ऐसा सूत्रकारने आदि सूत्रमें सूचित किया है। जो बात युक्तिसे सिद्ध हो जावे। वह शंकाकारको भी हृदयंगत करलेना चाहिये।

पूर्वावधारणं तेन कार्यं नान्यावधारणम्।
यथैव तानि मोक्षस्य मार्गस्तद्वद्धि संपदः॥ ३९॥

उद्देश्य और विधेयदलमें कहीं कहीं दोनों ओरसे अवधारण होजाता है। जैसे सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है और सम्यग्ज्ञान प्रमाण ही है। देव तथा नारकियोंके ही उपपाद जन्म होता है। देव नार-

कियोंके उपपाद ही जन्म होता है। और कहीं कहीं कहीं पहिला ही अवधारण हो सकता है। जैसे मनुष्य भवसे ही मोक्ष होती है। यहां मनुष्य भवसे मोक्ष हो ही जाती है, ऐसा विधेय दलमें अवधारण नहीं होता है और कहीं कहीं विधेयदलमें ही अवधारण होता है। जैसे रूपवान् पुद्गल ही है। यहां पुद्गल रूपवान् ही है। ऐसा नियम नहीं कर सकते हैं। क्योंकि रस, गन्ध आदि गुण भी वहां विद्यमान हैं। कहीं दोनों भी दलोंमें अवधारण नहीं होता है। जैसा नीला कम्बल है। राजा धर्मात्मा है। यहां नीला ही कम्बल होता है या नीला कम्बल ही होता है, ऐसा नियम नहीं हो सकता है। क्योंकि कम्बल लाल शुक्ल भी होता है तथा कमल या नीलमणि, जामुन आदि पदार्थ भी नीले होते हैं। कोई कोई राजा पापी भी होते हैं तथा राजाओंसे अतिरिक्त पंडित सेठ लोग भी धर्मात्मा होते हैं। अतः यहां उद्देश्य और विधेयमें एवकार नहीं लगता है। एवकारके तीन भेद माने गये हैं। अन्ययोगव्यवच्छेद, अयोगव्यवच्छेद और अत्यन्तायोगव्यवच्छेद। प्रथम अन्ययोग व्यवच्छेद विशेष्यके साथ एवकार लगानेसे हो जाता है। जैसे अर्जुन ही धनुर्धारी है। यहां अर्जुनसे अतिरिक्त व्यक्तियोंमें धनुषधारीपनकी. व्यावृत्ति हो जाती है। दूसरा एवकार अर्जुन धनुर्धारी ही है अर्थात् अर्जुन तलवार, चक्र आदि शस्त्रोंको धारण नहीं करता है। यह अयोगव्यवच्छेद विशेषणके साथ एवकार लगनेसे अन्य धर्मोंकी व्यावृत्ति कर देता है। तीसरा क्रियाके साथ एवकार लग जानेसे नीला कमल होता ही है। अर्जुन धनुषधारी है ही, यहां अत्यन्तायोगव्यवच्छेद है। प्रकरणमें यह विचार है कि प्रथम सूत्रके उद्देश्य विधेयदलमें एवकार कहां लगाना चाहिये। यहां आचार्यमहाराजका सिद्धांत है कि तिस कारण पहिले उद्देश्यदलमें अवधारण करना चाहिये अर्थात् रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। अन्य अकेला दर्शन या मुनि–दीक्षा आदि विशेषरूपसे मोक्षमार्ग नहीं है, दूसरे विधेय दलमें अवधारण नहीं करना चाहिये। यदि विधेय दलमें अवधारण किया जावेगा तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये मोक्ष-मार्ग ही हैं। इस नियमसे लौकिक सम्पत्ति, स्वर्ग आदिकी समृद्धिके वे कारण न हो सकेंगे। किंतु जैसे ही वे मोक्षके मार्ग हैं, वैसे ही स्वर्ग, भोगभूमि, पञ्चविजयादिककी विभूतिके भी कारण हैं। अतः पहिला ही अवधारण करना ठीक है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्ग इत्यवधारणं हि कार्यमसाधारणकारणनिर्देशादेवान्यथा तदघटनात्, तानि मोक्षमार्ग एवेति तु नावधारणं कर्तव्यं। तेषां स्वर्गाद्यभ्युदयमार्गत्वविरोधात्, न च तान्यभ्युदयमार्गो नेति शक्यं वक्तुं, सद्दर्शनादेः स्वर्गादिप्राप्तिश्रवणात्। प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तानि तानि नाभ्युदयमार्ग इति चेत्, सिद्धं तदपकृष्टानां तेषामभ्युदयमार्गत्वम्, इति नोत्तरावधारणं न्याय्यं व्यवहारात्। निश्चयनयात्तूभयावधारणमपीष्टमेव, अनंतरसमयनिर्वाणजननसमर्थानामेव सद्दर्शनादीनां मोक्षमार्गत्वोपपत्तेः परेषामनुकूलमार्गताव्यवस्थानात्।

मोक्षके असाधारण कारणका सूत्रमें निरूपण किया है। इस ही कारणसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है इस प्रकार पहिला ही एवकाररूप अवधारण करना चाहिये। अन्यथा यानी पहिला अवधारण किये विना रत्नत्रयमें वह विशेष कारणपना नहीं घटेगा। जैसे उपयोग जीवका असाधारण लक्षण है, यहां उपयोग ही जीवका लक्षण है, इस प्रकार पहिला अवधारण करनेसे तो लक्षणमें असाधारणपना प्रतीत होता है। दूसरे प्रकारसे नहीं। वे तीनों मोक्षमार्ग ही हैं। इस प्रकार दूसरा अवधारण तो नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेपर तो उनको स्वर्ग भोगभूमि, आदिके लौकिक सुखोंके मार्गपनेका विरोध हो जावेगा। भावार्थ—स्वर्ग, ग्रैवेयक आदि तो अपरिपूर्ण रत्नत्रयोंसे प्राप्त हो जाते हैं। यहां कोई प्रतिवादी इस प्रकार नहीं कह सकता है कि वे रत्नत्रय स्वर्ग–लक्ष्मी या सर्वार्थसिद्धि विमान प्राप्तिके मार्ग नहीं हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन आदिसे स्वर्ग, नव अनुदिश आदिकी–प्राप्ति होना शास्त्रोंमें सुना गया है। जिन्होंने सम्यग्दर्शन होनेके प्रथम मनुष्यायु या तिर्यगायुको बांधलिया है, वे जीव भी सम्यग्दर्शनके प्रतापसे भोगभूमियोंमें मनुष्य और तिर्यञ्च होकर अनेक प्रकारके सुखोंको भोगते हैं। और जिन जीवोंके देवायुके अतिरिक्त शेष तीन आयुओंका बन्ध नहीं हुआ है या किसी भी आयुका बन्ध नहीं हुआ है, वे देशव्रत और महाव्रतोंको धारणकर कल्पवासी देव या ग्रैवेयक आदिकोंमें अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुए प्रथमानुयोगमें सुने जाते हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड और तत्त्वार्थशास्त्र भी इसी सिद्धान्तको प्रतिपादन करते हैं। यदि यहां फिर कोई यह कहे कि तीनों रत्न जिस समय अपनी परिपूर्ण उत्कर्ष अवस्थाको प्राप्त हो जावेंगे, तब तो वे स्वर्गके मार्ग नहीं हैं, किन्तु मोक्षके ही मार्ग हैं। अतः दूसरा विधेय दलके साथ अवधारण करना भी बन सकता है। तब ऐसा कहनेपर तो अर्थापत्तिसे सिद्ध हो गया कि जबतक वे परिपूर्ण अवस्थाको प्राप्त नहीं हैं, जघन्य या मध्यम विशुद्धिको लिये हुए निम्न श्रेणीके हैं, तब तो उनको स्वर्ग, अनुदिश आदिका मार्गपना प्रसिद्ध है। इस कारण उत्तरवर्ती दूसरा अवधारण करना न्यायसे उचित नहीं है। यह कथन व्यवहार नयकी अपेक्षासे है। हां, निश्चयनयकी अपेक्षासे तो दोनों ओरसे एवकार लगाना हमको अभीष्ट ही है। परिपूर्ण रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। रत्नत्रय मोक्षमार्ग ही है। स्वर्ग आदिकका कारण नहीं है। चौदहवें गुणस्थानके अन्त्य समयमें परमावगाढ सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान और आनुषंगिक दोषोंसे रहित व्युपरतक्रियानिवृत्ति–ध्यानरूप चारित्र इन तीन अवयववाले सम्यग्दर्शन आदि त्रयको मोक्षमार्गपना सिद्ध है। चौदहवेंके अंतसमयवर्ती रत्नत्रयको अव्यवहित उत्तरवर्ती कालमें मोक्ष उत्पन्न करानेकी शक्ति है ही। अतः दोनों ओरसे एवकार लगजाता है। हां, दूसरे अपरिपूर्ण रत्नत्रय तो मोक्षको न उत्पन्न कर स्वर्ग आदिकके मार्ग हैं। वे अनुकूल कारण हैं। समर्थ कारण नहीं है। जैसे कि चाकको घुमानेवाले कुम्हारके हाथमें लगे हुए दण्डको घटकार्यके प्रति फलोपधानरूप समर्थ

कारणता है और वृक्षोंकी लकडी या कौनेमें धरे दण्डको केवल स्वरूपयोग्यतारूप अनुकूल कारणता है, वैसे ही अपूर्ण रत्नत्रय मोक्षमार्गके प्रतिकूल नहीं है। सहायक है।

एतेन मोक्षस्यैव मार्गो मोक्षस्य मार्ग एवेत्युभयावधारणमिष्टं प्रत्यायनीयम्।

इस पहिले कथनसे इस सिद्धान्तका भी निश्चय करलेना चाहिये कि विधेय दलमें पडे हुए मोक्षमार्गके पेटमें भी हम दोनों ओरसे अवधारण करना इष्ट करते हैं। रत्नत्रय मोक्षके ही मार्ग हैं अर्थात् कुमार्ग या मोक्षके कार्य नहीं हैं।

पूर्वावधारणेऽप्यत्र तपो मोक्षस्य कारणम्।
न स्यादिति न मन्तव्यं तस्य चर्यात्मकत्वतः॥ ४० ॥

यहां किसी प्रतिवादीका यह विचार है कि व्यवहार नयकी अपेक्षासे यदि पूर्वके उद्देश्य दलमें एवकार लगाना भी इष्ट करोगे तो मोक्षका कारण तप न हो सकेगा। क्योंकि आप तीनको ही मोक्षका कारण मानते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह नहीं मानना चाहिये। क्योंकि वह तप चारित्रमें गर्भित हो जाता है। भावार्थ—तप चारित्रस्वरूप है। अतः तपके होते हुए भी तीन ही मोक्षके मार्ग हुए।

न ह्यसाधारणकारणाभिधित्सायामपि व्यवहारनयात्सम्यग्दर्शनादीन्येव मोक्षमार्ग इत्यवधारणं श्रेयस्तपसो मोक्षमार्गत्वाभावप्रसंगात्। न च तपो मोक्षस्यासाधारणकारणं न भवति, तस्यैवोत्कृष्टस्याभ्यंतरसमुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानलक्षणस्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षकारणत्वव्यवस्थितेः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि मोक्षमार्ग इति सूत्रे क्रियमाणे तु युज्येत पूर्वावधारणम्। अनुत्पन्नताद्दक्तपोविशेषस्य च सयोगकेवलिनः समुत्पन्नरत्नत्रयस्यापि धर्मदेशना न विरुध्यतेऽवस्थानस्य सिद्धेः। ततः सकलचोद्यावतारणनिवृत्तये चतुष्टयं मोक्षमार्गो वक्तव्यः। तदुक्तम्। दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधना भणितेति केचित्, तदप्यचोद्यम्। तपसश्चारित्रात्मकत्वेन व्यवस्थानात् सद्दर्शनादित्रयस्यैव मोक्षकारणत्वसिद्धेः।

उक्त शंकाकी व्याख्या करते हैं कि व्यवहार नयकी अपेक्षासे मोक्षके असाधारण कारणोंके कथनकी अभिलाषा होनेपर भी सम्यग्दर्शन आदि तीन ही मोक्षके मार्ग हैं, इस प्रकार जैनोंका नियम करना कल्याणकारी नहीं है। क्योंकि ऐसा करनेसे तपको मोक्षमार्गपनेके अभावका प्रसंग होजावेगा। जैनोंकी ओरसे संभव है कि कोई यों कह बैठे कि मोक्षका असाधारण कारण तप होता ही नहीं है। यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि आभ्यंतर तपोंमें उत्कृष्ट माने गये उस व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चौथे शुक्लध्यानरूप तपको सम्पूर्ण कर्मोंके सर्वथा मोक्ष होजानेका कारणपना व्यव-

स्थित है। अर्थात् भविष्यमें कर्म न आसके और वर्तमानमें थोडे भी कर्मपरमाणु न विद्यमान रहें, ऐसा मोक्ष चौदहवे गुणस्थानके अंतसमयवर्ती तपसे होता है। संवर और निर्जराके कारणोंमें तप प्रधान है। अंतरङ्ग और बहिरङ्ग तपोंमें अंतरंग तपप्रधान है। छह प्रकारके अंतरंग तपोंमें ध्यान प्रधान है। चार ध्यानोंमें शुक्लध्यान प्रकृष्ट है और चार प्रकारके शुक्लध्यानोंमें समुच्छिन्नक्रिया प्रतिपाती नामक चौथा शुक्लध्यान सर्वोत्कृष्ट है। अतः मोक्षके असाधारण कारणोंमें तपको अवश्य स्थान देना चाहिये।

यदि जैन लोग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप ये चार मोक्षके मार्ग हैं, इस प्रकार सूत्र बनावें तब तो पहिले उद्देश्य दलमें नियम कर देना युक्त हो सकता है। अन्य प्रकार नहीं। सूत्रमें चौथे तपको लगा देनेसे दूसरा लाभ यह भी है कि जबतक सयोगकेवली भगवान्‌के उस प्रकारका चौथा शुक्ल ध्यानरूप विशेषतप उत्पन्न नहीं हुआ है और भले ही तीनों रत्न सम्पूर्ण रूपसे उत्पन्न भी हो चुके हैं, उन भगवान्‌के धर्मका उपदेश देना भी बन जाता है, कोई विरोध नहीं है। क्योंकि आयुःकर्मके अधीन होकर उनका शरीरको धारण करते हुए संसारमें ठहरे रहना सिद्ध हो चुका है। तीनों रत्नोंके पूर्ण हो जानेसे तेरहवें गुणस्थानके आदिमें ही केवली भगवान्‌की सिद्ध अवस्था न हो सकेगी। हां ! पूर्ण तपके उत्पन्न हो जानेपर वे उत्तरकालमें परम मुक्तिको प्राप्त कर लेवेंगे। तिस कारण सम्पूर्ण कुचोद्योंकी बोछार गिरनेकी निवृत्तिके लिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारोंके समुदायको मोक्षमार्ग कह देना चाहिये। उसीको श्रीकुंदकुंद आचार्यने भी कहा है कि " दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिदा " दर्शन ज्ञान चारित्र और तपकी आराधना करना श्रीगौतम गणधरने निरूपण किया है, इस प्रकार कोई शंकाकार कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि उनका वह कटाक्ष करना भी ठीक नहीं है। क्योंकि तपको चारित्रके स्वरूपमें अंतर्भूत करके व्यवस्थित कर दिया है। अतः सम्यग्दर्शन आदि तीनको ही मोक्षका कारणपन सिद्ध है। यों पूर्व अवधारण करना समुचित है।

ननु रत्नत्रयस्यैव मोक्षहेतुत्वसूचने।
किं वार्हतः क्षणादूर्ध्वं मुक्तिं सम्पादयेन्न तत् ॥ ४१ ॥

यहां पुनः शंकाकारका कहना है कि यदि रत्नत्रयको ही मोक्षके कारणपनका सूचन करने वाला पहिला सूत्र रचा जावेगा तो केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर अर्हंत देवके एक क्षणके ऊपर ही वह रत्नत्रय मोक्षको क्यों नहीं पैदा करा देता है ? उत्तर दीजिये।

प्रागेवेदं चोदितं परिहृतं च न पुनः शंकनीयमिति चेत् न, परिहारांतरोपदर्शनार्थत्वात् पुनश्चोद्यकरणस्य। तथाहि—

शंकाकार अपनी शंकाको दृढ करनेके लिये उपाय रचता है कि सम्भव है कि कोई यों कहे कि यह कुचोद्यरूप शंका करना तो पहिले ही हो चुका है और तभी उस शंकाका परिहार भी कर दिया गया है। अब फिर शंका नहीं करना चाहिये, यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि पहिले समाधानसे अतिरिक्त दूसरा शंकाका परिहाररूप समाधान आचार्य द्वारा दिखलानेके लिये पुनः सकटाक्ष शंका की जारही है। इस शंकाके समाधानको आचार्य महाराज स्पष्ट कर दिखलाते हैं।

सहकारिविशेषस्यापेक्षणीयस्य भाविनः ।
तदैवासत्त्वतो नेति स्फुटं केचित्प्रचक्षते ॥ ४२ ॥

कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान कारण और निमित्तकारणके अतिरिक्त सहकारी कारणोंकी भी अपेक्षा होती है। जैसे रोटी बनानेमें चून, पानी, रसोइयाके अतिरिक्त चकला, बेलन भी आवश्यक हैं। मोक्षके कारण रत्नत्रय यद्यपि तेरहवे गुणस्थानके आदिमें हो चुके हैं। किन्तु भविष्य कालमें चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें होनेवाला विशेष सहकारी कारण अपेक्षित हो रहा है। वह चौथा शुक्लध्यान उस समय तेरहवेंके आदिमें नहीं है। अतः तब मुक्ति नहीं हो सकती है। ऐसा स्पष्टरूपसे कोई आचार्य बढिया समाधान कर रहे हैं। यह समाधान विद्यानन्द स्वामीको भी अभीष्ट है।

कः पुनरसौ सहकारी सम्पूर्णेनापि रत्नत्रयेणापेक्ष्यते ? यदभावात्तन्मुक्तिमर्हतो न सम्पादयेत्, इति चेत्—

वह फिर कौनसा सहकारी कारण है जो कि समीचीन रूपसे पूर्ण हुए भी रत्नत्रय करके अपेक्षित हो रहा है, जिसके न होनेके कारण अर्हन्तदेव शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त नहीं कर पाते हैं अथवा वह रत्नत्रय अर्हन्तदेवको मुक्ति नहीं मिला रहा है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो इसका उत्तर सुनो!

स तु शक्तिविशेषः स्याज्जीवस्याघातिकर्मणाम् ।
नामादीनां त्रयाणां हि निर्जराकृद्धि निश्चितः ॥ ४३ ॥

नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मोंके निश्चयसे निर्जरा करनेवाली आत्माकी वह विशेष शक्ति ही सहकारी कारण निश्चितरूपसे मानी गयी है। ध्यान, समुद्घात, भावनिर्जरा, संवर और आयुःकर्मके निषेकोंका भुगाकर फल देना ये सब आत्माके विशेष परिणाम हैं।

दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणक्रियानुमेयोऽपकर्षणपरप्रकृतिसंक्रमणहेतुर्वा भगवतः स्वपरिणामविशेषः शक्तिविशेषः सोऽन्तरङ्गः सहकारी निःश्रेयसोत्पत्तौ रत्नत्रयस्य, तदभावे

नामाद्यघातिकर्मत्रयस्य निर्जरानुपपत्तेर्निःश्रेयसानुत्पत्तेः, आयुषस्तु यथाकालमनुभवादेव निर्जरा न पुनरुपक्रमात्तस्यानपवर्त्यत्वात्। तदपेक्षं क्षायिकरत्नत्रयं सयोगकेवलिनः प्रथमसमये मुक्तिं न सम्पादयत्येव, तदा तत्सहकारिणोऽसत्त्वात्।

तेरहवें गुणस्थानके अन्तिम अन्तर्मूहर्त शेष रहनेपर आयुःकर्मके बराबर तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति करनेके लिये केवली भगवान्‌के स्वभावसे ही केवलिसमुद्घात होता है और किन्हीं केवली महाराजके नहीं भी होता है। पद्मासन या खड्गासनसे पूर्वको मुख कर या उत्तर को मुखकर विराजे हुए केवलज्ञानी जिनेन्द्रदेवके शरीरके बराबर लम्बे चौडे और सात राजू ऊंचे आत्माके प्रदेशोंका फैल जाना दण्ड है और लोक पर्यन्त लम्बे शरीरमात्र चौडे और सात राजू, ऊंचे कपाटके समान फैल जाना कपाट समुद्घात है। बातवलयोंको छोडकर लोकमें आत्मप्रदेशोंका फैल जाना प्रतर है और सम्पूर्ण लोकमें आत्माका ठसाठस भर जाना लोकपूरण है। लोकपूरणकी विधिमें आत्माके मध्यके गोस्तनाकार आठ प्रदेश सुदर्शन मेरुकी जडके बीचपर आ जाते हैं। बरफीके समान चारों ओर चौकोन अनंत अलोकाकाशके ठीक बीचमें लोक है। उस लोकका बहुत ठीक मध्य भाग सुदर्शन मेरुकी जडमें विद्यमान आठ प्रदेश हैं। इस लोकाकाशके पूर्वसे पश्चिमतक और उत्तरसे दक्षिणतक तथा ऊर्ध्वदिशासे अधोदिशा तकके प्रदेश सर्वत्र सम संख्यामें हैं। दो, चार, छह, आठ, दस आदिको सम संख्या कहते हैं और एक, तीन, पांच, सात, आदिको विषम धाराकी संख्या कहते हैं। पूर्वसे पश्चिम तक विषम संख्यावाले तीन, निन्यानवे, और चाहे एक करोड एक आदि भी संख्या हों, उनका ठीक मध्य एक निकलेगा। किंतु समसंख्यावाले चार, सौ, एक कोटि आदिका मध्यभाग दो निकलेगा एवं पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण दोनों ओरसे जहां समसंख्यावाले पदार्थ हैं उनका ठीक बीच चार निकलेगा। सम संख्याका वर्गका मध्य चार होता है। किंतु जहां पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा ऊपर नीचे तीनों ओरसे समसंख्यावाले पदार्थ हैं, वहां ठीक बीच आठ होगा। आठ आठ रुपयोंकी ऊपर नीचे रख गड्डी बांधकर पूर्वसे पश्चिम तक आठ पंक्ति रख दी जावें इसी तरह उत्तरसे दक्षिण तक आठ पंक्ति बनायी जावें इस प्रकार इन पांच सौ बारह रुपयोंमें ठीक बीचके रुपये आठ होते हैं। इससे छोटी· संख्यावाला बीच नहीं निकल सकता है। क्योंकि समधाराके धनका बीच आठ होता है। आत्माके प्रदेशोंका फैलनेके समान पुनः संकोचन होता है। आठवें समयमें सयोग केवलीके आत्मप्रदेश पूर्वशरीरके आकारको धारण कर लेते हैं। इस केवलीकी समुद्घात–परिणामरूप क्रियासे आत्माके मोक्ष कारण विशेषोंका अनुमान कर लिया जाता है तथा कर्मोंकी अधिक स्थितियोंका न्यून करनारूप अपकर्षण और कर्म प्रकृतियोंको अन्य शुभप्रकृतिरूप कर देना स्वरूप संक्रमणके कारण परिणामविशेष भी आत्माके विद्यमान हैं। वे आत्माकी विशेषशक्तियां मोक्षकी उत्पत्तिमें रत्नत्रयके अंतरंग सहकारी कारण हो जाती हैं। यदि आत्माकी उन सामर्थ्योंको सहकारी कारण न माना जावेगा तो नाम, गोत्र और

वेदनीय इन तीन अघाती कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो सकती थी। तिस कारण मोक्ष भी नहीं उत्पन्न हो सकेगी। हां! अघातियोंमें आयुःकर्मकी तो अपने कालमें फल देना रूप अनुभवसे ही निर्जरा होती है। किंतु फिर तीर्थङ्कर अर्हन्त देवके आम या पनसके समान आयुःकर्मकी उपक्रम विधिसे यानी भविष्यमें आनेवाले निषेकोंको थोडे कालमें ही भोगने योग्य बनाकर आयुकी निर्जरा नहीं होती है। क्योंकि उनकी आयुःका समुद्रपात या शस्त्र आदिकसे अपवर्तन नहीं हो पाता है। सामान्य केवली, गुरुदत्त, पाण्डव आदिकी आयुःका अपवर्तन हो गया शास्त्रमें सुना है। अंतकृत्केवली अथवा समुद्र, मेरुगिरि शिखर, भोगभूमि, गंगा, आदिके ठीक ऊपर पैंतालीस लाख योजनके सिद्ध क्षेत्रमें वहां विराजमान सिद्ध भगवान्‌की पूर्वभवसंबंधी आयुःका प्रायः अपवर्तन हुआ समझना चाहिये। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें आयुःका अपकर्षण विधान तेरहवें गुणस्थानके अंत समयतक कहा है। उदीरणा छटे तक होती है। श्रुतसागर स्वामीका भी यही सिद्धांत है। उन कहे हुए आत्माके परिणामविशेषोंकी अपेक्षा रखनेवाला क्षायिक रत्नत्रय सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थानक पहिले समयमें मुक्तिको कथमपि प्राप्त नहीं करा पाता है। क्योंकि उस समय रत्नत्रयका सहकारी कारण वह आत्माकी शक्तिविशेष विद्यमान नहीं है। कारणकूट कार्यको करते हैं। सहकारियोंसे विकल होरहे कारण अव्यवहित उत्तरकालमें कार्यको उत्पन्न नहीं कर पाते हैं।

> **क्षायिकत्वान्न सापेक्षमर्हद्रत्नत्रयं यदि।**
> **किन्न क्षीणकषायस्य दृक्चारित्रे तथा मते॥ ४४॥**
> **केवलापेक्षिणी ते हि यथा तद्वच्च तत्त्रयम्।**
> **सहकारिव्यपेक्षं स्यात् क्षायिकत्वेनपेक्षिता॥ ४५॥**

कोई सकटाक्ष कह रहा है कि जो गुण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है, वह अपने कार्यके करनेमें किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता है। अर्हन्त परमेष्ठीके तेरहवें गुणस्थानकी आदिमें उत्पन्न हुआ रत्नत्रय भी दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, और ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुआ है। अतः मोक्षकी उत्पत्ति करादेनेमें वह अन्यकी अपेक्षासे सहित नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो बारहवें क्षीण कषाय गुणस्थानके आदिमें उत्पन्न हुए क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र ये दोनों हीं उसी प्रकार मोक्षके उत्पादक क्यों नहीं माने जावें। जिस प्रकार आप यहां यही कह सकते हैं कि वे दोनों दर्शन और चारित्र तीसरे केवलज्ञानकी अपेक्षा रखने-वाले होकर तीनरूप हो जावेंगे, तभी मुक्ति (जीवन्मुक्ति) को प्राप्त करा सकेंगे, तब तो क्षायिक गुणोंको भी अन्यकी अपेक्षा हुई। उसीके समान वह रत्नत्रय भी चतुर्थ शुक्लध्यानरूप सहकारी कारणकी अपेक्षा रखता हुआ ही परममुक्तिका संपादन करा सकेगा। क्षायिकगुण किसीकी अपेक्षा नहीं रखते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि अपने स्वरूपको प्राप्त करानेमें वे गुण अन्य

गुणोंकी आवश्यकता नहीं रखते हैं । केवल कर्मोंके क्षयसे वे आत्मामें अनन्तकालके लिये उत्पन्न हो जाते हैं । तभी तो सिद्ध भगवान्‌में क्षायिकभाव सर्वदा बने रहते हैं । औदयिक और क्षायोपशमिक भाव नहीं रह पाते हैं । क्योंकि इनके बननेमें कतिपय बहिरंग सहकारी कारणोंकी अपेक्षा है और क्षायिक भावोंके उत्पन्न होनेमें बहिरंग पदार्थोंके ध्वंसरूप अभावोंकी अपेक्षा तो है । किन्तु प्रधानरूपसे किसी भावात्मक गुणकी अपेक्षा नहीं है । फिर भी अतिरिक्त कार्य करनेके लिये क्षायिकगुण अन्य सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखते हैं, यह बात आई ।

न क्षायिकत्वेऽपि रत्नत्रयस्य सहकारिविशेषापेक्षणं, " क्षायिकभावानां न हानिर्नापि वृद्धिरिति प्रवचनेन बाध्यते, क्षायिकत्वे निरपेक्षत्ववचनात्, क्षायिको हि भावः सकलस्वप्रतिबंधक्षयादाविर्भूतो नात्मलाभे किञ्चिदपेक्षते " येन तदभावे तस्य हानिस्तत्प्रकर्षे च वृद्धिरिति। तत्प्रतिषेधपरं प्रवचनं कृत्स्नकर्मक्षयकरणे सहकारिविशेषापेक्षणं कथं बाधते ? ।

रत्नत्रयको अपने प्रतिबंधक कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होते हुए भी मोक्षरूप कार्यको करनेमें विशेष सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रहना इन शास्त्रके वचनोंसे बाधित नहीं होता है कि क्षायिक भावोंकी हानि नहीं होती है और वृद्धि भी नहीं होती है अर्थात् क्षायिकभाव उतनेके उतने ही रहते हैं । कमती बढती नहीं होते हैं । कोई सहकारी कारण आवेगा तो क्षायिक गुणोंके अतिशयोंको कमती बढती ही करता हुआ चला आवेगा । जो अपने स्वभावोंको लेता देता नहीं है, वह सहकारिओंसे सहकृत ही नहीं हुआ है । इस आगमका जैन सिद्धान्तके अनुकूल ही अभिप्राय है । कर्मोंके क्षयसे होनेवाले भावोंमें स्वरूपलाभकी अपेक्षासे अन्य कारणोंसे रहितपना कहा गया है । क्षायिक भाव अपने सम्पूर्ण प्रतिबन्धक कर्मोंका क्षय हो जानेसे प्रगट हो जाता है । अपना स्वरूप लाभ करनेमें वह अन्य किसी सहकारी कारणकी अपेक्षा नहीं करता है । जिससे कि उस सहकारीके अभाव हो जानेपर उस गुणकी हानि हो जावे और उस अपेक्षणीयके उत्कर्ष हो जानेपर गुणकी वृद्धि हो जावे । भावार्थ—गुणका स्वरूप बिगाडनेवाला प्रतिपक्षी कर्म था । उस कर्मके सर्वाङ्गीण क्षय होजानेपर उस क्षायिकभावका पूरा शरीर व्यक्त हो जाता है । अतः गुणके आत्मलाभ करनेमें कर्मोंके अतिरिक्त अन्य कोई सहकारी कारण अपेक्षणीय नहीं है । अन्यकी नहीं अपेक्षाकर वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य आत्मक क्षायिक गुण अनन्तकालतक उत्पन्न होता हुआ बना रहता है । अतः आत्मलाभके लिये सहकारी कारणोंकी अपेक्षाके निषेध करनेमें तत्पर वह शास्त्र वाक्य बिचारा अन्य विलक्षण माने गये पूर्ण कर्मोंका क्षय करना रूप मोक्षकार्यमें विशेष सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखनेको कैसे बाधा दे सकेगा ? अर्थात् नहीं ।

न च क्षायिकत्वं तत्र तदनपेक्षत्वेन व्याप्तम्, क्षीणकषायदर्शनचारित्रयोः क्षायिकत्वेऽपि मुक्त्युत्पादने केवलापेक्षित्वस्य सुप्रसिद्धत्वात् । ताभ्यां तद्बाधकहेतोर्व्यभिचारात् । ततोऽस्ति सहकारी तद्रत्नत्रयस्यापेक्षणीयो मुक्त्यागमाविरुद्धत्वात् ।

क्षायिकपने हेतुकी उन सहकारी कारणोंकी नहीं अपेक्षा करना रूप साध्यके साथ उस प्रकरणमें व्याप्ति बन जाना सिद्ध नहीं है, इस व्याप्तिका व्यभिचार देखा जाता है। क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानके आदिमें क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिकचारित्रको कर्मोंके क्षयसे जन्यपना होते हुए भी मुक्तिरूप कार्यकी उत्पत्ति करनेमें तीसरे केवलज्ञानकी अपेक्षा रखनापन अच्छी तरह प्रसिद्ध हो रहा है। अतः बारहवें गुणस्थानके उन सम्यक्त्व और चारित्र करके उस सापेक्षपनेके बाधक निरपेक्षपन हेतुका व्यभिचार है। हां ! स्वांशमें निरपेक्षपनको सिद्ध करते हो तो वह सद्धेतु है। उस कारणसे सिद्ध होता है कि उस तेरहवें गुणस्थानके आदिमें होनेवाले उस क्षायिक रत्नत्रयको चतुर्थ शुक्लध्यानरूप सहकारी कारणकी अपेक्षा है। इस सिद्धांतमें युक्ति और आगमसे कोई भी विरोध नहीं आता है। सामग्रीके पूर्ण हो जानेपर समर्थ कारणसे चौदहवें गुणस्थानके अंतमें परम मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

न च तेन विरुध्येत त्रैविध्यं मोक्षवर्त्मनः।
विशिष्टकालयुक्तस्य तत्त्रयस्यैव शक्तितः ॥ ४६ ॥

यहां कोई यों कहे कि यदि आप जैन रत्नत्रयको अन्य सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखता हुआ मोक्षका कारण मानेंगे, तब तो मोक्षमार्गको तीन प्रकारका मानना उस कथनसे विरोधको प्राप्त हो जावेगा। क्योंकि चौथे, पांचमें, कारण भी आपने मान लिये हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि विशिष्ट काल और उसमें परिपक्व रूपसे होनेवाले अन्य परिणामोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा रखता हुआ वह रत्नत्रय ही आत्मशक्तियोंकी अपेक्षासे मोक्षका मार्ग है। भावार्थ-मोक्षके अव्यवहित कारण माना गया उस आत्मशक्तिका विकास एक विशिष्ट कालमें ही होता है। जैसे कि बाल्य अवस्थामें विद्यमान भी युवत्व शक्तिका प्रगट होना काल और उसमें होनेवाले शारीरिक परिणामोंकी अपेक्षा रखता है।

क्षायिकरत्नत्रयपरिणामतो ह्यात्मैव क्षायिकरत्नत्रयं तस्य विशिष्टकालापेक्षः शक्तिविशेषः ततो नार्थान्तरं येन तत्सहितस्य दर्शनादित्रयस्य मोक्षवर्त्मनस्त्रैविध्यं विरुध्यते।

कर्मोंके क्षयसे होनेवाले रत्नत्रयके परिणामोंसे परिणत होरहा उपादान कारण आत्मा ही क्षायिक रत्नत्रय है। कालविशेषकी अपेक्षासे उस आत्माके उत्पन्न होनेवाला और सम्पूर्ण कर्मोंको ध्वंस करनेवाला विशेष सामर्थ्य भी उस आत्मा और रत्नत्रयसे भिन्न नहीं है। जिससे कि यानी यदि भिन्न होता तब तो उस चौथेसे सहित होकर सम्यग्दर्शन आदि तीनको मोक्षका मार्ग माननेपर तीन प्रकारपनका विरोध हो जाता, किन्तु अभेद माननेपर वह सामर्थ्य चौथा नहीं बन पाता है। जिससे कि कथमपि विरोधकी सम्भावना नहीं है।

तेनायोगिजिनस्यान्त्यक्षणवर्त्ति प्रकीर्तितम् ।
रत्नत्रयमशेषाघविघातकरणं ध्रुवम् ॥ ४७ ॥
ततो नान्योऽस्ति मोक्षस्य साक्षान्मार्गो विशेषतः ।
पूर्वावधारणं येन न व्यवस्थामियर्त्ति नः ॥ ४८ ॥

तिस कारणसे चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जिनेंद्रके अंतिम समयमें होनेवाला पूर्ण रत्नत्रय ही सम्पूर्ण कर्मोंके समुदायको क्षय करनेमें निश्चयसे समर्थ कहा गया है। उस कारणसे रत्नत्रयके अतिरिक्त दूसरा कोई विशेषरूपसे मोक्षका अव्यवहित पूर्ववर्ती मार्ग नहीं है। अर्थात् रत्नत्रय ही मोक्षका साक्षात् कारण है। जिससे हमारा पहिले उद्देश्य दलमें एवकार लगाकर नियम करना व्यवस्थाको प्राप्त न होता। भावार्थ—पहिला अवधारण करना भले प्रकार व्यवस्थित है।

नन्वेवमप्यवधारणे तदेकांतानुषङ्गः इति चेत्, नायमनेकांतवादिनामुपालम्भो नयार्पणादेकांतस्येष्टत्वात्, प्रमाणार्पणादेवानेकांतस्य व्यवस्थितेः।

यहां किसीका साक्षेप शंका है कि इस प्रकार अवधारण करनेपर तो जैनोंको उस नियम करनारूप एकांत मंतव्यका प्रसंग आता है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसी शंका करोगे तो हम जैन कहते हैं कि यह आपका उलाहना अनेकांतवादकी टेव रखनेवाले स्याद्वादियोंके ऊपर नहीं आता है। क्योंकि सुनयकी प्रधानतासे एकांतवादको भी हम इष्ट करते हैं। जैसे कि मुक्तजीव सर्वज्ञ ही है, सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, यथाख्यात चारित्रसे ही मोक्ष होती है। इत्यादि नय वाक्य अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखते हुए समीचीन एकांतको प्रतिपादन करनेवाले माने गये हैं। हां! प्रमाणके द्वारा ही वस्तुका निरूपण करनेकी अपेक्षासे अनेकांत मतकी व्यवस्था हो रही है। श्रीसमंतभद्र स्वामीने भी यही कहा है कि—

अनेकांतोप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोर्पितान्नयात् ॥ १ ॥

पदार्थोंमें अनेक धर्म हैं। यह अनेकांत भी एकांत रूपसे नहीं है। किंतु प्रमाण और नयकी अपेक्षासे साधा गया अनेकांत रूप है। तुम जिनेंद्र देवके मतमें प्रमाणदृष्टिसे अनेक धर्म स्वरूप वस्तुका निरूपण है और प्रयोजनवश प्रधानताको प्राप्त हुये एक धर्मकी नयदृष्टिसे समीचीन एक धर्म स्वरूप भी पदार्थ है। भावार्थ—अनेकांत और समीचीन एकांत ये दोनों भी हमको इष्ट हैं। अन्य धर्मोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला केवल एकांत तो मिथ्या है।

ज्ञानादेवाशरीरत्वसिद्धिरित्यवधारणम् ।
सहकारिविशेषस्यापेक्षयास्त्विति केचन ॥ ४९ ॥

यहां कोई प्रतिवादी कह रहे हैं कि सहकारीकी अपेक्षा रखने वाले रत्नत्रयको ही आप जैन मोक्षमार्ग मानते हैं। इसकी अपेक्षासे तो ऐसे नियम करनेमें लाघव है कि विशेष सहकारी कारणोंकी अपेक्षा करके सहित अकेले ज्ञानसे ही स्थूल, सूक्ष्म शरीरसे रहित हो जाना स्वरूप मोक्षकी सिद्धि हो जाओ । इस प्रकार कोई नैयायिक आदि कहते हैं ।

तत्त्वज्ञानमेव निःश्रेयसहेतुरित्यवधारणमस्तु सहकारिविशेषापेक्षस्य तस्यैव निःश्रेयससम्पादनसमर्थत्वात् । तथा सति समुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य योगिनः सहकारिविशेषसन्निधानात्पूर्वं स्थित्युपपत्तेरुपदेशप्रवृत्तेरविरोधात्, तदर्थं रत्नत्रयस्य मुक्तिहेतुत्वकल्पनानर्थक्यात्, तत्कल्पनेऽपि सहकार्यपेक्षणस्यावश्यंभावित्वात्, तत्त्रयमेव मुक्तिहेतुरित्यवधारणं माभूदिति केचित् ।

यहां उक्त आक्षेपका विवरण यों है कि जीव आदिक तत्त्वोंका ज्ञान ही मोक्षका हेतु है । इस प्रकार पहिला अवधारण ठीक हो जावे। क्योंकि सम्यक्त्व, चारित्र और आत्माके विशेष परिणाम रूप विशिष्ट सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखता हुआ वह ज्ञान ही मोक्षके प्राप्त करानेमें समर्थ है । तैसा कहनेपर एक लाभ यह भी हो जाता है कि सयोग केवली अर्हन्त भगवान्के केवलज्ञान स्वरूप तत्त्वज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर भी मोक्षके उपयोगी विशेष सहकारी कारणकी उपस्थिति हो जानेके पहिले अर्हन्तदेवका संसारमें स्थित रहना बन सकता है और हजारों वर्ष तक ठहर कर भगवान् भव्य जीवोंके प्रति उपदेश देनेकी प्रवृत्ति कर सकते हैं । कोई विरोध नहीं है । उस उपदेश देनेके लिये रत्नत्रयको मोक्षमार्गपनेकी कल्पना करना व्यर्थ है । क्योंकि उन तीनको भी मोक्षमार्गकी कल्पना करने पर आपको सहकारीकी अपेक्षा करनारूप कथन तो आवश्यक होने वाला ही है । इसकी अपेक्षा तो सहकारी कारणोंसे सहित एक ज्ञानको ही मोक्षका मार्ग कहना कहीं अच्छा है । अतः वे तीनों ही मोक्षके कारण हैं। इस प्रकार आप जैनोंका नियम करना न होवे ऐसा कोई पण्डित कह रहे हैं ।

तेषां फलोपभोगेन प्रक्षयः कर्मणां मतः ।
सहकारिविशेषोऽस्य नासौ चारित्रतः पृथक् ॥ ५० ॥

उन प्रतिवादियोंके यहां अकेले ज्ञानका विशेष सहकारी कारण यह माना गया है कि आत्माको कर्मजन्य सुख, दुःखरूप फलका उपभोग कराकर आत्मासे सञ्चित कर्मोंका प्रक्षय हो जाना, किंतु फलोंके भोग करके कर्मोंका क्षय हो जाना, वह सहकारी कारण तो हमारे जैनोंके माने हुए चारित्रसे भिन्न नहीं है ।

तत्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानस्य सहजस्याहार्यस्य चानेकप्रकारस्य प्रतिप्रमेयं देशादिभेदादुद्भवतः प्रक्षयात्तद्धेतुकदोषनिवृत्तेः प्रवृत्त्यभावादनागतस्य जन्मनो निरोधादुपात्तजन्मनश्च प्राग्वृत्तधर्माधर्मयोः फलभोगेन प्रक्षयणात्, सकलदुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी मुक्तिः, दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायान्निःश्रेयसमिति कैश्चिद्वचनात्।

केवल तत्त्वज्ञानको मोक्षका मार्ग माननेवाले कतिपय प्रतिवादियोंका मन्तव्य पृथक् पृथक् है। उनमें नैयायिक तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होनेकी प्रक्रियाका निरूपण ऐसा करते हैं कि कारण विशेषोंसे उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञानके द्वारा मिथ्याज्ञानका प्रक्षय हो जाता है। मिथ्याज्ञान मूलभेदसे दो प्रकारका है। एक सहज, दूसरा आहार्य। जो स्वभावसे ही वनस्पति, कीट, पतङ्ग मूर्ख तिर्यञ्च मनुष्योंके अपने आप मिथ्या संस्कारवश उत्पन्न हो जाता है, वह जैनियोंके अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीवके ज्ञानसमान सहजमिथ्याज्ञान है। और दूसरोंके उपदेशसे या स्वयं खोटे अध्यवसायसे इच्छापूर्वक चलाकर विपरीतज्ञान कर लिया जाता है वह आहार्य है। आहार्यका लक्षण नैयायिकोंने ऐसा माना है कि " बाधकालीनोत्पन्नेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम् " किसी विषयके बाधकज्ञानके रहते हुए भी चलाकर इच्छा उत्पन्नकर आग्रहसे विपरीत ज्ञान पैदा करलेना आहार्य मिथ्याज्ञान है। इन दोनों मिथ्याज्ञानोंके अनेक भेद हैं। तत्त्वज्ञान उत्पन्न होनेके प्रथम प्रत्येक प्रमेयमें देश, काल, अवस्था, सम्बन्धकी अपेक्षासे उत्पन्न हो रहे मिथ्याज्ञानोंका तत्त्वज्ञान द्वारा बढिया क्षय हो जानेसे मिथ्याज्ञानजन्य दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है और रागद्वेष स्वरूप दोषोंकी निवृत्ति हो जानेपर धर्म अधर्म प्रवृत्तियोंका अभाव हो जाता है। क्योंकि उन प्रवृत्तियोंके कारण दोष थे। जब दोषोंका ही अभाव हो गया, तब प्रवृत्तिरूप कार्य भी नहीं हो सकते हैं। कारणके न होनेपर कार्य भी नहीं होता है। और प्रवृत्तिके अभावसे उसके कार्यजन्मका भी अभाव हो जाता है। वहां भविष्यमें होनेवाले जन्मोंका अभाव तो प्रवृत्तिके न होनेसे हो गया और ग्रहण किये गये मनुष्य जन्मका तथा वर्तमानमें फल देनेवाले प्रवृत्तिस्वरूप धर्म अधर्मका फल देनारूप भोग करके नाश हो जाता है। जब जन्म लेना तथा पुण्य पापका ही नाश होगया, तब उनके कार्य संपूर्ण दुःखोंकी भी निवृत्ति होगयी, और उसी अन्तको अतिक्रमण करनेवाली अनन्तकाल तकके लिये हुयी दुःखनिवृत्तिको ही मुक्ति कहते हैं। नैयायिकोंके गौतम ऋषिका सूत्र है कि " दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान इनमें पूर्वके कार्य हैं और उत्तर में कहे हुए कारण हैं। तत्त्वज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर मिथ्याज्ञानोंका जब नाश होगया तो आगे आगेवाले कारणोंका अभाव होजानेपर उनके अव्यवहित पूर्ववर्ती कार्योंका भी अभाव होजाता है। अन्तमें दुःखोंके निवृत्त हो जानेसे मोक्ष हो जाती है। इस प्रकार फलोपभोगको सहकारी कारण पकडता हुआ सम्यग्ज्ञान (तत्त्वज्ञान) ही मोक्षका कारण है, ऐसा किन्हीं नैयायिकोंके द्वारा कहा जाता है।

साक्षात्कार्यकारणभावोपलब्धेस्तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसमित्यपरैः प्रतिपादनात्, ज्ञानेन चापवर्ग इत्यन्यैरभिधानात्, विद्यात एवाविद्यासंस्कारादिक्षयान्निर्वाणमितीतरैरभ्युपगमात्। फलोपभोगेन संचितकर्मणां प्रक्षयः सम्यग्ज्ञानस्य मुक्त्युत्पत्तौ सहकारी ज्ञानामात्रात्मकमोक्षकारणवादिनामिष्टो न पुनरन्योऽसाधारणः कश्चित्, स च फलोपभोगो यथाकालमुपक्रमविशेषाद्वा कर्मणां स्यात्? न तावदाद्यः पक्ष इत्याहः—

तत्त्वज्ञान अव्यवहित पूर्ववर्ती होकर कारण है और मोक्ष कार्य है। किसी तप, दीक्षा, कायक्लेश आदिको सहकारी कारण माननेकी आवश्यकता नहीं है। तत्त्वज्ञान और मोक्षमें परम्पराके विना साक्षात् रूपसे कार्यकारणभाव देखा जाता है। अतः तत्त्वज्ञानसे झट मोक्ष हो जाती है। इस प्रकार दूसरे मीमांसक प्रतिपादन करते हैं। तथा सांख्यका यह सिद्धांत है कि प्रकृति और पुरुषका भेद ज्ञान कर लेनारूप तत्त्वज्ञानसे मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार अन्य कापिलोंके द्वारा कहा जाता है। तथा आत्म तत्त्वको वेद द्वारा, सुनो, मनन करो, दृढ भावना करो, आत्मा ही परब्रह्म एक तत्त्व है। इस प्रकारकी विद्यासे ही भेदरूप अविद्याके संस्कारोंका और मेरे तेरे आदि संकल्पों आदिका क्षय हो जानेसे परब्रह्ममें लीन हो जानारूप मोक्ष हो जाती है। इस प्रकार निराले ब्रह्माद्वैतवादी स्वीकार करते हैं। और बौद्ध लोग भी क्षणिक विज्ञानरूप या नैरात्म्य भावनारूप विद्यासे ही अविद्याके संस्कार, तृष्णा, आदिके क्षय हो जानेसे ज्ञानसंतानका पहिली संतानसे संबंध टूटकर आस्रवरहित हो जानारूप मोक्षको स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार ऊपर कहे हुए अकेले ज्ञानस्वरूप मात्रको ही मोक्षका कारण कहनेवाले प्रतिवादियोंने मोक्षकी उत्पत्ति करनेमें सम्यग्ज्ञानका सहकारी कारण संचित कर्मोंका फल भोग करके क्षय हो जाना माना है। इसके अतिरिक्त कोई भी दूसरा फिर असाधारण कारण नहीं माना है। किन्हीं किन्हीं नैयायिक, वैशेषिक आदिने तो सञ्चित कर्मोंके नाश करनेमें उन कर्मोंके सुख दुःखरूप फलका भोगना अतीव आवश्यक बतलाया है। वे कहते हैं कि "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" "करोडों, अरबों, कल्पकालोंके बीत जाने पर भी बिना फल देकर कर्म आत्मासे झरते नहीं हैं। इस पर हमारा यह पूंछना है कि कर्मोंका वह फल भोगना क्या कर्मोंके यथायोग्य ठीक ठीक समयमें उदय आनेपर फल भुगवाकर होगा? या किसी तपस्या तथा समाधिके बलसे विशेष उपक्रम द्वारा अर्थात् भविष्य हजारों, लाखों, वर्षोंमें उदय आने वाले कर्मोंका थोडी देरमें ही उदय लाकर उन कर्मोंका फल भोगा जा सकेगा? बताओ। इन दो पक्षोंमें पहिला आदिका पक्ष तो ठीक नहीं है। इस बातको आचार्य महाराज कहते हैं।

भोक्तुः फलोपभोगो हि यथाकालं यदीष्यते।
तदा कर्मक्षयः क्वातः कल्पकोटिशतैरपि ॥ ५१ ॥

यदि पूर्वमें बंधे हुए कर्म अपने अपने यथायोग्य कालमें उदय आकर भोगनेवाले आत्माको फलका उपभोग करा देते हैं, तब पीछे उन कर्मोंका क्षय हो जाता है, ऐसा पक्ष मानते हैं, तब तो सैकडों करोड कल्पकालों करके भी इस फलोपभोगसे भला कर्मोंका क्षय किस आत्मामें हो सकेगा ? । अर्थात् कोई आत्मा भी मुक्त न होवेगा । क्योंकि प्रत्येक कर्म जब अपना फल देगा, उस समय आत्मामें राग, द्वेष, अभिलाषाएं आदि अवश्य उत्पन्न हो जावेंगी और उनसे पुनः नवीन कर्मोंका बन्ध हो जावेगा और नवीन बंध होनेपर यथायोग्य कालमें उन कर्मोंका उदय आनेसे उपभोग करते हुये फिर आत्माके राग, द्वेष आदि भाव उत्पन्न होवेंगे ही, जो कि पुनः बन्धके कारण हैं । यह क्रम कभी न टूटेगा, तथा च आत्माकी अनंत कालतक भी मोक्ष न हो सकेगी । द्रव्यकर्मसे भाव कर्म और भावकर्मसे द्रव्यकर्मकी धारा चलती रहेगी ।

न हि तज्जन्मन्युपात्तयोर्धर्माधर्मयोः जन्मान्तरफलदानसमर्थयोर्यथाकालं फलोपभोगेन जन्मान्तरादृते कल्पकोटिशतैरप्यात्यन्तिकः क्षयः कर्तुं शक्यो, विरोधात् ।

उस विवक्षित जन्ममें ग्रहण किये गये ऐसे भविष्यके अनेक जन्म जन्मान्तरोंमें फल देनेकी शक्तिवाले पुण्य पाप कर्मोंका यथायोग्य कालमें फलोपभोग यदि होगा तो भविष्यमें होनेवाले दूसरे अनेक जन्मोंके बिना सैकडों करोड कल्पों करके भी फलोंके उपभोग द्वारा उन कर्मोंका सर्वदाके लिये पूर्ण रूपसे क्षय करना शक्य नहीं है । क्योंकि विरोध है । भावार्थ—एक ओर यह मानना कि बिना फल दिये हुए कर्मोंका क्षय होता नहीं है और दूसरी ओर यह कहना कि तत्त्वज्ञानसे उसी जन्ममें मोक्ष हो जाती है । ये दोनों बातें विरुद्ध हैं । भला विचारो तो सही कि तत्त्वज्ञान मुक्त जीवके तो होता नहीं है। किंतु संसारी मनुष्योंके ही होगा। उनके पहिले कालोंमें बांधे हुए संचित कर्म भी विद्यमान हैं। वे कर्म जब फल देंगे तभी अनेक जन्मांतरोंमें फल देनेवाले कर्म पुनः बंध जावेंगे । द्रव्य, क्षेत्र, आदि सामग्री न मिलनेसे या तपस्या द्वारा बिना फल दिये हुए कर्मोंका झड जाना और तप; या उदीरणा, अपकर्षण आदिकी विधिसे भविष्यमें आनेवाले कर्मोंका वर्तमान थोडे कालमें फल देकर झडजाना इसको आप स्वीकार नहीं करते हैं। ऐसी दशामें तो किसीकी मोक्ष नहीं हो सकेगी। अतः प्रत्येक कर्म यथायोग्य कालमें फल देकर ही नष्ट होते हैं । यह आग्रह समीचीन नहीं है ।

जन्मान्तरे शक्य इति चेन्न, साक्षादुत्पन्नसकलतत्त्वज्ञानस्य जन्मान्तरासम्भवात्, न च तस्य तज्जन्मफलदानसमर्थत्वे च धर्माधर्मौ प्रादुर्भवत इति शक्यं वक्तुं, प्रमाणाभावात् । तज्जन्मनि मोक्षार्हस्य कुतश्चिदनुष्ठानाद्धर्माधर्मौ तज्जन्मफलदानसमर्थौ प्रादुर्भवतः, तज्जन्ममोक्षार्हधर्माधर्मत्वादित्यप्ययुक्तं हेतोरन्यथानुपपत्त्यभावात् । यौ जन्मान्तरफलदानसमर्थौ तौ न तज्जन्ममोक्षार्हधर्माधर्मौ, यथासदादि धर्माधर्मौ इत्यस्त्येव साध्याभावे साधनस्यानुपपत्तिरिति चेत्, स्यादेवम्, यदि तज्जन्ममोक्षार्हधर्माधर्मत्वं जन्मान्तरफलदानसमर्थत्वेन विरुध्येत, नान्यथा ।

यदि आप नैयायिक यों कहें कि तत्त्वज्ञानीके जन्मान्तरमें फल देने योग्य कर्म बंध गये हैं तो वे कर्म दूसरे जन्ममें फल भोगकर नष्ट किये जा सकते हैं। वह इस प्रकार कहना कैसे भी ठीक नहीं है। क्यों कि जिस जीवके संपूर्ण तत्त्वोंका प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान उत्पन्न हो गया है। उस जीवका अन्य जन्मोंको धारण करना असम्भव है। वह तो उसी जन्मसे मोक्ष प्राप्त करेगा। यदि आप यों कहें कि उस ही जन्ममें मोक्ष प्राप्त करनेवाले उस प्राणीके जो नवीन धर्म अधर्म उत्पन्न होते हैं, वे उस ही जन्ममें फल देनेकी शक्तिपने करके प्रगट हुए हैं। अतः उसकी उसी एक जन्मसे मोक्ष हो जावेगी। इस प्रकार भी आप नैयायिक नहीं कह सकते हैं। क्योंकि आपके कथनमें कोई प्रमाण नहीं है। अबतक जब ही कर्मबंध हुआ है, तभी उसमें सागर, पल्य, और लाखों वर्षोंकी स्थिति पडी है, वे अनेक जन्मोंमें ही भोगे जा सकते हैं। यही धारा अनादि कालसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होनेके पहिले समय तक अनुक्रमसे बंधी चली आ रही है। यदि आप यह अनुमान प्रमाण बोलें कि उस ही जन्ममें मोक्ष प्राप्तिकी योग्यतावाले तत्त्वज्ञानी जीवके जो पुण्य पाप उत्पन्न होते हैं (पक्ष) वे किसी समाधि या पुण्यक्रियारूप अनुष्ठानसे उस जन्ममें ही फल देनेके लिये समर्थ हैं, (साध्यदल) क्योंकि वे उसी जन्ममें मोक्षप्राप्ति की योग्यतावाले तत्त्वज्ञानीके धर्म अधर्म हैं (हेतु) इस प्रकार आपका अनुमान भी युक्तियोंसे रहित है। कारण कि आपके हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति (साध्यके विना हेतुका न रहना) नहीं बनती है। यदि आप यों व्याप्ति बनावेंगे कि जो धर्म, अधर्म, दूसरे जन्मोंमें फल देनेकी शक्ति रखते हैं। वे उसी जन्ममें मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवके योग्य धर्म अधर्म नहीं हैं। जैसे कि अनेक जन्मोंमें मोक्ष प्राप्त करनेवाले हम लोगोंके धर्म अधर्म हैं। इस प्रकार साध्यके न रहनेपर हेतुकी उपपत्ति (सिद्धि) न होना रूप व्याप्ति बन ही जाती है। ऐसा कहोगे तो हम कहते हैं कि इस प्रकार आपकी व्याप्ति तो तब बन सकती थी, यदि उस जन्ममें मोक्षकी योग्यतावाले जीवके धर्म अधर्मोंका दूसरे जन्मोंमें फल देनेकी शक्तिके साथ विरोध होता। दूसरे प्रकारसे आपकी व्याप्ति नहीं बन सकती है। किंतु हम देखते हैं कि उसी जन्ममें मोक्ष प्राप्तिकी योग्यतावाले जीवके यदि तीव्र पाप या पुण्यका उदय हो जाता है तो प्रधान मुनीश्वर भी द्वीपायन या सुकुमालके समान अन्य जन्म धारण कर नरक या सर्वार्थसिद्धिमें अनेक सागर पर्यंत पाप, पुण्यका फल भोगते रहते हैं।

तस्य तेनाविरोधे तज्जन्मनि मोक्षार्हस्यापि मोक्षाभावप्रसंगात्, विरुध्यत एवेति चेत् न तस्य जन्मान्तरेषु फलदानसमर्थयोरपि धर्माधर्मयोरुपक्रमविशेषात्। फलोपभोगेन प्रक्षये मोक्षोपपत्तेः।

संभव है कि आप यों कहें कि उसी जन्ममें मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवके उन पुण्य पापोंका यदि उस दूसरे जन्मोंमें फल देनेकी योग्यतासे विरोध न होता तो उस ही जन्ममें मोक्षके योग्य भी जीवकी मोक्ष होजानेके अभावका प्रसंग होजाता। अतः तद्भव मोक्षगामी जीवके धर्म अधर्मपनेका

दूसरे जन्मोंमें फल देनेके साथ अवश्य विरोध है ही। भावार्थ—जो तद्भवमोक्षगामी जीवके धर्म अधर्म हैं, वे अगले अन्य भवोंमें फल देनेके लिये समर्थ नहीं हैं। और जो अदृष्ट दूसरे जन्मोंमें फल देनेवाले हैं, वे तद्भव मोक्षगामीके पुण्य पाप नहीं हैं। हां, इस प्रकार कहोगे सो भी ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि भविष्यके अनेक दूसरे जन्मोंमें फल देनेकी सामर्थ्यवाले धर्म, अधर्मका भी विशेष तपश्चर्याके द्वारा विशिष्ट उपक्रमसे फलोपभोग करके नाश करदेने पर उसी भवसे उस जीवके मोक्षकी सिद्धि होजाती है। भावार्थ—अन्तकृत्केवली या तद्भव मोक्षगामी कतिपय मुनि महाराजोंके भी अनेक उपसर्ग होना शास्त्रोंमें लिखा हुआ है। वे साधु महाराज उत्तर जन्मोंमें फल देनेवाले कर्मोंको उपक्रमके कारण तप या उपसर्गकी योग्यता मिलनेपर समाधि परिणामोंसे उनका फल भोगकर उसी जन्ममें नष्ट कर देते हैं। यदि वे साधु शुद्ध समाधिरूप परिणाम नहीं कर पाते तो वे अवश्य जन्मान्तरोंको धारण कर पुण्य पापका फल भोगते। किंतु उन्होंने इस ही जन्ममें कर्मोंकी औपक्रमिक निर्जरा कर दीनी है। विशेष बात यह है कि उसी जन्ममें डेढ गुणहानि प्रमाण द्रव्यके मोक्ष करलेनेकी योग्यता तो बहुतसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिके स्थल मानी गयी कर्मभूमिके मनुष्योंमें है। जोकि पुरुषार्थ न करनेके कारण अनेक भवोंमें भी व्यक्त नहीं हो पाती है। मोक्षकी प्राप्तिमें प्रधानता पुरुषार्थकी है। जो मुनीश्वर कर्मोंके प्रहार, उपसर्ग आदिको जीतकर उत्कृष्ट शुक्लध्यानमें आरूढ होजाते हैं। वे असंख्य जन्मोंके संचित कर्मोंका उसी समय ध्वंस करदेते हैं। अतः दैववादका आग्रह कर मोक्षकी योग्यतावाले जीवोंके पुण्य, पापके ध्वंस करनेमें कुचोद्य नहीं करना।

यदि पुनर्न यथाकालं तज्जन्ममोक्षार्हस्य धर्माधर्मौ तज्जन्मनि फलदानसमर्थौ साध्येते, किं तर्ह्युपक्रमविशेषादेव संचितकर्मणां फलोपभोगेन प्रक्षय इति पक्षांतरमायातम्।

यदि फिर आप नैयायिक जैन सिद्धांतके अनुसार यों मानलोगे कि उसी भवमें मोक्ष जाने वाले जीवके पहिले संचित किये हुए धर्म अधर्म यथायोग्य उस जन्ममें उदय आकर फल देनेमें समर्थ हैं, हम यह नहीं सिद्ध करते हैं, तब तो क्या कहते हैं? सो सुनो। तप या समाधिरूप विशेष उपक्रमके बलसे ही पहिले इकट्ठे हुए कर्मोंका फलके उपभोग करके अच्छा नाश हो जाता है, ऐसा मानने पर तो दूसरा पक्ष आया ही कहना चाहिये। भावार्थ—आपने कर्मोंकी औपक्रमिक निर्जरा मानकर पहिले ही उठाये हुए दो प्रश्नोंमेंसे द्वितीय पक्षका ग्रहण किया है, अस्तु।

विशिष्टोपक्रमादेव मतश्चेत्सोऽपि तत्त्वतः।
समाधिरेव सम्भाव्यश्चारित्रात्मेति नो मतम् ॥ ५२ ॥

विलक्षण प्रकारके उपक्रमसे ही कर्मोंके फलका उपभोग करना यदि आपको इष्ट है, तब तो वास्तविकतासे विचारा जावे तो वह विशेष उपक्रम करना भी समाधिरूप ही सम्भव है, जो कि

ऐसी समाधि तो हम स्याद्वादियोंके मतमें चारित्र स्वरूप मानी गयी है। पाल देकर आमको पकाने या सुखानेके समान भविष्यमें उदय आनेवाले कर्मोंको पुरुषार्थी तपस्वी उसी जन्ममें फल भोग कर या विना फलके निर्जीर्ण कर देता है।

यस्मादुपक्रमविशेषात् कर्मणां फलोपभोगो योगिनोऽभिमतः स समाधिरेव तत्त्वतः सम्भाव्यते, समाधावुत्थापितधर्मजनितायामृद्धौ नानाशरीरादिनिर्माणद्वारेण संचितकर्मफलानुभवस्येष्टत्वात्। समाधिश्चारित्रात्मक एवेति चारित्रान्मुक्तिसिद्धेः सिद्धं स्याद्वादिनां मतं सम्यक्त्वज्ञानानंतरीयकत्वाच्चारित्रस्य।

जिस कारणसे कि विशिष्ट उपक्रम द्वारा योगी महाराजके कर्मोंका फलोपभोग स्वीकार किया है, वह विशिष्ट उपक्रम तो समाधिरूप ही वस्तुतः सम्भव है। चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिमें उत्पन्न हुए विलक्षण पुण्यसे बनायी गयी ऋद्धियोंके होनेपर अनेक शरीर, केवलिसमुद्घात आदिकी रचनाके द्वारा पहिले एकत्रित किये हुए कर्मोंके फलका अनुभव करना इष्ट है और वह समाधि चारित्र स्वरूप ही है। केवली महाराज भी अनेक पुण्यकर्मोंके उदय होनेपर विना इच्छाके सुखका अनुभव करते हैं। वे सुख अनंत सुखमें ही गर्भित होजाते हैं अर्थात् विष्णुकुमार मुनीश्वरने शरीर बनाया था। उस विक्रिया करनेमें उनके पूर्व सञ्चित पुण्यकर्मका भोग अवश्य हुआ। वादिराज मानतुङ्ग आदि महर्षियोंने अपने पुण्यका घाटा सहकर ही बिना इच्छाके लौकिक सुख प्राप्त किया था। इसी प्रकार मुनि महाराजोंके पुण्य पापके उदयानुसार सुख, दुःख होते रहते हैं। किंतु समाधि-परिणामोंसे उनका ऐन्छिक वेदन नहीं होने पाता है। आहारक ऋद्धिके लेनेमें भी पुण्यका व्यय होता है। इस प्रकार चारित्रसे कर्मफल भोगकर कर्मोंकी मोक्ष होना सिद्ध होता है। हां! जो पौराणिक ऐसा मानते हैं कि राजापनको भोगानेवाले कर्मोंसे मुनियोंके राजा तथा अनेक रानियां चाकर आदिके शरीर बनजाते हैं। वे राजा होकर रानियोंसे तपमें बैठे हुए ही भोग करते हैं। यह सिद्धांत तो जैनोंके इष्ट नहीं है। राज्य, चक्रवर्तीपन, इन्द्रत्व आदिको बनानेवाले कर्म तद्भव मोक्षगामी जीवके बिना फल दिये हुए ही झडजाते हैं। कर्मोंका विपाक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मिलनेपर होता है। बिना सामग्रीके धूलमें पडी हुयी आगके समान अनेक कर्म तो फल दिये बिना ही नष्ट हो जाते हैं। अतः स्याद्वादियोंका मंतव्य सिद्ध हो गया। क्योंकि चारित्र गुणका सम्यक्त्व और ज्ञानसे अविनाभावीपना है। भावार्थ—जहां सम्यक्चारित्र होगा उसके प्रथम सम्यग्दर्शन और ज्ञान अवश्य हो चुके होंगे। अथवा सम्यग्दर्शन, और सम्यग्ज्ञानके अनंतर चारित्र हुआ करता है तथा च रत्नत्रयसे ही मुक्तिकी सिद्धि हुयी।

सम्यग्ज्ञानं विशिष्टं चेत्समाधिः सा विशिष्टता।
तस्य कर्मफलध्वंसशक्तिर्नामांतरं ननु ॥ ५३ ॥

मिथ्याभिमाननिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्टं हि दर्शनम् ।
ज्ञानत्वं चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्वं कर्महंतृता ॥ ५४ ॥
शक्तित्रयात्मकादेव सम्यग्ज्ञानाददेहता ।
सिद्धा रत्नत्रयादेव तेषां नामान्तरोदितात् ॥ ५५ ॥

यदि किसी आत्मीय स्वभावसे विशिष्ट हुए सम्यग्ज्ञानको ही समाधि मानोगे तो वह उस ज्ञानकी विशिष्टता दूसरे शब्दोंमें कर्मोंके फलको ध्वंस करनेकी शक्ति ही समझनी चाहिये । यही हम समीचीन तर्कणा करते हैं । ज्ञानका मिथ्याश्रद्धानरूप आग्रहसे रहित हो जाना ही सम्यग्दर्शन सहितपना निर्णीत है । तथा तत्त्वार्थोंको जानलेना ज्ञानपन है और कर्मोंका नाशकर-देनापन ही ज्ञानका चारित्रपना है । इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप तीनों शक्तियोंके अभेदात्मक सम्यग्ज्ञानसे ही शरीररहित मुक्त अवस्था सिद्ध हो जाती है । उन तीन रत्नोंको ही उन नैयायिकोंने दूसरे शब्दोंसें कहा है अर्थात् समाधि, फलोपभोग, आदि अन्य शब्दोंसे कहकर नैयायिकोंने रत्नत्रयको ही मोक्षका मार्ग माना है ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः, सम्यग्ज्ञानं मिथ्याभिनिवेशमिथ्याचरणाभावविशिष्टमिति वा न कश्चिदर्थभेदः, प्रक्रियामात्रस्य भेदान्नामांतरकरणात् ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता मोक्षका मार्ग है, यह जैनोंका मंतव्य है और मिथ्या आग्रह तथा मिथ्याचर्या इन दोनोंके अभावसे विशिष्ट सम्यग्ज्ञान ही मोक्षमार्ग है इस प्रकार नैयायिकोंका अथवा अकेले सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष माननेवाले वादियोंका कहना है । इस प्रकार केवल शब्दोंमें भेद है । अर्थमें कोई भेद नहीं है । थोडीसी केवल दार्शनिक प्रक्रियाके भेदसे दूसरे दूसरे नाम कर दिये गये हैं । परिशेषमें रत्नत्रयसे ही सबके मतमें मोक्ष होना अभिप्रेत हो जाता है । इन्द्रदत्त नामका छात्र न्याय और व्याकरण तथा सिद्धांत इन तीन विषयोंको पढता है, यों कहो या न्याय व्याकरणके साथ सिद्धांत विषयको पढता है यों कहिये अभिप्राय एक ही है ।

एतेन ज्ञानवैराग्यान्मुक्तिप्राप्त्यवधारणम् ।
न स्याद्वादविघातायेत्युक्तं बोद्धव्यमञ्जसा ॥ ५६ ॥

जो अकेले तत्त्वज्ञानको ही मोक्षका कारण मानते हैं । उनको भी सहकारी कारणोंकी भक्तिसे रत्नत्रयको मोक्षमार्ग मानना पडता है । इस उक्त कथनके द्वारा यह बात भी निर्दोष रूपसे कथन कर दी गयी समझनी चाहिये कि ज्ञान और वैराग्यसे ही मोक्षकी प्राप्तिका नियम करना भी स्याद्वादसिद्धांतको घात करनेके लिये समर्थ नहीं है । भावार्थ—ज्ञानमें समीचीनता सम्यग्दर्शनके

साथ होने पर ही आती है। अतः तत्त्वज्ञानका अर्थ सम्यग्दर्शनसहित तत्त्वज्ञान है। चारित्ररूप वैराग्यको आप कण्ठोक्त मानते ही हैं। तथाच ज्ञान और वैराग्यसे ही मोक्षकी प्राप्ति मानना रत्नत्रयसे ही मोक्ष होना स्वीकार करना है।

तत्त्वज्ञानं मिथ्याभिनिवेशरहितं सद्दर्शनमन्वाकर्षति, वैराग्यं तु चारित्रमेवेति रत्नत्रयादेव मुक्तिरित्यवधारणं बलादवस्थितम्।

मिथ्याश्रद्धानसे रहित जो तत्त्वोंका ज्ञान होगा, वही तत्त्वज्ञान समझा जावेगा। जैसे श्रोत्र इंद्रियजन्य मतिज्ञानवाले जीवके चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञानकी लब्धि होना आवश्यक है, वैसे ही तत्त्वोंका ज्ञान सम्यग्दर्शनका अविनाभाव रूपसे आकर्षण कर लेता है और वैराग्य तो चारित्र है ही। इस प्रकार रत्नत्रयसे ही मोक्षकी प्राप्ति है, यह नियम करना बलात्कारसे सिद्ध हो जाता है। इसमें आनाकानी नहीं कर सकते हो।

" दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वा बंधकारणम्। जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छती "त्यप्यर्हन्मतसमाश्रयणमेवानेन निगदितम्, दर्शनज्ञानयोः कथञ्चिद्भेदान्मतान्तरासिद्धेः।

जिस प्रतिवादीने ज्ञान और वैराग्यको ही मुक्तिका मार्ग माना है, उस यौगका यह सिद्धांत है कि शरीर, धन, सांसारिक भोग, आदि दुःखरूप पदार्थोंमें सुख माननारूप विपरीत बुद्धि करना अविद्या है और भोग, उपभोगोंमें आसक्ति करना अथवा उनकी भविष्यके लिये अभिलाषा करना तृष्णा है। संसारी जीवकी अविद्या और तृष्णा उसके बंधका कारण है। संसारमें जन्म और मरण करनेवाले जिस जीवके ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर वे अविद्या और तृष्णा नहीं रहते हैं, वह जीव पुनः जन्म मरणको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस प्रकार कहनेवाले योग मतानुयायियोंने तो श्रीअर्हंत देवके प्रतिपादन किये गये मतका ही फिर आश्रय ले लिया है। इस उक्त कथनसे ऐसा ही निरूपण किया गया प्रतीत होता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानस्वरूप विद्याका कथञ्चित् भेद है और अनेक अंशोंमें अभेद है। अतः विद्या कहनेसे दोनों गुण कहे गये। चारित्र उन्होंने माना ही है। अतः रत्नत्रयसे ही मोक्ष होना कहा गया। एतावता स्याद्वाद सिद्धांतके अतिरिक्त अन्यमतोंकी सिद्धि नहीं होने पाती है। पोत काक न्यायसे सबको रत्नत्रयकी शरण लेनेके लिये ही बाध्य होना पडेगा। इस प्रकरणको समाप्त कर एक द्रव्यके भी शक्तिस्वरूप अनेक गुण भिन्न होते हैं, इस बातको छेडते हैं।

न चात्र सर्वथैकत्वं ज्ञानदर्शनयोस्तथा।
कथञ्चिद्भेदसंसिद्धिर्लक्षणादिविशेषतः ॥ ५७ ॥

इस सूत्रमें पडे हुए ज्ञान और दर्शन गुणका सर्वथा एकपना सिद्ध नहीं है। क्योंकि उसी प्रकारसे लक्षण, संज्ञा, प्रयोजन आदिकी विशेषताओंसे ज्ञान और दर्शनमें किसी अपेक्षासे भेदकी समीचीन रूपसे सिद्धि हो रही है।

न हि भिन्नलक्षणत्वं भिन्नसंज्ञासंख्याप्रतिभासत्वं वा कथञ्चिद्भेदं व्यभिचरति, तेजोंभसोर्भिन्नलक्षणयोरेकपुद्गलद्रव्यात्मकत्वेपि पर्यायार्थतो भेदप्रतीतेः।

शक्रपुरंदरादिसंज्ञाभेदिनो देवराजार्थस्यैकत्वेऽपि शकनपूर्दारणादिपर्यायतो भेदनिश्चयात्। जलमाप इति भिन्नसंख्यस्य तोयद्रव्यस्यैकत्वेऽपि शक्त्यैकत्वनानात्वपर्यायतो भेदस्याप्रतिहतत्वात्।

भिन्न भिन्न लक्षण होना, अथवा पृथक् पृथक् संज्ञा होना, तथा विशेष विशेष संख्या होना एवं निराली निराली ज्ञप्ति होना, ये हेतु कथञ्चित् भेदस्वरूप साध्यके साथ व्यभिचार नहीं करते हैं। देखिये! अग्नि और जल दोनों उष्ण स्पर्श तथा शीत स्पर्शरूप भिन्न लक्षणवाले हैं। भले ही वे एक पुद्गल द्रव्यस्वरूप हैं तो भी पर्यायार्थिक नयसे अग्नि और जलमें प्रत्यक्षप्रमाणसे भेदकी प्रतीति हो रही है। पुद्गल द्रव्यकी जब जल पर्याय है तब अग्नि पर्याय नहीं है। हां! कालांतरमें वृक्षमें जल जाकर जब काष्ठरूप परिणत हो जावेगा और जलाने पर उस काठकी अग्नि बन सकती है। एवं पुद्गलकी अग्नि पर्यायके समय जल पर्याय नहीं है। हां! अग्निसे वायु फिर जल बन सकता है। इसमें देर लगेगी। अतः भिन्नलक्षणत्वसे पदार्थोंका भेद सिद्ध हो जाता है। प्रकृतमें तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शनका लक्षण है और तत्त्वोंको नहीं कमती बढती स्वरूपसे ठीक जान लेना सम्यग्ज्ञान है। इस प्रकार भिन्नलक्षण होनेसे दोनों गुणोंमें भेद है।

इंद्रके वाचक अनेक शब्द हैं। शक्र, पुरंदर, शचीपति, वज्री, सुरपति आदि भिन्न संज्ञायें द्रव्यार्थिक नयसे देवोंके राजारूप एक ही मघवा अर्थके वाचक हैं। फिर भी एक द्रव्यमें अनेक गुण और पर्यायें विद्यमान रहती हैं। अतः जम्बूद्वीपको परिवर्तन करनेकी शक्तिको धारण करने वाले इंद्रको शक्र कहते हैं और पौराणिक सम्प्रदायसे नगरीका ध्वंस करनेवाले इंद्रको पुरंदर कहते हैं। ऐसे ही पुलोमजाके पति या वज्रधारण करनेसे इंद्रको शचीपति और वज्री कहते हैं। ये परम ऐश्वर्य, अत्यधिकबल, वज्रधारण आदि पर्यायें निराली हैं। तभी तो उनके वाचक शब्द भिन्न माने गये हैं। यों न्यारी पर्यायोंसे भेदका निश्चय हो रहा है। अतः भिन्न संज्ञा होना भी भेदका साधक है। वह भिन्न संज्ञापन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गुणोंमें भी विद्यमान हैं। अतः वे दोनों गुण भी कथञ्चित् भिन्न हैं। यह ध्यान रखना कि जिस शक्ति या पर्यायको अवलम्ब लेकर अनेक संज्ञायें रखी गयी हैं। द्रव्यमें एवम्भूत नयके विषय वे स्वभाव न्यारे ही हैं। कल्पित या भ्रष्ट शब्दोंको छोड

दो। किंतु जो शब्द अनादिसे उस उस अर्थके वाचक स्वाभाविक योग्यतासे चले आ रहे हैं, उन शब्दोंकी वाचकशक्ति वाच्य अर्थके स्वाभाविक परिणामोंपर निर्भर है।

जल यह एकत्व संख्यासे युक्त शब्द है और आप यह बहुत्व संख्यासे सहित शब्द है। भिन्न भिन्न संख्यावाले दोनों शब्द एक ही पानीस्वरूप द्रव्यके वाचक हैं। यद्यपि पानी द्रव्य एक है। किन्तु उस पानीमें एक पिण्ड और नाना अवयवरूप पर्यायें निराली हैं। यों पर्याय दृष्टिसे पानीमें भेदका होना बाधाओंसे रहित है। शुद्धनय अनुसार भेदका कोई घात नहीं कर सकता है। जहां पानीके एक अखण्ड द्रव्यकी विवक्षा है, वहां एकवचनान्त जल शब्दका प्रयोग होगा और जब पानीके अनेक टुकडोंकी विवक्षा है, वहां आपः शब्द बोला जावेगा। अतः एक द्रव्यमें भी रहनेवाली शक्तियां पर्यायोंके भेदसे भिन्न भिन्न मानी जाती हैं। प्रकरणमें भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान शब्द समास न करने पर एक वचनान्त रहते हैं। समास करनेपर द्वित्व संख्यासे युक्त " सम्यग्दर्शनज्ञाने " ऐसा शब्द बन जाता है। एक ही व्यक्तिको कहने वाले घट और कलश शब्दका समास करनेपर घटौ नहीं बनता है। अतः सिद्ध होता है कि संख्याभेद भी कथञ्चित् भेदका साधक है। सम्यग्दर्शनके निसर्गज, अधिगमज या सराग, वीतराग तथा व्यवहार निश्चय करके दो भेद हैं। औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक करके तीन भी भेद हैं। आज्ञा आदिसे दश भेद भी हैं। तथा सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष परोक्षके भेदसे दो हैं। मतिज्ञानादिसे पांच हैं। उनमें मतिज्ञानके तीन सौ छत्तीस, श्रुतज्ञानके अंगोंकी अपेक्षा बारह और आवरणोंसे बीस भेद हैं। अवधिके तीन और मनःपर्ययके दो भेद हैं। केवलज्ञान एक ही प्रकारका है। यह भी संख्याभेद है।

स्पष्टास्पष्टप्रतिभासविषयस्य पादपस्यैकत्वेऽपि तथाग्राह्यत्वपर्यायार्थादेशान्नानात्वव्यवस्थितेः।

एक ही वृक्षको निकटसे देखा जावे तो वृक्षका स्पष्ट प्रतिभास हो जाता है। दूरवर्ती प्रदेशोंसे वृक्षको देखनेपर अस्पष्ट प्रतिभास होता है। यद्यपि स्पष्ट ज्ञान और अस्पष्ट ज्ञानका विषय वह वृक्ष एक ही है। फिर भी उस प्रकार विशद ज्ञान और अविशद ज्ञानके द्वारा जाननेकी योग्यता रूप ग्राह्यत्व पर्यायें भिन्न हैं। इस कारण पर्यायार्थिकनयके अनुसार कथन करनेसे नानापनकी व्यवस्था हो रही है। प्रत्येक पदार्थमें विद्यमान प्रमेयत्व गुणके परिणाम भिन्न सामग्रीके मिलने पर अनेक अविभागप्रतिच्छेदोंको लिये हुए न्यारे न्यारे हो जाते हैं। अग्निको आगमवाक्य द्वारा जाननेपर उसमें आगमगम्यतारूप स्वभाव माना जाता है। धूम हेतुसे जाननेपर अग्निमें अनुमेयत्व धर्म है और प्रत्यक्षसे जाननेपर अग्निमें प्रत्यक्षगोचरत्व स्वभाव है। यद्यपि क्षयोपशमके भेदसे ज्ञानोंमें भेद हो जाता है। फिर भी विषयोंमें स्वभावभेद मानना आवश्यक है। बिना स्वभावभेद माने भिन्न भिन्न कार्योंके होनेका नियम कैसे किया जावे ?। चुम्बकमें आकर्षण शक्ति है। किंतु इधर लोहमें आकर्ष्य शक्तिका मानना भी अनिवार्य है। चुम्बकपाषाण तभी तो चांदी, सोना, मिट्टीको नहीं खींच सकता है और

लोहा भी चुम्बकके सिवाय अन्य पदार्थोंसे खिचता नहीं है। इस सिद्धांतका अष्टसहस्रीमें अच्छा स्पष्टीकरण किया है। प्रकृतमें ज्ञानोंका स्वांशमें स्पष्टप्रतिभास होता है और सम्यग्दर्शन गुणका आत्मानुभूतिरूप उपयोग दशामें भले ही किसीको प्रतिभास हो जावे। महाविद्वान् पञ्चाध्यायीकारने इस विषयको बहुत स्पष्ट किया है। किंतु क्षयोपशम सम्यक्त्व, उपशम सम्यग्दर्शन या क्षायिक-सम्यक्त्वका अनुपयोग अवस्थामें स्पष्ट प्रत्यक्ष नहीं होता है। प्रशम, संवेग, आदि कार्योंसे अनुमान कर सम्यग्दर्शनका अस्पष्ट प्रतिभास कर लेते हैं। अतः दोनों गुणोंमें प्रतिभासके भेद होनेसे कथञ्चित् भेद मानना चाहिये। ज्ञानके सिवाय आत्माके सम्पूर्ण गुण निराकार हैं। जाति आदिका उल्लेख करना, सम्यक्त्व गुणमें नहीं सम्भवे है। अतः छद्मस्थोंको सम्यक्त्व गुणका प्रायःकरके स्वयंवेदन नहीं होपाता है।

अन्यथा स्वेष्टतत्त्वभेदासिद्धेः सर्वमेकमासज्येत, इति कचित्कस्यचित्कुतश्चिद्भेदं साधयता लक्षणादिभेदाद्दर्शनज्ञानयोरपि भेदोऽभ्युपगन्तव्यः।

अन्यथा यानी यदि उक्त प्रकार भिन्न लक्षण भिन्न संख्या आदि हेतुओंसे पदार्थोंके भेदकी व्यवस्था न मानी जावेगी तो प्रत्येक वादी प्रतिवादीको अपने अपने इष्ट तत्त्वोंमें भेद मानना सिद्ध न हो सकेगा। तब तो सर्व ही पदार्थोंको ब्रह्माद्वैतवादीके माने हुए आत्माके समान एक हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। " सर्वं एकं भूयात् "। प्रकृति पुरुष या जड चेतन और जीव पुद्गल इनका भेद न हो सकेगा। इस प्रकार किसी न किसी पदार्थमें अन्य किसी एक पदार्थका किसी नियत अपेक्षासे भेदको सिद्ध करनेवाले दार्शनिकके द्वारा लक्षण, संज्ञा, संख्या आदिके भेदसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें भी भेद स्वीकार कर लेना चाहिये।

तत एव न चारित्रं ज्ञानं तादात्म्यमृच्छति।
पर्यायार्थप्रधानत्वविवक्षातो मुनेरिह ॥ ५८ ॥

ऊपर कहे गये इन कारणोंसे ही चारित्र और ज्ञान गुण भी तादात्म्यको प्राप्त नहीं हो सकते हैं। क्योंकि आत्माके चारित्र गुणकी पर्याय यथाख्यातचारित्र है और आत्माके चेतना गुणकी पर्याय सम्यग्ज्ञान है। इस मोक्षमार्गके प्रकरणमें उमास्वामी मुनि महाराजकी पर्यायार्थिक नयके प्रधानताकी विवक्षा है। जैसे अग्निस्वरूप अशुद्ध द्रव्यकी दाहकत्व, पाचकत्व, शोषकत्व, स्फोटकत्व पर्यायें न्यारी हैं, वैसे ही आत्माके तीन गुणोंकी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र पर्यायें भिन्न हैं।

न ज्ञानं चारित्रात्मकमेव ततो भिन्नलक्षणत्वाद्दर्शनवदित्यत्र न स्वसिद्धान्तविरोधः, पर्यायार्थप्रधानत्वस्येह सूत्रे सूत्रकारेण विवक्षितत्वात्।

ज्ञान गुण (पक्ष) चारित्रगुण स्वरूप ही नहीं हैं। क्योंकि सम्यग्ज्ञान उस चारित्रके लक्षणसे भिन्न लक्षणवाला है (हेतु) जैसे कि सम्यग्दर्शनका लक्षण चारित्रसे भिन्न है (अन्वयदृष्टान्त) ज्ञानका लक्षण तत्त्वोंका निर्णय करना है और आत्मद्रव्यकी केवल स्वात्मामें स्थिति हो जाना चारित्र है। इस प्रकार यहां माननेमें हमको कोई अपने सिद्धान्तसे विरोध नहीं पडता है। क्योंकि इस सूत्रमें सूत्रोंको बनानेवाले उमास्वामी महाराजने पर्यायार्थिक नयकी प्रधानताको विवक्षित किया है। यदि द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता विवक्षित होती तब तो कतिपय पर्यायोंसे परिणत एक आत्म-द्रव्य ही शुद्ध आत्माकी प्राप्तिरूप मोक्षका मार्ग हो जाता। व्यवहारमें अशुद्ध द्रव्यका कथन करना पर्यायार्थिक नयकी प्रधानतासे ही ठीक पडता है।

द्रव्यार्थस्य प्रधानत्वविवक्षायां तु तत्त्वतः।
भवेदात्मैव संसारो मोक्षस्तद्धेतुरेव च ॥ ५९ ॥
तथा च सूत्रकारस्य क तद्भेदोपदेशना।
द्रव्यार्थस्याप्यशुद्धस्यावान्तराभेदसंश्रयात् ॥ ६० ॥

द्रव्यार्थिक नयके विषय माने गये द्रव्यरूप अर्थके प्रधानताकी विवक्षा होनेपर तो वास्तविक रूपसे आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष होसकता है तथा उन संसार और मोक्षका कारण भी आत्मा ही है। भिन्न भिन्न अनेक पर्यायोंका अविष्वग्भावपिंडरूप आत्माद्रव्य एक ही है। नयके द्वारा द्रव्यको जाननेपर भिन्न भिन्न पर्यायें नहीं जानी जासकती हैं। और वैसा होनेपर सूत्र बनानेवाले उमास्वामी महाराजका उस आत्माके भिन्न भिन्न गुणोंका उपदेश देना भला कहां बन सकता है? दूसरे द्रव्यसे बंधे हुए अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाला अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय भी महान् अभेदसे छोटे अभेदका आश्रयकर प्रवर्तता है। अतः अशुद्ध द्रव्यकी विवक्षा होनेपर भी भेदरूप गुणोंका उपदेश देना नहीं बनता है। हां! प्रमाणोंसे या पर्यायार्थिक नयसे भेदकी देशना होना सम्भव है।

यथा समस्तैक्यसंग्रहो द्रव्यार्थिकः शुद्धस्तथावान्तरैक्यग्रहोप्यशुद्ध इति तद्विवक्षायां संसारमोक्षतदुपायानां भेदाप्रसिद्धेरात्मद्रव्यस्यैवैकस्य व्यवस्थानात्तद्भेददेशना क व्यवतिष्ठेत? ततः सैव सूत्रकारस्य पर्यायार्थप्रधानत्वविवक्षां गमयति, तामन्तरेण भेददेशनानुपपत्तेः।

जैसे सम्पूर्ण गुण और पर्यायोंकी अखण्डपिण्डरूप एकताको संग्रह करनेवाला शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है, वैसे ही कतिपय गुण और पर्यायोंकी मध्यवर्ती एकताको ग्रहण करनेवाला नय भी अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। इस प्रकार दोनों शुद्ध अशुद्ध द्रव्यार्थिककी विवक्षा होनेपर संसार, मोक्ष तथा उनके उपाय माने गये संसारकारण और मोक्षकारण तत्त्वोंका भेद करना प्रसिद्ध नहीं है।

द्रव्यदृष्टिसे विचारा जावे तो आत्मद्रव्य एक ही व्यवस्थित होरहा है। अतः उसके भेदरूपोंका उपदेश देना कहां व्यवस्थित होगा? भावार्थ—संसारी आत्मा और मुक्त आत्मामें तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, प्रमाद और कषायोंसे परिणत आत्मामें और संवर, निर्जरा, व्रत, समिति, तपस्या आदि परिणामोंसे युक्त हुये आत्मामें कोई अंतर नहीं है। द्रव्यको छूनेवाली निश्चय नयसे जैसे ही एकेन्द्रिय जीवकी आत्मा है, वैसे ही सिद्धपरमेष्ठी की आत्मा है। किंतु सूत्रकार जब संसार, मोक्ष, सम्यग्दर्शन, कषाय आदिका भेदरूप उपदेश देरहे हैं, इस कारण उससे ही अनुमान करलिया जाता है कि सूत्रकारको भिन्न भिन्न पर्यायरूप अर्थोंके प्रधानताकी विवक्षा है। क्योंकि पर्यायरूप अर्थके प्रधानत्वकी उस विवक्षाके बिना गुणपर्यायोंके भेदका उपदेश देना बन नहीं सकता था।

ये तु दर्शनज्ञानयोर्ज्ञानचारित्रयोर्वा सर्वथैकत्वं प्रतिपद्यन्ते ते कालाभेदाद्देशाभेदात्सामानाधिकरण्याद्वा? गत्यन्तराभावात्। न चैते सद्धेतवोऽनैकान्तिकत्वाद्विरुद्धत्वाच्चेति निवेदयति:—

जो प्रतिवादी सम्यग्दर्शन और ज्ञानका अथवा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका सर्वथा अभेद होना समझ रहे हैं, वे प्रतिवादी क्या कालके अभेदसे या देशके अभेदसे अथवा समान अधिकरणपनेसे उन गुणोंका अभेद कहते हैं? बताओ। क्योंकि अभेद सिद्ध करनेमें उन तीनके अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय नहीं है। प्रकृतमें अभेदको सिद्ध करनेके लिए दिये गये ये तीनों हेतु तो सद्धेतु नहीं हैं। किंतु व्यभिचारी और विरुद्ध होनेके कारण हेत्वाभास हैं। इसी बातको ग्रंथकार निवेदन कर देते हैं।

कालाभेदादभिन्नत्वं तयोरेकान्ततो यदि।
तदेकक्षणवृत्तीनामर्थानां भिन्नता कुतः॥ ६१॥

उन दर्शन और ज्ञान या ज्ञान और चारित्रमें कालका अभेद हो जानेसे यदि एकांतरूपसे अभेद सिद्ध करोगे, तब तो एक समयमें रहनेवाले अनेक घट, पट आदिक अर्थोंकी भिन्नता कैसे होगी? बतलाइये, भावार्थ—जिनका काल अभिन्न है, ऐसे पदार्थोंको अभिन्न मान लिया जावे तो समान समयवाले अनेक पदार्थ एक हो जावेंगे। वर्तमानमें विद्यमान हाथी, घोडे, मनुष्य, घट, पट आदि अनेक पदार्थ एक स्वरूप हो जावेंगे। यह बडा भारी सांकर्य दोषका प्रकरण है। और हेतु व्यभिचारी है।

देशाभेदादभेदश्चेत्कालाकाशादिभिन्नता।
सामानाधिकरण्याच्चेत्तत एवास्तु भिन्नता॥ ६२॥

सामानाधिकरण्यस्य कथञ्चिद्भिदया विना ।
नीलतोत्पलतादीनां जातु क्वचिदर्शनात् ॥ ६३ ॥

दूसरे पक्षके अनुसार यदि दर्शन, ज्ञानमें या ज्ञान, चारित्रमें देशके अभेद होनेसे अभेद माना जावेगा, तब तो काल आकाश, काल जीव आदि पदार्थोंकी भिन्नता कैसे हो सकेगी ? जिन आकाशके प्रदेशोंपर जीव द्रव्य है, वहां अनेक जातिके पुद्गल द्रव्य भी विद्यमान हैं । कालाणु भी रखे हुए हैं । आकाश तो वहां है ही । अतः व्यभिचारदोष हो जानेसे देशका अभेद होना भी पदार्थोंके अभेदका कारण नहीं है । तथा तीसरा पक्ष लेनेपर समान अधिकरणपनेसे अभेद मानोगे तो उस सामानाधिकरण्यसे तो भिन्नता ही भली प्रकार सिद्ध हो जावेगी, सामानाधिकरण्य हेतु तो प्रत्युत पदार्थोंके भेदको सिद्ध करता है । अतः तुम्हारा हेतु विरुद्ध है । देखिये । समान है अधिकरण जिनका ऐसे दो, तीन, चार आदि पदार्थोंको समानाधिकरण कहते हैं और उन समानाधिकरण होरहे पदार्थोंका जो भाव है, वह सामानाधिकरण्य है । घट और कलशरूप एक पदार्थमें सामानाधिकरण्य नहीं बनता है । नीला कमल है । यहां नीलपने और कमलपनेका एक फूलमें समानाधिकरणता है । तभी तो यहां व्यभिचार होनेपर कर्मधारय समास बन जाता है । कमलको छोडकर नीलापन जामुन, नीलमणि, कम्बल आदिमें भी रह जाता है और नीलपनेको छोडकर कमलपना भी शुक्ल, लाल, पीले कमलोंमें ठहर जाता है । दोनोंका सांकर्य नील कमलमें है । अतः कथञ्चित् भेदके बिना समानाधिकरणपना नील उत्पल, वीरपुरुष, आदिमें कहीं भी कभी देखा नहीं गया है । सामानाधिकरण्य हेतुसे अभेदको सिद्ध करने चले थे, किंतु भेद सिद्ध होगया । साध्याभावके साथ व्याप्तिको रखनेवाला हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है ।

न हि-नीलतोत्पलत्वादीनामेकद्रव्यवृत्तितया सामानाधिकरण्यं कथञ्चिद्भेदमन्तरेणोपपद्यते, येनैकजीवद्रव्यवृत्तित्वेन दर्शनादीनां सामानाधिकरण्यं तथाभेदसाधनाद्विरुद्धं न स्यात् ।

नीलपना और उत्पलपना, तथा रक्तपना तथा घटपना, एवं धूर्तपना और श्रृगालपना, आदि की एक द्रव्यमें वृत्तिता हो जानेसे समानाधिकरणता कथञ्चित् भेदके बिना नहीं बन सकती है । जिससे कि एक जीव द्रव्यमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणोंके विद्यमान रह जानेसे बन गया समानाधिकरणपना भी इस प्रकार भेदको सिद्ध करनेवाला होनेके कारण अभेद सिद्ध करनेमें विरुद्ध हेत्वाभास न होता । अर्थात्—सामानाधिकरण्य हेतु विरुद्ध है।

मिथ्याश्रद्धानविज्ञानचर्याविच्छित्तिलक्षणम् ।
कार्यं भिन्नं दृगादीनां नैकान्ताभिदि सम्भवि ॥ ६४ ॥

तथा जिनका कार्य भिन्न भिन्न होता है, वे सर्वथा एक नहीं होते हैं। सम्यग्दर्शनका कार्य झूंठे श्रद्धान यानी मिथ्यात्वका नाश करदेना है। और सम्यग्ज्ञानका कार्य मिथ्याज्ञानका ध्वंस कर देना है तथा सम्यक्चारित्रका कार्य कुचारित्रको निवृत्त करना है। अतः न्यारे लक्षणोंवाले दर्शनादिकोंके ये भिन्न भिन्न कार्य एकांतरूपसे अभेद माननेमें नहीं सम्भवते हैं।

सद्दर्शनस्य हि कार्यं मिथ्याश्रद्धानविच्छित्तिः, संज्ञानस्य मिथ्याज्ञानविच्छित्तिः, सच्चारित्रस्य मिथ्याचरणविच्छित्तिरिति च भिन्नानि दर्शनादीनि भिन्नकार्यत्वात् सुखदुःखादिवत्। पावकादिनानैकांत इति चेन्न, तस्यापि स्वभावभेदमंतरेण दाहपाकाद्यनेककार्यकारित्वायोगात्।

आत्मामें सम्यग्दर्शन गुणके प्रगट होनेपर निश्चय करके उसका कार्य मिथ्याश्रद्धानका नष्ट हो जाना है। और सम्यग्ज्ञानका प्रयोजन मिथ्याज्ञानको दूर कर देना है। एवं समीचीन चारित्रका फल तो मिथ्याचारित्रका प्रलय कर देना है। इस कारण हम अनुमान करते हैं कि दर्शन ज्ञान और चारित्र ये तीनों पर्यायें (पक्ष) भिन्न हैं (साध्य) क्योंकि इनका भिन्न भिन्न कार्य देखा जा रहा है (हेतु) जैसे कि सुख, दुःख, दान, लाभ आदि पर्यायें निराली हैं। सुखका कार्य अनुकूल वेदन होना है। दुःखका कार्य अनिष्ट या प्रतिकूल अनुभव है आदि।

यदि यहां कोई यह दोष देवे कि अग्नि एक है वह पानीको सुखा रही है, भातको पका रही है, ईन्धनको जला रही है। अतः एकके भी अनेक कार्य देखे जाते हैं। तब तो आप जैनोंका भिन्नकार्यत्व हेतु अनेक कार्य करनेवाले अग्नि, नर्तकी, लवङ्ग आदिसे व्यभिचारी हुआ। यों यह दोष देना ठीक नहीं है। क्योंकि उस अग्नि, सोंठ आदिको भी अपने अनेक भिन्न भिन्न स्वभावोंके भेद हुए बिना जलाना, पकाना, सुखाना आदि अनेक कार्योंका करदेनापन नहीं बन सकेगा। भावार्थ— अग्नि यद्यपि अशुद्ध एक पुद्गल द्रव्य है। किंतु उसमें अनेक स्वभावरूप शक्तियां विद्यमान हैं। अनेक स्वभावोंसे ही अनेक कार्य हो सकते हैं। ऐसा जैन सिद्धांत है। चार हाथकी एक लाठीको बीचमें पकडकर आडी उठाओ ! तब उस लाठीकी दूसरी शक्तियां कार्य कर रही हैं और उसी लाठीको तीन हाथ एक ओर और एक हाथ दूसरे छोरपर छोडकर मध्यमेंसे आडी उठाने पर लाठीके अन्य स्वभाव कार्यकारी हैं, जिन स्वभावोंका कार्य हमें हाथोंपर बल लानेसे प्रतीत हो जाता है। किसी भूमि पर पडी उस लाठीको केवल एक अंगुल अंतभागमें पकड कर बडा भारी मल्ल भी सीधी नहीं उठा सकता है, यों लट्ठमें वेग या झोकके परिणाम अनेक हैं। अतः दर्शन ज्ञान और चारित्रको आत्माके भिन्न भिन्न परिणाम मानने चाहिये। तभी तो उनके अनेक भिन्न कार्य दीख रहे हैं। अब श्रीविद्यानंद आचार्य कारणोंके भेदसे दर्शन आदिका भेद सिद्ध करते हैं।

दृङ्मोहविगमज्ञानावरणध्वंसवृत्तमुट्-
संक्षयात्मकहेतोश्च भेदस्तद्भिदि सिद्ध्यति ॥ ६५ ॥

कारणोंके भेदसे भी कार्यभेद माना जाता है। सम्यग्दर्शनका कारण तो दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षयोपशम और क्षय होना है तथा सम्यग्ज्ञानका कारण ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम या क्षय होना है। एवं सम्यक्चारित्रका चारित्रमोहनीय कर्मका क्षयोपशम, उपशम और क्षय होना कारण है। इन कर्मध्वंसरूप हेतुओंके भेदसे भी कार्योंमें भेद होना सिद्ध होजाता है। अतः उस कार्यभेद होनेमें कारणोंका भेद ज्ञापक हेतु है। कारक भी है। छन्दके दूसरे और तीसरे पादमें समास होजाना या सन्धि करदेना न्यायग्रंथोंके लिये सह्य है।

दर्शनमोहविगमज्ञानावरणध्वंसवृत्तमोहसंक्षयात्मका हेतवो दर्शनादीनां भेदमन्तरेण न हि परस्परं भिन्ना घटन्ते, येन तद्भेदात्तेषां कथञ्चिद्भेदो न सिद्ध्येत्।

दर्शनमोहनीय कर्मका दूर होना और ज्ञानावरण कर्मका विघट जाना तथा चारित्र मोहनीयका अच्छा नाश होजानास्वरूप भिन्न भिन्न अनेक कारक हेतु तो कार्यभूत दर्शन, ज्ञान, चारित्रोंके भेद बिना परस्परमें भिन्न नहीं घटित हो सकते हैं। जिससे कि उन हेतुओंके भेदसे उन कार्योंका कथञ्चित् भेद सिद्ध न होवे, अर्थात् कारणोंके भेदसे कार्यभेद होना अनिवार्य है।

चक्षुराद्यनेककारणेनैकेन रूपज्ञानेन व्यभिचारी कारणभेदो भिदि साध्यायामिति चेन्न, तस्यानेकस्वरूपत्वसिद्धेः। कथमन्यथा भिन्नयवादिबीजकारणा यवांकुरादयः सिध्येयुः परस्परभिन्नाः।

हेतुभेदसे कार्यभेदका अनुमान करनेमें दी गयी व्याप्तिके व्यभिचार दोषको कोई दिखलाता है कि चक्षु, आलोक, आत्मा, मन, पुण्य, पाप आदि अनेक कारणोंकरके एक रूपका ज्ञान होता है। यहां कारण अनेक हैं और कार्य एक है। अतः भेदको सिद्ध करनेमें जैनकी ओर (तरफ) से दिया गया कारणभेद हेतु व्यभिचारी है। आचार्य कहरहे हैं कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिये। क्योंकि एक माने गये रूपज्ञानमें भी अनेकस्वभावपना सिद्ध है। रूपके ज्ञानमें नेत्रजन्यता स्वभाव न्यारा है और आत्मजन्यता धर्म पृथक् है, आदि। यदि ऐसा नहीं मानकर अन्य प्रकार मानोगे, यानी अनेक कारणजन्य एक कार्यमें भिन्न धर्म न होते तो भिन्न भिन्न जौ, गेहूं, चना आदिके बीजोंको कारण मानकर न्यारे न्यारे जौके अंकुर, गेहूंके अंकुर, जौकी बाल, गेहूंकी बाल, चनाके होरा आदि परस्पर में एक दूसरेसे भिन्न भिन्न कार्य भला कैसे सिद्ध होजाते ? बताओ। अर्थात् पृथ्वी, घाम, पानी, किसान, वायु, आदिकी समानता होते हुए भी अत्यल्प बीजके भेदसे बडे बडे वृक्षरूप कार्य भिन्न भिन्न बन जाते हैं। एक औषधि भिन्न भिन्न अनुपानोंके भेदसे नाना रोगोंका

प्रशम कर देती है। तैलके दीपकी कलिकाका और घृतदीपककी कलिकाका तथा बिजलीकी कलिकाका परिणाम (तासीर) न्यारा न्यारा है। अणु ब्रह्मचारिणी भी स्त्रीके चतुर्थ स्नानके अनन्तर अकस्मात् क्रोधी या काले पुरुषके दीख जानेपर गर्भस्थ जीवकी प्रकृति, आकृतिमें, अंतर आ जाता है। सेव (फल) खाकर पेडा खाना और पेडा खाकर सेव खाना इस कालव्युत्क्रमसे ही रासनप्रत्यक्षरूप अर्थक्रियाओंमें अंतर आ जाता है। इन दृष्टांतोंसे सिद्ध है कि जितने कारणोंसे कार्य बना है, उन सबकी ओरसे कार्यमें भिन्न भिन्न स्वभाव आगये हैं। दालमें पडे हुए हल्दी, मिर्च, धनिया, जीरा, नमक ये वात, पित्त, कफके दोषोंको दूर करते हैं और पाचन शक्तिको बढाते हैं, स्वाद बदल देते हैं।

न चैककारणनिष्पाद्ये कार्यैकस्वरूपे कारणान्तरं प्रवर्तमानं सफलम्। सहकारित्वात्सफलमिति चेत्, किं पुनरिदं सहकारिकारणमनुपकारकमपेक्षणीयम् ? तदुपादानस्योपकारकं तदिति चेन्न, तत्कारणत्वानुषंगात्, साक्षात्कार्ये व्याप्रियमाणमुपादानेन सह तत्करणशीलं हि सहकारि न पुनः कारणमुपकुर्वाणम्। तस्य कारणकारणत्वेनानुकूलकारणत्वादिति चेत्, तर्हि सहकारिसाध्यरूपतोपादानसाध्यरूपतायाः परा प्रसिद्धा कार्यस्येति न किञ्चिदनेककारणमेकस्वभावम्, येन हेतोर्व्यभिचारित्वाद्दर्शनादीनां स्वभावभेदो न सिध्येत्।

यदि कार्यमें एक ही स्वभाव माना जावे और वह एक कारणके द्वारा बना दिया जावे, तब तो उस कार्यमें प्रवृत्ति करनेवाले अनेक दूसरे कारण विचारे सफल नहीं हो सकेंगे। भावार्थ— एक स्वभाववाला कार्य एक कारणसे ही बन जावेगा। फिर उसके लिये अनेक कारणोंके ढूंढनेकी क्या आवश्यकता है ? किन्तु जैन, नैयायिक आदि सर्व ही वादियोंने प्रत्येक कार्यके उपादान कारण सहकारी कारण और उदासीन कारण आदि अनेक कारणोंसे उस एक कार्यकी उत्पत्ति मानी है। यदि यहां कोई यों कहे कि दूसरा कारण पहिले कारणका सहकारी है। अतः उपादानका सहायक हो जानेसे सफल है। ऐसा कहनेपर तो फिर हम जैन पूंछते हैं कि यह सहकारी कारण क्या कार्यके प्रति उपकार न करता हुआ ही कार्यको अपेक्षित हो रहा है ? बताओ। यदि इसका उत्तर आप यह देवें कि वह सहकारीकारण उपादान कारणका सहायक है। साक्षात् कार्यका उपकारकर्ता नहीं है। एक स्वभाववाला कार्य तो केवल एक उपादानकारणसे बन जावेगा। " उपादानं सहकरोति इति सहकारी " जो उपादानकारणको सहायता (मदत) पहुंचाता है, सो यह उत्तर तो ठीक नहीं है। क्योंकि तब तो वह सहकारी कारण उपादान कारणका कारण बन जावेगा। कार्यका सहकारी कारण न बन सकेगा।

यदि आक्षेपक आप सहकारी कारणका यह अर्थ करें कि " उपादानेन सहकरोति कार्यं " जो उपादान कारणकी परम्परा न लेकर सीधा ही कार्यमें उपादान कारणके साथ व्यापार करता

है । अतः उपादानके साथ उस कार्यको करनेका स्वभाव होनेसे ही वह सहकारी कारण है । किंतु उपादान कारणका उपकार करनेवालेको हम फिर सहकारी कारण नहीं कहते हैं । वह उपादानका कारण तो कारणका कारण है । इस कारण कार्यका प्रतिकूल नहीं है । अतः अनुकूल कारण माना जाता है । असाधारण कारण नहीं है । ऐसा कहनेपर तब तो हमारा जैन सिद्धांत ही आ जाता है कि कार्यका सहकारी कारणसे बनाये जाने योग्यरूप स्वभाव न्यारा है और उपादान कारणसे साधा गया कार्यका स्वभाव निराला है । इस प्रकार अनेक कारणोंसे बना हुआ कार्य अनेक स्वभाववाला ही प्रसिद्ध है । एक स्वभाववाला नहीं है, जिससे कि हमारा कारणभेद हेतु व्यभिचारी हो जानेसे दर्शन, ज्ञान, चारित्रों या इसी प्रकार क्षमा, ब्रह्मचर्य, मार्दव, आदिके स्वभावभेदोंको सिद्ध न कर पाता । भावार्थ—कारणभेद हेतु अव्यभिचारी है । वह स्वभावभेदको सिद्ध कर ही देता है । विशेष यह है कि जो कार्यरूप परिणमता है, उसको उपादान कहते हैं, जैसे रोटी बनानेमें चून । और जो उपादानके साथ रहकर कार्य करनेमें सहायक होता है, वह सहकारी कारण है । जैसे कि रोटी बनानेमें चकला, बेलना । दूसरे प्रकारका सहकारी कारण वह भी होता है, जो कि साक्षात् कार्य करनेमें तो सहायता न करे, किंतु कारणोंका कार्य करानेमें प्रयोजक हो जावे । जैसे कि एक मनुष्यसे रस्सीके द्वारा कुंएमेंसे घडा नहीं खिंचता है । दूसरे मनुष्यने आकर साथ लेजुको तो नहीं खींचा किंतु लेजु पकडे हुए उस मनुष्यको खींच लिया । ऐसी दशामें दूसरा प्रेरक मनुष्य भी सहकारी कारण माना जा सकता है । और भी कतिपय प्रकारके सहकारी कारण होते हैं । जैसे घडेके बनानेमें कुलाल कर्तारूपसे, दण्ड चाकको घुमानेसे, और चाक मिट्टीका गोल आकार करानेसे तथा डोरा घडेसे लगी हुयी नीचेकी मिट्टीको काटनेसे, सहकारी हैं और ठण्डा पानी पीनेवालोंका पुण्य या घडेके नीचे दब पिचकर हानि उठानेवाले जीवोंका पाप भी अप्राप्यकारी होकर घट बनानेमें सहकारी हैं ।

तेषां पूर्वस्य लाभेऽपि भाज्यत्वादुत्तरस्य च ।
नैकान्तेनैकता युक्ता हर्षामर्षादिभेदवत् ॥ ६६ ॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्रको भिन्न सिद्ध करनेमें यह भी एक ज्ञापक हेतु है कि उन दर्शन आदि गुणोंके पूर्ववर्ती गुणका लाभ हो जानेपर भी उसका उत्तरवर्तीगुण भाज्य होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होवे तो पूर्ण सम्यग्ज्ञान होवे भी और न भी होवे। कुछ नियम नहीं । एवं दर्शन और ज्ञानके होते हुए भी पूर्णचारित्र होवे न भी होवे, यह भी भजनीय है । यदि एकान्तपनेसे तीनोंको एक माना जावेगा तो यह भजनीयपना युक्त न होगा । अतः हर्ष, क्रोध, पण्डिताई बल आदि परिणतियोंके भेदके समान दर्शन आदिकमें भी भेद है । एकान्तसे अभेद नहीं है ।

न चेदमसिद्धं साधनम्—

भेदसिद्ध करनेमें दिया गया पूर्वके लाभ होनेपर भी उत्तरवर्ती गुणकी विद्यमानताका अनियमपनरूप हेतु असिद्ध नहीं है अर्थात् तीनों रत्नस्वरूप पक्षमें हेतु रहजाता है। अतः स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं है।

तत्त्वश्रद्धानलाभे हि विशिष्टं श्रुतमाप्यते।
नावश्यं नापि तल्लाभे यथाख्यातममोहकम् ॥ ६७ ॥

तत्त्वोंका श्रद्धान करना स्वरूप सम्यग्दर्शनके लाभ हो जानेपर निश्चयकर सर्वोत्तम द्वादशांग श्रुतज्ञान अवश्य प्राप्त हो ही जावे यह नियम नहीं है। और उस सम्यग्ज्ञानके लाभ हो जाने पर भी मोहनीयकर्मकी सत्तासे रहित और आनुषंगिक दोषोंसे रहित पूर्ण यथाख्यातचारित्र भी अवश्य प्राप्त हो ही जावे ऐसा नियम नहीं है। होवे भी और न भी होवे, यों विकल्पनीय है।

न ह्येवं विरुद्धधर्माध्यासेऽपि दर्शनादीनां सर्वथैकत्वं युक्तमतिप्रसंगात्। न च स्याद्वादिनः किञ्चिद्विरुद्धधर्माधिकरणं सर्वथैकमस्ति, तस्य कथञ्चिद्भिन्नरूपत्वव्यवस्थितेः। न च सत्त्वादयो धर्मा निर्बाधबोधोपदर्शिताः क्वचिदेकत्रापि विरुद्धा, येन विरुद्धधर्माधिकरणमेकं वस्तु परमार्थतः न सिध्येत्। अनुपलम्भसाधनत्वात् सर्वत्र विरोधस्यान्यथा स्वभावेनापि स्वभाववतो विरोधानुषंगात्। ततो न विरुद्धधर्माध्यासो व्यभिचारी।

इस प्रकार अनेक विरुद्ध धर्मोंके आधार होते हुए भी दर्शन आदिकोंको सर्वथा एकपना मानना युक्त नहीं है। यदि ऐसा मानोगे तो अतिप्रसंग हो जावेगा। अर्थात् रूपसहितपना और ज्ञानसहितपना इन विरुद्ध धर्मोंके होते हुए भी पुद्गल और जीवद्रव्य भी एक हो जावेंगे। तथा अनेक विरुद्ध कार्योंको करनेवाले घट, पट, स्तम्भ आदि भी एक पदार्थ बन जावेंगे। हम स्याद्वादियोंके यहां विरुद्ध धर्मोंका आधारभूत कोई भी पदार्थ सर्व प्रकारोंसे एक नहीं माना गया है। उसको कथञ्चित् भिन्नरूपपना ही युक्ति, आगमों द्वारा सिद्ध किया जाता है। एक अग्निमें भी यदि दाहकत्व, पाचकत्व आदि अनेक धर्म हैं तो वह भी भिन्न भिन्न अनेक स्वभाववाली है, सर्वथा एक नहीं है। दूसरी बात यह है कि वस्तुतः विचारा जावे तो अग्निमें विद्यमान हो रहे दाहकत्व, पाचकत्व आदि धर्म विरुद्ध हैं ही नहीं, उनमें सहानवस्थान (एक साथ न रहना) रूप विरोधका लक्षण नहीं घटता है। रूपवत्त्व और ज्ञानवत्त्व तथा गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्व एवं आकर्ष्यत्व और आकर्षकत्व आदि अवश्य विरुद्ध धर्म है। जो कि एक द्रव्यमें नहीं ठहरपाते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, आदि धर्म किसी एक पदार्थमें रहते हुये भी बाधारहित ज्ञानके द्वारा देखे जा रहे हैं। अतः विरुद्ध नहीं हैं। जीवद्रव्य तीनों कालोंमें विद्यमान है। वह अनेक गुणोंका निवास है। वह प्रतिक्षण परिणमन करता है जिससे कि विरुद्ध सरीखे दीखते हुए अनेक धर्मोंका अधिकरण एक वस्तु यथार्थरूपसे सिद्ध न होती, अर्थात् उक्त अनेक अविरुद्ध धर्मोंकी आधार मानी गयी

एक वस्तु सिद्ध हो जाती है। हां! विरुद्ध कतिपय धर्मोंका आधारभूत एक वस्तु परमार्थरूपसे सिद्ध न होगी। जो धर्म एक धर्मीमें कभी किसीके द्वारा नहीं देखे जाते हैं, इस अनुपलम्भ प्रमाणसे सभी स्थानोंमें विरोधकी सिद्धि की जाती है। यदि ऐसा न मानोगे अर्थात् दूसरे प्रकारसे कहोगे कि जिन धर्मोंका एक वस्तुमें साथ साथ उपलम्भ हो रहा है, उनका भी परस्परमें विरोध माना जावेगा, तब तो स्वभाववाली वस्तुका अपने स्वभावके साथ भी विरोध होनेका प्रसंग आजावेगा। तथा च अग्निका उष्णताके साथ और आत्माका ज्ञानके साथ भी विरोध ठन जावेगा, जो कि किसीको इष्ट नहीं है। जिस कारणसे अबतक सिद्ध होता है कि विरुद्ध गुणवाले गुणी द्रव्य जैसे भिन्न भिन्न होते हैं वैसे ही एक द्रव्यके गुण और पर्याय भी अनेक विरुद्ध स्वभावोंसे युक्त होते हुए भिन्न हैं। अतः विरुद्ध धर्मोंका अधिकरणत्व हेतु व्यभिचारी नहीं है, दर्शन आदिकोंके भेदको सिद्धकर ही देवेगा।

नन्वेवमुत्तरस्यापि लाभे पूर्वस्य भाज्यता ।
प्राप्ता ततो न तेषां स्यात्सह निर्वाणहेतुता ॥ ६८ ॥

यहां शंका है कि जैसे पूर्वकथित दर्शन गुणके होजानेपर भी ज्ञान और चारित्रके होजानेका कोई नियम नहीं है और दर्शन, ज्ञानके होजानेपर भी चारित्र होनेका नियम नहीं है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती गुणके लाभ होजानेपर भी तो पूर्वगुणकी भाज्यता प्राप्त होती है। क्योंकि जब वे तीनों गुण स्वतंत्र हैं, उनके स्वभाव एक दूसरेसे विरुद्ध हैं, ऐसी दशामें सम्भव है कि उत्तरवर्ती गुण होवे और पूर्वका गुण न होवे। देखा भी जाता है कि किसी जीवके अनेक वर्षोंसे सम्यग्ज्ञान है, किंतु उस जीवके क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं है। एवं क्षायिक चारित्र भी होजाता है। फिर भी बारहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान नहीं है। अतः उस भाज्यताके कारण उक्त तीनों गुणोंको साथ रहकर मोक्षका मार्गपना प्राप्त नहीं होता है। जो विरुद्ध धर्मोंके आधार हैं, वे मिलकर भी एक कार्यमें अग्नि और जलके समान भला सहायक भी कैसे होंगे ? ।

नहि पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरमुत्तरस्य तु लाभे नियतः पूर्वलाभ इति युक्तम्, तद्विरुद्धधर्माध्यासस्याविशेषात्, उत्तरस्यापि लाभे पूर्वस्य भाज्यताप्राप्तेरित्यस्याभिमननम् ।

आक्षेपकार कहता है कि पूर्व गुणके प्राप्त हो जानेपर आगेका गुण भजनीय है और उत्तरवर्ती गुणके लाभ हो जानेपर तो पूर्वगुणका लाभ होना नियमसे बद्ध है, यह जैनोंका कहना युक्तिसहित नहीं है। क्योंकि वह विरुद्ध धर्मोंसे आरूढ हो जाना तीनों गुणोंमें अन्तर रहित विद्यमान है। उत्तर गुणके लाभ हो जानेपर भी पहिले गुणको विकल्पसे रहनापन प्राप्त है। अर्थात् किसी ठाकुरके यहां हाथी रहनेपर घोडा होवे ही यह नियम नहीं, जब कि हाथी और घोडा अपनी स्वतंत्रताके साथ न्यारे न्यारे भी रहसकते हैं। किसी प्रभुके केवल हाथी है और किसीके यहां अकेला घोडा है। भले ही किसीके दोनों भी होवें। ग्रंथकार कहते हैं कि इस

प्रकार इस शंकाकारका गर्वसहित मानना है। भेद सिद्ध करनेमें हमारी ओरसे दिये गये विरुद्ध-धर्माध्यासरूप हेतुके प्रयोजक उत्तर गुणकी भाज्यताको बिगाड देनेका इस शंकाकारका अभिप्राय है।

तन्नोपादेयसम्भूतेरुपादानास्तितागतेः ।
कटादिकार्यसंभूतेस्तदुपादानसत्त्ववत् ॥ ६९ ॥
उपादेयं हि चारित्रं पूर्वज्ञानस्य वीक्ष्यते ।
तद्भावभाविताद्दृष्टेस्तद्वज्ज्ञानदृशोर्मतम् ॥ ७० ॥

वह शंकाकारका कहना ठीक नहीं हैं। क्योंकि उपादानसे बनाये गये कार्यकी उत्पत्ति हो जानेसे उपादान कारणके अस्तित्वका ज्ञान हो जाता है। जैसे कि चटाई घर आदि कार्योंके पैदा हो जानेसे उनके उपादान कारण माने गये पटेरा, पलिंगा, तृण मिट्टी आदि कारणोंका सत्त्व प्रतीत हो जाता है। पूर्ववर्ती ज्ञानस्वरूप उपादान कारणका उपादेय कार्य चारित्र देखा जाता है। क्योंकि उस ज्ञानके होनेपर चारित्रका होना और ज्ञानके न होनेपर चारित्रका न होना यह अन्वय व्यतिरेक देखा जा रहा है। उसी प्रकार ज्ञान और दर्शनमें भी उपादान उपादेय भाव माना गया है। भावार्थ—पहिले दर्शन होगा तभी ज्ञान हो सकेगा। यहां अभेददृष्टि या निश्चय नयसे दर्शनको ज्ञानका और ज्ञानको चारित्रका उपादानकारण मान लिया है। क्योंकि चेतनस्वरूप आत्माके कोई भी गुण अन्य गुणोंमें प्रतिफलन होकर कार्य करते हैं। जैसे अस्तित्वगुण स्वतंत्र है। वह अपनेको तीनों कालोंमें स्थित रखता है। फिर भी अस्तित्वसे अभिन्न द्रव्यत्व, वस्तुत्व आदि गुणोंमें भी अस्तित्वका प्रतिफलन (छाया) है। अतः द्रव्यत्व आदिक भी अनादि अनंत कालतक सत्रूप स्थित रहेंगे। ऐसे ही द्रव्यत्व गुण स्वयं प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्यायोंको धारण करता है। किंतु द्रव्यत्वसे अभिन्न अस्तित्व, अगुरुलघुत्व आदि गुणोंको भी प्रतिक्षण नवीन पर्यायें धारण करनी पडती हैं। साझेका काम ऐसा ही हुआ करता है। अतः द्रव्यदृष्टिसे ज्ञानको दर्शनका और चारित्रको ज्ञानका उपादेय ठहराया है। यदि प्रमाण दृष्टिसे विचार किया जावेगा तो दर्शन, ज्ञान, (चेतना) चारित्र इन तीन भिन्न गुणोंकी पूर्ववर्ती न्यारी न्यारी पर्यायें उपादान कारण हैं और उत्तरकालमें होनेवाली पर्यायें उपादेय हैं। हां, ज्ञानका दर्शन (सम्यक्त्व) गुण निमित्त कारण हो जाता है। उपादान कारण तो चेतना है और दर्शनका ज्ञान नैमित्तिक कार्य बन जाता है। जब कि द्रव्यत्वसे इन गुणोंमें उपादान उपादेय भाव है। तब पूर्वके लाभ होनेपर उत्तर गुणको ही भाज्यता प्राप्त होगी। किंतु उत्तरवर्ती गुणके हो जानेपर पूर्व गुणकी सत्ता, तो विकल्पसे नहीं मानी जा सकेगी। कारण होय और उत्तरवर्ती कार्य न भी होय। किंतु यदि उत्तरवर्ती कार्य है तो पूर्ववर्ती कारण अवश्य हो चुका है।

न हि तद्भावभावितायां दृष्टायामपि कस्यचित्तदुपादेयता नास्तीति युक्तम्, कटादिवत् सर्वस्यापि वीरणाद्युपादेयत्वाभावानुषक्तेः न चोपादेयसम्भूतिरुपादानास्तितां न गमयति। कटादिसम्भूतेर्वीरणाद्यस्तित्वस्यागतिप्रसंगात्, येनोत्तरस्योपादेयस्य लाभे पूर्वलाभो नियतो न भवेत्।

उसके होनेपर होनापनको देखते सन्ते भी किसीको उसकी उपादेयता नहीं है, यह नहीं कहना चाहिये। अन्यथा चटाई, कपडा आदिके समान सर्व ही पदार्थोंको उशीर, तृण, तन्तु आदिके द्वारा उपादेयपनेके अभावका भी प्रसंग हो जावेगा। भावार्थ— चटाई आदिके उपादान कारण अब तृण, पटेरे आदि न हो सकेंगे और ऐसे ही गृह बनानेमें ईंट, चूना और लड्डू बनानेमें बेसन, घी आदि उपादान कारण न हो सकेंगे। उपादेय कार्यकी उत्पत्ति हो जाना पूर्वकालके उपादान कारणकी अस्तिताको नहीं समझाती है, यह नहीं कह बैठना अर्थात् कार्यसे उपादान कारणका ज्ञान हो ही जाता है। यदि ऐसा न माना जावेगा तो चटाई, कुण्डल, आदिकी उत्पत्तिसे तिनका, सुवर्ण, आदि उपादान कारणोंके अस्तित्वका ज्ञान नहीं होना चाहिये था। यह अनिष्ट प्रसंग पडेगा। किन्तु ज्ञान हो ही जाता है, जिससे कि उत्तरवर्ती उपोदयके लाभ हो जानेपर पूर्ववर्ती उपादानका लाभ हो चुकना नियत न होता अर्थात् उपादेयाका लाभ हो जानेपर उपादानका लाभ नियत है। उक्त नियति करनेसे हमारा पहिला नियम करनेका सिद्धांत न बने, सो नहीं है। अर्थात् पूर्वका लाभ होनेपर उत्तरवर्ती भजनीय है।

तत एवोपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभः, कारणानामवश्यं कार्यवत्त्वाभावात्, समर्थस्य कारणस्य कार्यत्वमेवेति चेन्न, तस्येहाविवक्षितत्वात्। तद्विवक्षायां तु पूर्वस्य लाभे नोत्तरं भजनीयमुच्यते स्वयमविरोधात्।

इस पूर्व उत्तरवर्ती गुणोंका उपादान उपादेयभाव होजानेसे ही उपादानके लाभ होजानेपर उत्तरवर्ती उपादेयका लाभ होजाना नियत नहीं है। क्योंकि कारणोंको आवश्यकरूपसे कार्यसहितपनेका अभाव है। भावार्थ—कार्य तो कारणोंसे युक्त अवश्य होते ही हैं। किंतु संपूर्ण ही कारण अपने कार्योंको उत्पन्न कर ही देवें, ऐसा नियम नहीं है। सामग्रीके न मिलनेसे अनेक कारण कार्योंको विना उत्पन्न किये हुए ही यों ही पडे रहते हैं। अतः पहिले गुणके होनेपर उत्तरवर्ती कार्य होवें ही, ऐसा नियम नहीं है, तथा च उत्तरवर्तीगुण विकल्पनीय है। यदि यहां कोई यों कहे कि सामग्रीसे युक्त होरहा समर्थ कारण तो अवश्य ही कार्यवाला है। क्योंकि प्रतिबन्धकोंके अभावसे और संपूर्ण कारणपरिकरोंसे सहित समर्थ कारण अवश्य ही उत्तरक्षणमें, कार्योंको पैदा करता है। तब तो पूर्व गुणकी भी उत्तरगुणके साथ समव्याप्ति बन जाती है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकरणमें इस समर्थ कारणकी विवक्षा नहीं की

गयी है। हां, यदि उन समर्थ कारणोंकी विवक्षा की जावेगी, तब तो पूर्वके लाभ होजानेपर उत्तर-गुण विकल्पनीय नहीं कहा जाता है। ऐसी बात कहनेमें हमको स्वयं कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—समर्थ सम्यग्दर्शन नियमसे पूर्ण ज्ञानको पैदा कर देवेगा और समर्थज्ञान भी चारित्रको उत्पन्न करदेवेगा। ऐसी दशामें कार्यकारणोंकी दोनों ओरसे समव्याप्ति है। उस समय भेदके साधक भाज्यतारूप हेतुको हम उठा लेवेंगे।

इति दर्शनादीनां विरुद्धधर्माध्यासाविशेषेप्युपादानोपादेयभावादुत्तरं पूर्वास्तितानियतं न तु पूर्वमुत्तरास्तित्वगमकम्।

इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणोंको विरुद्ध धर्मोंके अन्तररहित अधिकरण होते हुए भी सामान्यपनेसे उपादान उपादेय भावकी अपेक्षासे उत्तरवर्ती गुण पूर्वगुणके अस्तित्वके साथ नियत है। किंतु पूर्वका गुण तो उत्तरवर्तीके अस्तित्वका ज्ञापक नहीं है। भावार्थ—लोकमें अन्वय व्यतिरेकके द्वारा व्यक्तिरूपसे कार्यकारणभावका निर्णय होना अधिक प्रसिद्ध है। सामग्रीरूप समर्थ कारणका तो कहीं कहीं विचार किया जाता है। क्योंकि समर्थ कारणके उत्तरकालमें जब कि तत्क्षण कार्य हो ही जाता है, ऐसी दशामें कार्यको बनानेके लिये किस किस कारण की योजना करना चाहिये, ऐसा विचार एक प्रकारसे व्यर्थ पडता है।

ननूपादेयसम्भूतिरुपादानोपमर्दनात्।
दृष्टेति नोत्तरोद्भूतौ पूर्वस्यास्तित्वसंगतिः॥ ७१॥

यहां अब न्यारी शंका है कि उपादेय कार्यकी उत्पत्ति तो उपादान कारणके मटियामेट (ध्वंस) हो जानेसे देखी गयी है, जैसे कि तैलके नष्ट हो जाने पर दीपकलिका या खातके ध्वंस हो जाने पर नाज, करब आदि अथवा कमलके उपयोगी कीचडके सर्वथा बिगड जानेपर कमल होता है। इस प्रकार उपादेय अवस्थामें उपादानका जब समूलचूल नाश हो चुका तो उत्तर गुणकी उत्पत्ति हो जानेपर उपादान कारण कहे जारहे पूर्व गुणके अस्तित्वका परिज्ञान आप जैन नहीं कर सकेंगे। क्योंकि वह पदार्थ ही नहीं रहा। "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" ऐसा समंतभद्र वचन है। उपादान कारणका पूर्व आकारसे क्षय हो जाना ही कार्यकी उत्पत्ति है।

सत्यप्युपादानोपादेयभावे दर्शनादीनां नोपादेयस्य सम्भवः पूर्वस्यास्तितां स्वकाले गमयति, तदुपमर्देनेन तदुद्भूतेः। अन्यथोत्तरप्रदीपज्वालादेरस्तित्वप्रसक्तिः तथा च कुतस्तत्कार्यकारणभावः समानकालत्वात् सव्येतरगोविषाणवदित्यस्याकूतम्।

कारिकाका भाष्य यों है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणोंका जैनोंके अनुसार उपादान उपादेयभाव होते हुए भी उपादेय कार्यका उत्पन्न हो जाना पूर्वकारणकी सत्ताको अपने कालमें

नहीं समझा सकता है। क्योंकि उस कारणके पदरा (चौपट) हो जानेसे वह कार्य उत्पन्न होता है। उपादानके क्षयको आपने कार्यकी उत्पत्ति माना है " कार्योत्पादः क्षयो हेतोः " उपादानका क्षय ही उपादेयका उत्पाद है। यदि ऐसा न मानकर आप दूसरे प्रकारसे मानोगे तो उपादेयके समयमें आगे आगे होनेवाली पहिली अनेक पर्यायोंका सत्त्व मानना पडेगा। दीपककी पहिली कलिका दूसरीको और दूसरी तीसरीको उत्पन्न कर रही हैं। यदि दूसरी कलिकाके उत्पन्न कर चुकनेपर पहिली कलिकाका नाश और तीसरी कलिकाके उत्पन्न हो जानेपर दूसरी कौका नाश न हो गया होता तो एक दीपककी एक समयमें दो, तीन कलिकाएं दीख जातीं। इस प्रकार हजारों कलिकाओंके दीखनेका प्रसंग आता है। ऐसे ही एक ही सुवर्णके क्रमसे केयूर, कुण्डल, कडे बन जानेपर पहिली अवस्थाओंका सत्त्व मानना पडेगा। और तैसा होजानेपर समान कालवाले उन परिणामोंका कार्यकारणभाव भी कैसे होगा ? जैसे कि गौके एक समयमें उत्पन्न हुए सीधे और डेरे सींगोंमें परस्पर कार्यकारणभाव नहीं है, वैसे ही एक समयमें विद्यमान होरहीं अनेक दीपकलिकाओंका या अग्निकी ज्वालाओं अथवा स्थास, कोष, कुशूल, घट, आदिका उपादान उपादेय भाव कैसे बन सकता है ? कथमपि नहीं। यहां इस प्रकार इस शंकाकारकी चेष्टा हो रही है कि ज्ञानकालमें दर्शन नहीं है और चारित्रके कालमें ज्ञान, दर्शन दोनों ही नहीं हैं। फिर भाज्यपना कैसे ? बताओ। अब आचार्य महोदय समझाते हैं।

सत्यं कथञ्चिदिष्टत्वात्प्राङ्नाशस्योत्तरोद्भवे।
सर्वथा तु न तन्नाशः कार्योत्पत्तिविरोधतः॥ ७२॥
ज्ञानोत्पत्तौ हि सद्दृष्टिस्तद्विशिष्टोपजायते।
पूर्वाविशिष्टरूपेण नश्यतीति सुनिश्चितम्॥ ७३॥
चारित्रोत्पत्तिकाले च पूर्वदृग्ज्ञानयोश्च्युतिः।
चर्याविशिष्टयोर्भूतिस्तत्सकृत्त्रयसम्भवः॥ ७४॥

यह शंकाकारका कहना किसी अपेक्षासे ठीक है, देखो, उत्तरपर्यायके उत्पन्न हो जानेपर पहिली पर्यायका कथञ्चित् नाश हो जाना हम जैनोंको अभीष्ट है। किन्तु उस पहिली पर्यायका अन्वयसहित सर्वथा नाश हो जाना नहीं बनता है। क्योंकि ऐसे तो कार्यकी उत्पत्ति होनेका ही विरोध है। भित्ति होनेपर ही चित्र ठहर सकता है। गङ्गाकी धारा टूटनेसे ही गंगा नदी बहती है। हम कहते हैं कि ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर उस ज्ञानसे विशिष्ट नवीन सम्यग्दर्शन विषय उत्पन्न हो जाता है और ज्ञानसे विशिष्ट नहीं यानी रहित अपने पहिले स्वरूपसे सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तो सत्के प्राण हैं, यह बात प्रमाणोंसे श्रीसमन्तभद्र आदि आचार्योंने अच्छी तरह निर्णीत कर दी है। ऐसे ही चारित्रके उत्पन्न होते समय पहिले चारित्ररहित

हो रहे दर्शन ज्ञानरूप परिणामोंका ध्वंस हो गया है। और चारित्रसे सहित होरहे ज्ञान, दर्शन पर्यायोंकी उत्पत्ति हो गयी है। इस कारण एक समयमें भी उन तीनों गुणोंका विद्यमान रहना संभव है। अतः पूर्वके लाभ होनेपर उत्तरकी सत्ताका विकल्प होना रूप अखण्ड सिद्धांत सिद्ध हुआ।

दर्शनपरिणामपरिणतो ह्यात्मा दर्शनम्, तदुपादानं विशिष्टज्ञानपरिणामस्य निष्पत्तेः पर्यायमात्रस्य निरन्वयस्य जीवादिद्रव्यमात्रस्य च सर्वथोपादानत्वायोगात् कूर्मरोमादिवत्।

आत्मद्रव्यकी सम्यग्दर्शन होना एक अभिन्न परिणति है। उस परिणतिसे परिणमन करता हुआ आत्मा ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वह सम्यग्दर्शन तो आत्माके सम्यग्दर्शनविशिष्ट सम्यग्ज्ञानरूप परिणामकी उत्पत्तिका उपादान कारण है। जैसे कुशूल अवस्थासे युक्त मिट्टी ही घटका उपादान कारण है। बिना अन्वेता द्रव्यके केवल पूर्ववर्ती पर्याय उत्तर पर्यायका उपादान नहीं हो पाती है और पर्यायोंसे कल्पित किया गया अकेला जीवद्रव्य भी ज्ञान, दर्शन, आदिका सर्व प्रकारसे उपादान कारण नहीं है। ऐसे केवल कुशूल पर्याय या अकेली मिट्टीको घटके उपादानकारण हो जानेका योग नहीं है। किंतु कुशूल अवस्थासे सहित हो रही मिट्टी उपादान कारण है। जैसे कछुवेके बाल, आकाशका फूल आदि असत् पदार्थ हैं, वैसे ही बौद्धोंकी मानी हुयी द्रव्यरहित पूर्व उत्तर पर्यायें और सांख्योंका माना हुआ पर्यायोंसे रहित आत्मद्रव्य भी असत् पदार्थ है, कोई वस्तुभूत नहीं है।

तत्र नश्यत्येव दर्शनपरिणामे विशिष्टज्ञानात्मतयात्मा परिणमते, विशिष्टज्ञानासहचारितेन रूपेण दर्शनस्य विनाशात्तत्सहचरितेन रूपेणोत्पादात्, अन्यथा विशिष्टज्ञानसहचरितरूपतयोत्पत्तिविरोधात् पूर्ववत्।

इस प्रकरणमें यह कहना है कि पहिली रिक्त दर्शन पर्यायके नाश होजानेपर ही सम्यक्त्व करके विशिष्ट होरहे ज्ञानस्वरूपसे आत्मा परिणमन करता है। पूर्ण श्रुतज्ञान या केवलज्ञानके उत्पन्न होनेके पहिले सम्यग्दर्शन गुण अकेला था। विशिष्ट ज्ञान होजानेपर तो विशिष्ट ज्ञानके साथ न रहनेवाले स्वरूप करके सम्यग्दर्शनका नाश होजाता है और विशिष्ट ज्ञानके साथ रहनेवाले स्वभाव करके दर्शनका उत्पाद होजाता है। अन्यथा यानी यदि पहिले असहचारीरूपसे दर्शनका नाश न होगया होता तो विशिष्ट ज्ञानके सहचारीपन स्वभाव करके दर्शनकी उत्पत्ति होनेका विरोध होजाता। जैसे कि विशिष्टज्ञान उत्पन्न होनेके पहिले दर्शनगुणकी असंख्य पर्यायें ज्ञानसे असहचरपने करके उत्पन्न हो चुकीं हैं। यदि साथ न रहनेपनका नाश न मानाजावे तो पूर्वकीसी दर्शनकी ज्ञानरहित परिणतियां ही होती रहेंगी। ज्ञानसहित परिणति होजानेका अवसर न मिलेगा। एक समयमें सहचरित और असहचरितपनेसे परिणतियां हो नहीं सकतीं। क्योंकि विरोध दोष है।

तथा दर्शनज्ञानपरिणतो जीवो दर्शनज्ञाने, ते चारित्रस्योपादानम्, पर्यायविशेषात्मकस्य द्रव्यस्योपादानत्वप्रतीतेर्घटपरिणमनसमर्थपर्यायात्मकमृद्द्रव्यस्य घटोपादानत्ववत्, तत्र नश्यतोरेव दर्शनज्ञानपरिणामयोरात्मा चारित्रपरिणाममियर्ति चारित्रासहचरितेन रूपेण तयोर्विनाशाच्चारित्रसहचरितेनोत्पादात्, अन्यथा पूर्ववच्चारित्रासहचरितरूपत्वप्रसङ्गात् ।

इस ही प्रकार दर्शन और ज्ञान पर्यायोंसे परिणमन करता हुआ संसारी जीव द्रव्य ही दर्शनज्ञानरूप है । वे दर्शन और ज्ञानगुण दोनों उत्तरवर्ती चारित्र गुणके उपादान कारण हैं । विशेष पर्यायोंसे अभेद रखता हुआ द्रव्य ही उपादानरूपपनेसे प्रतीत होरहा है । जैसे कि घटरूप पर्यायको बनानेके लिये समर्थ शिवक आदि पर्यायें हैं । उन शिवक, छत्र, स्थास, कोष और कुशूल पर्यायोंसे तदात्मक होरहा मृत्तिका द्रव्य ही घटका उपादान कारण माना गया है। यदि पूर्वसमयवर्ती अकेली पर्यायको ही उपादान कारण कहते तो द्रव्यके अन्वयरहित उस पर्यायके सर्वथा नाश होजानेसे कार्यकालमें उपादानकारणका दर्शन नहीं हो सकता था। किंतु जैन सिद्धांतके अनुसार प्रत्येक पर्यायमें द्रव्यका अन्वय लग रहा है । जैसे कि मोतीकी मालामें पिरोये हुए डोरेका अन्वय ओतपोत होरहा है। अकेला द्रव्य भी उपादान नहीं है । अन्यथा सर्व ही पर्यायें युगपत् होजानी चाहिये और केवल द्रव्य कूटस्थ होकर पर्यायें भी क्यों धारण करेगा ? अतः पर्याययुक्त द्रव्य उपादान है । देखो ! घटज्ञानके उत्तर कालमें पटज्ञान उत्पन्न हुआ। यहां चेतनापरिणतिके अनुसार घटज्ञान उपादान कारण है । वह ज्ञानपनेसे नष्ट नहीं हुआ है । किंतु ज्ञानमें घटकी विषयिता नष्ट होगयी है और पटकी विषयिता उत्पन्न होगयी है । ज्ञानकी सत्ता परिणमन करती हुयी सर्वदा विद्यमान है । जैसे सूक्ष्म रूपसे परिणमन करती हुयी कलिकाके प्रकाशमें घटको दूर कर पट रखदिया जाता है । वहां प्रकाश्य बदल गया है । प्रकाशक वही है । इस प्रकरणमें नाशको प्राप्त होते हुए ही दर्शन और ज्ञान पर्यायोंका परिणामी आत्मा ही चारित्र पर्यायको प्राप्त होता है । तब चारित्रगुणके असहचारी स्वभावसे उन दोनों दर्शन और ज्ञानका नाश हो चुका है और चारित्रगुणके साथ रहनेपनसे दर्शन, ज्ञानका उत्पाद हो गया है। यदि ऐसा उत्पाद, विनाश न स्वीकार कर अन्य प्रकारोंसे माना जावेगा तो पहिली अवस्थाके समान चारित्र गुणके प्रगट होनेपर भी दर्शन, ज्ञान गुणोंको चारित्रके साथ न रहने स्वरूपका प्रसंग हो जावेगा जो कि इष्ट नहीं है । तभी तो चारित्रके समय तीनों गुण माने गये हैं ।

इति कथञ्चित्पूर्वरूपविनाशस्योत्तरपरिणामोत्पत्त्यविशिष्टत्वात् सत्यमुपादानोपमर्दनेनोपादेयस्य भवनम् । न चैवं सकृद्दर्शनादित्रयस्य सम्भवो विरुध्यते चारित्रकाले दर्शनज्ञानयोः सर्वथा विनाशाभावात् ।

इस प्रकार पूर्वपर्यायका कथञ्चित् नाश हो जाना ही उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति है। विशेष अंतर नहीं है। इस कारण उपादान कारणके मटियामेट हो जानेसे उपादेयकी उत्पत्ति होना यह सिद्धांत

भी ठीक बैठ जाता है। इस प्रकार माननेसे उपादान उपादेयरूपसे निश्चित किये गये दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों गुणोंके एक समयमें उपज जानेका विरोध है, सो नहीं समझना। क्योंकि चारित्र उत्पन्न होनेके समय उपादान कारण कहे गये दर्शन और ज्ञानका सर्व प्रकारोंसे नाश नहीं हुआ है। केवल चारित्रके साथ न रहनेपनका ही नाश हुआ है। उपादान कारण द्रव्य तो अक्षुण्ण विद्यमान है। अतः तीनों गुण एक समयमें भी पाये जा सकते हैं। घटके दृष्टांतमें भी केवल कुशूल अवस्थाका नाश होकर घट पर्यायसे युक्त मृत्तिका बन गयी है तभी तो पकानेसे पहिले मिट्टीकी शिवकसे लेकर घट तककी पर्यायोंमें वैसेके वैसे ही मृत्तिकाके स्पर्श, रूप, रस आदिक बने रहते हैं। सोने चांदीके घडेमें तादृश रहते हैं। हां! रहित सहितपनेका अंतर पड जाता है।

एतेन सकृद्दर्शनज्ञानद्वयसम्भवोपि क्वचिन्न विरुध्यते इत्युक्तं वेदितव्यम्, विशिष्टज्ञानकार्यस्य दर्शनस्य सर्वथा विनाशानुपपत्तेः। कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणत्वविरोधात् प्रलीनतमवत्। ततः कार्योत्पत्तेरयोगाद्गत्यन्तरासम्भवात्।

उक्त कथनसे दर्शन और ज्ञान इन दोनोंका एक समयमें सम्भव होना भी कहीं भी विरुद्ध नहीं होता है, यह भी कहा गया समझ लेना चाहिये। विशिष्टज्ञान है कार्य जिसका ऐसे पूर्ववर्ती सम्यग्दर्शनका सर्व प्रकारसे नाश हो जाना युक्तिसिद्ध नहीं है। जो कारण पूर्वसमयमें ही सर्वथा नष्ट हो चुकेगा वह उत्तरवर्ती कार्यरूप परिणत भला कैसे होगा?! जो कारण कार्य होनेके समयमें प्राप्त नहीं हो रहा है, उसको कारणपनेका विरोध है। भले ही वह कार्यके एक समय पहिले जीवित था। किंतु " मरे हुए बाबा गुड नहीं खाते " इस लोकन्यायके अनुसार ध्वस्त पदार्थ उसी प्रकार कार्यकारी नहीं हैं, जैसे कि सहस्रों वर्ष प्रथम नष्ट हो चुका कारण इस वर्तमानके प्रकृतकार्यको नहीं करपाता है। वैसे ही एक समय प्रथम प्रलयको प्राप्त हो चुका कारण भी कार्यको न कर सकेगा। कई दिन प्रथम मर चुका बुड्ढा जैसे गुड नहीं खाता है वैसे ही एक क्षण पहिले मर चुका वृद्ध भी गुड नहीं खा सकता है। कारणोंकी सत्ता ही कार्यको करती है। कारणोंका ध्वंस कार्यको नहीं करता है। जो कारण कार्यके समय विद्यमान नहीं हैं उससे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। विवाहकी पाणि–ग्रहण क्रियाके समय दूल्हाका रहना आवश्यक है। कारणके विद्यमान रहनेके अतिरिक्त कार्यकी उत्पत्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। जैनसिद्धांतमें पर्यायसहित द्रव्यको उपादान कारण माना है। कार्यकालमें द्रव्य विद्यमान है। परिणतियां बदलती रहती हैं।

नन्वत्र क्षायिकी दृष्टिर्ज्ञानोत्पत्तौ न नश्यति।
तदपर्यन्तताहानेरित्यसिद्धान्तविद्वचः॥ ७५॥

यहां शंका है कि आप जैन यदि ज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेपर पूर्वदर्शन पर्यायका नाश होना मानते हो तो बतलाओ! इसका उपाय क्या है कि क्षायिकसम्यग्दर्शनके पश्चात् विशिष्ट ज्ञानके

उत्पन्न होनेपर तो पहिला क्षायिकसम्यक्त्व नष्ट नहीं होता है। क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्वको अवि-नाशी अनंत माना गया है। नष्ट हो जानेसे तो उस क्षायिकसम्यक्त्वके अनंतत्वकी हानि होती है, जो कि इष्ट नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार शंकाकारके वचन तो जैनसिद्धांतको नहीं समझकर कहनेवालेके कहना चाहिये।

क्षायिकदर्शनं ज्ञानोत्पत्तौ न नश्यत्येवानन्तत्वात् क्षायिकज्ञानवत्, अन्यथा तद-पर्यन्तत्वस्यागमोक्तस्य हानिप्रसंगात्। ततो न दर्शनज्ञानयोर्ज्ञानचारित्रयोर्वा कथञ्चि-दुपादानोपादेयता युक्ता, इति ब्रुवाणो न सिद्धान्तवेदी॥

वार्तिकका विवरण यों है कि शंकाकारका अनुमान है कि विशिष्टज्ञान या केवलज्ञानकी उत्पत्ति होजानेपर भी पहिला क्षायिकसम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होपाता है। क्योंकि वह अनन्तकालतक रहने-वाला है। जैसे कि ज्ञानावरणकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ केवलज्ञान अनन्तकालतक रहता है। अतः अविनाशी है। यदि आप जैन ऐसा न मानकर अन्य प्रकारसे क्षायिकसम्यक्त्वका विनाश होना मानलोगे तो आपके आगममें कही हुयी क्षायिकसम्यक्त्वके अनन्तताकी हानिका प्रसंग होगा। तिस कारण दर्शन और ज्ञानका तथा ज्ञान और चारित्रका किसी भी अपेक्षासे उपादान उपादेय भाव मानना युक्त नहीं है। क्योंकि पूर्वगुणको उपादान कारण माननेसे ही यह नाश करानेवाली रार (झगडा) खडी हुयी है। इस प्रकार कहनेवाला शंकाकार तो जैन सिद्धान्तके मर्मको नहीं जान रहा है। यदि जैनसिद्धान्तको जान लेता तो ऐसा कुचोद्य नहीं कर पाता। अब इसका समाधान वार्तिक द्वारा सुनिये, समझिये।

सिद्धान्ते क्षायिकत्वेन तदपर्यन्ततोक्तितः।
सर्वथा तद्विध्वंसे कौटस्थ्यस्य प्रसक्तितः॥ ७६॥

जैन सिद्धान्तमें उस क्षायिक सम्यग्दर्शनको अनन्तकालतक अविनाशी कहा है। वह कथन क्षयसे होनेवाले या क्षयके होनेपनेमें है। भावार्थ—एक बार दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय हो जानेसे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होगया। फिर बार बार दर्शनमोहनीय कर्मका टण्टा नहीं रहता है। एक बारका हुआ क्षय अनन्तकालतक स्वाभाविक परिणमनोंमें उपयोगी है। हम द्रव्य या गुणको अप-रिणामी नहीं मानते हैं। यदि उन क्षायिक गुणोंका सर्व ही प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे ध्वंस होना नहीं माना जावेगा तो गुणोंको कूटस्थ नित्यपनेका प्रसंग होता है। और कूटस्थ पदार्थमें अर्थक्रिया नहीं होने पाती है। अतः अश्वविषाणके समान वह अवस्तु है।

तथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति हीयते।
प्रतिक्षणमतो भावः क्षायिकोऽपि त्रिलक्षणः॥ ७७॥

तथा दूसरी बात यह है कि यदि पदार्थोंका किसी भी प्रकारसे नाशरूप परिवर्तन होना नहीं माना जावेगा तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे सहित सत् द्रव्य होता है, इस सिद्धांतकी हानि हो जावेगी। इस कारण कर्मोंके क्षयसे होनेवाले भाव भी प्रत्येक समयमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन लक्षणवाले हैं, तभी तो वे सत् पदार्थ हैं। क्षायिकभाव अनंतकालतक वहका वही रहता है, इसका अर्थ है कि वैसा ही रहता है। आकाश, सुमेरुपर्वत, सूर्य, चंद्रमा, सुवर्ण आदि दृढ पदार्थ भी प्रतिसमयमें पूर्वस्वभावका त्याग, उत्तर स्वभावोंका ग्रहण और द्रव्यपनेसे स्थिरता इन तीन लक्षणोंको किये हुए हैं। परमपूज्य सिद्ध भगवान् और उनके अनंतसंख्यावाले गुण भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे युक्त हैं। क्षायिकगुणोंमें अब किसी अन्य विजातीय कारणकी आवश्यकता नहीं रही है। केवल अपने स्वभावोंसे ही उत्पाद, व्यय करते हुए वे अनंतकालतक ठहरे रहेंगे, द्रव्य परिणामी होता है। ऐसा जैनसिद्धांत है।

ननु च पूर्वसमयोपाधितया क्षायिकस्य भावस्य विनाशादुत्तरसमयोपाधितयोत्पादात्स्वस्वभावेन सदा स्थानात्त्रिलक्षणत्वोपपत्तेः, न सिद्धांतमनवबुध्य क्षायिकदर्शनस्य ज्ञानकाले स्थितिं ब्रूते येन तथा वचोऽसिद्धांतवेदिनः स्यादिति चेत्—

अब फिर शंकाकार कहता है कि मैंने जैनसिद्धान्तको जानकर ही शंका की थी। मैं अज्ञ नहीं हूं। जैनियोंके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यके सिद्धान्तको जानता हूं। क्षायिक सम्यग्दर्शनके किसी प्रकारसे नष्ट न होते हुए भी आप जैनोंकी त्रिलक्षणता बन जाती है। व्यवहार काल नष्ट होता है और उत्पन्न होता है। कालमें रहनेवाला क्षायिकगुण नाशशील नहीं है। हां! पूर्व समयमें रहनेवाला क्षायिकगुण दूसरे समयमें भी रहनेवाला वही नित्य क्षायिकगुण है। अन्तर इतना ही है कि क्षायिकगुणके पूर्वसमयमें रहनेरूप विशेषणसे युक्त भावका पर्यायरूपसे नाश हो गया है, और उत्तर समयमें रहनारूप विशेषणकरके उत्पाद हो गया है। तथा अपने स्वभाव करके क्षायिकगुण सर्वदा स्थित रहता है। इस कारण त्रिलक्षणपनेकी सिद्धि हो गयी। देवदत्तका रुपया जिनदत्तके पास आगया। वहां रुपया वही है। हां! स्वामित्वसम्बन्धका उत्पाद विनाश हो गया है। अतः जैन सिद्धान्तके तत्त्वको न समझकर यह मैं क्षायिक सम्यग्दर्शनकी ज्ञानके समयमें अक्षुण्णस्थितिको नहीं कहरहा हूं जिससे कि उस प्रकार पूर्वोक्त शंकारूपी वचन मुझ सिद्धान्तको न जाननेवालेके होते। भावार्थ—त्रिलक्षणताकी सिद्धि होते हुए भी ज्ञानके उत्पन्न होजानेपर क्षायिक सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होता है। भला ऐसी दशामें जैनोंका माना गया दर्शन, ज्ञानका या ज्ञान, चारित्रका उपादान उपादेयपन कैसे सिद्ध होगा? यह मेरी शंका खडी हुयी है। आप जैन इसका उत्तर दीजिये। टालिये नहीं, आचार्य बोलते हैं कि यदि शंकाकार ऐसा कहेगा तो—

पूर्वोत्तरक्षणोपाधिस्वभावक्षयजन्मनोः।
क्षायिकत्वेनावस्थाने स यथैव त्रिलक्षणः॥ ७८॥

तथा हेत्वन्तरोन्मुक्तयुक्तरूपेण विच्युतौ ।
जातौ च क्षायिकत्वेन स्थितौ किमु न तादृशः ॥ ७९ ॥

पूर्व समयमें रहना स्वभावरूप विशेषणका नाश और उत्तरक्षणमें रहजाना स्वभावरूप विशेषणका उत्पाद तथा प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हो गये–पनसे सर्वदा स्थित रहना, इस प्रकार तीन लक्षण जैसे ही उन क्षायिक भावोंके आप शंकाकार मानते हैं, वैसे ही अन्य कारणोंसे रहित-पने स्वभावसे नाश होना और दूसरे कारणोंसे सहितपने करके उत्पत्ति तथा क्षायिकपनेसे स्थिति रहना माननेपर क्यों नहीं वैसा तीन लक्षणपना माना जाता है ? । अर्थात् व्यवहारकालरूप विशेषणोंका जैसे उत्पाद, विनाश माना जाता है, वैसे ही क्षायिकदर्शनमें विशिष्ट ज्ञानके असहचारीपनका नाश और विशिष्ट ज्ञानके सहचारीपनका उत्पाद तथा अपने स्वरूपलाभका कारण क्षायिकपने करके स्थित रहना, ये तीनों स्वभाव भी मानने चाहिये । एक एक द्रव्यमें या उसके प्रत्येक गुणमें अथवा उसकी पर्यायोंमें भी अनेक प्रकारोंसे त्रिलक्षणता मानी गयी है । दूधका दही बन जाता है, यहां पतले या नरमपनका नाश कठिनताका उत्पाद और स्पर्शकी स्थिति है एवं मधुरताका नाश, खट्टापनका उत्पाद, स्वादु रसकी स्थिति है । बलोत्पादक शक्तिका नाश है । कफको पैदा करने वाले स्वभावका उत्पाद है । गोरसकी शक्ति स्थित है । उष्णता प्रकृति (तासीर) का नाश, शीतल प्रकृति (तासीर) का उत्पाद, समान प्रकृतिपनेकी स्थिति है । दूध, दहीमें अनेक स्वभाव होनेसे ही यह व्यवस्था मानी गयी है । पर्यायोंमें भी अनेक स्वभाव होते हैं । कब किस बहिरंग निमित्तसे और अंतरङ्ग अगुरुलघु गुणके निमित्तसे तथा अनेक अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकतासे कौन स्वभाव उत्पन्न होते हैं और कौन नष्ट होते हैं तथा कौन स्थिर रहते हैं, इस जैनसिद्धांतको स्याद्वादी ही समझ सकता है, अन्य जन इसके मर्मको नहीं पहुंच पाते हैं ।

क्षायिकदर्शनं तावन्मुक्तेर्हेतुस्ततो हेत्वन्तरं विशिष्टं ज्ञानं चारित्रं च, तदुन्मुक्तरूपेण तस्य नाशे तद्युक्तरूपेण जन्मनि क्षायिकत्वेन स्थाने त्रिलक्षणत्वं भवत्येव, तथा क्षायिकदर्शनज्ञानद्वयस्य मुक्तिहेतोर्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्य वा हेत्वन्तरं चारित्रमघातित्रयनिर्जराकारी क्रियाविशेषः कालादिविशेषश्च, तेनोन्मुक्तया प्राक्तन्या युक्तरूपया चोत्तरया नाशे जन्मनि च क्षायिकत्वेन स्थाने वा तस्य त्रिलक्षणत्वमनेन व्याख्यातमिति क्षायिको भावस्त्रिलक्षणः सिद्धः ।

उन तीनों रत्नोंमें दर्शनमोहनीयके क्षयसे उत्पन्न हुआ पहिला क्षायिकसम्यग्दर्शन तो मुक्तिका कारण है । उससे अतिरिक्त मुक्तिके दूसरे कारण पूर्णज्ञान और यथाख्यात चारित्र है । अकेले क्षायिक सम्यग्दर्शनके अनन्तर यदि ज्ञान और चारित्र उत्पन्न हुए, तब उस सम्यग्दर्शन गुणका

पहिलेके उस ज्ञानचारित्र-रहितपने स्वभाव करके नाश हुआ और इन ज्ञान दर्शनसे सहितपने-करके दर्शनकी उत्तरपर्यायरूप क्षायिकसम्यक्त्वका उत्पाद हुआ तथा दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुआपन स्थित रहा, ऐसी दशामें सम्यक्त्वकी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रिलक्षणता हो जाती ही है। उसी प्रकार मुक्तिके कारण माने गये क्षायिकसम्यक्त्व और पूर्णज्ञान इन दोनों हेतुओंको तीसरे हेतु चारित्रकी आकांक्षा है। अतः चारित्रगुण उत्पन्न होनेके अनंतर उत्तरवर्ती कालमें पहिले चारित्ररहित स्वरूपसे दर्शन और ज्ञानका नाश हुआ और पूर्णचारित्र सहितपनेसे सम्यक्त्व और ज्ञानका उत्पाद हुआ तथा मोहनीय और ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे जन्यपना स्वभाव स्थिर रहा। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थानके आदि समय सम्बन्धी सम्यक्त्व और ज्ञान गुणोंमें भी त्रिलक्षणता आगयी। एवंच मुक्तिके कारण क्षायिक दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। इन तीनोंको भी अन्य दो हेतु-ओंकी अपेक्षा है। उनमें पहिला तो तीन अघातिकर्मोंकी निर्जरा करनेवाला अपरिस्पन्द-क्रियारूप आत्माका विशेष परिणाम व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका चौथा शुक्ल ध्यान है, जो कि चारित्ररूप है और दूसरा सहायक इन काल, कर्मभूमि, आर्यक्षेत्र, आयुष्य कर्मका झड जाना, आदिका समुदाय विशेष है। संहरणकी अपेक्षा अन्यकाल अन्य क्षेत्रोंसे भी मोक्ष होती है। अतः चौदहवें गुणस्थानमें उपान्त्य समयके क्षायिकसम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र इन तीनोंका परिणमन चौथे शुक्लध्यान और काल आदि विशेषोंसे रहित था। किंतु चौदहवें गुणस्थानके अंतमें चतुर्थ शुक्लध्यान और काल आदि विशेषसे रहितपने स्वभाव करके नाश हुआ और रत्नत्रयका उत्तरवर्ती क्रियाविशेष और काल आदि विशेषसहितपनेसे उत्पाद हुआ तथा दर्शनमोहनीय, ज्ञानावरण और चारित्रमोहनीयके क्षयसे जन्यपने करके स्थिति रही। अतः उस क्षायिकरत्नोंकी त्रिलक्षणताका भी इस उक्त कथनके द्वारा व्याख्यान कर दिया गया है। इस प्रकार क्षायिक भाव भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीन लक्षणोंसे सहित होकर सद्रूप सिद्ध हो चुका। सिद्ध भगवानोंमें भी समयकी उपाधि अनुसार और ज्ञेयोंकी परिणतिकी अपेक्षासे अगुरुलघु गुण द्वारा त्रिलक्षणता सर्वदा विद्यमान है।

ननु तस्य हेत्वन्तरेणोन्मुक्तताहेत्वन्तरस्य प्रागभाव एव, तेन युक्तता तदुत्पाद एव, न चान्यस्याभावोत्पादौ क्षायिकस्य युक्तौ, येनैवं त्रिलक्षणता स्यात्, इति चेत्, तर्हि पूर्वोत्तरसमययोस्तदुपाधिभूतयोर्नाशोत्पादौ कथं तस्य स्यातां यतोऽसौ स्वयं स्थितोऽपि सर्वतदपेक्षया त्रिलक्षणः स्यादिति कौटस्थ्यमायातम्। तथा च सिद्धांतविरोधः परमतप्रवेशात्।

यहां शंका है कि उस क्षायिक सम्यक्त्वका दूसरे अन्य हेतुओंसे रहितपना तो अन्य हेतुओंका प्रागभाव रूप है अर्थात् अकेले क्षायिक सम्यग्दर्शनके समय ज्ञान नहीं है। यानी ज्ञानका प्रागभाव है। थोडी देर पीछे ज्ञान होनेवाला है। और उन हेत्वन्तरोंसे सहितपना उन दूसरे हेतुओंका उत्पाद हो जाना ही है। अर्थात्—क्षायिक सम्यग्दर्शन तो था ही, दूसरा विशिष्ट ज्ञान और भी अधिक उत्पन्न हो गया। एतावता दूसरे अन्य हेतुओंके प्रागभाव और उत्पत्ति होना पहिले विद्यमान होरहे

इस क्षायिक भावके कहे जावें यह तो युक्त नहीं है जिससे कि इस प्रकार ऊपर कहा हुआ तीन लक्षणपना क्षायिक सम्यक्त्वमें सिद्ध हो जावे। भावार्थ—चंद्रोदयका प्रागभाव और चंद्रमाका उदय ये दोनों सूर्योदयके उत्पाद, व्यय करनेमें उपयोगी नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार दूसरे गुणोंके प्रागभाव और उत्पाद अन्य गुणोंकी त्रिलक्षणताको पुष्ट नहीं कर सकते हैं। भला विचारो तो सही कि तटस्थ या उदासीन पदार्थोंके उत्पत्ति व्ययसे प्रकृतपदार्थमें कैसे परिणाम होंगे। ग्रंथकार समझाते हैं कि यदि ऐसी शंका करोगे तब तो हम कहते है कि शंकाकारके द्वारा पहिले माने गये पूर्वसमयमें रहनारूप होचुके विशेषणका नाश और उत्तर समयमें रहनारूप होरहे विशेषणका उत्पाद ये दो धर्म भला उस सम्यग्दर्शनके कैसे हो सकेंगे ? बताओ। जिससे कि यह क्षायिकभाव शंकाकारके कथनानुसार अपने आप स्वयं स्थित होता हुआ भी सम्पूर्ण इन पूर्व, अपर, उत्तर, समयोंमें वर्तनारूप उपाधियोंकी अपेक्षासे तीन लक्षणवाला बन जाता। इस प्रकार तो क्षायिक भावको कूटस्थ नित्यपना प्राप्त होता है। अर्थात् पूर्व समयमें रहनेपनका अभाव और उत्तरसमयमें रहनेपनका उत्पाद ये धर्म भी तो दूसरे पदार्थोंकी अपेक्षासे ही सिद्ध हो सके हैं। ऐसी दशामें आप शंकाकारने हमारे मतको नहीं समझा यही कहना पडेगा। फिर व्यर्थ ही जैनसिद्धांतको समझ लेनेका कोरा अभिमान क्यों किया जारहा है ?। हम जैन मानते हैं कि पूर्व समय चला गया और उत्तर समय आगया। वह भी चला जावेगा और तीसरा समय आजावेगा। यह धारा अनादिसे अनंतकाल तक बहेगी। लोकमें प्रसिद्ध है कि " गया हुआ समय फिर हाथ नहीं आता "। यहांपर विचार करना है कि व्यवहारकाल तो जीव द्रव्यसे निराला पदार्थ है। उसके चले जानेसे हमको पश्चात्ताप क्यों करना चाहिये ? किंतु इसमें रहस्य है। वह यह है कि उस व्यवहारकालको निमित्त पाकर हमारे जीव पुद्गलोंके भिन्न भिन्न परिणमन होरहे हैं। वे बीते हुए परिणमन फिर हाथ नहीं आते इसका पश्चात्ताप है। बाल्यअवस्थामें कितनी स्वच्छन्दता, कोमल अवयव, कुटुम्बीजनोंका प्रेम, हृदयकी कलुषताका अभाव, बुद्धिकी स्वच्छता, सत्य बोलना ज्ञानोपार्जनकी शक्ति थी। अब वे युवा अवस्थामें नहीं हैं। युवा अवस्थामें आकांक्षायें, कामवासनाएं बढ जाती हैं अर्थका उपार्जन, यशोवृद्धि, संतानवृद्धिकी उत्सुकताएं बनी रहती हैं। इसके बाद वृद्धावस्था आनेपर उन ऐन्द्रियिक सुखोंका अवसर भी निकल चुका। अनेक व्यर्थकी चिंतायें सताती हैं। अपने अर्जित धनपर व्यय करनेमें निर्दय ऐसे पुत्रोंका या अन्य घरोंसे आयी हुयी गृहदेवियोंका अधिकार हो जाता है। अतिवृद्ध होनेपर तो भारी दुर्दशा हो जाती है। अतः यह जीव बीते हुए पूर्व समयके लिये नहीं, किंतु बीती हुयी अपनी अच्छी अवस्थाओंके लिये या उस समय हम कितने समुचित कार्य कर सकते थे, इसके लिये रोता है। हमसे सर्वथा निराले समयके निकल जानेसे भला हमको क्या पछतावा हो सकता था ?। जिस नदीके पानीसे हमको रंचमात्र भी लाभ नहीं है उसका पानी सबका सब बह जाओ इसकी हमको कोई चिंता नहीं है। यदि पूर्वसमयके परिवर्तनोंसे हमारी शारीरिक और आत्मीय

अवस्थाओंके परिवर्तनका संबंध न होता तो आते हुए समयका हम ताप न करते। प्रत्युत उस समयमें दो लात और लगाकर प्रसन्न होते, जिससे कि वह शीघ्र ही अतिदूर चला जाता। जैनसिद्धांत यह है कि निश्चयकाल और व्यवहार काल (द्रव्यपरिवर्तनरूप) तो पदार्थोंके परिणमन करनेमें सहकारी कारण हैं, जो कि पूर्व उत्तरपरिणामोंके उत्पाद, व्यय करते हैं। ऐसा न मानोगे तो आप शंकाकारके द्वारा पुनः शंका उठानेसे क्षायिकगुणकी कूटस्थता आती है और वैसा होने पर जैनसिद्धांतसे आपके मंतव्यका विरोध होगा और दूसरे सांख्यमतका प्रवेश हो जावेगा, जो कि अनिष्ट है। प्रमाणसिद्ध भी तो नहीं है।

यदि पुनस्तस्य पूर्वसमयेन विशिष्टतोत्तरसमयेन च तत्स्वभावभूतता ततस्तद्विनाशोत्पादौ तस्येति मतम्, तदा हेत्वन्तरेणोन्मुक्तता युक्तता च तद्भावेन तदभावेन च विशिष्टता तस्य स्वभावभूततैवेति तन्नाशोत्पादौ कथं न तस्य स्यातां, यतो नैवं त्रिलक्षणोऽसौ भवेत्, ततो युक्तं क्षायिकानामपि कथञ्चिदुपादानोपादेयत्वम्।

आप शंकाकारका फिर यदि यह मन्तव्य होवे कि उस क्षायिकभावकी पूर्व समयके साथ सहितपना और उत्तरसमयसे सहितता ये दोनों उस गुणके तदात्मक होते हुए स्वभावरूप हैं। इस कारण उन स्वभावरूप धर्मोंके उत्पाद और विनाश ये उसी क्षायिक भावके उत्पाद विनाश बोले जावेंगे, तब तो हम जैन कहते हैं कि उस क्षायिक सम्यग्दर्शनके दूसरे कारण कहे गये पूर्ण ज्ञान चारित्र करके रहितपना और इनसे सहितपना ये दोनों ही धर्म उसके स्वभावरूप भावकरके सहितता और उसके स्वभावरूप अभाव करके विशिष्टतारूप हैं। अतः वे विशिष्टतारूप धर्म उस क्षायिकभावके आत्मभूत स्वभाव ही हैं। इस प्रकार आत्मभूत स्वभावोंके नाश और उत्पाद, उस क्षायिक भावके क्यों नहीं कहे जावेंगे ? आप ही कहिये, जिससे कि वह इस प्रकार तीन लक्षण वाला न हो सके। भावार्थ—समयोंकी रहितता और विशिष्टता भी वास्तविक पदार्थ हैं। उन स्वभावोंको अवलम्ब लेकर तीन लक्षणपना सिद्ध किया है। उस कारण क्षायिक भावोंका भी किसी अपेक्षासे उपादान उपादेयपना मानना युक्तियोंसे परिपूर्ण हैं। भावार्थ—उदासीन या अनपेक्ष्य पदार्थ भी बडा कार्य करते हैं। साथमें टोसा रखनेसे भूक कम लगती है एवं संगमें सवारीके रहनेपर पैदल चलनेमें परिश्रम (थकावट) कम व्यापता है। घरमें रुपया है, चाहे उसका व्यय नहीं कर रहे हैं। फिर धनसहित और धनरहितपनेके परिणमन आत्मामें न्यारे न्यारे हैं। गीली मिट्टीको सुखाकर पुनः उसमें पानी डालकर भींत बनाई जाती है। उस भीतको भी पुनः सुखाना पडता है। इन दृष्टान्तोंमें भिन्न भिन्न परिणामोंकी अपेक्षासे त्रिलक्षणपना विद्यमान है। तीन लक्षणवाला परिणाम सद्भूत पदार्थोंमें पाया जाता है।

कारणं यदि सद्दृष्टिः सद्बोधस्य तदा न किम्।
तदनन्तरमुत्पादः केवलस्येति केचन ॥ ८० ॥

तदसत्तत्प्रतिद्वन्द्विकर्माभावे तथेष्टितः।
कारणं हि स्वकार्यस्याप्रतिबन्धिप्रभावकम् ॥ ८१ ॥

यहां कोई आक्षेपक शंका करते हैं कि कारण उसको कहते हैं, जो उत्तरक्षणमें कार्यको उत्पन्न कर देवे। यदि आप जैन पूर्णज्ञानका कारण सम्यग्दर्शन गुणको मानते हैं तो उस क्षायिक-दर्शनके अव्यवहित उत्तर कालमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती है ? बताओ। जब कि कारण है, तब कार्य होना ही चाहिये। श्रीविद्यानंद आचार्य समाधान करते हैं कि इस प्रकार किसीका वह कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि कारणके लक्षणमें प्रतिबंधकोंका अभाव पडा हुआ है अर्थात् जो प्रतिबन्धकोंसे रहित होता हुआ कार्यके अव्यवहित पूर्व समयमें रहे सो कारण है। बत्ती, तेल, दीपशलाका, दिया इन कारणोंके होनेपर भी यदि आंधी चल रही है तो दीपशलाका प्रज्वलित नहीं हो सकती है। तथा सम्पन्न सेठ के पास भोग उपभोग की सामग्री होते हुए भी असातावेदनीय या अन्तराय कर्मके उदय आनेपर रोग अवस्थामें उसको केवल मूंगके दालका पानी ही मिलता है। अतः प्रतिबन्धकोंका अभाव होना कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक है। प्रकृतमें उस केवलज्ञानका प्रतिबन्ध करनेवाले केवलज्ञानावरण और अन्तराय कर्म विद्यमान हैं। अतः चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थानतक किसी भी गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दर्शनके हो जानेपर भी प्रतिबंधकोंके आडे आजानेके कारण केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता है। हां ! एकत्ववितर्कवीचार नामके द्वितीय शुक्लध्यानद्वारा बारहवें गुणस्थानके अन्तमें प्रतिद्वन्दी कर्मोंका अभाव हो जानेपर अनन्तर कालमें उस प्रकार केवलज्ञानकी उत्पत्ति होना हम इष्ट करते हैं। जब कि प्रतिबन्धकोंसे रहित होरहा ही कारण अपने कार्यका अच्छा उत्पादक माना गया है।

नहि क्षायिकदर्शनं केवलज्ञानावरणादिभिः सहितं केवलज्ञानस्य प्रभवं प्रयोजयति। तैस्तत्प्रभावत्वशक्तेस्तस्य प्रतिबन्धात् येन तदनन्तरं तस्योत्पादः स्यात्। तैर्वियुक्तं तु दर्शनं केवलस्य प्रभावकमेव तथेष्टत्वात्, कारणस्याप्रतिबन्धस्य स्वकार्यजनकत्वप्रतीतेः।

सर्वघाती माने गये केवलज्ञानावरण कर्मका उदय और सत्त्व तथा मनःपर्यय, अवधिज्ञान, मति और श्रुतकी देशघाती प्रकृतियोंका उदय तथा इनके अविनाभावी कुछ अंतरायकी देशघात करनेवाली प्रकृतियोंका उदय बारहवें गुणस्थान तक केवलज्ञानको रोकनेवाला है। अतः केवल-ज्ञानावरण आदि कर्मोंके साथ रहता हुआ क्षायिक सम्यग्दर्शन तो केवलज्ञानकी उत्पत्तिका प्रयोजक नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान और अनंतसुखको बिगाडनेवाले उन केवलज्ञानावरण आदि कर्मोंने उन सम्यग्दर्शनकी केवलज्ञानको उत्पन्न करादेनेवाली उस शक्तिका प्रतिबंध (रोकना) कर दिया है जिससे कि दर्शनके अव्यवहित कालमें उस केवलज्ञानकी उत्पत्ति हो सके। भावार्थ—कार्य करनेके लिये कारणकी उन्मुखता होनेपर मध्यमें प्रतिबंधकके आ जानेसे केवलज्ञानरूप कार्य नहीं हो पाता

है । हां ! उन केवलज्ञानावरण आदि कर्मोंसे रहित जो सम्यग्दर्शन है, वह तो केवलज्ञानको उत्पन्न करानेवाला कारण है ही । बारहवें गुणस्थानके अंतसमयवर्ती सम्यग्दर्शनको हमने उस प्रकार कारणरूपसे इष्ट किया है । सर्व ही कारण बिचारे प्रतिबंधकोंसे रहित होकर ही अपने कार्योंको उत्पन्न करते हुए प्रतीत हो रहे हैं । प्रतिबंधकोंके सद्भावमें एवन्त प्रयोजक हेतु भी क्या करें ? कुछ नहीं ।

सद्बोधपूर्वकत्वेऽपि चारित्रस्य समुद्भवः ।
प्रागेवं केवलान्न स्यादित्येतच्च न युक्तिमत् ॥ ८२ ॥
समुच्छिन्नक्रियस्यातो ध्यानस्याविनिवर्तिनः ।
साक्षात्संसारविच्छेदसमर्थस्य प्रसूतितः ॥ ८६ ॥
यथैवापूर्णचारित्रमपूर्णज्ञानहेतुकम् ।
तथा तत्किन्न सम्पूर्णं पूर्णज्ञाननिबन्धनम् ॥ ८४ ॥

उक्त प्रकारसे रत्नत्रयका कार्यकारणभाव हो जानेपर भी यहां किसीका पुनः प्रश्न है कि आप जैन पूर्वमें समीचीन पूर्ण ज्ञान हो जानेपर पश्चात् यदि पूर्ण चारित्रकी बढिया उत्पत्ति मानेंगे तब तो केवलज्ञानसे प्रथम ही क्षायिक चारित्र नहीं उत्पन्न होना चाहिये था । क्योंकि कारणके पश्चात् कालमें कार्य हुआ करते हैं । आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार कहना भी युक्तियोंसे सहित नहीं है । क्योंकि यद्यपि केवलज्ञानसे प्रथम क्षायिकचारित्र हो चुका है । फिर भी उस चारित्रमें अव्यवहित उत्तरकालमें संसारके ध्वंस करनेके सामर्थ्यकी उत्पत्ति तो इस केवलज्ञानसे उत्पन्न होती है, जो कि चारित्र श्वासोच्छ्वास क्रियाके रुक जानेपर और योगपरिस्पन्दरूप क्रियाके नष्ट हो जानेपर तथा अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन ह्रस्व पांच अक्षरके उच्चारण बराबर समयोनकालके बीत जानेपर चौदहवें गुणस्थानके अंतमें इस व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक ध्यानसे युक्त है । भावार्थ—क्षायिक चारित्र गुणकी पूर्णता संसारको ध्वंस करनेवाले चतुर्थ शुक्लध्यानसे होती है और वह चौथा शुक्ल ध्यान सहकारी कारणोंसे सहित केवलज्ञान द्वारा उत्पन्न किया जाता है । अतः जैसे ही अपरिपूर्ण ज्ञानरूप हेतुसे अपरिपूर्ण चारित्र होता है, वैसे ही पूर्ण ज्ञानको कारण मानकर वह पूर्ण चारित्र क्यों न होगा ? अर्थात्—ग्यारहवें गुणस्थानतक अपूर्ण चारित्र है । उसका कारण ज्ञानका पूर्ण न होना है । वैसा ही चौदहवेंके अंतके पूर्ण चारित्रका कारण केवलज्ञान है । मध्यके अनेक सहकारी कारण भी अपेक्षणीय हैं । बारहवें गुणस्थानके चारित्रको क्षायिक गुण मानते हैं । किंतु हम उसको परिपूर्ण चारित्र नहीं मानते हैं । क्योंकि उसमें आनुषंगिक स्वभावोंसे विकलता होनेवाली है । किंतु तेरहवेंके

आदि समयवाले केवलज्ञानमें तथा चौदहवें गुणस्थान या सिद्धपरमेष्ठीके केवलज्ञानमें बालाग्रका भी अंतर नहीं है। उतने ही उत्कृष्ट अनंतानंत संख्यावाले अविभाग प्रतिच्छेद सब केवलज्ञानोंमें बराबर हैं।

ततः ज्ञानपूर्वकतां चारित्रं व्यभिचरति।

उस कारण ज्ञानगुणका चारित्रके पूर्ववर्तीपनेसे व्यभिचार नहीं है अर्थात् पूर्ण चारित्रके पहिले पूर्ण ज्ञान रहता है। चारित्र कभी ज्ञानपूर्वकपनका अतिक्रम नहीं करता है।

प्रागेव क्षायिकं पूर्णं क्षायिकत्वेन केवलात्।
नत्वघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतः ॥ ८५ ॥

यद्यपि केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे पहिले ही चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयजन्य क्षायिकपने करके क्षायिकचारित्र पूर्ण हो चुका है, किन्तु वेदनीय आदि अघातिया कर्मोंके सर्वथा नष्ट करनेकी शक्तिरूप परिणामोंसे सहितपने स्वरूप करके अभी चारित्रगुण पूर्ण नहीं हुआ है। अतः तेरहवें गुणस्थानके आदिमें क्षायिक रत्नत्रयके हो जानेपर भी मुक्ति होनेमें विलम्ब है।

केवलाचत्प्रागेव क्षायिकं यथाख्यातचारित्रं सम्पूर्णं ज्ञानकारणमिति न शंकनीयम्। तस्य मुक्त्युत्पादने सहकारिविशेषापेक्षितया पूर्णत्वानुपपत्तेः। विवक्षितस्वकार्यकरणेन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णं, तच्च न केवलात्प्रागस्ति चारित्रस्य, ततोऽप्यूर्ध्वमघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतयासम्पूर्णस्य तस्योदयात्।

जिस क्षायिक चारित्रका कारण आप जैनोंने केवलज्ञानको माना है, वह चारित्रमोहनीयके क्षयसे उत्पन्न हुआ पूर्ण यथाख्यातचारित्र तो केवलज्ञानसे अन्तर्मुहूर्त पहिले ही उत्पन्न होचुका है। फिर यह चारित्रके लिये ज्ञानको कारण माननेका कार्यकारणभाव कैसा है? बताओ! क्या जैन लोगोंने भी बौद्धोंके समान इस सिद्धांतको मानलिया है कि कार्य पहिले उत्पन्न हो जाते हैं और कारण पीछेसे पचासों वर्षोंतक पैदा होते रहते हैं। "तालाब खुदा ही नहीं, मगर आ कूदा"। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार शंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि हम जैनोंका यह सिद्धांत है कि कारणोंमें भिन्न भिन्न कार्योंकी अपेक्षासे परिपूर्णता भी न्यारी न्यारी है। मिट्टी द्वारा शिवक, छत्र, स्थास, कोश, कुशूल बनकर पीछे घट बनता है। छत्रको ही घटके प्रति झट कारणता नहीं है। भात पकानेके लिये चूल्हेमें अग्नि जलाकर उसके ऊपर बर्तनमें पानी रखकर चावल डाल दिये हैं। यहां पहिलेके अग्नि संयोगसे ही चावलोंमें पाक प्रारम्भ होजाता है। किंतु पाककी पूर्णता घडीभर बादके अंत समयवाले अग्निसंयोगसे होती है। मध्यवर्ति अग्निसंयोग बीचमें होनेवाले अर्द्धपाकोंके कारण हैं। यदि कोई अध-पके भातको बनाना चाहे तो वे बीचके अग्निसंयोग उस अध-पके भातके

समर्थ कारण भी हैं । किंतु परिपक्कके नहीं । भातकी परिपक्वताके लिये अनेक अग्नि संयोगोंकी और मध्यमें होनेवाले चावलोंके विक्लेदनोंकी सहायता अभिप्रेत है । ग्रंथोंके अध्ययन करनेपर कोई विद्वान् या वकील परीक्षायें पास करलेता है । किंतु पूर्ण अनुभव प्राप्त करनेके लिये मनन, समय और अभ्यास तथा इनसे होनेवाले विद्वत्ताके विशिष्ट परिणमनोंकी आवश्यकता है । वैसे ही क्षायिकचारित्र भी क्षायिकपनेसे पूर्ण है । फिर भी मुक्तिरूप कार्यको उत्पन्न करानेमें उस क्षायिक चारित्रको कई विशेष सहकारी कारणोंकी अपेक्षा है । अतः चारित्रका पूर्णपना सिद्ध नहीं है । वर्तमानमें विवक्षाको प्राप्त हुए विशेष अपने कार्यको करनेमें कारणका अंतके क्षणमें प्राप्त होनापन ही संपूर्णता कही जाती है । मध्यवर्ती हजारों पर्यायोंके पूर्व, उत्तरमें रहनेवाली संपूर्ण पर्यायोंमें परस्पर वह अपने अपने कार्यके प्रति कारणका अन्त्य क्षणमें प्राप्त होनापन घट जाता है । और अभीतक वह मोक्षके लिये कारणकी संपूर्णता केवलज्ञानसे पहिले होनेवाले चारित्रके उत्पन्न नहीं हुयी है । क्योंकि उस बारहवें गुणस्थानसे ऊपर चलकर भी उस पूर्णचारित्रकी भी अघातियोंको सवांग नष्ट करनेवाली सामर्थ्यसे सहितपने करके वह पूर्णता उत्पन्न होनेवाली है । ऐसी दशामें भला बारहवें गुणस्थानके चारित्रको हम परिपूर्ण कैसे कह सकते हैं ? कदापि नहीं ।

न च " यथाख्यातं पूर्णं चारित्रमिति प्रवचनस्यैवं बाधास्ति " तस्य क्षायिकत्वेन तत्र पूर्णत्वाभिधानात् । नहि सकलमोहक्षयादुद्भवच्चारित्रमंशतोऽपि मलवदिति शश्वदमलवदात्यन्तिकं तदभिष्टूयते।

कोई आगमसे बाधा उपस्थित करे कि जब आप चारित्रकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें बतलाते हैं । ऐसा कहनेपर तो " यथाख्यात चारित्र पूर्ण है, " इस प्रकार आगमवाक्यकी बाधा होती है । क्योंकि यथाख्यातचारित्र तो दशमें गुणस्थानके अंतमें ही होजाता है । सो यह आगमकी बाधा नहीं समझना । क्योंकि उस आगममें उस चारित्रको चारित्रमोहनीयके क्षयसे जन्यपने स्वभाव करके पूर्णपना कहा गया है । जब कि सम्पूर्ण मोहनीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न होरहा क्षायिकचारित्र एक अंशसे भी मलयुक्त नहीं है । इस कारण वह क्षायिकचारित्र सर्वदा ही अत्यधिक अनंत काल तकके लिये सर्व अंगोंमें निर्मलपने करके प्रशंसित किया जाता है ।

कथं पुनस्तदसम्पूर्णादेव ज्ञानात्क्षायोपशमिकादुत्पद्यमानं तथापि सम्पूर्णमिति चेत् न, सकलश्रुताशेषतत्त्वार्थपरिच्छेदिनस्तस्योत्पत्तेः ।

कोई यहां पूंछता है कि क्यों जी ! फिर वह चारित्र क्षयोपशमसे होनेवाले अपूर्ण ज्ञानोंसे ही उत्पन्न होता हुआ तो भी सम्पूर्ण कैसे हो सकता है ? बताओ । भावार्थ—अपूर्ण ज्ञानसे तो अपूर्ण चारित्र होना चाहिये था । दशवें गुणस्थानमें पूर्णज्ञान नहीं है । द्वादशाङ्गका ज्ञान या सर्वावधि और विपुलमति ये पूर्ण ज्ञान नहीं माने हैं । पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है । अतः अपूर्ण ज्ञानसे

चारित्र भी पूर्ण न हो सकेगा। फिर आपने बारहवें गुणस्थानके आदि समयवाले चारित्रको पूर्ण कैसे कहदिया ? आचार्य कहते हैं कि ऐसी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंको परोक्षरूपसे जाननेवाले पूर्णश्रुतज्ञानसे उस चारित्रकी उत्पत्ति होती है। श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों पूर्ण हैं। अन्तर इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। श्री गोम्मटसारमें कहा है कि "सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो। सुदणाणंच परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं" ॥

पूर्णं तत एव तदस्त्विति चेन्न, विशिष्टस्य रूपस्य तदनन्तरमभावात्। किं तद्विशिष्टं रूपं चारित्रस्येति चेत्, नामाद्यघातिकर्मत्रयनिर्जरणसमर्थं समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानमित्युक्तप्रायम्।

जब कि बारहवें गुणस्थानका चारित्रपूर्ण श्रुतज्ञानसे उत्पन्न हुआ है तो फिर उस ही कारणसे बारहवें गुणस्थानके उस चारित्रको सर्व प्रकारसे पूर्ण ही क्यों नहीं कह दिया जावे ? । केवलज्ञानसे चारित्रमें क्या कार्य होना शेष है ? इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अपने अंशोंमें तो चारित्र पूर्ण है। किन्तु उस चारित्रके कतिपय विलक्षण स्वभाव उस पूर्ण श्रुतज्ञानके पश्चात् उत्पन्न नहीं होते। वे स्वभाव तो केवलज्ञान होनेपर ही कुछ सहकारियोंके मिलनेपर उत्पन्न होते हैं। वह चारित्रका विशिष्ट स्वभाव क्या है ? ऐसा प्रश्न होनेपर तो इसका उत्तर यह है कि नाम आदि यानी नाम वेदनीय और गोत्र इन तीन अघाती कर्मोंकी निर्जरा करनेमें समर्थ ऐसा चौथा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामका शुक्लध्यान है। इस बातको प्रायः पूर्वप्रकरणमें हम कह चुके हैं।

तद्रूपावरणं कर्म नवमं न प्रसज्यते।
चारित्रमोहनीयस्य क्षयादेव तदुद्भवात् ॥ ८६ ॥

उस चारित्रके अंतिम स्वभावको आवरण करनेवाला आठ कर्मोंके अतिरिक्त कोई न्यारा कर्म होगा, इस प्रकार नवमें कर्म हो जानेका प्रसंग नहीं होपाता है। क्योंकि चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयसे ही उस स्वभावकी भी उत्पत्ति हो जाती है। कुछ विशेष सहकारी कारण और समयविशेषकी आकांक्षा है।

यद्यदात्मकं तत्तदावरककर्मणः क्षयादुद्भवति, यथा केवलज्ञानस्वरूपं तदावरणकर्मणः क्षयात्, चारित्रात्मकं च प्रकृतमात्मनो रूपमिति चारित्रमोहनीयकर्मण एव क्षयादुद्भवति न च पुनस्तदावरणं कर्म नवमं प्रसज्यतेऽन्यथातिप्रसंगात्।

यह व्याप्ति बनी हुयी है कि जो स्वभाव जिस भावस्वरूप होता है (हेतु) वह भी उस भावके आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयसे ही उत्पन्न होजाता है (साध्य) जैसे कि आत्माका केवल-

ज्ञान स्वभाव उस केवलज्ञानावरण कर्मके क्षयसे प्रगट हो जाता है (अन्वयदृष्टांत) प्रकरणमें आत्माका स्वभाव चारित्ररूप है । चारित्रके अन्य निमित्तोंसे जन्य स्वभाव भी चारित्रस्वरूप हैं (उपनय) इस कारण वे चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयसे ही उत्पन्न हो जाते हैं (निगमन) उन रूपोंको आवरण करनेवाले फिर कोई नवमें कर्मको माननेका प्रसंग नहीं होता है । यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारसे मानोगे अर्थात् छोटे छोटे निमित्तों द्वारा उत्पन्न होनेवाले आत्माके या आत्मीय गुणोंके स्वभावोंको रोकनेवाले न्यारे न्यारे कर्मोंकी कल्पना की जावेगी, तब तो आठ कर्मोंके स्थानपर अनेक जातिवाले कर्मोंके माननेका अतिप्रसंग होगा, अर्थात् अनंत सुखको आवरण करनेवाला भी एक स्वतंत्र कर्म मानना पडेगा तथा सातिशय मिथ्यादृष्टिके होनेवाले करणत्रयको, और अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेके लिये होनेवाले करणत्रयको, एवं क्षायिकचारित्रको करनेवाले अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामोंको रोकनेवाले कर्म भी अतिरिक्त मानने पडेंगे तथा केवलिसमुद्घातरूप आत्माके स्वभावको प्रतिबंध करनेवाला भी कर्म मानना आवश्यक होगा। यहांतक कि घट, पट, पुस्तक, चौकी, लेखनी आदि प्रत्येक पदार्थके देखने, जाननेको आवरण करनेवाले चाक्षुषप्रत्यक्षावरण भी पृथक् पृथक् मानने पडेंगे । एवं च बडा भारी आनन्त्य दोष होगा ।

यदि विशिष्ट कारणोंसे आत्माके पुरुषार्थजन्य उपर्युक्त भाव होते रहते हैं । इन स्वभावोंके लिये अतिरिक्त कर्मोंकी आवश्यकता नहीं मानी जावेगी, ऐसा उत्तर दोगे तो वैसे ही उस चारित्रके चौदहवें गुणस्थानमें होनेवाले स्वरूपके लिये भी एक स्वतंत्र नववें कर्म माननेकी आवश्यकता नहीं है । आत्मामें बाल्य, कुमार, युवा, आदि अवस्थाएं होती रहती हैं । पढने, लिखने, ध्यान करनेके परिणाम होते हैं । जाना, बैठना, खाना, पीना आदि परिस्पंद होते रहते हैं । इन सबके लिये कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है । यदि किसी कर्मका उदय या उपशम आदि परम्परासे सहायक भी हो तो बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक होनेवाले पुरुषार्थजन्य स्वरूपोंमें उसकी कोई गणना नहीं है । खांसना, डकार लेना, व्यायाम करना, स्वाध्यायक्रिया करना, तपश्चरण, ब्रह्मचर्य धारण, सिद्ध अवस्था आदि कार्य आत्माके स्वतंत्र हैं । सर्वत्र कर्मका पुंछल्ला लगाना उचित नहीं ।

क्षीणमोहस्य किं न स्यादेवं तदिति चेन्न वै ।
तदा कालविशेषस्य तादृशोऽसम्भवित्वतः ॥ ८७ ॥
तथा केवलबोधस्य सहायस्याप्यसम्भवात् ।
स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिदीक्ष्यते ॥ ८८ ॥

अब चारित्रके स्वभावोंका भी प्रतिबंधक चारित्रमोहनीय कर्म है तो ऐसा होनेपर मोहका क्षय करचुके बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिमहाराजके ही क्यों नहीं वह स्वभाव अवश्य उत्पन्न होजाता

है ? बतलाइये। ग्रंथकार समझाते हैं कि यह नहीं कहना। क्योंकि उस समय बारहवें गुणस्थानमें वैसे विशेषकालका असम्भव है, जो कि उस चारित्रस्वभावको निश्चयसे अपेक्षणीय है। इस ही प्रकारसे तेरहवें गुणस्थानका केवलज्ञान भी उस चारित्रके स्वभावको उत्पन्न नहीं कर सकता है। क्योंकि उसका भी सहायक होरहा कालविशेष उस अवसरमें नहीं है। अपनी पूर्ण सामग्रीके विना अकेले एक दो कारण विचारे कार्यको करते हुए कभी नहीं देखे जाते हैं।

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुर्न केवलस्तथाप्रतीतेः।

काल, क्षेत्र, आत्मीय परिणाम, केवलिसमुद्घात आदि सामग्रीकी अपेक्षा रखता हुआ ही मोहनीय कर्मका क्षय उस चारित्रके स्वभावको प्रगट करनेका कारण है। अकेला मोहनीय कर्मका क्षय ही चौदहवें गुणस्थानके अंतमें होनेवाले स्वभावोंको उत्पन्न नहीं कर सकता है। वैसी ही प्रमाणोंसे प्रतीति होरही है। और केवलज्ञान भी अकेला विना सामग्रीके उस स्वभावको उत्पन्न नहीं करपाता है। पहिले महीनेका गर्भ नवमें महीनेकी गर्भअवस्थाका जनक नहीं है। हां ! दूसरे, तीसरे, आदि महीनोंकी और उनमें होनेवाले परिणमनोंकी अपेक्षा रखता हुआ वह पूर्ण साङ्गोपाङ्ग बालकको उत्पन्न करसकता है। अतः प्रत्येक कार्यमें काल आदिकी अपेक्षा होती है।

क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणि प्रथमक्षणे।
यथा क्षीणकषायस्य शक्तिरन्त्यक्षणे मता ॥ ८९ ॥
ज्ञानावृत्यादिकर्माणि हन्तुं तद्वदयोगिनः
पर्यन्तक्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ ॥ ९० ॥

इस प्रकार बारहवें क्षीणकषाय नामक गुणस्थानके पहिले क्षणमें ही चारित्र मोहनीय नामक कर्म नष्ट होचुका है। फिर भी उस क्षीणकषायकी ज्ञानावरण आदि चौदह कर्म प्रकृतियोंके नष्ट करनेके लिये शक्तिका विकास तो बारहवें गुणस्थानके अंतसमयमें मुनिमहाराजके उत्पन्न होता है। अन्तर्मुहूर्ततक क्षीणकषायके पक परिणमन होते रहने चाहिये, वैसे ही उस चारित्रकी शेष बचे हुए तीन अघातिया कर्मोंके क्षय करनेके निमित्त उस शक्तिका प्रादुर्भाव अयोगकेवलीके चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही माना गया है। उस अन्त्यसमयके अनन्तर दूसरे समयमें मोक्ष है, जो कि गुणस्थानोंसे परं है।

कर्मनिर्जरणशक्तिर्वास्य सम्यग्दर्शने सम्यग्ज्ञाने सम्यक्चारित्रे चान्तर्भवेत्ततोन्या वा स्यात्। तत्र न तावत् सम्यग्दर्शने ज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतिचतुर्दशकनिर्जरणशक्तिरन्तर्भवत्य-संयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तपर्यन्तगुणस्थानेष्वन्यतमगुणस्थाने दर्शनमोहक्षयात्तदाविर्भावप्रसक्तेः।

कर्मोंकी निर्जरा करनेकी शक्तिका जीवके सम्यग्दर्शन गुणमें या सम्यग्ज्ञानमें अथवा सम्यक् चारित्रमें अन्तर्भाव किया जावेगा ? या उस शक्तिको उन गुणोंसे भिन्न ही माना जावेगा ? बताओ। यदि इन प्रश्नोंके उत्तरमें कोई यों कहे कि पहिले सम्यग्दर्शन गुणमें ज्ञानावरण कर्मकी पांच और अन्तराय कर्मकी पांच तथा दर्शनावरणकी चार एवं चौदहों प्रकृतियोंके नाश करनेकी शक्तिका गर्भ हो जाता है, यह कहना तो ठीक नहीं पडता है। क्योंकि असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानसे लेकर अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान तक किसी भी एक गुणस्थानमें दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय हो जानेसे क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है। अतः चौथेसे सातवें तक ही किसी गुणस्थानमें ज्ञानावरण आदि कर्मोंकी निर्जरा करनेवाली उस शक्तिका प्रादुर्भाव हो जाना चाहिये और ऐसा होनेपर सातवें गुणस्थानमें ही केवलज्ञान हो जानेका प्रसंग आवेगा। जो कि अनिष्ट है।

ज्ञाने सान्तर्भवतीति चायुक्तं, क्षायिकेणैतदन्तर्भावे सयोगकेवलिनः केवलेन सहाविर्भावापत्तेः। क्षायोपशमिके तदन्तर्भावे तेन सहोत्पादप्रसक्तेः।

यदि बारहवें गुणस्थानके अन्तमें क्षय होनेवाली चौदह प्रकृतियोंके नाश करनेवाली शक्तिको ज्ञानमें अन्तर्भूत करोगे, यह भी युक्त नहीं है। क्योंकि ज्ञानोंमेंसे यदि क्षायिकज्ञानके साथ इस शक्तिका अन्तर्भाव माना जावेगा तब तो तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवलीके केवलज्ञानके साथ साथ उस शक्तिके प्रगट होनेका प्रसंग होता है। किन्तु वह कारण शक्ति तो केवलज्ञानके पहिले ही बारहवेंके अन्तमें प्रगट हो चुकी है। तभी तो दूसरे क्षणमें प्रतिबन्धकोंके नष्ट हो जानेपर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। यदि ज्ञानोंमेंसे क्षयोपशमजन्य चार ज्ञानोंमें उस शक्तिका अन्तर्भाव करोगे तो उन ज्ञानोंके उत्पन्न होनेके साथ ही उस शक्तिका उत्पाद हो जाना चाहिये। भावार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तथा देशावधि चौथेसे बारहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं और परमावधि, सर्वावधि और मनःपर्यय छठेसे बारहवें तक उत्पन्न हो सकते हैं। अतः यहीं कहीं इस शक्तिका प्रादुर्भाव हो जाना चाहिये था। ऐसी दशामें चौथे पांचमें, छठे या सातमें गुणस्थानमें भी केवलज्ञान उत्पन्न हो जानेका प्रसंग है।

क्षायोपशमिके चारित्रे तदन्तर्भावे तेनैव सह प्रादुर्भावानुषंगात्। क्षायिके तदन्तर्भावे क्षीणकषायस्य प्रथमे क्षणे तदुद्भूतेर्निद्राप्रचलयोर्ज्ञानावरणादिप्रकृतिचतुर्दशकस्य च निर्जरणप्रसक्तेर्नोपान्त्यसमये अन्त्यक्षणे च तन्निर्जरा स्यात्।

यदि उस निर्जरा शक्तिका चारित्रमें अन्तर्भाव करोगे, वहां क्षायोपशमिक चारित्रमें यदि उस शक्तिका गर्भ किया जावेगा, तब तो पांचवें, छठवें, सातवें गुणस्थानमें होनेवाले उस क्षायोपशमिक चारित्रके साथ ही उस शक्तिकी उत्पत्ति हो जानी चाहिये थी। और यदि क्षायिक चारित्रमें उस...

शक्तिको अन्तर्भूत करोगे तो क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थानके पहिले समयमें ही वह शक्ति प्रगट हो जावेगी। तब तो सोलह प्रकृतियोंकी निर्जरा बारहवेंके आदिमें ही हो जानी चाहिये। किंतु हम देखते हैं कि निद्रा और प्रचलाकी निर्जरा बारहवेंके अन्त्यके निकट पूर्ववर्ती उपान्त्य समयमें होती है और ज्ञानावरण आदि चौदह प्रकृतियोंकी निर्जरा बारहवेंके अन्त समयमें होती है। सो न हो सकेगी। भावार्थ—बारहवेंके आदिमें ही शेष सोलह घातिया प्रकृतियोंके नाश होनेका प्रसंग आता है, जोकि सिद्धान्तसे विरुद्ध है।

दर्शनादिषु तदनंतर्भावे तदावारकं कर्मान्तरं प्रसज्येत, दर्शनमोहज्ञानावरणचारित्रमोहानां तदावारकत्वानुपपत्तेः।

यदि दर्शन ज्ञान और चारित्रमें उस शक्तिका गर्भ न करोगे अर्थात् दूसरे पक्षके अनुसार कर्मोंकी निर्जरा करनेकी शक्तिको अन्य स्वतंत्र गुण मानोगे तो उस शक्तिका आवरण करनेवाला नवमां कर्म माननेका प्रसङ्ग आपडेगा। क्योंकि दर्शन मोहनीय, ज्ञानावरण और चारित्रमोहनीय कर्मोंको उस शक्तिका रोकदेनापन सिद्ध नहीं है। अतः जैसे ज्ञानको रोकनेवाला स्वतंत्र ज्ञानावरण कर्म है, वैसे ही शक्तिको रोकनेवाला नौवां निर्जरणावरण कर्म होना चाहिये।

वीर्यान्तरायस्तदावारक इति चेन्न, तत्क्षयानन्तरं तदुद्भवप्रसंगात्। तथा चान्योन्याश्रयणम्—सति वीर्यान्तरायक्षये तन्निर्जरणशक्त्याविर्भावस्तस्मिंश्च सति वीर्यान्तरायक्षय इति।

यदि कोई यों कहे कि वीर्यान्तराय कर्म उस शक्तिका आवरण करनेवाला पहिलेसे ही बना बनाया कर्म विद्यमान है, फिर नवमां कर्म क्यों माना जाता है? यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि तब तो उस वीर्यान्तराय कर्मके क्षय होनेके पीछे तत्काल उस शक्तिकी उत्पत्ति हो सकेगी और ऐसा माननेपर अन्योन्याश्रय दोष है कि वीर्यान्तरायके क्षय होनेपर तो उन चौदह कर्मोंके निर्जरा करनेकी शक्ति होवे और चौदह कर्मोंके क्षय करनेवाली उस शक्तिके प्रगट हो जानेपर वीर्यान्तराय कर्मका क्षय होवे। क्योंकि चौदह प्रकृतियोंके मध्यमें स्वयं वीर्यान्तराय कर्म भी तो पड़ा हुआ है। इस प्रकार परस्पराश्रय दोष है।

एतेन ज्ञानावरणप्रकृतिपंचकदर्शनावरणप्रकृतिचतुष्टयांतरायप्रकृतिपञ्चकानां तन्निर्जरणशक्तेरावारकत्वेऽन्योन्याश्रयणं व्याख्यातम्।

इस उक्त कथनके द्वारा ज्ञानावरणकी पांच प्रकृतियोंको और दर्शनावरणकी पहिली चार प्रकृतियोंको तथा अंतरायकी पांचों प्रकृतियोंको भी उस निर्जरण शक्तिका आवरक कर्मपना माननेपर भी अन्योन्याश्रय हो जाता है, यह भी व्याख्यात हो चुका। अर्थात् प्रतिबंधक होरही ज्ञानावरण प्रकृतिके नाश होनेपर वह शक्ति उत्पन्न होवे और उस शक्तिके उत्पन्न हो जानेपर ज्ञानावरणका नाश होवे, ऐसा ही परस्पराश्रय दोष अन्य दो पिण्ड प्रकृतियोंके प्रतिबंधक बननेमें भी समझ लेना।

नामादिचतुष्टयं तु न तस्याः प्रतिबंधकम्, तस्यात्मस्वरूपाघातित्वेन कथनात्। न च सर्वथानावृतिरेव सा सर्वदा तत्क्षयणीयकर्मप्रकृत्यभावानुषङ्गात्।

तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय ये चार अघातिया कर्म तो उस कर्म-निर्जरा शक्तिका प्रतिबन्ध करनेवाले नहीं हैं। क्योंकि वे चार अघातिया कर्म आत्माके स्वाभाविक अनुजीवी गुणोंको नहीं घात करनेवाले कहे गये हैं। वे कर्म तो अमूर्तत्व (सूक्ष्मत्व) अगुरुलघु, अवगाहन और अव्याबाध इन अभावात्मक प्रतिजीवी गुणोंके रोकनेवाले हैं। भावात्मक शक्तिको नहीं रोकते हैं। तथा इन चार कर्मोंका नाश तो चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है और वह शक्ति बारहवेंके अन्तमें अपेक्षणीय है।

यदि चौदह प्रकृतियोंकी निर्जरा करनेवाली उस शक्तिको सर्व प्रकार आवरणोंसे रहित ही मानलिया जावे, सो ठीक नहीं है। क्योंकि तब तो सदा ही उस शक्तिसे क्षयको प्राप्त होने योग्य कर्म प्रकृतियोंके अभावका प्रसंग हो जावेगा। भावार्थ—जैन सिद्धांतमें उस निर्जरा शक्तिके प्रगट होनेपर बारहवें गुणस्थानके अंतमें चौदह प्रकृतियोंका नाश होना माना है। यदि वह निर्जरणशक्ति अपने प्रतिबंधक कर्मोंसे रहित होती तो आत्मामें स्वभावसे सदा विद्यमान रहनी चाहिये थी। ऐसी चौदहप्रकृतियोंका नाश आत्मामें अनादिकालसे ही हो चुका होता। दूसरी बात यह है कि उस शक्तिसे नाश होने योग्य कोई कर्म ही न माना जाता। जैसे कि अस्तित्व, द्रव्यत्व, गुण आत्मामें सदैव विद्यमान है। उन गुणोंके द्वारा नाशको प्राप्त होने योग्य कोई कर्म आत्मामें नहीं है। वे सामान्य गुण भी किसी कर्मके नाशसे प्रकट नहीं होते हैं। वे तो शास्वतविकासी हैं।

स्यान्मतं, चारित्रमोहक्षये तदाविर्भावाच्चारित्र एवान्तर्भावो विभाव्यते। न च क्षीणकषायस्य प्रथमसमये तदाविर्भावप्रसङ्गः कालविशेषापेक्षत्वात्तदाविर्भावस्य। प्रधानं हि कारणं मोहक्षयस्तदाविर्भावे सहकारिकारणमंत्यसमयमन्तरेण न तत्र समर्थम्, तद्भाव एव तदाविर्भावादिति।

यदि किसीका मंतव्य होवे कि चारित्र मोहके क्षय होनेपर ही उस शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। अतः चारित्रगुणमें ही उसके अन्तर्भाव करनेका विचार किया गया है, सम्भव है। इसपर कोई यों कहे कि क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें ही चारित्र प्रगट हो जाता है तो चौदह प्रकृतियोंके नाश करानेकी शक्ति भी बारहवेंके पहिले समयमें प्रगट हो जानी चाहिये और केवलज्ञान भी वहींपर प्रगट हो जाना चाहिये सो यह प्रसङ्ग तो ठीक नहीं हैं। क्योंकि इस शक्तिके प्रगट होनेको कालविशेषकी अपेक्षा है। प्रधान कारण तो उस शक्तिके प्रगट होनेमें मोहनीय कर्मका क्षय ही है। किन्तु वह मोहका क्षय सहकारी कारण माने गये बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयके विना उस शक्तिको प्रगट करनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि उस सहकारी कारणके होनेपर

ही उस शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। प्रत्येक भावकी परिपक्वताके लिये समय चाहिये। तथा विश्राम ले चुकनेपर ही यानी कारणोंका पुष्ट, पक्व परिणमन हो जानेपर ही पीछे भारी कार्य किया जा सकता है। कर्मोंके क्षय करने समान कोई बडा कार्य नहीं है। इस पुरुषार्थी आत्माको मध्य मध्यमें विश्राम लेना पडता है। तब कहीं योद्धा मेषके समान क्षयकी टक्कर दी जाती है।

तर्हि नामाद्यघातिकर्मनिर्जरणशक्तिरपि चारित्रेऽन्तर्भाव्यते। तत्रापि क्षायिके न क्षायोपशमिके दर्शने नापि ज्ञाने क्षायोपशमिके क्षायिके वा तेनैव सह तदाविर्भावप्रसंगात्। न चानावरणा सा सर्वदाविर्भावप्रसंगात् संसाराद्यनुपपत्तेः।

जब मतिज्ञानावरण आदि चौदह प्रकृतियोंके नाश करनेकी शक्ति चारित्रमें गर्भित की है और वह बारहवेंके अंतसमय तथा उस समयके परिपक्व एकत्ववितर्क-वीचारको सहकारी कारण मानकर प्रगट हो जाती है, तब तो नाम आदि चार अघातिया कर्मोंकी निर्जरा करानेवाली आत्मीय शक्ति भी चारित्रगुणमें ही अंतर्भूत हो जावेगी। उस कारण क्षायिक सम्यक्त्वमें भी नहीं तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें उस शक्तिका अंतर्भाव नहीं होता है। और न क्षायिक ज्ञान अथवा क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें भी उस शक्तिका गर्भ होता है। जिससे कि उन सम्यक्त्व और ज्ञानोंके साथ ही उस अघातिया कर्मोंका नाश करनेवाली शक्तिके प्रगट हो जानेका प्रसंग होवे। तथा वह अघातियोंका नाश करनेवाली आत्माके स्वभावरूप शक्ति विचारी आवरण करनेवाले कर्मोंसे रहित है। यह भी युक्त नहीं है। क्योंकि यदि वह शक्ति प्रतिबंधकोंसे रहित होती तो सदा ही आत्मामें प्रगट बनी रहती और इस प्रकार आत्माके स्वभाव करके ही अघातियोंके नाश हो जानेसे संसार ही नहीं बन सकता था। सर्व ही जीव बिना प्रयत्नके मुक्त बन जाते। अतः उस शक्ति का चारित्रमें गर्भ करके चारित्रमोहनीय कर्मको उस शक्तिका प्रतिबंधक मानना चाहिये। यह मन्तव्य अच्छा है।

न ज्ञानदर्शनावरणान्तरायैः प्रतिबद्धा तेषां ज्ञानादिप्रतिबन्धकत्वेन तदप्रतिबंधकत्वात्।

चारित्रमोहनीय कर्मको उस शक्तिका प्रतिबन्धक नहीं मानकर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंसे प्रतिबन्ध होना मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि वे तीन कर्म तो नियतरूपसे ज्ञान आदिके प्रतिबन्धक हैं। इस कारण उन चार अघातिया कर्मोंको नाश करनेवाली शक्तिके वे प्रतिबन्धक नहीं हो सकेंगे। अर्थात् ज्ञानावरण कर्म आत्माके ज्ञानस्वभावको रोकता है और दर्शनावरण कर्म दर्शनगुणको बिगाड रहा है तथा अन्तरायकर्म वीर्यगुणका ध्वंस कर देता है। अतः इन कर्मोंके अलग अलग कार्य बटे हुए हैं। किन्तु चारित्रका शरीर बहुत बडा है। संसार अवस्थामें भी पहिले चौथे गुणस्थानमें चारित्रगुणका विभाव अनेक संकरपर्यायरूप हो रहा है। एक ही समय आत्मामें चाहें चारों या तीनों क्रोध भी हैं। अरति, शोक भी हैं। भय जुगुप्सायें

परिणति है। वेद भी विद्यमान है। ये सब चारित्रगुणके चिन्ह या संकररूप विभावपर्याय हैं। एक गुणकी एक समयमें एक ही पर्याय होती है। यहां जटाजूट बंधगया है। चारित्रका विभाव और स्वभाव दोनों ही अनेक धर्मोसे सहित हैं। अतः चारित्रमोहनीय कर्मको उस शक्तिका प्रतिबन्धक मानना चाहिये।

नापि नामाद्यघातिकर्मभिस्तत्क्षयानन्तरं तदुत्पादप्रसक्तेः तथा चान्योन्याश्रयणात् सिद्धे नामाद्यघातिक्षये तन्निर्जरणशक्त्याविर्भावात्तत्सिद्धौ नामाद्यघातिक्षयात् इति, चारित्रमोहस्तस्याः प्रतिबंधकः सिद्धः।

यदि अघातिया कर्मोके नाश करनेवाली शक्तिका प्रतिबंध होना नाम आदि अघातिया कर्मोके द्वारा माना जावे सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा होनेपर तो उन नाम, गोत्र, आयु और वेदनीयके नाश हो जानेके पश्चात् उस शक्तिकी उत्पत्ति होनी चाहिये। किंतु नाम आदिकके नाश होनेके प्रथम ही उस शक्तिका उत्पाद हो जाता है। तभी तो उस शक्तिके प्रगट हो जानेपर पीछेसे नाम आदिका नाश हो सकेगा। अतः वैसा माननेपर इस ढंगसे परस्पराश्रय दोष होगा कि नाम आदि अघातिया कर्मोके क्षयके सिद्ध होनेपर उनको निर्जर करनेवाली शक्तिका प्रादुर्भाव होवे और उस निर्जराशक्तिका प्रादुर्भाव सिद्ध हो चुके तब कहीं नाम आदि चार अघातिया कर्मोका क्षय होना बने। इस प्रकार परस्पराश्रय दोषके हो जानेसे किसी भी कार्यकी सिद्धि न हुयी। इस कारण उस शक्तिका प्रतिबंध करनेवाला चारित्रमोहनीयकर्म ही सिद्ध होता है।

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात्। प्रधानं हि कारणं मोहक्षयो नामादिनिर्जरणशक्तेर्नायोगकेवलिगुणस्थानोपान्त्यान्त्यसमयं सहकारिणमंतरेण तामुपजनयितुमलं सत्यपि केवले ततः प्राक्तदनुत्पत्तेरिति। न सा मोहक्षयनिमित्ताऽपि क्षीणकषायप्रथमक्षणे प्रादुर्भवति, नापि तदावरणं कर्म नवमं प्रसज्यते।

जब कि अघातियोंकी निर्जरा करनेवाली शक्तिका प्रतिबंधक जैन लोग चारित्र मोहनीयको मानेंगे तो बारहवें गुणस्थानके पहिले समयमें वह शक्ति प्रगट हो जानी चाहिये, इस प्रकारका प्रसंग हो जाना भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि सम्पूर्ण कार्योंके प्रति अवश्य अपेक्षा करने योग्य कालविशेष सहकारी कारण माना गया है। वनस्पति, धान्य, फल, फूल आदि पदार्थ भिन्न भिन्न समयोंमें ही उत्पन्न होते हैं। वनोंमें सैकडों बीज पडे रहते हैं। मिट्टी, पानी घाम (धूप) ये सहकारी कारण भी विद्यमान हैं। किंतु समय (व्यवहार काल) पाकर ही वे फलते फूलते हैं। सर्वदा नहीं। वैसे ही मोहनीयके क्षय हो जानेपर भी उस शक्तिको सहकारी कारणविशेष कालकी अपेक्षा है।

उस समय बारहवेंके आदिमें वह सहकारी कारण माना गया विशेषकाल नहीं है। अतः उस समय वह शक्ति प्रगट नहीं हो पाती है। नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्मोंकी समूल निर्जरा करने वाली शक्तिका प्रधान कारण तो मोहनीय कर्मका क्षय ही है। किंतु वह मोहक्षय अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानके अंतिमके निकट होरहे उपान्त्य समय और अंतिम समयरूप सहकारी कारणके विना उस शक्तिको पूर्णरीत्या प्रगट करनेके लिये समर्थ नहीं है। जिस शक्तिके द्वारा चौदहवेंके उपांत्य समयमें बहत्तर प्रकृतियोंका और अन्त्य समयमें तेरह प्रकृतियोंका क्षय हो जानेवाला है। तेरहवेंकी आदिमें केवलज्ञान हो जानेपर भी परिपाक समयके विना चौदहवेंके उन अन्त्य, उपान्त्य समयोंसे पहिले वह शक्ति उत्पन्न नहीं होपाती है। इस कारण मोहक्षयके निमित्तसे हो जानेवाली भी वह शक्ति क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानके पहिले समयमें प्रगट नहीं होती है। और उस शक्तिका प्रतिबंध करनेवाला चारित्र मोहनीय कर्म जब सिद्ध हो चुका तो उस शक्तिका आवरक बननेके लियें आठ कर्मोंसे अतिरिक्त नववें कर्म माननेका भी प्रसंग नहीं आता है।

इति स्थितं कालादिसहकारिविशेषापेक्षं क्षायिकं चारित्रं, क्षायिकत्वेन सम्पूर्णमपि मुक्त्युत्पादने साक्षादसमर्थं केवलात्प्राक्कालभावि तदकारकम्। केवलोत्तरकालभावि तु साक्षान्मोक्षकारणं सम्पूर्णं केवलकारणकमन्यथा तदघटनात्।

इस प्रकार अबतक ऊहापोह पूर्वक सिद्ध हुआ कि मोहनीय कर्मके क्षयसे जन्य होनेकी अपेक्षासे यद्यपि क्षायिकचारित्र बारहवेंकी आदिमें सम्पूर्ण भी हो चुका है, किन्तु अव्यवहित उत्तर कालमें मोक्षको प्राप्त करानेके लिये वह समर्थ नहीं है। क्योंकि सहकारी कारण कहे गये काल-विशेष आदिकी उसको अपेक्षा है। केवलज्ञानसे पहिले कालमें होनेवाला चारित्र तो कारकहेतु ही नहीं है। क्योंकि मोक्षके कारकहेतु तीनों रत्न माने गये हैं। वहां दो ही हैं। हां! केवलज्ञानके उत्तर कालमें होनेवाला तो वह चारित्र जब अपने अंशोंमें अपने आनुषङ्गिक स्वभावोंसे परिपूर्ण हो जावेगा। तो चौदहवेंके अन्तमें साक्षात् (अव्यवहित उत्तरकालमें) मोक्षका कारण हो जाता है। अतः पूर्णचारित्रका कारण केवलज्ञान है। केवलज्ञान हुए विना दूसरे प्रकारसे चौदहवेंके अन्त समयमें होनेवाली चारित्रकी वह पूर्णता नहीं बन सकेगी। ऐसा होनेपर केवलज्ञानके विध-मीन होते हुए भी पूर्ण चारित्र विकल्पनीय समझा जाता है।

कालापेक्षितया वृत्तमसमर्थं यदीष्यते।
व्यादिसिद्धक्षणोत्पादे तदन्त्यं तादृगित्यसत्॥ ९१॥
प्राच्यसिद्धक्षणोत्पादापेक्षया मोक्षवर्त्मनि।
विचारप्रस्तुतेरेवं कार्यकारणतास्थितेः॥ ९२॥

चारित्रगुण विशेषकालकी अपेक्षा रखता है। इस कारण शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करानेमें असमर्थ है। यदि ऐसा इष्ट करोगे तो चौदहवेंके अंतमें होनेवाला पूर्णचारित्र भी सिद्ध भगवान्की दूसरे, तीसरे, चौथे आदि समयोंमें होनेवाली पर्यायोंके पैदा करनेमें भी असमर्थ होगा। क्योंकि चौदवेंके अंतमें होनेवाला पूर्णचारित्र पहिले समयकी सिद्ध पर्यायको तो बना देगा। क्योंकि उसके अव्यवहित पूर्वसमयमें समर्थ कारण विद्यमान है। किंतु दूसरे, तीसरे, आदि समयोंकी पर्यायोंको बनानेमें वह वैसा ही असमर्थ रहा आवेगा। ऐसा होनेपर दूसरे, तीसरे प्रभृति समयोंमें वे सिद्ध भगवान् मुक्त न रह सकेंगे, इस प्रकार किसीका कहना तो प्रशस्त नहीं है। क्योंकि कहीं भी कार्यकारणभावका यदि विचार होता है तो वह कार्यके पहिले समयकी पर्यायको पैदा करानेमें ही होता है। प्रकृतमें भी उमास्वामी महाराजका पहिले समयकी सिद्ध पर्यायके उत्पन्न होनेकी अपेक्षासे मोक्षमार्गके प्रकरणमें विचार होनेका प्रस्ताव चल रहा है और ऐसा होनेसे ही कार्यकारणभावकी प्रमाणोंसे सिद्धि होती है। देखिये! सबसे पहिली घटपर्याय उसके पूर्ववर्ती कोष, कुशूल, दण्ड, चक्र, कुलाल, मृत्तिका आदि कारणोंसे होती हुयी मानी है। घटके उत्पन्न हो जानेपर पुनः उस घटकी उत्तरवर्ती सदृश पर्यायोंका कारण पूर्व समयवर्ती परिणाम या कालद्रव्य माने गये हैं। उनमें दण्ड, चक्र, कुलाल, आदिकी आवश्यकता नहीं है। वैसे ही पहिले समयकी सिद्ध पर्यायका कारण सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान और परिपूर्ण चारित्र हैं। दूसरे, तीसरे, आदि समयोंमें होनेवाली सजातीय सदृश सिद्ध पर्यायोंका कारण रत्नत्रय नहीं है। किंतु काल और पूर्वपर्याय आदि हैं।

न हि द्व्यादिसिद्धक्षणैः सहायोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्यकारणभावो विचारयितुमुपक्रांतो येन तत्र तस्यासामर्थ्यं प्रसज्यते। किं तर्हि ? प्रथमसिद्धक्षणेन सह, तत्र च तत्समर्थमेवेत्यसच्चोद्यमेतत्। कथमन्यथाग्निः प्रथमधूमक्षणमुपजनयन्नपि तत्र समर्थः स्यात् ? धूमक्षणजनितद्वितीयादिधूमक्षणोत्पादे तस्यासमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादनेऽप्यसामर्थ्यप्रसक्तेः। तथा च न किंचित्कस्यचित्समर्थं कारणं, न चासमर्थात्कारणादुत्पत्तिरिति क्वेयं वराकी तिष्ठेत्कार्यकारणता ?।

इस तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भ करनेके प्रकरणमें दूसरे तीसरे चौथे, आदि समयोंमें होनेवाली सिद्ध पर्यायोंके साथ चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थानके अंतसमयमें होनेवाले रत्नत्रयका कार्यकारणभाव विचार करनेके लिये प्रस्ताव प्राप्त नहीं है, जिससे कि चौदहवेंके अन्त्यसमयवर्ती उस चारित्र या रत्नत्रयकी दूसरे आदि समयोंमें होनेवाली उन सिद्ध पर्यायोंके उत्पन्न करनेमें असमर्थताका प्रसंग दिया जावे। तब तो कैसा कार्यकारणभाव है ? सो सुनो ! पहिले क्षणकी सिद्ध पर्यायके साथ रत्नत्रयका कार्यकारणभाव है। और वह रत्नत्रय उस पहिली सिद्धपर्यायको उत्पन्न करनेमें समर्थ ही है। इस कारण यह उपर्युक्त आपका कुचोद्य करना प्रशंसनीय नहीं कहा जासकता है। यदि ऐसा

न स्वीकारकर अन्य प्रकार माना जावे अर्थात् कार्यकी पहिली पर्यायको ही पैदा करनेवाला कारण न मानाजावे और पूर्ण कार्यकी सन्तनको पैदा करनेवाला कारण माना जावे तो अग्निरूपी कारण पहिले समयकी धूमकी पर्यायको पैदा करता हुआ भी धूमके उत्पन्न करनेमें समर्थ क्यों कहा जाता है ? सर्व ही उत्तरवर्ती धूमपर्यायोंको तो अग्नि पैदा नहीं करती है। पहिले क्षणकी धूम पर्यायसे उत्पन्न हुयी दूसरे समयकी पर्याय और दूसरे समयकी धूमपर्यायसे उत्पन्न हुयी तीसरे आदि समयकी धूमपर्यायके पैदा करनेमें जब अग्निकी सामर्थ्य नहीं है तो इस कारण पहिले समयकी धूमपर्यायको पैदा करनेमें भी उस अग्निकी सामर्थ्य न हो सकनेका प्रसंग आवेगा और तब तो कोई भी कारण किसी भी कार्यका समर्थ कारण न बन सकेगा, और असमर्थ कारणसे तो कार्यकी उत्पत्ति होती नहीं है। इस प्रकार यह विचारी कार्यकारणता कहां ठहर सकेगी ? तुम ही बताओ। इससे सिद्ध होता है कि विवक्षित समयके कारणका अव्यवहित उत्तरवर्ती एक समयकी पर्यायरूप कार्यके साथ कार्यकारणभाव है। दीपशलाका तो पहिले समयकी दीपकालिकाको उत्पन्न कर चरितार्थ होजाती है, और आगे आगे होनेवाली कलिकायें उन पहिली पहिली कलिकाओंसे उत्पन्न होती रहती हैं। उनमें दीपशलाकाकी आवश्यकता नहीं है।

कालान्तरस्थायिनोऽग्नेः स्वकारणादुत्पन्नो धूमः कालान्तरस्थायी स्कन्ध एक एवेति स तस्य कारणं प्रतीयते तथा व्यवहारादन्यथा तदभावादिति चेत्, तर्हि सयोगकेवलि-रत्नत्रयमयोगिकेवलिचरमसमयपर्यन्तमेकमेव तदनन्तरभाविनः सिद्धत्वपर्यायस्यानन्तस्यै-कस्य कारणमित्यायातम्। तच्च नानिष्टम्। व्यवहारनयानुरोधस्तथेष्टत्वात्। निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणमयोगिकेवलिचरमसमयवर्ति रत्नत्रय-मिति निरवद्यमेतत्तत्त्वविदामाभासते।

पूर्व पक्षकार कह रहा है कि जहां घण्टोंसे ही लकडीकी अग्नि जल रही है और लकडियोंमें कुछ गीलापन होनेसे धुआं उठ रहा है, ऐसी दशामें घण्टोंतक रहनेवाली अग्निकी स्थूल पर्याय उत्पन्न समयसे लेकर बुझनेके समय तक एक ही है। इसी प्रकार धूमकी रेखा भी न टूटती हुयी यहांसे वहांतक एक धुआंका स्कन्ध है। इस कारण देर तक ठहरनेवाले अग्निरूप अपने कार-णसे उत्पन्न हुआ धुआं भी बहुत कालतक ठहरनेवाला एक ही पौद्गलिक पिण्ड है। अतः वह कालांतरतक ठहरी हुयी अग्नि देरतक ठहरे हुए धूम अवयवीका कारण प्रतीत हो रही है। वैसा ही संसारमें बालकसे लेकर वृद्धोंतकमें व्यवहार हो रहा है—अन्यथा यानी यदि कारणकी स्थूलपर्यायोंका कार्यकी स्थूलपर्यायोंके साथ कार्यकारणभाव नहीं माना जावेगा तो लोकप्रसिद्ध सब व्यवहार रुक जावेंगे। उनका अभाव हो जावेगा। पहिले दिनके पैदा हुए बच्चेका जनक भी बाप कहलाता है और वही उस बच्चेके युवा, वृद्ध होने तक भी वह बाप

कहा जाता है। आमका वृक्ष छोटी अमियांको उत्पन्न करता है। किंतु बडे आम्रफलको भी वही वृक्ष अमियांको बढाते बढाते पैदा कर देता है । ग्रंथकार कहते हैं कि यदि इस प्रकार कहोगे, तब तो प्रकृतमें भी तेरहवें गुणस्थानके सयोगकेवलीका क्षायिक रत्नत्रय और अयोगकेवलीके अंतिम समय पर्यंत रहनेवाला विशेष स्वभावरूप सहकारी कारणोंसे परिपूर्ण हुआ वह रत्नत्रय एक ही है और ऐसे ही उस चौदहवेंके अंतिम रत्नत्रयसे होनेवाली प्रथमसमयकी सिद्धपर्याय और उस पर्यायके पश्चात् उत्तरोत्तर अनंतकालतक होनेवाली सदृश अनंतानंत सिद्धपर्यायें भी एकपिण्ड हैं। अतः वह एक ही रत्नत्रय अनंतकालतक होनेवाली सिद्ध पर्यायोंका कारण है। इस प्रकार कार्य-कारणभाव प्रकृतमें भी आ गया। वह हम स्याद्वादियोंको अनिष्ट नहीं है। व्यवहार नयकी प्रधानताकी विवक्षा होनेपर तदनुसार वैसा स्थूल कार्यकारणभाव हम इष्ट कर लेते हैं। हां ! निश्चय नयका अवलम्ब करनेपर तो जिस रत्नत्रयके अव्यवहित उत्तर कालमें पहिली मोक्षपर्याय होगी वही मुख्यरूपसे मोक्षका कारण कहा जावेगा। चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली महाराजके अंतिम समयमें रहनेवाला रत्नत्रय उक्त प्रकारसे मोक्षका निर्दोषरूपसे कारण निर्णीत हुआ। यह बात तत्त्वपरीक्षक विद्वानोंको बिना खटकाके झलक रही है। भावार्थ—निश्चय नयसे अव्यवहित पूर्व समयवर्ती पर्याय कारण है और उत्तर एक समयमें होनेवाला परिणाम कार्य है। इस नयसे गर्भ स्थितिके आदि समयके पुत्रका उत्पन्न करनेवाला जनक पिता है। उसके आगे नौ महीनेकी गर्भावस्था या बाल, कुमार आदि अवस्थाओंका जनक पिता नहीं हो सकता है। पहिली पहिली पर्यायें ही खाद्य, पेय, पोषक आदि सामग्रीसे सहित होकर उन अवस्थाओंकी जनक हैं। किंतु व्यवहार नयसे पूर्व समयमें होनेवाली बहुत देर तककी स्थूलपर्याय उत्तरकालवर्ती देर तक रहनेवाले कार्यकी जनक है। इस व्यवहारनयसे पिता बूढे हो चुके पुत्रका भी बाप कहा जावेगा। प्रायः लोकोपयोगी कार्य इसी नयसे साध्य हो रहे हैं। बिजली, दीप–कलिका आदि कार्योंको हम क्षणिक समझते हैं। वे भी अनेक समयोंतक सदृश–परिणाम लेती हुयीं कुछ देरतक ठहरनेवालीं स्थूल पर्यायें हैं। ऋण लेना देना, गुरुशिष्यभाव, पतिव्रतापन, गेहूंकी रोटी, मिट्टीसे घडा आदि कार्य इस व्यवहार नयकी प्रधानता ही से बनते हैं। इस प्रकार निर्दोष कार्यकारणभावकी व्यवस्था है।

ततो मोहक्षयोपेतः पुमानुद्भूतकेवलः ।
विशिष्टकारणं साक्षादशरीरत्वहेतुना ॥ ९३ ॥
रत्नत्रितयरूपेणायोगकेवलिनोऽतिमे ।
क्षणे विवर्तते ह्येतदबाध्यं निश्चितान्नयात् ॥ ९४ ॥
व्यवहारनयाश्रित्या त्वेतत्प्रागेव कारणम् ।
मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्तं तत्त्ववेदिनाम् ॥ ९५ ॥

इसलिये मानना पडता है कि मोहनीय कर्मके क्षयसे युक्त होरहा और प्रगट हो गया है केवलज्ञान जिसके ऐसा आत्मा अपने चारित्रके विशेष स्वभावसे सहित होकर अव्यवहित उत्तरकालमें मोक्षका प्रधान कारण है। वह अयोगकेवली महाराजका आत्मा ही चौदहवेंके अन्त समयमें स्थूल सूक्ष्म शरीरोंसे रहित हो जानापनरूप मोक्षके कारण पूर्णरत्नत्रयरूपसे परिणमन करता है। यह बात निश्चयनयसे बाधारहित होकर सिद्ध हो चुकी। यह और व्यवहारनयका आश्रय लेकर तो पहिला ही यह तेरहवें गुणस्थानका यह रत्नत्रय अनंतकालतककी मोक्षका कारण है। अथवा चौदहवेंका रत्नत्रय अनंत सिद्धपर्यायोंका कारण है, जोकि पर्यायें भविष्यमें होनेवालीं हैं। यह बात प्रामाणीकपनेसे सिद्ध हो चुकी है। अतः तत्त्वोंको जाननेवाले विद्वानोंको अधिक विवाद करनेसे विश्राम लेना चाहिये। इस विषयमें विवाद करनेसे कुछ लाभ न निकलेगा। बहुत अच्छा विचार होकर कार्यकारणभावका निर्णय हो चुका है। सारके निकलचुकनेपर खलका कुचलना व्यर्थ है।

संसारकारणत्रित्वासिद्धेर्निर्वाणकारणे।
त्रित्वं नैवोपपद्येतेत्यचोद्यं न्यायदर्शिनः॥ ९६॥
आद्यसूत्रस्य सामर्थ्याद्भवहेतोस्त्रयात्मनः।
सूचितस्य प्रमाणेन बाधनानवतारतः॥ ९७॥

यहां नैयायिककी दूसरे प्रकारसे शंका है कि मोक्षसे विपरीतता रखनेवाले संसारके कारणोंको तीनपना जब असिद्ध है तो मोक्षके कारणमें भी तीनपना सिद्ध नहीं हो सकता है। जब कि संसारका कारण अकेला मिथ्याज्ञान है या मिथ्याज्ञान और मोहजाल ये दो हैं, ऐसी दशामें मोक्षके कारण भी एक या दो होने चाहिये। ज्वरको उत्पन्न करनेवाला यदि पित्तदोष है तो औषधि भी केवल पित्तदोषको शमन करनेवाली होनी चाहिये। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारका न्यायसे देखनेवाले नैयायिकको यह कुचोद्य नहीं करना चाहिये। क्योंकि आदिके सूत्रमें मोक्षका कारण तीनको बतलाया है। अतः बिना कहे हुए अर्थापत्तिकी सामर्थ्यसे ही इस बातकी सूचना होजाती है कि संसारके कारण भी तीन स्वरूप हैं। इस सूचनाको बाधा देनेवाला कोई भी प्रमाण उतरता नहीं है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्याद्यसूत्रसामर्थ्यात्, मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि संसारमार्ग इति सिद्धेः सिद्धमेव संसारकारणत्रित्वं बाधकप्रमाणाभावात्ततो न संसारकारणत्रित्वासिद्धेर्निर्वाणकारणत्रित्वानुपपत्तिचोदना कस्यचिन्न्यायदर्शितामावेदयति.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों समुदित होकर मोक्षके मार्ग हैं। इस पहिले सूत्रकी सामर्थ्यसे मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन संसारके मार्ग हैं, यह

बिना कहे सिद्ध हो ही जाता है । अतः बाधक प्रमाणोंके न होनेसे संसारके कारणोंको तीनपना प्रसिद्ध ही है । इस ही कारण किन्हीं नैयायिकोंका यह कटाक्ष करना कि संसारके कारणोंमें जब तीनपना सिद्ध नहीं है तो मोक्षके कारणोंका भी तीनपना सिद्ध न होगा, यह उन नैयायिकोंके न्यायपूर्वक वेदनेपनको नहीं कहरहा है । वे केवल नाममात्रके नैयायिक हैं । न्यायको जाननेवाले या न्यायपूर्वक क्रियाको करनेवाले ऐसे अर्थसे नैयायिक नहीं हैं ।

विपर्ययमात्रमेव विपर्ययावैराग्यमात्रमेव वा संसारकारणमिति व्यवस्थापयितुमशक्तेर्न संसारकारणत्रित्वस्य बाधाऽस्ति तथाहि—

अकेला विपर्ययज्ञान ही अथवा विपर्ययज्ञान और रागभाव ये दो ही संसारके कारण हैं, इसकी आप नैयायिक व्यवस्था नहीं कर सकते हैं । अतः संसारके कारणोंको तीनपना माननेकी कोई बाधा नहीं है । मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों ही संसारके कारण हैं । इसी बातको स्पष्टकर दिखलाते हैं ।

मौलो हेतुर्भवस्येष्टो येषां तावद्विपर्ययः ।
तेषामुद्भूतबोधस्य घटते न भवस्थितिः ॥ ९८ ॥

जिन नैयायिक, सांख्य और वैशेषिकोंके मतमें संसारका सब कारणोंके आदिमें होनेवाला मूलकारण विपर्यय–ज्ञान माना गया है, उन वादियोंके यहां तत्त्वज्ञानके प्रकट हो जानेपर उस जीवकी संसारमें स्थिति होना न बन सकेगा । क्योंकि तत्त्वज्ञानसे विपर्यय ज्ञानका नाश होकर उत्तर क्षणमें ही मोक्ष हो जावेगी । अतः तत्त्वोंका उपदेश देनेके लिये योगीका संसारमें ठहरना न हो सकेगा ।

अतस्मिंस्तद्ग्रहो विपर्ययः, स दोषस्य रागादेर्हेतुः, तद्भावे भावात्तदभावेऽभावात् । सोऽप्यदृष्टस्याशुद्धकर्मसंज्ञितस्य, तदपि जन्मनस्तद्दुःखस्यानेकविधस्येति मौलो भवस्य हेतुर्विपर्यय एव येषामभिमतस्तेषां तावदुद्भूततत्त्वज्ञानस्य योगिनः कथमिह भवे स्थितिर्घटते कारणाभावे कार्योत्पत्तिविरोधात् ।

जो तद्रूप नहीं है, उसमें तद्रूपपनेका ज्ञान करलेना विपर्ययज्ञान है । जैसे कि लेजुमें सांपका ज्ञान या चांदीमें सीपका ज्ञान । वैसे ही शरीर, धन पुत्र, कलत्र आदिमें मैं और मेरा इस ज्ञानको विपर्यय कहते हैं । वह विपर्यय ज्ञान राग, द्वेष, अज्ञान, आदि दोषोंका कारण है । क्योंकि उस विपर्ययके होनेपर राग आदिक दोष होते हैं और उसके न होनेपर नहीं होते हैं । यह अन्वयव्यतिरेक घट जाता है । और वे राग आदिक दोष भी अशुद्धकर्म हैं नाम जिनके, ऐसे पुण्यपापरूप अदृष्टके कारण हैं । और वह पुण्यपापकर्म भी जन्म लेनेका कारण है । और वह

जन्मलेना अनेक प्रकारके शारीरिक, मानसिक, दुःखोंका कारण है। इस प्रकार संसारका जडरूप मूलकारण विपर्ययज्ञान ही है। उस ही से अन्य कारणोंकी शाखायें चलती हैं। " दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः " ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार जिन नैयायिक आदि वादियोंने माना है, उनके यहां पहिले यह बतलाओ कि तत्त्वज्ञानके उत्पन्न होनेपर भला योगीका इस संसारमें ठहरना कैसे बनेगा ? कारणके न रहनेपर कार्यकी उत्पत्ति होनेका विरोध है, अर्थात् शरीर, आयु, जन्म धारण करना, आदि सबका मूलकारण विपर्ययज्ञान था। जब तत्त्वज्ञान द्वारा विपर्ययका जडसे नाश हो गया तो फिर भला संसारमें ठहरना कैसे होगा ? कारण नहीं है तो कार्य किस बलासे पैदा होगा! कहिये।

संसारे तिष्ठतस्तस्य यदि कश्चिद्विपर्ययः।
सम्भाव्यते तदा किन्न दोषादिस्तन्निबन्धनः ॥ ९९ ॥

संसारमें ठहरते हुए उस योगीके यदि कोई न कोई विपर्ययज्ञान सम्भावित किया जावेगा तो उस योगीके विपर्ययको कारण मानकर उत्पन्न होनेवाले दोष, पुण्य पाप, जन्म लेना, दुःख भोगना, आदि कार्य भी क्यों नहीं माने जावेंगे ?। समर्थ कारण अपने नियत कार्यको अवश्य उत्पन्न करेगा।

समुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्याप्यशेषतोऽनागतविपर्ययस्यानुत्पत्तिर्न पुनः पूर्वभवोपात्तस्य पूर्वाधर्मनिबंधनस्य ततोऽस्य भवस्थितिर्घटत एवेति सम्भावनायां, तद्विपर्ययनिबंधनो दोषस्तद्दोषनिबंधनं चादृष्टं, तददृष्टनिमित्तं च जन्म, तज्जन्मनिमित्तं च दुःखमनेकप्रकारं किन्न सम्भाव्यते ?

नैयायिक कहते हैं कि तत्त्वज्ञानके भले प्रकार उत्पन्न हो जानेपर भविष्यमें आनेवाले विपर्ययोंकी उत्पत्ति होना पूर्ण रूपसे रुक गया है, किंतु फिर पूर्वजन्मोंमें ग्रहण किये हुए पहिले अधर्मोंको कारण मानकर उत्पन्न होनेवाले विपर्ययोंका उत्पाद होना नहीं रुका है, वे तो फल देकर झरेंगे। विना फल दिये सञ्चित कर्म नहीं नष्ट होते हैं। अतः उस पूर्व अदृष्ट नामक कारणके द्वारा उत्पन्न किये गये विपर्यय ज्ञानोंका उपभोग करते हुए इस योगीका संसारमें कुछ दिन तक ठहरना बन ही जाता है। ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंके प्रत्युत्तरकी सम्भावना होनेपर हम कहते हैं कि उस विपर्ययको कारण मानकर योगीके राग आदिक दोष अवश्य पैदा हो जावेंगे और उस दोषको कारण मानकर पुण्य, पाप भी उत्पन्न होगा और पुण्य, पापके निमित्तसे जन्म तथा जन्मके निमित्तसे अनेक प्रकारके दुःख उस योगीके क्यों नहीं सम्भवते हैं ? अर्थात् ये कार्य भी तत्त्वज्ञानीके हो जावेंगे। ऐसी दुःखित, दूषित, अवस्थामें भला योगी समीचीन उपदेश कैसे देगा ? आप ही विचारो।

न हि पूर्वोपात्तो विपर्यासस्तिष्ठति न पुनस्तन्निबन्धनः पूर्वोपात्त एव दोषादिरिति प्रमाणमस्ति तत्स्थितेरेव प्रमाणतः सिद्धेः।

पहिले जन्ममें ग्रहण किया हुआ मिथ्या अभिनिवेश तो योगीके ठहरा रहे और उसको कारण मानकर पहिले जन्ममें धारासे उत्पन्न हुए ही दोष, पाप, दुःख, आदि फिर न होवें, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। उस विपर्यासकी स्थितिसे ही दोष, जन्म, आदिका होना प्रमाणसे सिद्ध होता है। कारण है तो कार्य होगा ही, अतः अकेले मिथ्याज्ञानसे संसारकी व्यवस्था और अकेले तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती है।

तथा सति कुतो ज्ञानी वीतदोषः पुमान्परः।
तत्त्वोपदेशसन्तानहेतुः स्याद्भवदादिषु ॥ १०० ॥

वैसा होनेपर तत्त्वज्ञानीके भी विपर्यय और दोषोंकी जब सम्भावना है तो दोषोंसे रहित होकर उत्कृष्ट, तत्त्वज्ञानी, पुरुष भला तत्त्वोंके उपदेशकी आजतक संतान बने रहनेका कारण आप नैयायिक, वैशेषिक आदिकोंमें कैसे बनेगा ? बताओ। इसका आप विचार कीजिये। हां ! सदैव अज्ञका उपदेश आप लोगोंमें प्रवर्तता रहेगा।

पूर्वोपात्तदोषादिस्थितौ च तत्त्वोपदेशसम्प्रदायाविच्छेदहेतोर्भवदादिषु विनयेषु सर्वज्ञस्यापि परमपुरुषस्य कुतो वीतदोषत्वं येनाज्ञोपदेशविप्रलम्भनशंकिभिस्तदुक्तप्रतिपत्तये प्रेक्षावद्भिर्भवाद्भिः स एव मृग्यते।

तत्त्वज्ञानीके पूर्व जन्मोंमें ग्रहण किये गये राग, द्वेष, आदि दोष और पाप, दुःख आदिकी स्थिति रहनेपर तत्त्वोपदेशकी आप लोगोंमें आम्नायके न टूटनेके कारण माने गये उस परमपुरुष सर्वज्ञको भी दोषोंसे रहितपना भला कैसे सिद्ध होगा ? बताओ। जिस सर्वज्ञकी आप नैयायिक, वैशेषिक आदिक विनीत होकर भक्ति करते हैं, जिससे कि विचारक विद्वानों करके उसी सर्वज्ञका अन्वेषण किया जाय। यदि आपके माने हुए सर्वज्ञ परमपुरुषमें निर्दोषपना सिद्ध होगया होता, तब तो विचारशील बुद्धिवाले आप लोगोंके द्वारा वह सर्वज्ञ ही उसके कहे हुए तत्त्वोंका विश्वास करनेके लिये ढूंढा जाता। किंतु जिन विचारशीलोंको अज्ञ, सदोष, कल्पित, सर्वज्ञके आज्ञापित उपदेशमें धोखा होजानेकी शंका होरही है, उनके द्वारा उस सर्वज्ञको ढूंढनेकी आवश्यकता न होगी। कोई भी विचारशील वादी सदोष और भ्रांतिज्ञान करानेवाले पुरुषको तत्त्वोपदेशकी आम्नायके न टूटनेमें कारण नहीं मानता है। भावार्थ—सदोष ज्ञानीसे समीचीन तत्त्वोंके उपदेशकी सन्तान नहीं चल सकती है।

यदि पुनर्न योगिनः पूर्वोपात्तो विपर्ययोऽस्ति नापि दोषस्तस्य क्षणिकत्वेन स्वकार्यमदृष्टं निर्वर्त्य निवृत्तेः, किं तर्ह्यदृष्टमेव तत्कृतमास्ते तस्याक्षणिकत्वादन्त्येनैव कार्येण विरोधित्वात्तत्कार्यस्य च जन्मफलानुभवनस्योपभोगेनैव निवृत्तेस्ततः पूर्वं तस्यावस्थितिरिति मतं, तदा तत्त्वज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तस्मिन्नेव जन्मनि विपर्ययो न स्यात्पूर्वजन्मन्येव तस्य निवृत्तत्वात्, तद्वद्दोषोपीत्यापतितं, तत्कृतादृष्टस्यैव स्थितेः न चैतद्युक्तं, प्रतीतिविरोधात् ।

फिर यदि आप यों कहेंगे कि तत्त्वोंको जाननेवाले योगी पुरुषके पहिले जन्ममें ग्रहण किया हुआ विपर्ययज्ञान नहीं है और न उनके कोई राग आदिक दोष भी हैं। क्योंकि विपर्यय और दोष तो आत्माके विशेष गुण हैं। विभु द्रव्योंके प्रत्यक्ष करने योग्य ज्ञान, सुख, दुःख आदिक विशेष गुण क्षणिक होते हैं। " योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तियोग्यविभुविशेषगुणनाश्यत्वनियमात् " इससे वे दो क्षण ठहरकर तीसरे क्षणमें नष्ट हो जाते हैं। अतः वे अपने कार्य पुण्य, पाप, को पैदा करके शीघ्र ही निवृत्त हो जाते हैं, तब तो शेष क्या रह जाता है ? इसका उत्तर यह है कि उनका किया हुआ पुण्यपाप ही आत्मामें विद्यमान रहता है। क्योंकि उस पुण्य, पाप गुणको क्षणिक नहीं माना गया है। वे प्रत्यक्ष योग्य नहीं हैं। पहिले सञ्चित किये हुए पुण्यपापोंका अपने अंतिम कार्यके साथ विरोध है। भावार्थ—पुण्य पाप अपना कार्य कुछ दिनोंतक या देरतक करते करते जब अंतका कार्य कर चुकते हैं, उस अंतिम कार्यसे उन पुण्य पापोंका नाश हो जाता है। अतः योगीके भी पूर्वसंचित कर्मोंसे उत्पन्न हुए जन्म लेकर फल भोगनारूप उपभोगों करके ही उस पुण्यपापकी निवृत्ति हो सकेगी। अतः तत्त्वज्ञान हो जानेपर भी जबतक वर्तमान मनुष्य जन्म रहता है, तबतक उससे पहिले कालमें योगीकी स्थिति बनी रहती है। और वे निर्दोष सर्वज्ञ शरीरवचनधारी होकर विनय करनेवाले जीवोंके लिये तत्त्वोपदेश करते हैं। इस प्रकार तुम्हारा मंतव्य है, तब तो हम जैन कहते हैं कि तब तो तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिसे पहिले उस प्रहीत जन्ममें ही विपर्यय ज्ञान न रह सकेगा। क्योंकि वह तो पूर्वजन्ममें ही निवृत्त हो चुका है और वैसे ही उस जन्ममें राग आदिक दोष भी नहीं बनेंगे, यह बात आपके कहनेसे आपडती है। आप तो उस जन्ममें केवल पूर्वजन्मके उन विपर्यय और रागसे किये गये अदृष्टकी ही स्थिति मानते हैं। किन्तु यह आपका मानना तो युक्त नहीं है। पण्डिताईके पहिले मूर्खता अवश्य है। तत्त्वज्ञानसे पहिले भी विपर्यय, राग, आदि दोषोंको न स्वीकार करना यह प्रतीतियोंसे विरुद्ध है। किसी निर्णीत किये गये कार्यकारणभावका, व्यक्तिकी अपेक्षासे, भंग नहीं होता है। सेठके घरकी आग ठण्डी हो और दरिद्रके घरकी आग गरम होवे, ऐसा नहीं है। सूर्य तथा चन्द्रमाकी घाम और चांदनी जैसे राजाके महलोंमें है, वैसी ही निर्धनोंकी झोंपड़ियोंमें है। चाहे कोई भी परमपूज्य व्यक्ति क्यों न हो तत्त्वज्ञानके पहिले उसके दोष और विपर्यय अवश्य विद्यमान रहेंगे। क्योंकि

आत्मामें उनका कारण बैठा हुआ है कार्यकारणभावमें पक्षपात नहीं चलता है। कारण अवश्य कार्योंको उत्पन्न करेगा आप नैयायिकोंके यहां विना फल दिये कर्म झडना नहीं माना गया है।

यदि पुनः पूर्वजन्मविपर्ययाद्दोषस्ततोप्यधर्मस्तस्मादिह जन्मनि मिथ्याज्ञानं ततोऽपरो दोषस्ततोप्यधर्मस्तस्मादपरं मिथ्याज्ञानमिति तावदस्य संतानेन प्रवृत्तिर्यावत्तत्त्वज्ञानं साक्षादुत्पद्यते इति मतं, तदा तत्त्वज्ञानकालेऽपि तत्पूर्वानन्तरविपर्यासाद्दोषोत्पत्तिस्ततोप्यधर्मस्ततोऽन्यो विपर्यय इति कुतस्तत्त्वज्ञानादनागतविपर्ययादिनिवृत्तिः ? ।

फिर भी यदि आप यों मानें कि पहिले जन्मके मिथ्याज्ञानसे राग, द्वेष, उत्पन्न होंगे और उन दोषोंसे आत्मामें पाप पैदा होगा। उस पापसे इस जन्ममें फिर मिथ्याज्ञान होगा। उस मिथ्या ज्ञानसे दूसरा दोष, उससे भी पाप, फिर उस पापसे भी तीसरा मिथ्याज्ञान इस प्रकार तद्भवमोक्षगामीके भी तबतक संतानरूपसे मिथ्याज्ञान आदिकी प्रवृत्ति होती रहेगी, जबतक कि योगीके साक्षात् प्रत्यक्ष करनेवाला तत्त्वोंका ज्ञान उत्पन्न होवेगा, अर्थात् जबतक तत्त्वोंका ज्ञान न होगा, तबतक धारा चलेगी। पीछे संतान रुक जावेगी। आप नैयायिक ऐसा मानेंगे, तब तो तत्त्वज्ञानके समयमें भी कार्यकारणभावसे चले आये उस अव्यवहित पूर्ववर्ती विपर्ययज्ञानसे दोषोंकी उत्पत्ति होगी और उन दोषोंसे भी अधर्म उत्पन्न होगा और उस अधर्मसे फिर एक निराला विपर्ययज्ञान पैदा होगा। इस प्रकारकी धारा अनंतकालतक चलती रहेगी। आप विना फल दिये हुए पापका नाश मानते नहीं है। कारण है तो कार्य अवश्य होगा। भला ऐसी दशामें तत्त्वोंके ज्ञानसे भविष्यमें होनेवाले मिथ्याज्ञान, दोष, पुण्य, पाप, पुनः जन्म लेना आदि अनेक प्रकारके दुःखोंकी निवृत्ति कैसे हो सकेगी ? आप नैयायिक ही इसका उत्तर दो।

वितथाग्रहरागादिप्रादुर्भावनशक्तिभृत्।
मौलो विपर्ययो नान्त्य इति केचित्प्रपेदिरे ॥ १०१ ॥

कोई कोई नैयायिक यों समझे हुए हैं कि पहिला मूलभूत जडका विपर्ययज्ञान तो अतत्त्वमें तत्त्वका झूंठा ज्ञान कराना हठ, राग, पाप, दुःख, जन्मलेना आदि शाखारूप कार्योंके प्रकट करानेवाली शक्तिको धारण करता है। किंतु अंतमें होनेवाला विपर्ययज्ञान तो दोष, पाप, आदिको उत्पन्न नहीं करा सकता है। भावार्थ—कुदेवको देव समझना, अतत्त्वको तत्त्व समझना आदि चलाकर किये गये विपर्यास तो राग, पाप, पुनर्जन्म आदिके कारण हैं, किंतु अंतका फलरूप विपर्यय ज्ञान फिर राग आदिकी संततिको नहीं चलाता है, जैसे कि जैनोंको भी द्रव्यकर्मसे भावकर्म और भावकर्मसे द्रव्यकर्मकी धाराका प्रवाह अंतमें तोडना पडता है। इस प्रकार कोई समझ बैठे हैं।

मौल एव विपर्ययो वितथाग्रहरागादिप्रादुर्भावनशक्तिबिभ्राणो मिथ्याभिनिवेशात्मकं दोषं जनयति, स चाधर्ममधर्मश्च जन्म तच्च दुःखात्मकं संसारं, न पुनरन्त्यः

क्रमादपकृष्यमाणतज्जननशक्तिकविपर्ययादुत्पन्नस्तज्जननशक्तिरहितोऽपि, यतस्तत्त्वज्ञानकाले मिथ्याभिनिवेशात्मकदोषोत्पत्तिस्ततोप्यधर्मादिरुत्पद्येतेति केचित्संप्रतिपन्नाः ।

मूलमें उत्पन्न हुआ विपर्यय ज्ञान ही झूंठे अभिनिवेश, राग, पाप, आदिके उत्पन्न करानेकी शक्तिको धारण करता हुआ मिथ्या हठ करना, रागद्वेष करना रूप दोषोंको उत्पन्न कराता है और वह दोष अधर्मको पैदा करता है । अधर्म जन्मको और वह जन्म लेना तो अनेक दुःख स्वरूप संसारको पैदा करा देता है। किन्तु शक्तिहीन होरहा अन्तका विपर्ययज्ञान फिर दोष आदिककी धाराको नहीं चलाता है । क्योंकि क्रमसे कमती कमती हो रही है उन दोष आदिकको जन्म करानेकी शक्ति जिनकी, ऐसे विपर्ययज्ञानोंसे कुछ धाराके पश्चात् अन्तमें ऐसा विपर्यय भी पैदा होता है कि उन दोष विपर्ययज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे सर्वथा रहित है । अर्थात् जैसे कि हम गोली या ढेला फेंकते हैं अथवा कुलाल चाकको घुमाता है । यहां वेगके द्वारा फिकना और घूमनारूप क्रियाओंकी धारा चलती है । किन्तु अंतका वेग क्रियाको पैदा नहीं करता है। वहींपर ढेल गिरजाता है और चाक थमजाता है । अतः सिद्ध होता है कि अंतका विपर्यय पुनः धाराको चलानेकी शक्तियोंसे रहित है । अतः पुनः दोष आदिकी धारा तत्त्वज्ञानीके नहीं चलेगी। जिससे कि आप जैनलोग तत्त्वज्ञानके समयमें भी झूंठे आग्रहरूप दोषोंकी उत्पत्ति और उससे भी अधर्म तथा उस अधर्मसे जन्म आदि उत्पन्न होंगे, इस प्रकारका आपादन कर सकें । ऐसा समझकर कोई नैयायिक विश्वास कर बैठे हैं । अब आचार्य कहते हैं कि:—

तेषां प्रसिद्ध एवायं भवहेतुस्त्रयात्मकः ।
शक्तित्रयात्मतापाये भवहेतुत्वहानितः ॥ १०२ ॥

उन नैयायिकोंके यहां तो वह बडी अच्छी तरह प्रमाणोंसे सिद्ध हो गया कि संसारका कारण भी मिथ्यादर्शन आदि तीनरूप ही है । तीन सामर्थ्य स्वरूपपना न मानने पर तो अकेले विपर्ययमें संसारके कारणपनेकी हानि हो जावेगी ।

य एव विपर्ययो मिथ्याभिनिवेशरागाद्युत्पादनशक्तिः स एव भवहेतुर्नान्य इति वदतां प्रसिद्धो मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मको भवहेतुर्मिथ्याभिनिवेशशक्तेरेव मिथ्यादर्शनत्वान्मिथ्यार्थग्रहणस्य स्वयं विपर्ययस्य मिथ्याज्ञानत्वाद्रागादिप्रादुर्भवनसामर्थ्यस्य मिथ्याचारित्रत्वात् ।

जो ही विपर्यास ज्ञान झूंठा आग्रह, रागभाव, आदिकोंके उत्पन्न करानेकी शक्तिको रखता है, वही मिथ्याज्ञान संसारका कारण है । दूसरा अंतमें होनेवाला मिथ्याज्ञान तो संसारका कारण नहीं है । इस प्रकार कहनेवाले नैयायिक, वैशेषिकोंके मतमें भी यह प्रमाणसे सिद्ध हो चुका कि

संसारका कारण मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप हैं। क्योंकि विपर्याससें लगी हुयी मिथ्या अभिनिवेशरूप शक्तिको ही मिथ्यादर्शनपना है तथा झूंठे अर्थोंको हठसहित जानलेना स्वयं विपर्ययरूप तो मिथ्याज्ञान है ही, और विपर्ययमें विद्यमान राग, द्वेष, आदिकको प्रगट करानेकी शक्तिको मिथ्याचारित्र कहना चाहिये। इसप्रकार अभेदको ग्रहण करनेवाली द्रव्यदृष्टिसे तीन शक्तियुक्त मिथ्याज्ञान ही मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप है। तथा च मोक्ष और संसारका मार्ग तीन संख्यावाला सिद्ध हुआ।

ततो मिथ्याग्रहावृत्तशक्तियुक्तो विपर्ययः।
मिथ्यार्थग्रहणाकारो मिथ्यात्वादिभिदोदितः॥ १०३॥

उस कारण झूंठा अन्धविश्वास, झूंठा जानना और झूंठी क्रिया करना इन तीन शक्तियोंसे या मिथ्या, अभिनिवेश और मिथ्याचारित्र इन दो शक्तियोंसे सहित होरहा विपर्ययज्ञान ही मिथ्या असत्स्वरूप अर्थोंको ग्रहण करनेका उल्लेख करता हुआ पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे मिथ्यात्व आदि यानी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीन भेदोंसे कहा जाता है।

न हि नाममात्रे विवादः स्याद्वादिनोऽस्ति क्वचिदेकत्रार्थे नानानामकरणस्याविरोधात्। तदर्थे तु न विवादोऽस्ति मिथ्यात्वादिभेदेन विपर्ययस्य शक्तित्रयात्मकस्येरणात्।

अकेले शब्दके भेद हो जानेसे केवल नाममें स्याद्वादी लोग विवाद नहीं करते हैं। क्योंकि किसी एक अर्थमें भी अनेक भिन्न भिन्न प्रकारके नाम कर लेनेका कोई विरोध नहीं है। एक पदार्थका कतिपय नामोंसे वाचन हो जाता है। किन्तु उसके वाच्य अर्थमें कोई झगडा नहीं है। प्रकृतमें तीन सामर्थ्योंसे तदात्मक होरहे विपर्ययको नैयायिकोंके द्वारा मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके भेदसे ही निरूपण किया गया है। वस्त्र और अलंकारोंसे सहित देवदत्तका कहना और पृथक्रूपसे वस्त्र, अलंकार और देवदत्त इन तीनोंका कहना एक ही प्रयोजनको रखता है। अत्यन्त सूक्ष्म अन्तरका इस प्रकरणमें विचार नहीं है। अतः प्रेरणा अनुसार तीनको संसारका मार्गपना नैयायिकोंने इष्टकर लिया समझना चाहिये।

तथा विपर्ययज्ञानासंयमात्मा विबुध्यताम्।
भवहेतुरतत्त्वार्थश्रद्धाशक्तित्रयात्मकः॥ १०४॥

जिस प्रकार केवल मिथ्याज्ञानको संसारका कारण कहनेवालोंको अर्थापत्तिके द्वारा प्रेरित होकर तीन प्रकारसे संसारका मार्ग मानना पडता है, वैसे ही विपर्ययज्ञान और असंयम रूप दो को संसारका मार्ग माननेवालोंके द्वारा भी संसारका कारण अतत्त्व अर्थोंकी श्रद्धारूप शक्तियुक्त दो को कारण माननेसे तीन शक्तिस्वरूप ही संसारका कारण माना गया समझ लेना चाहिये।

यावेव विपर्ययासंयमौ वितथार्थश्रद्धानशक्तियुतौ मौलौ तावेव भवसंतानप्रादुर्भावन-समर्थौ नान्त्यौ प्रक्षीणशक्तिकाविति ब्रुवाणानामपि भवहेतुः त्रयात्मकत्वेव प्रत्येकत्वो विशेषाभावात् इत्यविवादेन संसारकारणत्रित्वसिद्धेर्न संसारकारणत्रित्वानुपपत्तिः ।

जो ही विपर्यय और असंयम (अवैराग्य) झूंठे अर्थोंके श्रद्धान करनेकी शक्तिसे सहित होते हुए मूलकारण संसारके माने गये हैं, वे दोनों ही जब मिथ्याश्रद्धानकी शक्तिसे युक्त होंगे तब तो संसारकी संतानको भविष्यमें उत्पन्न करानेके लिये समर्थ हैं। किंतु जब उनकी शक्ति क्रमसे घटती घटती सर्वथा नष्ट हो जावेगी, तब अंतके विपर्यय और अवैराग्य पुनः संसार दुःख पाप आदिकी धाराको नहीं चलावेंगे । इस प्रकार कहनेवाले बौद्धोंको भी संसारका कारण उस ही प्रकारसे तीन स्वरूप निर्णय कर लेना चाहिये । क्योंकि मिथ्याश्रद्धान-युक्त दो को और मिथ्या दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनको संसारका कारण कहनेमें कोई अंतर नहीं है । शाकसे पूरी, कचौडीको खाना तथा शाक, पूरी, कचौडी इन तीनको खाना ये दोनों एक ही बात हैं । इस प्रकार झगडा करनेके विना ही संसारके कारणोंको तीनपना सिद्ध हो जाता है । इस कारण मोक्ष-मार्गके समान संसारकारणको भी तीनपना असिद्ध नहीं है ।

युक्तितश्च भवहेतोस्त्रयात्मकत्वं साधयन्नाह;—

युक्तियोंसे भी संसारके कारणोंको तीनस्वरूपपनेका साधन कराते हुए ग्रंथकार कहते हैं ।

मिथ्यादृगादिहेतुः स्यात्संसारस्तदपक्षये ।
क्षीयमाणत्वतो वातविकारादिजरोगवत् ॥ १०५ ॥

संसार (पक्ष) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीन हेतुओंका कार्य होना चाहिये (साध्य) । क्योंकि उन मिथ्यादर्शन आदिके क्रम क्रमसे क्षय होनेपर संसार भी क्रम क्रमसे क्षीण होता जारहा देखा जाता है (हेतु) । जैसे कि वात, पित्त, कफके विकारों आदिसे उत्पन्न हुए रोग अपने निदानोंके क्षय हो जानेसे क्षीण हो जाते हैं (अन्वयदृष्टांत) ।

यो यदपक्षये क्षीयमाणः स तद्धेतुर्यथा वातविकाराद्यपक्षीयमाणो वातविकारादिजो रोगः मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रापक्षये क्षीयमाणश्च संसार इति । अत्र न तावदयं वाद्यसिद्धो हेतुः मिथ्यादर्शनस्यापक्षयेऽसंयतसम्यग्दृष्टेरनन्तसंसारस्य क्षीयमाणत्वसिद्धेः संख्यातभव-मात्रतया तस्य संसारस्थितेः ।

यह बनी हुयी व्याप्ति है कि जिसके क्रमसे क्षय होनेपर जो क्षयको प्राप्त होता जाता है, वह उसका कारण समझा जाता है । जैसे कि वायुके विकार, पित्तका प्रकोप आदि कारणोंके

क्षय होजानेसे बिगडे हुए वात या पित्तके प्रकोपसे उत्पन्न हुए पीडा, ज्वर, श्लेष्म, आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्रके पूर्णरीत्या क्षय हो जानेपर संसार नष्ट होता हुआ देखा जाता है। इस कारण वे तीन संसारके कारण हैं। यह पांच अवयववाला अनुमान है। पहिले यह देखना है कि इस अनुमानमें दिया गया मिथ्यादर्शन आदिके क्षय होनेपर संसारका क्षय होते जानारूप हेतु हम जैन सिद्धान्ती–वादीको असिद्ध नहीं है। स्याद्वादसिद्धान्तके अनुसार मिथ्यादर्शनका चौथे गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टिजीवके उपशम, क्षय, या क्षयोपशमस्वरूप नाश हो जानेपर अनन्तकालतक होनेवाले संसारका क्षय हो जाना सिद्ध हो जाता है। जिसे एक बार सम्यग्दर्शन हो गया है, वह अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गल परिवर्तन कालतक संसारमें ठहरेगा। पश्चात् अवश्य मुक्तिको प्राप्त करेगा। अतः उसकी केवल संख्यात भवोंको धारण करनेरूपसे ही संसारमें स्थिति है। अर्थात्–अनन्तानन्त भवोंकी अपेक्षा संख्यात, असंख्यात, या छोटा अनन्तके केवल अंगुलियोंपर गिननेके समान संख्यात ही समझने चाहिये। अधिकसूक्ष्म बातोंको नहीं समझनेवाले प्रतिवादियोंके सन्मुख मोटी मोटी बातें कह दीजाती हैं। अन्यथा एक झगडा निर्णीत नहीं हुआ, तबतक दूसरा तीसरा और खडा हो जाय। कुतर्कियोंको समझाना नितान्त कठिन है। अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव तो अधिकसे अधिक चार भवोंमें अवश्य संसारका नाश कर देता है। अतः संसारका काल अत्यन्त न्यून हो जानेसे हेतु पक्षमें रहजाता है। असिद्ध हेत्वाभास नहीं है।

तत एव मिथ्याज्ञानस्यापक्षये सम्यग्ज्ञानिनः संसारस्य क्षीयमाणत्वं सिद्धम्।

उस ही कारणसे चौथे गुणस्थानमें मिथ्याज्ञानके विघट जानेपर सम्यग्ज्ञानवाले जीवके संसारका क्षयकी तरफ उन्मुख होनापन सिद्ध है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ होते हैं। अतः सम्यग्ज्ञानी जीव भी जिनदृष्ट संख्यात जन्मोंसे अधिक संसारमें नहीं ठहरता है। अपूर्वकरण अवस्थाके मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिदशासे ही कर्मोंकी असंख्यगुणी निर्जरा होना प्रारंभ हो जाती है।

सम्यक्चारित्रवतस्तु मिथ्याचारित्रस्यापक्षये तद्भवमात्रसंसारसिद्धेर्मोक्षसम्प्राप्तेः सिद्धमेव संसारस्य क्षीयमाणत्वम्।

तथा सम्यक्चारित्रवाले जीवके तो मिथ्याचारित्रके सर्वथा क्षय हो जानेपर केवल उसी जन्मका संसार शेष रहगया सिद्ध है। क्षायिक चारित्रके हो जानेपर उसी जन्ममें मोक्षकी समीचीन प्राप्ति होजाती है। अतः संसारका क्षय हो जाना यहांपर अच्छी तरहसे घट गया। इस कारण स्याद्वादियोंका हेतु सिद्ध है। तीन गुणोंसे तीन दोष नष्ट हो जाते हैं और संसारका क्षय होना क्रमसे चालू होकर पूर्णताको प्राप्त हो जाता है।

न चैवदागममात्रगम्यमेव यतोऽयं हेतुरागमाश्रयः स्यात् तद्ग्राहकानुमानसद्भावात्। तथा हि—

यह बात केवल जैनोंके शास्त्रोंमें श्रद्धा रखनेवाले आज्ञाप्रधानियोंको ही समझने योग्य है। परीक्षक लोग ऐसे संख्यात जन्ममें मोक्ष जानेकी बातोंपर विश्वास नहीं करते हैं, यह नहीं समझ बैठना, जिससे कि हमारा हेतु कोरे आगमकी बातें कहनेवाला होनेसे आगमाश्रय दोषसे दूषित हो जावे। युक्तियोंसे सम्वाद होते होते यदि अपने अपने माने हुए आगमोंकी बात कह दी जाय और यदि उसको हेतुसे पुष्ट न किया जावे तो आगमाश्रय दोष हो जाता है। किंतु हमारे उस हेतुका अनुग्रह करनेवाला दूसरा अनुमान प्रमाण विद्यमान है। अतः आगमाश्रय दोष नहीं है। उसी अनुमानको प्रसिद्ध कर दिखलाते हैं। दत्तावधान होकर सुनिये।

मिथ्यादर्शनाद्यपक्षये क्षीयमाणः संसारः साक्षात्परम्परया वा दुःखफलत्वाद्विषम-विषभक्षणातिभोजनादिवत्, यथैव हि साक्षाद्दुःखफलं विषमविषभक्षणं, परम्परयातिभो-जनादि, तन्मिथ्याभिनिवेशाद्यपक्षये तत्त्वज्ञानवतः क्षीयते ततो निवृत्तेः, तथा संसारोऽपि हीनस्थानपरिग्रहस्य दुःखफलस्य संसारत्वव्यवस्थापनत्वात् न च किञ्चित्साक्षात्परंपरया वा दुःखफलं मिथ्यात्वाद्यपक्षयेप्यक्षीयमाणं दृष्टं येन हेतोर्व्यभिचारः स्यात्।

संसार (पक्ष) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इनके उपशम, क्षयोपशम और क्षयरूप नाश होनेपर क्षयको प्राप्त हो रहा है (साध्य) क्योंकि चतुर्गतियोंमें जन्म, मरण करना रूप संसार अव्यवहित उत्तरकालमें या परंपरासे दुःखरूपं फलको उत्पन्न करनेका बीज है। (हेतु) जैसे कि अत्यंत भयङ्कर हालाहलका भक्षण करलेना या प्राणापहारी शस्त्रोंसे कट, भिद, जाना तथा अधिक भोजन कर लेना अथवा अति परिश्रम करना आदिका फल दुःख भोगना है। (दृष्टांत) अर्थात् जैसे ही बडे विषके भक्षणसे अतिशीघ्र ही घबडाना, विकल हो जाना, पीडा होना, और अंतमें बुरी तरहसे मौत हो जाना, ये दुःखरूपी फल प्राप्त होते हैं। या बाण, गोली और तलवारके लगनेसे अव्यवहित कालमें मृत्युपर्यंत अनेक कष्टरूप फल शीघ्र ही भोगने पडते हैं। तथा भूंखसे कहीं अधिक भोजन करनेपर या शक्तिसे अधिक परिश्रम आदि करनेपर कुछ देर पीछे ज्वर, शरीरपीडा, आदि रोगोंका स्थान बनकर कुछ दिन बादतक परम्परासे जीवको दुःखरूप फल भोगने पडते हैं, यानी उस समय दुःख नहीं भी प्रतीत होय किंतु कालांतरमें वे तीव्र दुःखके कारण हैं। किंतु इन दुःख देनेवाले हालाहल, अतिभोजन आदिका समीचीन ज्ञान, श्रद्धान हो जानेसे इनका कोई आचरण नहीं करता है अर्थात् विषभक्षण आदि दुःख देनेवाली क्रियाओंका क्षय हो जाता है। दृष्टांतमें हेतु रह गया, साध्य भी रह गया। जो कोई आत्मघाती क्रोधके वश विषको खा लेता है या कोई लोलुप, प्राणी मोदक आदिको अधिक खा लेता है, उसके मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान हैं। अतः विष खानेका या अधिक खानेका उसके क्षीयमा-णपना भी नहीं है, वैसे ही उन मिथ्यादर्शन, कुज्ञान और कुचारित्रकी हानि होते होते तत्त्वज्ञानी

जीवके संसार क्षयको प्राप्त हो जाता है। उन विषभक्षण आदि दोषोंसे जैसे तत्त्वज्ञानीकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही उसके संसारका भी क्रमसे क्षय होना सिद्ध हो जाता है। अनेक प्रकारके दुःख भोगना है फल जिसका, ऐसे निकृष्टस्थान शरीरका ग्रहण कर लेना ही संसार है। भावार्थ— विद्वानोंने सम्पूर्ण दुःखोंके मूलभूत शरीरग्रहणको ही संसार हो जानेकी व्यवस्था की है। अव्यवहित रूपसे अथवा परम्परासे दुःखरूप फलको उत्पन्न करनेवाला ऐसा कोई भी कारण नहीं देखा गया है, जो कि मिथ्यादर्शन आदिके शनैः क्षय होनेपर क्रम क्रमसे क्षयको प्राप्त होनेवाला न होवे, जिससे कि हमारे दुःखफलत्व हेतुका व्यभिचार हो जावे। अर्थात् हेतु व्यभिचार दोषसे रहित है। ज्ञानी जीव जिसको दुःख फल देनेवाला समझ लेता है, उसके कारणोंका नाश करता हुआ उसको भी शीघ्र नष्ट कर देता है।

गण्डपाटनादिकं दृष्टमिति चेत् न, तस्य बुद्धिपूर्वं चिकित्सेत्यनुमन्यमानस्य सुखफलत्वेनाभिमतत्वात् दुःखफलत्वासिद्धेः, शिशुप्रभृतीनामबुद्धिपूर्वस्य दुःखफलस्यापि पूर्वोपात्तमिथ्यादर्शनादिकृतकर्मफलत्वेन तस्य मिथ्यादर्शनाद्यनपक्षयेऽक्षीयमाणत्वसिद्धेः।

यदि कोई यों आक्षेप करे कि दूषित फोडे में चीरा लगवाना, पीडा देनेवाले दांतको निकवाना, गल जानेपर अंगुलीका कटवाना आदिक दुःख फलवाले कारण देखे गये हैं। किंतु वहां साध्य नहीं है अर्थात् ज्ञानी, श्रद्धानी जीव भी घावमें चीरा लगवाना आदि क्रियाओंका आचरण करते हैं। यहां विषभक्षण आदि क्रियाके क्षय होजानेके समान क्षय होजाना साध्य नहीं रहा। अतः जैनोंका हेतु व्यभिचारी हुआ। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि घाव चीरने आदिमें दुःखफलत्व नहीं है। किंतु उसका फल भविष्यमें सुख होना है। अतः हिताहितको परखनेवालेकी बुद्धिपूर्वक चिकित्सा है ऐसा माननेवाले जीवके फोडा चिरवाने आदिमें सुखरूप फलकी प्राप्ति होना अभीष्ट है। उसमें दुःखरूप फल देनापन असिद्ध है। हेतुके न रहनेपर साध्यके न रहनेसे व्यभिचार दोष नहीं होता है। हां! छोटे बच्चे पशु आदि जीवोंके बुद्धिपूर्वक चिकित्साका विचार न होनेपर फोडा खोंसडालने, खाज खुजाने आदिमें दुःखरूपी फलको देनेवालापन हेतु रहजाता है। वह पहिले जन्ममें ग्रहण किये मिथ्यात्व आदिसे किये गये कर्मोंका फल है। अतः उस दुःखरूप फलको मिथ्यादर्शन आदिके नहीं क्षय होजानेपर क्रमसे नहीं क्षीण होनापन सिद्ध है। भावार्थ— बच्चे आदिकोंके मिथ्यादर्शन आदिको हेतु मानकर दुःख भोगना फल सिद्ध है। यहां साध्यके न रहनेपर हेतुका रहना नहीं बनता है। अतः हेतुमें कोई दोष नहीं है। मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञानके क्षय होनेपर जहां दुःख फलको पैदा करनेवालेपनका ज्ञान है, वह तत्त्वज्ञानीके अवश्य नष्ट होजावेगा। बालक या पशुको फोडे चीरने आदिमें दुःख फलत्वका ज्ञान तो है। किंतु उनके मिथ्याश्रद्धा, ज्ञानका क्षय नहीं हुआ है। अतः मिथ्यादर्शनके क्षय न होनेसे उनको दुःख देनेवाले कारणका क्षय नहीं होता है। मिथ्या अध्यवसायके क्षय होनेपर तत्त्वज्ञानीको जिस क्रियामें दुःख

फलत्व दीखता है, वह कारण अवश्य क्षयको प्राप्त होजाता है, जैसे कि विषभक्षण, अतिभोजन, आदि क्रियाएं विचारशील पुरुषोंके क्षयको प्राप्त होजाती हैं।

कायक्लेशादिरूपेण तपसा व्यभिचार इत्यपि न मन्तव्यं, तपसः प्रशमसुखफलत्वेन दुःखफलत्वासिद्धेः तदा संवेद्यमानदुःखस्य पूर्वोपार्जितकर्मफलत्वात् तपःफलत्वासिद्धेः।

पुनः कोई दोष उठावे कि आप जैनोंके दुःखफलत्व हेतुका कायक्लेश, केशलुंचन, आतपनयोग, उपवास आदि दुःखफलको उत्पन्न करनेवाले इन तपःस्वरूप कारणसे व्यभिचार होगा। क्योंकि केशलुंचन आदि क्रियाओंमें दुःखरूपी फलका जनकपना (हेतु) है। किन्तु मिथ्यादर्शन आदिके अपक्षय होनेपर क्षीयमाणपना (साध्य) नहीं है। प्रत्युत मिथ्यादर्शन आदिके न्यून होनेपर विचारशाली मुनिमहाराज कायक्लेश आदि क्रियाओंको बढाते जाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि कृपण होरहे आत्माके गुणोंका विकास करनेके लिये कायक्लेश, उपवास आदि किये जाते हैं। इन क्रियाओंके करनेसे साधुओंको शान्तिसुखरूपी फल प्राप्त होता है। अतः दुःख फलपना असिद्ध है। इन क्रियाओंका फल दुःख भोगना नहीं है। अन्यथा चलाकर स्वयं प्रेरणासे ये क्रियाएं क्यों की जाती? अर्थात् जैसे कि सेवाधर्मका पालन करनेवाले परोपकारी पुरुषको स्वयंक्लेश उठाते हुए दूसरोंके दुःख, पीडा, आदिको मेटनेसे विलक्षण अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। मुनिमहाराजकी वैयावृत्य करनेसे भक्त श्रावक आनन्दित होजाता है। वैसे ही स्वात्मकर्तव्यमें दुःख प्रतीत नहीं होता है। आजीविका या पारितोषिककी अभिलाषासे सेवावृत्ति करना शूद्रकर्म है। किन्तु परोपकारके लिये सेवाधर्म पालना आत्मीय धर्म है। परोपकारी पुरुषको या आत्मोपकारी तपस्वीको आत्मीयकर्तव्यके अनुसार शरीरको क्लेश करनेवाली क्रियाओंमें दुःखका अनुभव नहीं होता है। दुःखको दुःख समझकर समता भावोंसे सह लेना जघन्य मार्ग है और दुःखको सुख समझकर सहना मध्यममार्ग है। किंतु उस दुःखका ज्ञान (वेदन) ही न होना उत्तम मार्ग है। सुकुमाल मुनीश्वरने शृगालीके द्वारा भक्षण किये जानेपर भी उस दुःखका वेदन नहीं किया था। अन्यथा उनको उपशम श्रेणी नहीं हो सकती थी। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन इन तीन पाण्डव मुनीश्वरोंने घोर उपसर्ग सहते हुए भी उधर लक्ष्य नहीं दिया था, तभी तो क्षपक श्रेणीपर आरूढ होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था। दुःख, पीडा, आदिकी ओर उपयोग लगानेसे और उसमें स्मृतिसमन्वाहार करनेसे ही दुःखका वेदन होता है। गर्भिणी स्त्रीको पुत्रके उत्पन्न करने, पोषण और मलमूत्रके धोने आदिमें थोडा क्लेश नहीं है किंतु महान् क्लेश है। उसको क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण आदिकी वेदनायें सहनी पडती है। बच्चेके बीमार हो जानेपर भूंखसे कम खाना, उपवास करना, रसोंका त्यागकरना आदि भी पालन करने पडते हैं। फिर भी गर्भिणीको उन क्रियाओंसे आभिमानिक सुखकी कल्पना करके अत्यधिक सुख प्राप्त होता है। अनेक वन्ध्या स्त्रियें उक्त दुःखोंको सहनेके लिये तरसती रहती हैं। व्यापारी, किसान आदिको भी अनेक दुःख

सहने पडते हैं। वे धन, धान्यके उपार्जनका लक्ष्य कर मध्यमें आये दुःखोंको अज्ञातके समान भोग लेते हैं। इससे सिद्ध है कि दुःख होनेपर भी उत्तम उत्तम साध्यकी ओर लक्ष्य होनेसे दुःखका वेदन नहीं होता है तथा झूंठे सङ्कल्प विकल्प करनेवाले, ठलुआ, चिन्ताशील, मनुष्योंको दुःख न होनेपर भी अनेक सम्भावित दुःख सताते रहते हैं। अतः दुःखवेदन करनेका इष्ट अनिष्टकल्पनासे घनिष्ठ सम्बन्ध है। दुःख होना और दुःखका अनुभव करना दो बातें हैं। उन मुनि महाराजोंको कायक्लेश, परीषह आदिसे होनेवाले दुःखोंसे उलटा अनुपम शान्ति सुख प्राप्त होता है। इसलिये वहां दुःखं फलत्व हेतुके न रहनेसे व्यभिचार दोष नहीं है। यदि किसी समय छठे गुणस्थानवर्ती मुनि महाराजके व्यथाजन्य दुःखवेदन (अनुभव) भी होजावे तो वह उस समय भोगा जारहा दुःख पूर्वजन्ममें इकट्ठे किये गये दुष्कर्मोंका फल है। उस दुःखको कायक्लेश, उपवास, आदिरूप तपस्याका फलपना असिद्ध है। अतः हमारा पूर्वोक्त दुःखफलत्व हेतु निर्दोष है। भावार्थ—कायक्लेश, आदि तपके कार्यमें दुःखफलत्व नहीं रहता है, जिससे कि तपःक्रियाको ही क्षय कर देनेका तत्त्वज्ञानीके प्रसंग आता। जैसे विषभक्षण नहीं किया जाता है, वैसे तपः भी न किया जाता। आभिमानिक सुखको करनेवाले अनेक दुःखोंको भी जन सुख कह देते हैं तो फिर आत्मशुद्धि या मोक्षमार्गमें संलग्न करनेवाले तपश्चरणको तो दुःखहेतु कैसे भी नहीं कहा जासकता है।

मिथ्यादर्शनाद्यपक्षये क्षीयमाणश्च न स्यात्, इति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वमपि न साधनस्य शंकनीयं, सम्यग्दर्शनोत्पत्तावसंयतसम्यग्दृष्टेर्मिथ्यादर्शनस्यापक्षये मिथ्याज्ञानानुत्पत्तेस्तत्पूर्वकमिथ्याचारित्राभावात्तन्निबन्धनसंसारस्यापक्षयप्रसिद्धेः, अन्यथा मिथ्यादर्शनादित्रयापक्षयेपि तदपक्षयाघटनात्।

साक्षात् अथवा परम्परासे दुःखफलको देनेवालापना हेतु रहजावे और मिथ्यादर्शन आदिके यथाक्रमसे क्षय होनेपर क्षयको प्राप्त होरहा संसार न होवे अर्थात् हेतु रहे और साध्य न रहपावे, इस प्रकार हेतुके अप्रयोजक होजानेसे हेतुकी विपक्षसे व्यावृत्ति होना संदिग्ध है। अतः जैनोंका हेतु संदिग्धव्यभिचारी है, यह भी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होजानेपर चतुर्थ गुणस्थानवाले असंयत सम्यग्दृष्टि जीवके मिथ्यादर्शनका ह्रास होजाते सन्ते मिथ्याज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होपाती है। अतः उन मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानको पूर्ववर्त्ती कारण मानकर होनेवाले मिथ्याचारित्रका भी अभाव होगया है। इस कारण उन तीन कारणोंसे उत्पन्न हुए संसारका भी ह्रास होना प्रसिद्ध है। जब कारण ही न रहा तो कार्य कहांसे हो सकेगा। अग्निके दूर होजानेपर उष्णता भी नष्ट होजाती है। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारोंसे माना जाता तो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीनकी हानि होते हुए भी उस संसारका क्रम ह्रास होता नहीं बन सकता था। अतः हमारे हेतुमें अनुकूल तर्क है। जैसे कि धूम होवे और वह्नि न होवे, ऐसा आपादन करनेपर कार्यकारणभावके भंग हो जानेका डर है, वैसे ही यहां

मिथ्यादर्शन आदि तीनके साथ संसारका कार्यकारणभाव होना ही हेतुकी प्रयोजकता है। धीरे धीरे नाश होते होते पूरे नाशके लिये अभिमुख हो जाना अपक्षयका अर्थ है।

न च सम्यग्दृष्टेर्मिथ्याचारित्राभावात्संयतत्वमेव स्यान्न पुनः कदाचिदसंयतत्वमित्यारेका युक्ता, चारित्रमोहोदये सति सम्यक्चारित्रस्यानुपपत्तेरसंयतत्वोपपत्तेः। कार्त्स्न्यतो देशतो वा न संयमो नापि मिथ्यासंयम इति व्याहतमपि न भवति, मिथ्यागमपूर्वकस्य संयमस्य पञ्चाग्निसाधनादेर्मिथ्यासंयमत्वात् सम्यगागमपूर्वकस्य सम्यक्संयमत्वात्। ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वोदयासत्त्वेऽपि प्रवर्तमानस्य हिंसादेरसंयमत्वात्।

यदि कोई यों आशङ्का उठावे कि जैनोंके वर्तमान कथनानुसार सम्यग्दृष्टि जीवके चौथे गुणस्थानमें मिथ्याचारित्रके न रहनेसे संयमीपना भी हो जावे। फिर कभी भी चौथे गुणस्थानवालेको असंयतपना नहीं होना चाहिये। जब मिथ्याचारित्र न रहा तो महाव्रतोंका धारण, समितियोंका पालन, कषायोंका निग्रह, मन, वचन, कायकी उच्छृंखल प्रवृत्तियोंका त्याग, और इंद्रियोंका जयरूप संयमभाव हो जाना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किसीका शंका करना युक्त नहीं है। क्योंकि चौथे, पांचमे गुणस्थानमें चारित्रगुण (संयम) का मोहन करनेवाले अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणका उदय हो रहा है। ऐसा होनेपर सम्यक्चारित्र गुण नहीं बन सकता है। अतः चौथेमें इंद्रिय-संयम और प्राण-संयमरूप विरति न होनेसे असंयतपना बन जाना सिद्ध है और पांचवेमें सांकल्पिक त्रसवधका त्याग हो जानेसे तथा स्थावरवधका त्याग न होनेसे देशसंयतपना है। जबतक प्रत्याख्यानावरणका ग्यारहवीं प्रतिमामें भी मन्दतम उदय है, तबतक संयमभाव नहीं है। अतः चौथे गुणस्थानमें छट्ठेके समान पूर्णरूपसे संयम नहीं है और पांचवेके समान एकदेशसे भी संयम नहीं है तथा पहिले गुणस्थानके समान मिथ्यासंयम भी नहीं है। इस प्रकार इन तीनोंका निषेध करनेसे व्याघात दोष भी नहीं होता है। भावार्थ—जैसे कोई कहे कि वह विशेष व्यक्ति पुरुष भी नहीं है और स्त्री भी नहीं है। यहां परिशेषसे वह जीव तीसरा नपुंसकवेदी माना जाता है। ऐसे ही संयम, देशसंयम और मिथ्यासंयम ये तीन ही अवस्थायें होतीं तो दोके निषेध करनेपर तीसरेका विधान अवश्य हो जाता। युगपत् तीनोंका निषेध कर ही नहीं सकते थे। जैसे वह अमुक पदार्थ जड भी नहीं है। चेतन भी नहीं है। इस प्रकार दोनोंका निषेध करना अशक्य है। किन्तु जैसे वह विवक्षित संसारी जीव देव नहीं, नारकी नहीं, तिर्यञ्च नहीं है। इन तीनके निषेध करनेपर भी चौथा भेद मनुष्य रूप है, वैसे ही इन तीनों संयमोंसे रहित चौथी अवस्था असंयम है। जो कि चौथे गुणस्थानमें है अथवा जैसे मिथ्यादर्शनभाव पहिले गुणस्थानमें है, सम्यक्त्व चौथेमेंहै, मिला हुआ सम्यग्मिथ्यात्वभाव तीसरेमें है। किंतु इन तीनोंसे अतिरिक्त अनुभय अव्यक्त मिथ्यात्व अवस्था दूसरे सासादन गुणस्थानमें है। वैसे ही पूर्णसंयम, देशसंयम और मिथ्यासंयमसे भिन्न मानी गयी चौथी असंयमरूप अवस्था चौथे गुणस्थानमें है। छूंठे खोटे शास्त्रोंके

अभ्यासपूर्वक कुभेषी, कुलिंगी, जिन संयमोंको पालते हैं वे मिथ्यासंयम हैं। जैसे कि चारों दिशाओंमें आग जलाकर ऊपरसे सूर्य किरणों द्वारा संतप्त होकर पंच अग्नि तप करना, वृक्षपर उलटे लटक जाना, जीवित ही गंगामें प्रवाहित हो जाना, नख, केश बढाना आदि तो मिथ्याचारित्र हैं। और समीचीन सर्वज्ञोक्त आगमका अभ्यास कर उसके अनुसार अट्ठाईस मूलगुणोंका धारण करना, अन्तरङ्ग तपोंको बढाना आदि जैन ऋषियोंके समीचीन संयम है। तथा मिथ्यात्व और अनंतानुबंधीका उदय न होनेपर भी प्रवृत्ति करनेवाले अविरत सम्यग्दृष्टिके हिंसा करने, झूंठ बोलने, आदिकी परिणति असंयमभाव है। यहां प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, गर्हा, निन्दा, अमूढदृष्टिता, वात्सल्य आदि गुण विद्यमान हैं। यह असंयम पहिले दोनों सम्यक् और मिथ्यासंयमोंसे भिन्न है।

न चासंयमाद्भेदेन मिथ्यासंयमस्योपदेशाभावाभेद एवेति युक्तं, तस्य बालतपःशब्देनोपदिष्टत्वात् ततः कथञ्चिद्भेदसिद्धेः।

किसीका आक्षेप है कि जीवके पांच भावोंमें औदयिक असंयत भावसे भिन्न होकर मिथ्यासंयमका कहीं उपदेश नहीं है। इस कारण मिथ्याचारित्र और असंयमका अभेद ही मानना चाहिये। फिर चौथेमें या तो मिथ्याचारित्रको मानो या संयमीपनको स्वीकार करो। ग्रंथकार कहते हैं कि यह किसीका कहना युक्त नहीं है। क्योंकि असंयमसे भिन्न माने गये उस मिथ्याचारित्रका दूसरे स्थलोंपर छठे अध्यायमें बालतपः शब्दसे उपदेश किया है। उस कारण मिथ्याचारित्र और असंयममें किसी अपेक्षासे भेद ही सिद्ध है। दुःख, सुख, अदुःख, नोदुःख, अथवा संसार, असंसार, नोसंसार, त्रितयव्यपेत, ये अवस्थायें न्यारी न्यारी हैं।

न हि चारित्रमोहोदयमात्राद्भवदचारित्रं दर्शनचारित्रमोहोदयजनितादचारित्राद्भिन्नमेवेति साधयितुं शक्यं, सर्वत्र कारणभेदस्य फलाभेदकत्वप्रसक्तेः। मिथ्यादृष्ट्यसंयमस्य नियमेन मिथ्याज्ञानपूर्वकत्वप्रसिद्धेः, सम्यग्दृष्टेरसंयमस्य मिथ्यादर्शनज्ञानपूर्वकत्वविरोधात्, विरुद्धकारणपूर्वकतयापि भेदाभावे सिद्धांतविरोधात्।

चौथे गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयके संबन्धसे रहित होकर केवल चारित्रमोहनीयके उदयसे होता हुआ स्वरूपाचरण चारित्र तो पहिले गुणस्थानमें दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे पैदा हुए मिथ्याचारित्रसे अभिन्न ही है, इस बातको सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं होना चाहिये। यानी कैसे भी उक्त बातको सिद्ध नहीं कर सकते है। अन्यथा सभी स्थानोंपर कारणोंका, भिन्न होना कार्यके भेदको सिद्ध न कर सकेगा। जिस चौथे गुणस्थानके अचारित्र (स्वरूपाचरण) भावमें केवल चारित्रमोहनीयका उदय है और पहिले गुणस्थानके अचारित्र (मिथ्याचारित्र) में दर्शनमोहनीयसहित चारित्रमोहनीयका उदय है। ये दोनों भला एक कैसे हो सकते हैं ?। मिथ्यादृष्टीका असंयम नियमसे मिथ्याज्ञानपूर्वक प्रसिद्ध हो रहा है और सम्यग्दृष्टिके असंयमको

मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न होनेपनका विरोध है । ये दोनों दोष चौथेमें नहीं हैं । अतः दोनों एक नहीं हैं । विरुद्ध कारणोंके पूर्ववर्ती होनेपर भी उत्तर समयमें उत्पन्न हुए कार्योंका यदि भेद होना न माना जावेगा तो सभी वादियोंको अपने सिद्धान्तसे विरोध हो जावेगा । क्योंकि सभी परीक्षकोंने भिन्न भिन्न कारणोंके द्वारा न्यारे न्यारे कार्योंकी उत्पत्ति होना इष्ट किया है । अतः पहिलेका असंयम भाव और चौथेका असंयमभाव न्यारा है । ज्ञानमें भी कुज्ञानसे अज्ञानभाव भिन्न है । कुज्ञान दूसरे गुणस्थानतक है जब कि अज्ञान भाव बारहवें तक है।

कथमेवं मिथ्यात्वादित्रयं संसारकारणं साधयतः सिद्धान्तविरोधो न भवेदिति चेन्न, चारित्रमोहोदयेऽन्तरंगहेतौ सत्युत्पद्यमानयोरसंयममिथ्यासंयमयोरेकत्वेन विवक्षितत्वाच्चतुष्टयकारणत्वासिद्धेः संसरणस्य तत एवाविरतिशब्देनासंयमसामान्यवाचिना बंधहेतोरसंयमस्योपदेशघटनात् ।

यहां किसीका तर्क है कि मिथ्यादृष्टिका असंयम और असंयत सम्यग्दृष्टिका असंयम जब न्यारा है तो संसारके कारण चार हुए। फिर इस प्रकार मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीनको ही संसारका कारणपना साधते हुए जैनोंको अपने सिद्धांतसे विरोध क्यों न होगा ? बतलाइये ? कारण कि चौथा असंयमभाव संसारका कारण स्वयं न्यारा माना जारहा है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि उन दोनों भावोंका अन्तरंग कारण चारित्रमोहनीय है । उस कर्मके उदय होनेपर उत्पन्न होरहे अचारित्र और मिथ्याचारित्रकी एकरूपपनेसे विवक्षा पैदा होचुकी है । अतः संसारके कारणोंको चारपना सिद्ध नहीं है । इस ही कारणसे तो मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगको बंधका हेतु बताते हुए आचार्य महाराजका सामान्यरूपसे कहनेवाले अविरति शब्दसे दोनों प्रकारके असंयमोंका उपदेश देना संघटित होजाता है । भावार्थ—सम्यक्चारित्र न होनेकी अपेक्षासे दोनों असंयम एक हैं । किंतु नञ्का अर्थ पर्युदास और प्रसज्य करनेपर दर्शन मोहनीयके उदयसे सहित अचारित्रको मिथ्याचारित्र कहते हैं और दर्शन मोहनीयके उदय न होनेपर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणके उदयसे होनेवाले असंयमको अचारित्र कहदेते हैं ।

सम्यग्दृष्टेरपि कस्यचिद्विषभक्षणादिजनितदुःखफलस्य हीनस्थानपरिग्रहस्य संसारस्य दर्शनान्मिथ्यादर्शनज्ञानयोरपक्षये क्षीयमाणत्वाभावान्न कथञ्चिद्दुःखफलत्वं मिथ्यादर्शनज्ञानापक्षये क्षीयमाणत्वेन व्याप्तमिति चेन्न, तस्याप्यनागतानन्तानन्तसंसारस्य प्रक्षयसिद्धेः साध्यान्तःपातित्वेन व्यभिचारस्य तेनासम्भवात् ।

आक्षेपक कहता है कि किसी किसी सम्यग्दृष्टिजीवको भी विषके भक्षणसे या युद्धमें शस्त्राघात होजानेसे तथा श्रेणिक राजाका स्वयं अपघात करलेने आदिसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके

दुःख है फल जिसके, ऐसा हीनस्थान नारकशरीर आदिका ग्रहण करनारूप संसार होना देखा जाता है। यहां मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानके क्षय होनेपर भी संसारका क्षीयमाणपना (साध्य) नहीं रहा है। अतः व्यभिचार होजानेसे दुःखफलत्व हेतुकी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानके अपक्षय होनेपर क्षीयमाणस्वरूप साध्यके साथ व्याप्ति (अविनाभाव होना) कैसे भी सिद्ध नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उस सम्यग्दृष्टिके भी भविष्यमें होनेवाले अनन्तानन्त निकृष्ट स्थानोंमें जन्म मरणोंको धारण करना रूप संसारका प्रक्षय होना सिद्ध है। सम्यग्दृष्टि जीव भले ही शस्त्राघात या आत्मघातसे कतिपय निकृष्ट शरीरोंको धारण करलेवें, फिर भी विषभक्षण, आत्मघात, आदिका क्षय होकर संसारका ह्रास होते हुए संख्यात भवोंमें उसकी मोक्ष होना अनिवार्य है। श्रेणिक तो तीसरे भवसे ही मोक्ष प्राप्त करेंगे। अतः आपका दिया हुआ व्यभिचारका स्थल हमारे प्रतिज्ञावाक्यके अंतरंगमें प्रविष्ट होरहा है। अर्थात् वह भी साध्यकोटिमें पड़ा है। हेतुके रहजानेसे किसी अपराधी सम्यग्दृष्टिके संसारमें भी क्षीयमाणपना रहजाता है। अतः उससे व्यभिचारका होना असम्भव है। पक्ष और पक्षसममें व्यभिचार दोष उठाना अन्याय है। अभिप्रायको नहीं समझपानेका सूचक है।

निदर्शनं परप्रसिध्द्या विषमविषभक्षणातिभोजनादिकमुक्तं, तत्र परस्य साध्यव्याप्तसाधने विवादाभावात्। न हि विषमविषभक्षणेऽतिभोजनादौ वा दुःखफलत्वमसिद्धं, नापि नाचरणीयमेतत्सुखार्थिनेति सत्यज्ञानोत्पत्तौ तत्संसर्गलक्षणसंसारस्यापक्षयोपि सिद्धस्तावता च तस्य दृष्टान्ततापसिद्धेरविवाद एव।

हमने अपने पूर्व अनुमानमें जो तीक्ष्ण विषका खाना या भूखसे अति अधिक खाना आदि दृष्टांत दिये हैं, वे दूसरे प्रतिवादीके घरकी प्रसिद्धिके अनुसार कहे हैं। प्रतिवादीके यहां शीघ्र दुःखरूपी फलको देनेवाले विषभक्षणमें मिथ्याश्रद्धान आदिके नष्ट होनेपर क्षीयमाणपना है तथा परम्परासे दुःख देनेवाले अधिक भोजनमें भी क्षीयमाणपना देखा जाता है अर्थात् दुःखरूप फलको देनेवाले विषभक्षण आदि कर्म तत्त्वज्ञानीके नष्ट हो जाते हैं। वे इन क्रियाओंको नहीं करते हैं। वैसे ही संसार भी तत्त्वज्ञानीका न्यून हो जाता है। नैयायिक आदि भी अधिक भोजन या बावले कुत्तेके काटने आदिमें परम्परासे होनेवाले दुःखफलत्व हेतुकी क्षीयमाणत्व साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध करनेमें विवाद नहीं करते हैं। प्रतिकूल विषके भक्षणमें अथवा अधिक भोजन, शीतबाधा आदिसे पीड़ित होनेमें दुःखफलपना असिद्ध नहीं है और सुखके अभिलाषी ज्ञानी जीवको ये विषभक्षण आदि आचरण नहीं करना चाहिए। यह साध्य भी असिद्ध नहीं है। यानी दृष्टांतमें रह जाता है। समीचीन हितकारी ज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर कोई जीव भयंकर विषको नहीं खाता है। और न अधिक भोजन करता है। शीत उष्णकी बाधाओंसे भी बचा रहता है। अतः तत्त्वज्ञानीके जैसे इन उपद्रवोंका क्षय हो जाता है, वैसे ही मिथ्याज्ञानका नाश होकर सत्यज्ञानके उत्पन्न

होनेपर निकृष्ट स्थानोंमें जन्म मरण कर दुःख भोगना या सकल दुःखोंके निदान उस सूक्ष्म स्थूल शरीरका संबंध हो जानारूप, संसारका ह्रास होना भी सिद्ध हो जाता है। उतनेसे ही हेतु और साध्यके आधार हो जानेके कारण उन विषभक्षण आदिको दृष्टान्तपना प्रसिद्ध है। अतः वादी प्रतिवादियोंको कहे हुए निदर्शनमें कोई विवाद ही नहीं है। और प्रतिज्ञावाक्यमें भी कोई झगडा नहीं रहा।

तदेवमनुमितानुमानान्मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वं भवस्य सिध्यतीति न विपर्ययमात्र हेतुको विपर्ययावैराग्यहेतुको वा भवो विभाव्यते।

उस कारण इस प्रकार अनुमित किये गये अनुमानसे संसारके कारण मिथ्यादर्शन आदिक ये तीन सिद्ध हो जाते हैं। भावार्थ—इस दूसरे अनुमानसे मिथ्यादर्शन आदिके क्षय होनेपर संसारका क्षीयमाणपना सिद्ध किया गया है और इस दूसरे अनुमानसे ज्ञान किये गये मिथ्यादर्शन आदिके क्षय होनेपर क्षीयमाणपना साध्यरूप हेतुसे संसाररूपी पक्षमें मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीन हेतुओंकी कार्यता पहिले अनुमानसे कारिका द्वारा सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार मिथ्या-दृगादि इस वार्तिकका प्रमेय सिद्ध हो जाता है। अतः केवल विपर्ययज्ञानको या विपर्यय और तृष्णा दोको हेतु मानकर उत्पन्न होनेवाला संसार है, यह नहीं विचारना चाहिये। किंतु संसारके कारण मिथ्यादर्शन आदि तीन हैं।

तद्विपक्षस्य निर्वाणकारणस्य त्रयात्मता।
प्रसिद्धैवमतो युक्ता सूत्रकारोपदेशना ॥ १०६ ॥

जब संसारके कारण तीन सिद्ध हो गये तो उस संसारके प्रतिपक्षी होरहे मोक्षके कारणको भी तीन स्वरूपपना उक्त प्रकारसे प्रसिद्ध हो ही गया। इस कारण तत्त्वार्थसूत्रको रचनेवाले उमा-स्वामी महाराजका मोक्षके कारण तीनका उपदेश देना युक्तियोंसे भरा हुआ है।

मिथ्यादर्शनादीनां भवहेतूनां त्रयाणां प्रमाणतः स्थितानां निवृत्तिः प्रतिपक्षभूतानि सम्यग्दर्शनादीनि त्रीण्यपेक्षते अन्यतमापाये तदनुपपत्तेः।

आचार्य विद्यानंद स्वामीजी अनुमान बनाते हैं कि संसारके कारण मिथ्यादर्शन, ज्ञान, और चारित्र इन तीनकी प्रमाणोंसे स्थिति हो चुकी है। इन तीनोंकी निवृत्ति होना (पक्ष) अपनेसे प्रतिपक्षरूप तीन सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रोंकी अपेक्षा करती है (साध्य) क्योंकि तीन प्रतिप-क्षियोंमेंसे किसी एकके भी न होनेपर वह मिथ्यादर्शन आदि तीनोंकी निवृत्ति होना न बन सकेगा (हेतु)। इस अनुमानसे आदि सूत्रके प्रमेयको पुष्ट कर दिया है।

शक्तित्रयात्मकस्य वा भवहेतोरेकस्य विनिवर्तनं प्रतिपक्षभूतशक्तित्रयात्मकमेकमंतरेण नोपपद्यत इति युक्ता सूत्रकारस्य त्रयात्मकमोक्षमार्गोपदेशना।

अथवा दूसरा अनुमान यह है कि संसारके कारण कहे गये मिथ्याभिनिवेश, अर्थोंको झूंठा जानना तथा राग द्वेष, अव्रत आदि इन तीन शक्तिस्वरूप एक विपर्ययकी ठीक निवृत्ति होना (पक्ष) अपने विघातकस्वरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इन तीन शक्तिरूप एक रत्नत्रयात्मक आत्मद्रव्यके विना नहीं बन सकता है (साध्य) संसार कारणोंकी सर्वथा निवृत्ति होनेसे (हेतु) इस प्रकार दो अनुमानोंसे सूत्रकारका तीनरूप मोक्षमार्गका उपदेश देना युक्त है ।

तत्र यदा संसारनिवृत्तिरेव मोक्षस्तदा कारणविरुद्धोपलब्धिरियं, नास्ति क्वचिज्जीवे संसारः परमसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसद्भावादिति ।

उस अनुमानके प्रकरणमें जब संसारकी निवृत्तिको ही मोक्ष माना जावे, तब तो यह निषेधका साधक कारण विरुद्धोपलब्धिरूप हेतु है कि किसी विवक्षित एक जीवमें (पक्ष) संसार विद्यमान नहीं है (साध्य) क्योंकि उत्कृष्ट श्रेणीके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वहां विद्यमान हैं (हेतु) । इस अनुमानमें संसारका अभाव साध्य है । निषेध करने योग्य संसारके कारण मिथ्यादर्शन आदि तीन हैं । उनके विरुद्ध सम्यग्दर्शन आदि तीनकी उपलब्धि हो रही है, अतः यह कारण विरुद्धोपलब्धि हेतु है। प्रतिषेध्यके जो कारण उनके विरुद्धोंकी उपलब्धि होना है।

यदा तु संसारनिवृत्तिकार्यं मोक्षस्तदा कारणकारणविरुद्धोपलब्धिः, कस्यचिदात्मनो नास्ति दुःखमशेषं मुख्यसम्यग्दर्शनादिसद्भावादिति निश्चीयते, सकलदुःखाभावस्यात्यन्तिकसुखस्वभावत्वात्तस्य च संसारनिवृत्तिफलत्वात् ।

किंतु जब मोक्ष संसारकी निवृत्तिका कार्य माना जाता है, तब तो यह हेतु कारणकारण विरुद्धोपलब्धिरूप है कि किसी न किसी आत्माके सम्पूर्ण दुःख नहीं हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि उस आत्मामें प्रधानरूपसे सम्यग्दर्शन आदि तीन गुण विद्यमान हैं (हेतु) यहां दुःखोंका अभाव साध्य है, दुःख प्रतिषेध्य है । दुःखका कारण संसार है और उसके कारण मिथ्यादर्शन आदि हैं । उनसे विरुद्ध सम्यग्दर्शन आदिकी उपलब्धि हो रही है । यों प्रकृत हेतु कारणकारणविरुद्धोपलब्धि रूप निश्चित किया जाता है । सम्पूर्ण दुःखोंके अभावको आत्यन्तिक सुख स्वभावपना है और वह आत्माका अनंत कालतक सुखस्वभाव हो जाना संसारकी निवृत्तिका फल है । नैयायिकोंका माना गया दुःखध्वंसरूप मोक्ष हमको अभीष्ट नहीं है। दुःखाभाव अनंतसुखस्वरूप है। अभाव वस्तुस्वरूप है। वैशेषिकोंका माना गया तुच्छ अभाव कुछ नहीं हैं ।

यदा मोक्षः क्वचिद्विधीयते तदा कारणोपलब्धिरियं, क्वचिन्मोक्षोऽवश्यंभावी सम्यग्दर्शनादियोगात् इति न कथमपि सूत्रमिदमयुक्तमस्माकं, आगमात्मकत्वं तु निरूपितमेवं सत्यलं प्रपंचेन ।

तथा जब किसी आत्मामें सीधा मोक्षका विधान किया जावेगा, तब तो यह विधिसाधक कारणोपलब्धि हेतु है कि किसी आत्मामें मोक्ष अवश्य होनेवाला है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उसमें सम्यग्दर्शन आदि गुणोंका संबंध होगया है (हेतु)। वहां मोक्षके कारण सम्यग्दर्शन आदि हैं। अतः छत्र हेतुसे छायाकी सिद्धिके समान कारण हेतुसे मोक्षकी सिद्धि होजाती है। मोक्षके सम्यग्दर्शन आदि कारक हेतु हैं और ज्ञापक हेतु भी हैं। इस प्रकार कैसे भी उमास्वामी महाराजका यह सूत्र अयुक्तिरूप नहीं है। भावार्थ—अनेक हेतुओंसे सिद्ध होकर युक्तियोंसे परिपूर्ण हैं। और यह पहिला सूत्र सर्वज्ञोक्त आगम स्वरूप तो है ही। इस बातका हम पहिले प्रकरणमें निरूपण करचुके हैं। ऐसे भले प्रकार सूत्रकी सिद्धि होजानेपर अब विस्तारका व्यर्थ ताण्डव बढानेसे विश्राम लेना चाहिये। कुछ अधिक प्रयोजन सिद्ध न होगा।

बन्धप्रत्ययपाञ्चध्यसूत्रं न च विरुध्यते।
प्रमादादित्रयस्यान्तर्भावात्सामान्यतोऽयमे ॥ १०७ ॥

जब कि आप जैनबंधु संसार और मोक्षके कारण तीन मानते हैं तो आठवें अध्यायमें कहे जानेवाले बन्धके कारणोंको पांच प्रकारका कहनेवाले सूत्रसे विरोध हो जावेगा, सो नहीं समझना। क्योंकि बंधके कारणोंको कहनेवाले सूत्रमें पडे हुए प्रमाद, कषाय और योग तीनोंका सामान्यरूपसे अचारित्रमें अन्तर्भाव हो जावेगा। इस कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन ही संसारके कारण सिद्ध हुए।

त्रयात्मकमोक्षकारणसूत्रसामर्थ्यात्त्रयात्मकसंसारकारणसिद्धौ युक्त्यनुग्रहाभिधाने बंधप्रत्ययपंचविधत्वं ' मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतव ' इति सूत्रनिर्दिष्टं न विरुध्यत एव, प्रमादादित्रयस्य सामान्यतोऽचारित्रेऽन्तर्भावात्।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तीनोंकी एकता—स्वरूप मोक्षके कारणको निरूपण करनेवाले सूत्रकी सामर्थ्यसे तीनस्वरूप ही संसारके कारणोंकी सिद्धिमें युक्तियोंकी सहायताका कथन करनेपर मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच बंधके कारण हैं। इस प्रकार सूत्रमें कहे गये बंधके कारणोंका पांच प्रकारपना विरुद्ध नहीं ही होता है। क्योंकि प्रमाद आदि तीन यानी प्रमाद, कषाय और योगका सामान्यपनेसे अचारित्रमें गर्भ हो जाता है। अर्थात् जैसे पहिले गुणस्थानका अचारित्र और चौथेका अचारित्र अंतरंग कारणकी अपेक्षासे एक ही है। वैसे ही चारित्र मोहनीयके उदयसे होनेवाले प्रमाद और कषाय भी एक प्रकारसे अचारित्र हैं। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका उदय न होनेसे यद्यपि अचारित्रभाव नहीं है। फिर भी चारित्रकी पूर्णता जब चौदहवें गुणस्थानमें मानी गयी है। इस अपेक्षासे चारित्रकी विशेष स्वभावोंसे त्रुटिका अचारित्रमें अंतर्भाव हो जाता है। योग भी एक प्रकारका अचारित्र है।

विशेषतश्च त्रयस्याचारित्रेऽन्तर्भावने को दोष इति चेत् ;—

यहां किसीकी शंका है कि आप जैनोंने प्रमाद आदि तीनको सामान्यपनेसे अचारित्रमें गर्भित किया। क्यों जी ! और विशेषरूपसे तीनोंका अचारित्रमें अन्तर्भाव करनेपर क्या दोष आता है ? बतलाइये ! ऐसी आशंका होनेपर आचार्य महाराज उत्तर देते हैं।

विशेषतः पुनस्तस्याचारित्रांतःप्रवेशने ।
प्रमत्तसंयतादीनामष्टानां स्यादसंयमः ॥ १०८ ॥
तथा च सति सिद्धांतव्याघातः संयतत्वतः ।
मोहद्वादशकध्वंसात्तेषामयमहानितः ॥ १०९ ॥

यदि फिर विशेषरूपसे उन तीनोंका अचारित्रके भीतर प्रवेश किया जावेगा तो छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयतको आदि लेकर तेरहवें गुणस्थानी सयोगकेवली पर्यन्त आठ संयमियोंके असंयमी बन जानेका प्रसंग हो जायगा, और वैसा होनेपर जैनसिद्धांतका व्याघात होता है। क्योंकि जैनसिद्धांतमें उक्त आठोंको संयमी कहा गया है। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणकी चौकडी इन मोहनीय कर्मकी बारह प्रकृतियोंके क्षयोपशम, उपशम, और क्षयरूप ह्रास हो जानेके कारण उन आठोंको असंयमीपनकी हानि है। भावार्थ—ये आठों ही संयमी माने गये हैं। प्रमाद, कषाय और योगोंको सामान्यपनेके समान यदि विशेषरूपसे भी अचारित्र माना जाता तो ये आठों असंयमी बन जावेंगे। इस प्रकार जैनसिद्धांतका तत्त्व बिगडता है।

नन्वेवं सामान्यतोऽप्यचारित्रे प्रमादादित्रयस्यांतर्भावात्कथं सिद्धांतव्याघातो न स्यात् ? प्रमत्तसंयतात्पूर्वेषामेव सामान्यतो वा तत्रांतर्भाववचनात्, प्रमत्तसंयतादीनां तु सयोगकेवल्यन्तानामष्टानामपि मोहद्वादशकस्य क्षयोपशमादुपशमाद्वा सकलमोहस्य क्षयाद्वा संयतत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा संयतासंयतत्वप्रसंगात्, सामान्यतोऽसंयतस्यापि तेषु भावादिति केचित् ।

ऐसा सिद्ध करनेपर भी फिर कोई इस प्रकार शंका करते हैं कि प्रमाद आदि तीनका अचारित्रमें सामान्यपनेसे भी अन्तर्भाव करनेसे क्यों नहीं सिद्धांतका व्याघात होगा ? जब कि आप जैन आठों गुणस्थानोंमें मोहनीयकी बारह प्रकृतियोंका ह्रास मानते हैं तो सामान्यरूपसे भी उन आठोंमें अचारित्र नहीं रहना चाहिए। जैनसिद्धान्तमें तो जहां भी अचारित्र नहीं रहना माना है वहां दोनों प्रकारसे माना है। प्रमत्तसंयतनामक छठे गुणस्थानसे पहिलेके प्रथमसे लेकर पांचवें गुणस्थान तक पांचों हीका दोनों सामान्य और विशेषरूपसे अचारित्रमें अंतर्भाव कहा है।

छठेसे लेकर तेरहवें तक तो अचारित्रमें गर्भ नहीं कहा है। प्रमत्तसंयतको आदि लेकर सयोगकेवली पर्यंत आठों भी गुणस्थानवालोंको संयमीपना प्रसिद्ध है। इनमें चारित्रमोहनीयकी पहिली बारह प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे छटे, सातवेंमें संयमीपन है। एक अपेक्षासे दशवेंतक भी चारित्रमोहनीयका क्षयोपशम है। क्योंकि वहां देशघातियोंका उदय रहता है। और उपशमश्रेणीके आठवें, नौवें, दशवेंमें और मुख्यरूपसे ग्यारहवेंमें सम्पूर्ण मोहनीयकर्मका उपशम होजानेसे संयमीपना है तथा क्षपकश्रेणीके आठवें, नौवे, दशवें और प्रधानरूपसे बारहवेंमें सम्पूर्ण मोहनीय कर्मका क्षय होजानेसे मुनिमहाराजोंको संयमीपना प्रसिद्ध है। यदि ऐसा न माना जाकर दूसरे प्रकार माना जावेगा अर्थात् आप वादी जैनोंके कथनानुसार आठ गुणस्थानोंमें सामान्यरूपसे अचारित्र मात्र भी मानलिया जावेगा तो पांचवें गुणस्थानके समान ये आठों भी संयतासंयत होजावेंगे। क्योंकि संयमभावके साथ आपके कहे अनुसार सामान्यपनेसे असंयमभाव भी उनमें विद्यमान है। इस प्रकार कोई श्वेतपटानुयायी कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि:—

तेऽप्येवं पर्यनुयोज्याः कथं भवतां चतुःप्रत्ययो बन्धः सिद्धान्तविरुद्धो न भवेत्तत्र तस्य सूत्रितत्वात् इति।

उनके ऊपर भी इस प्रकार कटाक्षरूप प्रश्न उठाने चाहिये कि आपके यहां मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग इस प्रकार बंधके चार कारण माननेपर सिद्धांतविरोध क्यों नहीं होगा। क्योंकि आपके उस सिद्धांतमें बंधके चार कारणोंको सूचन करनेवाला वह सूत्र कहा गया है। भावार्थ—शंकाकारको भी प्रमादका अचारित्रमें गर्भ करना आवश्यक होगा।

प्रमादानां कषायेष्वन्तर्भावादिति चेत्, सामान्यतो विशेषतो वा तत्र तेषामन्तर्भावः स्यात्? न तावदुत्तरः पक्षो निद्रायाः प्रमादविशेषस्वभावायाः कषायेष्वन्तर्भावयितुमशक्यत्वात् तस्या दर्शनावरणविशेषत्वात्।

यदि आप श्वेतांबर प्रमादोंका कषायोंमें अन्तर्भाव करोगे तो इसपर हम पूंछते हैं कि उन प्रमादोंका आप उन कषायोंमें सामान्यरूपसे अंतर्भाव करेंगे या विशेषरूपसे अन्तर्भाव होगा? बताओ? इन दोनों पक्षोंमें दूसरा पक्ष लेना तो ठीक नहीं है। क्योंकि निद्रा भी पंद्रह प्रमादोंमेंसे चौदहवीं विशेष प्रमादरूप है। उसका कषायोंमें अंतर्भाव करना शक्य नहीं है। क्योंकि निद्राका कषायोंको उत्पन्न करनेवाले चारित्रमोहनीय कर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वह निद्रा तो दर्शनावरण कर्मकी एक विशेष प्रकृति है या उस प्रकृतिके उदय होनेपर होजानेवाला आत्माका विभाव है।

प्रमादसामान्यस्य कषायेष्वन्तर्भाव इति चेत् न, अप्रमत्तादीनां सूक्ष्मसांपरायिकान्तानां प्रमत्तत्वप्रसंगात्, प्रमादैकदेशस्यैव कषायस्य निद्राभावे तत्र सद्भावात् सर्वप्रमादा-

नाममात्राश्च प्रमत्तत्वप्रसक्तिरिति चेत्, तर्हि प्रमादादित्रयास्याचारित्रेऽन्तर्भावेऽपि प्रमत्तसंयतादीनामष्टानामसंयतत्वं मा प्रापत्।

हम विशेष विशेष प्रमादोंका कषायोंमें अंतर्भाव नहीं करते हैं किन्तु प्रथमपक्षके अनुसार प्रमादसामान्यका कषायोंमें गर्भ करते हैं। इस प्रकार शंकाकारका कहना भी तो ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि सातवें गुणस्थानवाले अप्रमत्तको आदि लेकर सूक्ष्मसांपरायिक गुणस्थान पर्यतके मुनियोंको प्रमत्तपनेका प्रसंग होगा, क्योंकि कषायके उदयके तारतम्यसे होनेवाले सातवें, आठवें, नौवे और दशवें गुणस्थानमें पंद्रह प्रमादोंके ही एकदेशरूप कषायोंका और निद्राका उन चारों गुणस्थानोंमें उदय विद्यमान है। अतः ये चारों गुणस्थान छठेके समान प्रमत्त होजावेंगे। यदि आप फिर यों कहें कि सातवें आदि चार गुणस्थानोंमें विकथा, कषाय, इंद्रिय, निद्रा और स्नेह ये सम्पूर्ण प्रमाद तो नहीं हैं। अतः चार गुणस्थानोंको प्रमत्तपनेका प्रसंग नहीं आता है। तब ऐसा कहनेपर तो हम दिगम्बर जैन भी कहते हैं कि प्रमाद आदि यानी प्रमाद, कषाय, योग तीनोंका सामान्यरूपसे अचारित्रमें गर्भ होजानेपर भी छठवेंसे लेकर तेरहवें तकके आठ संयमियोंको असंयमीपना इसी प्रकार नहीं प्राप्त होओ। फिर आप शंकाकारने हमारे ऊपर व्यर्थ आठोंको असंयमी होनेका बिना विचारे कटाक्ष क्यों किया था ? उसको आप लौटा लीजिये।

तथाहि—पञ्चदशसु प्रमादव्यक्तिषु वर्तमानस्य प्रमादसामान्यस्य कषायेष्वन्तर्भावेऽपि न सर्वा व्यक्तयस्तत्रान्तर्भवन्ति विकथेन्द्रियाणामप्रमत्तादिष्वभावात्, कषायप्रणयनिद्राणामेव संभवात्, इति न तेषां प्रमत्तत्वम्। तथा मोहद्वादशकोदयकालभाविषु तत्क्षयोपशमकालभाविषु च प्रमादकषाययोगविशेषेषु वर्तमानस्य प्रमादकषाययोगसामान्यस्याचारित्रेऽन्तर्भावेऽपि न प्रमत्तादीनामसंयतत्वम्।

इसी बातको अधिक स्पष्ट कर आचार्य महाराज दिखलाते हैं कि आप शंकाकार पंद्रह प्रमादविशेषोंमें विद्यमान होरहे ऐसे प्रमादसामान्यका कषायोंमें अन्तर्भाव करते हुए भी यह मानते हैं कि सम्पूर्ण पंद्रह भी प्रमाद व्यक्तिरूपसे उस कषायमें गर्भित नहीं होते हैं। क्योंकि चार विकथा और पांच इंद्रिय ये नौ प्रमाद अप्रमत्त आदि चार गुणस्थानोंमें विद्यमान नहीं हैं। चार सञ्ज्वलन कषाय, स्नेह और निद्रा ये छह प्रमाद ही वहां सम्भवते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रमादोंके न रहनेसे उन सातवें आदि चारोंको जैसे आप प्रमत्त नहीं मानते हैं, वैसे ही हम भी कहते हैं कि मोहनीय कर्मकी बारह प्रकृतियोंके उदयके समय होनेवाले पहिले दूसरे गुणस्थानके प्रमाद, कषाय, योग, व्यक्तियोंमें जो ही प्रमाद, कषाय, योग, सामान्य विद्यमान हैं, मोहनीयकी बारह प्रकृतियोंके क्षयोपशमके समय होनेवाले चौथे, पांचवें, छट्ठे और निरतिशय सातवें गुणस्थानोंमें रहनेवाले प्रमाद, कषाय, योग, व्यक्तियोंमें भी वही सामान्य विद्यमान है। अतः सामान्यरूपसे प्रमाद, कषाय

भोगोंका अचारित्रमें गर्भ होते हुए भी प्रमत्त आदि आठोंको असंयमीपना प्राप्त न होगा जो आपने तर्क दी है वही यहां भी लागू हो जाती है। तुम्हारी सपिल्ली और मेरा, सुंदर, मनोज्ञ, चहरासाई रुपैया है, यह पक्षपात आपको नहीं चलाना चाहिये।

स्यान्मतं, प्रमादादिसामान्यस्यासंयतेषु संयतेषु च सद्भावादसंयमे संयमे चांतर्भावो युक्तो न पुनरसंयम एव, अन्यथा वृक्षत्वस्य न्यग्रोधेऽन्तर्व्यापिनोऽपि न्यग्रोधेष्वेवांतर्भाव-प्रसक्तेरिति।

सम्भव है कि आप शंकाकारका यह भी मत होवे कि प्रमाद, कषाय और योग इन तीन सामान्योंका पहिलेके चार असंयत गुणस्थानोंमें तो सद्भाव है ही तथा अब संयमियोंमें भी उनको देखिये कि प्रमाद सामान्यका देशसंयत पांचवें और छठवें संयमी गुणस्थानमें सद्भाव है तथा कषाय छठेसे दशवें गुणस्थान तकके संयमियोंमें विद्यमान है। एवं योग छठेसे लेकर तेरहवें तकके संय-मियोंमें पाया जाता है। इस प्रकार सामान्यरूपसे प्रमाद आदि तीन तो संयत और असंयत दोनों प्रकारके जीवोंमें पाये जाते हैं। तब ऐसी दशामें प्रमाद आदिका चारित्र और अचारित्र दोनोंमें अन्तर्भाव करना युक्त था। अकेले अचारित्रमें ही उनको गर्भित करना अनुचित है। यदि ऐसा न मानकर आप जैन दूसरे प्रकारसे मानोगे यानी अनेकोंमें रहनेवाले सामान्य धर्मको एक ही विशेषव्यक्तिमें गर्भित कर लोगे तो निम्ब, वट, आम्र, जम्बू, धव, खदिर पेडोंमें रहनेवाला वृक्षत्व सामान्य विचारा वटवृक्षके भीतर भी व्यापक होकर विद्यमान है। अतः उस अनेकोंमें रहनेवाले वृक्षत्व सामान्यका भी अकेले वटवृक्षमें ही गर्भित करनेका प्रसंग हो जावेगा अर्थात् वड ही वृक्ष कहा जावेगा। निम्ब, जामुन, आदि पेड न कहे जा सकेंगे, इस प्रकार शंकाकारका कहना है। अब ग्रंथकार कहते हैं कि:—

तदसत्, विवक्षितापरिज्ञानात्। प्रमादादित्रयमसंयमे च यस्यान्तर्भावीति तस्य तन्नियतत्वात्तत्रान्तर्भावो विवक्षितः, प्रमादानामप्रमत्तादिष्वभावात् कषायाणामकषायेष्व-सम्भवात्, योगानामयोगेऽनवस्थानादिति तेषां संयमे नान्तर्भावो विवक्षितः।

वह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि हमारे कहनेके अभिप्रायको आपने समझा नहीं है। जिस जैनके यहां प्रमाद, कषाय और योग ये तीनों असंयममें गर्भित हो जाते हैं उसके मतमें वे तीनों ही असंयममें तो नियमसे विद्यमान हैं। इस कारण उस असंयममें गर्भित करना हमको विवक्षित है। बंधके कारणोंमें कहे गये मिथ्यादर्शन आदि पांचके पूर्व पूर्व कारणके रहनेपर उत्तरवर्ती कारण अवश्य रहते हैं। मिथ्यादर्शनको कारण मानकर जहां बंध हो रहा है, वहां शेष चारों भी विद्यमान हैं तथा मिथ्यादर्शनकी व्युच्छित्ति होनेपर दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थानमें अविरति निमित्तसे बंध हो रहा है, वहां शेष तीन कारण भी विद्यमान हैं। एवं पांचवें छठवेंमें प्रमाद हेतुसे बंध होनेपर कषाय

और योग भी कारण हो रहे हैं और सञ्ज्वलन कषायके उदयसे सातवें, आठवें, नौवे, दशवें गुणस्थानमें बंध हो रहा है। वहां नौ योग भी बंधके कारण हैं। ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें केवल योगसे ही एक समयकी स्थितिवाले सातावेदनीयका ही बंध होता है। इस कारण प्रमाद आदि तीनका असंयम भावमें गर्भित करना ठीक है। क्योंकि असंयममें वे पूर्णरूपसे रह जाते हैं, किंतु संयमी गुणस्थानोंमें प्रमाद आदि तीन पूरे तौरसे नहीं व्यापते हैं। प्रमादोंका अप्रमत्तको आदि लेकर आगेके गुणस्थानोंमें अभाव है तथा सञ्ज्वलनके मंद, मंदतर, मंदतम, और सूक्ष्म लोभके उदय होनेपर होनेवाली कषायोंका, कषायोंसे रहित होरहे ग्यारहवें आदिमें सम्भव नहीं है और तेरहवें तक बंधके कारण होरहे योगोंकी योगरहित चौदहवें गुणस्थानमें स्थिति नहीं है। इस कारण उन प्रमाद, कषाय और योगोंका संयममें अंतर्भाव करना हमको विवक्षित नहीं है। जिसको आप शङ्काकार समझ नहीं पाये हैं।

प्रतिनियतविशेषापेक्षया तु तेषामसंयमेऽनन्तर्भावात् पञ्चविध एव बंधहेतुः मोहद्वादशकक्षयोपशमसहभाविनां प्रमादकषाययोगानां विशिष्टानामसंयतेष्वभावात्कषायोपशमक्षयभाविनां च प्रमत्तकषायसंयमेष्वप्यभावात् सर्वेषां स्वानुरूपबंधहेतुत्वाप्रतीघातात् ।

हां ! उन उन छठे आदि प्रत्येक गुणस्थानोंमें नियत हुए विशेष विशेष रूपसे होनेवाले प्रमाद, कषाय, और योगविशेषोंकी अपेक्षा होनेपर तो उन प्रमाद आदिकोंका हम असंयममें गर्भ नहीं करते हैं। क्योंकि वे असंयतोंमें पाये नहीं जाते हैं। इस कारण तीन प्रकार न मानकर बंधके हेतु पांच प्रकारके ही इष्ट हैं। जहां बंधके पांच हेतु बतलाये हैं, वहां मिथ्यात्वके उदय होनेपर उत्तरवर्ती कारण भले ही रह जावें फिर भी मिथ्यादर्शन ही प्रधान है। अविरति शब्दसे अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरणके उदयसे होनेवाले भाव ही लिये गये हैं। प्रमाद पदसे सञ्ज्वलन कषायके तीव्र उदय होनेपर होनेवाले पंद्रह प्रमाद पकडे गये हैं। अविरत जीवोंके अनंतानुबंधी आदि तीन चौकडीके उदयके साथ होनेवाले प्रमादोंकी यहां विवक्षा नहीं है। इसी प्रकार सञ्ज्वलनके अतीव मंद उदय होनेपर कषाय हेतुवाला बंध होता है। योगोंमेंसे पंद्रहों भी योगोंसे बंध होता है। किंतु ग्यारहवें बारहवेंमें सम्भावित हुए नौ और तेरहवें गुणस्थानमें सात योगोंसे होनेवाले बंधकी विवक्षा है। अतः विशेषप्रमाद आदिकी विवक्षा होनेपर वे असंयतोंमें कैसे भी गर्भित नहीं होते हैं। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण चतुष्टय यों बारह चारित्रमोहनीय प्रकृतियोंके क्षयोपशमके साथ होनेवाले छठे आदि गुणस्थानवर्ती विशेष विशेष प्रमाद, कषाय और योगोंका पहिले असंयतके चार गुणस्थानोंमें सर्वथा अभाव है। क्योंकि पहिले दूसरे गुणस्थानोंमें मोहनीयकी बारह प्रकृतियोंके उदय होनेपर साथ रहनेवाले प्रमाद कषाय और योग हैं तथा तीसरे, चौथेमें मोहनीयकी उनमेंसे आठ प्रकृतियोंके उदयके साथ ही प्रमाद आदि तीन हैं। शुभ प्रमाद आदिकोंका असंयतोंमें समावेश नहीं है और चारित्रमोहनीयकी अप्रत्याख्यानावरण आदि इक्कीस

प्रकृतियोंके उपशमन या क्षपण होनेपर होनेवाले कषाय और योगोंका आठवेंसे लेकर दशवें तकके संयमियोंमें भाव है। हां, तथा पूर्ववर्ती छठे प्रमादी या सातवें कषाय युक्त संयमिओंमें भी अभाव है। पहिले पांचोंमें तो मुख्यतासे अभाव है। यह अपिका अर्थ है। उपशम या क्षय हो चुकनेपर होनेवाले योगोंका छठवेंसे लेकर दशवें तक अभाव है। निर्णय यह है कि सर्व ही जीवोंके अपने अपने अनुकूल पडनेवाले बंधके कारणोंका अविरोध है। भावार्थ—जितने बंधके कारण या उनके भेद प्रभेद जिन संयमी या असंयमी गुणस्थानोमें सम्भव हैं, विना किसी प्रतिरोधके उन गुणस्थानोंमें उन उन कारणोंकी सत्ता माननी चाहिये। इस कारण बंधके कारण उन विशेष नियतहेतुओंकी अपेक्षासे पांच प्रकार ही सिद्धान्तित किये हैं। इस नयकी उक्तिसे प्रमाद आदिका हम अचारित्रमें गर्भ नहीं करते हैं। विशेष, यह कि बारह कषायोंका क्षयोपशम इसका अभिप्राय यह है कि अनन्तानुबन्धी आदि तीनों चौकडिओंका उदयाभावी क्षय, भविष्यमें उदय आनेवालिओंका उपशम और देशघाती संज्वलनका उदय होवे। यद्यपि अनन्तानुबन्धीका उदय तो सम्यक्त्व होजानेपर ही टूटचुका है। फिर भी चारित्रमें उसका उपशम आवश्यक है। संज्वलनको मिलाकर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन बारहको लेनेमें भी कोई विरोध नहीं है। किंतु ऐसी दशामें नौ नोकषायोंका छोडना खटकता है।

नन्वेवं पञ्चधा बन्धहेतौ सति विशेषतः।
प्राप्तो निर्वाणमार्गोऽपि तावद्धा तन्निवर्तकः॥ ११० ॥

यहां किसीकी शंका है कि इस प्रकार विशेषरूपसे बन्धके कारणोंको पांच प्रकार सिद्ध होनेपर उस बन्धकी निवृत्ति करनेवाला मोक्षका मार्ग भी उतनी ही संख्यावाला पांच प्रकारका होना न्यायसे प्राप्त है। फिर आपने मोक्षका मार्ग तीन प्रकारका कैसे कहा है ? उत्तर दीजिये।

यथा त्रिविधे बन्धहेतौ त्रिविधो मार्गस्तथा पञ्चविधे बन्धकारणे पञ्चविधो मोक्षहेतुर्वक्तव्यः, त्रिभिर्मोक्षकारणैः पञ्चविधबन्धकारणस्य निवर्तयितुमशक्तेः, अन्यथा त्रयाणां पञ्चानां वा बन्धहेतूनामेकेनैव मोक्षहेतुना निवर्तनसिद्धेर्मोक्षकारणत्रैविध्यवचनमप्ययुक्तिकमनुषज्येतेति कश्चित्।

जैसे कि बन्धके कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्रके भेदसे तीन प्रकार होजानेपर मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप तीन प्रकार कहा है, वैसे ही बन्धके कारण जब पांच प्रकारके आपने सिद्ध करदिये हैं तो मोक्षके हेतु भी पांच प्रकारके कहने चाहिये। क्योंकि मोक्षके तीन कारणोंसे बंधके पांच प्रकार कारणोंकी निवृत्ति हो नहीं सकती है। अन्यथा यानी ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारसे मानोगे अर्थात् तीनसे भी पांचों की निवृत्ति होना

मानलोगे तो तीनों या पांचों बंधके कारणोंकी मोक्षके एक ही तत्त्वज्ञानस्वरूप कारणसे निवृत्ति सिद्ध हो जावेगी। फिर मोक्षके कारणोंको तीन प्रकारका कहना भी जैनोंका युक्तियोंसे रहित है। यह प्रसंग हो जावेगा। इस प्रकार कोई शंकाकार कहता है। अब ग्रंथकार कहते हैं कि—

तदेतदनुकूलं नः सामर्थ्यात् समुपागतम्।
बन्धप्रत्ययसूत्रस्य पाञ्चविध्यं मोक्षवर्त्मनः॥ १११॥

इस प्रकार यह शंका तो हमको अनुकूल पडती है। इसका हमको खण्डन नहीं करना है। बन्धके पांच कारणोंका निरूपण भी सूत्रकारने ही किया है, अतः बन्धके पांच कारणोंको कहनेवाले सूत्रकी सामर्थ्यसे ही यह बात अच्छी तरह प्राप्त हो जाती है कि मोक्षका मार्ग भी पांच प्रकारका है, इसमें सन्देह नहीं। यहां किसी नयसे तीन प्रकारका कह दिया है।

" सम्यग्दर्शनविरत्यप्रमादाकषायायोगा मोक्षहेतव " इति पंचविधबन्धहेतूपदेशसामर्थ्याल्लभ्यत एव मोक्षहेतोः पंचविधत्वं, ततो न तदापादनं प्रतिकूलमस्माकं।

बन्धके पांच प्रकार हेतुओंके उपदेशकी सामर्थ्यसे मोक्षके कारणको पांच प्रकारपना इसी न्यायसे प्राप्त हो ही जाता है कि सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ये पांच मोक्षके कारण हैं। इन एक एक कारणसे बन्धके एक एक कारणकी निवृत्ति हो जाती है। अतः शंकाकारका वह आपादन करना हमें प्रतिकूल नहीं है, प्रत्युत इष्ट है। निर्णय यह है कि विवक्षासे पदार्थोंकी सिद्धि होती है। जैनियोंकी नयचक्रव्यवस्थाको समझ लेनेपर उक्त प्रक्रिया बन जाती है। जिन उमास्वामी महाराजने मोक्षके कारण तीन माने हैं, उनहीके अभिप्रायानुसार बन्धके कारण तीन माने जा रहे हैं और उन आचार्य हीने बन्धके कारण पांच कहे हैं। अतः मोक्षके कारण भी पांच मानना उनको अभीष्ट प्रतीत होता है। यह नयप्रक्रियाकी योजनासे सुसंगत हो जाता है, जो कि हम प्रायः कह चुके हैं।

सम्यग्ज्ञानमोक्षहेतोरसंग्रहः स्यादेवमिति चेन्न, तस्य सद्दर्शनेऽन्तर्भावात् मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनेऽन्तर्भाववत्। तस्य तत्रानन्तर्भावे वा षोढा मोक्षकारणं बन्धकारणं चाभिमतमेव विरोधाभावादित्युच्यते।

आक्षेप है कि इस प्रकार पांच प्रकारके मोक्ष हेतुओंके मानने पर मोक्षके कारणोंमें अन्य दार्शनिकों द्वारा भी आवश्यकरूपसे माने गये सम्यग्ज्ञानका संग्रह नहीं हो पाता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तो आचुके हैं। किन्तु प्रधानकारण कहे गये ज्ञानका संग्रह नहीं हो पाया है जिसको कि आप जैन भी मानते हैं। ऐसी अधिक संख्याके निरूपण करनेसे हानिके अतिरिक्त कोई लाभ नहीं है जहां कि मूल ही छूट जाता हो। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि इस प्रकार

कहोगे सो तो ठीक नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शनमें उस सम्यग्ज्ञानका अन्तर्भाव हो जाता है। बन्धके पांच कारणोंका निरूपण करते समय भी संसारका प्रधानकारण मिथ्याज्ञान ही छूट गया है। अतः गाढसख्यके वश मिथ्याज्ञानका जैसे मिथ्यादर्शनमें अन्तर्भाव हो जाता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञानका सम्यग्दर्शनमें अन्तर्भाव करलेते हैं। अथवा यदि स्वतन्त्र गुण होनेके कारण उस सम्यग्दर्शनमें उस सम्यग्ज्ञानका अन्तर्भाव नहीं करना चाहते हो तो मोक्षका कारण छह प्रकारका हो जायगा और इसी प्रकार मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान विभावोंके स्वतन्त्र होनेपर बन्धका कारण भी छह प्रकारका ही समझा जायेगा। यह बात भी सूत्रकारको अभीष्ट ही है। क्योंकि ग्रंथकार किसी प्रकारका विरोध न होनेके कारण तीनके समान पांच, छह, प्रकारका भी मोक्षकारण इष्ट करते हैं। इसी बातको वार्तिक द्वारा कहते हैं।

सम्यग्बोधस्य सद्दृष्टावन्तर्भावात्त्वदर्शने।
मिथ्याज्ञानवदेवास्य भेदे षोढोभयं मतम्॥ ११२॥

मिथ्यादर्शनमें मिथ्याज्ञानके अन्तर्भाव करनेके समान सम्यग्दर्शनमें सम्यग्ज्ञानका यदि गर्भ करोगे तो बंध और मोक्षके कारण पांच प्रकार ही हैं। यदि इन दोनोंका भेद मानोगे तो बंध और मोक्षके कारण दोनों ही छह प्रकारके इष्ट हैं। यही विवक्षाके अधीन होकर आचार्योंका मंतव्य है। श्रीकुंदकुंदाचार्यने तो चैतन्यरूपसे अभेद होनेके कारण तीनों गुणोंको एक मानकर मोक्षका कारण एक ही माना है। और निश्चय नयसे मोक्ष और मोक्षके कारणको भी एक ही कर दिया है, यह कथन भी अविरुद्ध है। तत्त्वज्ञानीके अभिप्रायरूप नयको समझ लीजिये।

तत्र कुतो भवन् भवेत्यन्तं बंधः केन निवर्त्यते, येन पंचविधो मोक्षमार्गः स्यादित्यर्थीयते—

उस प्रकरणमें आप जैन यह बतलाइये कि आपके मतके अनुसार संसारमें किस कारणसे अधिक धाराप्रवाहरूप होता हुआ बंध और किस कारणसे वह निवृत्त होजाता है? जिससे कि बंधके समान मोक्षमार्ग भी पांच प्रकारका माना जाय ऐसी प्रतिवादीकी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं।

तत्र मिथ्यादृशो बन्धः सम्यग्दृष्ट्या निवर्त्यते।
कुचारित्राद्विरत्यैव प्रमादादप्रमादतः॥ ११३॥
कषायादकषायेण योगाच्चायोगतः क्रमात्।
तेनायोगगुणान्मुक्तेः पूर्वं सिद्धा जिनस्थितिः॥ ११४॥

उस बंध मोक्षके प्रकरणमें मिथ्यादर्शन नामक विभावके निमित्तसे होता हुआ बंध तो सम्यग्दर्शन स्वभावसे निवृत्त होजाता है। और अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायके उदय होनेपर उत्पन्न हुए कुचारित्रसे होता हुआ बंध इंद्रिय संयम और प्राणसंयमरूप विरति करके ही नष्ट होजाता है। तथा संज्वलनके तीव्र उदय होनेपर होनेवाले प्रमादोंसे होता हुआ बंध सातवेंमें अप्रमाद होनेसे दूर होजाता है। एवं संज्वलन कषायके मन्द उदयोंसे होता हुआ बंध भी चारित्र मोहका उपशम या क्षयरूप अकषाय भावसे ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानोंमें दूर हो जाता है। अन्तमें योगसे होनेवाला बन्ध चौदहवें गुणस्थानकी अयोगअवस्थासे ध्वस्त कर दिया जाता है। इस प्रकार क्रमसे पांच बंध हेतुओंके भेद प्रभेदोंसे होनेवाले बन्धोंकी पहिलेमें सोलह, दूसरेमें पचीस, चौथेमें दस, पांचवेमें चार, छठवेमें छह, सातवेंमें एक, आठवेंमें छत्तीस, नौवेंमें पांच, दसवेंमें सोलह और तेरहवें गुणस्थानमें एक इस प्रकार बंध योग्य १२० कर्मोंकी बंध व्युच्छित्ति होनेका नियम है। अतः अयोग गुणस्थानसे पीछे होनेवाली मुक्तिके पहिले तेरहवें गुणस्थान और चौदहवें गुणस्थानके कालमें जिनेंद्रदेवका संसारमें स्थित रहना सिद्ध हो जाता है।

मिथ्यादर्शनाद्भवन् बंधः दर्शनेन निवर्त्यते, तस्य तन्निदानविरोधित्वात्। मिथ्याज्ञानाद्भवन् बंधः सत्यज्ञानेन निवर्त्यत इत्यप्यनेनोक्तं, मिथ्याचारित्राद्भवन्सच्चारित्रेण, प्रमादाद्भवन्नप्रमादेन, कषायाद्भवन्नकषायेण, योगाद्भवन्नयोगेन स निवर्त्यत इत्ययोगगुणानन्तरं मोक्षस्याविर्भावात्सयोगायोगगुणस्थानयोर्भगवदर्हतः स्थितिरपि प्रसिद्धा भवति।

बंधके पांच कारणोंमें पड़े हुए मिथ्यादर्शनसे हो रहा बंध झट सम्यग्दर्शनसे निवृत्त कर दिया जाता है। क्योंकि वह सम्यग्दर्शन तो बन्धके आदि कारण माने गये उस मिथ्यात्वका विरोधी है। इस कथनकी सामर्थ्यसे यह भी कह दिया गया है कि मिथ्याज्ञानसे हो रहे बंधका सम्यग्ज्ञानसे निवर्तन हो जाता है। तथा मिथ्याचारित्रसे होता हुआ बंध सम्यक्चारित्रसे नष्ट कर दिया जाता है। एवं प्रमादसे होता हुआ छह प्रकृतियोंका बंध अप्रमादसे नष्ट कर दिया जाता है। और कषायोंसे होनेवाला बंध अकषायभावसे तथा योगसे होता हुआ सातावेदनीयका वह बंध अयोगभावसे ध्वस्त कर दिया जाता है। इस प्रकार आत्माके स्वाभाविक परिणाम कहे गये अयोग गुणस्थानके अन्तमें होनेवाली मुक्तिके प्रगट हो जानेसे पहिले तेरहवें सयोग और चौदहवें अयोग गुणस्थान दोनोंमें भगवान् श्री अर्हन्तदेवकी उपदेश देनेके लिये यहां स्थिति भी प्रसिद्ध हो जाती है। उस अधिकसे अधिक कुछ अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कमती एककोटि पूर्व वर्ष तक सर्वज्ञ भगवान् भव्यजीवोंके लिये तत्त्वोंका उपदेश देते हैं और कमसे कम तेरहवें गुणस्थानमें कतिपय अन्तर्मुहूर्त ठहरकर तत्त्वार्थोंका उपदेश देते हुए पञ्च लघु अक्षर प्रमाण अयोग गुणस्थानके अनंतर कालमें मुक्तिको प्राप्त कर लेते हैं।

सामग्री यावती यस्य जनिका सम्प्रतीयते ।
तावती नातिवर्त्यैव मोक्षस्यापीति केचन ॥ ११५ ॥

पुनः कोई बोले कि जिस कार्यको उत्पन्न करनेवाली जितनी कारणसमुदायरूप सामग्री अच्छी तरह देखी आरही है, वह कार्य उतनी सामग्रीका उलंघन कथमपि नहीं कर सकता है अर्थात् उतने सम्पूर्ण कारणोंके मिलनेपर ही विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति हो सकेगी । मोक्षरूप कार्यके लिये भी सम्यग्दर्शन आदि तथा चारित्रगुणके स्वभावोंको विकसित करनेके लिये आवश्यक कहा आरहा तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानमें अवस्थानकाल जैसे अपेक्षित है, वैसे ही सञ्चित कर्मोंका फलो पभोग होना भी हम नैयायिक और सांख्योंके मतमें माना गया है, इस प्रकार कोई कहरहे हैं । इसकी व्याख्या यों है कि—

यस्य यावती सामग्री जनिका दृष्टा तस्य तावत्येव प्रत्येया, यथा यवबीजादिसामग्री यवाङ्कुरस्य, तथा सम्यग्ज्ञानादिसामग्री मोक्षस्य जनिका सम्प्रतीयते, ततो नैव सातिवर्तनीया, मिथ्याज्ञानादिसामग्री च बन्धस्य जनिकेति मोक्षबन्धकारणसंख्यानियमः, विपर्ययादेव बन्धो ज्ञानादेव मोक्ष इति नेष्यत एव, परस्यापि सञ्चितकर्मफलोपभोगादेरभीष्टत्वादिति केचित् ।

जिस कार्यको उपादान कारण, सहकारी कारण, उदासीन कारण, प्रेरक कारण और अवलम्ब कारणोंकी समुदायरूप जितनी सामग्री उत्पन्न करती हुयी देखी गयी है, उस कार्यके लिये उतनी ही सामग्रीकी अपेक्षा करना आवश्यक समझना चाहिये । उस सामग्रीकी अपेक्षा न कर केवल एक दो कारणसे ही होता हुआ कार्य नहीं देखा गया है । इस पलटस कार्यकारणभावका कोई भी शक्ति परिवर्तन नहीं करसकती है । जैसे कि जौका बीज, मिट्टी, पानी, मन्दवायु, इत्यादि कारणोंके समुदायरूप सामग्रीसे जौका अङ्कुर उत्पन्न होजाता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान, फलोपभोग, दीक्षा, काल आदि कारणकूट भी मोक्षरूपकार्यके जनक अच्छे प्रकारसे निर्णीत होरहे हैं । इस कारणसे मोक्षरूपी कार्य उस अपनी सामग्रीका उलंघन नहीं कर सकता है । और मिथ्याज्ञान, दोष, पापक्रिया करना, निषिद्ध आचरण करना, नित्य, नैमित्तिक कर्मोंको न करना आदि कारणसमुदाय बंधके जनक है । इस प्रकार मोक्ष और बंधके कारणोंकी संख्याका नियम होरहा है । कोई पोल नहीं है । अकेले विपर्ययज्ञानसे ही बंध होजाना और केवल तत्त्वज्ञानसे ही मोक्ष होजाना यह हम इष्ट नहीं करते हैं । दूसरे हम लोगोंके यहां भी पहिले एकत्रित किये हुए कर्मोंके फलोपभोग, तपस्या, वैराग्य, आदि कारणसमुदायसे ही मोक्ष होना अच्छा इष्ट किया है । इस प्रकार कोई कापिल और वैशेषिक कहरहे हैं । इनका अभिप्राय यही है कि जब आप जैनोंको भी सामग्री

मानना तो आवश्यक ही है, तो फिर अकेले तत्त्वज्ञानको ही मोक्ष और विपर्ययको ही संसारका कारण क्यों न मानलिया जाय।

एतेषामप्यनेकान्ताश्रयणे श्रेयसी मतिः।
नान्यथा सर्वथैकान्ते बन्धहेत्वाद्ययोगतः ॥ ११६ ॥
नित्यत्वैकान्तपक्षे हि परिणामनिवृत्तितः।
नात्मा बन्धादिहेतुः स्यात् क्षणप्रक्षयिचित्तवत् ॥ ११७ ॥

ग्रंथकार समझाते हैं कि इन लोगोंका उक्त कथन ठीक है, किन्तु अनेकांत मतका आश्रय लेनेपर ही उनका पूर्वोक्त मन्तव्य कल्याणकारी हो सकता है। अन्यथा नहीं। क्योंकि सर्वथा एकांत मतका अवलम्ब लेनेपर बंध, बंधका हेतु, मोक्ष, मोक्षका कारण, आदि अवस्था नहीं हो सकती है। कोई युक्ति काम नहीं देती है। देखो, जो ही आत्मा पहिले मिथ्यादृष्टि था, सम्यग्दर्शन पर्यायके उत्पन्न हो जानेपर वही सम्यग्दृष्टि बन जाता है। यहां आत्मा कथञ्चित् नित्य है और उसकी पर्यायें मिथ्यादर्शन आदि तो बदलती रहनेके कारण कथञ्चित् अनित्य हैं।

यदि आप सांख्य या वैशेषिक आत्माको एकांतरूपसे नित्य होना माननेका पक्ष ग्रहण करेंगे तो अवश्य आत्मामें पर्यायें होनेकी निवृत्ति हो जावेगी। अतः वह आत्मा बंध बंधके कारण, मोक्षकारण, और मोक्षरूप आदि पर्यायोंका कारण न बन सकेगा, जैसे कि बौद्धोंसे माना गया एक ही क्षणमें समूल चूल नष्ट होनेवाला विज्ञानस्वरूप आत्मा विचारा बंधका हेतु नहीं होने पाता है और सर्वथा क्षणिक माने गये आत्माकी अष्टाङ्ग कारणोंसे मोक्ष भी नहीं हो सकती है।

परिणामस्याभावे नात्मनि क्रमयौगपद्ये तयोस्तेन व्याप्तत्वात्। पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्थितिलक्षणो हि परिणामो न पूर्वोत्तरक्षणविनाशोत्पादमात्रं स्थितिमात्रं वा प्रतीत्यभावात्। स च क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकतया संप्रतीयते। बहिरन्तश्च बाधकाभावात्पारमार्थिको यतः स्वयं निवर्तमानः क्रमयौगपद्ये न निवर्तयेत्। ते च निवर्तमाने अर्थक्रियासामान्यं निवर्तयतस्ताभ्यां तस्य व्याप्तत्वात्। अर्थक्रियासामान्यं तु यत्र निरतिशयात्मनि न सम्भवति तत्र बंधमोक्षाद्यर्थक्रियाविशेषः कथं सम्भाव्यते। येनायं तदुपादानहेतुः स्यात्, निरन्वयक्षणिकचित्तस्यापि तदुपादानत्वप्रसङ्गात्।

आत्मामें परिणाम होनेका अभाव माननेपर कुछ अर्थ, व्यंजन पर्यायोंका क्रमसे होनापन और कितनी ही गुणरूप सहभावी पर्यायोंका एक कालमें होनापन वे नहीं बन सकते हैं। क्योंकि क्रम और यौगपद्य वे उस परिणाम करके व्याप्त हो रहे हैं अर्थात् परिणाम होना व्यापक है और उसके

क्रम, यौगपद्य, व्याप्य हैं। पूर्व स्वभावोंका त्याग करना और उत्तर कालवर्ती स्वभावोंका ग्रहण करना तथा स्थूलपर्याय या द्रव्यरूपसे ध्रुव रहना यही परिणामका नियत लक्षण है। बौद्धोंका माना गया केवल पूर्वक्षणवर्ती स्वभावोंका अन्वयसहित नाश हो जाना और उत्तर समयवर्ती सर्वथा नवीन ही पर्यायोंकी उत्पत्ति होना परिणाम नहीं है। अथवा सांख्योंका माना गया केवल तीनों कालमें स्थित रहना ही परिणाम नहीं है। क्योंकि प्रामाणिक परीक्षकोंको बौद्ध और कापिलोंके मंतव्यानुसार प्रतीति नहीं हो रही है। किंतु वह हमारा माना हुआ तीन लक्षणवाला परिणाम ही क्रम और यौगपद्यका व्यापक हो करके भली रीतिसे जाना जा रहा है। घट, पट, दाल, शाक आदि बहिरंग पदार्थोंमें और आत्मा, ज्ञान, सुख आदिक अंतरंग पदार्थोंमें तीन लक्षणवाला ही परिणाम बाधक प्रमाणोंसे रहित होकर जाना जा रहा है। वह परिणाम होना वस्तुके विवर्तरूप स्वभावोंपर अवलम्बित है। अतः अवास्तविक नहीं है, जिससे कि सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मान लिये गये कल्पित पदार्थसे वह व्यापक परिणाम स्वयं निवृत्त होता हुआ अपने व्याप्य क्रम और यौगपद्यकी निवृत्ति न कर लेवे। भावार्थ—व्यापक परिणामके न रहनेपर सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक आत्मामें व्याप्यस्वरूप क्रमिक भाव और युगपत् भाव भी नहीं रहते हैं और जब एकांत पक्षोंमें क्रम तथा यौगपद्य निवृत्त हो जाते हैं तो वे निवृत्त होते हुए सामान्यरूपसे अर्थक्रियाको भी निवृत्त करा देते हैं। क्योंकि उन क्रम और यौगपद्यसे वह सामान्य अर्थक्रिया होना व्याप्त है। व्यापकके निवृत्त हो जानेसे व्याप्य भी निवृत्त हो जाता है। जहां मनुष्य नहीं, वहां ब्राह्मण कहांसे आया ? । और अनेक स्वभावोंसे विवर्त करनारूप चमत्कारोंसे रहित जिस कूटस्थ या क्षणिक आत्मामें सामान्य रूपसे अर्थक्रिया करना ही नहीं सम्भवता है तो उस अपरिणामी आत्मामें बंधना, छूटना, बंधका कारण मिथ्याज्ञानरूप हो जाना और मोक्षका कारण तत्त्वज्ञानरूप हो जाना आदि विशेष अर्थक्रियाएं भला कैसे सम्भवित हो सकती हैं ? जिससे कि यह आत्मा उन बंध आदिकोंका समवायिकारण बन सके। यदि आप सांख्य या नैयायिक पूर्व अतिशयोंको न छोडनेवाले और उत्तरमें अनेक चमत्कारोंको न धारण करनेवाले कूटस्थ नित्य आत्माको भी बंध, मोक्ष आदिका उपादानकारण मानोगे तो बौद्धोंके माने गये अन्वयरहित क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले निरन्वय क्षणिक विज्ञानरूप आत्माको भी बन्ध, मोक्ष, आदिका उपादान कारणपना हो जानेका प्रसंग आवेगा, जो कि आप लोगोंको अनिष्ट पडेगा। क्योंकि नित्य आत्मवादी तो बौद्धोंका साभिमान खंडन करते हैं।

न चात्मनो गुणो भिन्नस्तदसम्बन्धतः सदा ।
तत्सम्बन्धे कदाचित्तु तस्य नैकान्तनित्यता ॥ ११८ ॥
गुणासम्बन्धरूपेण नाशाद्गुणयुतात्मना ।
प्रादुर्भावाच्चिदादित्वस्थानात्त्र्यात्मत्वसिद्धितः ॥ ११९ ॥

सांख्य और बौद्धोंके एकान्तपक्षोंका विचार करके अब वैशेषिकोंके नित्य आत्माका विचार करते हैं कि आत्मासे सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ गुण उस आत्माका नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उस गुणके साथ आत्माका सब कालोंमें सम्बन्ध नहीं है। जैसे कि कालपरमाणुके साथ रूपगुणका कभी सम्बन्ध नहीं है। अतः कालपरमाणुका रूपगुण नहीं माना जाता है। यदि आप वैशेषिक ज्ञान आदि गुणोंके साथ उस आत्माका कभी कभी समवाय सम्बन्ध होना मानोगे, तब तो उस आत्माके एकान्तरूपसे नित्यपनेकी क्षति हो जावेगी। कारण कि पहिलेके गुणोंसे नहीं सम्बन्ध रखनेवाले स्वरूपसे आत्माका नाश हुआ और गुणसमवायी स्वभावसे आत्माका प्रादुर्भाव हुआ तथा चैतन्य, आत्मत्व, द्रव्यत्व आदि धर्मोंसे आत्मद्रव्यकी स्थिति रही। इस हेतुसे आत्माका उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन स्वभावोंसे तदात्मकपना सिद्ध हुआ। एकान्त रूपसे आत्माकी नित्यता न रही। एक बात यह भी है वैशेषिकोंने समवायको नित्य सम्बन्ध मान रक्खा है। अतः कदाचित् सम्बन्ध माननेकी बात कच्ची है।

नापरिणाम्यात्मा तस्येच्छाद्वेषादिपरिणामेनात्यन्तभिन्नेन परिणामित्वात्। धर्माधर्मोत्पत्त्याख्या बन्धसमवायिकारणत्वोपपत्तेरिति न मन्तव्यं, स्वतोऽत्यन्तभिन्नेन परिणामेन कस्यचित्परिणामित्वासम्भवात्, अन्यथा रूपादिपरिणामेनात्माकाशादेः परिणामित्वप्रसंगात्। ततोऽपरिणाम्येवात्मेति न बन्धादेः समवायिकारणम्।

वैशेषिक कहते हैं कि कापिलोंके समान हमारा आत्मा सर्वथा अपरिणामी नहीं है। परिणाम जिसमें रहते हैं, उसको परिणामी कहते हैं। इच्छा, द्वेष, सुख, ज्ञान आदि चौदह गुणरूप सर्वथा भिन्न होरहे परिणामों करके वह आत्मा परिणामी है। और पुण्य पापकी उत्पत्ति है नाम जिसका ऐसे बन्धका समवायी कारणपना भी आत्माके युक्तियोंसे सिद्ध हो जाता है। अतः कापिलोंके ऊपर दिये गये दूषणोंका हमारे मतमें प्रसंग नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह वैशेषिकोंको नहीं मानना चाहिये। क्योंकि अपनेसे सर्वथा भिन्न माने गये परिणामों करके किसी भी द्रव्यको परिणामीपना नहीं सम्भवता है। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकार मानोगे अर्थात् सर्वथा भिन्न परिणामसे भी चाहे किसीको परिणामी कह दोगे, तब तो रूप, रस आदि परिणामोंसे पुद्गलके समान आत्मा, आकाश, काल, मन इन द्रव्योंको भी परिणामी होजानेका प्रसंग आता है। यानी सर्वथा भिन्न ज्ञानका परिणामी पुद्गल और रूपका परिणामी आकाश हो जायगा। जैसे स्वस्वामिसम्बन्ध विना सर्व प्रकार भिन्न रुपयोंसे यदि कोई धनवान् बनजाये तो कोई भिखारी कोषके रुपयोंसे लक्षाधिपति बन जावेगा। इस कारणसे सिद्ध हुआ कि आत्मा भिन्न माने गये परिणामोंसे परिणामी नहीं है। अतः वह बन्ध और बन्धके कारण मिथ्याज्ञानका तथा मोक्ष और मोक्षके कारण तत्त्वज्ञानका उपादान कारण नहीं हो सकता है।

नाप्यात्मान्तःकरणसंयोगोऽसमवायिकारणं, प्रागदृष्टं वा तद्गुणो निमित्तकारणं, तस्य ततो भिन्नस्य सर्वदा तेनासम्बन्धात्। कदाचित्तत्सम्बन्धे वा नित्यैकान्तहानिप्रसंगात्, स्वगुणासम्बन्धरूपेण नाशाद्गुणसम्बन्धरूपेणोत्पादाच्चेतनत्वादिना स्थितेस्तत्त्रयात्मकत्वसिद्धेः।

तथा वैशेषिक समवायीकारणमें रहनेवाले कारणको असमवायि कारण कहते हैं। आत्मामें रहनेवाला आत्मा और मनका संयोग है वह अदृष्टोंकी उत्पत्तिरूप बंधकी या मिथ्याज्ञान और तत्त्वज्ञानोंकी उत्पत्तिमें असमवायीकारण माना गया है, सो भी नहीं हो सकता है। क्योंकि जब आत्मा समवायीकारण ही सिद्ध नहीं हुआ तो समवायी कारणमें रहनेवाले गुण कर्मोंको असमवायी कारणपना माना गया कैसे भी सिद्ध नहीं हो सकता है। और बंधरूप संसारकी उत्पत्तिमें वैशेषिकोंने आत्माके विशेषगुण पहिलेके पुण्य पापोंको बंधका निमित्तकारण माना है। सो भी नहीं बन पाता है। क्योंकि आत्मासे सर्वथा भिन्न उस पुण्यपापका उस आत्माके साथ सभी कालोंमें संबंध नहीं है। यदि किसी कालमें आत्माके गुणोंका उस आत्मासे संबंध मानोगे तो आत्माके एकांतरूपसे नित्यपनेकी हानि हो जावेगी। कारण कि जबतक आत्मामें विवक्षितगुण उत्पन्न नहीं हैं, उस समय आत्मामें गुणोंसे असम्बन्ध करना स्वभाव है। जब विवक्षित गुण उत्पन्न हो जाते हैं। तब उस समय गुणोंसे असम्बन्ध होना रूप अपने पहिले स्वभाव करके आत्माका नाश हुआ और नवीन गुणोंका सम्बन्धरूप स्वभाव करके आत्माका उत्पाद हुआ। तथा चेतनपना, आत्मपना, सत्पना, आदि धर्मोंसे आत्मा स्थित रहा। इस कारण उस आत्माको तीन लक्षणस्वरूप परिणामीपना सिद्ध होता है। प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों लक्षण विद्यमान हैं। इन तीनोंका विस्तार यों है कि स्वकीय द्रव्यत्व गुण द्वारा स्वभावसे परिणमन करते हुए द्रव्यमें कारणान्तरोंकी नहीं अपेक्षा करके उत्पाद आदि तीन सामान्यरूपसे सर्वदा होते रहते हैं। हां, विशेषरूपसे किसी धर्मकी उत्पत्ति आदिमें अन्य हेतुओंका व्यापार भी इष्ट किया है। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे उत्पत्ति होनेका इच्छुक ही आत्मा नष्ट होता है। क्योंकि पहिली दुःखरूप पर्यायका नाश होकर अपने अनेक स्वभावोंमें स्थिर रहनेवाला आत्मा ही उत्तरकालमें अपनेसे अभिन्न होरहीं सुख आदि पर्यायोंको पैदा करता है तथा नाशशील आत्मा ही स्थित रहता है, जो किसी प्रकार भी नाशको प्राप्त नहीं होता है। वह घोडेके सींग समान स्थिर भी नहीं है। एवं स्थितशील पदार्थ ही उत्पन्न होता है उस कारण प्रत्येक वस्तुमें एक ही कालमें तीनों लक्षण पाये जाते हैं, तथा स्थितिरूप भाव उत्पन्न और विनष्ट होता है तथा विनाश ही स्वभाव स्थित रहता है और उत्पन्न होता है एवं उत्पाद स्वभाव ही नष्ट और स्थिर होता है। इस प्रकार स्थिति आदि स्वभावोंमें भी त्रिलक्षणता है। द्रव्य और पर्याय स्वरूपवस्तुमें अभेद होनेसे त्रिलक्षणता माननेपर कोई अनवस्था दोष नहीं है। तथा स्थितिस्वभाव ही भविष्यमें स्थित रहेगा, उत्पन्न होगा, विनशेगा और स्थितस्वभाव ही स्थिर रहचुका है, उत्पन्न होचुका है, नष्ट होचुका है, एवं विनाश स्वभाव ही ठहरेगा, उत्पन्न होगा, नशेगा और स्थित रहचुका है, उत्पन्न

होचुका है, नष्ट होचुका है। तथा उत्पत्तिस्वभाव ही उत्पन्न होगा, विनशेगा, ठहरेगा और उत्पन्न होचुका, नष्ट होचुका, स्थित रहचुका है। इन स्थिति आदिक रूप वस्तु अनादिसे अनन्त कालतक विराम किये विना परिणमन कररहा है। ऐसे ही आत्मा स्थित है, स्थित रहचुका है, स्थित रहेगा, विनश रहा है, नष्ट होचुका, नशेगा और उत्पन्न होरहा है। उत्पन्न होचुका, उत्पन्न होवेगा। इस प्रकार तीनों कालकी अपेक्षासे इन नौ भङ्गोंके प्रत्येकके नौ भेदोंकी अपेक्षासे इक्यासी भेदवाली वस्तु होजाती है। ऐसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके तीनों काल और परस्परके सांकर्यसे त्रिलक्षणताके अनेक भेद प्रभेद होजाते हैं। वस्तुकी सत्ता अनन्तपर्यायोंसे युक्त है। इसका विशेष विवरण श्री अष्टसहस्री ग्रंथमें देखलेना। एक पुरुष वर्तमानमें सत्यव्रती है। पहिले नहीं था और आगे भी सत्य बोलनेवाला नहीं रहेगा तथा दूसरा पुरुष पहिले सत्यव्रती था, अब भी है और आगे नहीं रहेगा तथा तीसरा पुरुष पहिले सत्यव्रती नहीं था, किंतु अब है और आगे भी रहेगा। चौथा पुरुष तीनों कालमें सत्यव्रती है। इन चारों पुरुषोंमें वर्तमानमें सत्य बोलना बराबर है, किंतु भूत भविष्यत्, के रहित, सहित, परिणामोंसे वर्तमानके सत्यव्रतमें आनुषंगिक दोष और गुण आजाते हैं। अतः वर्तमानके व्रत पालनेमें भी सूक्ष्मतासे चारों पुरुषोंमें भेद है। कारण कि आत्मा अन्वितद्रव्य है। पहिले पीछेके स्वभावके अनुसार संस्कारोंको तथा स्वकीय गुणोंके अधिकारोंको लेता, देता, छोडता, रहता है। तदनुसार उसमें अनेक खोटे खरे अतिशय उत्पन्न होजाते हैं। इसी प्रकार एक मनुष्य वर्तमानमें सत्यव्रती है और ब्रह्मचारी भी है। किंतु वह पहिले ब्रह्मचारी नहीं था और आगे भी नहीं रहेगा, दूसरा सत्यव्रती पहिले ब्रह्मचारी था और अब भी है, किंतु आगे न रहेगा। तीसरा सत्य बोलनेवाला वर्तमानमें ब्रह्मचारी है, आगे भी रहेगा किंतु पहिले ब्रह्मचारी नहीं था। चौथा सत्यव्रती तीनों कालोंमें ब्रह्मचारी है। यहां दूसरे ब्रह्मचर्यके रहित सहितपनेसे या कालकी त्रिगुणतासे सत्यव्रतके सूक्ष्म अंशोंमें भेद माना जाता है। ऐसे ही अचौर्य गुणके साथ भी लगा लेना। यदि इन गुणोंकी मनः वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना तथा कालकी अपेक्षासे प्रस्तार-विधि की जावेगी तो करोडों भेद प्रभेद होजावेंगे। ये भेद कोरे कल्पित नहीं हैं। किंतु वस्तुके स्वाभाविक परिणामोंकी भित्ति पर अवलम्बित हैं। सीता, अंजना, गुणमाला, द्रौपदी, विशल्या आदि स्त्रियोंके समान ब्रह्मचारिणी स्त्रियां अनेक हुयी हैं। किंतु अन्य अनेक गुणोंके साथ त्रियोगसे त्रिकालमें अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन विशेषरूपसे इनका प्रशंसनीय है। पुरुषोंमें अनेक ब्रह्मचारी पुरुष हुए हैं। किन्तु वारिषेण या चरमशरीरी कामदेव सुदर्शन सेठ आदिके समान नहीं। विरोधी कारण सामग्रीके मिलनेपर अखण्ड ब्रह्मचर्य रक्षित रखना इनका प्रशंसनीय कार्य कहा है। तीर्थंकर महाराजके ब्रह्मचर्यकी तो अचिन्त्य महिमा है। रूप, धन विद्या, प्रभुता, और सन्तानके अन्योन्य अनुगुणसहित, रहितपनेसे तथा संकर व्यतिकरपनेसे लौकिक पुरुषोंके परिणाम न्यारे न्यारे होजाते हैं। एवं चोरी, व्यभिचार, हिंसकपन आदि दोषोंमें भी लगा लेना। ये सब स्वभाव आत्माके अनेक भावोंके अनेक प्रकारसे त्रिलक्षणात्मक होनेसे ही उत्पन्न होजाते हैं।

एतेनात्मनो भिन्नो गुणः सत्त्वरजस्तमोरूपो बन्धादिहेतुरित्येतत्प्रतिव्यूढं, तेन तस्य शश्वदसम्बन्धेन तद्धेतुत्वानुपपत्तेः। कदाचित्सम्बन्धे त्र्यात्मकत्वसिद्धेरविशेषात्।

इस पूर्वोक्त वैशेषिकके मतका खण्डन कर देनेसे सांख्योंके इस सिद्धांतका भी निरास हो जाता है कि आत्मासे सर्वथा भिन्न मानी गयी प्रकृतिके सत्त्व गुण, रजोगुण, और तमोगुणरूप भाव आत्माके बंध तथा मोक्ष आदिके कारण हैं। सांख्योंने उन सत्त्वरजस्तमो गुणोंका उस आत्माके साथ सदासे ही संबंध होना नहीं इष्ट किया है। पुरुषको जलकमलपत्रके समान सर्वथा निर्लेप माना है। ऐसी दशामें वे भिन्न पडे हुए गुण विचारे आकाशके समान आत्माके उस बंध, मोक्ष, होनेमें कारण नहीं सिद्ध हो सकते हैं। यदि किसी समय तीन गुणोंका आत्मासे संबंध होना मान लोगे तो तीन स्वभावपना आत्मामें विना अन्तरके सिद्ध हो जावेगा। भावार्थ—स्याद्वादिओंके सिद्धांत अनुसार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे तीन स्वरूपपना जैसे आत्मामें सिद्ध होगा, वैसे ही तीनपनेको धारण करते हुए सत्त्वरजस्तमके स्वरूप भी बन जावेंगे। तभी बंध, मोक्ष, आदि व्यवस्था हो सकेगी। अन्यथा कोई उपाय आपके पास नहीं है।

यद्विनश्यति तद्रूपं प्रादुर्भवति तत्र यत्।
तदेवानित्यमात्मा तु तद्भिन्नो नित्य इत्यपि ॥ १२० ॥
न युक्तं नश्वरोत्पित्सुरूपाधिकरणात्मना।
कादाचित्कत्वतस्तस्य नित्यत्वैकान्तहानितः ॥ १२१ ॥

यहां नित्य आत्मावादी कहते हैं कि उस आत्मामें जो गुण या धर्म उत्पन्न होता है, वही अनित्य है। आत्मा तो उन गुण और स्वभावोंसे सर्वथा भिन्न है। अतः उसका बालाग्रमात्र भी न्यून, अधिक, नहीं होने पाता है। इस कारण आत्मा अक्षुण्णरूपसे कूटस्थ नित्य बना रहता है ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार प्रतिवादियोंका कहना भी युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि नाश स्वभाव और उत्पत्ति स्वभाववाले गुण या धर्मोंके आधार स्वरूपपने करके उस आत्माको भी कभी कभी होनापन है! अतः आपके मतमें उस आत्माके नित्यताके एकांतपक्षकी हानि हो जाती है। भावार्थ—भले ही आत्मामें घटकी इच्छा नष्ट हो और पटकी उत्पन्न हो अथवा रजतका ज्ञान नष्ट होवे और सुवर्णका ज्ञान होवे, किंतु ऐसी दशामें भी जो आत्मा पहिले समयमें घटकी इच्छा और रजतके ज्ञानका अधिकरण था, दूसरे समयमें आत्मा उस अधिकरणपन स्वभावसे नष्ट हो जाता है तथा पटकी इच्छा और सुवर्ण ज्ञानके अधिकरण स्वभावसे नवीन उत्पन्न हो जाता है। अतः आत्मा भी कथञ्चित् उत्पाद विनाशोंसे सहित है। अन्यथा जैसे पूर्वमें था वैसा ही बना रहना चाहिये। कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये था। रोगीसे नीरोग होना, मूर्खसे पण्डित बन जाना, ये सब क्या है?।

कदाचिन्नश्वरस्वभावाधिकरणं कदाचिदुत्पित्सुधर्माधिकरणमात्मा नित्यैकांतरूप इति ब्रुवन्न स्वस्थः, कादाचित्कानेकधर्माश्रयत्वस्यानित्यत्वात् ।

जो नैयायिक आत्माको कभी तो नाश होनेवाले गुण, स्वभावोंका अधिकरण मानता है और कभी उत्पन्न होनेवाले धर्मोंका अधिकरण स्वीकार करता है, फिर भी उस आत्माको एकांतरूपसे कूटस्थ नित्य कहे ही जाता है । इस प्रकार बोलनेवाले वैशेषिक, सांख्य या नैयायिक मालूम पडते हैं कि वे आपेमें नहीं हैं । जो जन वातकोप या ग्रहावेशसे ग्रसित है, वह उन्मत्त ही युक्तिरहित पूर्वापरविरुद्ध बातोंको कहा करता है । प्रकृत आत्मामें कभी कभी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले अनेक धर्मोंका आश्रयपन है । अनित्य आधेयोंके आधारसे अभिन्न भी अनित्य है तथा कभी कभी होनेवाला अधिकरणपन तो आत्मासे अभिन्न है। इस हेतुसे भी आत्मा अनित्य सिद्ध होता है। जैसे कि हरे रूप और खट्टे रसको धारण करनेवाला आम्र फल पीछे पीला रूप और मीठे रसका आधार होनेसे अनित्य माना जाता है ।

नानाधर्माश्रयत्वस्य गौणत्वादात्मनः सदा ।
स्थास्नुतेति न साधीयः सत्यासत्यात्मताभिदः ॥ १२२ ॥

नित्य आत्मवादी कहते हैं कि आगे पीछेके नष्ट, पैदा होनेवाले अनेक धर्मोंका अधिकरणपना आत्माका आरोपित गौण धर्म है । फटे कुर्त्तेके उतारनेसे और नये कुर्त्तेके पहिननेसे देवदत्त नहीं बदल जाता है । एक रुपया चला गया, दूसरा रुपया आगया, एतावता जिनदत्तमें विपरिणाम नहीं होजाता है । अतः अपनेसे भिन्न होरहे धर्मोंकी अधिकरणता आत्मामें एक कल्पना किया गया गौण धर्म है, बहिर्भूत गौणधर्मसे आत्मा अनित्य नहीं बन जाता है । अतः सर्वदा आत्माको स्थितिस्वभाववाला ही हम कहते हैं । हम उन्मत्त नहीं है । ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार कहना बहुत अच्छा नहीं है। क्योंकि सर्वदा स्थित रहनेवाले आत्मत्व, महापरिमाण, अजसंयोग, आदि धर्मोंको आप मुख्यरूप करके आत्मामें सत्यरूपसे विद्यमान मानते हैं और घटज्ञान, रजतकी इच्छा आदिकी अधिकरणतारूप धर्मोंको गौण रूपसे मानते हुए वास्तवमें असत्य मानते हैं। फिर भी सत्य और असत्य स्वरूपपने करके आत्माका भेद सिद्ध होता है। अतः आत्मा अनित्य सिद्ध हुआ ।

सत्यासत्यस्वभावत्वाभ्यामात्मनो भेदः सम्भवतीत्ययुक्तं, विरुद्धधर्माध्यासलक्षणत्वाद्भेदस्यान्यथात्मानात्मनोरपि भेदाभावप्रसंगात् ।

यदि आत्माको नित्य माननेवाले फिर भी यों कहेंगे कि सत्य स्वभाव होने और असत्यस्वभाव हो जानेसे आत्माका भेद है यानी वे सत्य और असत्य स्वभाव भी आत्मासे भिन्न हैं ।

अतः उन स्वभावोंमें ही भेद सम्भवता है। आत्मा तो कूटस्थ नित्य एक है। उनका यह कहना भी युक्तिशून्य है। क्योंकि भेदका लक्षण विरुद्ध धर्मोंसे आक्रांत हो जाना ही है, ऐसा न मानकर यदि अन्यथा मानोगे यानी अधिकरणसे अधिकरणपन स्वभावको न्यारा मान लिया जावेगा तब तो आत्मा और अनात्माके भेद न होनेका प्रसंग हो जावेगा। अर्थात् आत्मामें ज्ञान, सुख आदिकी अधिकरणता है और जड पृथ्वी आदिमें रूप रस आदिकी अधिकरणता है। तभी तो जड और चेतनमें भेद माना जाता है। ऐसा माने विना जड, चेतनका भेद भी उठ जावेगा। अतः आत्मा भी भिन्न स्वभाववाला होकर अनित्य है।

असत्यात्मकतासत्त्वे सत्त्वे सत्यात्मतात्मनः।
सिद्धं सदसदात्मत्वमन्यथा वस्तुताक्षतिः ॥ १२३ ॥

वास्तव नहीं विद्यमान किंतु गौणरूपसे आरोपित किये गये असत् स्वरूप धर्मोंकी अपेक्षासे आत्माको असत् मानोगे और सर्वदा विद्यमान रहनेवाले सत्य स्वरूप स्वभावोंकी अपेक्षासे आत्माको सर्वदा सत् मानोगे तब तो आत्माको सत् और असत्स्वरूपपना सिद्ध हो जाता है। अन्यथा आत्माको वस्तुपनेकी ही क्षति हो जावेगी। भावार्थ—सत् असत् धर्मात्मक वस्तु होती है। स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे पदार्थ सत् है और परचतुष्टयकी अपेक्षा असत् है। अन्यथा खरविषाणके समान शून्यपने या साङ्कर्य हो जानेका प्रसंग होगा।

नानाधर्माश्रयत्वं गौणमसदेव मुख्यं स्थायि तु सदिति तत्त्वतो जीवस्यैकरूपत्वमयुक्तं सदसत्स्वभावत्वाभ्यामनेकरूपत्वसिद्धेः। यदि पुनरात्मनो मुख्यस्वभावेनेवोपचरितस्वभावेनापि सत्त्वमुररीक्रियते तदा तस्याशेषपररूपेण सत्त्वप्रसक्तेरात्मत्वेनैव व्यवस्थानुपपत्तिः सत्तामात्रवत्सकलार्थस्वभावत्वात्। तस्योपचरितस्वभावेनैव मुख्यस्वभावेनाप्यसत्त्वे कथमवस्तुत्वं न स्यात्? सकलस्वभावशून्यत्वात् खरशृंगवत्।

आत्मामें नाना धर्मोंका आश्रयपना गौण आरोपित धर्म है। अतः असत् ही है तथा आत्मत्व आदि मुख्यधर्म तो सर्वदा टिकाऊ हैं। अतः सत्स्वरूप हैं। वास्तवमें विचारा जावे तो जीव अपने स्थायी धर्मोंसे एक सत् रूप ही है, असत् अंश उसमें सर्वथा नहीं है। अतः असत्रूपजीव किञ्चित् भी नहीं है। यह किसी नैयायिकका कहना अयुक्त है। क्योंकि सत् और असत् दोनों स्वभाव होनेसे जीव अनेक-धर्मस्वरूप सिद्ध हो चुका है। यदि जीवको सर्व प्रकारसे सद्रूप ही माना जावेगा तो मुख्य स्वभावोंसे जैसे जीवका सद्रूपपना है, वैसे ही गौण कल्पित स्वभावों करके भी सत् रूपपना स्वीकार किया जावेगा, तब तो उस जीवको सम्पूर्ण जडपना, रसवान्‌पना, गंधवान्‌पना आदि दूसरोंके स्वभावों करके भी सत्‌रूपपनेका प्रसंग आवेगा। अतः वह जीव उन जड, पृथ्वी,

आकाश, स्वरूप बन जावेगा। तथा च पृथ्वीपने आदिको टालकर जीवकी आत्मपने करके ही व्यवस्था होना न बन सकेगी। सब जड और चेतन पदार्थोंका सांकर्य हो जावेगा। केवल (शुद्ध) सत्ताके समान सम्पूर्ण पदार्थ सभी पदार्थोंके स्वभाववाले हो जावेंगे। यह बडी भारी अव्यवस्था होगी। ब्रह्माद्वैत छा जावेगा। पातिव्रत्य, अचौर्य धर्म नष्ट हो जावेंगे। बच्चा अपनी माकी गोदको प्राप्त न कर सकेगा। चोर, डांकू, व्यभिचारियोंको दण्ड न मिल सकेगा। अधिक कहनेसे क्या काम है। उक्त दोषके परिहारके लिये आप नैयायियोंको परिशेषमें यही मानना पडेगा कि अपने स्वभावों करके पदार्थ सद्रूप हैं और अन्यके स्वभावोंकरके वस्तु असत्रूप है। तथा आप नैयायिक यदि उपचरित स्वभावकरके वस्तु जैसे असत्रूप है, वैसे ही मुख्य अपने स्वभावोंकरके भी उसको असत्रूप मानोगे तो उसको अवस्तुपना क्यों नहीं होगा? क्योंकि परकीय स्वभावोंसे शून्य तो वस्तु थी ही और अब आपने स्वकीय मुख्य स्वभावोंसे भी रहित मान लिया है। ऐसी दशामें सम्पूर्ण स्वभावोंसे शून्य होजानेके कारण गधेके सींग समान वह अवस्तु, असत्रूप, शून्य क्यों नहीं हो जावेगी? आप कुछ न कह सकेंगे, न कर सकेंगे।

ये त्वाहुः उपचरिता एवात्मनः स्वभावभेदा न पुनर्वास्तवास्तेषां ततो भेदे तत्स्वभावानुपपत्तेः। अर्थान्तरस्वभावत्वेन सम्बन्धात्तत्स्वभावत्वेप्येकेन स्वभावेन तेन तस्य तैः सम्बन्धे सर्वेषामेकरूपतापत्तिः, नानास्वभावैः सम्बन्धेऽनवस्थानं तेषामप्यन्यैः स्वभावैः सम्बन्धात्।

यहां जो नित्य आत्मवादी ऐसा लम्बा चौडा कथन करते हैं कि आत्माके भिन्न भिन्न वे अनेक स्वभाव कल्पना किये गये ही हैं। वास्तविक नहीं है। क्योंकि उन अनेक स्वभावोंको उस एक आत्मासे भेद माननेपर उनमें उस आत्माका स्वभावपना नहीं सिद्ध होता है। जैसे कि ज्ञानसे सर्वथा भिन्न माने गये गंध, रूप आदि गुण ज्ञानके स्वभाव नहीं होते हैं। यदि आप जैन आत्माके उन भिन्न स्वभावोंका अन्य भिन्न स्वभावपने करके संबंध होजानेसे आत्माके उनको स्वभावपना मानोगे तो हम नैयायिक कहते हैं कि एक उस स्वभाव करके आत्माका उन स्वभावोंके साथ संबंध माना जावेगा, तब तो उन सर्व ही स्वभावोंको एक होजानेका प्रसंग होगा। हाथके जिस प्रयत्नसे एक अंगुली नमें उसी प्रयत्नसे दूसरी अंगुली नम जाय तो समझ लो कि वे अंगुली दो नहीं, किंतु एक ही है। यदि वे अंगुली दो हो तो निश्चय है कि दूसरा प्रयत्न कार्यको कर रहा है, एक नहीं। पेडा, गुड, चना, सुपारीको क्रमसे खानेपर यदि जबडेका उतना ही पुरुषार्थ लगा है तो समझ लो कि आपने एक ही चीज खाई है चार नहीं। और भिन्न भिन्न नाना स्वभावोंसे यदि उन भिन्न स्वभावोंके साथ आत्माका संबन्ध माना जावेगा तो अनवस्था दोष होगा। क्योंकि उन स्वभावोंके साथ संबन्ध करनेके लिये भी पुनः

तीसरे चौथे पांचवे आदि अनेक स्वभावों करके सम्बन्ध मानने पडेंगे और उन तीसरों आदिके सम्बन्धार्थ चौथे आदि अनेक स्वभाव मानने पडेंगे। पत्र (कागज) के समान गोंदका भी दूसरे गोंदसे चिपकना मानोगे तो आकांक्षा शान्त न होनेसे अनवस्था दोष हो जाता है। उन आगे आगेवाले स्वभावोंका भी अन्य अन्य चौथे, पांचमें, आदि स्वभावोंकरके सम्बन्ध होनेसे कहीं अवस्थान (रुकना) नहीं होपाता है।

मुख्यस्वभावानामुपचरितैः स्वभावैस्तावद्भिरात्मनोऽसम्बन्धे नानाकार्यकरणं नानाप्रतिभासविषयत्वं चात्मनः किमुपचरितैरेव नानास्वभावैर्न स्यात्, येन मुख्यस्वभावकल्पनं सफलमनुमन्येमहि।

अभी नित्य आत्मवादी ही कह रहे हैं कि यदि जैन लोग अनवस्थाके निवारणार्थ उन अनेक मुख्यस्वभावोंका उतनी संख्यावाले मुख्य स्वभावोंसे आत्माके साथ संबंध होना न मानेंगे, किंतु नापी गयी उतनी संख्यावाले उपचरित स्वभावोंसे ही उन मुख्य स्वभावोंका आत्मामें संबंध न होते हुए भी " ये आत्माके मुख्यस्वभाव हैं " इस प्रकारकी नियत व्यवस्था कर दी जावेगी। ऐसी दशामें आकांक्षायें न बढनेसे अनवस्था दोषका तो वारण हो गया। किंतु जैनोंका उन अनेक मुख्यस्वभावोंका मानना व्यर्थ पडेगा। जैसे मुख्यस्वभावोंको धारण करनेके लिये पुनः आत्मामें दूसरे मुख्यस्वभाव नहीं माने जाते हैं किंतु कल्पित स्वभावोंसे ही वे मुख्यस्वभाव आत्माके नियमित कर दिये जाते हैं। यदि कल्पितस्वभाव मुख्यस्वभावोंको आत्मामें नियमित करनेकी व्यवस्था कर देते हैं तो वैसे ही उन कल्पित होरहे अनेक स्वभावों करके ही आत्माके मुख्य स्वभावोंसे होनेवाले अनेक कार्योंको करना और अनेक ज्ञानोंका विषय हो जानारूप कार्य भी क्यों नहीं हो जावेंगे ? जिससे कि जैनोंके मुख्य स्वभावोंकी कल्पना करनेको हम लोग सफल विचारपूर्वक समझें। भावार्थ —जैनोंके द्वारा वास्तविक स्वभावोंकी कल्पना करना व्यर्थ ही पडा।

नानास्वभावानामात्मनोनर्थान्तरत्वे तु स्वभावा एव नात्मा कश्चिदेको भिन्नेभ्योनर्थान्तरस्यैकत्वायोगात्, आत्मैव वा न केचित्स्वभावाः स्युः, यतो नोपचरितस्वभावव्यवस्थात्मनो न भवेत्।

अभी वे ही कह रहे हैं कि आत्माके अनेक स्वभावोंको जैन लोग यदि आत्मासे अभिन्न मानेंगे तब तो वे अनेक स्वभाव ही मानने चाहिये। एक आत्मा द्रव्य कोई भी न माना जावे, क्या क्षति है ? । भिन्न अनेक स्वभावोंसे जो अभिन्न है, वह एक हो भी नहीं सकता है। भला ऐसा कौन विचारशील है जो भिन्न अनेक स्वभावोंसे एक आत्माको अभिन्न कह देवे ? । तथा दूसरी बात यह है कि स्वभावोंको आत्मासे अभिन्न माननेपर आत्मा ही एक मान लिया जावे, दूसरे कोई अनेक स्वभाव न माने जावें जिससे कि मुख्यस्वभावोंके समान आत्माके उपचरित स्वभाव भी

नहीं हैं। यह व्यवस्था नहीं होती। भावार्थ—आत्मामें न मुख्यस्वभाव हैं और उपचरित स्वभाव ही हैं। किंतु आत्मा सम्पूर्णस्वभावोंसे रहित होकर निःस्वभावरूप है। कूटस्थनित्य है।

कथञ्चिद्भेदाभेदपक्षेऽपि स्वभावानामात्मनोऽनवस्थानं तस्य निवारयितुमशक्तेः। परमार्थतः कस्यचिदेकस्य नानास्वभावस्य मेचकज्ञानस्य ग्राह्याकारवेदनस्य वा सामान्यविशेषादेर्वा प्रमाणबलाद्व्यवस्थानात्तेन व्यभिचारासम्भवादिति।

अभीतक कूटस्थ आत्मवादी ही कह रहे हैं कि जैन लोग आत्माके साथ उसके अनेक स्वभावोंका कथञ्चित् भेद और कथञ्चिद् अभेद पक्षको यदि स्वीकार करेंगे तो भी अनेक स्वभावोंका आत्मामें अवस्थान नहीं हो सकेगा। क्योंकि भेद पक्षके अंशमें अन्य स्वभावोंकी कल्पना करते करते अनवस्थान हो जावेगा। जैन लोग उसका वारण नहीं कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि अनेकान्त पक्षमें संशय, विरोध, वैयधिकरण्य, सङ्कर व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति, और अभाव ये आठ दोष आते हैं। अतः एक आत्माके अनेक स्वभावोंकी व्यवस्था करना अनेकान्त मतमें अशक्य है। यदि जैन लोग दूसरे दार्शनिकोंके स्वीकृत तत्त्वोंको दृष्टान्त मानकर अपने कथञ्चित् भेद, अभेदकी पुष्टि करेंगे, सो भी न हो सकेगी। क्योंकि हम सांख्य उन दृष्टान्तोंकी प्रमाणोंके द्वारा व्यवस्थिति होना नहीं मानते हैं। चित्राद्वैतवादी बौद्धोंने नीलाकार, पीताकार, हरिताकार आदिक अनेक आकारोंवाला एक चित्रज्ञान माना है। वह एक होकर अनेक स्वभाववाला है। किन्तु वे इसकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं कर सके हैं। क्योंकि उनका अशक्यविवेचनत्व हेतु हेत्वाभास है। इसका विचार आप जैनोंने ही पहिले प्रकरणमें कर दिया है। तथा एक ज्ञानमें ग्राह्य अंश ग्राहक अंश और संवित्ति अंश ये तीन अंश मानना भी प्रमाणसिद्ध नहीं हैं। एवं नैयायिकोंने व्यापक सत्ता जातिको परसामान्य माना है और पृथिवीत्व, घटत्व आदिको विशेषरूपसे व्याप्य अपरसामान्य कहा है। किन्तु मध्यवर्ती द्रव्यत्व, गुणत्वको सामान्यका विशेष माना है। घटत्व, पटत्वको विशेष (व्याप्य) सामान्य कहा जावे तो द्रव्यत्व व्यापक सामान्यके और घटत्व, पटत्व विशेष सामान्यके मंझले पृथिवीत्व, जलत्व आदिको भी सामन्यका विशेष माना है। भावार्थ—द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि जैसे सामान्य होकर भी विशेषरूप हैं, वैसे ही कथञ्चित् भेदाभेदको हम जैन मानलेते हैं। सो यह भी दृष्टान्त प्रामाणिक नहीं है। क्योंकि जातियोंके पक्षमें नैयायियोंका मन्तव्य वैसा ही निर्बल है। ऐसे ही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणस्वरूप एक प्रकृतितत्त्व या नर्त्तकी आदि दृष्टान्तोंसे भी तुम्हारे अनेकांतकी सिद्धि नहीं होसकती है। अतः एक आत्माके नाना स्वभावोंसे रहित सिद्ध करनेके लिये दिये गये हमारे मुख्यरूपसे एकत्व हेतुका उन अनेक स्वभावरूप एक मेचकज्ञान (चित्रज्ञान) आदिसे व्यभिचार होना कैसे भी नहीं सम्भव है। इस प्रकार यहांतक कूटस्थ आत्मवादी कहचुके, अब आचार्य महाराज कहते हैं कि—

तेप्यनेनैव प्रतिक्षिप्ताः, स्वयमिष्टानिष्टस्वभावाभ्यां सदसत्त्वस्वभावसिद्धेरप्रतिबंधात्। न च कस्यचिदुपचरिते सदसत्त्वे तत्त्वतोऽनुभयत्वस्य प्रसक्तेः। तच्चायुक्तं, सर्वथा व्याघातात्।

इस प्रकार आत्माको सर्वथा नित्य कहनेवाले वे भी हमारे पूर्वोक्त कथनके द्वारा ही तिरस्कृत (खण्डित) कर दिये जाते हैं। क्योंकि अपने लिये स्वयं इष्ट माने गये स्वभाव करके आत्माको सत्स्वभाव माना जावेगा और अपने लिये अनिष्ट कहे गये स्वभावके द्वारा उसी आत्माके असत्-पनेकी सिद्धि की जावेगी तो एक आत्मामें सत् और असत् ऐसे दो स्वभावोंकी सिद्धि होनेका कोई प्रतिबंध नहीं हैं। अन्यथा कूटस्थवादी अपनी आत्माको ही सिद्ध न कर पावेंगे। किसी वस्तुके केवल उपचारसे माने गये सत्त्व और असत्व स्वभाव कुछ कार्यकारी नहीं होते हैं। यदि मुख्यरूपसे सत्त्व और असत्व न माने जावेंगे तो वस्तुमें यथार्थरूपसे अनुभयपनेका प्रसंग आता है और वह तो अयुक्त है। कोरा अनुभयपना तो खरविषाण आदि असत् पदार्थोंमें माना गया है। वस्तुमें सत् और असत्का निषेध कर सर्वथा अनुभयपना आप सिद्ध नहीं कर सकते हैं। क्योंकि इसमें व्याघात दोष है जिस समय सत् स्वभावका निषेध करने बैठोगे, उसी समय असत् स्वभावका विधान हो जावेगा और जिसी समय असत् स्वभावका निषेध किया जावेगा, उसी क्षणमें सत् स्वभावके विधिकी उपस्थिति हो जावेगी। युगपद दोनों स्वभावोंका निषेध कभी नहीं हो सकता है। जो चुप है, वह चिल्लाकर अपने मौनव्रतका वखान नहीं करता है और जो हल्ला करके अपने मौनी-पनेका ढिंढोरा पीट रहा है, वह उस समय चुप नहीं है। चुप रहकर मौन व्रतको चिल्लाकर कहना एक समयमें बन नहीं सकता है। इस प्रकार सर्वथा अनुभयपक्ष माननेमें यह व्याघात दोष आता है।

कथञ्चिदनुभयत्वं तु वस्तुनो नोभयस्वभावतां विरुणद्धि, कथं वानुभयरूपतया तत्त्वं तदन्यरूपतया चातत्त्वमिति ब्रुवाणः कस्यचिदुभयरूपतां प्रतिक्षिपेत्।

हां! यदि आप किसी अपेक्षासे सत्, असत्का निषेध करनारूप अनुभय पक्ष लेंगे, तब तो वह कथञ्चित् अनुभयपना वस्तुके उभय स्वभावपनेका विरोध नहीं करता है, जैसे सर्वथा सत्का सर्वथा असत्से विरोध है। किंतु कथञ्चित्स्वरूप सत्का कथञ्चित् पररूप असत्से विरोध नहीं है। ऐसे ही सर्वथा अनुभयका सर्वथा उभयसे विरोध है, किंतु कथञ्चित् अनुभयपनेका कथ-ञ्चित् उभयपनेसे विरोध नहीं है। दूसरी बात यह है कि जो कूटस्थवादी सत् असत् स्वभावोंसे रहित अनुभयरूपपनेसे आत्मतत्त्वको मानरहा है, वह भी अनुभय स्वभावसे तत्त्वपना और उससे अन्य उभय, सत्त्व, आदि स्वभावोंसे आत्माको अतत्त्वपना अवश्य कहरहा है। ऐसा कहनेवाला किसी भी वस्तुकी उभयरूपताका भला कैसे खण्डन करसकता है? क्योंकि स्वयं उसने उभयरूप-ताको अपनी गोदमें ले रखा है।

न सन्नाप्यसन्नोभयं नानुभयमन्यद्वा वस्तु, किं तर्हि ? वस्त्वेव सकलोपाधिरहितत्वात्तथा वक्तुमशक्तेरवाच्यमेवेति चेत्, कथं वस्त्वित्युच्यते ? सकलोपाधिरहितमवाच्यं वा ? वस्त्वादिशब्दानामपि तत्राप्रवृत्तेः ।

यहां कोई एकांतरूपसे वस्तुको अवक्तव्य कहनेवाला बौद्ध अपना मत यों कह रहा है कि वस्तु सत्‌रूप भी नहीं है और असत्‌रूप भी नहीं है तथा सत् असत्‌का उभयरूप भी नहीं है। एवं सत् असत् दोनोंका युगपत् निषेधरूप अनुभय स्वरूप भी नहीं हैं अथवा अन्य धर्म या धर्मीरूप भी नहीं हैं। तब तो कैसी ? क्या वस्तु है ? इसपर हम बौद्धोंका यह कहना है कि वह वस्तु वस्तु ही है। संपूर्ण विशेषण और स्वभावोंसे रहित होनेके कारण जिस तिस प्रकारसे वस्तुको कहनेके लिये कोई समर्थ नहीं है। वस्तु किसी शब्दके द्वारा नहीं कही जाती है। कोई भी शब्द वस्तुको स्पर्श नहीं करता है, अतः वस्तु अवाच्य ही है। यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो हम जैन पूंछते हैं कि वस्तु सर्वथा ही अवाच्य है तो " वस्तु " इस शब्दके द्वारा भी वह कैसे कही जा सकेगी ? और वह सम्पूर्ण स्वभावोंसे रहित है। अवाच्य है, आदि इन विशेषणोंका प्रयोग भी वस्तुमें कैसे लागू होगा ? बताओ। तथा अवाच्य इस शब्दसे भी वस्तुका निरूपण कैसे कर सकोगे ? क्योंकि सर्वथा अवाच्य माननेपर तो वस्तु, अवाच्य, स्वभावरहित, सत् नहीं, उभय नहीं है, आदि शब्दोंकी भी प्रवृत्ति होना वहां वस्तुमें नहीं घटित होता है।

सत्यामपि वचनागोचरतायामात्मादितत्त्वस्योपलभ्यताभ्युपेया। सा च स्वरूपेणास्ति न पररूपेणेति सदसदात्मकत्वमायातं तस्य तथोपलभ्यत्वात्। न च सदसत्त्वादिधर्मैरप्यनुपलभ्यं वस्त्विति शक्यं प्रत्येतुं खरशृंगादेरपि वस्तुत्वप्रसंगात्।

आत्मा, स्वलक्षण, विज्ञान, आदि तत्त्वोंको वचनोंके द्वारा अवाच्य माननेपर भी वे जानने योग्य स्वभाववाले हैं, यह तो बौद्धोंको अवश्य ही मानना चाहिये। अन्यथा उनका जगत्‌में सद्भाव ही न हो सकेगा। ज्ञानके द्वारा ही ज्ञेयोंकी व्यवस्था होना सब ही ने इष्ट की है। ऐसी प्रमेय हो जानेकी दशामें आत्मा आदि तत्त्व अपने अपने स्वभावोंसे ही जाने जावेंगे। ज्ञानको बहिरंग स्वलक्षण रूपसे नहीं जाना जा सकता है। और ऐसा निर्णय हो जानेपर वह आत्मा आदि तत्त्वोंकी जाने-गयेपनकी योग्यता अपने स्वरूपसे हैं और दूसरे पदार्थोंके स्वरूपसे नहीं है। इस प्रकार आपके मंतव्यसे भी सदात्मक और असदात्मक तत्त्व मानना आया। क्योंकि उन आत्मा आदि तत्त्वोंका तिस ही प्रकारसे जानागयापन सिद्ध होता है। सत्त्व, असत्त्व, उभय और अनुभय तथा अन्य स्वकीय स्वभावोंसे भी जो जानने योग्य नहीं है, वह वस्तु है। ऐसा भी नहीं प्रतीत किया जा सकता है। क्योंकि सम्पूर्ण धर्मोंसे रहितको भी यदि वस्तु समझ लिया जावेगा तो खरविषाण, वंध्यापुत्र, आदिको भी वस्तुपना निर्णीत किये जानेका प्रसंग होगा। जो कि बौद्धोंको इष्ट नहीं है।

धर्मधर्मिरूपतयानुपलभ्यं स्वरूपेणोपलभ्यं वस्त्विति चेत्, यथोपलभ्यं तथा सत् यथा चानुपलभ्यं तथा तदसदिति । तदेवं सदसदात्मकत्वं सुदूरमप्यनुसृत्य तस्य प्रतिक्षेप्तुमशक्तेः । ततः सदसत्वस्वभावौ पारमार्थिकौ क्वचिदिच्छताऽनन्तस्वभावाः प्रतीयमानास्तथात्मनोभ्युपगन्तव्याः ।

बौद्ध कहते हैं कि धर्म और धर्मी तथा कार्य और कारण एवं आधार आधेय इत्यादि स्वभावों करके वस्तु नहीं देखी जाती है। देखने योग्य भी नहीं है। हां ! अपने स्वलक्षण स्वरूपसे तो वह वस्तु जानने योग्य है ही। अतः जैनोंका दिया दोष हमारे ऊपर लागू नहीं होता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तब तो बलात्कारसे उनको अनेकांतकी शरण लेनी पडी। क्योंकि जिस स्वरूप करके जिस ढंगसे वस्तु उपलभ्य है, उस प्रकारसे वह सत्रूप है और जिन परकीय स्वभावोंकरके वस्तु नहीं जानी जा रही है, उन प्रकारोंसे वह असत्रूप है। इस प्रकार दोनों बातें सिद्ध हो गयी। इस कारण बहुत दूर भी जाकर विलम्बसे आप बौद्धोंको इस प्रकार स्याद्वादमतका अनुसरण करना पडा। उस वस्तुके सदात्मक और असदात्मकपनाका आप खण्डन नहीं कर सकते हैं। इस कारणसे किसी भी स्वलक्षण या. ज्ञानमें सत् और असत् स्वभावोंको वस्तुभूत मानना चाहते हो तो आत्माके उसी प्रकार प्रमाणोंसे भले प्रकार जाने जा रहे अनन्त स्वभाव भी वस्तुभूत स्वीकार कर लेने चाहिए। विना स्वभावोंके वस्तु ठहर ही नहीं सकती है। वस्तुत्व भी तो एक स्वभाव ही है। वैसे ही आत्माके आत्मत्व, ज्ञान, इच्छा, क्रोध, अस्तित्व, अवाच्यत्त्व, ज्ञेयत्व, बद्धत्व, मुक्तत्व, कर्तृत्व, भोक्तापन, बालत्व, कुमारत्व आदि अनंत स्वभाव हैं।

तेषां च क्रमतो विनाशोत्पादौ तस्यैवेति सिद्धं त्र्यात्मकत्वमात्मनो गुणासम्बन्धेतररूपाभ्यां नाशोत्पादव्यवस्थानादात्मत्वेन ध्रौव्यत्वसिद्धेः ।

तथा आत्मामें प्रतिक्षण अनेक स्वभावोंका उत्पाद होता है और अनेक स्वभावोंका नाश होता रहता है। उन स्वभावोंका क्रमसे उत्पाद और विनाश होना उस आत्माका ही किसी अपेक्षासे उत्पाद विनाश होजाना है। क्योंकि वे स्वभाव आत्मासे कथञ्चित् अभिन्न है। इस कारण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, ये तीन आत्माके तदात्मक धर्म सिद्ध हो जाते हैं। पहिले प्रकरणका संकोच करते हैं कि आत्मामें सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके उत्पन्न हो जानेपर पहिली गुणोंसे असम्बन्धित अवस्थाका नाश हुआ तथा नवीन गुणोंके संबंधीपने इस दूसरे स्वरूपसे आत्माका उत्पाद हुआ और चैतन्यस्वरूप आत्मापने करके ध्रुवपना सिद्ध है। यही आत्मामें त्रिलक्षणपना व्यवस्थित हो रहा है।

ततोपि विभ्यता नात्मनो भिन्नेन गुणेन सम्बन्धोभिमन्तव्यो न चासंबद्धस्तस्यैव गुणो व्यवस्थापयितुं शक्यो, यतः " सम्बन्धादिति हेतुः स्यादि "ति सूक्तं नित्यैकांते नात्मा हि बंधमोक्षादिकार्यस्य कारणमित्यनवस्थानात् ।

यदि कूटस्थ नित्य आत्माको कहनेवाले वादी आत्माको अनित्य हो जानेके प्रसंगकी आपत्तिकी कल्पना कर आत्माके उस त्रिलक्षणपनेसे भी डरते हैं, तो वे नैयायिक, वैशेषिक विचारे आत्मासे सर्वथा भिन्न माने गये गुणके साथ आत्माका सम्बन्ध होना कैसे भी नहीं स्वीकार कर सकते हैं। जो गुण आत्मासे सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ है, वह असंबद्ध गुण उस आत्माका ही है, यह व्यवस्था भी तो नहीं की जा सकती है, जिससे कि समवाय संबंध हो जानेसे वे गुण विवक्षित आत्माके नियत कर दिये जाते हैं। इस प्रकार उनका पूर्वोक्त हेतु मान लिया जाता। क्योंकि समवायसंबंध तो ज्ञानको आकाशमें जोड देनेके लिये भी वैसा ही है। वह तो एक ही है। इस कारण हम जैनोंने पहिले एक सौ सत्रहवीं कारिकामें बहुत अच्छा कहा था कि कूटस्थ नित्यका एकांत पक्ष लेनेपर आत्मा बंध, मोक्ष, तत्त्वज्ञान, दीक्षा आदि कार्योंका कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्वोक्त प्रकारसे अनवस्था हो जाती है। भिन्न कहे गये गुणोंका समवायसंबंध और भिन्न माने गये समवायका भिन्न हो रहा स्वरूपसंबंध आदि संबंध कल्पना करते करते अनवस्था है और त्रिलक्षण माने विना आपके कूटस्थ नित्य स्वीकार किये गये आत्माकी अवस्थिति (सिद्धि) भी नहीं हो सकती है।

क्षणक्षयेऽपि नैवास्ति कार्यकारणताञ्जसा।
कस्यचित्कचिदत्यन्ताव्यापाराद्चलात्मवत् ॥ १२४ ॥

कूटस्थ नित्यके समान एक क्षणमें ही नष्ट होनेवाले आत्मामें भी निर्दोष रूपसे झट कार्यकारण भाव नहीं बनता है। क्योंकि एक ही क्षणमें नष्ट होनेवाले किसी भी पदार्थका किसी भी एक कार्यमें व्यापार करना अत्यन्त असम्भव है। पहिले क्षणमें आत्मलाभकर दूसरे क्षणमें ही कोई कारण किसी कार्यमें सहायता करता है। किन्तु जो आत्मलाभ करते ही मृत्युके मुखमें पहुंच जाता है, उसको कार्य करनेका अवसर कहां? अतः कूटस्थ निश्चल नित्य कारणसे विपरिणाम होनेके विना जैसे अर्थक्रिया नहीं होने पाती है, वैसे ही क्षणिक कारण भी किसी अर्थक्रियाको नहीं कर सकता है।

क्षणिकाः सर्वे संस्काराः स्थिराणां कुतः क्रियेति निर्व्यापारतायां क्षणक्षयैकान्ते भूतिरेव क्रियाकारकव्यवहारभागिति ब्रुवाणः कथमचलात्मनि निर्व्यापारेपि सर्वथा भूतिरेव क्रियाकारकव्यवहारमनुसरतीति प्रतिक्षिपेत्।

बौद्ध कहता है कि रूपस्कंध, वेदनास्कंध, विज्ञानस्कंध, संज्ञास्कंध और संस्कारस्कंध ये सबके सब संस्कार क्षणिक हैं। भला जो कूटस्थ स्थिर हैं, उनके अर्थक्रिया कैसे हो सकती है? इस प्रकार अनेक, समुदाय, साधारणता, मरकर उत्पन्न होना, प्रत्यभिज्ञान कराना, अन्वित करना आदि व्यापारोंसे रहित होनेपर भी सर्वथा निरन्वय क्षणिकके एकांतपक्षमें उत्पन्न होना ही क्रिया है

और क्षणिक पदार्थको उसका कारण कह लो। इसके अतिरिक्त वास्तविक कार्यकारणभाव कोई पदार्थ नहीं है। असत् पदार्थकी उत्पत्ति होजाना ही क्रिया, कारकके लौकिक व्यवहारको धारण करती है, इस प्रकार कहनेवाला बौद्ध उन सांख्योंके माने गये " सर्व व्यापारोंसे रहित कूटस्थ आत्मामें भी सर्व प्रकारोंसे विद्यमान रहनारूप भूति ही क्रियाकारकव्यवहारका अनुसरण करती है " इस सांख्य सिद्धांतका कैसे खण्डन कर सकेगा? बताओ तो सही। भावार्थ—आप दोनों ही मुख्यरूपसे तो कार्यकारणभाव मानते नहीं हैं। केवल व्यवहारसे असत् की उत्पत्ति और सत्का विद्यमान रहना रूप भूतिको पकडे हुए हैं। ऐसी दशामें कल्पित किये गये कार्यकारणभावसे आप दोनोंके यहां बंध, मोक्ष आदि व्यवस्था नहीं बनसकती है।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यो यस्य दृष्टोनुवर्तकः।
स तद्धेतुरिति न्यायस्तदेकान्ते न सम्भवी ॥ १२५ ॥

जो कार्य जिस कारणके अन्वयव्यतिरेकभावसे अनुकूल आचरण करता हुआ देखा गया है, वह कार्य उस कारणसे जन्य है। इस प्रकार प्रमाणोंके द्वारा परीक्षित किया गया न्याययुक्त कार्य-कारणभाव उनके एकांतपक्षोंमें नहीं सम्भव है। क्योंकि जो परिणामी और कालांतरस्थायी होगा, वही अन्वयव्यतिरेकको धारण कर सकता है। कूटस्थ नित्य या क्षणिक पदार्थ नहीं।

नित्यैकान्ते नास्ति कार्यकारणभावोऽन्वयव्यतिरेकाभावात्, न हि कस्यचिन्नित्यस्य सद्भावोऽन्वयः सर्वनित्यान्वयप्रसंगात्। प्रकृतनित्यसद्भाव इव तदन्यनित्यसद्भावेऽपि भावात्, सर्वथाविशेषाभावात्।

पदार्थोंके नित्यत्वका एकांत हठ मान लेनेपर कार्यकारणभाव नहीं बनता है। क्योंकि कार्य-कारणभावका व्यापक अन्वयव्यतिरेक वहां नहीं है। व्यापकके अभावमें व्याप्य नहीं ठहर सकता है। कार्यके होते समय किसी भी एक नित्यकारणका वहां विद्यमान रहना ही अन्वय नहीं है। यों तो सभी नित्य पदार्थोंके साथ उस कार्यका अन्वय बन बैठेगा। ज्ञान कार्यके होनेपर जैसे आत्मा नित्य कारणका पहिलेसे विद्यमान रहना है, वैसे ही आकाश, परमाणु, काल, आदिका भी सद्भाव है। अतः प्रकरणमें पडे हुए नित्य आत्माके सद्भाव होनेपर जैसे ज्ञानका होना माना जाता है वैसे ही उस आत्मासे अन्य माने गये आकाश आदि नित्य पदार्थोंके होनेपर भी ज्ञान कार्यका होना माना जावे। आकाश, काल आदिसे आत्मारूप कारणमें सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है।

नापि व्यतिरेकः शाश्वतस्य तदसम्भवात्। देशव्यतिरेकः सम्भवतीति चेत्, न, तस्य व्यतिरेकत्वेन नियमयितुमशक्तेः, । प्रकृतदेशे विवक्षितासर्वगतनित्यव्यतिरेकवदविव-क्षितासर्वगतनित्यव्यतिरेकस्यापि सिद्धेः तथापि कस्यचिदन्वयव्यतिरेकसिद्धौ सर्वनित्या-न्वयव्यतिरेकसिद्धिप्रसंगात्, किं कस्य कार्यं स्यात्?।

और सर्वथा नित्य माने गये पदार्थका कार्यके साथ व्यतिरेक भी नहीं बन सकता है। क्योंकि सर्वदा रहनेवाले कारणका " जब कारण नहीं हैं तब कार्य नहीं है " ऐसा वह व्यतिरेक बनना सम्भव नहीं है। यदि आप यों कहें कि नित्य पदार्थोंका कालव्यतिरेक न सही, किन्तु देशव्यतिरेक तो भले प्रकार बन जावेगा अर्थात् जिस देशमें नित्य कारण नहीं हैं, उस देशमें उसका कार्य भी उत्पन्न नहीं होपाता है, यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि वास्तवमें विचारा जावे तो काल व्यतिरेकको ही व्यतिरेकपना है। उस देशव्यतिरेकको व्यतिरेकपनेकरके नियम करना नहीं हो सकता है। कुलाल या दण्ड जिस देशमें रहते हैं, उसी देशमें घट उत्पन्न नहीं होता है। कोरिया जहां बैठा है, उसी स्थानपर कपडा नहीं बुना जारहा है। दूसरी बात यह है कि आपके मतानुसार माने गये आत्मा, आकाश आदि व्यापक द्रव्योंका देशव्यतिरेक बनता भी नहीं है। यदि अव्यापक द्रव्योंका देशव्यतिरेक बनाओगे तो प्रकरणमें पडे हुए कार्यदेशमें विवक्षाको प्राप्त हुए किसी अव्यापक नित्य द्रव्यका जैसे देशव्यतिरेक बनाया जा रहा है, वैसे ही विवक्षामें नहीं पडे हुए दूसरे अव्यापक नित्य पदार्थका भी देशव्यतिरेक सिद्ध हो जावेगा। भावार्थ—जैसे पार्थिव परमाणुओंके न रहनेसे घट नहीं बनता है वैसे यों भी कह सकते हैं कि जलीय परमाणु या मनके न रहनेसे घट नहीं बना है। इसका नियम कौन करेगा कि घटका पृथ्वी परमाणुओंके साथ देशव्यतिरेक है, जलीयपरमाणु, तैजसपरमाणु, मन, आदिके साथ नहीं है। जो पदार्थ वहां कार्यदेशमें नहीं है उन सबका अभाव वहां एकसा पडा हुआ है। तैसा होनेपर भी किसी एक विवक्षित नित्य कारणके साथ ही प्रकृत कार्यका मनमाना अन्वयव्यतिरेकभाव सिद्ध करोगे तो सर्व ही नित्य पदार्थोंके साथ अन्वयव्यतिरेक भावकी सिद्धि हो जानेका प्रसंग होगा। कहो जी! ऐसी दशामें कौन किस कारणका कार्य हो सकेगा? अव्यवस्था हो जावेगी। उस कार्यके कारणोंका निर्णय न हो सकेगा।

ततोऽचलात्मनोन्वयव्यतिरेकौ निवर्तमानौ स्वव्याप्यां कार्यकारणतां निवर्तयतः तदुक्तं—" अन्वयव्यतिरेकाद्यो यस्य दृष्टोनुवर्तकः, स भावस्तस्य तद्धेतुरतो भिन्नान्न सम्भवः " इति, न चायं न्यायस्तत्र सम्भवतीति नित्ये यदि कार्यकारणताप्रतिक्षेपस्तदा क्षणिकेपि तदसम्भवस्याविशेषात्।

उस कारणसे सिद्ध होता है कि कूटस्थ नित्य आत्मासे अन्वयव्यतिरेक दोनों निवृत्त होते हुए अपने व्याप्य होरहे कार्यकारणभावको भी निवृत्त कर देते हैं। सो ही इस प्रकार अन्यत्र कहा है कि जो कार्य जिस कारणका अन्वयव्यतिरेक रूपसे अनुसरण करता हुआ देखा गया है, वह पदार्थ उस कार्यका उस रूपसे कारण हो जाता है। इस कारण जो सर्वथा भिन्न है अर्थात् अपने कतिपय स्वभावोंसे कार्यरूप परिणत या सहायक नहीं होता है, उस कारणसे उस कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। किंतु यह अन्वयव्यतिरेकरूप न्याय वहां सर्वथा नित्यमें नहीं सम्भवता है। इस कारण यदि कूटस्थनित्यमें कार्यकारणभावका बौद्ध लोग खण्डन करते हैं, तब तो उनके एकान्त रूपसे

माने गये क्षणिक पदार्थमें भी अन्वयव्यतिरेक न होनेसे उस कार्यकारणभावका नहीं हो सकना एकसा है । भावार्थ—क्षणिक और नित्यमें कार्य न कर सकनेकी अपेक्षासे कोई अन्तर नहीं है ।

तत्र हेतावसत्येव कार्योत्पादेऽन्वयः कुतः ।
व्यतिरेकश्च संवृत्या तौ चेत् किं पारमार्थिकम् ॥ १२६ ॥

बौद्धोंके माने गये क्षणिक एकांतमें तो पूर्वक्षणवर्ती हेतुके न रहनेपर ही कार्यका उत्पाद होना माना गया है । भला ऐसी दशामें अन्वय कैसे बनेगा ? हेतुके होनेपर कार्यके होनेको अन्वय कहते हैं । किंतु बौद्धोंने हेतुके नाश होनेपर कार्य होना माना है यह तो अन्वय बनानेका ढंग नहीं है । और बौद्धोंके यहां व्यतिरेक भी नहीं बन सकता है । क्योंकि कार्यकालमें असंख्य अभाव पड़े हुए हैं । न जाने किसके अभाव होनेसे वर्तमानमें कार्य नहीं हो रहा है । यदि वास्तविक रूपसे कार्यकारणभाव न मानकर कल्पितव्यवहारसे उन अन्वयव्यतिरेकोंको मानोगे तब तो आपके यहां वास्तविक पदार्थ क्या हो सकेगा ? बताओ । अर्थात् जिसके यहां वस्तुभूत कार्यकारणभाव नहीं माना गया है, उसके यहां कोई पदार्थ ठीक न बनेगा । स्याद्वाद सिद्धांतमें सर्व पदार्थोंको परिणामी माना है । अतः सभी अर्थ कार्य और कारण हैं, किंतु नैयायिक या वैशेषिकोंने भी सभी पदार्थोंमेंसे किन्हींको कारणतावच्छेदक धर्मोंसे अवच्छिन्न स्वरूपसे और कितनोंको कार्यतावच्छेदक धर्मोंसे अवच्छिन्न होते हुए ही सत् पदार्थ माना है । किंतु बौद्धोंके यहां वस्तुभूत पदार्थोंकी व्यवस्था नहीं बन पाती है ।

न हि क्षणक्षयैकांते सत्येव कारणे कार्यस्योत्पादः सम्भवति, कार्यकारणयोरेककालानुषंगात् । कारणस्यैकस्मिन् क्षणे जातस्य कार्यकालेऽपि सत्त्वे क्षणभंगभंगप्रसंगाच्च । सर्वथा तु विनष्टे कारणे कार्यस्योत्पादे कथमन्वयो नाम चिरतरविनष्टान्वयवत् । तत एव व्यतिरेकाभावः कारणाभावे कार्यस्याभावाभावात् ।

एक क्षणमें पैदा होकर दूसरे क्षणमें पदार्थ नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार क्षणिकपनेके एकान्तमें कारणके होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होना यह अन्वय नहीं सम्भव है । क्योंकि यों तो पहिले पीछे होनेवाले कारण और कार्योंको एक ही कालमें रहनेका प्रसंग आता है और यदि पहिले एक समयमें उत्पन्न हो चुके कारणको उत्तरवर्ती कार्यके समयमें भी विद्यमान मानोगे तो आपके क्षणिकपनेके सिद्धान्तका भंग होजानेका प्रसङ्ग आजावेगा । यदि क्षणिकत्वकी रक्षा करोगे तब तो सभी प्रकारसे कारणके नष्ट हो जानेपर कार्यका उत्पाद माना गया । ऐसी अवस्थामें भला अन्वय कैसे बन सकेगा ? बताओ ? । जैसे कि बहुतकाल पहिले नष्ट हो चुके पदार्थके साथ वर्तमान कार्यका अन्वय नहीं बनता है, वैसे एक क्षण पूर्वमें नष्ट होगये कारणके साथ भी अन्वय न बनेगा । दूसरे आपके यहां उस ही कारणसे व्यतिरेक भी नहीं बनता है । क्योंकि कारणके अभाव होनेपर कार्यका अभाव होजाना नहीं होता है । प्रत्युत कारणके नष्ट हो जानेपर ही तुम्हारे यहां कार्य होना माना जाता है ।

स्यान्मतं, स्वकाले सति कारणे कार्यस्य स्वसमये प्रादुर्भावोऽन्वयो असति वाऽभवनं व्यतिरेको न पुनः कारणकाले तस्य भवनमन्वयोऽन्यदात्वभवनं व्यतिरेकः। सर्वथाप्यभिन्नदेशयोः कार्यकारणभावोपगमे कुतोऽग्निधूमादीनां कार्यकारणभावो ? भिन्नदेशतयोपलम्भात्। भिन्नदेशयोस्तु कार्यकारणभावे भिन्नकालयोः स कथं प्रतिक्षिप्यते येनान्वयव्यतिरेकौ तादृशौ न स्याताम्।

सम्भवतः बौद्धोंका यह मत भी होवे कि अन्वयव्यतिरेक भावके लिये कार्य और कारणका समानदेश तथा समानकाल होनेका कोई नियम नहीं है। कारणका अपने कालमें रहना होनेपर कार्यका अपने उचित कालमें प्रकट होजाना तो अन्वय है और अपने कालमें कारणके न होनेपर कार्यका स्वकीय कालमें नहीं पैदा होना ही व्यतिरेक है। किन्तु फिर कारणके समयमें उस कार्यका होना यह अन्वय नहीं है तथा जिस समय कारण नहीं है, उस समय कार्य भी नहीं उपज रहा है, वह व्यतिरेक भाव भी नहीं है। इसी प्रकार कारणके देशमें कार्यका होना और जिस देशमें कारण नहीं है, वहां कार्य न होना, यह अभिन्नदेशता भी कार्यकारणभावमें उपयोगी नहीं है। सर्व ही प्रकारसे अभिन्नदेशवालोंका यदि कार्यकारणभाव स्वीकार किया जावेगा तो अग्नि और धूम तथा कुलाल और घटका कार्यकारणभाव कैसे हो सकेगा ? क्योंकि अग्नि तो चूल्हेमें है और धुएंकी पंक्ति गृहके ऊपर दीखती है। ऐसे ही कुलाल और घटके देशमें भी एक हाथका अन्तर है। यों भिन्न भिन्न देशोंमें वर्तरहे पदार्थोंमें कार्यकारणभाव दीख-रहा है। कहीं कहीं तो कार्यकारणभावमें असंख्य योजनोंका अन्तर पडजाना आप जैनोंने भी माना है। दूरवर्ती सूर्य कमलोंको विकसित करता है। कहां भगवान्‌का जन्म और कहां देवोंके स्थानोंमें सिंहनाद घण्टा बजना तथा नारकियोंको भी थोडी देरतक दुःखवेदन न होना। एवं यहां बैठे हुए जीवोंका पुण्यपाप न जाने कहां कहां अनेक पदार्थोंमें परिणाम करा रहा है। इस कारण भिन्न देशपनेसे भी कार्यकारणभाव देखा जाता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न देशवाले पदार्थोंका भी यदि कार्यकारणभाव स्वीकार किया जावेगा तो भिन्न भिन्न कालवाले पदार्थोंका कार्यकारणभाव होना आप जैन कैसे खण्डित करते हैं। जिससे कि क्षणिक माने गये भिन्न कालवाले पदार्थोंमें वैसे अन्वय व्यतिरेक न बने। भावार्थ—भिन्न कालवालोंके भी अन्वय व्यतिरेक बननेमें कोई क्षति नहीं है।

कारणत्वेनानभिमतेऽप्यर्थे स्वकाले सति कस्यचित्स्वकाले भवनमसति वाऽभवनमन्वयो व्यतिरेकश्च स्यादित्यपि न मन्तव्यमन्यत्र समानत्वात्। कारणत्वेनानभिमतेऽर्थे स्वदेशे सति सर्वस्य स्वदेशे भवनमन्वयो असति वाऽभवनं व्यतिरेक इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। स्वयोग्यताविशेषात्कयोश्चिदेवार्थयोर्भिन्नदेशयोरन्वयव्यतिरेकनियमात्कार्यकारणनियमपरिकल्पनायां भिन्नकालयोरपि स किं न भवेत्तत एव सर्वथा विशेषाभावात्।

अभी तक बौद्धोंका ही मत चल रहा है। कारणपनेसे नहीं भी स्वीकार किये गये अर्थके अपने कालमें होनेपर चाहे किसी भी कार्यका अपने कालमें हो जाना और उस तटस्थ कारणके न होनेपर न होना, ऐसा अन्वय और व्यतिरेक भी बन बैठेगा। तब तो चाहे कोई भी चाहे जिस किसीका कारण बन जावेगा। कोई व्यवस्था न रहेगी। इस प्रकार जैनोंकी ओरसे किया गया कटाक्ष भी नहीं माना जावेगा। क्योंकि आप जैनोंके माने हुए उस दूसरे देशव्यतिरेकमें भी यही अव्यवस्था समानरूपसे होगी। कार्यकारणभावमें भिन्नदेशवृत्तिका मानना तो आपको आवश्यक है ही। तब हम भी यह कह सकते हैं कि कारणपने करके नहीं माने गये पदार्थके अपने देशमें रहनेपर सर्व ही कार्योंका अपने अपने देशमें उत्पन्न होना अन्वय है और अनिच्छित कारणके न होनेपर विवक्षित कार्योंका वहां न होना व्यतिरेक है। तथा च भिन्न भिन्न कालवाले कार्यकारणोंमें अन्वयव्यतिरेक बनाने पर हमारे ऊपर चाहे जिस तटस्थ पदार्थको कारणपना प्राप्त हो जावेगा, यह आप जैन अतिप्रसङ्ग देते हैं। उसी प्रकार भिन्न भिन्न देशवाले कार्यकारणोंमें अन्वय व्यतिरेक बनानेपर आपके ऊपर भी हम सौगत यह अतिप्रसंग दोष कह सकते हैं कि चाहे जिस किसी भी भिन्न देशमें पड़ा हुआ उदासीन पदार्थ जिस किसी भी कार्यका कारण बन बैठेगा। यदि आप जैन परिशेषमें यह कल्पना करेंगे कि कोई कोई ही कारण, कार्यरूप अर्थ दोनों भिन्नदेशवाले भी होकर अपनी अपनी विशेष योग्यताके बलसे अन्वय व्यतिरेक नियमके अनुसार कार्यकारणभावके नियमको धारण करते हैं, सभी भिन्न देशवालोंको या चाहे जिस किसीको कारणपनेकी योग्यता नहीं है, तब तो हम बौद्धोंके यहां भी उस ही कारण भिन्न भिन्न कालवाले किन्हीं ही विवक्षित पदार्थोंका अन्वय व्यतिरेक हो जानेसे कार्यकारणभावका वह नियम क्यों न हो जावे ? । भिन्न कालवाले चाहे जिस किसीके साथ कार्यकारणभाव नहीं है। योग्यके ही साथ है। आपके भिन्न भिन्न देशवालोंमें कार्यकारणभाव माननेसे हमारे भिन्न कालवालोंका कार्यकारणभाव मानना सभी प्रकारोंसे एकसा है। कोई अन्तर नहीं है।

तदेतदप्यविचारितरम्यम्। तन्मते योग्यताप्रतिनियमस्य विचार्यमाणस्यायोगात्। योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्तिः, कार्यस्य च कारणजन्यत्वशक्तिस्तस्याः प्रतिनियमः, शालिबीजाङ्कुरयोश्च भिन्नकालत्वाविशेषेपि शालिबीजस्यैव शाल्यङ्कुरजनने शक्तिर्न यवबीजस्य, तस्य यवाङ्कुरजनने न शालिबीजस्येति कथ्यते।

अब आचार्य कहते हैं कि वहांसे लेकर यहां तक बौद्धोंका यह सब कहना भी विचार न करनेतक ऊपरसे सुंदर दीखता है। किन्तु विचार करनेपर तो वह ढीला पोला निस्सार जचेगा। क्योंकि स्याद्वादियोंके मतमें योग्यता पदार्थोंकी परिस्थितिके अनुसार स्वात्मभूत परिणति मानी गयी है। अतः वस्तुभूत योग्यताके विशेषसे तो विवक्षित पदार्थोंमें ही कार्यकारणभाव बन जाता है। किन्तु

बौद्धोंके मतमें ठीक ठीक विचार करनेपर विवक्षित कार्यकारणोंमें नियमित योग्यता नहीं बन सकती है। क्योंकि बौद्ध लोग अपने तत्त्व कहे गये स्वलक्षणोंको औपाधिक स्वभावोंसे रहित मानते हैं। कार्यकारणभाव व्यवहारसे ही माना गया है, वास्तविक नहीं। इसका विशेष विवरण यों है कि कार्यकारणभावके प्रकरणमें योग्यताका अर्थ कारणकी कार्यको पैदा करनेकी शक्ति और कार्यकी कारणसे जन्यपनेकी शक्ति ही है। उस योग्यताका प्रत्येक विवक्षित कार्य कारणोंमें नियम करना यही कहा जाता है कि धानके बीज और धानके अंकुरोंमें भिन्न भिन्न समयवृत्तिपनेकी समानताके होनेपर भी साठी चांवलके बीजकी ही धानके अंकुरको पैदा करनेमें शक्ति है। किंतु जौके बीजकी धानके अंकुर पैदा करनेमें शक्ति नहीं है। तथा उस जौके बीजकी जौके अंकुर पैदा करनेमें शक्ति है। हां, धानका बीज जौके अंकुरको नहीं उत्पन्न कर सकता है। यही योग्यता कही जाती है।

तत्र कुतस्तच्छक्तेस्तादृशः प्रतिनियमः? स्वभावत इति चेन्न, अप्रत्यक्षत्वात्। परोक्षस्य शक्तिप्रतिनियमस्य पर्यनुयुज्यमानतायां स्वभावैरुत्तरस्यासम्भवात्, अन्यथा सर्वस्य विजयित्वप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षप्रतीत एव चार्थे पर्यनुयोगे स्वभावैरुत्तरस्य स्वयमभिधानात्।

वहां कार्य, कारण, के प्रकरणमें ऊपर कही गयी उस योग्यतारूप शक्तिका वैसा प्रत्येकमें नियम आप कैसे कर सकेंगे? बतलाइये। यदि आप बौद्ध लोग पदार्थोंके स्वभावसे ही योग्यताका नियम करना मानेंगे अर्थात् अग्निका कार्य दाह करना है और सूर्यका कार्य घाम करना है। जल ठण्ड को करता है, यह शक्तियोंका प्रतिनियम उन उन पदार्थोंके स्वभावसे होजाता है। अग्नि दाह क्यों करती है? इसका उत्तर उसका स्वभाव ही है, यही मिलेगा। सो आपका यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि असर्वज्ञोंको शक्तियोंका प्रत्यक्ष नहीं होता है। परोक्ष शक्तियोंके प्रत्येक विवक्षित पदार्थमें नियम करनेका जब हम "क्यों करता है?" यह प्रश्नरूप चोद्य उठावेंगे, उस समय आप बौद्धोंकी ओरसे पदार्थोंके स्वभावों करके उत्तर देना असम्भव है। अन्यथा यानी इसके प्रतिकूल प्रत्यक्ष न करने योग्य कार्योंमें भी प्रश्नमालाके उठानेपर स्वभावोंके द्वारा उत्तर देदिया जावेगा, तब तो सभी वादी प्रतिवादियोंको जीत जानेका प्रसङ्ग हो जावेगा, स्वभाव कहकर सभी जीत जावेंगे। अबतक सभी दार्शनिक यही मानते चले आरहे हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा जाने गये ही अर्थमें यदि तर्क उठाया जावे, तब तो वस्तुके स्वभावों करके उत्तर देना समुचित है। किन्तु परोक्ष प्रमाणसे अविशद जाने गये पदार्थमें प्रश्न उठानेपर वस्तुस्वभावों करके उत्तर नहीं दिया जाता है। इस बातको आप बौद्धोंने भी स्वयं कहा है। भला जिस पदार्थका प्रत्यक्ष ही नहीं है, वहां यह उत्तर कैसे संतोषजनक हो सकता है कि हम क्या करें यह तो वस्तुका स्वभाव ही है। नैयायिकके दोष देनेपर मीमांसक कह देगा कि शब्दका नित्य होना वस्तुका स्वभाव है और मीमांसकके दोषोत्थानपर नैयायिक कह देगा कि शब्दका अनित्यपन वस्तुस्वभाव है। स्वभाव कहकर जीतनेकी व्यवस्था होजानेपर तो व्यभिचारी मांसभक्षी, चोर आदि भी पूरा लाभ उठालेंगे।

कथमन्यथेदं शोभेत,—" यत्किञ्चिदात्माभिमतं विधाय, निरुत्तरस्तत्र कृतः परेण, वस्तुस्वभावैरिति वाच्यमित्थं, तदुत्तरं स्याद्विजयी समस्तः ॥ १ ॥ प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे, यदि पर्यनुयुज्यते, स्वभावैरुत्तरं वाच्यं, दृष्टे कानुपपन्नता ॥ २ ॥ " इति ।

यदि प्रत्यक्षित कार्यके होनेपर स्वभावोंसे उत्तर देना और परोक्षमें स्वभावों करके उत्तर न देना यह न्याय न मानकर अन्य प्रकारसे मानोगे तो आपका इन दो श्लोकों द्वारा यह कथन कैसे शोभा देगा कि जो कुछ भी सच्चा झूंठा, अपनेको अभीष्ट तत्त्व है, उसका प्रतिवादीके सन्मुख पूर्वपक्ष करके पीछे प्रतिवादीके द्वारा समीचीन दोष उठानेसे यदि वादी वहां निरुत्तर कर दिया जावे तो भी वादी चुप न बैठे, किंतु ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है, ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है, इस प्रकारसे उस प्रतिवादीके दोष उत्थापनका उत्तर देता रहे, ऐसा अन्याय करनेपर तो सब ही वादी विजयी हो जावेंगे ॥ १ ॥ प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा अर्थके निर्णीत होनेपर यदि कोई चोद्य उठावे तो वस्तुस्वभावों करके उत्तर कह देना चाहिये । क्योंकि सभी बालगोपाल तथा परीक्षकोंके द्वारा देखे गये स्वभावमें क्या कभी असिद्धि हो सकती है ? अर्थात् नहीं । तुम ही उन स्वभावोंके अनुसार अपने तर्क या हेतुको सम्हाल लो । तुम्हारे तर्कके अनुसार वस्तुस्वभाव नहीं बदल सकता है ॥ २ ॥ इस प्रकार आप बौद्धोंने भी परोक्षपदार्थका स्वभावों करके नियम करना नहीं माना है । प्रत्युत परोक्ष होनेपर स्वभावोंके द्वारा उत्तर देनेवालेका " तीसमारखां " के समान विजयी हो जानेका उपहास किया है ।

शालिबीजादेः शाल्यङ्कुरादिकार्यस्य दर्शनात्तज्जननशक्तिरनुमीयत इति चेत्, तस्य तत्कार्यत्वे प्रसिद्धेऽप्रसिद्धेऽपि वा ? प्रथमपक्षेऽपि कुतः शाल्यङ्कुरादेः शालिबीजादिकार्यत्वं सिद्धम् ? न तावदध्यक्षात्तत्र तस्याप्रतिभासनात्, अन्यथा सर्वस्य तथा निश्चयप्रसंगात् ।

सौगत कहते हैं कि शक्तियोंका प्रतिनियम करना प्रत्यक्षसे नहीं किंतु अनुमानसे तो हो जावेगा । लडके लडकी और किसान लोग छोटे छोटे शरावोंमें अन्नको बोकर कुबीज और सुबीजका निर्णय करलेते हैं । धानके बीजरूप कारणसे धानका अंकुररूप कार्य और जौके बीजसे जौका अंकुररूप कार्य होता हुआ देखा जाता है । अतः उनको पैदा करनेवाली शक्तिका उन बीजोंमें अनुमान करलिया जाता है । ग्रंथकार कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो हम पूंछते हैं कि उस धान अंकुरको उस धान बीजका कार्यपना प्रसिद्ध होनेपर जनन शक्तिका अनुमान करोगे ? अथवा धान अंकुरको धानबीजका कार्यपना नहीं प्रसिद्ध होते हुए भी कारणशक्तिका अनुमान करलोगे ? बताओ । यहां दूसरापक्ष अप्रसिद्धका तो कथमपि ठीक नहीं है । हां, पहिला पक्ष लेनेपर भी आप यह बतलाइये कि धानके अंकुर और जौके अंकुर आदिको धानबीज और जौ आदिका कार्यपना आपने

कैसे सिद्ध किया है? कहिये। पहिले प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो यह सिद्ध नहीं होसकता है कि धानबीजका कार्य धान अंकुर है। क्योंकि जिस क्यारी में धान, जौ, गेहूं या ज्वार, मका, बाजरा एकसाथ बोदिये गये हैं, वहां गीली मिट्टीके भीतर सब ही बीज छिपगये हैं। ऐसी दशामें किस बीजसे कौनसा अंकुर हुआ, इसका निर्णय करना बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षका कार्य नहीं है। यों वहां प्रत्यक्षमें उस कार्यकारणका प्रतिभास नहीं होता है। अन्यथा सभी बाल गोपालोंको या नागरिकोंको उसी प्रकारसे निर्णय हो जाता। ऐसे संशय करनेका प्रसंग पण्डितोंतकको नहीं आना चाहिये था कि यह अंकुर गेहूंका, धानका, या जौका है। किन्तु संशय होता देखा जाता है। अतः प्रत्यक्ष से कारणकी कार्यको उत्पाद करानेवाली शक्तिका और कार्यकी कारणोंसे जन्यत्व शक्तिका नियम करना जैसे नहीं बन सकता है, वैसे ही धान बीजसे ही धान अंकुर कार्य उत्पन्न हुआ है, यह भी लौकिक प्रत्यक्षसे नहीं जाना जा सकता है। एक बात यह है कि यद्यपि कभी कभी चने, जौ, गेहूं, धानमें केवल जलका संयोग होनेपर छोटा अंकुर निकला हुआ दीखता है। किन्तु वह प्रकृतमें अंकुर नहीं माना है। वह तो कुल्ला है। मिट्टीमें बीजके सड गलजानेपर जो बीजका उत्तर परिणाम बडा अंकुर हो जाता है, उसका कार्यकारणभाव यहां अभिप्रेत है। वही भविष्यमें बीज सन्ततिको उपजावेगा। एकेन्द्रिय जीवोंकी संवृत यानी ढकी हुई योनि मानी है।

तद्भावभावाल्लिङ्गात्तत्सिद्धिरिति चेन्न, साध्यसमत्वात्। को हि साध्यमेव साधनत्वेनाभिदधातीत्यन्यत्रास्वस्थात्, तद्भावभाव एव हि तत्कार्यत्वं न ततोन्यत्।

यदि बौद्ध जन उस धान बीजके होनेपर धान अंकुरका होना इस अन्वयरूप हेतुसे अनुमान प्रमाणद्वारा धान अंकुरमें धान बीजका वह कार्यपना प्रसिद्ध करें सो तो ठीक नहीं है। क्योंकि यह हेतु भी साध्यके समान असिद्ध होनेसे साध्यसम हेत्वाभास है। धानबीजके होनेपर ही धान अंकुर कार्य हुआ है। यही तो हमको साध्य करना है और इसीको आप हेतु बना रहे हैं। ऐसा भला कौन पुरुष है? जो कि साध्यको ही हेतुपने करके कथन करें। अस्वस्थके अतिरिक्त कोई ऐसा पोंगापन नहीं करता है। विचारशील मनुष्य असिद्धको साध्य बनाते हैं और प्रसिद्धको हेतु बनाते हैं। किन्तु जो आपेमें नहीं हैं या कठिनरोगसे पीडित हैं, अज्ञानी हैं, वे ही ऐसी अयुक्त बातोंको कहते हैं। देखो, उस धान बीजके होनेपर धान अंकुरका होना ही तो नियमसे धान बीजका धान अंकुरमें वह कार्यपना है। उससे भिन्न कोई उसकी कार्यता नहीं है।

शालिबीजादिकारणकत्वाच्छाल्यङ्कुरादेस्तत्कार्यत्वं सिद्धमित्यपि तादृगेव। परस्पराश्रितं चैतत्, सिद्धे शालिबीजादिकारणकत्वे शाल्यंकुरादेस्तत्कार्यत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च शालिबीजादिकारणत्वसिद्धिरिति।

धान बीज, जौ, आदिक हैं कारण जिसके ऐसा जो कार्य है वह धानका या जौ आदिका अंकुर है। इस उन बीजरूप कारणोंकी उन अंकुरोंमें कार्यता सिद्ध हो ही जाती है। इस प्रकार

किसीका कहना भी उस पहिलेके समान ही है अर्थात् जिसीका निर्णय करना है, वही नियामक कारण बनाया जा रहा है। दूसरी बात यह और है कि उक्त कथनमें यह परस्पराश्रय दोष भी है कि धान बीज, गेहूं, जौ, आदि हैं कारण जिनके ऐसे धान अंकुर, गेहूं अंकुर, जौ अंकुर हैं, इस प्रकार सिद्ध हो जानेपर तो धान अंकुर आदिको उन बीजोंकी कार्यता सिद्ध होगी और धान आदि बीजोंकी वह कार्यता जब धान आदि अंकुरोंमें सिद्ध हो जावेगी तब धान आदि अंकुरोंके धान आदि बीज कारण हैं, यह बात सिद्ध होगी। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हुआ।

तदनुमानात् प्रत्यक्षप्रतीते तस्य तत्कार्यत्वे समारोपः कस्यचिद्व्यवच्छिद्यत इत्यप्यनेनापास्तं, स्वयमसिद्धात्साधनात् तद्व्यवच्छेदासम्भवात्।

बौद्ध कहते हैं कि वस्तुभूत पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है। उस अनुमान ज्ञान तो केवल संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोपको ही दूर करता है। इतने ही अंशसे प्रमाण है। वैसे तो अनुमान निश्चयात्मक है और सामान्यको विषय करनेवाला है। इन हेतुओंसे अप्रमाण होना चाहिये। पदार्थोंमें क्षणिकपना सत्व हेतुसे उत्पन्न हुए अनुमान द्वारा नहीं जाना जाता है। वह वस्तुभूत क्षणिकपना तो पूर्वमें ही निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ज्ञात हो चुका था। किंतु कतिपय जीवोंको पदार्थोंमें कुछ कालतक स्थायीपने या नित्यपनेका मिथ्याज्ञान हो जाता है। अतः उस समारोपके दूर करनेके लिये अनुमानसे क्षणिकत्वका निर्णय करा दिया जाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी उस धान बीजकी कारणता और धान अंकुरमें उस कारणकी कार्यता तो प्रत्यक्षप्रमाणसे ही जान ली जाती है। किंतु किसी अज्ञानीको उस प्रत्यक्षित विषयमें कदाचित् विपरीत समारोप हो जाता है तो पूर्वोक्त अनुमानसे उस समारोपका व्यवच्छेद मात्र कर दिया जाता है। कार्यता और कारणता शक्तियोंका प्रतिभास करना तथा प्रतिनियम करना ये सब प्रत्यक्षके द्वारा ही जान लिये जाते हैं। अतः हम बौद्धोंके कहे हुए पहिले अनुमानमें साध्यसम और अन्योन्याश्रय दोष लागू नहीं हो सकते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार कथन करनेवाले बौद्ध भी हमारे इसी दोषोत्थापनसे निराकृत हो जाते हैं। क्योंकि जबतक बौद्धोंका हेतु ही स्वयं उन्हें भी सिद्ध नहीं हुआ है तो ऐसे असिद्ध हेतुसे उस समारोपका निराकरण करना असम्भव है।

तदनन्तरं तस्योपलम्भात्तत्कार्यत्वसिद्धिरित्यपि फल्गुप्रायं, शाल्यङ्कुरादेः पूर्वाखिलार्थकार्यत्वप्रसंगात्। शालिबीजाभावे तदनन्तरमनुपलम्भान्न तत्कार्यत्वमिति चेत्, सार्द्रेन्धनाभावेऽङ्गाराद्यवस्थाग्नेरनन्तरं धूमस्यानुपलब्धेरग्निकार्यत्वं माभूत्, सामग्रीकार्यत्वाद्धूमस्य नाग्निमात्रकार्यत्वमिति चेत्, तर्हि सकलार्थसहितशालिबीजादिसामग्रीकार्यत्वं शाल्यङ्कुरादेरस्तु विशेषाभावात्। तथा च न किञ्चित्कस्यचिदकारणमकार्यं वेति सर्वं सर्वस्मादनुमीयेतेति वा कुतश्चित् किञ्चिदिति नानुमानात्कस्यचिच्छक्तिप्रतिनियमसिद्धिर्यतोऽन्वयव्यतिरेकप्रतिनियमः कार्यकारणभावे प्रतिनियमनिबंधनः सिध्येत्।

उस शालि बीजके अव्यवहित उत्तरकालमें वह चावलोंका अंकुर पैदा होता हुआ देखा जाता है। इस अन्वयरूप हेतुसे शालि अंकुरको उस शालिबीजका कार्यपना सिद्ध हो जाता है। यह बौद्धोंका कहना भी बहुभागमें व्यर्थ ही है। क्योंकि यों तो शालि अंकुरके पहिले कालमें रहनेवाले संपूर्ण तटस्थ पदार्थोंको कारणता हो जावेगी। शालिबीजका और गेहूं, जौ, चना, कुलाल, कृषक आदिका भी वही काल है। अतः शालिबीजके समान गेहूं आदिका भी वह शालि अंकुर कार्य बन जावेगा, यह प्रसंग तुम्हारे ऊपर हुआ। यदि आप सौगत धान बीजके न होनेपर गेहूं आदिसे उनके अव्यवहित उत्तर कालमें धान अंकुर पैदा होता हुआ नहीं देखा जाता है, इस व्यतिरेककी सहायतासे उसके कार्यपन न होनेकी सिद्धि करोगे तो गीले ईन्धनके न होनेपर अंगारा, जला हुआ कोयला, और तपे हुए लोहपिण्डकी अग्निके अव्यवहित उत्तरकालमें धूम पैदा हुआ नहीं देखा जाता है, अतः धूम भी अग्निका कार्य न होओ। भावार्थ—कारणके अभाव होनेपर कार्यके न होने मात्रसे कार्यताका यदि निर्णय कर दिया जावे तो अग्निका कार्य धूम न हो सकेगा। क्योंकि अङ्गार कोयलेकी अग्निके रहते हुए भी धूम नहीं हुआ। अग्निके न होनेपर धूमका न होना ऐसा होना चाहिये था। तब कहीं धूमका कारण अग्नि बनती। यदि आप बौद्ध इसका उत्तर यों कहें कि गीला ईंधन, अग्नि, वायु, आदि कारणसमुदायरूप सामग्रीका कार्य धूम है, केवल अग्निका ही कार्य नहीं है। अतः हमारा व्यतिरेक नहीं बिगड सकता है। उस अंगारे या कोयलेकी अग्निके स्थानपर पूरी सामग्रीके न होनेसे धूमका न होना ठीक ही था। आचार्य समझाते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो गेहूं, चना, मिट्टी, खेत, खात, कुलाल, कोरिया, आदि सम्पूर्ण पदार्थोंसे सहित धानबीज या जौ बीज, आदि कारण समुदायरूप सामग्रीका कार्यपना धान अंकुर, जौ अंकुर आदिमें हो जावे कोई अंतर नहीं है तथा तब तो ऐसी अव्यवस्था हो जानेपर न कोई किसीका अकारण होगा और न कोई किसीका अकार्य होगा। क्योंकि आपकी सामग्रीके बडे पेटमें कारणोंके अतिरिक्त अनेक उदासीन थोथे पोले पदार्थ प्रविष्ट हो जावेंगे। जबतक नियत कारणोंका निश्चय नहीं हुआ है, तबतक कार्यके पूर्व कालमें अनेक पदार्थ कारण बननेके लिये सामग्रीमें पतित होरहे हैं। बाप बननेके लिये भला कौन निषेध करेगा। तथा उत्तर समयवर्ती सभी पदार्थ चाहे जिस कारणके कार्य बन जावेंगे। बापकी सम्पत्ति लेनेके लिये और नवजन्म धारण करनेके लिये बेटा बनना भी किसको अनिष्ट है। इस प्रकार पोल चलनेपर तो सब कार्योंमेंसे किसी भी एक कार्यसे सब कारणोंका अनुमान किया जा सकेगा अथवा किसी भी कार्यसे चाहे जिस तटस्थ अकारणका अनुमान किया जा सकेगा। कोई भी व्यवस्था न रहेगी। अंधेर छा जावेगा। अंधेरेसे सूर्यका अनुमान और शीतवायुसे अग्निका भी अनुमान हो जावेगा। इस प्रकार आप बौद्धोंके यहां अनुमानसे भी किसी भी कार्य या कारणकी शक्तियोंका प्रत्येकरूपसे नियम करना सिद्ध नहीं हो पाता है, जिससे कि आपके द्वारा पहिले कहा गया अन्वयव्यतिरेकोंका प्रतिनियम करना कार्यकारणभावमें प्रतिनियमका कारण सिद्ध होता, अर्थात्

आपका माना हुआ अन्वयव्यतिरेक तो कार्यकारणशक्तिरूप योग्यताका नियामक नहीं होसकता है। यहांतक " स्यान्मतं " करके कहे गये बौद्धसिद्धांतके खण्डनप्रकरणका उपसंहार कर दिया है।

तत एव सम्वृत्यान्वयव्यतिरेकौ यथादर्शनं कारणस्य कार्येणानुविधीयते न तु यथातत्त्वमिति चेत्, कथमेवं कार्यकारणभावः पारमार्थिकः ? सोऽपि संवृत्येति चेत्, कुतोऽर्थक्रियाकारित्वं वास्तवम् ? तदपि सांवृतमेवेति चेत्, कथं तल्लक्षणवस्तुतत्त्वमिति न किञ्चित्क्षणक्षयैकान्तवादिनः शाश्वतैकान्तवादिन इव पारमार्थिकं सिध्येत् ।

योगाचार बौद्ध कहते हैं कि उस ही कारणसे तो हम वास्तविक अन्वय व्यतिरेकोंको नहीं मानते हैं। केवल व्यवहारसे ही कार्यकारणव्यवस्था है। तात्त्विक व्यवस्थाका अतिक्रमण नहीं कर परमार्थसे न कोई किसीका कारण है, न कोई किसीका कार्य है। जैसा लोकमें देखा जाता है, वैसा कार्यके द्वारा कारणका अन्वय व्यतिरेक लेलिया जाता है। यथार्थरूपसे वस्तु व्यवस्थाके अनुसार अन्वयव्यतिरेक लेना कुछ भी पदार्थ नहीं है। अब ग्रन्थकार समझाते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो संसारमें बालगोपालोंमें भी प्रसिद्ध हो रहा यह कार्यकारणभाव ठीक ठीक वास्तविक कैसे माना जावेगा ? बताओ। क्योंकि आप तो सब स्थानोंपर वस्तु शून्य, कल्पित कोरा व्यवहार मान रहे हैं। ऐसी दशामें तिलसे तैल, मिट्टीसे घडा, अग्निसे धुआं आदि कार्य कारणोंकी व्यवस्था जो हो रही है, वह लुप्त हो जावेगी। यदि आप उस कार्यकारणभावको भी व्यवहारसे मानेंगे यानी वास्तविकरूपसे न मानकर झूंठा कहेंगे तो बतलाइये कि पदार्थोंका अर्थक्रियाकारीपना वस्तुभूत कैसे होगा ? । जलसे स्नान, पान, अवगाहन आदि क्रियाएं होती हैं। घटसे जल धारण आदि क्रियाएं होती हैं, अग्निसे दाह होता है इत्यादि अर्थक्रियाएं तो वास्तविक कार्यकारणभाव मानने पर ही बन सकती हैं। यदि आप उस अर्थक्रिया करनेको भी कोरी व्यावहारिक कल्पना ही कहोगे यानी जलधारण करना, स्नान करना आदि कुछ भी वस्तुभूत ठीक ठीक पदार्थ नहीं हैं, यों तब तो उस अर्थक्रियाकारीपन लक्षणसे वास्तविक तत्त्वोंकी आप सिद्धि कैसे कर सकेंगे ? बतलाइये। इस प्रकार क्षणिकत्वका एकांत कहनेकी टव रखनेवाले बौद्धोंके यहां कुछ भी तत्त्व परमार्थस्वरूप ठीक ठीक सिद्ध नहीं होगा, जैसे कि कूटस्थ नित्यको ही एकांतसे कहनेकी टेववाले कापिलोंके या नित्य आत्मवादी नैयायिकोंके यहां कोई वास्तविक पदार्थ सिद्ध नहीं हो पाता है।

तथा सति न बन्धादिहेतुसिद्धिः कथञ्चन ।
सत्यानेकांतवादेन विना क्वचिदिति स्थितम् ॥ १२७ ॥

और उस प्रकार एकांत पक्षके माननेपर बंध, मोक्ष आदिके हेतुओंकी सिद्धि कैसे भी नहीं हो सकती है। सत्यभूत अनेकांतवादके विना किसी भी मतमें बंध, मोक्ष आदिकी व्यवस्था नहीं बनती है। यह बात यहांतक निर्णीत कर दी गयी है। एक सौ सोलहवीं वार्त्तिकका निगमन हो गया।

न सत्योऽनेकान्तवादः प्रतीतिसद्भावेऽपि तस्य विरोधवैयधिकरण्यादिदोषोपद्रुतत्वादिति नानुमन्तव्यम्, सर्वथैकान्त एव विरोधादिदोषावतारात्, सत्येनानेकान्तवादेन विना बन्धादिहेतूनां क्वचिदसिद्धेः ।

जैनोंके द्वारा माना हुआ अनेकांतवाद यथार्थ नहीं है। क्योंकि कतिपय प्रतीतियोंके होते सन्ते भी वह अनेकांत अनेक विरोध, वैयधिकरण्य, संशय, सङ्कर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव इन आठ दोषोंसे ग्रसित होरहा है । आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार एकांतवादियोंको नितांत नहीं मानना चाहिये। क्योंकि सर्वथा एकांतपक्षमें ही विरोध आदि दोषोंका अवतार होता है। सर्व ही पदार्थ अनेक धर्मोंसे युक्त प्रत्यक्षसे ही जाने जारहे हैं । वहां दोषोंका सम्भव नहीं है । भावार्थ—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे पदार्थ सत् हैं, परचतुष्टयसे असत् हैं। यदि एक ही अपेक्षासे सत् असत् दोनों होते तो विरोध दोषोंकी संभावना थी। जो देवदत्त यज्ञदत्तका शत्रु है, वही जिनदत्तका मित्र भी है । देखो, जो धर्म किसीकी अपेक्षासे एक धर्मी में नहीं प्रतीत होते हैं, उनका विरोध मानाजाता है । जैसे ज्ञानका और रूपका या सर्वज्ञता और अल्पज्ञताका विरोध है । किंतु जो दीख रहे हैं, यदि उनका विरोध माना जावेगा तो पदार्थोंका अपने स्वरूपसे ही विरोध हो जावेगा। सहानवस्थान, परस्परपरिहारस्थिति, वध्यघातकभावरूपसे विरोध तीन प्रकारका है । एक स्थानपर एक समय जो नहीं रह सकते हैं, उनका सहानवस्थान विरोध है । जैसे कि शीतस्पर्श और उष्णस्पर्शका या सह्य पर्वत और विन्ध्यपर्वतका। किंतु सत्त्व और असत्त्व दोनों एक स्थानपर देखे जाते हैं । यहां विरोध कैसा ?। दूसरा विरोध तो पुद्गलमें रूप और रस गुण एक दूसरेसे कथञ्चित् पृथक्भूत होते हुए अपने अपने परिणामोंसे ठहरे हुए हैं। अतः परस्परपरिहारस्थिति लक्षण है । विरोध तो एक धर्मी में विद्यमान होरहे ही अनेक धर्मोंका होसकता है । जैसे कि बदनमें दो आंखोंका, या हाथमें अंगुलियोंका । अतः यह विरोध भी अनेकांतका बिगाड करनेवाला नहीं है । तीसरा वध्यघातकभाव विरोध भी नौला और सर्प तथा गौ और व्याघ्रमें देखा जाता है । किंतु ऋद्धिधारी मुनिमहाराज या भगवान्के समवसरणमें जातिविरोधी जीव बडे प्रेमसे एक स्थानपर बैठे रहते हैं । अब भी पशुशिक्षक लोग सिंह और गायको एक स्थानपर बैठा हुआ बतला देते हैं । किंतु अंतर इतना है कि मुनियोंके निकट विरोधी जीवोंमें अत्यंत मित्रता हो जाती है । गौके थनोंको सिंहशिशु पीता है और सिंहिनीके दूधको बछडा चोंखता है । जिन पदार्थोंको लोगोंने विरोध कल्पित कर रखा है, उनमें भी कुछमें तो सत्य है। किंतु बहुभागोंमें असत्य है। अग्नि दाहको करती है । किंतु दाहको शांत भी करती है । अग्निसे भुरसे हुए को जल सींचनेसे हानि होती है और अग्निसे सेक करनेपर लाभ होता है । विषकी चिकित्सा विष है, यानी एक विषकी गर्मीको दूसरे प्रतिपक्षी विषकी गर्मी चाट जाती है । उष्णज्वरके दूर करनेके लिए उष्ण प्रकृतिवाली औषधियां सफल होती हैं। एवं एवं जल भी कहीं अग्निका कार्य कर देता है । जमाये हुए

तुषाररूप पानी (बर्फ) की प्रकृति अति उष्ण है। संतप्त तैलमें जल डालनेसे अग्निज्वाला प्रगट हो जाती है, तथा पूर्वमें उदय होनेवाला सूर्य पश्चिममें भी उदय हो जाता है। जब कि पूर्व, पश्चिम दिशाओंका नियम करना भ्रमण करते हुए सूर्यके उदय और अस्त होनेके अधीन है तो हमारे लिये जो पूर्व है, वह दूसरे पूर्वविदेहवालोंके लिये पश्चिम बन बैठता है। ऐसे ही जो हमारे लिए पश्चिम है, वह पश्चिम-विदेह वालोंकेलिये पूर्व दिशा है। तभी तो जम्बूद्वीपमें चारों ओरके क्षेत्रोंसे सुमेरु पर्वत उत्तर दिशामें ही रहता हुआ माना गया है। एक जातिका पत्थर है, जो पानीमें तैर जाता है, एक लकडी भी ऐसी होती है, जो पानीमें डूब जाती है। " डूबते को तिनकेका सहारा अच्छा " इस परिभाषाके अनुसार भी काम होता है और उसके विरुद्धसी दीख रही " ओस चाटनेसे प्यास नहीं बुझती है "। यह परिभाषा भी अर्थ क्रियायें करा रही हैं। तथैव " बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख " ये लौकिक न्यायके साथ साथ " बिना रोये मा भी दूध नहीं पिलाती " यह न्याय भी प्रयोजनोंको साध रहा है। इन युक्तियोंसे सिद्ध होता है कि अनेकांतमतमें कोई विरोध दोष नहीं है। दूसरा दोष वैयधिकरण्य भी स्याद्वादियोंके ऊपर लागू नहीं हो सकता है। निषध पर्वतका अधिकरण न्यारा है और नील पर्वतका अधिकरण भिन्न है। ऐसी विभिन्न अधिकरणताको वैयधिकरण्य कहते हैं। किंतु वस्तुमें जहां ही सत्पनां है, वहीं असत्त्व है। जहां नित्यत्व है, वही अनित्यत्व है। दस औषधियोंको घोंटकर बनी हुयी गोलीके छोटेसे टुकडेमें भी दसों औषधियोंका रस विद्यमान है। संयोग संबंधसे विद्यमान रहनेवाले आतप, वायु, धूल, कार्मण स्कंध, जीवद्रव्य, कालाणु, आदि पदार्थ एक स्थानमें जब अव्याहत रूपसे रह जाता है तो द्रव्यमें तादात्म्य संबंधसे अनेक स्वभाव तो बडी प्रसन्नतासे रह जावेंगे। अतः भिन्न भिन्न स्वभावोंका एक द्रव्यमें विभिन्न अधिकरणपना दोष नहीं लगता है। तीसरा संशय दोष जब हो सकता था, यदि चलायमान प्रतिपत्ति होती किंतु दोनों धर्म एक धर्मीमें निर्णीत रूपसे जाने जारहे हैं तो संशय दोषका अवसर कहां ? अग्नि जल आदिक अपने अनेक स्वभावों करके दाह, पाक, सेचन, विध्यापन आदि क्रियाएं कर रहे हैं वैसे ही सत्त्व आदि भी अपने योग्य अर्थ क्रियाओंको करते हैं। क्या संशयापन्न स्वभावोंसे कोई अर्थक्रिया होती है ? यानी नहीं। भाव और अभावसे समानाधिकरण्य रखता हुआ धर्मोंके नियामक अवच्छेदकोंका परस्परमें मिल जाना संकर है, सो अनेकांतमें नहीं सम्भव है। क्योंकि अस्तित्वका नियामक स्वचतुष्टय स्वरूप तो दूसरे नास्तित्वके नियामक धर्मसे एकम एक नहीं हो जाता है। पांचवां दोष व्यतिकर भी यहां नहीं है। विषयोंका परस्परमें बदलकर चले जानेको व्यतिकर कहते हैं। सो यहां टंकोत्कीर्ण न्यायसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य या अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म और उनके व्यवस्थापक स्वभाव सभी अपने अंश उपांशोंमें ही प्रतिष्ठित रहते हैं। परिवर्तन नहीं होता है। छठवां दोष अनवस्था भी अनेकांतमें नहीं आता है। सत् धर्ममें पुनः दूसरे सत् असत् माने जावें और उस सत्में फिर तीसरे सत् असत्

मानें जावे यों करते करते आकांक्षा क्षय नहीं होते हुये अनवस्था हो सकती थी। किंतु ऐसा नहीं है। एक ही सत्पन सब धर्मोंमें और पूरे धर्मीमें ओतप्रोत होकर व्याप रहा है। यदि किसी धर्ममें सत् असत्का पुनः प्रश्न उठ बैठे तो दूसरी सप्तभङ्गी भी बनाली जाती है। दस, बीस जिज्ञासाओंके पीछे आकांक्षा शांत हो जावेगी। काम करनेवाली अनवस्थाको गुण मान लिया गया है। सातवां दोष अप्रतिपत्ति है। किसी भी धर्मका ठीक ठीक निर्णय न होनेसे सामान्य जन द्विविधामें पड जाते हैं और पदार्थको नहीं जान पाते हैं। वह अप्रतिपत्ति है। किंतु अनेक धर्मोंका वस्तुमें पशु पक्षियों तकको ज्ञान हो रहा है। फिर अप्रतिपत्ति कैसी ?। आठवां दोष अभाव है। जिसका ज्ञान नहीं हुआ, उसका बडी सरलतासे और मीठेपनसे निषेध कर देना ही अभाव है। किंतु अनेक स्वभावोंका और पदार्थोंका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ज्ञान हो रहा है। अतः सत्य अनेकांतका अभाव नहीं कह सकते हो। इस प्रकार संक्षेपसे आठ दोषोंका वारण किया गया है। हमको एकांत वादियोंकी बुद्धिपर बडा आश्चर्य होता है। कारण कि सर्वत्र फैले हुए प्रसिद्ध अनेकांतका वे अपलाप कररहे हैं। कोई अनेकांतको छल कहता है। कोई वाग्जाल बतलाता है। और कोई संशयवाद आदि। अब विचारिये कि एक ही देवदत्त किसीका पुत्र, किसीका पिता, किसीका मामा और किसीका भानजा आदि धर्मोंको धारण कररहा है। वादीके द्वारा बोला गया हेतु अपने पक्षका साधक है और प्रतिपक्षीके पक्षका बाधक है। पक्ष या सपक्षमें सद्धेतु रहता है और वही विपक्षमें नहीं रहता है। आदि अनेक दृष्टांत अनेकांतसे भरे पडे हुए हैं। व्यवहारकी सत्यताको लेकर जिज्ञासाके अनुरूप प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें विरोधरहित अनेक धर्मोके न्यास करनेको सप्तभङ्गी कहते हैं। सत्त्व, नित्यत्व, एकत्व भेद, वक्तव्यत्व, लघुत्व, अल्पत्व आदि अनेक धर्मोंकी सप्तभंगियां होजाती हैं। जैसे कि द्रव्यकी अपेक्षासे रूपगुण नित्य है (१)। पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है (२)। क्रमसे कहनेपर रूपगुण नित्यानित्य है (३)। एक ही समयमें एक साथ दोनों धर्मोंको कह नहीं सकते हैं, क्योंकि स्वाभाविक योग्यताके वश वृद्धव्यवहारके द्वारा संकेतग्रहणपूर्वक बोला गया शब्द एक समयमें एक ही अर्थको कह सकता है। इंद्र भी वस्तुके स्वभावोंका परिवर्तन नहीं करा सकता है। अतः अवक्तव्य है (४)। नित्य होकर भी अवक्तव्य है (५)। अनित्य अंशोंसे परिपूर्ण होता हुआ भी रूपगुण अवक्तव्य है (६)। नित्य अनित्यपन दोनोंसे घिरा हुआ भी अवक्तव्य है (७)। इस प्रकार विवक्षा होनेपर सातभंग हो जाते हैं। सप्तभङ्गीके कल्पित धर्म व्यावहारिक सत्य हैं। इनमें छह हानियां और वृद्धियां नहीं होती हैं। इन कल्पित धर्मोके अतिरिक्त अनुजीवी प्रतिजीवी गुण तथा अर्थपर्याय व्यञ्जनपर्यायें और अविभाग प्रतिच्छेद उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये सभी धर्म अनेकांतोंमें गर्भित हैं। यहांपर अन्त माने स्वभावका है। सभी वस्तुओंके गुण पर्याय आदि स्वभाव हैं। जो गुण हैं, वे स्वभाव अवश्य हैं। किंतु जो स्वभाव हैं, वे गुण होवें नहीं भी होवें। तहां अनुजीवी गुण तो प्रतिक्षण परिणमन करते हैं। अनुजीवी गुणोंकी पर्यायोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंमें एक समय

१२ हानिवृद्धिओंमेंसे एक हानि या वृद्धि होगी। शेष ग्यारह आगे पीछे समयोंमें होगी। किसी किसी गुणकी पर्यायोंके अविभागी अंशोंकी तो आठ या चार ही हानिवृद्धियां होती हैं। अनुजीवी-गुणोंके अतिरिक्त अन्य धर्म तो स्वभावसे ही विद्यमान रहते हैं। पर्याय शक्तियां भी स्थूलपर्याय पर्यंत परिणमन करती हुयी मानी गयी हैं। इस प्रकार संक्षेपसे अनेकांतवादका व्याख्यान किया है। परमार्थभूत अनेकांतवादके बिना बंध और मोक्ष आदिके हेतुओंकी किसी भी मतमें सिद्धि नहीं हो पाती है, यह यहां समझाना है।

सत्यमद्वयमेवेदं स्वसम्वेदनमित्यसत्।
तद्व्यवस्थापकाभावात्पुरुषाद्वैततत्त्ववत्॥ १२८॥

यहां सम्वेदनाद्वैतवादी बौद्ध कहते हैं कि ठीक है, बंध, मोक्ष तथा उनके हेतु मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान आदि भले ही सिद्ध न होवे, हमारी कोई क्षति नहीं है। तभी तो हम स्वयं अपनेको ही वेदन करनेवाला यह अकेला शुद्धज्ञानरूप ही है, ऐसा तत्त्व मानते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् निरंश संवेदनस्वरूप है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार अद्वैतवादियोंका कहना भी अयोग्य है प्रशंसा योग्य नहीं है। क्योंकि अकेले उस शुद्ध ज्ञानकी व्यवस्था करनेवाला कोई प्रबलप्रमाण आपके पास नहीं है। जैसे कि ब्रह्माद्वैतवादी अपने नित्य ब्रह्मतत्त्वकी व्यवस्था नहीं कर सकते हैं।

न हि कुतश्चित्प्रमाणादद्वैतं संवेदनं व्यवतिष्ठते, ब्रह्माद्वैतवत्। प्रमाणप्रमेययोर्द्वैत-प्रसंगात्, प्रत्यक्षतस्तद्व्यवस्थापनेनाद्वैतविरोधः इति चेन्न, अन्यतः प्रत्यक्षस्य भेदप्रसिद्धेः अनेनानुमानादुपनिषद्वाक्याद्वा तद्व्यवस्थापने द्वैतप्रसंगः कथितः।

बौद्धोंके माने गये अकेले संवेदनका अद्वैततत्त्व किसी भी प्रमाणसे व्यवस्थित नहीं हो पाता है, जैसे कि वेदान्तियोंका ब्रह्माद्वैत पदार्थ नहीं सिद्ध होता है। यदि अद्वैतकी प्रमाणसे सिद्धि करोगे तो अद्वैत प्रमेय हुआ। इस प्रकार एक तो उसका साधक प्रमाण और, दूसरा अद्वैत प्रमेय, इन दो तत्त्वोंके होजानेसे द्वैत हो जानेका प्रसंग होगा। यदि अद्वैतवादी यों कहें कि हम प्रत्यक्ष प्रमाणसें ही उस प्रत्यक्षरूप अद्वैतकी व्यवस्था करा देवेंगे, तब तो अद्वैतका विरोध न होगा, यानी द्वैतका प्रसंग न हो सकेगा। ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य प्रमाणोंसे प्रत्यक्षके भेद प्रसिद्ध हो रहे हैं। या दूसरे अनेक प्रत्यक्ष तो भेदोंको सिद्ध कर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष और परब्रह्म या संवेदनाद्वैत एकम एक नहीं है। अतः ज्ञान और ज्ञेयकी अपेक्षासे द्वैतका प्रसंग आपके ऊपर लागू रहेगा। इस निरूपणसे यह भी कह दिया गया कि अनुमानसे अथवा वेद उपनिषद्के वाक्यसे उस अद्वैतकी व्यवस्था होना माननेपर भी द्वैतका प्रसंग होता है। अर्थात् ग्राम, उद्यान (बाग) पर्वत, देवदत्त आदि सर्व पदार्थ (पक्ष) ब्रह्मस्वरूप प्रतिभासके अंतरङ्ग होकर तद्रूप हैं (साध्य) क्योंकि वे सब प्रतिभास हो रहे हैं (हेतु) जैसे कि प्रतिभासका

स्वरूप, (दृष्टांत) इस अनुमानसे ब्रह्माद्वैतकी और संपूर्ण पदार्थ (पक्ष) क्षणिक विज्ञान संवेदनरूप हैं (साध्य) क्योंकि वे अपने आप जाने जारहे हैं या प्रकाश रहे हैं (हेतु) जैसे कि सुख सम्वेदन, (उदाहरण) इस अनुमानसे संवेदनाद्वैतकी सिद्धि करनेपर, साध्य और हेतुकी अपेक्षासे द्वैतपनेका प्रसंग हो ही जाता है। तथा " एकमेवाद्वयं ब्रह्म नो नाना " " सर्वं ब्रह्ममयं " " एक आत्मा सर्वभूतेषु गूढः " " ब्रह्मणि निष्णातः " " परब्रह्मणि लयं व्रजेत् " आदि वेदवाक्य या आगमवाक्योंसे अद्वैतकी सिद्धि करनेपर भी वाच्यवाचकपने करके द्वैतका प्रसंग होता है।

न च स्वतः स्थितिस्तस्य ग्राह्यग्राहकतेक्षणात्।
सर्वदा नापि तद्भ्रान्तिः सत्यसंवित्त्यसम्भवात् ॥ १२९ ॥

तथा उस संवेदनाद्वैतकी अपने आप सिद्धि होजाती है, यह बौद्धोंका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जगत्में सदा ग्राह्यग्राहकभाव देखा जारहा है। ज्ञान ग्राहक पदार्थ है। उससे जानने योग्य पदार्थ ग्राह्य है। यों तो द्वैत ही हुआ। उस ग्राह्यग्राहकभावपनेके द्वारा जानना भ्रांतिरूप है, यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि ग्राह्यग्राहकके विना तो सत्यप्रमितिका होना ही असम्भव है। ज्ञानका सत्यपना तो ठीक विषयको ग्रहण करनेसे ही निर्णीत किया जाता है।

न सम्वेदनाद्वैतं प्रत्यक्षान्तरादनुमानाद्वा स्थाप्यते स्वतस्तस्य स्थितेरिति न साधीयः सर्वथा ग्राह्यग्राहकाकाराक्रान्तस्य सम्वेदनस्यानुभवनात्, स्वरूपस्य स्वतो गतेरिति वक्तुमशक्तेः, संविदि ग्राह्यग्राहकाकारस्यानुभवनं भ्रान्तमिति न वाच्यं, तद्रहितस्य सत्यस्य संवित्त्यभावात्, सर्वदावभासमानस्य सर्वत्र सर्वेषां भ्रान्तत्वायोगात्।

बौद्ध कहते हैं कि हम अपने संवेदनके अद्वैतको अन्य प्रत्यक्षोंसे अथवा अनुमान प्रमाणोंसे या आगम वाक्योंसे स्थापित नहीं करते हैं। किंतु उस शुद्ध अद्वैतकी तो अपने आपसे ही स्थिति होरही है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार कहना बहुत अच्छा नहीं है। क्योंकि सदा ही ग्राह्य आकार और ग्राहकाकारोंसे वेष्टित हुए ही संवेदनका सब जीवोंको अनुभव होरहा है। अतः ग्राह्य ग्राहक अंशोंसे रहित माने गये संवेदनके स्वरूपकी अपनेसे ही ज्ञप्ति होजाती है, यह कभी नहीं कह सकते हो। दीपक और सूर्यमें स्वयं अपना ही प्रकाश करनेपर प्रकाश्यत्व और प्रकाशकत्व ये दोनों धर्म विद्यमान हैं। तभी तो प्रकाशनक्रिया होसकी है। यदि बौद्ध यह कहें कि ज्ञानमें ग्राह्य आकार और ग्राहक आकारके अनुभव करनेकी मनुष्योंको भ्रांति होरही है। समीचीन ज्ञान होनेपर वे आकार कपूर की तरह उड जाते हैं और शुद्धज्ञान रहजाता है। यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उन ग्राह्य ग्राहक अंशोंसे रहित होकर समीचीन प्रमाणकी ज्ञप्ति ही नहीं हो सकती है। जैसे कि कोई अच्छा व्यापारिक स्थान ग्राह्य और ग्राहकोंसे रीता नहीं है। कोई दर्शन या अनध्यवसायके समान बालुकामय प्रदेश भले ही ग्राह्य ग्राहकोंसे रिक्त (खाली) हो, किंतु

प्रमाणात्मकज्ञान तो स्व और अर्थरूपग्राह्यके ग्राहक ही देखे जाते हैं। जो पदार्थ सदा सर्व स्थानोंमें सर्व ही व्यक्तियोंके द्वारा ठीक ठीक जाना जारहा है, उसको भ्रांत नहीं कह सकते हैं। अन्यथा सभी सम्यग्ज्ञान भ्रांत होजावेंगे। दूसरोंका खण्डन करते करते अपने इष्ट की भी क्षति हो जावेगी।

यथैवारामविभ्रान्तौ पुरुषाद्वैतसत्यता।
तत्सत्यत्वे च तद्भ्रान्तिरित्यन्योन्यसमाश्रयः ॥ १३० ॥
तथा वेद्यादिविभ्रान्तौ वेदकाद्वैतसत्यता।
तत्सत्यत्वे च तद्भ्रान्तिरित्यन्योन्यसमाश्रयः ॥ १३१ ॥

घट, पट, देवदत्त, जिनदत्त, सूर्य, चंद्रमा आदि भिन्न पर्यायें भ्रांत हैं। एक ब्रह्म ही सत्य है। ऐसा कहनेवाले ब्रह्मवादियोंके ऊपर संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध यह अन्योन्याश्रय दोष ठीक उठाते हैं कि घट, पट, आदि अनेक भिन्न पर्यायोंका भ्रान्तपना सिद्ध होनेपर तो ब्रह्माद्वैतका सच्चापन सिद्ध हो और उस ब्रह्माद्वैतका सच्चापन सिद्ध होनेपर उन घट, पट आदि अनेक भिन्न पर्यायोंका भ्रांतपना सिद्ध होवे। जैसे ही यह अन्योन्याश्रय दोष ब्रह्मवादियोंके ऊपर उठाया जाता है वैसे ही आपके ऊपर भी यों परस्पराश्रय दोष अच्छे ढंगसे लागू है। या वे ब्रह्माद्वैतवादी भी तुमसे कह सकते हैं कि वेद्य अंश, वेदक अंश, प्रमाणत्व अंश, घट, पट आदि अनेक भिन्न पदार्थोंके भ्रांतरूप सिद्ध होनेपर तो संवेदनाद्वैतका सच्चापन सिद्ध होवे। और उस अकेले संवेदनाद्वैतकी सचाई सिद्ध होनेपर उन वेद्य आदि भिन्न तत्त्वोंकी भ्रांति होना सिद्ध होवे। दोनों अद्वैतोंमें इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष समान है।

कथमयं पुरुषाद्वैतं निरस्य ज्ञानाद्वैतं व्यवस्थापयेत्।

यह बिचारा बौद्ध पुरुषाद्वैतका खण्डन करके अपने ज्ञानाद्वैतकी व्यवस्था कैसे करा सकेगा? बताओ। क्योंकि दूसरेके खण्डनमें जो युक्ति दी जा रही है, वही युक्ति इस पर भी लागू हो जाती है। " काने! कानेको पलान, मियां आप ही ते जान " यह लौकिकन्याय दोनोंपर एकसा घट जाता है। एक मियां साहिबके यहां एक काना घोडा था। उसका सईस भी काना था। इस पर यह बलिहारी थी कि वे मियां भी एकाक्ष थे। एक दिन मियांजीने निरादरके साथ नौकरको घोडा सजानेके लिये आज्ञा दी कि ओ काने (नौकर) काने (घोडा) को पलान। तब नौकरने भी कटाक्षसहित उत्तर दिया कि मियांजी! आप अपनेको समझ लीजिये। ऐसे स्थलोंपर दोनों ओरसे दोनोंमें ही समान दोष आ जाते हैं। समाधान भी एकसा पडता है।

स्यान्मतं, न वेद्याद्याकारस्य भ्रान्तता संविन्मात्रस्य सत्यत्वात्साध्यते किं त्वनुमानात्ततो नेतरेतराश्रयः इति तदयुक्तं, लिंगाभावात्।

बौद्धोंका यह भी मंतव्य होवे कि वेद्य आकार, वेदनाकार और संविचि आकार आदिको भ्रांतपना हम केवल संवेदन (अद्वैत) की सत्यतासे सिद्ध नहीं करते है। किंतु वेद्य आदिकी भ्रांतताको अनुमानसे सिद्ध करते हैं। तिस कारण अन्योन्याश्रय दोष हमारे ऊपर लागू नहीं हो पाता है। इस प्रकार बौद्धोंका वह कहना युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि आपके पास कोई समीचीन हेतु नहीं है। जिससे कि अनुमान द्वारा वेद्य आदि आकारोंको भ्रांतपना सिद्ध कर डालो।

विवादगोचरो वेद्याद्याकारो भ्रान्तभासजः।
अथ स्वप्नादिपर्यायाकारवद्यदि वृत्तयः ॥ १३२ ॥
विभ्रान्त्या भेदमापन्नो विच्छेदो विभ्रमात्मकः।
विच्छेदत्वाद्यथा स्वप्नविच्छेद इति सिध्यतु ॥ १३३ ॥

इसके अनन्तर बौद्ध अपना कथन प्रारम्भ करते हैं कि विवादमें विषय पडा हुआ वेद्य अंश आदिका भेद या देशभेद, आकारभेद ये सब भिन्न भिन्न आकार (पक्ष) भ्रांत ज्ञानसे उत्पन्न हुए हैं (साध्य) भिन्न भिन्न ग्राह्य आदि आकारपना होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वप्न, मूर्च्छित, या मत्त अवस्थामें अनेक भिन्न भिन्न ग्राह्य आकारवाले भ्रांतज्ञान हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकारसे तुम बौद्ध अब अनुमानकी प्रवृत्तियां करोगे तो यह भी अनुमान सिद्ध हो जावे कि विपर्यय या भ्रांतज्ञानसे भेदको प्राप्त हुआ अर्थात् सच्चे प्रमाणस्वरूप विशेष स्वसंवेदन ज्ञानका क्षण क्षणमें बदलते हुए बीचमें व्यवधान होना भी (पक्ष) विभ्रम स्वरूप है (साध्य) विच्छेद होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वप्नका विच्छेद (अन्वयदृष्टांत)। इस अनुमानसे विच्छेदको भी भ्रमपना सिद्ध हो जाओ, जो कि बौद्धोंको अनिष्ट है। बौद्ध जन संवेदनको मानते हुए भी संवेदनके क्षण क्षणके परिणामोंमें बीचमें विच्छेद पड जाना इष्ट करते हैं। तभी तो उनका क्षणिकत्व बन सकेगा। यदि न्यारे न्यारे विच्छेदोंका होना भी भ्रांत हो जावेगा तो ज्ञान नित्य, एक, अन्वयी, हो जावेगा। इससे तो ब्रह्मवादियोंकी पुष्टि होवेगी।

न हि स्वप्नादिदशायां ग्राह्याकारत्वं भ्रान्तत्वेन व्याप्तं दृष्टं न पुनर्विच्छेदत्वमिति शक्यं वक्तुं प्रतीतिविरोधात्।

बौद्ध लोग एकान्तरूपसे विशेषतत्त्वको मानते हैं। उनके यहां सामान्य पदार्थ वस्तुभूत नहीं माना गया है। पहिले क्षणका परिणाम उत्तरक्षणके परिणामसे न्यारा है। एक ही आत्मामें हुआ देवदत्तका ज्ञान यज्ञदत्तज्ञानसे विभिन्न है। व्यक्तियोंकी और कालकी अपेक्षासे सब परिणामोंमें व्यवधान करनेवाला विच्छेद माना गया है। संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध सोती हुयी या मत्त, मूर्च्छित आदि अवस्थामें होनेवाले ज्ञानोंके ग्राह्य अंश और ग्राहक अंशोंको भ्रमरूप समझते हैं। और इस

दृष्टान्तमें ग्राह्य आकारोंकी भ्रान्तपनेके साथ व्याप्तिको ग्रहणकर जागते हुए स्वस्थ अवस्थाके ज्ञानोंमें भी प्रतीत होरहे ग्राह्यग्राहक अंशोंको भ्रांतपना सिद्ध कर देते हैं। किन्तु हम कहते हैं कि स्वप्न आदि अवस्थाके ज्ञान परिणामोंमें पाये जारहे भिन्न भिन्न विच्छेदका जानना भी तो भ्रमरूप है। यह नहीं कह सकते हो कि स्वप्नदशाके ज्ञान आकार तो भ्रमरूप होवें और उनके बीच बीचमें पडा हुआ विच्छेद होना फिर भ्रमरूप न होवे। ऐसा कहनेपर तो आप बौद्धोंको प्रतीतियोंसे विरोध होगा। अतः स्वप्नज्ञानके विच्छेदको भ्रमरूप निदर्शन करके परमार्थभूत संवेदनाद्वैतके परिणामोंमें पडे हुए विच्छेदका भ्रमपना सिद्ध होजावेगा, अर्थात् संवेदनाद्वैतके क्षणक्षणमें होनेवाले विशिष्ट परिणाम अनेक न बन सकेंगे। क्योंकि उन परिणामोंका अन्तरालवर्ती विच्छेदन माना जावेगा तो संवेदनाद्वैत नित्य हो जावेगा। तथा विशेषको ही एकान्तरूपसे माननेवाले बौद्धोंको सामान्य माननेका भी प्रसंग आता है।

तदुभयस्य भ्रान्तत्वसिद्धौ किमनिष्टमिति चेत् ?।

बौद्ध कहते हैं कि ग्राह्य आकार और ज्ञानसम्बन्धी संतानियोंके बीच बीचमें पडा हुआ विच्छेद वे दोनों ही यदि भ्रांत सिद्ध होजावेंगे तो हमको क्या अनिष्ट प्राप्त होगा ? निरंश संवेदनसे जितने झगडे दूर होजावें, वही अच्छा है। अर्थात् दोनोंको भ्रांत हो जानेदो। हमको कोई आपत्ति नहीं है। ऐसा बौद्धोंके कहनेपर आचार्य महाराज सुझाते हैं कि—

नित्यं सर्वगतं ब्रह्म निराकारमनंशकम्।
कालदेशादिविच्छेदभ्रांतत्वेऽकलयद्द्वयम् ॥ १३४ ॥

द्वैत पदार्थोंका निरूपण नहीं करता हुआ संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध यदि कालके मध्यवर्ती व्यवधापकोंका व्यवच्छेद होना, और भिन्न भिन्न देशोंका मध्यमें पडे हुए अंतरालरूप विच्छेदका होना या विशिष्ट आकारोंके स्थापन करनेके लिये ज्ञानमें माने गये आकारोंके मध्यवर्ती विच्छेद होना, आदि इनको भ्रांतरूप कहेंगे तो वह संवेदनाद्वैत बिचारा परमब्रह्मके समान नित्य, सर्वव्यापक, निराकार और निरंश बन जावेगा, जो कि आपको अनिष्ट है। अथवा संवेदनकी सिद्धि करते हुये ब्रह्माद्वैत सिद्ध हो जावेगा। कालविच्छेद, देशविच्छेद, आकारव्यवधान, अंशभेदका खण्डन कर देनेसे नित्य, व्यापक, निराकार निरंश ब्रह्म अवश्य सिद्ध हो जावेगा।

कालविच्छेदस्य भ्रांतत्वे नित्यं, देशविच्छेदस्य सर्वगतमाकारस्य निराकारमंश। विच्छेदस्य निरंशं, ब्रह्म सिद्धं क्षणिकाद्वैतं प्रतिक्षिपतीति कथमनिष्टं सौगतस्य न स्यात्।

यदि ज्ञानमें भिन्न समयके ज्ञान परिणामोंका व्यवधान करनेवाले कालविच्छेदको भ्रांत होना मानोगे तो आपका संवेदन नित्य हो जावेगा। क्योंकि कालका विच्छेद ही तो उसके क्षणिक अनित्यको बनाये हुए था। किंतु आपने उसको भ्रांत मान लिया, तब तो ज्ञान नित्य हो ही जावेगा। ऐसे ही

भिन्न भिन्न देशोंकी विशेषताको करनेवाले देशविच्छेदको आप भ्रांत मानेंगे तो वह संवेदन सर्वव्यापक बन जावेगा। क्योंकि आकाशके एक एकप्रदेशमें पडा ज्ञानका एक एक परमाणु आपने एकदेशवृत्ति अव्यापक माना है। किंतु देशका अंतराल यदि टूट जावेगा तो बंधके टूट जानेपर तालाबके समान ज्ञान व्यापक हो जावेगा, जैसे कि महास्कंध वर्गणाएं जगत्‌भरमें व्यापक है। इसी प्रकार आकारोंके विशेषोंको भ्रांतरूप मानलोगे तो संवेदन निराकार होजावेगा। किंतु आपने ज्ञानको साकार माना है। ज्ञानकी साकारता ही आपके मतमें प्रमाणताका प्राण है। तथा न्यारे न्यारे ज्ञान परमाणुओंके अंशोंमें पडे हुए अंशविच्छेदोंको यदि भ्रांत कहोगे तो संवेदन निरंश होजावेगा। किंतु आपने ज्ञानोंको स्वकीय स्वकीय शुद्ध अंशोंसे सांश माना है। अतः विच्छेदोंके भ्रांतपने होजानेसे ब्रह्मवादियोंका मत सिद्ध हुआ जाता है। क्योंकि ब्रह्मवादी अपने ब्रह्म तत्त्वको नित्य, व्यापक, निराकार और निरंश मानते हैं। अतः परमब्रह्मकी सिद्धि होजाना ही आपके माने हुए क्षणिक संवेदनाद्वैतका खण्डन करदेती है। इस प्रकार बौद्धोंको क्यों नहीं अनिष्ट होगा!। अर्थात् संवेदनाद्वैतको तो सिद्ध करने बैठे, किंतु उसके सर्वथा विपरीत ब्रह्माद्वैत सिद्ध होगया। यही तो बडा भारी अनिष्ट है। व्यर्थका गौरव आलापनेसे कोई कार्य नहीं चलता है।

नित्यादिरूपसंवित्तेरभावात्तदसम्भवे।
परमार्थात्मतावित्तेरभावादेतदप्यसत् ॥ १३५ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि नित्य, व्यापक, निराकार और निरंश आदि स्वरूपवाले ऐसे परब्रह्मकी ज्ञप्ति नहीं होती है। अतः उस ब्रह्मतत्त्वका सिद्ध होना असम्भव है। ऐसा कहनेपर तो हम भी कहदेंगे कि परमार्थस्वरूप क्षणिक अद्वैत संवेदनकी ज्ञप्ति नहीं होरही है! अतः आपका यह संवेदनाद्वैत भी शशविषाणके समान असत् पदार्थ है यानी कुछ भी नहीं है।

न हि नित्यत्वादिस्वभावे परमार्थात्मादिस्वभावे वा संविच्यभावं प्रति विशेषोऽस्ति, यतो ब्रह्मणोसत्यत्वे क्षणिकत्वे संवेदनाद्वैतस्यासत्यत्वं न सिध्येत्।

जैसे आप कहते हैं कि नित्य, व्यापक होना आदि स्वभाववाले ब्रह्मकी ज्ञप्तिका कोई उपाय नहीं है, वैसे ही आपके परमार्थभूत, क्षणिक, साकार, परमाणुस्वरूप स्वांश आदि स्वभाववाले संवेदनकी भी किसीको ज्ञप्ति नहीं होरही है। अतः दोनों महाशयोंके अभीष्ट होरहे परमब्रह्म और संवेदनमें समीचीन ज्ञप्ति न होनेकी अपेक्षासे कोई अंतर नहीं है। जिससे कि आप बौद्धके कथनानुसार ब्रह्मतत्त्वका असत्यपना तो सिद्ध होजावे और क्षणिक होते हुए आपके माने हुए संवेदनाद्वैतकी असत्यता सिद्ध न होवे। भावार्थ—हमारी दृष्टिसे दोनों भी असत्य हैं। जो तत्त्व प्रमाणोंसे नहीं जाना जाता है, उसके सत्त्वकी सिद्धि नहीं मानी जाती है।

न नित्यं नाप्यनित्यत्वं सर्वगत्वमसर्वगम् ।
नैकं नानेकमथवा स्वसंवेदनमेव तत् ॥ १३६ ॥
समस्तं तद्वचोन्यस्य तन्नाद्वैतं कथञ्चन ।
स्वेष्टेतरव्यवस्थानप्रतिक्षेपाप्रसिद्धितः ॥ १३७ ॥

पुनः बौद्ध कहते हैं कि संवेदन न तो नित्य है और उसे अनित्यत्व भी नहीं है, तथा वह व्यापक भी नहीं है और अव्यापक भी नहीं है, अथवा वह एक भी नहीं है और न अनेक है। वह जो कुछ है सो स्वसंवेदन ही है। जो कुछ आप लोग इसके कहनेके लिये विशेषण देंगे, वह उन संपूर्ण वचनोंके वाच्यसे रहित ही है। जितने कुछ आप लोगोंके वचन हैं, वे सब कल्पित अन्य पदार्थोंको कहते हैं। संवेदन तो अवाच्य है। आचार्य समझाते हैं कि वह बौद्धोंका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार तो संवेदनाद्वैतकी सिद्धि कैसे भी नहीं हो सकेगी। कारण कि अपने इष्ट तत्त्वकी व्यवस्था करना और अनिष्ट पक्षका खण्डन करना ये दोनों तो शब्दके विना अद्वैतवादमें बढिया सिद्ध नहीं हो सकते हैं। ऐसी दशामें आपका सर्व प्रयास करना व्यर्थ जाता है।

स्वेष्टस्य संवेदनाद्वयस्य व्यवस्थानमनिष्टस्य भेदस्य पुरुषाद्वैतादेर्वा प्रतिक्षेपो यतोऽस्य न कथञ्चनापि प्रसिध्यति, ततो नाद्वैतं तत्त्वं बंधहेत्वादिशून्यमास्थातुं युक्तमनिष्टतत्त्ववत् ।

जिस कारणसे कि इस संवेदनाद्वैतवादी बौद्धके यहां अपनेको इष्ट हो रहे संवेदनाद्वैतकी व्यवस्था करना और अपने अनिष्ट माने गये द्वैतका अथवा पुरुषाद्वैत, शद्बाद्वैत तथा चित्राद्वैतका खण्डन करना प्रमाणद्वारा कैसे भी नहीं सिद्ध होता है। इस कारण बौद्धोंसे माना गया अद्वैतरूपी तत्त्व विचारा, बंधके कारण, कार्य और मोक्षके कारण सम्यग्ज्ञान आदि स्वभावोंसे रहित होता हुआ कैसे भी युक्तियोंसे सहित सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि आपको सर्वथा अनिष्ट हो रहे तत्त्वोंकी आपके यहां प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं होती है। जिस दर्शनमें बंध, सम्यग्ज्ञान, आदिकी व्यवस्था नहीं है, उसपर श्रद्धा नहीं करनी चाहिये। अतः एकसौ सत्रहवीं वार्तिकके अनुसार नित्यपक्ष और क्षणिक पक्षमें आत्मा बंध, मोक्ष आदि अर्थक्रियाओंका हेतु नहीं हो पाता है, यह सिद्धांत युक्तियोंसे सिद्ध कर दिया गया है।

नन्वनादिरविद्येयं स्वेष्टेतरविभागकृत् ।
सत्येतरैव दुःपारा तामाश्रित्य परीक्षणा ॥ १३८ ॥
सर्वस्य तत्त्वनिर्णीतेः पूर्वं किं चान्यथा स्थितिः ।
एष प्रलाप एवास्य शून्योपप्लववादिवत् ॥ १३९ ॥

किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोन्यत्र वर्तते ।
सर्वविप्रतिपत्तौ हि कचिन्नास्ति विचारणा ॥ १५० ॥

बौद्ध फिर भी सशंक होकर स्वपक्षका अवधारण कर रहे हैं कि संसारी जीवोंके अनादि कालसे यह अविद्या लगी हुयी है उसका पार पाना अतीव कठिन है। उस अविद्याके द्वारा ही सम्वेदनाद्वैत इष्ट है और पुरुषाद्वैत अनिष्ट है। क्षणिक तत्त्वका मण्डन करना है। नित्य ब्रह्मका खण्डन करना है। एक वादी है, दूसरा प्रतिवादी है, इत्यादि अपनेको इष्ट या अनिष्ट होरहे विभाग किये जा रहे हैं। वास्तवमें वह अविद्या असत्य ही है। किंतु उस अविद्याका आश्रय लेकर तत्त्वोंकी परीक्षा की जाती है, जैसे कांटेसे ही कांटेकी जांच करते हैं या कपटसे दूसरेका कपट विचारा जाता है। सम्पूर्ण ही वादी पण्डित तत्त्वोंका निर्णय हो जानेके पहिले कल्पित अविद्याको स्वीकार करते हैं। तथा निर्णय हो चुकनेपर दूसरे प्रकारसे पदार्थोंकी व्यवस्था कर दी जाती है। भावार्थ—हम संवेदनाद्वैतवादी तत्त्वनिर्णयके पहिले प्रमाण, प्रमेय, खण्डन, मण्डन, इष्ट, अनिष्ट आदिकी कल्पनाको अविद्यासे कर लेते हैं। अद्वैतके सिद्ध हो जाने पर पीछेसे सबको त्याग कर शुद्ध संवेदनकी प्रतीति कर लेते हैं। आचार्य बोध कराते हैं कि इस प्रकार इन बौद्धोंका यह कहना भी शून्यवादी और तत्त्वोंका उपप्लव कहनेवालोंके समान प्रलापमात्र ही है। ऐसा कहनेमें सारांश कुछ भी नहीं है। केवल आग्रहभाव ही है। कुछ भी निर्णीत किये गये प्रमाण या हेतु तथा आगमका आश्रय लेकर तो अन्य विवादस्थल पदार्थमें विचार चलाया जाता है। जब कि बौद्धोंको सब ही उपाय और उपेय तत्त्वोंमें विवाद पड़ा हुआ है अर्थात् किसी भी प्रमाण और प्रमेयका निर्णय नहीं है ऐसी दशामें तत्त्वोंकी परीक्षा करना ही कैसे हो सकता है। कहीं भी विचार नहीं चल सकता है। जिस सम्भ्रांत पुरुषको अग्नि, कसौटी, भारीपन, छेदकी चमक, आदिका ही निर्णय नहीं है वह सुवर्णकी क्या परीक्षा कर सकता है?। ऐसे ही शून्यवादी और तत्त्वोपप्लववादियोंके समान कतिपय भी प्रमाण और प्रमेयोंका निर्णय न होनेसे सौगतके सम्वेदनाद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती है। कमसे कम प्रमाण, प्रमेय, प्रतिपाद्य, प्रतिपादक, शब्द, हेतु, साध्य आदि तो अवश्य मानने चाहिये।

न हि सर्वं सर्वस्यानिर्णीतमेव विचारात्पूर्वमिति स्वयं निश्चिन्वन् किञ्चिन्निर्णीतमिष्टं प्रतिक्षेप्तुमर्हति विरोधात्।

सभी वादी प्रतिवादियोंको विचार करनेसे पहिले सभी तत्त्व अनिर्णीत ही होते हैं। इस बातको स्वयं निश्चय करता हुआ शून्यवादी या तत्त्वोपप्लववादी कुछ निर्णय किये हुए इष्ट पदार्थको अवश्य इष्ट करता है। सभी प्रकारसे सबका खण्डन करनेके लिये नियुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि विरोध है। अर्थात् जो विचार करनेसे पहिले निर्णय न होना कह रहा है, उस वादीको अन्तरंगमें

कुछ न कुछ तत्त्व तो अभीष्ट है ही। इष्ट तत्त्वको माने विना खण्डन, मण्डन, किस उद्देश्यसे होगा। और शून्यवादी जब विचारसे पहिले तत्त्वोंका निर्णय न होना निश्चयसे जान रहा है तो वह निश्चय ज्ञान ही उसका माना हुआ तत्त्व कहना चाहिये। तत्त्वोंका निर्णय भी तो उसको अभीष्ट है।

तत्रेष्टं यस्य निर्णीतं प्रमाणं तस्य वस्तुतः।
तदन्तरेण निर्णीतेस्तत्रायोगादनिष्टवत् ॥ १४१ ॥

जिसके यहां कुछ भी इष्ट तत्त्वका निर्णय किया गया है, उसके यहां वास्तविक रूपसे कोई प्रमाण अवश्य माना गया है। क्योंकि उस प्रमाणके विना वहां इष्ट पदार्थमें निश्चय करना ही नहीं बनता है। प्रमाणके विना अनिष्ट तत्त्वका निर्णय नहीं होता है। अतः प्रमाण मानना तो अनिवार्य हुआ। यों पांच अवयववाला अनुमान बना दिया गया है।

यथानिष्टे प्रमाणं वास्तवमन्तरेण निर्णीतिर्नोपपद्यते तथा स्वयमिष्टेऽपीति, तत्र निर्णीतिमनुमन्यमानेन तदनुमन्तव्यमेव।

जैसे कि अपनेको नहीं रुचते हुए पदार्थमें वास्तविक प्रमाणको माने विना अनिष्टपनेका निर्णय करना सिद्ध नहीं होता है, वैसे ही स्वयंको अभीष्ट होरहे पदार्थमें भी प्रमाण माने विना निर्णय नहीं होने पाता है। अब उस इष्ट अनिष्ट पदार्थमें निर्णय करनेको विचारपूर्वक स्वीकार करनेवाले अद्वैतवादियों करके वह प्रमाण तो अवश्य स्वीकार करलेना ही चाहिये। बौद्धोंने स्वसंवेदनको माना है। किंतु प्रमाण, प्रमेय, ग्राह्य, ग्राहक, स्वभावोंसे रहित स्वीकार किया है। ऐसे कोरे सम्वेदनसे इष्ट, अनिष्ट पदार्थोंका निर्णय नहीं होसकता है।

तत्स्वसंवेदनं तावद्यद्युपेयेत केनचित्।
संवादकत्वतस्तद्वदक्षलिंगादिवेदनम् ॥ १४२ ॥
प्रमाणान्निश्चितादेव सर्वत्रास्तु परीक्षणम्।
स्वेष्टेतरविभागाय विद्या विद्योपगामिनाम् ॥ १४३ ॥

किसी उपायके द्वारा संवेदनका निर्णय करना यदि आप स्वीकार कर लेंगे और सफल प्रवृत्तिको करानेवाले सम्वादकपनेसे उस स्वसंवेदनको ही प्रमाण सिद्ध करोगे, तब तो उसीके समान इंद्रियोंसे जन्य प्रत्यक्ष ज्ञानको और हेतुसे जन्य अनुमान ज्ञानको तथा शब्दजन्य आगम ज्ञान आदिको भी प्रमाण स्वीकार करलेना चाहिये। अतः निर्णीत किये हुए प्रमाणसे ही सब स्थानोंपर तत्त्वोंका परीक्षण होवें। यों सम्यग्ज्ञानको स्वीकार करनेवाले वादियोंके यहां प्रमाणरूप विद्या ही अपने इष्ट और अनिष्टपदार्थके विभाग करनेके लिये समर्थ होती है। अविद्या विचारी स्वयं तुच्छ है। वह इष्टानिष्टका विभाग क्या करेगी? प्रत्युत सत्पदार्थों मेंसे उसी अविद्याका विभाग (दूरीकरण) हो जाता है। अर्थात् वह स्वयं विभक्त हो जाती है।

स्वसंवेदनमपि न स्वेष्टं निर्णीतं येन तस्य संवादकत्वात्तत्त्वतः प्रमाणत्वे तद्वदक्षलिंगादिजनितवेदनस्य प्रमाणत्वसिद्धेर्निश्चितादेव प्रमाणात् सर्वत्र परीक्षणं स्वेष्टेतरविभागाय विद्या प्रवर्तेत तत्त्वोपप्लववादिनः, परपर्यनुयोगमात्रपरत्वादिति कश्चित् । सोऽपि यत्किञ्चनभाषी, परपर्यनुयोगमात्रस्याप्ययोगात् । तथाहि—

पदार्थोंको सर्वथा नहीं मानना, विचारके पीछे पीछे सबको शून्य कहते जाना शून्यवाद है, और विचारसे पहिले व्यवहाररूपसे सत्य मानकर विचार होनेपर सर्व प्रमाण, प्रमेय पदार्थोंका न स्वीकार करना तत्त्वोपप्लववाद है। तत्त्वोपप्लववादीकी ओरसे कोई कहता है कि हम स्वसंवेदनको भी प्रमाणस्वरूपसे इष्ट होनेका निर्णय नहीं करते हैं और अद्वैतवादियोंके मूल स्वसंवेदनको भी नहीं मानते हैं, जिससे कि आप जैन लोग हमको यह कह सकें कि संवादकपनेसे उस स्वसंवेदनको जब वास्तविकरूपसे प्रमाणता मान लोगे तो उसीके समान इंद्रिय, हेतु और शब्दसे उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ज्ञानोंको भी प्रमाणता सिद्ध हो ही जावेगी और निश्चित प्रमाणके द्वारा ही सब ही स्थलोंपर परीक्षा होकरके अपने इष्ट अनिष्ट तत्त्वोंके विभागके लिये सम्यग्ज्ञान ही प्रवर्तेगा। बंधुवर्य, यह तो आप जैनोंका कहना तब बनता, जब कि हम कोई एक भी तत्त्व मान लेते। किंतु हम तत्त्वोंका समूल चूल अभाव कहनेवाले उपप्लववादी एक तत्त्वको भी इष्ट नहीं करते हैं। हम वितण्डावादी हैं। दूसरेके माने हुए तत्त्वोंमें चोद्य उठाकर उनके खण्डन करनेमें ही हम तत्पर रहते हैं। स्वयं अपनी गांठका मत कुछ भी नहीं रखते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई उपप्लववादीका सहायक कह रहा है। किंतु वह भी जो कुछ यों ही अण्टसण्ट निस्तत्त्व बकवाद करनेकी टेव रखता है। क्योंकि प्रमाणका निर्णय किये विना दूसरे वादियोंके तत्त्वोंपर खण्डन करनेके लिये केवल प्रश्नोंकी भरमार या आक्षेप उठाना भी तो नहीं बन सकेगा। इसी बातको आचार्य महाराज स्पष्ट कर दिखलाते हैं—सुनिये और समझिये।

यस्यापीष्टं न निर्णीतं क्वापि तस्य न संशयः ।
तदभावे न युज्यन्ते परपर्यनुयुक्तयः ॥ १४४ ॥

जिसके यहां कोई भी इष्ट तत्त्व निर्णीत नहीं किया गया है, उसको कहीं भी संशय करना नहीं बन सकता है। भूभवनमें उपजकर वहीं पाला गया मनुष्य तो ठूंठ या पुरुषका अथवा चांदी या सीपका संशय नहीं कर पाता है। और जब दूसरेके तत्त्वोंमें कटाक्ष करनेके लिये वह संशय ही यदि न बनेगा तो दूसरे वादियोंके ऊपर कुचोद्योंका निरूपण करना भी तत्त्वोपप्लववादियोंका न बन सकेगा, यह प्रतिपत्ति (खातिर) भण्डार (जमा) रखो।

कथमव्यभिचारित्वं वेदनस्य निश्चीयते ? किमदुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वेन बाधारहितत्वेन प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वेति प्रमाणतत्त्वे पर्यनुयोगाः संशयपूर्वकास्तदभावे तदसु-

म्भवात्, किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इत्यादेः पर्यनुयोगवत् । संशयश्च तत्र कदाचित्कचिन्निर्णयपूर्वकः स्थाण्वादिसंशयवत्। तत्र यस्य क्वचित्कदाचिददुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वादिना प्रमाणत्वनिर्णयो नास्त्येव तस्य कथं तत्पूर्वकः संशयः, तदभावे कुतः पर्यनुयोगाः प्रवर्तेरन्निति न परपर्यनुयोगपराणि बृहस्पतेः सूत्राणि स्युः ।

उपप्लववादी जन अंतरंग बहिरंग प्रमाण, प्रमेय, तत्त्वोंको माननेवाले जैन, मीमांसक, नैयायिक आदिके ऊपर उपाय उपेय तत्त्वोंका खण्डन करनेके लिये इस प्रकार कुचोद्य उठाते हैं कि अव्यभिचारी (मिथ्याज्ञानसे भिन्न) ज्ञानको आप लोग प्रमाण मानते हैं । अब आप जैन, नैयायिक, आदि बतलाइये कि ज्ञानका अव्यभिचारीपन कैसे निश्चय किया जाता है ? । क्या निर्दोष कारणोंके समुदायसे ज्ञान बनाया गया है, इस कारण प्रमाण है ? या बाधाओंसे रहित हैं, अतः मीमांसकोंसे माना गया ज्ञान प्रमाण है ? अथवा जिसको जाने, उसमें प्रवृत्ति करे और उसी ज्ञेयरूपी फलको प्राप्त करे या उस ज्ञानका सहायक दूसरा ज्ञान पैदा करले इस प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे नैयायिक लोग ज्ञानमें प्रमाणता लाते हैं ? बतलाओ। अथवा दूसरे प्रकारोंसे अविसंवादीपन आदिसे बौद्ध लोग ज्ञानमें प्रमाणता लाते हैं ? कहिये। आचार्य समझाते हैं कि उक्त ये सब उपप्लववादियोंके पर्यनुयोग उठाना संशयपूर्वक ही हो सकते हैं । उस संशयके माने विना उक्त वह प्रश्नमालाका उठाना असम्भव है, जैसे कि यह क्या स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष है ? अथवा क्या यह लेजु है या सर्प है ? आदि प्रश्नरूप चोद्य उठाना संशयको माने विना नहीं बनते हैं । जहां कहीं भी किसी पदार्थका अवलंब लेकर किसीको संशय होता है । उस पदार्थमें पहिले कभी न कभी किसी स्थलपर निर्णय अवश्य कर लिया गया है, जिस मनुष्यने कहीं भी स्थाणु और पुरुषका तथा सांप और लेजुका ठीक ठीक पूर्वमें निश्चय करलिया है । वही मनुष्य साधारण धर्मोंका प्रत्यक्ष होनेपर और विशेष धर्मोंका प्रत्यक्ष न होनेपर किंतु विशेषधर्मोंका स्मरण होनेपर मिथ्याक्षयोपशमके वश होकर स्थाणु, पुरुषका या लेजु, सांपका संशय कर बैठता है । उस प्रकरणमें यह कहना है कि जिसको, कहीं भी कभी संशय होगा उसे किसीका पहिले निर्णय अवश्य होना चाहिये, जब कि शून्यवादी किसी भी प्रमाण व्यक्तिमें निर्दोष कारणोंसे जन्यपने और बाधारहितपने आदिसे प्रमाणपनेका निर्णय ही नहीं मानरहा है तो उसे नैयायिक, मीमांसकोंके प्रमाण तत्त्वमें संशय उठानेका क्या अधिकार है ? और पूर्वमें उस कुछ निर्णयको मानकर हुये संशयको उठा भी कैसे सकता है ? उसको तो यही कहते जाना चाहिये कि प्रमाण नहीं हैं। प्रमाण नहीं हैं। विशेष धर्मोंके द्वारा संशय उठाना सामान्य प्रमाणकी स्वीकृतिको और अपनेको इष्ट होरहे विशेष प्रमाणकी स्वीकृतिको अनुमित करा देता है । संशय करनेवालेको संदिग्ध विषयोंका कहीं कभी निर्णय करना आवश्यक है । तभी तो उन विशेषोंका अब संशय करते समय स्मरण होसकता है । अब निर्दोष चक्षुरादि कारणोंसे पैदा होनापन आदि किसी प्रमाणमें नहीं जाना गया तो उसका प्रश्न उठाकर संशय करना कैसे बन-

सकेगा ? और जब वह संशय नहीं बना तो प्रमाण, प्रमेय वादियोंके ऊपर उपप्लववादियोंकी प्रश्नमाला कैसे प्रवर्तेगी ? । इस प्रकार दूसरे आस्तिकोंके इष्ट किये गये प्रमाण, प्रमेय पदार्थोंके खण्डनार्थ बृहस्पतिके सूत्र दूसरे मतोंके ऊपर कुचोद्य करनेमें ही तत्पर नहीं हो सकते हैं । सम्भवतः बृहस्पतिने चार्वाकदर्शनका पोषण कर पीछेसे सर्व तत्त्वोंका उपप्लव स्वीकार किया होय ।

ओमिति ब्रुवतः सिद्धं सर्वं सर्वस्य वाञ्छितम् ।
क्वचित्पर्यनुयोगस्यासम्भवात्तन्निराकुलम् ॥ १४५ ॥

यदि उपप्लववादी यों कहें कि हमारे यहां प्रमाण, प्रमेय, आदिका निर्णय नहीं है, भले ही संशय मत बनो ! प्रश्नोंकी प्रवृत्ति भी न हो ! बृहस्पति ऋषिके सूत्र भी दूसरोंके ऊपर पर्यनुयोग न कर सकें, इसमें हमारी कोई क्षति नहीं है । हम उक्त आपत्तियोंको सहर्ष स्वीकार करते हैं । तत्त्वोंका उपप्लव हमको इष्ट है, सो विना प्रयासके सिद्ध हो रहा है । अच्छा अवसर है " यस्य देवस्य गन्तव्यं, स देवो गृहमागतः " जिस अतिथिकी सेवाके लिये हम बाहिर जा रहे थे, वे अतिथि हमारे घरपर ही स्वयं सहर्ष आगये हैं । ऐसा कहनेवालोंके प्रति आचार्य महाराज कहते हैं कि यों तो सब ही को अपने अपने अभीष्ट सर्व ही तत्त्व सिद्ध हो जावेंगे । कहीं भी प्रश्न करना नहीं सम्भव होगा । तिस कारण आकुलतारहित होकर सब अपने अपने प्रयोजनकी बातोंको सिद्ध कर लेंगे । भावार्थ—जब कि प्रमाण, प्रमेय, प्रश्न करना, संशय करना आदिकी व्यवस्थायें नहीं मानी जाती हैं तो फिर यों ही पोल चलेगी, चाहे जो कोई भी अपने मनमानी बातको पुष्ट कर लेवेगा ।

ततो न शून्यवादवत् तत्त्वोपप्लववादो वादांतरव्युदासेन सिध्येत् तथानेकांतस्यैव सिद्धेः ।

तिस कारणसे शून्यवादके समान दीखते हुए तत्त्वोंका अपलाप करनेवाला तत्त्वोपप्लववाद भी सिद्ध नहीं हो पाता है, जो कि यह कहता है कि हम तत्त्वोपप्लववादको अङ्गीकार करते हुए अन्य आस्तिकोंके वादोंका खण्डन करते हैं । भावार्थ—शून्यवादी और उपप्लववादी इतर वादोंका खण्डन नहीं कर सकते हैं । और उस प्रकार जैनोंके अनेकांत तत्त्वकी ही सिद्धि होती है । अपने इष्ट उपप्लवकी सिद्धि करना और अन्यवादोंका खण्डन करना यही तो अनेकात आपने मान लिया । आप अनेकांतसे बच नहीं सकते हैं ।

शून्योपप्लववादेऽपि नानेकांताद्विना स्थितिः ।
स्वयं क्वचिदशून्यस्य स्वीकृतेरनुपप्लुते ॥ १४६ ॥

शून्यतायां हि शून्यत्वं जातुचिन्नोपगम्यते ।
तथोपप्लवनं तत्त्वोपप्लवेऽपीतरत्र तत् ॥ १४७ ॥

शून्यवाद और उपप्लववादमें भी किसी वादीका स्थिर रहना अनेकांतके विना नहीं हो सकता है। क्योंकि किसी शून्यतत्त्वमें तो शून्यरहितपना अपने आप स्वीकार करना ही पडेगा। अन्यथा शून्यवादकी सिद्धि ही न हो सकेगी। तथा कहीं न कहीं उपप्लव (विचार करनेपर प्रमेय, प्रमाण आदि तत्त्वोंका उड जाना) तत्त्वमें तो नहीं उड जानापन मानना आवश्यक है। उपप्लवको उपप्लवरहित माननेपर ही इष्टसिद्धि हो सकेगी। अतः शून्यवादियोंके शून्यपनारूप तत्त्वमें शून्यता कभी भी नहीं मानी जा सकती है। वैसे ही तत्त्वोंका उपप्लव माननेपर भी उपप्लवका उपप्लव (प्रलय) हो जाना नहीं माना जावेगा। अतः शून्यपन, अशून्यपन और उपप्लव, अनुपप्लव यों अनेकांतकी शरण लेना ही आप लोगोंको आवश्यक हुआ। शून्यमें अशून्यपनके समान घट, प्रमाण, प्रमेय, आदि अन्य पदार्थोंमें भी वह अशून्यपना है तथा उपप्लवमें अनुपप्लवके समान दूसरे प्रमाण, प्रमेय, आदि पदार्थ भी उपप्लवरहित हैं।

शून्यमपि हि स्वस्वभावेन यदि शून्यं तथा कथमशून्यवादो न भवेत्। न तस्याशून्यत्वेऽनेकान्तादेव शून्यवादप्रवृत्तिः, शून्यस्य निःस्वभावत्वात्। न स्वभावेनाशून्यता नापि परस्वभावेन शून्यता खराविषाणादेरिव तस्य सर्वथा निर्णेतुमशक्तेः कुतोनेकान्तसिद्धिरिति चेत्, तर्हि तत्त्वोपप्लवमात्रमेतदायातं शून्यतत्त्वस्याप्यप्रतिष्ठानात्। न तदपि सिध्यत्यनेकान्तमन्तरेण तत्त्वोपप्लवमात्रेनुपप्लवसिध्देः। तत्राप्युंपप्लवे कथमखिलं तत्त्वमनुपप्लुतं न भवेत्॥

शून्यवादीका इष्ट तत्त्व होरहा शून्य भी यदि अपने स्वभाव करके अवश्य शून्य है, तब तो अशून्यवाद क्यों न हो जावेगा ? घटके शून्यपनेसे जैसे अघटपना छा जाता है, वैसे ही शून्यके भी शून्य हो जानेसे अशून्यपना आजावेगा अर्थात् सर्व ही प्रमाणोंसे निर्णीत किये गये पदार्थ सिद्ध हो जावेंगे। और यदि निषेधरूप उस शून्यको अशून्यपना मानोगे, तब शून्यवाद तो बन जावेगा। किन्तु *अशून्यपना भी आपके कहनेसे ही सिद्ध हो जावेगा*। इस प्रकार अनेकान्तवादसे ही शून्यमतकी प्रवृत्ति हो सकेगी। यहां कोई शून्यवादी कहते हैं कि अशून्य कहते हुए भी अनेकान्तसे शून्य होना हम नहीं मानते हैं। क्योंकि शून्यतत्त्व तो अखिल स्वभावोंसे रहित है। न तो उसको अपने भाव करके अशून्यपना है और न दूसरोंके स्वभावकरके शून्यपना है। जैसे कि गर्दभका सींग या वंध्याका पुत्र आदि अपने आप शून्य हैं। स्वभावसे अस्तित्व और परभावसे नास्तित्व ये धर्म यहां नहीं हैं। सर्व प्रकारसे रीते उस शून्यमें खरविषाण आदिके समान शून्यपन और अशून्यपन धर्मोंका निर्णय भी नहीं किया जा सकता है। उस कारण आप जैनोंके अनेकान्त मतकी सिद्धि हम शून्यवादियोंको क्यों माननी पडेगी ?। भावार्थ—हमलोग अनेकान्तको सिद्ध नहीं मानते हैं। ग्रन्थकार समझाते हैं कि ऐसा पूर्व पक्ष करनेपर तब तो यह केवल तत्त्वोंका उपप्लव करना ही प्राप्त हुआ। तुम्हारे अभीष्ट शून्यतत्त्वकी भी कण्ठोक्त विधिरूपसे प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। यदि आप यों कहें कि तत्त्वोपप्लवकी ही सिद्धि हुयी सही, हम दोनों भाई हैं,

तो आपका वह तत्त्वोपप्लव भी अनेकान्तको माने विना सिद्ध नहीं होपाता है। क्योंकि उपप्लवका तो मात्र अनुपप्लव (नहीं खण्डन करना) रूपसे सिद्ध करना आपको मानना ही पडेगा। यदि उस केवल उपप्लवमें भी उपप्लव मानोगे अर्थात् आस्तिकोंके मन्तव्य खण्डन करनेका भी खण्डन कर दोगे तो सम्पूर्ण तत्त्व अनुपप्लत क्यों नहीं हो जावेंगे ? भावार्थ—सम्पूर्ण प्रमाण प्रमेय पदार्थ निर्दोषरूपसे सिद्ध हो जावेंगे। झूंठ बोलना यदि झूंठ सिद्ध हो जावे, तो सत्य पदार्थ प्रसिद्ध हो जाता है। शत्रुका शत्रु मित्र हो जाता है।

ननूपप्लवमात्रेऽनुपप्लव इत्ययुक्तं, व्याघातादभावे भाववत्। तथोपप्लवो न तत्र साधीयांस्तत एवाभावेऽभाववत्। ततो यथा न सन्नाप्यसन्नभावः सर्वथा व्यवस्थापयितुमशक्तेः किं तर्ह्यभाव एव, तथा तत्त्वोपप्लवोपि विचारात् कुतश्चिद्यदि सिद्धस्तदा न तत्र केनचिद्रूपेणोपप्लवो नाप्यनुपप्लवो व्याघातात्, किं तर्ह्युपप्लव एवेति नानेकान्तावतार इति चेत्।

यहां उपप्लववादी स्वपक्षका अवधारण करता है कि केवल उपप्लवमें अनुपप्लव मनवाना जैनोंका इस प्रकार आपादन तो युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि इसमें व्याघात दोष है। उपप्लव कहनेपर अनुपप्लव कहना नहीं बनता है। और अनुपप्लव माननेपर उपप्लव कहनेका घात हो जाता है। जैसे कि कोई तुच्छ अभाव माननेपर उसका भाव स्वीकार करें तो उसको वदतो व्याघात दोष लगता है। अभाव माननेपर भाव कहना नहीं बनता है और भाव मानना चाहेगा तो पहिले अभाव कहनेका घात होता है। और उस ही कारणसे केवल उपप्लव माननेपर उसका वहां उपप्लव मानना भी बहुत अच्छा नहीं है। क्योंकि यहां भी व्याघात दोष होता है। जैसे कि अभाव कहनेपर फिर उस अभावमें भी अभाव कहते जानेमें व्याघात दोष है। अर्थात् अभाव कहदेनेपर पुनः उसका अभाव नहीं कहा जाता है। वैसे ही उपप्लव कह देनेपर फिर उसका खण्डन करदेनारूप उपप्लवको हम नहीं मानते हैं। उस कारण जैसे तुच्छ अभावतत्त्व न सद्रूप है और न असत्रूप भी है। क्योंकि तुच्छ अभावको सभी प्रकारोंसे हम और तुम दोनों व्यवस्थापन करनेकेलिये अशक्त हैं। तब तो तुच्छ अभावके विषयमें हम दोनों क्या कहें ? इसका उत्तर यही है कि अभाव अभावरूप ही है। अभावमें अन्य विशेषणोंके देनेपर अनेक आपत्तियां आती हैं। वैसे ही तत्त्वोंका तुच्छ उपप्लव भी विचार करनेसे पीछे यदि किसी कारण सिद्ध होगया तब तो वहां किसी भी स्वभाव करके उपप्लव नहीं है और जब वहां उपप्लव नहीं है तो अनुपप्लव भी नहीं ठहरा। अन्यथा व्याघात दोष हो जावेगा। अर्थात् उपप्लवमें उपप्लव न होनेपर अनुपप्लवका कहना विरुद्ध है। तब तो फिर उपप्लव क्या है ? इसका उत्तर यही है कि उपप्लव उपप्लव ही है। " आप तो आप ही हैं " यह किंवदन्ती यहां घटित हो जाती है। इस प्रकार हमको अनेकान्तवादके अवतार करनेका कोई प्रसंग नहीं है। यदि इस प्रकार तत्त्वोपप्लववादी कहेंगे तो आचार्य महाराज उत्तर देते हैं सावधान होकर श्रवण कीजिये।

तर्हि प्रमाणतत्त्वं नादुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन नापि बाधारहितत्वादिभिः स्वभावैर्व्यवस्थाप्यते व्याघातात्, किं तु प्रमाणं प्रमाणमेव प्रमाणत्वेनैव तस्य व्यवस्थानात्।

तब तो हम जैन भी कहते कि प्रमाण तत्त्वका अव्यभिचारीपना निर्दोष कारणोंके समुदायसे उत्पन्न करने योग्यपनकरके नहीं है और बाधारहितपन तथा प्रवृत्तिकी सामर्थ्य आदि स्वभावोंके द्वारा भी नहीं व्यवस्थित किया गया है। क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है। निश्चयनय करके घटकी घटत्वधर्मसे ही व्यवस्था हो सकती है। कुलालसे जन्यपनेके द्वारा या मिट्टीके विकारपनेके द्वारा नहीं। वैसे ही प्रमाण अदुष्टकारणजन्यरूप नहीं हैं, बाधारहित भी नहीं है। वे तो सब प्रमाणके एकदेशीय धर्म हैं। धर्मधर्मीका कथञ्चित् भेद है। और हम अपने गृहीत नियत हेतुओंसे आपके सन्मुख प्रमाण तत्त्वकी सरलतापूर्वक व्यवस्था भी क्यों करें। किन्तु प्रमाण तो प्रमाण ही है। प्रमाणके पूर्ण शरीर माने प्रमाणपनेके द्वारा ही उस प्रमाणकी व्यवस्था हो सकती है। जैसे कि गृहकी किवाड, भींत, चौखट, छत आदिसे एकांगरूप व्यवस्था ठीक नहीं है। किन्तु गृह गृह ही है। उसी प्रकार एवम्भूत नयके द्वारा प्रमाण प्रमाण ही है। कहिये अब आप क्या कहेंगे ?।

न हि पृथिवी किमग्नित्वेन व्यवस्थाप्यते जलत्वेन वायुत्वेन वेति पर्यनुयोगो युक्तः, पृथिवीत्वेनैव तस्याः प्रतिष्ठानात्।

अग्निपनेके द्वारा पृथिवीकी व्यवस्था नहीं होपाती है तथा जलपनेके द्वारा और वायुपने करके भी पृथिवी तत्त्वके ऊपर चोद्य उठाना युक्त नहीं है। किन्तु उस पृथिवीकी पृथ्वीपनेके द्वारा ही प्रतिष्ठा होरही है। भावार्थ—खीरका सादृश्य बक (बगुल) पक्षीको और बगुलाका उपमान कौहनीसे हाथको मोडकर पौंचा झुकादेनेसे नहीं होता है। अन्धे मनुष्यके सामने ऐसी क्रिया करनेसे हाथके समान कठोर वह खीर कैसे खायी जाती होगी ? ऐसी प्रतारणा सुननी पडती है। क्षीरान्नका वर्ण, रस, गन्ध, और स्पर्श तो क्षीरान्नमें ही है। यानी—खीर खीर ही है। वैसे ही अनन्वय अलंकारके अनुसार प्रमाण प्रमाण ही है। जैसे कि आकाश आकाश ही है। आपके उपप्लवके समान प्रमाणतत्त्व भी अपने स्वभावोंमें ही लीन है।

प्रमाणस्वभावा एवादुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादयस्ततो न तैः प्रमाणस्य व्यवस्थापने व्याघात इति चेत्, किमिदानीं पर्यनुयोगेन ? तत्त्वबलेन प्रमाणस्य सिद्धत्वात्।

उपप्लववादी कहते हैं कि निर्दोष कारणोंके समुदायसे पैदा होजाने योग्यपन और बाधारहितपन तथा प्रवृत्ति करानेमें समर्थपन आदि ये सब प्रमाणके स्वभाव ही हैं। उस कारण उनके द्वारा प्रमाणतत्त्वकी व्यवस्था करानेमें तो कोई व्याघात नहीं है। क्या अग्निकी उष्णताके द्वारा व्यवस्था करनेमें व्याघात है ? कभी नहीं। फिर आप जैनोंने हमारे उपप्लवके समान यह क्यों कहा था कि " बाधारहितपने आदिसे प्रमाणतत्त्वकी व्यवस्था करनेमें व्याघात होता है। अतः प्रमाण प्रमाण ही है ", जब व्याघात नहीं है तो उपप्लववादी आप जैन, नैयायिक, मीमांसक आदिके माने गये

प्रमाणतत्त्वमें उक्त धर्मोद्वारा संशयपूर्वक प्रश्नमाला उठाकर विचार करते हुए प्रमाण, प्रमेय, आदि-तत्त्वोंका खण्डन कर देवेंगे। व्याघात नहीं है। आचार्य समझाते हैं कि यदि उपप्लववादी ऐसा कहेंगे तो हम कहते हैं फिर इस समय प्रमाणतत्त्वमें क्यों आक्षेप सहित प्रश्न उठाये जा रहे हैं ? क्योंकि आपने प्रमाणतत्त्वको अपने बलबूतेसे स्वकीय स्वभावोंके द्वारा ही सिद्ध हुआ मान लिया है। हमारे परिश्रमके विना ही आपके प्रति प्रमाणतत्त्व सिद्ध होजाता है। फिर उसका खण्डन कैसा ?।

स्यान्मतं। न विचारात्प्रमाणस्यादुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादयः स्वभावाः प्रसिद्धाः परोपगममात्रेण तेषां प्रसिद्धेः। संशयावतारात्पर्यनुयोगो युक्त एवेति तदप्यसारं, अविचारस्य प्रमाणस्वभावव्यवस्थानप्रतिक्षेपकारिणः स्वयमुपप्लुतत्वात्। तस्यानुपप्लुतत्वे वा कथं सर्वथोपप्लवः ?।

पुनः उपप्लववादिओंका यह मन्तव्य होवे कि हमने निर्दोष कारणोंसे पैदा होने योग्यपन प्रमाणका स्वभाव कह दिया। इतनेसे ही आप ले उडे और हमारे सामने विना परिश्रम प्रमाण तत्त्वको सिद्ध करनेके लिये आपने अपनी कृतकार्यता प्रगट कर दी। किन्तु हमने दूसरे आप लोगोंके केवल स्वीकार करनेसे ही वे निर्दोष समुदित कारकोंसे पैदा होजानापन और बाधारहितपना आदिक स्वभाव प्रमाणके मान लिये हैं। लोकव्यवहारमें प्रसिद्ध बातको थोडी देरके लिये स्वीकार कर लिया जाता है। किन्तु विचार करनेपर वे प्रमाणके स्वभाव अच्छी तरह सिद्ध नहीं होपाते हैं। इस कारण उक्त चार संशयोंको उतारकर प्रमाणतत्त्वमें आप लोगोंके ऊपर हमारा कुचोद्य उठाना युक्त ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार उनका कहना भी साररहित है। क्योंकि विचारते समय आप प्रमाण प्रमेय आदि तत्त्वोंको मान लेते हैं। किन्तु विचारके पीछे अविचारको प्रमाणके प्रवृत्तिसामर्थ्य आदि स्वभावोंकी व्यवस्थाका खण्डन करनेवाला स्वीकार करते हैं। किन्तु वह अविचार भी तो आपने स्वयं उपप्लुत माना है अर्थात् वह अविचार खण्डनीय, शून्यरूप, तुच्छ है। तुच्छपदार्थ किसी भी अर्थक्रियाको नहीं करता है। यदि आप उस अविचारको न कुछ, तुच्छरूप उपप्लुत न मानेंगे तो सभी प्रकारसे उपप्लव कैसे बना ? क्योंकि वस्तुभूत एक अविचारतत्त्व उपप्लवरहित सिद्ध होगया।

यदि पुनरुपप्लुतानुपप्लुतत्वाभ्यामवाच्योऽविचारस्तदा सर्वं प्रमाणप्रमेयतत्त्वं तथास्त्विति न कश्चिदुपप्लुतैकान्तो नाम। यथा चोपप्लवोऽविचारो वा तद्धेतुरुपप्लुतत्वानुपप्लुतत्वाभ्यामवाच्यः स्वरूपेण तु वाच्यः तथा सर्वं तत्त्वमित्यनेकान्तादेवोपप्लुतवादे प्रवृत्तिः, सर्वथैकान्ते तदयोगात्।

यदि आप फिर यों कहें कि विचार करनेके बाद जो अविचार दशा है, वह उपप्लव सहितपने करके भी नहीं कही जाती है और अनुपप्लुत यानी वस्तुपने करके भी नहीं कही जा सकती है। अतः वह अविचार अवाच्य है। तब तो सर्व ही प्रमाण प्रमेयतत्त्व भी वैसे ही हो जाओ।

अर्थात् वे वस्तुभूत होते हुये भी शद्बसे न कहे जानेके कारण अवाच्य होवें। जैन सिद्धान्तमें पञ्चाध्यायी ग्रन्थके अनुसार तत्त्वको निर्विकल्पक यानी शब्दयोजनासे रहित माना है। सर्व ही तत्त्व कथंचित् अवाच्य हैं। इस प्रकार कहीं भी उपप्लवका एकान्त कोई नहीं रहा। जैसे कि उपप्लव या अविचार अथवा उन दोनोंके कारण पर्यनुयोग, संशय आदि ये तुम्हारे माने हुये तत्त्व उपप्लव और अनुपप्लवरूप करके नहीं कहे जाते हैं। किन्तु फिर भी अपने स्वरूपसे तो कहे जाते हैं, अतः वाच्य हैं, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कह सकते हैं कि उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्व भी अन्य धर्मोंकरके अवाच्य हैं और अपने निश्चित स्वभावों करके वाच्य हैं, इस प्रकार अनेकान्तके प्रतिपादन करनेवाले स्याद्वादसिद्धान्तसे ही आपकी उपप्लववादमें प्रवृत्ति हो सकती है। सभी प्रकारोंसे एकान्त माननेमें वह आपका उपप्लव मानना नहीं बन सकेगा। भावार्थ—उपप्लवको आपने उपप्लुत और अनुपप्लुत मान लिया तथा उपप्लवमें अवाच्यपना और वाच्यपना भी रह गया, यही तो अनेकान्त है। उपप्लववाद, संवेदनाद्वैत और शून्यवाद इन सबकी स्थिति अनेकान्तका सहारा लेनेपर ही हो सकती है। अन्यथा नहीं।

नन्वेवमनेकान्तोप्यनेकान्तादेव प्रवर्तेत सोप्यन्यस्मादनेकान्तादित्यनवस्थानात् कुतः प्रकृतानेकान्तसिद्धिः ? सुदूरमप्यनुसृत्यानेकान्तस्यैकान्तात्प्रवृत्तौ न सर्वस्यानेकान्तात् सिद्धिः। 'प्रमाणार्पणादनेकान्त' इत्यनेकान्तोप्यनेकान्तः, कथमवतिष्ठते ? प्रमाणस्यानेकान्तात्मकत्वेनानवस्थानस्य परिहर्तुमशक्तेरेकान्तात्मकत्वे प्रतिज्ञाहानिप्रसक्तेः। नयस्याप्येकान्तात्मकत्वे अयमेव दोषोऽनेकान्तात्मकत्वे सैवानवस्थेति केचित्।

यहां अनेकान्त सिद्धान्तके ऊपर किसीका आक्षेप सहित प्रश्न है कि आप ही बतलाइये ! जब सब ही तत्त्वोंकी सिद्धि आप जैन अनेकान्तसे ही होना मानते हैं तो इस प्रकार आपका अनेकांत भी अनेक अस्तिपन, नास्तिपन आदि धर्मोंसे ही प्रवृत्ति करेगा और वह अनेकधर्मरूप अनेकान्त भी पुनः अन्य अनेक धर्मोंको धारण करेगा तथा उस अनेकान्तके मध्यवर्ती धर्मोंकेलिये भी अन्य अनेकान्तोंकी आवश्यकता पडेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होजानेसे आप जैन लोग प्रकरणमें पडे हुए पहिले अनेकान्तकी सिद्धि कैसे कर सकेंगे ? बताओ। यों अनेकान्तोंके पीछे चलते चलते बहुत दूर भी जाकर यदि एकान्तसे ही अनेकान्तकी प्रवृत्ति मानोगे तो अनवस्था दोष टल गया, किन्तु सर्वकी अनेकान्तसे सिद्धि होती है, यह आपका सिद्धान्त न रहा। फिर आपने जैनेन्द्र व्याकरणके आदिमें " सिद्धिरनेकान्तात् " यों अधिकारसूत्र बनाकर अनेकान्तसे सिद्धि होनेका घोषण व्यर्थ ही किया। यदि अनवस्थाको दूर करनेके लिये विवक्षाका सहारा लेकर यों कहें कि प्रमाणकी विवक्षासे अनेकान्त माना गया है। अस्तु ! यों ही सही। किन्तु इस प्रकार प्रमाणकी अर्पणासे माना गया अनेकान्त भी तो अनेकान्त है। ऐसा श्री समन्तभद्र आचार्यने कहा है। अनेकान्तोप्यनेकान्तः " (बृहत्स्वयंभूस्तोत्र) वह कैसे व्यवस्थित होगा ?। और प्रमाण भी तो

आपके यहां अनेकान्तस्वरूपसे माना गया है। अतः उस अनेकान्तमें भी अनेकान्तोंके आरोप करनेकी जिज्ञासा बढती आवेगी। इस अनवस्था दोषका भी आप परिहार नहीं कर सकते हैं। अन्योन्याश्रय दोष भी इसके गर्भमें पड़ा हुआ है। यदि आप प्रमाणको एकान्तस्वरूप मान लेवेंगे तो सबको अनेकान्तरूप माननेकी प्रतिज्ञाकी हानिका प्रसंग होता है। इस प्रकार नयको भी एकान्तस्वरूप (एकधर्म) मानोगे तो भी यही दोष होता है अर्थात् सबको अनेकान्त स्वरूप माननेकी प्रतिज्ञा नष्ट होती है। और यदि नयको अनेकान्तात्मक मान लोगे तो इस प्रकार प्रतिज्ञा हानि दोषका तो वारण हो जावेगा, किन्तु वही अनेकान्तमें अनेकान्त और उसमें भी फिर अनेकधर्म मानते मानते अनवस्था दोष आजाता है। इस प्रकार कोई एकान्तवादी अपने उपप्लवकी तुकम करते हुए कहरहे हैं। अब ग्रन्थकार महोदय समाधान करते हैं कि——

तेऽप्यतिसूक्ष्मेक्षिकान्तरितप्रज्ञाः, प्रकृतानेकान्तसाधनस्यानेकान्तस्य प्रमाणात्मकत्वेन सिद्धत्वादन्यस्तविषयेऽनवस्थाद्यनवतारात्।

उन आक्षेप करनेवाले एकान्तवादियोंकी भी विचारशालिनी बुद्धि अधिक सूक्ष्म पदार्थोंको देखनेके कारण छिप गयी है अर्थात् जो कुतर्की बालकी खाल निकालते हुए व्यर्थ गहरा विचार करते रहते हैं, वे कुछ दिनमें पोंगा बन जाते हैं। यदि ऐसे ही निस्तत्त्व विचार किये जावें तो संसारके अनेक व्यवहार लुप्त हो जावेंगे। जलसे कोई अंग शुद्ध न हो सकेगा। क्योंकि अशुद्ध अंगपर पहिले डाला हुआ जल भी अशुद्ध ही रहा। इस प्रकार सहस्र बार धोनेपर भी गुह्यअंग शुद्ध नहीं हो सकता है तथा लोटेको एक बार मांजकर कुएमें फांस दिया ऐसा करनेपर कुएका जल लोटेके संसर्गसे अशुद्ध होगया, फिर अशुद्ध लोटेको दुबारा, तिबारा, मांजनेसे क्या प्रयोजन निकला ? यही बात हाथ मटियानेमें भी समझ लेना। एवं मुखमें ग्रास रखते ही लार मिल जाती है, थूक दन्तमल भी मिलजाता है, किसी किसी दन्तरोगीके तो मसूडोंसे निकला हुआ रक्त आदि भी मिल जाते हैं। ऐसी दशामें वह भक्ष्यपदार्थ मुखमें आकर अशुद्ध हो जाता है, तो फिर क्यों लील किया जाता है, आदि कटाक्षोंसे शिथिलाचारी पुरुष जैसे अपनी विचार बुद्धिको भ्रष्ट करलेते हैं, वैसे ही आक्षेपकर्ताओंकी बुद्धिमें अन्तर पड गया है। कई बार जलसे धोना ही शुद्धिका कारण है। अन्यथा औषधि भी पेटमें आकर रोगको दूर न कर सकेगी। कई ग्रासोंको खाकर भी भूंख दूर न होगी। किन्तु होती है। अतः जल, अग्नि, भस्म, वायु, काल आदि शोधक पदार्थ माने गये हैं। कूप स्वभावसे शुद्ध है। नदी, तालाब, कूपमें डाल दिया गया मल भी थोडी देर पीछे निर्मल पर्यायको धारण करलेता है। जल सबका शोधक है। भक्ष्यका विचार थालीमें रखे हुए पदार्थोंमें है। अपने मुखमें रखी हुयी लार या थूक अभक्ष्य नहीं हैं। बाहिर निकलनेपर वे अभक्ष्य हो जाते हैं। हां! मुखरोगीको रक्त आदिका बचाव अवश्य करलेना चाहिये। अन्यथा अभक्ष्य भक्षणका दोष लगेगा। अशक्यानुष्ठानमें किसीका वश नहीं है। दोष तो लगेगा ही। प्रकरणमें

पड़े हुए अनेकान्तकी सिद्धि अनेकान्तसे है। और प्रमाणस्वरूपपनेसे अनेकान्त सिद्ध है। भावार्थ— प्रमाणसे तत्वोंका विचार करनेपर अनेकान्त प्रतीत होता है। जिन विषयोंका बार बार अभ्यास हो चुका है, उनमें अनवस्था अन्योन्याश्रय आदि दोषोंका अवतार नहीं हैं। द्रव्यमें गुण रहते हैं, गुणोंमें पर्याय रहती हैं, पर्यायोंमें अविभाग प्रतिच्छेद रहते हैं। चार पांच कोटी चलकर जिज्ञासा स्वयमेव शान्त हो जाती है। कथञ्चित् भेदाभेदका पक्ष लेनेपर एक धर्म दूसरे धर्मोंसे सहित बन जाते हैं। यहां कोई कारकपक्ष या ज्ञापकपक्ष नहीं है, जिससे कि अनवस्था आदि हो सकें। बालगोपालोंतकको अग्नि, मिट्टी आदिमें अनेक धर्मोंको जाननेका अभ्यास पड रहा है। अनभ्यास दशामें अन्य अभ्यस्त शीतल वायु, पुष्पगन्ध आदिसे जलमें जैसे प्रामाण्य जान लिया जाता है, वैसे ही अनेक धर्मवाले प्रमाणसे अनेकान्तकी सिद्धि हो जाती है।

तथा तदेकांतसाधनस्यैकांतस्य सुनयत्वेन स्वतः प्रसिद्धेर्नानवस्था प्रतिज्ञाहानिर्वा सम्भवतीति निरूपणात्। ततः सूक्तं ' शून्योपप्लववादेऽपि नानेकांताद्विनास्थिति ' रिति।

वैसे ही उस एकांतको सिद्ध करनेवाले समीचीन एकांतकी भी अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखने वाले सुनयोंके द्वारा अपने आप भले प्रकार सिद्धि हो जाती है। अर्थात् अर्पित नयसे एकांत हमको इष्ट है। भला एकांत ही न होगा तो अनेकांत कहांसे बन जावेगा ?। एक तो हजारों लाखों, आदि सबका पितामह है। अतः अनवस्था दोष और प्रतिज्ञाहानि हमारे ऊपर नहीं सम्भवते हैं। प्रमाण और नयोंकी साधनासे अनेकांत भी अनेकांतस्वरूप है। इसको हम पहिले भी कह चुके हैं। प्रमाण और नय दोनोंमें अनवस्था दोष देनेसे आपने अपने आप ही " नष्टदग्धाश्वरथ " इस न्यायसे अनवस्थाका वारण कर दिया है। क्योंकि अनेकांत अनेक धर्मोंको धारण करता है। तभी तो सुनयोंके द्वारा एकांत प्रसिद्ध हो रहा है और सुनयके द्वारा निरूपण किया गया एकांत भी अनेक धर्मोंके साथ रहते हुए ही बन रहा है। उस कारण हमने एकसौ छयालीसवीं वार्तिकमें बहुत अच्छा ही कहा था कि शून्यवाद और उपप्लववादमें अनेकांतकी शरण किये विना अपनी अपनी स्थिति नहीं हो सकती है। वनमें जाकर प्रसङ्गवश एक नृपके घोडे नष्ट होगये और दूसरेका रथ बिगड (जल) गया। फिर उस रथमें दूसरे रथके घोडोंको जोडकर दोनों राजा सुखपूर्वक नगरमें आगये। यह नष्टदग्धाश्वरथन्याय है।

ग्राह्यग्राहकतैतेन बाध्यबाधकतापि वा।
कार्यकारणतादिर्वा नास्त्येवेति निराकृतम् ॥ १४८ ॥

जो शुद्ध संवेदनाद्वैत वादी ऐसा मान रहे हैं कि न तो कोई ज्ञानका ग्राह्य है और न कोई ग्राह्यका ग्राहक है। न कोई किसीसे बाध्य है और न कोई किसीका बाधक है। तथा च न कोई किसीका कार्य है। और न कोई किसीका कारण है। न कोई किसी शब्दका वाच्य है और न कोई अभिधान किसीका

वाचक है । एवं न कोई किसीका आधार है और न कोई आधेय है । इत्यादि वास्तवमें विचारा जावे तो उक्त ग्राह्यग्राहकभाव आदि कोई सम्बन्ध भी तो नहीं है । कहां मिट्टीका घडा और कहां चेतन ज्ञान तथा कहां घट शद्ब, और कहां घडा एवं ऊर्ध्वलोक, अधोलोक (आकाश, पाताल) के अन्तर भी बहुत बडा अन्तर है । एवं इनका सम्बन्धी भी कोई नहीं है । इस प्रकार माननेवाला बौद्ध भी इस कहे हुए अनेकान्तकी सिद्धिसे खण्डित कर दिया गया है । अर्थात् शून्यवाद, उपप्लववादके समान ज्ञानाद्वैतकी सिद्धि भी अनेकान्तका आश्रय लेनेपर ही हो सकेगी ।

ग्राह्यग्राहकबाध्यबाधककार्यकारणवाच्यवाचकभावादिस्वरूपेण नास्ति सम्वेदनं संविन्मात्राकारतयास्तीत्यनेकान्तोभीष्ट एव संवेदनाद्वयस्य तथैव व्यवस्थितेर्ग्राह्याद्याकाराभावात्सद्वितीयतानुपपत्तेः सर्वथैकान्ताभावस्य सम्यगेकान्तानेकान्ताभ्यां तृतीयतानुपपत्तिवत् । इति न प्रातीतिकं, ग्राह्यग्राहकभावादिनिराकरणस्यैकान्ततोऽसिद्धेः ।

बौद्ध कहता है कि ग्रहण करने योग्य, और गृहीतिका करण, या बाधा होने योग्य, और बाधक, तथा करने योग्य, और कारण, एवं जो कहा जावे और जिस शब्दके द्वारा कहा जावे वह शब्द, या आधार और आधेय आदि स्वभावों करके संवेदन नहीं है तथा केवल शुद्ध संवित्तिके आकार करके संवेदन है । इस प्रकार हमको अनेकांत इष्ट ही है । वैसा करनेपर ही अद्वैत संवेदनकी व्यवस्थापूर्वक सिद्धि हो सकेगी । ग्राह्य आदि आकारोंके न होनेसे ही दूसरेसे सहितपनेकी सिद्धि नहीं हो पाती है ! भावार्थ—अनेकांतके माननेपर ग्राह्य आदि आकारोंसे रहित होकर अकेला संवेदनाद्वैत सिद्ध हो सकेगा । अनेकांतकी शरण लिये विना ग्राह्यग्राहक आदि अंशोंसे रहित संवेदन शून्यरूप ही हो जावेगा । हमको संवेदनकी अद्वितीयता अक्षुण्ण रखनी है । द्वितीयसे सहितपनेकी सिद्धि नहीं रखनी है । आपके यहां जैसे कि सर्वथा एकांतोंका अभाव समीचीन एकांत और समीचीन अनेकांतसे तीसरा कोई पदार्थ सिद्ध नहीं है । भावार्थ—सर्वथा एकांतोंके अभाव करनेसे आपका अनेकांत बन बैठता है । वैसे ही ग्राह्य आदिके अभावसे हमारा संवेदनाद्वैत बन जावेगा । अब आचार्य कहते हैं कि आपका एकांतसे माना हुआ ऐसा निरंश संवेदन तो प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतियोंसे नहीं जाना जाता है । अतः असत् है । क्योंकि सर्वथा एकांतरूपसे ग्राह्य ग्राहकभाव कार्यकारणभाव आदिका निराकरण करना भी सिद्ध नहीं हो पाता है ।

ग्राह्यग्राहकशून्यत्वं ग्राह्यं तद्ग्राहकस्य चेत् ।
ग्राह्यग्राहकभावः स्यादन्यथा तदशून्यता ॥ १४९ ॥

ग्राह्यग्राहक भावसे रहितपनेको यदि उसके ग्रहण करनेवाले ज्ञानका ग्राह्य मानोगे, तब तो ग्राह्यग्राहकभाव ही आगया अर्थात् ग्राह्यग्राहकभावसे रहितपना ग्राह्य, यानी विषय हो गया और उसको जाननेवाला ज्ञान, ग्राहक यानी विषयी हो गया । अन्यथा उस ग्राह्यग्राहक भावसे शून्यपन

(रहितपना) ज्ञानमें नहीं आवेगा, तो भी ग्राह्यग्राहकभाव बन गया। इस प्रकार लेजुमें दोनों ओर फांसे हैं। " सेयमुभयतःपाशा रज्जुः " इस नीतिसे आपको ग्राह्यग्राहकभावका भी ज्ञानमें ग्रहण करना आवश्यक हुआ।

बाध्यबाधकभावोऽपि बाध्यते यदि केनचित्।
बाध्यबाधकभावोऽस्ति नो चेत्कस्य निराकृतिः ॥ १५० ॥

आप बौद्धोंने दूसरा बाध्यबाधकभाव भी संवेदनमें नहीं माना है। वह बाध्यबाधकभाव भी यदि किसीके द्वारा बाधा जावेगा यानी आप उसमें बाधा देंगे, तभी तो उसका खण्डन कर सकेंगे। तब तो बाध्यबाधकभाव सिद्ध ही हो गया। क्योंकि बाध्यबाधकभाव तो बाध्य हो गया। आपने ज्ञानको उससे रहित माना है और शुद्ध ज्ञानका कोई स्वभाव बाधक हो गया। यदि ऐसा न मानोगे तो फिर किस बाध्यबाधकभावका खण्डन करोगे ? बताओ। जब बाध्यबाधकका खण्डन नहीं हुआ तो फिर यों भी बाध्यबाधकभाव सिद्ध हो ही गया। " दोनों हाथ लड्डू हैं " इस कथानकके अनुसार आपको बाध्यबाधकभाव माननेके लिये बाध्य होना पड़ेगा।

कार्यापाये न वस्तुत्वं संविन्मात्रस्य युज्यते।
कारणस्यात्यये तस्य सर्वदा सर्वथा स्थितिः ॥ १५१ ॥

आप बौद्ध संवेदनमें कार्यकारणभावको भी नहीं मानते हैं। परंतु विचारिये कि कार्यको बनाये विना केवल संवेदनको वस्तुपना ही नहीं युक्त होता है। क्योंकि जो अर्थक्रियाओंको करता है, वही वस्तुभूत अर्थ माना गया है। यदि उस संवेदनका कोई कारण न स्वीकार किया जावेगा तो वह संवेदन सभी प्रकारसे सदा स्थित हो जावेगा। " सदकारणवन्नित्यम् " अर्थात् जिस सत् पदार्थका कोई कारण नहीं है, वह नित्य है। किंतु ऐसा नित्यपना ज्ञानमें आपने इष्ट किया नहीं है। अतः कार्यकारण मानना भी आपका कर्तव्य हुआ। " दोनों अंगुली घीमें हैं " इस नीतिसे हमारा अनेकांतसिद्धांत पुष्ट हुआ।

वाच्यवाचकतापायो वाच्यश्चेत्तद्व्यवस्थितिः।
परावबोधनोपायः को नाम स्यादिहान्यथा ? ॥ १५२ ॥

आप बौद्धोंने अपने संवेदनको वाच्यवाचकपन अंशसे रहित स्वीकार किया है। किंतु शिष्यको या प्रतिवादीको समझानेके लिये वाच्यवाचकसे रहितपना भी शब्दोंसे ही कहा जावेगा। तब तो वाच्यवाचकभावकी व्यवस्था बन गयी। क्योंकि वाच्यवाचकसे रहितपना तो वाच्य हो गया और वादीके द्वारा बोला गया शब्द उसका वाचक हो गया। यदि ऐसा न मानकर अन्य प्रकारसे मानोगे यानी विना कहे ही अपने हृदयकी बातोंको दूसरोंके हृदयमें उतारना चाहोगे तो शब्दके

अतिरिक्त दूसरोंको भले प्रकार समझानेका उपाय और दूसरा यहां क्या हो सकेगा? बताओ। भावार्थ—शब्द ही विशिष्ट पदार्थोंको समझा सकता है। इस प्रकार " बाबा करे तो डर, न करे तो भी डर " इस किंवदंतीके अनुसार वाच्यवाचक भाव भी आपको दोनों प्रकारसे कहना पड़ा। ऐसे ही आधार आधेयभावका जिस संवेदनमें निषेध किया जावेगा, वह संवेदन आधार बन जावेगा और आधार आधेयभावका निषेध करना आधेय बन जावेगा। इस प्रकार निषेध करनेपर भी आपको वे ही ग्राह्यग्राहकभाव आदि " पोतकाक " (जहाजका कौआ) न्यायसे हृदयमें धारण करने पड़ेंगे। अनेकांतके झपाटेसे तुम बच नहीं सकते हो।

सोऽयं तयोः वाच्यवाचकयोः ग्राह्यग्राहकभावादेर्निराकृतिमाचक्षाणस्तद्भावं साधयत्येवान्यथा तदनुपपत्तेः।

सो ऐसा कहनेवाला प्रसिद्ध यह बौद्ध अपने संवेदनमें उन वाच्य और वाचकका तथा ग्राह्यग्राहकभाव, कार्यकारणभाव, आदिके निराकरणको कहता हुआ उन वाच्यवाचक, और ग्राह्यग्राहक, आदि भावोंको सिद्ध करा ही देता है। अन्यथा उनका निषेध करना ही सिद्ध नहीं हो सकता है। सो समझलीजिये।

> संवृत्या स्वप्नवत्सर्वं सिद्धमित्यतिविस्मृतम्।
> निःशेषार्थक्रियाहेतोः संवृतेर्वस्तुताप्तितः ॥ १५३ ॥
> यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्।
> साम्वृतं रूपमन्यत्तु संविन्मात्रमवस्तु सत् ॥ १५४ ॥

संवेदनाद्वैतवादी कहते हैं कि हम परमार्थरूपसे ग्राह्यग्राहकभाव आदिका खण्डन करते हैं। किन्तु व्यवहारसे स्वप्नके समान सबको कल्पनासिद्ध मानलेते हैं। आचार्य बोलते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना अत्यन्त भूलसे भरा हुआ है। क्योंकि संवृत्तिस्वरूप व्यवहार सभी अर्थक्रियाओंका कारण है। अतः व्यवहारको वस्तुपना प्राप्त है। व्यवहारसे जीवकी मनुष्य, देव, तिर्यञ्च आदि अवस्थायें हैं तथा व्यवहारसे ही बालकपन, युवापन, बुढापा आदि दशायें हैं। किन्तु ये सम्पूर्ण व्यावहारिकधर्म वस्तुभूत होते हुए अर्थक्रियाओंको कर रहे हैं। स्वप्नके समान अलीक (झूंठ मूंठ) नहीं हैं। जो ही तत्व क्रीडन, रमण, आकाङ्क्षण, दाह, पाक आदि व्यवहारकी या केवलज्ञान आदि परमार्थकी अर्थक्रियाओंको करता है, वही वास्तविक सत् पदार्थ कहा जाता है। इससे अन्य जो अर्थक्रियाओंको नहीं करते हुए केवल उपचारसे कल्पितकर लिये गये हैं, वे स्वभाव तो वस्तुरूपसे सत् नहीं हैं। आपका माना गया केवल संवेदनाद्वैत भी अवस्तु है! अतः असत् है अर्थात् वस्तुभूत सत् नहीं है। और जिस कार्यकारणभाव आदिको आप असत् कह रहे हैं, वे परमार्थभूत पदार्थ हैं।

" स्वप्नवत्सांवृतेन रूपेण ग्राह्यग्राहकभावाभावो ग्राह्यः बाध्यबाधकभावो बाध्यः कार्यकारणभावोऽपि कार्यो वाच्यवाचकभावो वाच्य " इति ब्रुवाणो विस्मरणशीलः, स्वयमुक्तस्य सांवृतरूपानर्थक्रियाकारित्वस्य विस्मरणात् ।

स्वप्नके समान व्यवहारसे कल्पना किये स्वभाव करके ग्राह्यग्राहक भावका अभाव भी ग्राह्य हो जाता है और बाध्यबाधकभाव भी बाध्य हो जाता है एवं कार्यकारणभाव भी कार्य हो जाता है तथैव वाच्यवाचकभाव भी शब्दोंके द्वारा वाच्य हो जाता है यानी कह दिया जाता है । इस प्रकार जो संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध कह रहा है, उसको अपने कहे हुए वचनोंको भूल जानेकी टेव पडी हुयी है। तभी तो स्वयं अपनेसे कहे जा चुके " कल्पितस्वभाव कभी अर्थक्रियाओंको नहीं करते हैं " इस बातको भूल गया है । भावार्थ—पहिले बौद्धोंने यह कहा था कि व्यवहारसे कल्पित किया हुआ पदार्थ अर्थक्रियाओंको नहीं करता है और अब कहते हैं कि जैसे स्वप्नमें बोल उठना, हर्ष क्षय होना, भयभीत होकर हृदयमें धडकन हो जाना, आदि अर्थक्रियाएं होती हैं, वैसे ही जीवकी कल्पित की गयीं बाल्य युवा, आदि अवस्थाओंमें होनेवाले भावोंसे भी खेलना, उपार्जन करना, श्रृंगार करना, तृष्णा करना, आदि अर्थक्रियायें हो जाती हैं। ऐसे भुल्लड बुद्ध मनुष्यकी पहिले पीछेकी कौनसी बातपर विश्वास किया जावे ? देखो जी ! स्वप्न अवस्थामें भी जो अर्थक्रियायें होती हैं, वे वस्तुभूत परिणामोंसे होती हैं। वास्तव सिंहसे जैसा भय होता है कल्पितसे भी वैसा ही भय होता है। स्वप्नमें भी कण्ठतालु आदिके व्यापारसे बोलता है। अन्यथा नहीं, इत्यादि मूर्तिपूजामें भी ऐसा ही रहस्य है। कार्यकारणभावका अतिक्रमण नहीं है । स्वप्न, मूर्छित या सन्निपात दशामें जो कार्य होरहे हैं, उनके कारण वस्तुभूत वहां विद्यमान हैं। तुमको ज्ञान न होय तो इसका उत्तरदायित्व कारणोंपर नहीं है । हां, जो स्वप्नमें झूंठी मनःकल्पनायें होरही हैं वे अवश्य निर्विषय हैं, असत्यार्थ हैं । उन झूंठे अर्थोंसे उनके योग्य वास्तविक अर्थक्रिया नहीं हो सकती हैं ।

तथा ह्यशेषग्राह्यग्राहकताद्यर्थक्रियानिमित्तं यत्सांवृत्तं रूपं तदेव परमार्थसत् तद्विपरीतं तु संवेदनमात्रमवस्तु सदिति दर्शनांतरमायातम् ।

जैनसिद्धांतमें यह बात बहुत स्पष्ट रूपसे कह दी गयी है कि जो व्यवहारमें मान लिया गया पदार्थ, ग्राह्यग्राहकभाव, कार्यकारणभाव, आदि सम्पूर्ण अर्थक्रियाओंका कारण होरहा है, वह ही वास्तविकरूपसे सत्वस्तु है और उससे विपरीत तो तुम बौद्धोंका माना गया और कुछ भी अर्थक्रियाओंको नहीं करनेवाला वह केवल निरंश संवेदन वस्तुरूप सत् पदार्थ नहीं है । इस प्रकार बौद्धोंको दूसरे स्याद्वादर्शनका स्वीकार करना ही प्राप्त हुआ । अर्थात् अपने इष्ट होरहे संवेदनाद्वैतके आग्रहको छोडकर अनेकांतदर्शनकी शरण लेना अनिवार्य रूपसे आ पडा । व्यवहारतुच्छ नहीं होता है । किंतु वस्तु और वस्तुके अंशोंको छूनेवाला होता है । व्यवहार और निश्चय दोनों भाईचारेके नातेसे वास्तविक परिणामोंको विषय करते हैं ।

संवृतं चेत् क नामार्थक्रियाकारि च तन्मतम् ।
हंत सिद्धं कथं सर्वं संवृत्या स्वप्नवत्तव ॥ १५५ ॥

यदि उन बौद्धोंका यह मत होवे कि कल्पना किया हुआ पदार्थ भला कहां ठीक अर्थक्रियाओंको करता है ? जो कुछ आपको अर्थक्रियाएं होती हुयी दीख रही हैं, वे अर्थक्रियाएं तो ठीक ठीक नहीं हैं। किन्तु कल्पित हैं। वस्तुभूत अर्थक्रिया तो शुद्ध ज्ञप्ति होना ही है। फिर हमको भूल जानेकी ढबवाला क्यों कहा जाता है ? । इसपर आचार्य महाराज कहते हैं कि हमको तुम बौद्धोंकी बुद्धिपर खेद आता है कि तुमने पहिले यह कैसे कह दिया था कि सम्पूर्ण पदार्थ व्यावहारिक कल्पनासे अर्थक्रिया करते हुए स्वप्नके समान प्रसिद्ध माने गये हैं। जब कि आप कल्पित अर्थक्रिया और उसको करनेवाले झूंठमूंठ अर्थको अवस्तु मानते हैं। फिर आपने उन सबको सिद्ध किया हुआ कैसे कह दिया था ? भावार्थ—ऐसा माननेपर तो तुम व्यवहारसे किसी पदार्थको सिद्ध नहीं कर सकोगे ।

ग्राह्यग्राहकभावाद्यर्थक्रियापि सांवृती न पुनः पारमार्थिकी, यतस्तन्निमित्तं सांवृतं रूपं परमार्थसत् सिध्येत् । तात्त्विकी त्वर्थक्रिया स्वसंवेदनमात्रं, तदात्मकं संवेदनाद्वैतं कथमवस्तु स्यात् ? ततोऽर्थक्रियाकारि सांवृतं चेति व्याहतमेतदिति यदि मन्यसे, तदा कथं स्वप्नवत् संवृत्या सर्वं सिद्धमिति ब्रूषे ? तदवस्थत्वाद्व्याघातस्य सांवृतं सिद्धं चेति ।

बौद्ध कहते हैं कि ग्राह्यग्राहकभाव, बडबडाना, खेलना, आदि अर्थक्रियाएं भी यों ही कोरी कल्पित हैं, वे फिर कैसे भी वस्तुभूत नहीं हैं । जिससे कि उन अर्थक्रियाओंके कारणभूत व्यावहारिक कल्पित स्वरूपोंको आप जैन वास्तविक सिद्ध कर देवें। सच पूंछो तो बात यह है कि वस्तुको स्पर्श करनेवाली ठीक ठीक अर्थक्रिया तो केवल शुद्धसंवेदनकी ही अपनी ज्ञप्ति होते रहना है । उस ज्ञप्तिरूप क्रियासे तादात्म्यसंबंध रखता हुआ संवेदनाद्वैततत्त्व भला वस्तु सत् नहीं कैसे हो सकता है ?, अर्थात् संवेदन तो वस्तुस्वरूप करके सत्रूप है । इस कारण जो अर्थक्रियाओंको करनेवाला है, वह उपचरित (कल्पित) है । इस नियममें व्याघात दोष है । भावार्थ—जो अर्थक्रियाओंको करेगा, वह परमार्थभूत है । सम्वृति (कल्पित) नहीं है । और जो सांवृत है, वह अर्थक्रियाओंको नहीं करता है । हम बौद्ध इस बातपर जमे हुए हैं । अब आचार्य महाराज कहते हैं कि यदि तुम बौद्ध ऐसा मान बैठे हो तब तो " स्वप्नके समान सम्पूर्ण तत्त्व व्यवहार दृष्टिसे सिद्ध हैं " इस बातको कैसे कह सकते हो ? तुम्हारे ऊपर व्याघातदोष वैसाका वैसा ही लागू हो रहा है। जो उपचारसे कल्पित है, वह सिद्ध कैसे ? और जो सिद्ध हो चुका है, वह कोरी कल्पनासे गढा हुआ कैसे हो सकता है ? । इसका उत्तर दीजिये, तभी ऐसे भूलेपनकी टेवका वारण हो सकेगा ।

स्वप्नसिद्धं हि नो सिद्धमस्वप्नः कोऽपरोऽन्यथा ।
संतोषकृन्न वै स्वप्नः संतोषं न प्रकल्पते ॥ १५६ ॥
वस्तुन्यपि न संतोषो द्वेषात्तदिति कस्यचित् ।
अवस्तुन्यपि रागात् स्यादित्यस्वप्नोस्त्वबाधितः ॥ १५७ ॥

स्वप्नमें कल्पनासे सिद्ध करलिया गया जो पदार्थ है, वह अवश्य सिद्ध नहीं है । अन्यथा यानी स्वप्नको भी यदि वास्तविक सिद्ध मानलोगे तो दूसरा कौन अस्वप्न पदार्थ सिद्ध हो सकता है ? भावार्थ—जागृत दशाके जाने हुए तत्त्व भी अन्तर न होनेके कारण स्वप्नसिद्ध हो जावेंगे। यदि बौद्ध यों कहें कि स्वप्न तो संतोष करनेवाला ही नहीं है । किन्तु अस्वप्न यानी जागरण कृत्य सन्तोष कर देता है, यह अंतर है । सो यह भी कल्पना करना अच्छा नहीं है । क्योंकि संतोष करने और न करनेकी अपेक्षासे जागृतदशा और स्वप्न अवस्था समान ही है। कभी कभी किसी किसीको द्वेषवश वस्तुभूत अनिष्ट पदार्थमें भी वह संतोष होना नहीं देखा जाता है । और किसीको रागवश अवस्तु पदार्थोंमें भी संतोष होना देखा जाता है। इसप्रकार संतोष करने और न करनेके कारण स्वप्न और अस्वप्नकी व्यवस्था नहीं है । अन्यथा कूडा करकट अवस्तु हो जावेगा और भ्रांतज्ञानीके दो चंद्रमा या तमारा रोगवाले पुरुषके तिलुला आदि असत् पदार्थ वस्तुभूत हो जावेंगे । एक लोभी ब्राह्मणका स्वप्न देखते समय दक्षिणामें मिली हुयी गायोंको विक्री करते हुए न्यून रुपया मिलनेपर घबडा कर जग जाना और पुनः आंख मींच कर " पांच सौ न सही जो बीस गायोंके चार सौ रुपये देते हो सो ही दे दो " ऐसा कहना, अब तो उस कहनेवाले ब्राह्मणके वे रुपये भी वस्तुभूत बन जावेंगे । क्योंकि थोडी देरके लिये वे संतोषके कारण बन चुके हैं । इस कारण अस्वप्नका निर्दोष लक्षण यही मानना चाहिये कि जो त्रिकालमें उत्तरवर्ती बाधक प्रमाणोंसे रहित है ।

यथा हि स्वप्नसिद्धमसिद्धं तथा संवृत्तिसिद्धमप्यसिद्धमेव, कथमन्यथा स्वप्नसिद्धमेव न भवेत्तथा च न कश्चिततोऽपरोऽस्वप्नः स्यात् ।

जैसे कि जो स्वप्नमें थोडी देरके लिये सिद्ध मान लिया गया है, वह निश्चय कर असिद्ध ही है, वैसे ही जो असद्भूतव्यवहारसे कल्पितकर प्रसिद्ध मान लिया गया है, वह भी वास्तविकरूपसे असिद्ध ही है । अन्यथा यानी यदि ऐसा न माना जावेगा तो स्वप्नमें प्रसिद्ध कर लिए गये समुद्र, सिंह, स्त्री, मृत आदि पदार्थ भी वस्तुरूपसे सिद्ध ही क्यों न हो जावेंगे । वैसा होनेपर तो उस स्वप्नसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ यानी जागती हुयी अवस्थाका तत्त्व अस्वप्नरूप न हो सकेगा । भावार्थ—स्वप्नके तत्त्व भी जब वास्तविक प्रसिद्ध हो गये तो सोते हुए और जागते हुए पुरुषके द्वारा जाने गये तत्त्वोंमें कोई अंतर नहीं रहा । तब तो यह किंवदंती घट जावेगी कि

सूरदासजी कैसे सो रहे हो ? इस पर अंधे सूरदासने कहा कि हम सदा ही से सोतेसे दीख रहे हैं। तथा च संवेदनाद्वैत–वादियोंके यहां स्वप्न और अस्वप्न अवस्थायें समान हो गयीं, कोई अंतर न रहा।

संतोषकार्यस्वप्न इति चेन्न, स्वप्नस्यापि सन्तोषकारित्वदर्शनात्, कालांतरे न स्वप्न संतोषकारी इति चेत्, समानमस्वप्ने।

यदि बौद्ध यों कहेंगे कि जो आत्मामें संतोषको कर देता है, ऐसा खाना, पीना, पढना आदि तत्त्व अस्वप्न (जागते हुए के) हैं। सो यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि स्वप्न भी संतोषको करनेवाला देखा जाता है। स्वप्न देखते समय इष्ट प्रिय वस्तुके समागम होनेपर संतोष पैदा होना बराबर देखा जाता है। यदि फिर बौद्ध यों कहें कि स्वप्न कुछ देरके लिए तो संतोष कर देता है, किंतु पीछे कालांतरतक स्थित रहनेवाले संतोषको नहीं करता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि अस्वप्नमें भी यही बात समानरूपसे देखी जाती है। अर्थात् जागते हुए भी खाना, पीना, सूंघना, सुनना आदि क्रियाओंको करनेवाले पदार्थोंसे थोडी देरके लिए आनंद उत्पन्न हो जाता है। पीछे उस संतोषका नाम भी नहीं रहता है। तभी तो भोग्य और उपभोग्य पदार्थोंका पुनः पुनः सेवन किया जाता है।

सर्वेषां सर्वत्र सन्तोषकारी न स्वप्न इति चेत्, तादृगस्वप्नेऽपि।

यदि बौद्ध यों कहें कि सर्व जीवोंको सर्व स्थानोंपर संतोष करनेवाला स्वप्न नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि वैसा होना तो अस्वप्नमें भी देखा जाता है। भावार्थ—जागते हुए भी रोगी मनुष्यको खाने पीनेमें आनंद नहीं आता है। वृद्ध पुरुषको तरुणी विष समान होजाती है। समुद्रके कडुए पानीमें रहनेवाली मछलीको कुएंके मीठे पानीमें संतोष नहीं है। अहिफेन (अफीम) के कीडेको मीठी मिश्रीमें रख देनेसे आनन्द प्राप्त नहीं होता है।

कस्यचित्क्वचित्कदाचित्सन्तोषहेतोरस्वप्नत्वे तु न कश्चित्स्वप्नो नाम।

किसी भी जीवको किसी न किसी स्थानपर किसी समयमें भी जो पदार्थ संतोषका कारण है, वह अस्वप्न है, यदि आप बौद्ध ऐसा कहेंगे, ऐसा होनेपर तो कोई भी स्वप्न नहीं होसकता है। खुर्राटा लेते हुए स्वप्न देखनेवाले जीवके भी थोडासा संतोषका कारण बन रहा है। अतः वह भी जागृत अवस्थाका कार्य हो जावेगा। इस कारण आप बौद्धोंके पास स्वप्न और अस्वप्नके निर्णय करनेकी कोई परिभाषा नहीं है।

न च सन्तोषहेतुत्वेन वस्तुत्वं व्याप्तं, क्वचित्कस्यचिद् द्वेषात् सन्तोषाभावेऽपि वस्तुत्वसिद्धेः। नापि वस्तुत्वेन सन्तोषहेतुत्वमवस्तुन्यपि कल्पनारूढे रागात् कस्यचित्सन्तोषदर्शनात्। ततः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकोऽस्वप्नोऽस्तु।

संतोषके हेतुपनेसे वस्तुपना व्याप्त नहीं है । अर्थात्—जो संतोषका कारण है, वही वस्तुभूत है । ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है । क्योंकि किसी किसी जीवके किसी पदार्थमें द्वेष होजानेसे संतोष उत्पन्न नहीं होपाता है । फिर भी उस पदार्थको वस्तुपना सिद्ध है । क्या कूडा कांटा वस्तुभूत नहीं है ? रोग, दारिद्र्य, मृत्यु, किसीको संतोषके कारण नहीं हैं । फिर भी वे वस्तुभूत हैं । नरक, निगोद, भी वास्तविक पदार्थ सिद्ध हैं । और यह भी कोई व्याप्ति सिद्ध नहीं है कि जो जो वस्तुभूत है, वही संतोषका कारण है । क्योंकि अवस्तुभूतको भी कल्पनामें आरूढ रखकर रागसे किसी व्यक्तिको संतोष हो रहा देखा जाता है । मिट्टीके खिलौनोंसे बच्चोंको मुख्य वस्तुके समान संतोष हो जाता है । श्मश्रुनवनीतको भविष्यके विवाह, लडका होना आदिकी कल्पनासे आनंद उत्पन्न हुआ था । आकाश, पातालके कुलावे मिलानेके समान अण्ट सण्ट गढ लिये गये उपन्यासोंके अवस्तुरूप तत्त्वको पढकर मनुष्योंको हर्ष होता है । हंसी, ठट्ठा आदिमें तो बहुभाग असत्य पदार्थ ही होते हैं । मनुष्यको मनुष्य कहनेसे किसीको भी हंसी नहीं आती है । अतः अवस्तुभूत कल्पित पदार्थ भी अंतरंगमें रागबुद्धि हो जानेसे हर्षके कारण बन जाते हैं । इस कारणसे सिद्ध होता है कि जिस पदार्थकी विद्यमानतामें बाधक प्रमाणोंके असम्भव होनेका निश्चय है, वही अस्वप्न पदार्थ होवे । परिशेषसे यह निकल गया कि जिस पदार्थकी सत्ताका निषेध करनेवाला बाधक प्रमाण विद्यमान है, वह स्वप्नज्ञानका विषय है । इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धांतके अनुसार आपको निर्णय कर लेना चाहिये ।

बाध्यमानः पुनः स्वप्नो नान्यथा तद्विदेक्ष्यते ।
स्वतःक्वचिद्बाध्यत्वानिश्चयः परतोऽपि वा ॥ १५८ ॥
कारणद्वयसामर्थ्यात्सम्भवन्ननुभूयते ।
परस्पराश्रयं तत्रानवस्थां च प्रतिक्षिपेत् ॥ १५९ ॥

जिस प्रमेयमें बाधक प्रमाणोंके असम्भवका निश्चय है, वह अस्वप्न है अर्थात् सत्य है । और फिर जो ज्ञेय पदार्थ फिर बाधक प्रमाणोंसे बाधित किया जारहा है, अर्थात् असत्य है । अन्य दूसरे प्रकारोंसे उन स्वप्न और अस्वप्नोंमें भेद नहीं देखा जाता है । अबाधितपन और बाधितपन जानलेना कोई कठिन नहीं है । किसी किसी प्रमाण ज्ञानमें स्वयं अपने आप ही अबाध्यपनेका निश्चय हो जाता है और किसी किसी प्रमाणज्ञानमें दूसरी अर्थक्रियाओं अथवा अनुमान या प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे भी बाधारहितपनेका निश्चय हो जाता है । अंतरंग और बहिरंग दोनों कारणोंकी सामर्थ्यसे ज्ञानमें सम्भव होता हुआ अबाधितपनेका निश्चय होना अनुभवमें आ रहा है । अभ्यासदशाके जलज्ञानमें बाधा रहितपना या प्रमाणपना अपने आप प्रतीत हो जाता है । हां, अनभ्यास दशामें शीतवायु, फूलोंकी गंध, आदिसे जलज्ञानके अबाधितपनेका निर्णय हो जाता है । या स्नान, पान,

अवगाहन, आदि क्रियाओंसे पहिले ज्ञानका अबाध्यपना जान लिया जाता है। यदि शीत वायुके स्पर्शन प्रत्यक्षके या फूलोंकी गंधके घ्राणजप्रत्यक्षके अबाधितपने ही में संशय हो जावे, उस तीसरे ज्ञानसे इनका अबाधितपना निर्णीत कर लिया जावेगा, जिसका कि अबाधितपना स्वयं निर्णीत हो चुका है। अतः वहां दूसरोंसे अबाधितपना निर्णय करनेमें अनवस्था नहीं है। क्योंकि प्रमाणज्ञानके पैदा करनेवालोंको तीसरी, चौथी, कोटीमें स्वयं अबाधित ज्ञान मिल जाता है। ऐसा कोई ठलुआ नहीं बैठा है जो कि निश्चयके लिये व्यर्थ ही संदिग्ध ज्ञानोंको उठाता फिरे। तथा स्नान, पान, अवगाहन, आदि क्रियाओंसे जलज्ञानमें अबाधितपना जाना जावे और स्नान आदिकके ज्ञानमें जलज्ञानसे अबाधितपना जाना जावे, इसप्रकार वहां अन्योन्याश्रयदोष देना भी ठीक नहीं है। क्योंकि उत्तरकालमें होनेवाली अर्थक्रियाओंसे पूर्वकालके ज्ञानका अबाधितपना जाना जा रहा है। उन अर्थक्रियाओंमें भी यदि संशय हो जावे तो उन क्रियाओंमें अबाधितपना अन्य संवादकोंसे निर्णीत कर लिया जाता है। और जब ज्ञानोंमें अबाधितपनेके निश्चय हो रहे हैं, तब वे कार्य ही अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोषोंका खण्डन कर देते हैं। फिर कार्य होते हुए भी व्यर्थ अनवस्था आदिक दोषोंका उठाना अपने आप ही अपनेको ठगना है।

बाधारहितोऽस्वप्नो बाध्यमानस्तु स्वप्न इति तयोर्भेदोन्वीक्ष्यते, नान्यथा।

जो बाधाओंसे रहित है, वह अस्वप्न है और जो बाध्यमान है, वह तो स्वप्न है। इस प्रकार उन दोनोंमें भेद भली रीतिसे देखा जा रहा है। दूसरे प्रकारोंसे उनका भेद नहीं हो सकता है। अतः संवेदनाद्वैतवादियोंको अनेकांत मतानुसार ही संवृत्तिपना और वास्तविकपना स्वीकार करना पडा, अन्यथा व्याघात दोष होगा।

ननु चास्वप्नज्ञानस्याबाध्यत्वं यदि अत एव निश्चीयते तदेतरेतराश्रयः, सत्यबाध्यत्वनिश्चये संवेदनस्यास्वप्नकृन्निश्चयस्तस्मिन् सत्यबाध्यत्वनिश्चय इति परतोऽस्वप्नवेदनान्तस्याबाध्यत्वनिश्चये तस्याप्यबाध्यत्वनिश्चयोन्यस्मादस्वप्नवेदनादित्यनवस्थानान्न कस्यचिदबाध्यत्वनिश्चय इति केचित्। तदयुक्तं। क्वचित्स्वतः क्वचित्परतः संवेदनस्याबाध्यत्वनिश्चयेऽन्योन्याश्रयानवस्थानवतारात्।

यहां स्वपक्षका अवधारण करते हुये कोई अबाधितपनेके निश्चयमें जैनोंके ऊपर दोष उठा रहे हैं कि जागृत अवस्थामें होनेवाले अस्वप्नज्ञानके अबाधितपनेका यदि इस ही अस्वप्न संवेदनपनेसे निश्चय किया जावेगा तब तो अन्योन्याश्रय दोष है। कैसे कि—संवेदनको अबाधितपनेका निश्चय होनेपर तो अस्वप्नमें किये गयेपनका निश्चय होवे और उस अस्वप्नमें किये गयेपनका निश्चय हो जानेपर अबाधितपनेका निश्चय होवे, इस प्रकार परस्पराश्रय दोष हुआ। यदि प्रकरणमें पडे हुए उस अस्वप्न वेदनके अबाध्यपनेका दूसरे अस्वप्नवेदनसे निश्चय करोगे तो उसके भी अबाधितपनेका

निश्चय अन्य तीसरे अस्वप्नज्ञानसे होगा और उस तीसरेका भी अबाधितपना न्यारे चौथे अस्वप्न ज्ञानसे निर्णीत जाना जावेगा। जबतक ज्ञानोंमें अबाधितपना न जाना जावेगा तबतक वह ज्ञान निश्चायक नहीं हो सकता है। अतः आकांक्षा बढती जावेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जानेसे किसी भी ज्ञानके अबाधितपनेका निश्चय नहीं हो सकेगा। इस प्रकार जैनियोंके ऊपर दो दोष आते हैं। ऐसा कोई कह रहे हैं। अब ग्रंथकार कहते हैं कि सो उन ज्ञानाद्वैतवादियोंका वह कहना युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि जो समीचीन कार्य होते हुए देखे जा रहे हैं वहां अनवस्था आदि दोष कैसे भी लागू नहीं होते हैं। किसी आत्मामें तो ज्ञानके अबाधितपनेका निश्चय स्वतः हो रहा है और कहीं स्वयं निर्णीत अबाधितपनेवाले दूसरोंसे ज्ञानमें अबाधितपना जाना जा रहा है। ऐसी दशामें अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष नहीं उतरते हैं। जिसमें ये दोनों दोष आ रहे हैं, वह कार्य हो ही नहीं सकता है और जहां कार्य सम्पादन हो रहा है, वहांसे ये दोनों दोष अपना मुंह मोड लेते हैं। या तो दोषोंका बीज ही मिट जाता है या वे दोष गुणरूप हो जाते हैं। कार्य सफल हो गया। दोष देनेवाले व्यर्थ बकते रहो, कोई क्षति नहीं पडती है। प्रकृतमें तो उन दोषोंकी सम्भावना ही नहीं है।

न च क्वचित्स्वतस्तन्निश्चये सर्वत्र स्वतो निश्चयः परतोऽपि वा क्वचिन्निर्णीतौ सर्वत्र परत एव निर्णीतिरिति चोद्यमनवद्यं हेतुद्वयनियमान्नियमसिद्धेः।

कहीं अभ्यस्त दशामें अपने आप ही स्वसामग्रीसे ज्ञानके अबाधितपनेका निश्चय हो जानेपर तो सभी अभ्यास और अनभ्यास स्थलोंमें ज्ञानके अबाध्यत्वका अपने आपसे निश्चय हो जावेगा, ऐसा कुतर्क करना अच्छा नहीं है। यों तो दीपक और सूर्यके अपने आप प्रकाशित होनेके समान घट, पट आदिको भी अपने आप प्रकाशित होना बन जावे। अग्नि जैसे स्वभावसे उष्ण है, वैसे जल भी स्वभावसे उष्ण हो जावे। किंतु ऐसा नहीं होता है। अतः वह चोद्य उठाना प्रशस्त नहीं है। तथा अनभ्यस्तदशामें भी दूसरे कारणोंसे किसी किसी ज्ञानमें अबाधितपनेका निर्णय हो जानेपर सभी अभ्यास, अनभ्यास स्थलोंमें परसे ही अबाधितपना परिज्ञात किया जावेगा, यह भी कुतर्क निर्दोष नहीं है। यों तो बैलगाडी दूसरे बैलोंसे चलायी जाती है तो बैल भी अन्य तीसरे बैलोंसे चलाये जाने चाहिये। घट दूसरे दीपकसे प्रकाशित होता है तो दीपक भी अन्य दीपकसे प्रकाशित होना चाहिये। किन्तु इसके विपरीत कोई पदार्थ तो स्वतः और अन्य पदार्थ दूसरोंसे परिणामी होते हुए देखे जाते हैं। यों अंतरंग और बहिरंग दोनों कारणोंके नियमसे सभी पदार्थोंके न्यारे न्यारे प्रकारके परिणामोंके होनेका नियम सिद्ध है। अतः आकाश नीरूप है तो पर्वत भी रूपरहित हो जावे। और यदि पर्वत स्पर्शवान् है तो आकाश भी स्पर्शयुक्त हो जाओ, ऐसे प्रत्यवस्थान उठाना ठीक नहीं है। अपने अपने उभय कारणोंसे पदार्थोंके स्वभाव नियत हैं। "स्वभावोऽतर्कगोचरः" है।

स्वतस्तन्निश्चये हि बहिरंगो हेतुरभ्यासादिः, परतोऽनभ्यासादिः अंतरंगस्तु तदावरणक्षयोपशमविशेषः संप्रतीयते ।

अब ज्ञानमें उस अबाधितपनेका अपने आपसे निश्चय हो रहा है तब बहिरंग कारण तो अभ्यास, प्रकरणसुलभता, आदि हैं। और अंतरंग कारण उस निश्चयको रोकनेवाले ज्ञानावरणका विशिष्ट क्षयोपशम, बुद्धिचातुर्य, कुशलता, आदि हैं। तथा अनभ्यास दशामें दूसरोंसे ज्ञानमें जब अबाधितपना जाना जाता है, वहां बहिरंग दूसरा पदार्थ, अनभ्यास, स्थूलदृष्टि होना, भोलापन, अवान्तर विशेष धर्मोंका निर्णय न कर सकना, आदि हैं। और अंतरंग कारण ज्ञानावरण कर्मका साधारण क्षयोपशमविशेष, स्थूल बुद्धिपना, आदि। भले प्रकार जाने जा रहे हैं, अपने परिचित ऊंचे नीचे सोपान (जीना, नसैनी) परसे अभ्यासवश अंधेरेमें भी मनुष्य चढ उतर जाता है, और अनभ्यास दशामें सीधे, चिकने, जीने परसे चढना उतरना भी कठिन हो जाता है। बालक भी अपने परिचित पोखरामें आंख मींचकर घुस जाता है। किंतु अपरिचित स्थलोंमें दक्ष भी साशंक हो जाता है।

तदनेन स्वप्नस्य बाध्यमानत्वनिश्चयेप्यन्योन्याश्रयानवस्थाप्रतिक्षेपः प्रदर्शित, इति स्वप्नसिद्धमसिद्धमेव, तद्वत्संवृतिसिद्धमपीति न तदाश्रयं परीक्षणं नाम ।

जैसे दोषोंका निराकरण करके अस्वप्न ज्ञानके अबाधितपनेका स्वतः और परतः निश्चय हो जाता है, उस ही प्रकार इस उक्त कथन करके स्वप्नके बाध्यमानपनेके निश्चय करनेमें भी अनवस्था और अन्योन्याश्रय दोषोंका खण्डन कर दिखाया जा चुका है। अर्थात् ज्ञानमें स्वप्नपनेका निश्चय कब होवे, जब कि उसमें बाधितपना जान लिया जावे और बाधितपना कब जाना जावे, जब कि स्वप्नपना जाना लिया जावे। यह अन्योन्याश्रय हुआ। और अन्य ज्ञानोंसे स्वप्नको बाधितपनेका निश्चय किया जावेगा तो उस अन्यको तीसरे, चौथे, आदिसे बाधितपना जाना जावेगा। इस प्रकार अनवस्था होती है। किंतु ये दोनों दोष अनेकांत मतमें नहीं होते हैं। क्योंकि एक चंद्रमें द्विचंद्रज्ञान, शुक्तिमें चांदीका ज्ञान आदिको अभ्यास दशामें अपने आप और अनभ्यास दशामें दूसरोंसे बाधितपना जाना जा रहा है। यहां भी अंतरंग और बहिरंग कारणोंसे भिन्न २ प्रकारके ज्ञानोंका बाधितपना निर्णीत किया जा रहा है, इसमें कोई संशय नहीं है। इस प्रकार स्वप्नसिद्ध जो पदार्थ है वह असिद्ध ही है। उस हीके समान झूंठे व्यवहारसे कल्पना कर थोडी देरके लिये सिद्ध कर लिया गया पदार्थ भी असिद्ध ही है। इस कारण उस असिद्ध पदार्थका आश्रय करके आप संवेदनाद्वैतवादी कैसे भी परीक्षण नहीं कर सकते हैं। अतः १३८ वीं कारिकामें कल्पित की हुई अनादिकालकी अविद्याके द्वारा परीक्षा करनेका उपक्रम करना प्रशस्त नहीं हुआ। झूंठी कसौटी या कल्पित अग्निसे स्वर्णकी परीक्षा नहीं हो सकती है।

ततो न निश्चितान्मानाद्विना तत्त्वपरीक्षणं ।
ज्ञाने येनाद्वये शून्येन्यत्र वा तत्प्रतन्यते ॥ १६० ॥
प्रमाणासंभवाद्यत्र वस्तुमात्रमसंभवि ।
मिथ्यैकांतेषु का तत्र बंधहेत्वादिसंकथा ॥ १६१ ॥

तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि निश्चित किये गये प्रमाणके विना तत्त्वोंकी परीक्षा करना नहीं बनता है, जिससे कि संवेदनाद्वैतमें अथवा शून्यवादमें या और भी अन्य उपप्लववाद, ब्रह्माद्वैत, आदि सम्प्रदायोंमें उस तत्त्वपरीक्षा करनेका विस्तार हो सके। भावार्थ—जो प्रमाणतत्त्वको ही नहीं मानते हैं वे दूसरोंके तत्त्वोंकी लम्बी, चौडी, परीक्षा क्या करेंगे ? तथा जिन झूंठे एकांत वादोंमें प्रमाणतत्त्वके न होनेसे सभी वस्तुएं असंभव हो रही हैं, उन अवस्तुभूत झूंठे एकान्तोंमें बन्ध, मोक्ष, बन्धके कारण, मोक्षके कारण, आदिकी भले प्रकार पर्यालोचना करना भला क्या हो सकता है ? अर्थात् ब्रह्मवाद या शून्यवाद आदि एकान्तोंमें प्रमाणतत्त्वको माने विना परीक्षा करना, विचार करना, शास्त्रार्थ करना और निर्णय करना, नहीं बन सकते हैं। घृत, मेवा, शक्कर, दुग्ध, अन्नके विना कुशल रसोइया भी मोदक आदि अनेक स्वाद्य व्यञ्जनोंको नहीं बना सकता है। संसार भरमें सम्पूर्ण तत्त्वोंकी व्यवस्थाके दादागुरु प्रमाण ही है। उसको स्वीकार किये विना कोई भी कार्य या विचार नहीं सम्पादित होता है।

प्रमाणनिष्ठा हि वस्तुव्यवस्था तन्निष्ठा बन्धहेत्वादिवार्ता, न च सर्वथैकान्ते प्रमाणं संभवतीति वीक्ष्यते * ।

वस्तुओंकी व्यवस्था करना निश्चयकर प्रमाणके आधीन होकर स्थित है। और जब जीव, पुद्गल, आदि वस्तुएं व्यवस्थित हो जावेगी, तब उनके आश्रित होकर बन्ध, बन्धके कारण आदि तत्त्वोंकी श्रद्धापूर्वक चर्चा करना व्यवस्थित होगा। किन्तु सर्वथा एकान्तपक्षमें प्रमाणतत्त्व नहीं सम्भवता है, ऐसा देखा जारहा है। अर्थात् प्रमाण नहीं तो वस्तुएं नहीं और जब वस्तुएं ही नहीं है तो बन्ध मिथ्याज्ञान, तत्त्वज्ञान आदिकी कथा करना भी असंभव है। इसको आगे भी स्पष्ट कहा जावेगा।

स्याद्वादिनामतो युक्तं यस्य यावत्प्रतीयते ।
कारणं तस्य तावत्स्यादिति वक्तुमसंशयम् ॥ १६२ ॥

---

* " वक्ष्यते " पाठ अच्छा दीखता है।

इस प्रकार प्रमाणसे वस्तुभूत पदार्थोंको माननेवाले स्याद्वादियोंके मतमें बन्ध, बन्धके कारण, मोक्ष, मोक्षके कारण इनकी व्यवस्था करना युक्तियोंसे सिद्ध हो जाता है। जिस कार्यके जितने भी कारण प्रतीत हो रहे हैं, वह कार्य उतने भर कारणोंसे उत्पन्न होवेगा। इस प्रकार संशय रहित होकर हम स्याद्वादी कह सकते हैं। यहां पहिले सूत्रका व्याख्यान समाप्त करते हुए प्रकरणका संकोच करते हैं कि जितने बन्धके कारण हैं, उतने ही मोक्षके कारण हैं। न तो अधिक हैं और न कमती ही हैं। एक सौ पन्द्रहवीं वार्त्तिकका यही निगमन है। सूत्रकारके मतानुसार मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इनका त्रय बन्धका कारण है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनका त्रय मोक्षका कारण है। सूत्रका शद्बबोधप्रणालीसे वाक्यार्थबोध करनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सहित होता हुआ सम्यक्चारित्र ही मोक्षका कारण है, यह भी ध्वनित होता है। इसलिये मोक्षके कारणोंमें प्रधानपना चारित्रकी पूर्णताको प्राप्त है। ऐसा कहनेमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रतीत्याश्रयणे सम्यक्चारित्रं दर्शनविशुद्धिविजृम्भितं प्रवृद्धेद्धबोधमधिरूढमनेकाकारं सकलकर्मनिर्दहनसमर्थं यथोदितमोक्षलक्ष्मीसम्पादननिमित्तमसाधारणं, साधारणं तु कालादिसम्पदिति निर्बाधमनुमन्यध्वं, प्रमाणनयैस्तत्त्वाधिगमसिद्धेः।

प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतियोंका सहारा लेकर कार्यकारणभावका निर्णय किया जाता है। प्रकरणमें भी मोक्षरूप कार्यका कारणपना इस प्रकार आप लोग मानो कि सम्यग्दर्शनकी क्षायिकपने या परम अवगाढपनेकी विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होरहा, और अनन्तानन्त पदार्थोंका उल्लेख (विकल्प) कर जाननेवाले बढे हुए देदीप्यमान केवलज्ञानपर अधिकार करके आरूढ होनेवाला ऐसा सम्यक्चारित्रगुण ही सम्पूर्ण कर्मोंके समूल दग्ध करनेमें समर्थ है और वही चारित्र आम्नायके अनुसार पहिले सूत्रमें कही हुयी उस मोक्षरूपी लक्ष्मीके प्राप्त करानेका असाधारण होकर साक्षात् कारण है। भावार्थ—मोक्षका असाधारण कारण तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त पूर्ण होरहा सम्यक्चारित्र ही है। किंतु सुषम दुःषम या दुःषमसुषम यानी तीसरा या चौथा काल, कर्मभूमिक्षेत्र, मनुष्यपर्याय, दीक्षा लेना, आदि सामग्रीरूप सम्पत्ति तो साधारण कारण हैं। इन मोक्षके कारणोंकी उक्त इतने ग्रंथद्वारा बाधारहित होकर प्रमाणोंसे परीक्षा कर ली गयी है। सो ही स्वहितैषी एकांत वादियोंको अनुकूल मानकर स्वीकार कर लेना चाहिए। प्रमाण और नयोंके द्वारा तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान होना सिद्ध है। अन्य कोई भी उपाय नहीं है। भावार्थ–लोकमें पदार्थोंके परिज्ञानमें प्रमाण और नय विकल्पोंका ही आश्रय लिया जाता है। अथवा पदार्थोंका सम्यग्ज्ञान सकलादेश व विकलादेशके विना अन्य प्रकारसे हो ही नहीं सकता है। इसलिए तत्त्वपरीक्षकोंको प्रमाण नय विकल्पोंसे सिद्ध तत्वोंको अंगीकार करना ही पडता है।

नाना नानात्मनीनं नयनयनयुतं तन्न दुर्णीतिमानं ।
तत्त्वश्रद्धानशुध्यध्युषिततनु बृहद्बोधधामाधिरूढम् ॥
चञ्चच्चारित्रचक्रं प्रचुरपरिचरच्चण्डकर्मारिसेनां ।
सातुं साक्षात्समर्थं घटयतु सुधियां सिद्धसाम्राज्यलक्ष्मीम् ॥ १ ॥

प्रथम सूत्रका भाष्य समाप्त करते हुए श्रीविद्यानंद आचार्य सूत्रके वाच्यार्थ अनुसार भव्य जीवोंको आशीर्वाद देते हैं कि देदीप्यमान चारित्रगुणरूपी चक्र बुद्धिमान् भव्य जीवोंको सिद्ध पदवीका प्राप्त हो॰जानारूप मोक्षसाम्राज्यके चक्रवर्तीपनेकी लक्ष्मीको मिलावे कैसा है, वह चारित्ररूपी चक्र ? अनेक और एक हैं आत्माके हितरूप पदार्थ जिसमें । तथा भेद और अभेदको जाननेवाली·नयोंके प्राप्त करनेसे युक्त हो रहा है । फिर कैसा है, वह चारित्रचक्र खोटे नय और खोटे ज्ञानकी जहां सम्भावना नहीं है । पुनः कैसा है वह चारित्र चक्र ? तत्त्वोंके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनकी शुद्धिसे आक्रांत हो रहा है शरीर जिसका, तथा बढे हुए केवलज्ञानरूपी तेजके समूह पर अधिकार जमाकर स्थित हो रहा है । फिर भी कैसा है चारित्र गुण कि अत्यंत अधिक और आत्माके चारों ओर फैले हुए प्रचण्ड शक्तिवाले कर्मरूप शत्रुओंकी सेनाको अव्यवहित उत्तरकालमें नष्ट करनेके लिये समर्थ है । इस श्लोकमें दिये गये चारित्रगुणके विशेषण रूपकके अनुसार चक्ररत्नमें भी घट जाते हैं । जैसे कि सहस्रदेवोंसे रक्षित किया गया चक्रवर्तीका चक्ररत्न चक्रवर्तीपनकी लक्ष्मीको प्राप्त करा देता है, वैसे ही चारित्ररत्न मोक्षलक्ष्मीको मिला देता है । चक्रवर्तीका चक्र भी अनेक और एक आत्मीय और आत्माका हित करनेवाला है । राज-नीतिके अनुसार ले जाना, चलना, चलाना आदिसे युक्त है । उसमें अनेक अर हैं । चक्रके सामने किसी भी राजाकी खोटी नीति और गर्व नहीं चलता है । चक्रवर्ती अपने चक्रपर पूरी श्रद्धा रखता है । चक्रका स्वच्छ वर्ण है । उसमें बड़ा भारी तेज है । वह चक्र क्रोधी शत्रुओंकी सेनाको अतिशीघ्र नष्ट कर देता है । इस प्रकार ग्रंथके मध्यमें और पहिले सूत्र संबंधी व्याख्यानके अंतमें मङ्गलाचरण करते हुये आचार्य महाराज प्रकृतसूत्रको कार्यमें परिणति करानेकी भावना करते हैं ।

इति तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकालंकारे प्रथमाध्यायस्य प्रथममान्हिकम् ॥

इसप्रकार श्री महर्षि विद्यानंद स्वामिके द्वारा विरचित
तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकालंकार नामके महान् ग्रंथमें
पहिले अध्यायका पहिला आन्हिक
समाप्त हुआ

प्रथम सूत्रका सारांश

—=:❁:=—

पहिले सूत्रके उत्तर व्याख्यानस्वरूप वार्तिकों और विवरणके प्रकरणोंकी सामान्यरूपसे सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका निर्दोष लक्षण करके मोक्ष और मार्गका स्वरूप बतलाया है। लोकमें प्रसिद्ध होरहे पटना, दिल्ली, आगरा आदि नगरोंतक पहुंचनेके लिये बनाये गये सीधे चौडे मार्ग (सडक, चौडा दगडा आदि) उपमेय हैं और मोक्षमार्ग उपमान है। मोक्षमार्ग पूर्णरूपसे निष्कण्टक और निर्दोष है। उसके एकदेश सदृश होनेके कारण सडकोंको भी मार्गपनेका व्यवहार करलिया जाता है। समुद्र, आकाश, आदि अप्रसिद्ध पदार्थ भी प्रसिद्ध पदार्थोंके उपमान होजाते हैं। संसारमें महिमाका आदर है। परिणाम और परिणामीके भेदकी विवक्षा होनेपर दर्शन ज्ञान आदि शब्दोंको व्याकरण द्वारा करण, कर्त्ता और भावमें सिद्ध कर दिया है। शक्ति वास्तविक पदार्थ है। शक्तिमान्से शक्ति अभिन्न रहती है। नैयायिकोंसे मानी गयी सहकारी कारणोंका निकट आजानारूप शक्ति नहीं है। वह शक्ति द्रव्य, गुण, कर्म या इनका संबंधस्वरूप भी नहीं है। वैशेषिकोंसे माने गये अयुतसिद्ध पदार्थोंका समवाय और युतसिद्ध पदार्थोंका संयोग ठीक नहीं बनता है। शक्ति और शक्तिमान्का कथञ्चित् तादात्म्य संबंध है। ज्ञानको सर्वथा परोक्ष माननेवाले मीमांसकोंका खण्डन कर ज्ञानका स्वतः यानी स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ज्ञान करना सिद्ध किया है। लब्धिरूप भाव इंद्रियां साधारण संसारी जीवोंके प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय नहीं हैं। अतः परोक्ष हैं। चारित्र शब्दको सिद्ध करके कारकोंकी व्यवस्थाको विवक्षाके अधीन स्थित किया है। विवक्षा और अविवक्षाका संबंध वास्तविक रूपोंसे है, अर्थके कल्पित रूपोंसे नहीं। इस स्थानपर बौद्ध और नैयायिकोंके आग्रहका खण्डन कर वस्तुको अनेक कारकपना व्यवस्थित कर दिया है। सम्पूर्ण वस्तुएं सांश हैं। एक परमाणुमें भी स्वभाव गुण और पर्यायोंकी अपेक्षासे अनेक कारकपना है। परमाणु है (कर्ता) परमाणुको हम अनुमानसे जानते हैं (कर्म) परमाणुके द्वारा एक आकाशका प्रदेश घेर लिया है (करण)। परमाणुके लिये द्व्यणुकका विभाग होता है (सम्प्रदान)। परमाणुसे स्कंध उत्पन्न होता है (अपादान)। परमाणुका द्वितीय परमाणुके साथ संबंध है। (संबंध)। परमाणुमें रूप, रस, आदि गुण और स्निग्ध आदि पर्यायें हैं (अधिकरण)। हे परमाणो! तुम अनंत शक्तियोंको धारण करते हो (सम्बोधन)। परमाणुके अनेक धर्म उसके अंश ही हैं। जो अंशोंसे रहित है, वह अर्थक्रियाकारी न होनेसे अवस्तु है। इसके आगे सम्यग्दर्शनकी पूज्यताको बतलाते हुए द्वन्द्व समासमें पहिले दर्शनका प्रयोग करना सिद्ध किया है। ज्ञानमें समीचीनता सम्यग्दर्शनसे ही आती है। पीछे भले ही वह ज्ञान अनेक पुरुषार्थोंको सिद्ध करा देवे। यहां ज्ञानकी महत्ताको सिद्ध करनेवाली अनेक शङ्काओंका निवारण करते हुए अंतमें यही सिद्धांत

किया है कि प्रकृष्ट दर्शन यानी क्षायिकसम्यक्त्व और प्रकृष्टज्ञान यानी केवलज्ञानकी अपेक्षासे पूर्ववर्ती होकर क्षायिकसम्यक्त्वको पूज्यता है। क्षायिक सम्यक्त्वके होनेपर ही क्षायिकज्ञान हो सकता है। भविष्यमें होनेवाले अनेक भवोंका ध्वंस क्षायिक सम्यग्दर्शनसे हो जाता है वैसे ही पूर्ण ज्ञान भी पूर्णचारित्रसे प्रथम हो जाता है। चौदहवें गुणस्थानके अंतमें होनेवाले व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यानके होनेपर ही पूर्णचारित्र कहलाता है। सम्यक् शब्दको तीनों गुणोंमें लगा देना चाहिये। इसका विशेष प्रयोजन है। सूत्रकार उमास्वामी महाराजने विशेष कारणोंकी अपेक्षासे ही मोक्षके तीन कारणोंका वर्णन किया है। मोक्षके सामान्य कारण तो और भी हैं। विशेष कारण ये रत्नत्रय ही हैं। अतः पहिले उद्देश्य दलमें एवकार लगाना अच्छा है। चार आराधनाओंमें गिनाया गया तप भी चारित्ररूप है। तेरहवें गुणस्थानके आदिमें रत्नत्रयके पूर्ण हो जानेपर भी सहकारी कारणोंके न होनेसे मोक्ष नहीं होने पाती है। किसी कार्यके कारणोंका नियम कर देनेपर भी शक्तिविशेष और विशिष्ट कालकी अपेक्षा रही आती है वह चारित्रकी विशेष शक्ति अयोगी गुणस्थानके अंत समयमें पूर्ण होती है। नैयायिकोंकी मोक्षमार्ग प्रक्रिया प्रशस्त नहीं है। सञ्चित कर्मोंका उपभोग करके ही नाश माननेका एकांत अच्छा नहीं है। सांख्य और बौद्धोंकी मोक्षमार्गप्रक्रिया भी समीचीन नहीं है। दर्शन, ज्ञान, और चारित्र, गुण कथञ्चित् भिन्न भिन्न हैं। इनमें सर्वथा अभेद नहीं है। इनके लक्षण और कार्य न्यारे न्यारे हैं। पहिले गुणोंके होनेपर उत्तरके गुण भाज्य होते हैं। उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति होनेपर पूर्वपर्यायका कथंचित् नाश होजाना इष्ट है। तीनों गुणोंके परिणामोंकी धारायें पृथक् पृथक् चलती हैं। इन गुणोंकी कभी विभावरूप और कभी स्वभावरूप तथा कभी सदृश स्वभावरूप पर्यायें होती रहती हैं। एक गुणकी पर्यायोंका दूसरा गुण उपादान कारण नहीं हो सकता है। पूर्वस्वभावोंका त्याग, उत्तर-स्वभावोंका ग्रहण और स्थूलपनेसे ध्रुव रहनेको परिणाम कहते हैं। कूटस्थ पदार्थ असत् हैं। उपादान कारणके होनेपर भी सहकारी कारणोंके विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होने पाती है। जैसे कि बारहवें गुणस्थानके आदिमें मोहनीय कर्मका क्षय होचुका है। किंतु शेष दो, और चौदह घातियोंके नाश करनेकी शक्ति बारहवेंके उपान्त्य और अन्तिममें ही होती है। वैसे ही बचे हुए नाम आदि कर्मोंके ध्वंसकी शक्ति अयोगीके उपान्त्य और अन्तिम समयमें इष्ट की है। चारित्रगुणकी पूर्ण परिपक्वता यहीं होती है। सम्यग्दर्शनमें परमावगाढपना भी यहीं पर होता है। इसके आगे संसारके कारणोंको ग्रंथकारने सिद्ध किया है। मोक्षके कारण तीन हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन संसारके कारण हैं। नैयायिक, सांख्य आदिसे माना गया अकेला मिथ्याज्ञान ही संसारका कारण नहीं है। यदि मिथ्याज्ञानसे ही संसार और सम्यग्ज्ञानसे ही मोक्ष मानी जावेगी तो सर्वज्ञ देव उपदेश देनेके लिये कुछ दिनोंतक संसारमें नहीं ठहर सकेंगे। इस अवसरपर नैयायिकको छकाकर संसारके कारण तीनों ही सिद्ध करादिये हैं

युक्तियोंसे भी रोग आदिका दृष्टांत देकर इस बातको पुष्ट किया है। कायक्लेश, केशलुंचन आदि क्रियाओंमें मुनियोंको प्रशम, सुख प्राप्त होता है। असंयम और मिथ्यासंयमोंमें अंतर है। बंधके कारण तीन हैं। इसीलिये मोक्षके कारण तीन हैं। मिथ्यादर्शन, अविरति आदि पांच प्रकारके बंधके कारण भी सामान्यरूपसे तीनमें गर्भित होजाते हैं। यहां प्रमाद और कषायोंका अच्छा विवेचन किया है। बंधके कारण पांच होनेपर मोक्षके कारण भी पांच होजावें तो कोई हानि नहीं है। भेदकी विवक्षा होनेपर कोई विरोध नहीं आता है। छह भी होसकते हैं। गुणोंके प्रगट होजानेपर प्रतिपक्षी दोषोंसे उत्पन्न होनेवाले बंधोंकी निवृत्ति हो जाती है। जिस कार्यको जितनी सामग्रीकी आवश्यकता है, वह कार्य उतनी ही सामग्रीसे उत्पन्न होगा यह विचार भी अनेकांत मान लेनेपर बनता है। सर्वथा एकांत माननेपर नहीं बनसकता है। सम्यग्दर्शन आदि गुणोंका परिणामी आत्मासे तादात्म्यसंबंध हो रहा है। यहां अनेकांतमतका और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका अच्छा विचार किया है। चित्रज्ञान, सामान्यविशेष, इन दृष्टांतोंसे अनेकांतको पुष्ट करते हुए सप्तभंगीका भी विचार गर्भित कर दिया है। सर्वथा क्षणिक और कूटस्थनित्यमें क्रियाकारक व्यवस्था नहीं बन पाती है। अन्यवादियोंकी मानी हुयी योग्यताका खण्डनकर सिद्धांतमें मानी हुयी कार्यकारणभावकी योग्यताका अच्छा विचार किया है। अनेकांतवादके विना बंध, बंधका कारण और मोक्ष, मोक्षका कारण इनकी व्यवस्था नहीं बनती है। संवेदनाद्वैत और पुरुषाद्वैत सिद्ध नहीं हो सकते हैं। वेदांत वादियोंकी अविद्या और बौद्धोंकी संवृत्ति अवस्तुरूप हैं। अतः व्यवहारमें भी प्रयोजक नहीं हैं। शून्यवाद और तत्त्वोपप्लववादके अनुसार किसी तत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती है और न तत्त्वोंका खण्डन ही हो सकता है। इनको भी अवश्य अनेकांतमतकी शरण लेनी पडेगी। सर्वत्र अनेकांत छाया हुआ है। अनेकांतमें भी अनेकांत है। प्रमाणकी अर्पणासे अनेकांत है और सुनयकी अपेक्षासे एकांत है। स्याद्वादियोंके मतमें यहां अनवस्था और प्रतिज्ञाहानि दोष नहीं होते हैं। ग्राह्यग्राहक आदि भावोंको मानोगे तो मानने पडेंगे और न मानोगे तो भी वे गले पड जावेंगे। संवेदनाद्वैत वादी स्वप्नके समान संवृत्तिसे सबको सिद्ध मानेंगे, उन्हें जागृत अवस्थाके पदार्थ परमार्थरूप अवश्य स्वीकार करने पडेंगे। जो बाधारहित ज्ञानके विषयभूत पदार्थ हैं, वे वास्तविक हैं। ज्ञानके बाध्यपने और अबाध्यपनेका निर्णय अभ्यास दशामें स्वतः और अनभ्यास दशामें परतः हो जाता है। इस कारण मिथ्या एकांतोंमें बंध, मोक्ष व्यवस्था नहीं बनती है। स्याद्वादियोंका माना गया रत्नत्रय ही सहकारियोंसे युक्त होकर मोक्षका साधक है। इस प्रकार अनेक मिथ्या मतोंका खण्डन करके श्रीविद्यानंद आचार्य पहिले सूत्रका व्याख्यान कर चुके हैं। अंतमें प्रसादस्वरूप पद्य द्वारा आशीर्वाद देते हैं कि चारित्र गुण बुद्धिमान् वादी प्रतिवादियोंको रत्नत्रय मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्तिका आयोजन कर देवे। यह प्रथम आह्निकका संक्षिप्त विवरण है।

मुक्तिजनकतावच्छेदकत्वधर्मोपलक्ष्यवच्छिन्नात् ।
श्रीनिष्ठाधेयत्वप्ररूपिताधारतां ने (ना, इ) यात् ॥ १ ॥

द्रव्य पुरुष यों रत्नत्रयसे मोक्षलक्ष्मीके अधिपतिपनेको प्राप्त हो जावे। अर्थात् मोक्षके कारणकी अन्य कारणोंसे व्यावृत्ति करानेवाले रत्नत्रयत्व धर्मसे उपलक्षित रत्नत्रय प्रतिनियत कारण है। इस रत्नत्रयके परिपूर्ण ओत प्रोत प्रविष्ट होजानेसे यह मनुष्य (कर्ता) मुक्ति लक्ष्मीमें अवश्य ठहर रही आधेयपनके नियत आधारपनेको प्राप्त करलेवें। अर्थात्—कारण और कार्य अन्यूनानतिरिक्तपनेसे नियत होरहे हैं। रत्नत्रय नामक कारण और मोक्ष संज्ञक कार्यमें अध्याहृत एवकार द्वारा अवधारण करलिया है। यह जीव रत्नत्रयसे ही मोक्षमार्गको नियम पूर्वक प्राप्त करलेवें। यही इस नव्य न्यायाडम्बरका तात्पर्य है।